राजेन्द्र प्रसाद

आत्मकथा

प्रकाशक

साहित्य-संसार, पटना

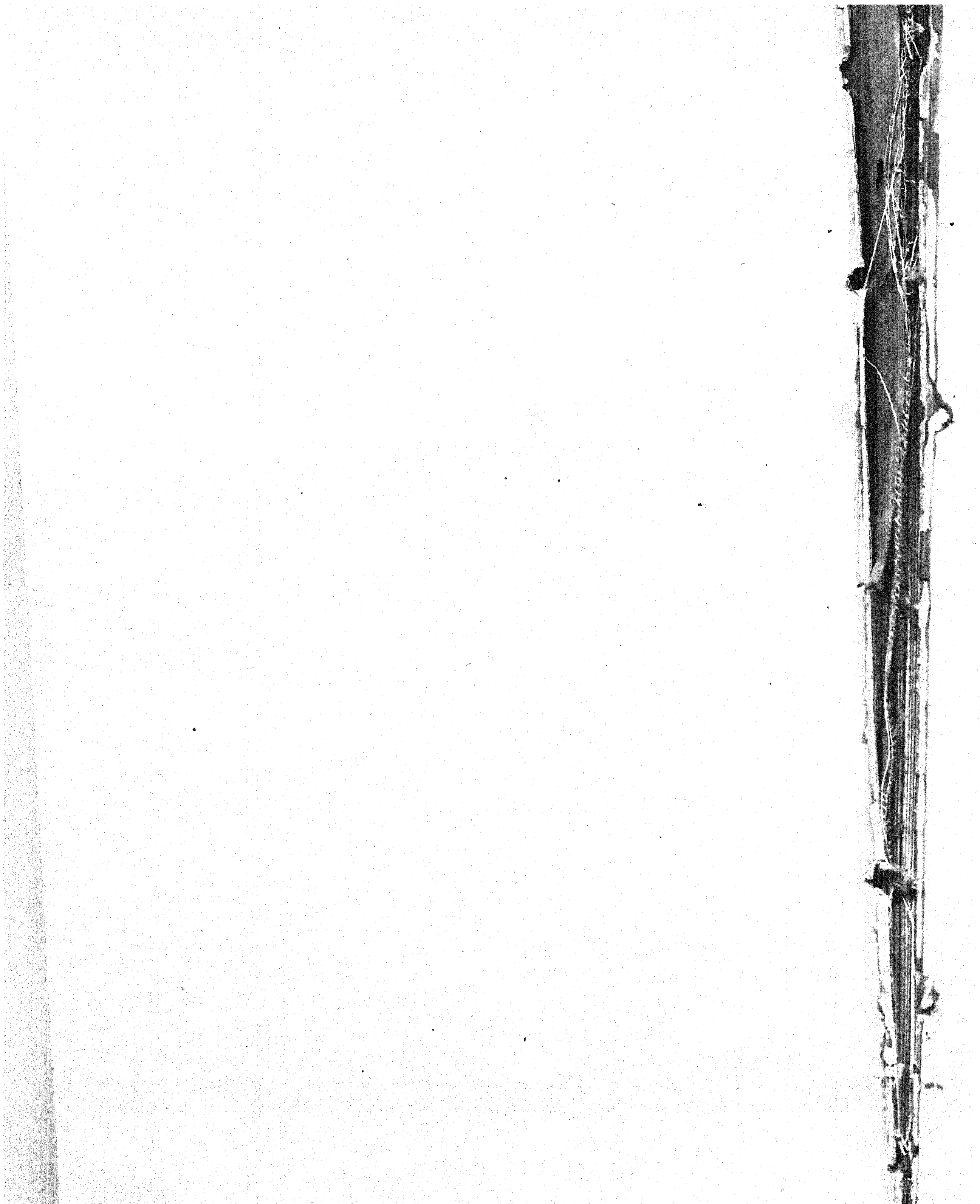
मुख्य वितरण-कर्ता

भारती सदन, मुजफ्फरपुर

प्रथम संस्करण

जनवरी
१९४७

मूल्य बारह रुपये
विदेश में एक पौंड



प्राक्कथन

श्री राजेन्द्र बाबू की आत्मकथा को प्राक्कथन की आवश्यकता क्या ? तिस पर मेरे-जैसा आदमी—जिसने कभी विद्वत्ता का या साहित्यकार होने का दावा नहीं किया—प्राक्कथन क्या लिखे ? सन् १९१८ के खेड़ा-सत्याग्रह की लड़ाई के दिनों में हम पहली बार मिले थे। उसी समय से राजेन्द्र बाबू के प्रति मेरे दिल में जो आकर्षण उत्पन्न हुआ और हम दोनों के बीच प्रेम की जो गाँठ बँधी, वह मुझे इस काम को सिर-माथे चढ़ाने के लिए विवश कर रही है।

श्री राजेन्द्र बाबू को देखते ही उनकी सरलता और नम्रता की जो छाप हमारे दिल पर पड़ती है, उसका प्रतिबिम्ब इस आत्मकथा के पन्ने-पन्ने में पाया जाता है।

प्राय: पिछले पच्चीस वर्षों से हमारा देश किस स्थिति से किस स्थिति को पहुँच गया है, इसका सजीव और एक पवित्र देश-भक्त के हृदय के रंग में रँगा हुआ इतिहास पाठकों को इस आत्मकथा में मिलेगा।

इस आत्मकथा में हमें राजेन्द्र बाबू के बाल्यकाल के बिहार के सामाजिक रीति-रिवाजों का, संकुचित प्रथाओं से होनेवाली हानियों का, उस समय के ग्राम-जीवन का, धार्मिक व्रतों, उत्सवों और त्योहारों का, उस जमाने के बच्चों के जीवन का और उस समय की शिक्षा की स्थिति का हू-बहू चित्र देखने को मिलता है। उस चित्र में सादगी और खानदानियत के साथ विनोद और खेद उत्पन्न करनेवाली परिस्थितियों का मिश्रण हुआ है। साथ ही, आजकल हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच भेद-भाव की जो खाई बढ़ी हुई नजर आती है, उसके अभाव का और दोनों जातियों के बीच शुद्ध स्नेह का जो चित्र इस आत्मकथा में है, वह आँखों को ठण्डक पहुँचानेवाला होते हुए भी दुर्भाग्य से आज लुप्त होता जा रहा है।

सन् १९०५ में वंग-भंग के जमाने से ही राजेन्द्र बाबू पर देशभक्ति का रंग चढ़ने लगा था। उसी समय से वे अपने जीवन में इस ओर क्रम-क्रम से बराबर आगे ही बढ़ते गये हैं। सन् १९१७ में चम्पारन की लड़ाई के समय उन्होंने गांधीजी के कदमों पर चलकर फकीरी अपनायी। उसके बाद की उनकी आत्मकथा हमारे देश के पिछले तीस वर्षों के सार्वजनिक जीवन का इतिहास बन जाती है। जो कोई इस पुस्तक को पढ़ेंगे, वे इससे जीवन को उन्नत बनानेवाली प्रेरणा प्राप्त करेंगे। कोई देश-प्रेमी इसे बिना पढ़े न रहे।

नयी दिल्ली

—वल्लभभाई पटेल

प्रस्तावना

१९४० में मैं स्वर्गीय सेठ जमनालाल बजाज के साथ आठ दिनों के लिये स्वास्थ्य-लाभ के वास्ते सीकर गया था। वहीं संस्मरण लिखने का आरंभ बिना कुछ सोचे विचारे मैंने कर दिया। इसका एक छोटा सा अंश वहां लिखा गया। वहां से चले आने के बाद बहुत दिनों तक इस ओर ध्यान देने का समय ही नहीं मिला। शायद यह फिर लिखा भी नहीं जाता। १९४२ में जेल में मेरे साथी भाई श्री मथुरा प्रसाद, चक्रधर शरण, और वाल्मीकि चौधरी ने बहुत आग्रह किया कि इसे पूरा कर देना चाहिए। वहां समय भी मिला। इस प्रकार इसका अधिकांश बांकीपुर जेल में लिखा गया। जो कुछ बाकी रह गया था वह बिड़ला भवन पिलानी में लिखा गया। बाद में दिल्ली में, वाल्मीकि ने प्रेस के लिये प्रति तैयार की। श्री शिवपूजन सहायजी ने प्रेस में जाने के पहले बहुत परिश्रम से इसे देखा। "साहित्य संसार" ने आग्रह से इसे छापने और प्रकाशित करने का निश्चय किया। यद्यपि प्रकाशक नये हैं, उन्होंने प्रकाशन का काम बहुत तेजी और बड़ी खूबसूरती के साथ किया है। मैं इन सबका कृतज्ञ हूं। पाठक इसे पढ़कर कोसेंगे या नहीं यह वही जानें।

दिल्ली
८ जनवरी १९४७

राजेन्द्र प्रसाद

प्रकाशक का निवेदन

देशरत्न डा० राजेन्द्रप्रसादजी की 'आत्मकथा' के प्रकाशन की हमारी उत्कट अभिलाषा ने ही हमें 'साहित्य-संसार' की स्थापना करने को प्रेरित किया है। हमारे सौभाग्य से, देशरत्न के सामने जब साहित्य-संसार की 'राजेन्द्र-ग्रन्थावली' की योजना प्रस्तुत की गयी तो उन्होंने, अपने कल्याणप्रद आशीर्वाद के साथ, प्रकाशन की अनुमति देने की कृपा की।

फिर क्या था, हम इस पुनीत कार्य में अग्रसर हो गये। आत्मकथा की पाण्डुलिपि देखने में अध्यापक शिवपूजनसहायजी ने तथा छपाई के कार्य में इंडियन प्रेस, प्रयाग ने हाथ बँटाया। कागज की दिक्कत भी इंडियन प्रेस की सहायता से हल हो गयी। हमें प्रकाशन का अधिकार सरकार ने दे दिया। साथ ही, आत्मकथा के मुख्य-वितरण की जवाबदेही 'भारती सदन, मुजफ्फरपुर' (विहार) ने लेकर, हमें राजेन्द्र-ग्रन्थावली के अन्य ग्रन्थों के प्रकाशन के लिए फुर्सत दे दी। इन सबके हम हृदय से आभारी हैं।

'आत्मकथा' हमारी राजेन्द्र-ग्रन्थावली' का प्रथम ग्रन्थ है। इसे हम अन्य देशी भाषाओं तथा अँगरेजी में समयानुकूल प्रकाशित करेंगे। इसके अलावा, देशरत्न के लेखों, भाषणों आदि को हिन्दी तथा अन्य भाषाओं में प्रकाशित करना हमारा मुख्य कार्य होगा। देशरत्न की 'संस्कृत-अध्ययन की उपयोगिता' भी हम प्रकाशित कर रहे हैं। हमें दृढ़ विश्वास है कि हिन्दी तथा अन्य भाषा-भाषी सज्जन हमारे इस उद्योग से लाभान्वित होंगे।

हमने जान-बूझ कर देशरत्न के प्रति कृतज्ञताज्ञापन नहीं किया है। हमारे प्रति उनका जो वात्सल्य-भाव है उसके कारण हमारा मूक रहना ही वांछनीय है।

पटना
१०-१-१९४७

व्यवस्थापक
साहित्य-संसार

विषय-सूची

क्रम-संख्या विषय पृष्ठ

क्रम-संख्या विषय		पृष्ठ

क्रम-संख्या	विषय	

———



आत्मकथा

१—मेरे पूर्वज

संयुक्त प्रान्त में कोई जगह अमोढ़ा नाम की है। सुनते हैं कि वहाँ कायस्थों की अच्छी बस्ती है। बहुत दिन बीते, वहाँ से एक परिवार निकलकर पूरब चला और बलिया में जाकर बसा। एक बड़े ज़माने तक बलिया में रहने के बाद उस परिवार की एक शाखा उत्तर की ओर गई और आजकल के जिला सारन (बिहार) के एक गाँव जीरादेई में जाकर रहने लगी। दूसरी शाखा गया में जाकर बस गयी। जीरादेई-शाखा के कुछ लोग वहाँ से थोड़ी ही दूर पर एक दूसरे गाँव में भी जाकर बस गये। जीरादेईवाला परिवार ही मेरे पूर्वजों का परिवार है। शायद जीरादेई में आनेवाले मेरे पूर्वज मुझसे सातवीं या आठवीं पीढ़ी में ऊपर थे। जो लोग जीरादेई में आये थे, गरीब थे और रोजगार की खोज में ही इधर आ गये थे। चूँकि उस गाँव में कोई शिक्षित नहीं था और उन दिनों भी कायस्थ तो शिक्षित हुआ ही करते थे, इसलिए गाँव के लोगों ने उनको वहाँ रख लिया। प्रायः उसी समय से उन लोगों का सम्बन्ध हथुआ-राज से भी हो गया, जहाँ कोई छोटी-सी नौकरी लिखने-पढ़ने की उनमें से किसी को मिल गयी। हथुआ उन दिनों इतना बड़ा राज नहीं था और न उसकी इतनी आमदनी ही थी। उसके रईस का मुख्य स्थान भी हथुआ में पीछे बना, उन दिनों कहीं अन्यत्र ही था।

हथुआ-राज के साथ मेरे पूर्वजों का सम्बन्ध कई पीढ़ियों तक चलता रहा। मालूम नहीं कि वे लोग किस पद पर थे, पर जहाँ तक खबर है, वह कोई ऊँचा पद नहीं था। गाँव के घर भी फूस के छप्पर के ही थे। जीरादेई में वे लोग एक दूसरे कायस्थ जमीन्दार के, जिनकी बड़ी जमीन्दारी थी, रैयत थे और हम लोग आज-तक कभी भी अपने गाँव की जमीन्दारी में हिस्सेदार नहीं हुए, यद्यपि पीछे हमारे पूर्वज और कई गाँवों के जमीन्दार हो गये।

मेरे दादा दो भाई थे। उनका नाम था मिश्री लाल। उनके बड़े भाई थे चौधुर लाल। मिश्री लाल का देहान्त बहुत छोटी उम्र में ही हो गया। उनके केवल एक लड़के थे महादेव सहाय जो मेरे पिता थे। चौधुर लाल जी के भी एक पुत्र थे जगदेव सहाय। मिश्री लाल की आकस्मिक मृत्यु कम उम्र में होने के कारण मेरे

पिता के साथ चौधुर लाल जी का बड़ा स्नेह-प्रेम था। जगदेव सहाय और महादेव सहाय दोनों को उन्होंने अपने पुत्र के समान ही पाला-पोसा और तैयार किया। जगदेव सहाय बड़े थे और उनके भी कोई पुत्र नहीं रहा, केवल एक लड़की हुई जो भी जाती रही। महादेव सहाय जी के तीन लड़कियाँ और दो लड़के हुए। एक लड़की तो बचपन में ही जाती रही। दो की शादी हुई जिनमें बड़ी भगवती देवी थोड़े ही दिनों के बाद विधवा हो गयीं और उस समय से आज तक मेरे ही घर में प्रायः अपनी सारी जिन्दगी काट रही हैं। दूसरी बहन भी, जो दोनों भाइयों से बड़ी थी, बिना किसी सन्तान के जाती रही। मेरे बड़े भाई बाबू महेन्द्र प्रसाद हुए और सबसे छोटा लड़का घर में मैं हुआ।

हथुआ-राज में चौधुर लाल जी ने बड़ी ख्याति पाई। वहाँ वह दीवान के पद पर पहुँच गये और प्रायः २५-३० वर्षों तक दीवान रहे। उन दिनों महाराज छत्रधारी साही गद्दी पर थे। उन्होंने अपने लड़के को राज्य न देकर पोते राजेन्द्र प्रताप साही को वसीयतनामा के जरिये राज्य दे दिया। उनका चौधुर लाल पर बड़ा विश्वास था और छोटे पोते की रक्षा का भार मरते समय उन पर डाल दिया। महाराज की मृत्यु के बाद छोटे कुमार पर बड़ी आफतें आईं। कुटुम्ब के लोगों ने राज पर दावा करके मुकदमा कर दिया जो प्रीवी-कौंसिल तक गया। प्रीवी-कौंसिल में फैसला हुआ कि हथुआ-राज अविभाज्य (Impartible) है और अविभाज्य राज को वसीयत करने का अधिकार राजा को है, इसलिए राजेन्द्र प्रताप साही राज्याधिकारी हैं। इस मुकदमे के दौरान में राजेन्द्र प्रताप साही की जिन्दगी पर भी आफत थी और उनकी रक्षा करना कोई सहज काम न था। हमने सुना है कि उनकी रक्षा के लिए चौधुर लाल जी उनकी चारपाई के पास ही स्वयं सोया करते थे और जो कुछ उनको खाने को दिया जाता था वह पहले जहर के भय स्वयं खा लिया करते थे।

चौधुर लाल जी ने राजा की केवल रक्षा ही नहीं की; उन्होंने राज के इन्तजाम में भी काफी तरक्की की। ग़ैर-आबाद ज़मीन को आबाद कराकर और दूसरे प्रकार की भी उन्नति करके उन्होंने राज की आमदनी प्रायः तिगुनी कर दी। महाराज राजेन्द्र प्रताप साही इन सब कारणों से उनको बहुत मानते थे और उनकी बड़ी प्रतिष्ठा किया करते थे। सुना है कि उनके सामने महाराज कभी तम्बाकू नहीं पीते थे और जब सुनते कि वह आ रहे हैं तब हुक्का हटवा दिया करते थे।

उन दिनों कर्मचारियों का मुशाहरा बहुत कम हुआ करता था। चौधुर लाल को शायद दीवान होने के जमाने में भी ५०) या १००) मासिक मिला करता था। साथ ही जितने लोग वहाँ डेरे पर रहते थे सबके लिए सीधा—चावल, दाल, घी इत्यादि—राजभंडार से रोजाना आया करता था। राज्य के कई गाँव भी, जिनमें ज़ीरात की ज़मीन थी, उनको ठेके में राजा ने दे रखा था। ज़ीरात की ज़मीन में धान की खेती होती थी और उससे काफी आमदनी हो जाया करती थी।

चौधुर लाल जी बड़े मुन्तज़िम आदमी थे। राज की आमदनी तो उन्होंने

दुगनी-तिगुनी बढ़ा दी, तो भी वहाँ की रियाया उनसे प्रेम रखती और उन पर विश्वास करती जिसका सबूत मुझे अपने अनुभव में भी मिला। जब मैं असहयोग के दिनों में उस इलाके में दौरा करने लगा, मैं जहाँ जाता वहाँ के बूढ़े लोग मेरा स्वागत विशेष करके इस कारण से भी करते कि मैं चौधुर लाल जी का पोता हूँ। चौधुर लाल जी ने अपने कुटुम्ब की भी उन्नति की। उन्होंने ७-८ हजार वार्षिक आमदनी की जमीन्दारी अपनी भी खरीदी। यह जमीन्दारी विशेष करके चावल बेच करके ही ली गयी थी। कई गाँव तो हमारी दोनों दादियों के नाम से ही लिये गये, क्योंकि चावल तो घर में वे ही तैयार करातीं, बेचतीं और रुपये देतीं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, चौधुर लाल जी ने अपने पुत्र जगदेव सहाय और भतीजा महादेव सहाय की शिक्षा का प्रबन्ध किया। अभी अँगरेजी की चाल नहीं चली थी। फारसी की ही शिक्षा दोनों को मिली। शायद एक बार छपरा भेजकर अँगरेजी पढ़ाने का विचार भी हुआ और मेरे चचा ने दो-एक किताबें पढ़ीं भी। मगर महाराज ने इसमें प्रोत्साहन नहीं दिया और दोनों भाइयों को फारसी ही पढ़कर सब्र करना पड़ा। फारसी भी दोनों भाई उसी मौलवी साहब से पढ़ते रहे, जो महाराज के पुत्र को—जो पीछे महाराज कृष्ण प्रताप साही हुए—पढ़ाते थे।

महाराज राजेन्द्र प्रताप साही की मृत्यु के बाद राज का इन्तजाम कुछ दिनों के लिए कोर्ट आफ वार्ड्स के हाथ में गया। चौधुर लाल जी अँगरेजी तो जानते न थे, इसलिए दीवान तो रह नहीं सकते थे, और उस पद पर पचीस-तीस बरसों तक रहकर उससे कोई छोटा पद स्वीकार करना उन्होंने अपनी शान के खिलाफ समझा। तब से हम लोगों का कई पीढ़ियों का सम्बन्ध हथुआ-राज से छूट गया। यह मेरे जन्म के पहले की बात है।

हथुआ से चले आने के बाद चौधुर लाल जी जीरादेई में रहने लगे और कुछ दिनों के बाद गोरखपुर में तमुकही-राज के भी दीवान थोड़े दिनों के लिए हुए। पर उस समय उनकी अवस्था कुछ अधिक हो गयी थी। वहाँ का जलवायु अनुकूल न होने के कारण वह शीघ्र ही वहाँ से जवाब देकर चले आये। उनके अन्तिम दिन जीरादेई में ही बीते। मुझे तमुकही की बातें कुछ-कुछ याद आती हैं। मैं उन दिनों बहुत छोटा था।

२—मेरे भाई-बहन

ऊपर कह आया हूँ कि मेरे पिता की पाँच सन्तानों में सबसे बड़ी भगवती देवी हैं। उनका विवाह मेरे जन्म के पहले ही एक बड़े धनी कायस्थ-परिवार में हुआ। बचपन में, जब मैं शायद चार-पाँच बरस का था, वहाँ गया था और उन लोगों की शान-शौकत देखी थी। मेरे बहनोई छः भाई थे। सबके लिए अलग-अलग नौकर और सिपाही थे। कई घोड़े-हाथी पाले जाते थे और कई किते की बड़ी हवेली थी। न मालूम किस तरह से चार-पाँच वर्षों के भीतर देखते-देखते ही सारी जमीन्दारी,

जिसकी आमदनी सुनते हैं कि ७०—७५ हजार सालाना की थी, बिक गयी। मेरे बहनोई की मृत्यु भी उन्हीं दिनों मेरे ही घर पर, जीरादेई में ही, हो गयी। मैं छोटा था, फिर भी उस समय का कोलाहल और दादा, चचा, पिता जी और घर की स्त्रियों की करुण दशा का चित्र अभी तक नहीं भूलता। मैंने मृत्यु का दृश्य पहले-पहल वही अपने होश में देखा।

उनसे छोटी बहन की शादी उसके बाद हुई। भाई साहब की भी शादी हुई। इन दोनों शादियों को भी मैंने देखा। भाई की शादी में मैं बरात गया था। उस समय शायद चार बरस का था और वहाँ जाकर माँ के लिए रोने भी लगा था। उस समय तक शायद ही माँ से अलग होकर एक-दो दिनों के लिए कहीं गया होऊँ। भाई साहब मुझसे आठ बरस बड़े थे। इसलिए मुझे बहुत बातों की सुविधा हुई। जो उनकी शिक्षा का क्रम हुआ वही मेरे लिए भी स्वभावतः हो गया और मैं उनके पीछे-पीछे बिना किसी विशेष कठिनाई के चलता गया।

घर में चौधुर लाल जी रहते थे। मुझे अच्छी तरह याद है कि मैं और मेरे चचा की लड़की, जो मुझसे पाँच-छः महीने छोटी थी, उनके बदन पर लोटपोट करके खेला करते और वह बहुत प्यार से हम दोनों को खेलाया करते। मेरे चचा साहब जमीन्दारी का इन्तजाम करते और अक्सर छपरे आया-जाया करते जहाँ जमीन्दारी के मुकदमे, जो हमेशा कुछ-न-कुछ लगे ही रहते हैं, हुआ करते थे। मेरे भाई साहब छपरे अँगरेजी पढ़ने के लिए भेज दिये गये थे। जब-तब उनको देखने के लिए भी वहीं जाया करते। जब कभी उनके छपरे से आने की खबर मिलती, हम बच्चे घर से कुछ दूर जाकर ही उनका स्वागत करते। स्वागत का अर्थ था उनसे मिठाई, फल इत्यादि की माँग पेश करना और जो कुछ मिल जाय उसे ले उनसे पहले ही दौड़कर घर पहुँच माँ को दिखलाना।

मेरे पिता जी घर पर ही रहा करते थे। जमीन्दारी के इन्तजाम से उनका कम ही सरोकार रहता। उनको बाग लगाने का शौक था। वह बहुत समय बाग-बगीचे लगाने में ही बिताते। आज भी उनके लगाये आम के दो बड़े-बड़े बगीचे हम लोगों के कब्जे में हैं जिनमें अच्छे-अच्छे आम पैदा होते हैं। वह फारसी के अच्छे विद्वान् थे। कुछ-कुछ संस्कृत भी जानते थे। आयुर्वेद और तिब में उनकी दिलचस्पी थी। इन विषयों की पुस्तकों का संग्रह भी कर रखा था और उसका अध्ययन भी किया करते थे। वह इस तरह बिना बाजाब्ता शिक्षा पाये चतुर वैद्य या हकीम हो गये थे। उनके पास तरह-तरह के रोगी आया करते। जो दवा खरीद सकते उनको नुस्खे लिखकर देते। गरीबों को अपने पास से दवा भी देते। उनके साथ एक नौकर हमेशा दवा तैयार करने के लिए ही रहता। कभी किसी की नाड़ी नहीं देखते थे और न किसी के घर जाकर रोगी को ही देखते थे, हालत सुनकर ही दवा देते और बहुतेरे आराम भी हो जाते। इससे यश फैला था। वह शरीर से भी अच्छे पुष्ट थे। बचपन से कुछ कसरत भी अखाड़े में उन्होंने की थी। मुझे याद है कि जब मैं स्कूल या कालेज

में पढ़ता था और छुट्टियों में घर आया करता था, तो वह स्वयं मुगदर भाँजने को सिखाते थे और साथ-साथ मुगदर भाँजकर तरह-तरह के खेल दिखलाते थे। घोड़े की सवारी अच्छी करते थे और हमेशा एक अच्छा घोड़ा रखा करते थे। बचपन में मुझे और भाई साहब को घोड़े की सवारी करना भी उन्होंने सिखाया था। छोटी ही उम्र में हम दोनों भाई दो घोड़ों पर सवार होकर, कभी-कभी छुट्टियों में जीरादेई आने पर, घूमने-फिरने जाया करते।

लड़कपन में हम लोग देहाती खेल भी खेला करते। खास करके वहाँ का प्रचलित खेल कबड्डी और चिक्का तो हम खूब खेलते। प्रायः कोई दिन बिना खेले नहीं बीतता होगा। यह क्रम उस समय तक जारी रहा जब तक कालेज की पढ़ाई खतम नहीं हुई। जब कभी छुट्टियों में हम जीरादेई आते थे, खेल जरूर खेलते जिसमें भाई भी शरीक होते। एक खेल और गाँवों में प्रचलित था। उसे 'दोल्हापाती' कहते हैं। उसमें गाछों पर चढ़ना होता है। मैं गाछों पर चढ़ने से डरता था, इसलिए उस खेल में कभी शरीक नहीं हुआ। इसी प्रकार, गाँव में बहती नदी के अभाव में, तैरना भी नहीं सीख सका।

माता और दादी मुझे बहुत प्यार करतीं। बचपन से ही मेरी आदत थी कि मैं संध्या को बहुत जल्द सो जाता था और उधर कुछ रात रहते ही, बहुत सवेरे ही, जाग जाता था। घर पक्का था, पर बना था पुराने तरीके पर। बीच में आँगन और चारों ओर ओसारे और कमरे। कमरों में एक दरवाजा और छप्पर के नजदीक हर कमरे में एक या दो छोटे-छोटे रोशनदान। जाड़ों में खास करके, लम्बी रात होने के कारण, रात रहते ही नींद टूट जाती और उसी समय से माँ को भी मैं सोने नहीं देता। रजाई के भीतर ही भीतर उनको जगाता। वह जागकर पराती (प्रभाती) भजन सुनातीं। कभी-कभी रामायण इत्यादि की कथाएँ भी सुनातीं। उन भजनों और कथाओं का असर मेरे दिल पर बहुत पड़ता। इसी प्रकार जबतक रोशनदान में बाहर की रोशनी नजर नहीं आती, पड़ा रहता और माँ से भजन गवाता रहता या कथा कहलाता रहता। जब रोशनी खूब आ जाती तब घर से बाहर निकलता। संध्या को इतना पहले सो जाता कि शायद ही कभी रात का खाना जागते-जागते खाया हो। उन दिनों रात का खाना भी बहुत देर के बाद तैयार होता। बच्चे क्या, बूढ़े लोग भी एक नींद सोकर उठने के बाद ही खाना खाते। शायद ही किसी रात को १२-१ बजे के पहले खाना-पीना होता हो। पहले घर के पुरुष खाते, तब स्त्रियाँ खातीं, और तब नौकर खाते। गरमी के मौसम में तो नौकरों के खाते-खाते कभी-कभी सवेरा तक हो जाता। इसलिए अगर मैं शाम को बिना खाये सो जाता तो मैं अपना कोई कसूर मानने को तैयार नहीं हूँ।

घर में रसोई बनाने के लिए एक कायस्थ थे। इसलिए रसोई का भार मेरी चाची या माँ पर नहीं था। तो भी उन्हें तरकारी इत्यादि तो कुछ बनाना ही पड़ता। संध्या होते ही मैं माँ को पकड़ लेता और साथ सोने के लिए रोने लगता।

अगर वह किसी काम में लगी रहतीं तो उसे छोड़ मेरे साथ उनको सोना पड़ता। पर मैं समझता हूँ कि यह क्रिया कुछ देर तक नहीं होती; क्योंकि मैं बहुत जल्द सो जाता और जब एक बार सो गया तो वह फिर उठकर चली जातीं और काम करतीं। मुझे स्मरण है कि हमेशा रात को मुझे जगाकर खिलाया जाता। आँखें खुलतीं नहीं, पर बदन हिलाकर माँ मैना-सुग्गा के नाम और किस्से कहकर मुँह तो खुलवा देतीं और उसमें भोजन दे देतीं। एक दाई थी जिसको हम काकी कहा करते थे। वह इस प्रकार खिलाने में बड़ी पटु थी। जब किसी दूसरे की हजार कोशिश पर भी आँख और मुँह बन्द ही रहते, तो भी वह किसी-न-किसी उपाय से मुँह तो जरूर खोलवा देती और भात खिला देती। साँझ के बाद ही सोने और भोर होते ही जागने की आदत मुझमें बराबर बनी रही। यहाँ तक कि जब मैं छपरे और पटने पढ़ने के लिए गया, तब भी रात होते ही बहुत जल्द सो जाता और पाँचवें क्लास में पहुँचने के समय तक शायद ही कभी रात में अपने हाथों खाया हो। एक ब्राह्मण रसोईदार थे, जो रात को मुझे गोद में बिठाकर उसी पुरानी रीति से, आँखें बन्द रहने पर भी, खुले मुँह में भात के गोले रख दिया करते, जिनको मैं निगल लिया करता था।

जब मैं वकालत करता था तबतक साँझ ही सो जाने की आदत जारी रही। संध्या समय मवक्किलों का कागज लेकर देखने बैठता और उनके सामने ही, ७॥–८ बजे ही, झुकने लगता। तब काम बन्द कर देता। १९१४–१५ में, जब मैं एम० एल० परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था, एक घटना घटी। उन दिनों कलकत्ता-हाइकोर्ट में मैं प्राक्टिस करता था। लॉ-कालेज में प्रोफेसरी भी मिल गयी थी। कुछ मुकदमे भी हाथ में रहा करते थे। इसलिए सवेरे का समय मुकदमों की बहस की तैयारी में और लॉ-कालेज की पढ़ाई की तैयारी में लग जाता। दिन का समय कचहरी में कट जाता। केवल रात का ही समय परीक्षा की तैयारी के लिए मिलता। इसलिए संध्या को ही पुस्तकें पढ़ता और जब पुस्तकें हाथ में आतीं, साथ-साथ नींद भी आ ही जाती। एक दिन सोचा कि इस प्रकार से तो परीक्षा की तैयारी में सफलता नहीं मिलेगी, किसी तरह संध्या की नींद को रोकना चाहिए और कम से कम ९ बजे रात तक तो पढ़ना ही चाहिए। जब नींद आने लगी तो किताब हाथ में लेकर खड़ा हो गया। उस पर भी जब नींद का हमला कम न हुआ, तो कमरे के अन्दर टहल-टहलकर पढ़ने लगा। मालूम नहीं, कितनी देर तक यह क्रम चला। एकबारगी हाथ से किताब नीचे गिरी और मैं भी साथ ही साथ धड़ाम से कमरे के फर्श पर चित हो रहा। न मालूम, सिर क्यों नहीं फूटा। कुछ तो चोट जरूर आई। तब से उस प्रयोग को खतरनाक समझकर छोड़ दिया और जो कुछ समय बैठे-बैठे निकाल सकता उतना ही पढ़कर सब्र करता।

३—मौलवी साहब

पाँचवें या छठे बरस में मेरा अक्षरारम्भ कराया गया था। उस समय मेरे भाई अँगरेजी पढ़ने के लिए छपरे भेजे जा चुके थे। उस समय की प्रचलित प्रथा के

अनुसार अक्षरारम्भ मौलवी साहब ने कराया था। जिस दिन अक्षरारम्भ हुआ, मौलवी साहब आये, बिसमिल्लाह के साथ अक्षरारम्भ हुआ, शीरनी बाँटी गयी और उनको रुपये भी दिये गये। हम तीन विद्यार्थी उनके सपुर्द किये गये—एक मैं और दूसरे दो अपने कुटुम्ब के ही चचेरे भाई, जिनमें एक यमुना प्रसाद जी सबसे बड़े और मुझसे दो बरस बड़े हैं, तीसरे अब नहीं रहे; वह भी मुझसे बड़े थे। यमुना भाई ही हम सबके 'लीडर' थे और तमाम खेल और लड़कपन की चुल्लेपनी में आगे रहा करते थे। उनके एक चचा, जो मेरे भी चचा होते थे, बड़े मजाक-पसन्द थे। वह मेरे पिता जी से छोटे होते थे, पर पिता जी के कई गुण उन्होंने भी सीखे थे। वह भी घोड़े की अच्छी सवारी करते, दवा करते और बाँटते और बन्दूक चलाना, गुलेल चलाना खूब जानते थे। फारसी भी पढ़े थे और शतरंज भी खूब खेलते थे। पर इन सब चीजों में वह मेरे पिता जी का लोहा मान लेते थे। बड़े ही हँसमुख और पुरमजाक आदमी थे।

मौलवी साहब, जो हम लोगों को पढ़ाने आये, विचित्र आदमी थे। उनका बहुत बातों पर दावा था। बलदेव चचा के मजाक के लिए वह एक बहुत ही उपयोगी साधन बन गये। चचा तरह-तरह की बातें मौलवी साहब को सुनाते और उनको उत्साह देकर उनसे कहला लेते कि वह भी, चाहे वह कोई बात या काम क्यों न हो, जानते थे या कर सकते थे। इस प्रकार मौलवी साहब का दावा था कि वह शतरंज खेलना जानते थे। बलदेव चचा शतरंज खेलाते, पर बावजूद दावा के मौलवी साहब कभी जीतते नहीं। हम छोटे-छोटे बच्चे इन सारे मजाकों को भय और कौतूहल से देखते। हँसने का मौका आ जाय तो भी हँसना मुश्किल हो जाता। मजाक की बात दादा जी—चौधुर लाल जी—तक पहुँच गई। वह भी कभी-कभी उसमें शरीक हो जाते।

एक दिन बलदेव चचा ने मौलवी साहब से कहा कि बाग में हनुमान आ गये हैं, उनको किसी तरह भगाना चाहिए, वे गुलेल से मारकर भगाये जा सकते हैं। इतना कहना था कि मौलवी साहब ने दावा पेश कर दिया कि वह भी गुलेल चलाना खूब जानते हैं। बलदेव चचा तो खूब समझ गये थे कि वह कुछ नहीं जानते, पर मजाक उनको मंजूर था। वह उनको साथ लेकर बगीचे में गये। गुलेल और गोली उनके सपुर्द कर कहा कि खूब खींचकर एक बन्दर को मारिये। मौलवी साहब ने खूब खींच-कर जो गोली छोड़ी और देखना चाहा कि बन्दर को कैसी चोट लगती है कि इतने में उनके बायें हाथ के अँगूठे से तरतर खून टपकने लगा और चोट के दर्द से सहम-कर बैठ गये। गोली बन्दर को लगने के बदले मौलवी साहब के अपने अँगूठे पर ही जा बैठी थी।

एक दूसरे दिन का जिक्र है कि शाम को सब लोग, जिनमें हमारे दादा साहब भी शरीक थे, टहलने निकले। मौलवी साहब और बलदेव चचा भी थे। तरह-तरह की बातें हो रही थीं। इतने में एक साँड़ देखने में आया। लोगों ने कहा कि साँड़

लोगों को मारता है। बलदेव चचा के इशारे पर मौलवी साहब इससे कब डरनेवाले थे, बेखौफ आगे बढ़े कि इतने में साँड़ ने उनको दे पटका। इस प्रकार के मजाक बराबर ही हुआ करते।

एक दिन बलदेव चचा ने मौलवी साहब को बन्दूक चलाने की तरगीब दी। मौलवी साहब किसी चीज को न जानना कबूल करना अपनी शान के खिलाफ समझते थे और उन्होंने साफ कह दिया कि वह अच्छा निशाना लगा सकते हैं। उन्हें साथ लेकर बलदेव चचा बन्दूक के साथ गये। मौलवी साहब के दो लड़के थे जो हम लोगों के साथ ही पढ़ा करते थे। हम सब और वह दोनों लड़के भी साथ हो लिये। कुछ दूर पर एक ऊँचे दरख्त पर एक गीध बैठा नजर आया। बलदेव चचा ने उसी पर निशाना लगाने को कहा। वह काफी ऊँचाई पर था और प्रायः खड़ी बन्दूक करके ही निशाना लग सकता था। मौलवी साहब को जो बन्दूक दी गयी थी वह पुराने किस्म की थी, जिसमें बारूद ऊपर से भरी जाती थी और वजनी भी थी। मौलवी साहब ने शायद कभी पहले बन्दूक नहीं चलाई थी। उन्होंने प्रायः खड़ी बन्दूक अपने सीने पर रखकर निशाना लगाया। उधर बन्दूक का घोड़ा चटका, आवाज हुई और इधर गीध के बदले मौलवी साहब जमीन पर चित गिरे। बलदेव चचा ने झट उनको उठाया और लड़कों को पानी लाने के लिए भेजा। मौलवी साहब किसी तरह घर लाये गये।

इस प्रकार के मजाकों के बीच हम लोग फारसी पढ़ते रहे। कुछ छः-आठ महीनों के बाद मौलवी साहब चले गये। हम लोग शायद अक्षर सीख चुके थे और करीमा पढ़ने लगे थे। फिर दूसरे मौलवी बुलाये गये जो ब त गम्भीर थे और अच्छा पढ़ाते भी थे। वही दो बरसों तक रहे और करीमा, मामकीमा, खालकबारी, खुशहाल-सीमिया, दस्तूरुलसीमिया, गुलिस्ताँ, बोस्ताँ तक हम लोगों को पढ़ा सके। उसी जमाने में हम लोगों ने कैथी लिखना और गिनती करना सीख लिया, पर यह याद नहीं है कि यह कब और कैसे सीखा। हफ्ते में साढ़े पाँच दिन फारसी पढ़ते थे। वृहस्पतिवार के दोपहर के बाद और शुक्रवार के दोपहर तक फारसी से छुट्टी रहती थी और इसी में कैथी अथवा गिनती वगैरह सीखते। इसके अलावा कुछ खेलने-कूदने के लिए भी अधिक समय दिया जाता।

पढ़ने का तरीका था कि खूब सवेरे हम लोग उठकर मकतब में चले आते। मकतब मेरे पक्के मकान से अलग एक दूसरे मकान के ओसारे में था। एक कोठरी थी जिसमें मौलवी साहब रहा करते और सामने ओसारे में तख्तपोश पर बैठकर हम लोग पढ़ा करते। मौलवी साहब कभी अपनी चारपाई पर और कभी तख्तपोश पर बैठकर पढ़ाया करते। सवेरे आकर पहले का पढ़ा हुआ सबक एक बार आमोख्ता करना पड़ता और जो जितना जल्द आमोख्ता कर लेता उसको उतना ही जल्द नया सबक पढ़ा दिया जाता। मैं अक्सर अपने दोनों साथियों से पहले मकतब में पहुँच जाता और आमोख्ता भी पहले खतम करके सबक भी पहले पढ़ लिया करता। यह करते सूर्य्योदय होकर कुछ दिन भी निकल आता। तब नौकर आता और साथ ले

जाकर मुँह-हाथ धुला देता और घर माँ के पास कुछ खिलाने के लिए पहुँचा देता। इसके लिए प्रायः आध घंटे पौन घंटे की छुट्टी मिलती। नाश्ता करके लौटने पर सबक याद करना पड़ता और सबक याद करके सुना देने के बाद मौलवी साहब हुकुम देते, किताब बन्द करो। किताब बन्द करके तख्ती निकालनी पड़ती। इन दोनों क्रियाओं के बीच कुछ समय खेलने-कूदने का भी मिल जाता या दोबारा घर जाकर कुछ खा लेने का भी मौका मिल जाता। तख्ती पर लिखना होता और जब तख्ती भर जाती तो उसे धोना पड़ता। इस क्रिया में भी कुछ समय आपस में हँसने-खेलने का मिलता। दोपहर को नहाने-खाने के लिए एक-डेढ़ घंटे की छुट्टी मिलती और खाकर फिर मकतब में ही उसी तख्तपोश पर सोना पड़ता। मौलवी साहब चारपाई पर सोते। हम लोगों को अक्सर नींद नहीं आती और तख्तपोश पर लेटे-लेटे शतरंज खेलते और जब मौलवी साहब के जागने का वक्त होता उसके पहले ही गोटियों को उठाकर रख देते। उसी जमाने में कभी शतरंज खेलना भी आ गया, पर इसका पता नहीं कि कब, कैसे और किससे सीखा। फिर सेपहर को दूसरा सबक मिलता और उसको कुछ हद तक याद करके सुनाने के बाद घंटा-डेढ़-घंटा दिन रहते खेलने के लिए छुट्टी मिलती। इसी समय गेंद, चिक्का इत्यादि खेल खेले जाते। संध्या को फिर चिराग-बत्ती जलते किताब खोलकर पढ़ने के लिए बैठना पड़ता। दिन के दोनों सबक याद करके फिर सुनाने पड़ते और तब हुक्म होता, किताब बन्द करो। किताब बन्द करके, कायदे के मुताबिक मौलवी साहब को आदाब करके, घर जाकर सो जाते।

संध्या को जल्द नींद आती। इससे हमेशा डर रहता कि कहीं झुकते देखकर मौलवी साहब मार न बैठें। जल्द छुट्टी के लिए दो उपाय थे। खेल-कूद में जमुना भाई 'लीडर' थे और जल्द छुट्टी पाने के उपाय भी वही करते। पढ़ने के लिए तेल देकर दिया जलाया जाता था। जमुना भाई दिन को ही कपड़े में राख या धूल बाँध-कर छोटी-सी पोटली बनाकर छिपाकर रख लेते। जिस दिन दिया में तेल अधिक देखने में आता, चिराग की बत्ती उकसाने के बहाने, छिपाकर पोटली दिया में रख देते। वह देखते-देखते तेल सोख लेती और जल्द दिया बुझने पर आ जाता। मौलवी साहब दाई पर रंज होते कि तेल क्यों कम लाई, पर मजबूर होकर जल्द ही किताब बन्द करने का हुक्म दे देते। किसी-किसी दिन जमुना भाई पेशाब करने के लिए छुट्टी माँगकर बाहर जाते और पेशाब करने के बदले दौड़कर कभी मेरी माँ के पास, कभी-कभी अपनी माँ के पास और कभी गंगा भाई की माँ के पास जाकर कह आते कि अब नींद लग रही है, जल्द दाई को हमें बुलाने के लिए भेजो, नहीं तो पिट जायँगे। उनके पेशाब से लौटने के थोड़े ही बाद दाई पहुँच जाती और मौलवी साहब से कहती कि अब छुट्टी दे दीजिए। मौलवी साहब छुट्टी दे देते।

एक दिन, जब इस तरह जमुना भाई दौड़े जा रहे थे, गाँव के एक सज्जन ने, जो रिश्ते में हम लोगों के चचा होते थे, उन्हें देख लिया और जाकर मौलवी साहब से कह दिया कि जमुना कहीं दौड़े जा रहे थे। तहकीकात हुई और जमुना भाई

की कैफियत हुई कि वह पेशाब करने गये और अँधेरे में डर गये, इसलिए भागे जा रहे थे। इस तरह से बचे।

जो कुछ वहाँ फारसी का ज्ञान हुआ, उसी मौलवी साहब ने दिया। हम सब भी उनको प्यार करने लगे थे। जब घर छोड़कर छपरे अँगरेजी पढ़ने के लिए जाना पड़ा, तो मौलवी साहब को और हम लोगों को भी बड़ा दुख हुआ।

४—गाँव का जीवन

उन दिनों गाँव का जीवन आज से भी कहीं अधिक सादा था। जीरादेई और जमापुर दो गाँव हैं, पर दोनों की बस्ती इस प्रकार मिलीजुली हैं कि यह कहना मुश्किल है कि कहाँ जीरादेई खतम है और कहाँ से जमापुर शुरू है। इसलिए आबादी के लिहाज से दोनों गाँवों को साथ भी लिया जाय तो कोई हर्ज नहीं। दोनों गाँवों में प्रायः सभी जातियों के लोग बसते हैं। आबादी दो हजार से अधिक होगी। उन दिनों भी गाँव में मिलनेवाली प्रायः सभी चीजें वहाँ मिलती थीं। अब तो कुछ नये प्रकार की दूकानें भी हो गई हैं, जिनमें पान-बीड़ी भी बिकती है। उन दिनों ऐसी चीजें नहीं मिलती थीं, यद्यपि काला तम्बाकू और खैनी बिका करती थी। कपड़े की दूकानें अच्छी थीं, जहाँ से दूसरे गाँवों के लोग और कुछ बाहर के व्यापारी भी कपड़े ले जाया करते थे। चावल, दाल, आटा, मसाला, नमक, तेल इत्यादि वहाँ सब कुछ बिकता था और छोटी-मोटी दूकान दवा की भी थी, जिसमें हर्रे-बहेरा-पीपर इत्यादि की तरह की चीजें मिल सकती थीं। जहाँ तक मुझे याद है, केवल मिठाई की कोई दूकान नहीं थी। गाँव में कोयरी लोगों की काफी बस्ती है, इसलिए साग-सब्जी भी काफी मिलती थी। अहीर कम थे, पर आसपास के गाँवों में उनकी काफी आबादी है, इसलिए दही-दूध भी मिलते थे। चर्खे काफी चलते थे। गाँव में जुलाहों की भी आबादी थी, जो सूत लेकर बुन दिया करते थे। चुड़िहार चूड़ियाँ बना लेते। बिसाती छोटी-मोटी चीजें, जैसे टिकुली इत्यादि, बाहर से लाकर बेचते और कुछ खुद भी बनाते। मुसलमानों में चुड़िहार, बिसाती, थवई (राज), दर्जी और जुलाहे ही थे। कोई शेख-सैयद नहीं रहता था। हिन्दुओं में ब्राह्मण, राजपूत, भूमिहार, कायस्थ, कोयरी, कुरमी, कमकर, तुरहा, गोंड, डोम, चमार, दुसाध इत्यादि सभी जाति के लोग बसते थे। मेरा खयाल है कि सबसे अधिक बस्ती राजपूतों की ही है। उनमें कुछ तो जमीन्दार-वर्ग के हैं, जो पुराने खानदानी समझे जाते हैं और कुछ मामूली किसान-वर्ग के हैं। कायस्थ जीरादेई में ही पाँच घर थे, जिनमें तीन तो हमारे सगे थे और दो सम्बन्ध के कारण बाहर से आकर बस गये थे।

सब कुछ प्रायः गाँव में ही मिल जाता था। इसलिए गाँव के बाहर जाने का लोगों को बहुत कम मौका आता था। गाँव में हफ्ते में दो बार बाजार भी लगता था, जहाँ कुछ आसपास के गाँव के दूकानदार भी अपना-अपना माल-सौदा सिर पर अथवा बैल, घोड़ा या बैलगाड़ी पर लादकर लाते थे। बाजार में मिठाई की

दूकान भी आ जाती थी और जो चाहते उनको मछली-मांस भी खरीदने को मिल जाते। जिनकी जरूरतें इस प्रकार पूरी नहीं होतीं, वे 'सीवान' जाते। वहीं थाना और मजिस्ट्रेट हैं—कचहरियाँ हैं और दूकानें भी हैं। वह एक कस्बा है, जो देहात के लोगों के लिए उन दिनों बहुत बड़ी जगह का रुतबा रखता था। मुझे याद है कि गाँव में बाहर से सगे-सम्बन्धियों के सिवा ब त कम लोग आया करते थे। मौलवी साहब के यहाँ दो-चार महीने में एक बार एक आदमी फारसी की छोटी-मोटी किताबों की एक छोटी गठरी और एक-दो बोतलों में सियाही (आजकल की ब्लूब्लैक रोशनाई नहीं) लिये आ जाता था। जब वह आता तो हम बच्चों के कौतूहल का ठिकाना न रहता। कभी-कभी जाड़ों में कोई नारंगी-नीबू की टोकरी लिये बेचने आ जाता तो हम बच्चे इतना खुश होते कि मानों कुछ नायाब मिल गया। एक दिन ऐसा ही एक आदमी आया और मैं दौड़कर माँ से कहने गया। वहाँ से दौड़कर जो बाहर आ रहा था कि पैर में जोर से किसी चीज की ठोकर लगी, गिर गया। ओठ में चोट आई और खून बहने लगा। बहुत दिनों तक उसका चिह्न था। एक बार और किसी चीज के लिए दौड़ता हुआ गिर गया था। उसका निशान तो आज तक दाहिनी आँख के नीचे गाल पर मौजूद है। गाँव में फल—आम के दिनों में आम और मामूली तरह से कभी-कभी बाग से केले—मिल जाते थे। चचा साहब, जिनको हम लोग नूनू कहा करते थे, छपरे से कभी-कभी अंगूर लाया करते थे। अंगूर आज की तरह खुले आम गुच्छों में नहीं बिका करते थे, काठ की छोटी पेटी में रुई के फाहे के बीच में रखकर बिकते थे और दाम भी काफी लगता था। गाँव के लोग केवल आम और केले ही मौसम में पाते थे।

गाँव में दो छोटे-मोटे मठ हैं, जिनमें एक-एक साधु रहा करते थे। गाँव के लोग उनको भोजन देते हैं और वह सुबह-शाम घड़ी-घंटा बजाकर आरती करते हैं। आरती के समय कुछ लोग जुट भी जाते हैं। कभी-कभी हम लोग भी जाया करते थे और बाबा जी तुलसीदल का प्रसाद दिया करते थे। रामनौमी और विशेषकर जन्माष्टमी में मठ में तैयारी होती थी। हम सब बच्चे कागज और पन्नी के फूल काटकर ठाकुरबारी के दरवाजों और सिंहासन पर साटते थे और उत्सव में शरीक होते थे, व्रत रखते थे और दधिकाँदो के दिन खूब दही-हल्दी एक दूसरे पर डालते थे। प्राय: हर साल कार्तिक में कोई-न-कोई पंडित आ जाते जो एक-डेढ़ महीना रहकर रामायण, भागवत अथवा किसी दूसरे पुराण की कथा सुनाते थे। जिस दिन पूर्णाहुति होती थी उस दिन गाँव के सब लोग इकट्ठे होते और कुछ-न-कुछ पूजा चढ़ाते। मेरे घर से अधिक पूजा चढ़ती, क्योंकि हम सबसे बड़े समझे जाते थे। अक्सर कथा तो मेरे ही दरवाजे पर हुआ करती थी। उसका सारा खर्च हमको ही देना पड़ता था। जब गाँव में पंचायती कथा होती तब गाँव-भर के लोग बारी-बारी से पंडित के भोजन का सामान पहुँचाते, उसमें मेरा घर भी शामिल रहता। हम बच्चे तो शायद ही कथा का कुछ ज्यादा अंश सुन पाते हों; क्योंकि मैं तो

सँझौत के बाद ही सो जाता। पर जब आरती होती तो लोग जगाते और प्रसादी खिला देते।

मनोरंजन और शिक्षा का एक दूसरा साधन रामलीला थी। वह आसिन में हुआ करती थी। रामलीला करनेवाली जमात कहीं से आ जाती और पन्द्रह-बीस दिनों तक खूब चहलपहल रहती। लीला कभी जमापुर में होती, कभी जीरादेई में। लीला भी विचित्र होती। उसमें राम-लक्ष्मण इत्यादि जो बनते, कुछ पढ़ेलिखे नहीं होते। एक आदमी तुलसीदास की रामायण हाथ में लेकर कहता—'रामजी कहीं, हे सीता'—इत्यादि और रामजी वही दुहराते। इसी प्रकार, जिनको जो कुछ कहना होता उनको बताया जाता और वह पीछे-पीछे उसे दुहराते जाते। लोगों का मनोरंजन इस वार्त्तालिप में अधिक नहीं होता, क्योंकि भीड़ बड़ी लगती और सब कारबार प्रायः १००–२०० गज में फैला रहता। मनोरंजन तो पात्रों की दौड़धूप और विशेषकर लड़ाई इत्यादि के नाटच में ही होता। उत्तर में रामजी का गढ़ और दक्खिन में रावण का गढ़ बनता अथवा अयोध्या और जनकपुर बनता। जिस दिन जो कथा पड़ती उसका कुछ न कुछ स्वाँग तो होता ही। सबसे बड़ी तैयारी राम-विवाह, लंकाकाण्ड के युद्ध और रामजी के अभिषेक—गद्दी पर बैठने के दिन होती। विवाह में तो हाथी-घोड़े मँगाये जाते और बरात की पूरी सजावट होती। लंकादहन के लिए छोटे-मोटे मकान भी बना दिये जाते जो सचमुच जला दिये जाते। हनुमान-बानर और निशाचरों के अलग-अलग चेहरे होते जो उनको समय पर पहनने पड़ते और हम बच्चों को वे सच-मुच डरावने लगते। बानरों के कपड़े अक्सर लाल होते और निशाचरों के काले। राम-लक्ष्मण-जानकी के विशेष कपड़े होते और उनके सिंगार में प्रायः डेढ़-दो घंटे लग जाते। लीला संध्या समय ४ बजे से ६ बजे तक होती। राम-लक्ष्मण मामूली लोगों की तरह नहीं चलते। उनके कदम बहुत ऊँचे उठते और लड़ाई में पैंतरे देने की तो उनको खास तालीम दी जाती। जिस दिन राजगद्दी होती उसी दिन गाँव-जवार के लोग पूजा चढ़ाते, जो नजर के रूप में रामजी के चरणों में चढ़ाई जाती। लीलावालों को भोजन के अलावा नगद जो कुछ मिलना होता उसी दिन मिलता। दूसरे दिन फिर राम-लक्ष्मण-जानकी को श्रृंगार करके बड़े-बड़े लोगों के घरों में ले जाते, जहाँ की स्त्रियाँ परदे के कारण भीड़-भाड़ में लीला देखने नहीं जाया करतीं। वहाँ उनकी पूजा होती और उनपर रुपये चढ़ाये जाते।

एक चीज, जिसका असर मुझपर बचपन से ही पड़ा है, रामायणपाठ है। गाँव में अक्षरज्ञान तो थोड़े ही लोगों को था। उन दिनों एक भी प्राइमरी या दूसरे प्रकार का स्कूल उस गाँव अथवा कहीं जवार-भर में नहीं था। मौलवी साहब हम लोगों को तीन-चार रुपये मासिक और भोजन पाकर पढ़ाते थे। गाँव में एक दूसरे मुसलमान थे, जो जाति के जुलाहा थे, मगर कैथी लिखना जानते थे। मुड़कट्टी हिसाब भी जानते थे, जिसमें पहाड़ा, डचोढ़ा इत्यादि मन-सेर की बिकरी और खेत की पैमाइश का हिसाब शामिल है। उन्होंने एक पाठशाला खोल रखी थी जिसमें गाँव के कुछ

लड़के पढ़ते थे। अक्षर पहचानना तो बहुत थोड़े लोग जानते, पर प्रायः प्रतिदिन संध्या के समय कुछ लोग कहीं न कहीं, मठ में या किसी के दरवाजे पर, जमा हो जाते और एक आदमी रामायण की पुस्तक से चौपाई बोलता और दूसरे सब उसे दुहराते। साथ में झाल और ढोलक भी बजाते थे। वन्दना का हिस्सा तो जब रामायण का पाठ आरम्भ होता तो जरूर दुहराया जाता। इस प्रकार अक्षर से अपरिचित रहकर भी गाँव में बहुतेरे ऐसे लोग थे जो रामायण की चौपाइयाँ जानते और दुहरा सकते और विशेष करके वन्दना के कुछ दोहों को तो सभी प्रायः बरजबान रखते थे।

त्योहारों में सबसे प्रसिद्ध होली है। उसमें अमीर-गरीब सभी शरीक होते थे। वसन्त-पंचमी के दिन से ही होली गाना शुरू होता। उसे गाँव की भाषा में 'ताल उठना' कहते थे। उस दिन से होली के दिन तक जहाँ-तहाँ झाल-ढोलक के साथ कुछ आदमी जमा होते और होली गाते। कभी-कभी जीरादेई और जमापुर के लोगों में मुकाबला हो जाता और एक गीत एक गाँव के लोग जैसे खतम करते, दूसरे गाँव के लोग दूसरा शुरू करते। कभी-कभी गाँव के आसपास के दूसरे गाँवों के लोग भी गोल बाँधकर आ जाते और इस प्रकार का मीठा प्रतियोग बड़े उत्साह से हुआ करता। मुझे याद है कि एक बार दो गाँवों में बाजी-सी लग गई और रात-भर गाते-गाते सवेरे सूर्योदय के बाद तक लोग गाते ही रह गये, और तब उनको कहकर हटाया गया। इस गाने में जो आदमी ढोलक बजाता है उसे काफी मेहनत पड़ती है और वह पसीने-पसीने हो जाता है। एक गाँव में ढोलक बजाने वाला एक ही आदमी था। वह सारी रात बजाता रह गया। उसके हाथों में छाले पड़ गये, पर वह कहाँ रुकने वाला था, गाँव की इज्जत चली जाती! छाले उठे और फूट गये और इस प्रकार रात-भर में कई बार छाले उठे और फूटे, पर उसने गाँव की इज्जत नहीं जाने दी। यह बात दूसरे दिन प्रतियोगिता खतम होने पर सवेरे मालूम हुई और सब लोगों ने उसकी हिम्मत की सराहना की।

होली के दिन बहुत गन्दा गाली-गलौज हुआ करता। उसमें बूढ़े और जवान और लड़के भी एक साथ शामिल होते। गाँव के एक कोने से एक जमात चलती जो प्रायः हर दरवाजे पर खड़ी होकर नाम ले-लेकर गालियाँ गाती और गन्दी मिट्टी, धूल और कीचड़ एक दूसरे पर डालती गाँव के दूसरे सिरे तक चली जाती। यही एक अवसर था जब बड़े-छोटे का लिहाज एकबारगी उठ जाता था। बड़े-छोटे केवल उम्र में ही नहीं, जाति और वर्ग की बड़ाई-छोटाई भी उठ जाती थी। चमार, ब्राह्मण और राजपूत एक दूसरे को गालियाँ सुनाते और एक दूसरे पर कीचड़ फेंकते। जब कोई नया आदमी साफ-सुथरा मिल जाता तो उसकी जान नहीं बचती, मानों उसे भी कीचड़ लगाकर जाति में मिला लेना सभी अपना फर्ज समझते थे। यह धुरखेल दोपहर तक जारी रहता। उसके बाद सभी स्नान करते और घर-घर में पूजा होती। उस दिन का विशेष भोजन पुरी-मालपुआ है। गरीब लोग भी किसी न किसी प्रकार

कुछ प्रबन्ध कर ही लेते। भोजन के बाद सेपहर को गुलाल और अबीर से रंग खेला जाता। सब लोग सफेद कपड़े पहनते। उस पर लाल-पीले रंग डाले जाते, अबीर और अबरख का चूर्ण छिड़का जाता। गरी-छुहारा, पान-कसैली बाँटी जाती और खूब होली गाई जाती।

मैंने सुना है कि और जगहों में लोग उस दिन खूब शराब-कबाब का भी व्यवहार किया करते हैं। पर सौभाग्य से मैंने यह अपने गाँव में कभी नहीं देखा। राजपूत, ब्राह्मण, भूमिहार तो हमारे यहाँ शराब पीना पाप मानते हैं। कहीं-कहीं कायस्थ लोग पीते हैं। पर मेरे घर में एक बहुत पुरानी प्रथा चली आ रही है। लोगों का विश्वास है कि हमारे वंश में जो कोई शराब पियेगा वह कोढ़ी हो जायगा। इसलिए वहाँ कायस्थों के घरों में भी कभी शराब नहीं आई। बड़ों को देखकर छोटे भी इससे परहेज करते हैं और यह बात आज तक जारी है।

जन्माष्टमी-रामनौमी का जिक्र कर ही दिया है; दीवाली भी अच्छी मनाई जाती थी। कुछ पहले से ही सब लोग अपने-अपने घरों को साफ करते। दीवारों को लीपते और काठ के खम्भों और दरवाजों में तेल लगाते। उन दिनों किरासन का तेल नहीं जलाया जाता था—शायद मिलता ही नहीं था। सरसों, तीसी, दाना अथवा रेंड़ी का तेल ही जलाया जाता। दीवाली में मिट्टी के छोटे-छोटे दिये जलाकर प्रायः अमीर-गरीब सब कुछ-न-कुछ रोशनी जरूर करते। बड़े लोगों के मकान पर बहुत दिये जलाये जाते, केले के खम्भे गाड़े जाते, बाँस की मेहराबें बनाई जातीं, रंग-बिरंग की तसवीरें दियों से बनाई जातीं, जो देखने में बहुत सुन्दर मालूम पड़तीं। बड़े लोग तो ये नक्शे बनाते और हम छोटे उनके बताये हुए स्थानों पर दिये रखते, तेल ढालते, बत्ती जलाते। बत्ती जल जाने के पहले लक्ष्मीपूजा होती। लक्ष्मी जी तथा तुलसी के पास बत्ती जलाने के बाद ही और सब जगहों में दिये जलाये जाते। दिये जल जाने के बाद कौड़ी खेलने की चाल थी। हम लोग तो नाम-मात्र के लिए कुछ कर लेते; पर मैंने देखा है कि कुछ लोग पैसे हारते-जीतते भी थे। दीवाली के दिन विशेष दीप की तैयारी होती, पर यों तो क़ातिक-भर कुछ लोग तुलसी-चौतरे पर और आकाश में कंदील लटकाकर दिये जलाया करते।

दशहरा तो खास करके जमीन्दारों का त्योहार माना जाता था। पर नवरात्र में कभी-कभी काली जी की पूजा हुआ करती थी। उसके लिए मूर्त्ति लाई जाती और बड़े धूमधाम से पूजा होती। मैंने अपने गाँव में तो काली-पूजा नहीं देखी, पर जवार में कालीपूजा हुई, इसकी शोहरत सुनने पर हम बच्चे वहाँ दर्शन के लिए भेजे गये थे। वहाँ जाकर हमने काली का, जो सचमुच काली थी और हाथ में लाल खप्पर और खड्ग लिये हुई थी, दर्शन किया था। रामलीला में राजगद्दी भी प्रायः दशहरे के दिन, या एक-दो दिन उसके आगे-पीछे, हुआ करती थी। खास दशहरे के दिन हमारे दादा साहब अपने साथ सब लोगों को लेकर एक छोटा-सा जलूस बनाकर निकलते और नीलकंठ का दर्शन करते।

इनके अलावा एक और त्योहार था जिसमें सभी लोग शरीक होते थे। वह था अनन्तचतुर्दशी का व्रत। यह भादों सुदी चतुर्दशी को हुआ करता था। दोपहर तक का ही व्रत था। दोपहर को कथा सुनने के बाद पूरी-खीर खाने की प्रथा थी और संध्या को कुछ नहीं खाना होता था। सूर्यास्त के बाद पानी भी नहीं पिया जाता था। इस व्रत में हम सब बच्चे भी शरीक होते। कथा समाप्त होने पर एक क्रिया होती जो बच्चों के लिए बहुत मजाक की चीज होती। एक बड़े थाल में एक या दो खीरे रख दिये जाते और थोड़ा जल उसमें पंडित डाल देते। सभी कथा सुनने वाले उस थाल में हाथ डालते और पंडित पूछते—क्या ढूँढ़ते हो और लोग जवाब देते—अनन्त फल। तब फिर पंडित पूछते—पाया और उत्तर मिलता—पाया। पंडित कहते, सिर पर चढ़ाओ और सब लोग जल अपने सिर पर छिड़कते। यह क्रिया समाप्त होने पर सभी लोगों को अनन्त, जो सूत में चौदह गाँठ देकर बनाया जाता था, दिया जाता और वे उसे अपनी बाँह पर बाँध लेते। हम बच्चों के लिए सुन्दर रंगीन, कभी-कभी रेशम का, अनन्त पटहेरे के यहाँ से खरीद करके आता। कोई-कोई साल-भर बाँह पर अनन्त बाँधे रहते थे; इसलिए वे अपना अनन्त अपने हाथों मजबूत और काफी लम्बा बनाते जिसमें वह सुभीते से बाँधा जा सके। इस प्रकार जो अनन्त बाँधता वह मांस-मछली नहीं खाता था। इसी प्रकार, जो तुलसी की लकड़ी की माला या कंठी पहनता, वह भी मांस-मछली नहीं खाता।

कथा, रामलीला, रामायण-पाठ और इन व्रत-त्योहारों द्वारा गाँव में धार्मिक जीवन हमेशा जगा रहता था। इनके अलावा मुहर्रम में ताजिया रखने का भी रवाज था। इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों शामिल होते थे। जीरादेई और जमा-पुर में कुछ हिन्दू ही कुछ सम्पन्न थे, इसलिए उनका ताजिया गरीब मुसलमानों के ताजिया से अधिक बड़ा और शानदार हुआ करता था। मुहर्रम-भर प्रायः रोज गदका, लाठी, फरी वगैरह के खेल लोग करते और पहलाम के दिन तो बहुत बड़ी भीड़ होती। गाँव-गाँव के ताजिया कर्बला तक पहुँचाये जाते। तमाम रास्ते में 'या अली, या इमाम' के नारे लगाये जाते और गदका इत्यादि के खेल होते। बड़ा उत्साह रहता और इसमें हिन्दू-मुसलमान का कोई भेद नहीं रहता। शीरनी और तिचौरी (भिगोया हुआ चावल और गुड़) बाँटी जाती। सभी उसे लेते और खाते; पर हिन्दू लोग मुसलमानों से पानी या शर्बत छुलाकर नहीं पीते। मुसलमान भी इसे बुरा नहीं मानते। वे समझते थे कि यह हिन्दुओं का धरम है, इसलिए वे स्वयं हट जाते।

जिस तरह हिन्दू मुहर्रम में शरीक होते उसी तरह मुसलमान भी होली के शोरगुल में शरीक होते। हम बच्चे दशहरा, दीवाली और होली के दिन मौलवी साहब की बनाई 'ईदी' अपने बड़ों को पढ़कर सुनाते और उनसे रुपये माँगकर मौलवी साहब को देते। ईदी कई दिन पहले से ही हम याद करते। कागज पर, मौलवी साहब की मदद से, सुन्दर फूल बनाकर उसे लाल, हरे, नीले और बैगनी रंगों से रँगते। उसी

पर मौलवी साहब सुन्दर अक्षरों में ईदी लिख देते जिसे हम लोग पढ़कर सुनाते। उसमें जो लिखा जाता वह भी कुछ अजीब संमिश्रण होता। जैसे, दीवाली की ईदी में लिखा होता—'दीवाले आमदे हंगाम जूला' इत्यादि; दशहरे की ईदी में लिखा जाता—'दशहरे को चले थे रामचन्दर, बनाकर रूप जोगी वो कलन्दर' इत्यादि। मुशाहरे के अलावा मौलवी साहब को, प्रत्येक वृहस्पतिवार को कुछ पैसे जुमराती के रूप में और त्योहारों पर ईदी के बदले में, कुछ मिल जाया करता था।

उन दिनों गाँव में मामला-मुकदमा कम हुआ करता था। जो झगड़े हुआ करते थे, गाँव के पंच लोग उन्हें तय कर देते थे। अगर कोई बात पंचों के मान की न हुई, तो वह मेरे बाबा या चचा साहब के सामने पेश होती। वे लोग भी पंचायत में शरीक होकर तय करा देते। हाँ, कभी-कभी चोरी हो जाया करती थी। बनिया कुछ सम्पन्न थे। उनके घरों में रात को सेंध फोड़कर चोर कुछ पैसे उठा ले जाया करते। एक बार का मुझे स्मरण है कि दूसरे गाँव के बाजार से लौटते वक्त संध्या को रास्ते में डाकू ने पैसे और कपड़े लूट लिये थे। जब कभी ऐसा वकूआ होता, थाने से दारोगा और सिपाही पहुँचते और गाँव में एक-दो दिन ठहर जाते। उनका गाँव में आना एक बड़ा हंगामा था। सारे गाँव में सनसनी फैल जाती। जिन लोगों पर शुबहा होता उनके घर की तलाशी ली जाती। दो-तीन आदमी थे, जिनके बारे में मशहूर था कि वे चोर हैं; दारोगा पहुँचते ही उनको पकड़कर मुश्कें कसकर बाँधकर गिरा देते और खूब पीटते। आसपास के गाँव के भी ऐसे लोग, जो गलत या सही चोर समझे जाते थे, इस प्रकार पकड़कर मँगाये जाते और बाँधकर गिरा दिये जाते। मैंने देखा है कि इस तरह एक साथ पाँच-सात आदमी बाँधकर गिराये जाते थे और घंटों तक पड़े रहते थे।

हम लोगों की छोटी-सी जमीन्दारी थी। रैयतों के साथ मुकदमे तो कम होते, शायद ही कभी कचहरी में जाने की जरूरत होती। मगर एक दूसरे जमीन्दार के साथ, जिनका भी हिस्सा एक गाँव में था, बहुत दिनों तक कुछ जमीन के लिए मुकदमा चलता रहा। बाबा के समय से शुरू होकर पिताजी के जमाने भर चलता रहा और उनकी मृत्यु के बाद भाई ने उसे सुलह करके तय किया। नूनू छपरे जाया करते और भाई जो छपरे पढ़ने के लिए भेज दिये गये थे उनको देखते और मुकदमे की भी पैरवी करते।

५—अँगरेजी-शिक्षा शुरू

मैं पहले कह चुका हूँ कि भाई के कारण मेरे लिए सब बातों में रास्ता साफ हो जाता था। मेरे बहुत छुटपन में ही भाई को पढ़ने के लिए पहले 'सीवान' भेजा गया। वहाँ कुछ दिनों तक वह रहे, मगर वहाँ कोई ठीक सुविधा नहीं जमी। एक तो उन दिनों सीवान में कोई हाईस्कूल नहीं था। दूसरा कोई स्कूल था कि नहीं, मुझे

मालूम नहीं। मगर एक कारण यह भी हुआ कि जिनके साथ उनको रखा गया था वह उनको सँभाल नहीं सके। एक अग्रवाल सज्जन सीवान में रहा करते, जिनसे बाबा की बड़ी मित्रता थी। उनके पास भाई भेजे गये और कुछ दिनों तक वहाँ रहे। उनके मकान के पास एक नया कुआँ खोदा जा रहा था। उसमें पानी आ चुका था, पर ऊपर की जगत तक अभी बँधाई नहीं हुई थी। एक दिन पानी देखने या खेलने के लिए भाई वहाँ गये और कुएँ में गिर गये—डूबते-डूबते मुश्किल से बचाये गये। उन सज्जन ने लिख भेजा कि ऐसे चुल्ला लड़के की देख-रेख उनसे नहीं हो सकेगी। उसके बाद ही भाई छपरे भेज दिये गये और वहाँ जिला-स्कूल में नाम लिखाकर पढ़ने लगे। जब छुट्टियों में वह घर आते तो हम लोगों से छपरे और स्कूल की बातें कहते। हम बच्चे बहुत उत्सुकता से उन्हें सुनते। शायद उस समय तक मैं अपने होश में जवार के कुछ गाँवों के सिवा, जहाँ कभी-कभी रामलीला या दूसरा कोई मेला देखने गया होऊँ, और कहीं नहीं गया था। हाँ, सुनता हूँ कि बहुत बचपन में माँ के साथ ननिहाल गया था, जो बलिया-जिले में हमारे गाँव से प्रायः १८–२० कोस की दूरी पर है; पर उसका मुझे कुछ भी स्मरण नहीं है।

छपरे में मेरे पढ़ने की बात तय हो जाने के बाद नूनू ने एक बार मुझे वहाँ ले जाकर सब कुछ दिखला देना अच्छा समझा, और साथ ले गये। मैं छपरे में कुछ दिनों तक भाई के साथ ठहरा और फिर घर वापस चला आया। मुझे जहाँ तक स्मरण है, यही पहला अवसर था जब मैं रेल पर चढ़ा था। पर इस यात्रा में मैं स्कूल में दाखिल नहीं हुआ। जीरादेई लौटकर मौलवी साहब के पास फिर पढ़ने लगा। इसी बीच एक दुर्घटना हो गयी—नूनू की मृत्यु हो गयी! हमारे खान्दान से घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाला एक खानदान था जिसमें आजकल बाबू फूलनप्रसाद वर्मा हैं। उनके पिता ननिहाल में आकर अपने नाना के साथ रहते थे। उनके नाना से हम लोगों का कुछ पुराना सम्बन्ध भी था, पर उससे भी अधिक आपस की घनिष्ठता थी, जो दोनों खान्दानों के हथुआ-राज में नौकरी करने के कारण बहुत जमाने से चली आती थी। फूलन बाबू के पिता की शादी में नूनू बरात गये और लौटते समय रास्ते में हैजा हो गया। वहाँ तो अच्छे हो गये और घर पर आ गये, पर गाँव में भी बहुत जोरों से हैजा फैला हुआ था। अच्छा हो जाने के प्रायः दो-तीन हफ्तों के बाद उनको दोबारा हैजा हो गया। वह दिन मुझे आज भी याद है। दोपहर ११ बजे के करीब बीमारी शुरू हुई और रात को ही वह चल बसे। बाबूजी ने जो कुछ दवा हो सकी, की। दरौली से डाक्टर बुलाये गये जो प्रायः छः कोस की दूरी पर है। पहली बीमारी में इसी डाक्टर ने आराम किया था। पर उन दिनों तेज सवारी तो मिलती न थी। हाथी पर रात को बारह बजे डाक्टर पहुँचे, पर उनके पहुँचने के पहले ही मृत्यु हो चुकी थी। उनकी मृत्यु से घर में बड़ा कोलाहल मचा। बाबा के वह एक ही पुत्र थे। घर का प्रायः सब कारबार बाहर-भीतर वही सँभालते थे। बाबा की अवस्था प्रायः सत्तर बरस की थी; पर वह अभी ४५ से अधिक के नहीं रहे होंगे। बाबूजी घर के कार-

बार में कम ही दिलचस्पी लिया करते थे। इसलिए और भी सब कुछ अव्यवस्थित हो चला। फलतः कुछ दिनों के लिए मेरा छपरा भेजा जाना रुक गया।

प्रायः एक-डेढ़ साल के बाद मैं छपरे भेजा गया। छपरे में एक छोटा-सा मकान, तीन या चार रुपये मासिक भाड़े पर, ले लिया गया था। वहीं भाई एक नौकर और रसोई बनानेवाले एक कायस्थ के साथ रहते थे। कुछ दिनों तक शुरू में उनको पढ़ाने के लिए एक मास्टर भी रखे गये थे, पर जब मैं पहुँचा तब दूसरा कोई नहीं था। मैं भी उनके साथ रहने लगा। मेरे छपरा पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद जिला-स्कूल के आठवें दर्जे में, जो उन दिनों सबसे आरम्भिक दर्जा था, मेरा नाम लिखा दिया गया। मैंने वहीं ए बी सी और नागरी अ आ इ ई की एक साथ शिक्षा आरम्भ की। भाई उस समय दूसरे दर्जे से तरक्की पाकर औवल दर्जे अर्थात् एण्ट्रेन्स क्लास में पहुँचे थे। मेरे लिए कोई मास्टर नहीं रखा गया। मैं स्कूल की पढ़ाई के अलावा अगर कुछ पूछना होता तो भाई से पूछ लेता। घर पर मुझे पढ़ाने के लिए मास्टर का न रखना बहुत अच्छा हुआ। स्कूल की पढ़ाई पर खूब ध्यान देने की आदत लग गयी। आरम्भिक काल से ही अपने ऊपर कुछ भरोसा करना भी आ गया। साल के अन्त में भाई एण्ट्रेन्स-परीक्षा की तैयारी कर रहे थे और मैं अपना सालाना इम्तहान दे रहा था। इम्तहान में मेरा बहुत अच्छा नम्बर आया। मैं अपने दर्जे में औवल हुआ और नम्बर भी इतना ज्यादा आया कि हेडमास्टर ने मुझे डबल तरक्की देने की बात सोची।

उन दिनों स्कूल के हेडमास्टर थे श्री क्षीरोदचन्द्र राय चौधुरी। वह बड़े नामी और विद्वान् हेडमास्टर समझे जाते थे। स्कूल में उनका रोब भी बहुत था। केवल लड़के ही नहीं, मास्टर लोग भी डर के मारे काँपते थे। परीक्षा-फल सुनाया गया। मुझे आठवें से सातवें में तरक्की मिली। हम सब लड़के खुशियाँ मना रहे थे कि चपरासी ने आकर क्लास-मास्टर से कहा कि हेडमास्टर मुझे बुलाते हैं। हेडमास्टर उन लड़कों को ही बुलाया करते जिनके खिलाफ कोई शिकायत पहुँची रहती। मैं बहुत डर गया और डरते-डरते वहाँ गया। पर वहाँ जाकर डर दूर हो गया। उन्होंने पूछा, तुम डबल तरक्की लेकर सातवें के बदले छठे क्लास में जाओगे? मैं उस समय कुछ घबरा-सा गया—कुछ खुशी, कुछ विस्मय और कुछ इस बात का भय कि एक बरस की पढ़ाई कैसे लाँघी जा सकेगी—मैंने उत्तर दिया कि भाई से पूछ आऊँ तो कहूँगा। उन्होंने पूछा कि भाई कौन हैं। मेरे नाम बताने पर वह हँस पड़े। भाई को वह जानते थे, क्योंकि भाई को भी तो उन्होंने ही पढ़ाकर एण्ट्रेन्स-परीक्षा देने की अनुमति दी थी, जिसके लिए वह डेरे पर तैयारी कर रहे थे। उन्होंने कहा कि वह क्या मुझसे इस बात को अधिक समझ सकता है कि तू उससे पूछना चाहता है—खैर, जाकर पूछ आ। मैं वहाँ से दौड़ता हुआ भाई के पास पहुँचा। वह, बाबू बाँके-बिहारी लाल (स्वर्गीय) और मौलवी शफी दाऊदी, तीनों एक साथ इम्तहान की तैयारी कर रहे थे। मैं वहीं गया और तीनों ने यह खबर बहुत खुश होकर सुनी। आपस

में कुछ सलाह भी हुई। भाई का विचार हुआ कि एक क्लास लाँघ जाने से मैं पीछे कमजोर पड़ जाऊँगा और आगे की पढ़ाई ठीक नहीं होगी। वह मेरे साथ हेडमास्टर के पास पहुँचे और उनसे अपनी राय कही। हेडमास्टर ने हँसकर फिर वही बात कही—क्या तू मुझसे इस बात को ज्यादा समझता है। फलतः सातवाँ लाँघकर मुझे छठे क्लास में उन्होंने भेज दिया।

थोड़े ही दिनों के बाद भाई परीक्षा देने पटने गये और परीक्षा देकर जीरादेई चले गये। मैं उस समय से छपरा डेरे पर अकेले, नौकर और रसोइया के साथ, रहता। हाँ, मेरे मकतब के साथी जमुना भाई और गंगा भाई भी छपरे आ गये थे और स्कूल में नाम लिखा लिये थे। हम तीनों वहाँ भी साथ ही रहते और पढ़ते थे। उस समय मेरी अवस्था शायद १०—११ के बीच की होगी।

भाई एण्ट्रेन्स पास हो गये। पटने में कालेज में उनके पढ़ने की बात हुई और वह पटने जाने लगे। राय ठहरी कि मैं भी पटना उनके साथ ही चला जाऊँ और ऐसा ही हुआ। हम तीनों सहपाठी, भाई के साथ, पटने गये और भाई ने पटना-कालेज में नाम लिखाया और हम लोगों के नाम टी० के० घोष एकेडेमी में, जो उन दिनों बड़ा अच्छा स्कूल समझा जाता था और जिसमें बहुत लड़के पढ़ते थे, लिखा दिये गये। उस स्कूल में जाकर मैंने महसूस किया कि डबल तरक्की के बारे में भाई की राय हेडमास्टर से अधिक ठीक थी। मैं प्रतिदिन महसूस करता कि दूसरे लड़के कई विषय मुझसे अधिक जानते हैं। मैं इस कोशिश में लग गया कि इस कमी को पूरा कर दूँ। वहाँ भी कोई घर पर पढ़ाने के लिए मास्टर नहीं था। जो कुछ पूछना होता, भाई या उनके दूसरे साथी लोगों से—जो वहाँ रहा करते—पूछ लिया करता।

मेरी आदत छपरे में ही लग गयी थी कि रोज संध्या को, स्कूल से छुट्टी होने पर, डेरे पर आकर कुछ खा-पीकर, फुटबौल या दूसरा खेल खेलने फिर स्कूल में चला जाता। फुटबौल और क्रिकेट दो खेल विशेषकर खेले जाते। ऊँचे दर्जे के कुछ लड़के, और मास्टरों में कुछ लोग—विशेष करके हेडमास्टर, टेनिस भी खेला करते। पटने में स्कूल में खेल का प्रबन्ध नहीं था। हम लोग इस कमी को बहुत महसूस करते। उसका अहाता भी बड़ा नहीं था। पर जो जगह थी उसमें अपने लोग गेंद लेकर जाते और कुछ दौड़-धूप करके चले आते। भाई खेल में बड़े पटु थे। फुटबौल, क्रिकेट और दूसरे खेलों में वह बहुत आगे रहते थे। पटना-कालेज में भी उनका नाम था। हम लोग कभी-कभी खेल देखने पटने के लौन में जाया करते।

पटने में सोमवारी मेला, सावन महीने के प्रति सोमवार को, धूमधाम से हुआ करता था। उस मेले में हम लोग बड़ी खुशी से जाते और छोटी-मोटी चीजें खरीदने के लिए भाई से जिद करते। मुझे याद है कि एक बार एक मूर्त्ति, जो बहुत सुन्दर थी, खरीदने के लिए मैंने बहुत जिद की थी और भाई को खरीद देना पड़ा था। एक बार उसी सोमवारी मेले में बाबू बाँकेबिहारी के पाकेट से चोर ने कुछ पैसे निकाल लिये। भाई भी साथ थे। चोर पकड़ा गया। उस पर मुकदमा चला जिसमें बाँकेजी को और

भाई को इजहार देना पड़ा। उसी मुकदमे को देखने के लिए, जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैं पहले-पहल कचहरी में गया था।

पटने में मेरे गाँव के एक सज्जन, भाई से जिनकी मित्रता थी, नौकरी की खोज में हम लोगों के साथ डेरे पर ठहरे थे। वहाँ भी एक मकान भाड़े पर लेकर बाबू बाँकेजी और हम लोग साथ ही रहा करते थे। वह सज्जन छोटे-मोटे पहलवान थे। कुछ कसरत वगैरह जानते थे। उन्होंने आँगन में एक छोटा अखाड़ा बनवाया और वहाँ सब लोगों से कुछ कसरत कराना और कुश्ती सिखाना आरम्भ किया। एक दिन बाबू बाँकेजी को कुश्ती सीखने में कुछ चोट लग गयी और उनका पैर कई दिनों तक तकलीफ देता रहा। उसके बाद से कुश्ती और अखाड़े में दिलचस्पी कम हो गयी।

जब हम लोग पटने में थे उसी समय हम लोगों ने 'प्लेग' बीमारी का नाम पहलेपहल सुना। उस समय बम्बई से ही खबर इस भयंकर बीमारी की सुनी गयी थी, पर थोड़े ही दिनों के बाद छपरा-जिले में भी इसने अड्डा जमा लिया और कम-बेश अभी तक कुछ न कुछ रहता ही है। उन्हीं दिनों बड़ा अकाल भी पड़ा था। छुट्टी में गाँव जाकर हम लोगों ने देखा था कि गवर्नमेंट के अफसर, लोगों की मदद करने के लिए, आये थे और हमारे घर पर ठहरे थे।

पटने में प्रायः दो बरस बीत गये। भाई ने एफ० ए० की परीक्षा दी और मैं छठे से पाँचवें और पाँचवें से चौथे दर्जे में पहुँच गया। इम्तहान देकर भाई घर चले गये। मैं, जमुना भाई और गंगा भाई, पटने में नौकर के साथ अकेले ही दो-तीन महीने तक रहे। जब गर्मी की छुट्टी हुई, हम लोग घर आये।

६—विवाह

मुझे ठीक याद नहीं है कि मैं पाँचवें दर्जे में पढ़ता था या चौथे में आ चुका था जब मेरी शादी हुई—शायद मैं पाँचवें में ही पढ़ता था। गर्मी की छुट्टी में ही शादी हुई थी। जब हम लोग छपरे में पढ़ते थे तभी बाबा की मृत्यु और हमारी दादी की भी मृत्यु हो चुकी थी। उन लोगों की बीमारी का हाल पाकर हम सब छपरे से जीरादेई आ गये थे और हम सबके सामने ही दोनों—थोड़े ही दिनों के अन्तर में—चल बसे थे। इसलिए अब मेरे पिताजी ही घर के मालिक थे। मेरी शादी का इन्तजाम उनको ही करना पड़ा था।

मेरे ससुर आरा में मुख्तार थे और उनके एक छोटे भाई बलिया में वकालत करते थे। दोनों भाई जीरादेई आये थे। मुझे बाबूजी ने अन्दर माँ के पास से बुलवाया। उन लोगों ने देखा—कुछ सवाल भी किये और पसन्द करके चले गये। कुछ दिनों के बाद तिलक आया जिसमें प्रथा के अनुसार कपड़े, बर्त्तन इत्यादि के अलावा रुपये भी आये। जहाँ तक मुझे स्मरण है, रुपये के लिए बाबूजी ने कुछ ज्यादा जोर नहीं दिया था। तो भी उन लोगों ने प्रायः दो हजार, नगद और सामान मिला कर, भेजा था। मेरी अवस्था १२ बरस से कुछ अधिक की थी।

उन दिनों २,०००) का तिलक अच्छा तिलक समझा जाता था। आजकल तो पाँच हजार सात हजार भी हम लोगों की औकात के लोग कम मानते हैं। जितना ज्यादा तिलक हो उतनी ही अधिक बरात की तैयारी होनी चाहिए और लड़की के लिए उतना ही ज्यादा जेवर जाना चाहिए। मेरी शादी के समय पिताजी की आर्थिक स्थिति अच्छी नहीं थी। एक तो तीन-चार बरसों में एक पर एक तीन मृत्युएँ हो चुकी थीं और उनमें प्रत्येक के श्राद्ध में काफी खर्च हो चुका था। दूसरे, अकाल के कारण, जमीन्दारी से वसूली कम हो गयी थी। खर्च बढ़ गया था। हम लोगों के पढ़ने के लिए छपरे और पटने में प्रतिमास कुछ न कुछ नगद भेजना ही पड़ता था। एक मुकदमा जो बहुत दिनों से चला आता था, उसकी पेशी बहुत दिनों तक चली थी और उसमें भी बहुत खर्च पड़ा था। इन सब तरद्दुदों के रहते हुए भी शादी में खर्च करना ही था, क्योंकि इसी में घर की प्रतिष्ठा थी।

जहाँ तक जेवर वगैरह का खर्च था वह तो उन्होंने खूब किया। दूसरी तैयारी में भी वह कमी नहीं करना चाहते थे, क्योंकि उनके जमाने में यही पहली शादी थी। और, अगर पुरानी मिकदार से खर्च न हुआ, शान-शौकत न हुई, तो लोग कहेंगे कि भैयाजी (मेरे बाबा को सब लोग इसी नाम से पुकारा करते थे) के मरने के बाद ही घर की शान में कमी आ गयी। इसलिए बाबूजी का विचार था कि किसी तरह से यह शादी शान में कम न हो।

हमारे यहाँ शादी में जलूस के लिए बहुत हाथी-घोड़े मँगनी माँगकर लाये जाते हैं। और भी जलूस की चीजें मँगनी लायी जाती हैं। शादी का दिन ऐसा पड़ा जिस दिन बहुत कड़ा लगन था। गाँव की भाषा में 'कड़ा लगन' उसे कहते हैं जिसमें ग्रह अच्छे पड़ने के कारण मुहूर्त्त बहुत अच्छा पड़ता है और बहुत लोग उस दिन को शादी करना शुभ समझते हैं। जिस दिन कड़ा लगन पड़ता है उस दिन मँगनी के सामान मिलने में कठिनता होती है, क्योंकि बहुत लोग मँगनी माँगते हैं। मेरी बरात के लिए बहुत हाथी-घोड़े माँगे गये, मगर कड़ा लगन के कारण पहुँच नहीं सके। एक ही हाथी और दो-चार घोड़े पहुँच सके।

मेरी शादी बलिया जिले के दलन-छपरा में, जीरादेई से १८—२० कोस की दूरी पर, होनेवाली थी। दो दिनों का रास्ता था। बीच में सरजू (गोगरा) नदी थी जिसे नावों पर पार करना था। बरात जीरादेई की रस्मों को समाप्त करके रवाना हुई। हाथी-घोड़े कम होने के कारण पालकी की सवारी अधिक लेनी पड़ीं और बैलगाड़ियों पर सामान चला। मैं एक खास किस्म की पालकी पर, जिस पर वर जाया करते हैं, चला। घर में एक बड़ा घोड़ा था, भाई उसी पर चले। वह सबको रवाना करके सबसे पीछे चले, और जहाँ दोपहर को खाने का स्थान मुकर्रर था वहाँ सबसे पहले पहुँच गये। इन्तजाम में वह बहुत भाग ले रहे थे। बाबूजी पालकी पर थे। कुटुम्ब और सम्बन्ध के दूसरे लोग पालकी या दूसरी सवारियों पर थे।

वर की पालकी बहुत बेढंगी हुआ करती है। उसमें ऊपर से साये के लिए

छत नहीं होती, पर कपड़े की छँहियाँ बाँध दी जाती है। जेठ के महीने में शादी थी। गरमी खूब पड़ रही थी। गर्म हवा भी खूब चल रही थी और मुझे उस नालकी पर जाना था। हवा से वह छँहियाँ भी उड़ जाती। नालकी चाँदी की थी, इसलिए वजन काफी था। कहारों को वजन सँभालना ही कठिन था और उस पर हवा के मारे छँहियाँ बैलून का काम करती; बेचारे बहुत मुश्किल में थे। मैं धूप और हवा दोनों का शिकार था।

किसी तरह दिन कटा और रात को सरजू जी के किनारे के गाँव में डेरा पड़ा। कच्ची पक्की रसोई बनी। सब लोगों ने भोजन किया। सवेरे सरजू पार करने का काम शुरू हुआ। सामान, पालकी, बैलगाड़ी, बैल, घोड़े इत्यादि तो नावों पर लादे गये और हाथी को यों ही तैराकर पार कराने का प्रयत्न होने लगा। वह हाथी भी कुछ वैसा ही था; वह नदी नहीं पार करना चाहता था। कुछ दूर जाता और फिर वापस आ जाता। फिर कई नावों के बीच में करके पार कराने का प्रयत्न हुआ, पर सब बेकार गया। अन्त में राय ठहरी कि उसे छोड़ ही देना चाहिए और बरात बिना हाथी के चली। बाबूजी को इसका बड़ा अफसोस था कि बरात में एक हाथी भी नहीं गया। जहाँ मेरी शादी हो रही थी उससे थोड़ी ही दूर पर बाबूजी की भी शादी हुई थी। उस समय बाबा हथुआ के दीवान थे और उस बरात में पचासों हाथी गये थे। बाबूजी को यह बात बहुत अखरती कि जहाँ उनकी शादी में पचासों हाथी गये वहाँ उनके लड़के की शादी में एक भी हाथी न पहुँच सका। मगर करना क्या था। बरात वापस तो हो नहीं सकती। हाथी के झमेले में इतना समय लग गया कि उस गाँव में पहुँचने में रात हो जायगी, ऐसा भय मालूम होने लगा।

बरात बहुत तेजी से चली और जहाँ दोपहर को पहुँचना था वहाँ पहुँचते-पहुँचते तीन-चार बज गये। वहाँ भोजन वगैरह करके बरात आगे बढ़ी। रात हो गयी। इस बीच में एक घटना हो गयी। बरात जब गाँव से एक-दो मील पर थी कि दो-तीन हाथी आते हुए नजर आये। वे किसी दूसरी बरात में गये थे और उसकी रसम पूरी करके कहीं जा रहे थे। पीलवानों से बात हुई। उनको कुछ रुपये दिये गये और वे बरात में शामिल होने को राजी हो गये। इस तरह हाथी का हौसला तो एक प्रकार से पूरा हो गया, पर बरात पहुँचते-पहुँचते रात के १०—११ बज गये।

वहाँ लोग घबरा रहे थे—कुढ़ रहे थे। अन्त में बरात पहुँची। मेरी आदत सही-शाम को ही सोने की थी, जो शादी के कारण कुछ छूटनेवाली थी नहीं। मैं बरात पहुँचने के पहले ही पालकी में खूब सो गया था। पहुँचने के समय किसी तरह मैं जगाया गया और परिछावन की रसम अदा हुई। शादी की दूसरी रस्में भी एक-एक करके पूरी की गयीं। गरमी में दो दिनों का सफर और वह भी पालकी में। साँझ ही सोने की आदत और उस पर इतनी थकावट। मेरे लिए जागते रहना कठिन समस्या थी। सब रस्में हो गयीं। और मेरा शुभ विवाह भी उसी रात को हो गया।

मुझे आज वे रस्में भी पूरी तरह याद नहीं हैं और न यह याद है कि उनमें मेरा क्या हिस्सा रहा। लड़कपन में मेरी बहन गुड़ियों के विवाह का खेल किया करती और उसमें मैं भी शरीक हुआ करता था। यह विवाह मेरे लिए कुछ वैसा ही था। मैंने न तो विवाह के महत्त्व को समझा और न यह महसूस किया कि मेरे ऊपर कोई जिम्मेदारी आयी। मेरा हाथ न विवाह का निश्चय करने में रहा था और न इन रसमों में। जो कुछ पंडित या हजाम या अपने घर की अथवा ससुराल की स्त्रियाँ बताती गयीं वह करता गया और अन्त में लोगों ने समझ लिया कि मेरा विवाह हो गया! मुझे तो इतना भी ज्ञान नहीं हुआ कि क्या हुआ। हाँ, इतना समझ गया था कि मेरी भौजाई जिस तरह घर में आ गयी थीं, उसी तरह एक दिन कोई मेरी बहू भी आ जायगी।

हमारे यहाँ यह भी चाल है कि कहीं-कहीं शादी के बाद ही लड़की को नहीं लाते हैं। कुछ दिनों के बाद एक छोटी-मोटी दूसरी बरात जाती है और तब लड़की लायी जाती है। इसे 'दुरागमन' कहते हैं। मेरी शादी के बाद भी बहू साथ नहीं लायी गयी। एक बरस के बाद दुरागमन की बरात गयी और तब वह लायी गयी। बरात दो दिनों तक ठहरकर वापस आयी। ससुराल के लोग, देर करके बरात पहुँचने और उनकी आशा के अनुकूल पूरी शानशौकत की न होने के कारण, कुछ रंज थे। पर जब उन्होंने जेवर, कपड़े, मिठाई वगैरह—जो लड़की के लिए और दूसरों के लिए वर की ओर से दिये जाते हैं—देखा तब उनका रंज दूर हो गया और सब लोग बहुत खुश हो गये। मैं समझता हूँ कि वर को देखकर भी घर की स्त्रियाँ और दूसरे आये हुए लोग खुश हुए होंगे, यद्यपि मेरे पास इसका कोई सबूत नहीं है!

एक साल के बाद दुरागमन हुआ और बहू घर में आयी। दुरागमन की बरात शादी की बरात से छोटी हुआ करती है। इस बार एक या दो हाथी मिल गये थे और बरात में गये भी थे। हमारे यहाँ पर्दा बहुत सख्त होता है। मैंने देखा था कि जब मेरी भौजाई आयीं तो उनके साथ दो लौंड़ियाँ आयी थीं और वह केवल उन दोनों से ही बातें कर सकती थीं! जीरादेई में एक कमरे में रहती थीं। कभी ओसारे में भी निकलने की इजाजत नहीं थी! उन दिनों ऐसे ही पुरुष नौकर घर के अन्दर जा सकते थे जो उम्र में बहुत कम होते थे और जिनका जन्म हमारी माँ-चाची के सामने गाँव में हुआ था और जो बहुत बचपन से अपनी माँ के साथ आँगन में आया-जाया करते थे। जो सयाने नौकर थे वे भीतर नहीं जाते थे। एक रसोईदार था जो रसोई बनाने के लिए आँगन में जाता था। मगर वह भी जाने के पहले पुकार लेता और हमारी माँ-चाची कमरों में चली जातीं तब वह जाता और रसोईघर में घुस जाता। वहाँ से अगर किसी चीज की जरूरत होती तो वह किसी लौंड़ी को पुकारकर माँग लेता और बाहर जाने के समय फिर उसी तरह पुकारकर सबको हटा देने के बाद ही वह बाहर जाता।

मेरी भौजाई तो कमरे से बाहर निकलती ही न थीं। हाँ, नित्य-क्रिया के लिए जाने के समय पहले सब लोग हटा दिये जाते। लोगों में दूसरा कोई शामिल नहीं

था—सिर्फ जीरादेई की लौंड़ियाँ थीं! मर्द सूरत तो कोई आँगन में रहता ही नहीं था। अगर कोई छोटा लड़का होता तो वह भी हटा दिया जाता। इतने से भी काफी पर्दा नहीं होता और उनके नैहर की दाइयाँ कपड़े का पर्दा लगाकर उनको ले जातीं। मैं बहुत छोटा था। इसलिए मैं कभी खेलता-कूदता उनके कमरे में चला जाता और शायद दो-एक बार उनका मुँह भी मैंने देख लिया था। मेरी माँ, चाची और बहन भी जब उनके कमरे में जातीं तो वह घूँघट तान के बैठ जातीं। जीरादेई की कोई दाई भी वहाँ जाने नहीं पाती थी।

जब मेरी स्त्री दुरागमन के बाद आयीं तो उनके साथ भी यही सब बखेड़ा रहा। यह बहुत दिनों तक चला और आहिस्ता-आहिस्ता कम हुआ। नैहर की लौंड़ियाँ चली गयीं। जीरादेई की एक लौंड़ी आने-जाने लगी। उससे कुछ-कुछ बातें करने की इजाजत हुई। जब तक मेरी माँ जीती रहीं तब तक न तो मेरी भौजाई और न मेरी स्त्री ही कभी अपने कमरे से निकल आजादी के साथ आँगन में घूम-फिर सकीं या बैठ सकीं। मेरी हालत यह थी कि मैं जब कभी गाँव पर छुट्टियों में आता, बाहर ही सोता। रात के समय जब सब लोग सो जाते तो माँ दाई को भेजती कि जगा लाओ और वह जगाकर मुझे ले जाती और उस कमरे में छोड़ देती जिसमें मेरी पत्नी रहतीं। नींद के मारे मुझे उस वक्त रात को जागना कठिन हो जाता। अक्सर मैं, कितनी भी कोशिश होती, जागता ही नहीं। दूसरे दिन माँ या चाची डाँटतीं कि रात को जागते नहीं और बुलाने पर भी आते नहीं। सवेरे जब सब लोग सोये ही रहते उठकर चला आना होता और बाहर की चारपाई पर सो जाता जिसमें किसी को यह पता न चले कि रात को कहीं दूसरी जगह गया था! यहाँ तक कि साथ के नौकर को भी इसका पता कम ही लगता।

पर्दा के कारण इस तरह स्त्री-पुरुष की मुलाकात होती। मैं तो लड़कपन से ही अधिक घर के बाहर ही रहा। जब कभी घर पर छुट्टियों में जाता तभी मुलाकात का मौका होता और वह भी इस प्रकार से! इसलिए गरचे आज विवाह हुए प्रायः ४४–४५ बरस हो गये होंगे, पर शायद ही सब दिनों के गिनने के बाद भी हम दोनों इतने महीने भी एक साथ रहे हों। पढ़ने का समय पटना, छपरा, कलकत्ता में कटा। वकालत के जमाने में भी मैं कलकत्ते में बराबर अकेला ही रहा और पटने आने पर भी दो ही एक बार घर के लोग साथ थोड़े दिनों के लिए रहे। असहयोग आरम्भ होने के बाद तो घर जाने का समय और भी कम मिला है और घर के लोगों को साथ रखने का न तो सुभीता रहा और न काम की झंझटों में फुरसत रही।

७—हथुआ-स्कूल में दाखिल—छपरा-स्कूल में वापस

भाई एफ० ए० की परीक्षा पास कर गये। उनकी इच्छा हुई कि वह कलकत्ते में जाकर मेडिकल कालेज में पढ़ें। उन दिनों बिहारी लोगों में शायद ही कोई मेडिकल कालेज में पढ़ता था। एक तो कलकत्ता जाना और वहाँ का खर्च जुटाना ही मुश्किल।

दूसरे वहाँ बिहारियों के लिए जगह मिलनी भी मुश्किल ! जब उनके कलकत्ते जाने की बात तय हो गयी तो सवाल हुआ कि मैं कहाँ पढ़ूँ। मेरे लिए कलकत्ता जाना उचित नहीं समझा गया। भाई कलकत्ते गये, मैं पटने से नाम कटाकर हथुआ-स्कूल में नाम लिखाने के लिए भेजा गया। वहाँ की हालत कुछ विचित्र थी। पढ़ाने-लिखाने का तरीका छपरा-जिला-स्कूल और पटना टी० के० घोष एकेडेमी से कुछ जुदा था। पहले तो नाम लिखाने में ही थोड़ी दिक्कत हुई। मास्टर ने कहा कि वह परीक्षा लेकर नाम लिखेंगे।

खैर, किसी तरह नाम लिखा गया। पढ़ाई का तरीका यह था कि जो कुछ सबक दिया जाता था, खास करके इतिहास में, उसे दूसरे दिन कण्ठस्थ करके आना चाहिए और मास्टर साहब कहते, सबक सुनाओ, और सब शुरू से अखीर तक किताब बन्द करके जबानी सुनाना पड़ता। मेरी आदत इस प्रकार बिना समझे-बूझे किसी चीज को जबानी रटने या सुनाने की नहीं थी और शाब्दिक स्मरणशक्ति भी कमजोर थी। मैं प्राय: छ: महीने तक उस स्कूल में रहा, पर शायद एक दिन भी सबक पूरा याद नहीं कर सका। कोशिश की कमी मुझमें नहीं थी, पर मैं कर ही नहीं सकता था। किसी ने मुझसे कह दिया था कि अगर किसी चीज को १२० बार दुहरा दिया जाय तो वह जरूर कण्ठस्थ हो जाती है। मैं बहुत मेहनत करके १२० बार दुहराने का भी प्रयत्न करता, पर तो भी पेज का पेज कण्ठस्थ नहीं कर सकता। मेरी आदत सही शाम सो जाने और सवेरे ४ बजे के करीब उठ जाने की थी। हथुआ में १२० बार दुहराने के लिए मैं कभी-कभी १।।--२ बजे रात में ही उठ जाता। तो भी सबक पूरा नहीं कर पाता। स्कूल में मास्टर हालत देखकर कभी-कभी कुढ़ते और कहते कि यह चौथे दर्जे में भर्ती करने लायक था ही नहीं और धमकी देते कि पाँचवें क्लास में तुमको वापस कर दिया जायगा। यह सब मेरे लिए मार्मिक दर्द का कारण होता और जैसे दु:ख के दिन मेरे वहाँ कटे और कहीं पढ़ने के दिनों में नहीं कटे। कभी-कभी मैं सोचता कि शायद अगर क्लास न लाँघे होता तो यह दशा नहीं होती।

अन्त में मैं बहुत बीमार पड़ गया और सालाना इम्तहान के समय तक बीमार ही रहा। सालाना इम्तहान शायद दे देता तो किसी प्रकार पास भी कर जाता और तरक्की भी हो जाती। छुट्टियों में भाई घर आये और सब हाल उन्होंने देखा-सुना तो उनकी राय हुई कि सालाना इम्तहान देकर तरक्की लेने की जरूरत नहीं है, इस स्कूल को छोड़कर छपरा-जिला-स्कूल में फिर वापस जाना ही अच्छा होगा। ऐसा ही निश्चय हुआ और मैं वहाँ से फिर छपरा-स्कूल में चौथे क्लास में ही दाखिल हुआ।

उधर भाई साहब की भी अजीब हालत रही। मेडिकल कालेज में किसी कारण से उनका नाम नहीं लिखा गया और वह फिर पटने में वापस आकर बी० ए० क्लास में पढ़ने लगे। चूँकि मेरा नाम हथुआ-स्कूल में लिखा जा चुका था, वहाँ से तुरन्त फिर पटने ले जाना उचित नहीं समझा गया और छ: महीनों तक मैं हथुआ में ही रहा।

स्कूल की पढ़ाई पर ही मैं भरोसा रखता था। घर पर पढ़ाने के लिए कभी कोई मास्टर नहीं रखा गया था। हथुआ की पढ़ाई की परेशानी के कारण हैरान होकर मैं एक मास्टर के घर पर जाया करता जो एक प्रकार के सम्बन्धी भी होते थे। वह पढ़ा भी दिया करते, पर सबक एक दिन भी मैं पूरा नहीं कर सका। उस स्कूल से चला आना मेरे लिए एक बड़ी बात हुई। छपरा पहुँचते ही मानो खोई हुई बुद्धि फिर लौट आई। चौथे दर्जे में छपरा-स्कूल में बहुत लड़के थे, इसलिए उसके तीन भाग हो गये थे। वहाँ एक बंगाली मास्टर श्री रसिकलाल राय थे। वह एक सेक्शन के, जिसमें मैं था, क्लास-मास्टर थे। बड़े सज्जन थे। पढ़ाने का तरीका भी बहुत अच्छा था। लड़कों के साथ बहुत प्रेम रखते और लड़के भी उनको बहुत मानते थे। यद्यपि वह मेरे क्लास के क्लास-मास्टर थे, पर दूसरे सेक्शन में भी पढ़ाया करते और चौथे दर्जे के प्राय: सभी छात्रों को जानते थे। उनकी मेरे ऊपर बड़ी कृपा हो गयी। चौथे क्लास में छात्रों की संख्या केवल अधिक ही नहीं थी, अच्छे-अच्छे छात्र भी थे, जिनमें कई तो मिडिल स्कूल से पास करके छात्रवृत्ति लेकर आये थे। उनका गणित, भूगोल और इतिहास का ज्ञान अच्छा था—चूँकि यह विषय वे हिन्दी में पढ़ चुके थे और यहाँ पढ़े हुए विषयों को ही अँगरेजी के माध्यम द्वारा दुहराना था। थोड़े ही दिनों में मास्टर ने महसूस किया और मेरे साथियों ने भी समझा कि मैं भी एक तेज लड़कों में हूँ।

रसिक बाबू मुझे विशेष प्यार करने लगे। मैं इतने लड़कों के बीच किसी भी परीक्षा में अभी औवल स्थान नहीं पा सकता था, पर रसिक बाबू ने मुझसे उन्हीं दिनों कहा कि देखो, मेहनत करो—अन्त में तुम्हारा और रामानुग्रह का ही मुकाबला रहेगा और दूसरे साथी तेज होने पर भी तुमसे नीचे हो जायँगे। न मालूम उन्होंने क्यों ऐसा कहा। पर बात ऐसी ही हुई—केवल उनकी भविष्यवाणी पूरी होने में दो-तीन साल लग गये। सालाना इम्तहान में मेरा स्थान चौथा हुआ। कुछ इनाम मिला, मगर दूसरों को अधिक मिला। तीसरे दर्जे में भी उन्होंने पढ़ाया और एक दूसरे मास्टर ने भी, जिनकी स्मृति आज भी वैसी ही बनी रहती है और जो आज भी जीवित हैं। उनका नाम बाबू राजेन्द्रप्रसाद है। वह इतिहास पढ़ाया करते थे और उनका ऐसा सुन्दर तरीका था कि सब बातें कथा की तरह याद हो जातीं। हथुआ के तरीके के ठीक उलटा तरीका उनका था। अपनी भाषा में जो सब बातें अच्छी तरह अदा कर देता वही अच्छा समझा जाता। मैं यह आसानी से कर सकता था। हथुआ में मेहनत करके बरजबान करने की जो कोशिश की थी उससे बीच-बीच में अच्छे लच्छेदार शब्द और वाक्य भी आ जाते। अपनी समझदारी और बरजबान करने के प्रयत्न दोनों मिलकर अच्छा रंग बाँध देते और मास्टर साहब बहुत उसे पसन्द करते।

तीसरे से दूसरे दर्जे में तरक्की हुई और सालाना इम्तहान में मैंने तीसरा स्थान पाया। इसी प्रकार दूसरे से औवल दर्जे में जाने के पहले जो परीक्षा हुई उसमें मैं औवल और रामानुग्रह दूसरे स्थान में आये। रसिक बाबू की बात पूरी हुई। मेरे

साथ ही साथ मानो रसिक बाबू की भी तरक्की होती गयी और चौथे से तीसरे, तीसरे से दूसरे, और दूसरे से पहले दर्जे में वह पढ़ाने लगे। हाँ, इस बीच में बाबू राजेन्द्रसाद की बदली हो गयी और रसिक बाबू भी कुछ दिनों के लिए दूसरे स्कूल में चले गये थे। राजेन्द्र बाबू तो वापस नहीं आये, पर रसिक बाबू वापस आ गये। हम लोगों की, खास करके, मेरी खुशी का ठिकाना न रहा।

रसिक बाबू केवल पढ़ाने में ही पटु न थे, लड़कों के चरित्र पर भी ध्यान रखते थे। स्कूल के मास्टरों में से मेरे ऊपर सबसे अधिक और गहरी छाप उनकी ही पड़ी। यों तो बाबू राजेन्द्रप्रसाद का भी और मौलवी साहब का, जो फारसी पढ़ाते थे, काफी असर रहा। मगर रसिक बाबू तो मानो घर के आदमी थे। उनसे डर भी लगता और प्रेम भी था। वह पढ़ाते भी और अच्छी बातें बताकर विचार भी सुधारते। यद्यपि मैं पटने में दो बरस तक रह आया था, तथापि इतनी कम अवस्था में रहा कि मुझे कोई विशेष ज्ञान नहीं हुआ था। रसिक बाबू कुछ देश की बातें भी बताते थे। कैसे पढ़कर आदमी ऊँचे दर्जे पर पहुँच सकता है, इस ओर भी ध्यान दिलाते। जब मैं एण्ट्रेन्स क्लास में पहुँचा, उन्होंने साफ कह दिया कि मेहनत करो—तुम युनिवर्सिटी में ऊँचा स्थान पा सकते हो। मैंने इसका अर्थ ही नहीं समझा। मैंने इतना ही समझा कि शायद छात्रवृत्ति मिल जाय।

जिस समय मैं दूसरे दर्जे का सालाना इम्तहान दे रहा था, छपरे में बहुत जोरों से प्लेग की बीमारी जारी थी। दो दिन परीक्षा देने के बाद मेरे गले में सूजन आ गया और बहुत ज्वर चढ़ आया। मैं तीसरे दिन से परीक्षा में नहीं बै सका। घर पर खबर गयी। बाबूजी घबराकर आ गये और मुझे जीरादेई ले गये। वहाँ उन्होंने खुद दवा की और मैं नीरोग हो गया। मालूम नहीं कि मुझे प्लेग हुआ था या केवल गलसुआ; पर शुबहा प्लेग का ही था। काफी घबराहट रही। इसी घबराहट में ठीक समय पर स्कूल की फीस नहीं दी गयी। नाम कट गया। परीक्षा का फल देखा गया तो दोनों विषयों में मैं औवल आया था। नम्बर भी इतना अधिक आया था कि बाकी दो विषयों में परीक्षा दिये ही बिना पास करने के लिए वह काफी समझा गया। उन्हीं दिनों नये हेडमास्टर बदलकर आ गये थे। उन्होंने मेरी गैरहाजिरी में ही तरक्की दे दी थी। पर तरक्की होने पर भी, फीस न देने के कारण, नाम तो कट ही गया। जब मैं अच्छा हुआ तो कुछ दिनों बाद गया और फिर से नाम लिखाकर पढ़ने लगा।

एक दिन रसिक बाबू ने मुझसे कहा, तुम्हारा नाम कट जाना अच्छा नहीं हुआ। कायदे के मुताबिक एण्ट्रेन्स पास करने पर उसी लड़के को छात्रवृत्ति मिल सकती है जो कम से कम पूरा एक साल एक स्कूल में पढ़ता रहा हो। अब तुम नम्बर पाने पर भी छात्रवृत्ति नहीं पा सकोगे। मगर एक उपाय करो। एक दर्खास्त डाइरेक्टर के पास अपने पिताजी से भेजवाओ कि वह तुमको इस कायदे से बरी करा दे।

एक दर्खास्त मैंने लिखवाकर दी। उसमें यह बात लिखी गयी कि प्लेग हो

जाने के कारण मैं घर पर रह गया और फीस नहीं दी जा सकी, जिस वजह से नाम कट गया। इसके अलावा परीक्षा का फल इत्यादि दिखलाकर यह कहा गया था कि आशा की जाती है कि छात्रवृत्ति मिल सकेगी, यह नियम बाधक होता है। हेड-मास्टर ने दर्खास्त देखकर कहा कि यह फजूल है, नियम बदलने का अख्तियार डाइ-रेक्टर को भी नहीं है, इसलिए मैं कैसे दर्खास्त पर सिफारिश कर सकता हूँ, मुझे क्या मालूम कि तुमको प्लेग हुआ था या नहीं। इलाज तो डाक्टर की हुई नहीं थी, इसलिए डाक्टर की सर्टिफिकेट भी मैं नहीं दे सकता था। खैर, उन्होंने बिना किसी सिफारिश के ही दर्खास्त ऊपर भेज दी।

रसिक बाबू को इसका अफसोस रहा कि हेडमास्टर ने सिफारिश नहीं की। वह समझते थे कि शायद ऐसी हालत में डाइरेक्टर मंजूर न करे। उन्होंने मुझे सांत्वना दी कि खैर, दर्खास्त देने से कोई नुकसान तो होगा ही नहीं। कायदा था कि दर्खास्त डाइरेक्टर के पास इन्सपेक्टर की मार्फत ही जा सकती थी। इसलिए, यद्यपि वह डाइरेक्टर के लिए थी, तथापि पहले इन्सपेक्टर के पास गयी। इन्सपेक्टर ने दर्खास्त पढ़कर उसे डाइरेक्टर के पास भी भेजना जरूरी नहीं समझा और उसे मंजूर करके पत्र लिख भेजा। हेडमास्टर ने मुझसे क्लास में ही कहा कि तुम्हारी दर्खास्त इन्सपेक्टर ने ही मंजूर करके वापस की है। साथ ही, यह भी कहा कि मैं नहीं जानता, इन्सपेक्टर को इसे मंजूर करने का कोई अधिकार है; पर तुमको अब चिन्ता नहीं करनी है।

रसिक बाबू सुनकर बहुत खुश हुए और मुझे अधिक प्रोत्साहन देने लगे। यहाँ तक कि वह बिना कुछ लिये अपने घर पर भी बुलाकर सब विषयों में, जहाँ-कहीं मुझे कोई दिक्कत मालूम होती, बता देते और रोज-रोज ताकीद करते कि इस तरह पढ़ो, यह पढ़ो, वह पढ़ो। उनके दिल में यह बात बैठ गयी थी कि मैं युनिवर्सिटी में ऊँचा दर्जा पा सकूँगा। मुझे इसका पता तक नहीं था कि युनिवर्सिटी में भी मुझ जैसा आदमी ऊँचा दर्जा पा सकता है।

उन दिनों तीन प्रकार की छात्रवृत्तियाँ मिला करती थीं। दो या तीन दस रुपयों की, जो जिले-भर में औवल दो या तीन लड़कों को—दूसरी दो या तीन पन्द्रह रुपये मासिक की, जो डिवीजन-भर में, जिसमें उन दिनों आजकल के पटना और तिर्हुत डिवीजनों के सात जिले शामिल थे, औवल दो या तीन लड़कों को—और तीसरी २०) मासिक की, जो सारी युनिवर्सिटी भर में औवल दस लड़कों को मिलती थी। बिहार-सूबा बंगाल का हिस्सा था और कलकत्ता युनिवर्सिटी का अधिकार बंगाल, बिहार, उड़ीसा, आसाम और बर्मा पर था। एक ही परीक्षा होती थी और इन सब सूबों के लड़कों में जो सबसे ऊपर आते उन दस लड़कों को ही २०) की छात्र-वृत्ति मिलती। मेरी उच्चाभिलाषा हद से हद १०) या १५) की छात्रवृत्ति पाने तक जा सकती थी। इससे ऊपर कभी गयी ही नहीं। पर इसके लिए भी मैं समझता था कि काफी परिश्रम की जरूरत है, इसलिए मैं काफी मेहनत करता था।

युनिवर्सिटी की परीक्षा के पहले स्कूल में परीक्षा हुआ करती। इसमें जो लोग

पास होते उनको ही युनिवर्सिटी की परीक्षा में शामिल होने की इजाजत मिलती। मैं इस परीक्षा में बहुत नम्बर पाकर सबसे ऊपर आया। युनिवर्सिटी में परीक्षा देने की आज्ञा तो मिली। पर एक अड़चन का भी सामना करना पड़ा। एक विषय था ड्राइंग जो ऐच्छिक था। पर छात्रवृत्ति के लिए फल जाँचने में उसका भी नम्बर जोड़ा जाता था। यद्यपि मैं और विषयों में तो काफी नम्बर पा चुका था, तथापि ड्राइंग के मास्टर ने ड्राइंग में युनिवर्सिटी में परीक्षा देने की इजाजत देने से इन्कार कर दिया। ड्राइंग में २० या २५ नम्बर मिल सकते थे। यदि उसमें परीक्षा ही न दूँ तो ये २० या २५ नम्बर मिलेंगे ही नहीं और छात्रवृत्ति मिलना कठिन हो जायगा। बहुत कहने-सुनने पर मास्टर ने इस शर्त पर इजाजत दी कि उस दिन से परीक्षा के समय तक मैं कम से कम एक घंटा रोज ड्राइंग बनाया करूँ। मैंने शर्त मान ली और पूरी भी की। अच्छा ही हुआ, क्योंकि शायद ऐसा न करता तो ड्राइंग में २५ नम्बर नहीं आते और जो स्थान मुझे मिला वह नहीं मिलता। अन्त में परीक्षा के दिन निकट आये और मैं कुछ रोज पहले ही परीक्षा देने पटने चला आया।

परीक्षा हुई और पटने से मैं घर आया। भाई भी छुट्टियों में घर आये। उन्होंने कलकत्ते से वापस आकर पटने में नाम लिखाया, पर बहुत बीमार पड़ गये। डाक्टरों की राय से वह पढ़ने के लिए इलाहाबाद चले गये। वहाँ के म्योर सेण्ट्रल कालेज से उसी साल वह बी० ए० पास कर चुके थे। एम० ए० और बी० एल० पढ़ने के लिए वह फिर कलकत्ते चले गये थे। इलाहाबाद और कलकत्ते में रहने के कारण वहाँ से छुट्टियों में आकर वह बहुत बातें कहा करते। मैं उन बातों को बड़ी श्रद्धा से सुना करता और जहाँ तक हो सकता उनको माना भी करता। शायद १८९९ में वह इलाहाबाद से घर आये थे और उन्होंने स्वदेशी की बात कही थी। स्वदेशी कपड़े भी वहाँ से साथ लाये थे। मैंने उसी समय से स्वदेशी कपड़ा पहनना शुरू किया। जब तक गांधीजी ने खद्दर की बात नहीं उठाई, स्वदेशी कपड़े ही बराबर पहनता रहा। केवल एक बार कुछ विलायती कपड़े खरीदे थे, जिसका जिक्र आगे आवेगा। नहीं तो उसी समय से भाई ने स्वदेशी कपड़े का इस्तेमाल खुद शुरू किया और मुझसे भी शुरू कराया। उन्होंने तो फिर कभी विदेशी कोई कपड़ा खरीदा ही नहीं। खद्दर के चल जाने पर खद्दर के सिवा दूसरे प्रकार का स्वदेशी भी कभी नहीं खरीदा।

स्वदेशी का विचार केवल कपड़ों तक ही सीमित नहीं रहा। जहाँ तक हो सकता था, और चीजों के खरीदने में भी इसका खयाल रखा जाता था। युनिवर्सिटी के इम्तहान देने के लिए खास करके देशी कलम और निब भी मैंने ली थी और ऐसी-ऐसी चीजें भाई बराबर इलाहाबाद और कलकत्ते से ला दिया करते। मुझे अब शक होता है कि बहुत चीजें, जिनको हम अपने भोलेपन से स्वदेशी जान कर खरीद लेते थे, शायद स्वदेशी नहीं थीं और दूकानदार हमको ठग लिया करते थे। पर हमारी श्रद्धा अटल थी और हम अपने जानते उनको स्वदेशी समझकर ही लेते थे।

गर्मी की छुट्टियों में हम सब संध्या के समय टहलने जा रहे थे कि किसी ने

आकर कहा कि परीक्षा-फल गजट में निकल गया। हम लोग सीवान गये तो केवल इतना ही मालूम हुआ कि हमने पहले दर्जे (फर्स्ट डिवीजन) में पास किया है। अभी छात्रवृत्ति की घोषणा नहीं हुई थी। कुछ दिनों के बाद उसी प्रकार एक दिन संध्या को टहलने के समय एक आदमी ने आकर एक तार दिया जिसमें लिखा था कि मैं युनिवर्सिटी में औवल हुआ। भाई ने तार पढ़ा, और बहुत खुश हुए। हम लोग दौड़ते-दौड़ते घर आये, और बाबूजी से कहा। भाई ने उनको समझाया कि युनिवर्सिटी में औवल होने का क्या अर्थ है। बाबूजी की तथा घर में माँ और सब लोगों की खुशी का ठिकाना न रहा। मैंने, भाई की राय से, पहले से ही ठीक कर रखा था कि पास करने पर मैं कलकत्ते के प्रेसिडेन्सी कालेज में ही पढ़ूँगा। एण्ट्रेन्स की परीक्षा की दर्खास्त भेजने के समय उसमें लिख भी दिया था कि छात्रवृत्ति अगर मिलेगी तो मैं उसे प्रेसिडेन्सी कालेज में ही पढ़कर भोगूँगा। उसी निश्चय के मुताबिक मेरा कलकत्ते जाना जल्दी ही तय पा गया।

छपरा-स्कूल में पढ़ने के समय मैं वहाँ एक पंडितजी के साथ रहा करता था जो बड़े नामी ज्योतिषी थे और आज भी हैं। उनका नाम है पंडित विक्रमादित्य मिश्र। वही मेरे अभिभावक (Guardian) के स्थान पर थे। वह स्वयं विद्यार्थियों को पढ़ाया करते थे। प्रतिदिन सरजू-स्नान किया करते—किसी दूसरे का छुआ हुआ जल तक भी ग्रहण नहीं करते। पूजा-पाठ खूब हुआ करता। वहीं पर एक छोटी ठाकुरबारी भी हथुआ-राज की थी। इन सबका असर हम छोटे लड़कों के दिल पर वैसा ही पड़ा जैसा पड़ना चाहिए। हम लोग अपने को कट्टर सनातनी समझते और अगर कोई आर्यसमाजी आ जाता तो उससे बहस भी छेड़ देते। स्कूल में महामहोपाध्याय रघुनन्दन त्रिपाठी हेडपंडित थे। स्कूल में मैं फारसी पढ़ता था, पर उनके द्वारा घर पर कुछ संस्कृत पढ़ना भी आरम्भ किया। लघुकौमुदी के कुछ सूत्र घोख भी लिये; पर इसको जारी नहीं रख सका। छपरा-स्कूल के संस्मरण आज भी दिल पर असर रखते हैं, जो सुन्दर और सुखमय हैं।

मुझे याद है कि छुट्टियों के अलावा मैं कभी घर नहीं जाता था। छुट्टियों में घर जाने पर माँ अक्सर कुछ अधिक दिनों तक वहाँ रोक लेना चाहती। पर मैं इस पर जल्दी राजी नहीं होता। छुट्टियों में तो जीरादेई में खूब खेलना ही एक काम रहता और सारा समय प्रायः चिक्का में लगता। भाई भी घर आ जाते और हम लोगों के साथ खेल में शरीक होते।

छपरे का जीवन बहुत सादा था। पास में रुपये शायद ही कभी रहते। वहाँ एक मोदी से तय था कि वह सब चीजें हमें दिया करेगा। यह प्रथा छपरे में भाई के पढ़ने के समय से चली आती थी। रोजाना पुर्जा लिखकर उसी मोदी के यहाँ से चावल, दाल, घी लकड़ी और जलपान के लिए कचौरी-मिठाई भी आ जाती। वह जाति का हलवाई था। इसलिए वह सब चीजें दे सकता था। इसी प्रकार एक कुँजड़िन थी जो तरकारी पहुँचा देती। मोदी जीरादेई आता और पुर्जों को पेश करता, हिसाब

होता और उसे रुपये वहीं मिल जाते। कुँजड़िन को जीरादेई नहीं आना पड़ता। उसका हिसाब करके वहीं एक कारपरदाज दे देते थे, जो मामला-मुकदमा देखने के लिए छपरे जाया-आया करते। स्कूल की फीस के लिए रुपये भी वही देते। अगर कपड़े की जरूरत होती तो वही खरीद देते। इस प्रकार छपरे में पढ़ने के समय मेरे हाथों में रुपये शायद ही कभी आते।

घर की अवस्था भी कुछ अच्छी नहीं थी। जमीन्दारी तो उतनी ही थी जितनी बाबा और नूनू के समय में। मगर उन लोगों के मरने के बाद से बाबूजी कुछ तरद्दुद में पड़ गये थे। हम लोगों के खर्च के लिए नगद रुपये जुटाने में उन्हें कष्ट होता। मोदी को भी हमेशा नगद जीरादेई में नहीं मिलता। कभी-कभी किसी गाँव के तहसील-दार के नाम चिट्ठी मिलती और वह जीरादेई से उस गाँव पर जाता और वहाँ से रुपये लेता। छपरे का खर्च कम था और इस तरह किसी प्रकार चल जाता। मुझे कभी रुपये की कमी का अनुभव नहीं हुआ। एक और कारण यह था कि भाई इस पर ध्यान रखते और जब छुट्टियों में आते तो कुछ न कुछ प्रबन्ध करा जाते। पर भाई का खर्च महीने-महीने इलाहाबाद भेजना पड़ता। इसमें बाबूजी को प्रायः कष्ट हुआ करता। पर उन्होंने निश्चय कर लिया था कि चाहे जो हो, लड़कों को पढ़ाने का खर्च किसी तरह से जुटाना ही होगा।

एक दीवान थे जो जमीन्दारी का इन्तजाम किया करते थे। वह बाबा के समय से ही थे और जमीन्दारी का पूरा हाल जानते थे। बाबूजी ने बाबा के रहते जमीन्दारी देखी नहीं थी, इसलिए उन्हें दीवानजी पर भरोसा करना पड़ता। मुझे याद है, भाई को परीक्षा की फीस देनी थी; उनका पत्र आया कि किसी निश्चित तिथि के पहले ५०) या ६०) रुपये फीस दाखिल कर देनी होगी, नहीं तो एक साल के लिए इम्तहान से वंचित रहना होगा। रुपये बाबूजी के पास थे नहीं। दीवानजी देहात से रुपये दे नहीं सके। बाबूजी बहुत तरद्दुद में पड़े। माँ का सोने का कंठा बन्धक रख कहीं से रुपये मँगवाकर समय पर भेजा। सब कुछ रहते हुए ऐसी अवस्था पहुँच गयी थी कि कभी-कभी रसोई बनने में भी देर हो जाती थी। भाई समझते थे कि यह सब कुछ दीवानजी की बदइन्तजामी से है और बहुत कुढ़ते थे, पर कुछ कर नहीं सकते थे। छुट्टियों में एक बार आकर उन्होंने कुछ कारबार सँभालना शुरू किया; पर जब तक इलाहाबाद पढ़ते रहे, कुछ विशेष कर नहीं सके।

जमीन्दारी की आमदनी सालाना प्रायः सात-आठ हजार की थी, जिसमें सरकारी मालगुजारी देकर पाँच से छः हजार की बचत थी। सैकड़ों बीघे जीरात के खेत थे जिनमें काफी धान, गेहूँ, मकई, अरहर, जव इत्यादि होते और ऊख से गुड़ बनाकर कुछ नगद रुपये भी आ जाते। यही खेत थे जो हमारे बचपन में हमेशा इतना अन्न दिया करते कि घर भरा रहता। गाय-भैंस दूध काफी दे देतीं और कई जोड़े बैल भी रहते। पर इस समय न मालूम क्या हो गया था कि घर-खर्च के लिए भी पूरा धान नहीं होता और अन्न भी खरीदना पड़ता। बाबूजी ने नुकसान ही नुकसान

देखकर कुछ दिनों के लिए खेती का काम बन्द भी कर दिया था। वे दिन कुछ दुख के थे, पर बाबूजी धीरज से रहते और लोगों से बातों में कहा करते कि हमारे दोनों लड़के ही हमारे धन हैं।

इस सम्बन्ध में एक और घटना यहाँ कह देने योग्य है। नूनू के मरने के बाद बाबा और बाबूजी रह गये। हम लोग बच्चे थे। हम ऊपर कह चुके हैं कि बाबा ने ही सारी जमीन्दारी खरीदी थी और सब कुछ उनका ही उपार्जन किया हुआ था। नूनू के केवल एक लड़की थी। नूनू के मरने के बाद किसी ने बाबा को समझाया कि उनके (बाबा के) मरने के बाद उस लड़की को और हमारी चाची को कष्ट हो सकता है, इसलिए कुछ न कुछ प्रबन्ध कर देना चाहिए। बाबा ने एक वसीयतनामा लिखने का निश्चय किया और वह सीवान से तैयार होकर आया। उसके अनुसार चाची के खर्च के लिए प्रायः १०००) सालाना की आमदनीवाले दो गाँव उनकी जिन्दगी तक के लिए दिये गये थे और बहिन को सारी जमीन्दारी में से सात आने का हिस्सा दिया गया था, और हम लोगों को बाकी नव आने।

खान्दान बराबर इजमाल रहा था, इसलिए यह निश्चित नहीं था कि बाबा इस प्रकार की वसीयत करने के अधिकारी थे या नहीं। बगैर वसीयत के उनके मरने पर सारी सम्पत्ति के मालिक बाबूजी हो जाते, चाची केवल खोरिश का हकदार होतीं और लड़की को कोई हिस्सा नहीं मिलता। इसलिए कुछ लोगों ने सलाह देकर वसीयत करने की बात बाबा को सुझाई। बाबूजी को इसकी खबर नहीं दी गयी। सब कुछ तैयार हो जाने पर एक दिन रजिस्ट्रार रजिस्ट्री करने के लिए जीरादेई आये। लोगों ने राय दे दी कि बाबूजी अगर वसीयतनामा पर गवाही बना देंगे तो फिर उनको उसके खिलाफ आवाज उठाने का हक नहीं होगा और सब बात पक्की हो जायगी। रजिस्ट्रार के जीरादेई पहुँचने पर ही बाबूजी को सब बातें मालूम हुईं। बाबा ने उनको गवाही बना देने को कहा। बाबा के दिल में कुछ सन्देह पैदा कर दिया गया था कि बाबूजी इसमें शायद उज्र करेंगे। बाबूजी ने बाबा से साफ-साफ कहा कि आप जो हुकुम दें, मुझे मंजूर है, आप ही ने हमको पाला-पोसा है, आप ही ने सब कुछ पैदा किया है, आप अगर सोलह आने भी चन्द्रमुखी को दे दें तो मुझे कुछ उज्र नहीं है, मेरे लिए धन तो दोनों लड़के हैं, उनको आप आशीर्वाद दे देवें। हम लोग भी वहाँ बुलाये गये। बाबा फूट-फूटकर रोने लगे और उन लोगों को गालियाँ देने लगे जिन लोगों ने बातें बनाकर उनके मन में तरह-तरह के सन्देह पैदा करने का प्रयत्न किया था। बाबूजी ने गवाही बना दी और वसीयतनामा की रजिस्टरी करके रजिस्ट्रार चले गये।

दुर्भाग्यवश, जिस समय मैं हथुआ-स्कूल में पढ़ता था उसी समय, कुछ दिनों तक बीमार रहकर, हजार कोशिश के बाद भी, चन्द्रमुखी अविवाहित मर गयी। चाची बहुत दिनों तक जीती रहीं और मिली हुई आमदनी को तीर्थ-व्रत में खर्च करती रहीं। उनके मरने के बाद सारी जमीन्दारी हम दोनों भाइयों को पूरी-पूरी मिल गयी। वह प्रायः सभी तीर्थों में गयी थीं। इसमें उनका साथ देनेवाली मेरी विधवा बहन थीं,

जो विधवा होने के बाद से बराबर मेरे ही घर में रही हैं और अभी तक हैं। इन दोनों में तीर्थ-व्रत में मानों होड़ होती थी और शायद ही कोई स्नान या समैया होता हो जिसमें ये शरीक न होती हों। दोनों ने चारों धाम अर्थात् जगन्नाथ, रामेश्वर, द्वारका और बदरीनाथ के दर्शन किये। बहन तो बदरीनाथ दो-तीन बार गयी हैं। मेरी माँ घर पर ही रहतीं, कभी-कभी तीर्थ में जातीं। मुझे याद है कि स्कूल में पढ़ने के जमाने में ही एक बार माँ-चाची और बहन के साथ मैं अयोध्याजी और दूसरी बार मथुरा-वृन्दावन दर्शनार्थ गया था। इन यात्राओं में खर्च काफी पड़ता था और तकलीफ भी काफी होती थी। उस समय मैंने अनुभव किया कि तीर्थों में पंडा लोग बड़ा काम किया करते हैं। उनके ही घर में हम लोग ठहरे थे। वहाँ पर वे लोग बराबर साथ घूम-घूमकर सब स्थानों में दर्शन कराते और किसी प्रकार की तकलीफ नहीं होने देते। किसी जमाने में, जिसका मुझे स्मरण नहीं है, बाबा, बाबूजी, नूनू वगैरह भी इन तीर्थों में गये थे और वहाँ के पंडों की बहियों में उनके नाम लिखे हैं। पंडों के लिए कुछ-कुछ सालाना की तरह पर भी मुकर्रर था जो वे हर साल जीरादेई आकर ले जाते थे। इन कारणों से वे हम लोगों की विशेष खातिरदारी करते और हमारी यात्रा में भी उनको दान तो मिलता ही था। दान-पुन्न, पूजा-पाठ, तीर्थ-यात्रा, स्नान आदि में घर-भर की 'लीडर' बहन थीं और आज भी हैं। घर में एक न एक प्रकार की पूजा बराबर लगी ही रहती थी। कुछ न कुछ आज भी वही बात है।

इस प्रकार स्कूल में पढ़ने का समय बीता था। घर के साथ मेरा सम्बन्ध कम ही रहता था। केवल छुट्टियों में आना-जाना होता। शादी हो गयी थी, पर स्त्री से मुलाकात कम ही होती। छुट्टियों में आने पर रात के समय भेंट हो जाती। एक बार मेरी स्त्री को हैजा हो गया। मैं उस समय घर पर ही था। बाबूजी के दवा-इलाज करने से वह अच्छी हो गयी। पर बाबूजी बहुत चिन्तित हो गये थे। मेरी हालत भी कुछ अच्छी नहीं थी। किसी का अपनी स्त्री के सम्बन्ध में बहुत फिक्र रखना उन दिनों की प्रथा के अनुसार बदसलीका-पन (bad form) समझा जाता था। मैं चिन्तित था। जानना और देखना भी चाहता था, पर किसी से न तो पूछ सकता था और न देखने की ख्वाहिश जाहिर कर सकता था। घर के लोगों का ध्यान शायद इस ओर गया ही नहीं कि मुझे भी उस बीमारी में दिलचस्पी है। खैर, उसके अच्छी हो जाने पर फिर कोई बात नहीं रही और मुझे शान्ति मिल गयी। अगर कुछ हालत खराब होती तो न मालूम बदसलीका-पन का बन्धन कब तक मुझे बाँध रखता।

इस प्रकार घर में बराबर बन्द रहते-रहते मेरी भौजाई और मेरी स्त्री दोनों का स्वास्थ्य खराब हो जाना स्वाभाविक था। ऐसा ही हुआ भी। दोनों ही कुछ दिनों तक, एक के बाद दूसरी, गठिया से तकलीफ पाती रहीं, जो बहुत दिनों के बाद, जब वे आँगन में खूब घूमने-फिरने लगीं तभी, छूटी।

८—कालेज में दाखिल

इम्तहान का नतीजा मालूम हो जाने के बाद मैं छपरे आया और वहाँ यह पता लगा कि केवल मेरा ही नतीजा अच्छा नहीं हुआ है, बल्कि स्कूल-भर का नतीजा बहुत अच्छा हुआ। मेरे साथी रामानुग्रह को भी २०) रुपये की छात्रवृत्ति मिली है और दो आदमियों को १५) की और दो को १०) की। इनके अलावा औवल दर्जा (First division) हासिल करनेवालों की संख्या भी काफी है और एकबारगी फेल भी शायद एक दो ने ही किया है। इस प्रकार का नतीजा छपरा-जिला-स्कूल का कभी नहीं हुआ था। बिहार-भर में किसी भी स्कूल का ऐसा अच्छा नतीजा कभी नहीं हुआ था। इसलिए स्कूल के लोग बहुत खुश थे और छपरे के वकीलों में भी बड़ी खुशी थी। बाबू व्रजकिशोर प्रसाद छपरे में वकालत शुरू कर चुके थे। अभी नये थे, बहुत उत्साह था। थोड़े ही दिनों में लोगों पर, विशेष करके वकालतखाने में, उनका कुछ प्रभाव भी हो गया था। यद्यपि वह मेरे गाँव से तीन कोस पर के ही रहनेवाले थे, पर मैं उनको जानता नहीं था। जब मैं छपरे आया तो उन्होंने भाई से राय करके एक छोटा-मोटा तवाजा (पार्टी) का प्रबन्ध किया, जिसमें मैं भी बुलाया गया; पर मैं ठीक उसी समय बीमार पड़ गया, शरीक नहीं हो सका।

छपरे में पहुँचकर मैं सबसे पहले रसिक बाबू से मिला। वह बहुत ही प्रसन्न थे। उन्होंने तुरत आम और मिठाई खिलाई। मुझे बहुत देर तक समझाते रहे कि इस नतीजे से मेरी जवाबदेही बहुत बढ़ गयी। यह पहला अवसर था कि कोई बिहारी यूनिवर्सिटी में औवल हुआ है। बंगाल के लड़के इस बात को बरदाश्त नहीं कर सकेंगे। वह बहुत परिश्रम करके मुझे एफ० ए० की परीक्षा में हराने का प्रयत्न करेंगे। कुछ बुरे लड़के मुझे दूसरे प्रकार से भी बिगाड़कर गिरा देने से बाज नहीं आवेंगे। इसलिए मुझे कलकत्ते में बड़ी सावधानी और चौकसी से रहना होगा, और परिश्रम करके जो स्थान मैंने पाया है उसे कायम रखना चाहिए। मुझे सब बातों की सूचना उनको देते रहना चाहिए और किसी तरह से सुस्ती या गफलत नहीं करनी चाहिए। कलकत्ता बहुत बड़ा शहर है। उसमें खेल-तमाशे भी बहुत हैं। बुरी चीजें भी बहुत हैं। सबसे बचना चाहिए और कालेज में, जहाँ तक हो सके मेहनत करके, अपना स्थान बचाये रखना चाहिए। उनके दिल में यह बात बैठी थी कि मेरे लिए अब किसी न किसी तरह एफ० ए० में भी फिर फर्स्ट होना जरूरी है और अगर मैं इसमें चूका तो बहुत खराब होगा। इसीलिए इस बात पर उन्होंने तरह-तरह से जोर दिया और मुझे बहुत समझा-बुझाकर कलकत्ते जाने के लिए रवाना किया। अपने डेरे पर पहुँचते-पहुँचते मुझे बुखार हो गया और यात्रा रुक गयी। कुछ दिनों के बाद जब अच्छा हुआ तो भाई के साथ कलकत्ते पहुँचा।

कलकत्ते में भाई पहले से ही ईडन-हिन्दू-होस्टल में रहा करते थे और डफ कालेज में एम्० ए० क्लास में हिस्ट्री और रिपन कालेज में बी० एल० के लिए कानून पढ़ा

करते थे। मैं भी उनके साथ ही वहाँ गया। यह पहला ही मौका था कि मैं कलकत्ते गया। वहाँ के मकानों, सड़कों, ट्रामगाड़ी इत्यादि को देखकर चकित रहा और जब होस्टल में पहुँचा तो वह मेरे छपरे के डेरे के मुकाबले में महल-जैसा लगा। मैं इतनी देर करके पहुँचा था कि होस्टल में विद्यार्थी खचाखच भर गये थे, एक भी जगह नहीं थी। मैं तब तक भाई के साथ ही उनके ही कमरे में ठहरा। जब प्रेसिडेन्सी कालेज में पहुँचा तो मालूम हुआ कि वहाँ भी काफी लड़के आ चुके हैं और नये लोगों की भरती बन्द हो गयी है। डाक्टर पी० के० राय प्रिंसिपल थे। भाई ने उनसे मुलाकात की और उन्होंने मुझे भरती कर लेने का हुक्म दे दिया। कालेज में तो मैं दाखिल हो गया, पर होस्टल में तो जगह थी ही नहीं। उसके लिए भी कोशिश की गयी और जिस कमरे में भाई रहते थे उसी में चार की जगह पाँच चौकियाँ रख दी गयीं और मैं रहने लगा।

जब मैं क्लास में गया तो वहाँ भी दूसरी ही समा थी। मैंने इतने सिर-खुले बंगाली लड़के एक साथ कभी देखे ही नहीं थे। उनमें कुछ कोट-पतलून-हैट पहननेवाले भी थे। वे ऐसे लोगों के ही लड़के थे जिनके पिता विलायत से लौटकर बैरिस्टरी या डाक्टरी वगैरह कर रहे थे। मैंने किसी हिन्दुस्तानी लड़के को उस दिन तक हैट-कोट पहनते देखा ही नहीं था। इससे मेरे दिल में शक हुआ कि ये लोग ऐंगलो-इण्डियन या क्रिस्तान होंगे। पर जब नाम पुकारा गया तो मालूम हुआ कि ये हिन्दू ही हैं। उन दिनों यह प्रथा थी कि मुसलमान लड़के नाम के लिए तो मदरसा के छात्र समझे जाते थे, पर एफ० ए० क्लास में पढ़ते थे प्रेसिडेन्सी कालेज में ही। उनको फीस १२) के बदले ४) मासिक देनी पड़ती और उनका नाम अलग रजिस्टर में लिखा रहता। और सब बातों में वे प्रेसिडेन्सी कालेज के लड़कों से किसी बात में अलग नहीं थे। उनका होस्टल अलग था। टोपीवाले वहीं देखने में आये और दो-एक मारवाड़ी लड़के भी। कालेज में भी सब लड़के एक क्लास में नहीं समाविष्ट हो सके थे, इसलिए तीन विभाग कर दिये गये थे। पढ़ाई एक ही थी।

मैं उन दिनों चपकन, पाजामा और टोपी पहनकर कालेज-क्लास में जाया करता। एफ० ए० में अँगरेजी एक दूसरी भाषा और हिस्ट्री, लौजिक (तर्कशास्त्र), गणित के अतिरिक्त सब लड़कों को फिजिक्स और केमिस्ट्री भी पढ़नी पड़ती थी। एफ० ए० में डाक्टर जे० सी० बोस फिजिक्स (पदार्थ-विज्ञान) और डाक्टर पी० सी० राय केमिस्ट्री (रसायन-शास्त्र) पढ़ाया करते थे। मैं जब पहले दिन कालेज में नाम लिखाकर पहुँचा तो पहला घंटा केमिस्ट्री का था। वहाँ डाक्टर पी० सी० राय आये। उन्होंने हाजिरी लेनी शुरू की। मैं सबसे पीछे की एक बेंच पर बैठा था। प्रेसिडेन्सी कालेज के सब लड़कों के नम्बर पुकारे गये और सबने उत्तर दिये। मुझे अपना नम्बर मालूम ही नहीं था। अन्त तक मैं इन्तजार करता रहा। जब आखिरी नम्बर-वाले लड़के ने भी जवाब दे दिया और वह रजिस्टर बन्द करने लगे तो मैंने खड़ा होकर कहा कि मैं अपना नम्बर नहीं जानता हूँ। उन्होंने मेरी ओर आँख उठाकर देखा और

कहा, ठहरो, अभी मैंने मदरसा के लड़कों की हाजिरी नहीं ली है, और यह कह झट दूसरा रजिस्टर उठाया। मैं समझ गया कि पाजामा-टोपी के कारण उन्होंने मुझे मुसलमान मान लिया है। मैंने कहा कि मैं मदरसा में नहीं पढ़ता हूँ, प्रेसिडेन्सी कालेज में आज ही नाम लिखवाया है, इसलिए नम्बर नहीं जानता। उन्होंने नाम पूछा और जब मैंने नाम बताया तब सब लड़के मुड़कर मेरी ओर देखने लगे; क्योंकि वे तो जानते थे कि मेरे नाम का कोई लड़का उस साल युनिवर्सिटी में फर्स्ट हुआ है। डाक्टर राय ने कहा कि अभी नाम दर्ज नहीं है, जब दर्ज हो जायगा तो आज की भी हाजिरी वह पीछे लिख देंगे। फिर उन्होंने इतनी देर से नाम लिखाने का कारण पूछा और इस प्रकार मेरी उनसे पहली मुलाकात हुई और दूसरे साथियों ने भी पहलेपहल मुझे देखा।

हिन्दी जाननेवाले लड़के तो क्लास में बहुत कम ही थे और स्वभावतः मेरी घनिष्ठता मारवाड़ी देवीप्रसाद खेतान से दो ही एक दिन के भीतर हो गयी। इसका एक विशेष कारण यह भी था कि वह भी मेरी तरह बिहार से ही, जहाँ उनके पिताजी जेलर थे, पास करके आये थे। बंगाली लड़कों से भी जान-पहचान शुरू हो गयी। उनमें से कुछ ऐसे निकले जिनके साथ जल्द घनिष्ठता हो गयी और आज तक जारी है। केवल दो-तीन के नाम यहाँ देता हूँ। योगेन्द्रनारायण मजुमदार जो इस समय बंगाल के स्टैंडिंग कौन्सल हैं, गिरीशचन्द्र सेन जो डिप्टी-कलक्टर हुए और इस समय गवर्नमेंट के सेक्रेटरी हैं और अविनाशचन्द्र मजुमदार जो गवर्नमेंट के ट्रांसलेटर रहे हैं। जे० एम० सेन गुप्त, जो दुर्भाग्यवश अब नहीं रहे, मेरे साथ ही पढ़ते थे और उसी होस्टल में रहा करते थे।

मैं एक हफ्ते से कम ही कालेज में हाजिरी दे सका कि फिर से जाड़ा-बुखार शुरू हो गया। छपरे में ही जो मलेरिया का आक्रमण हो गया था वह फिर और जोरों से आया। मैं महीनों तक वहाँ बीमार रहा। होस्टल के डाक्टर ने हजार कोशिश की, पर रोजाना जाड़ा-बुखार हो ही जाता। कभी एक दो दिन अच्छा भी हो जाता तो फिर तीसरे-चौथे दिन जोरों से जाड़ा हो जाता। भाई बहुत परेशान रहे। एक दिन का जिक्र है कि वहाँ टाउन हाल में बड़ी सभा होनेवाली थी। लार्ड कर्जन की किसी कार्रवाई पर लोकमत प्रकट करने के लिए बंगाल के बड़े-बड़े नेता और व्याख्याता बोलनेवाले थे। सुरेन्द्रनाथ बनर्जी इत्यादि के भाषण होनेवाले थे। दो-तीन दिनों से मैं ज्वर-मुक्त था। सबने समझा कि मैं अब अच्छा हो गया हूँ। भाई भी होस्टल के सब लड़कों के साथ सभा में चले गये। मेरे कमरे में या आसपास के कमरे में भी कोई नहीं था। मैं अकेला ही था। जाड़ा आ गया और उसके बाद बुखार चढ़ना शुरू हुआ। मैं पड़ा-पड़ा थर्मामीटर, जो पास में पड़ा था, लगा-लगाकर देखता रहा। ज्वर चढ़ते-चढ़ते १०६ डिग्री से भी अधिक हो गया। मैं घबराता। मगर करूँ तो क्या करूँ। कोई पास था नहीं। कभी कभी ऐसा मालूम होता कि अब भाई से भी मुलाकात नहीं होगी। आहिस्ता-आहिस्ता फिर बुखार उतरने लगा। भाई के वापस आने तक

बुखार बिलकुल उतर गया। जैसा भाई छोड़कर गये थे वैसा ही हो गया। लौटने पर उनसे सब हाल कहा। उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब अच्छे रहने पर भी छोड़कर कहीं नहीं जायँगे। इस प्रकार बहुत दिन बीत गये और दशहरे की छुट्टी के दिन आ गये। मैं इतने दिनों में केवल चार-पाँच ही दिन कालेज में जा सका था।

छुट्टियों में किसी प्रकार घर आया। वहाँ अच्छा हो गया। छुट्टी प्रायः एक महीने की थी। इसमें चंगा होकर कलकत्ते गया और वहाँ पहुँचते ही फिर ज्वर आ गया। जी बहुत घबराया। भाई भी बहुत चिन्तित हुए। उन दिनों यह नियम था कि कालेज में जितने लेक्चर हों उनमें एक निश्चित अनुपात में जरूर हाजिर रहना चाहिए, नहीं तो परीक्षा देने की इजाजत युनिवर्सिटी नहीं देगी। भय होने लगा कि इतनी गैरहाजिरी के बाद शायद मैं हाजिरी पूरी नहीं कर सकूँगा और परीक्षा देने की इजाजत ही नहीं मिलेगी। इसके अलावा पढ़ाई तो छूट ही गयी थी। कभी-कभी विचार होता कि कलकत्ता छोड़कर इलाहाबाद चला जाऊँ। उसमें भी दिक्कत थी कि बीच साल में एक युनिवर्सिटी से दूसरी में जाने की इजाजत दो युनिवर्सिटियों में मिलेगी या नहीं, और फिर वहाँ जाकर भी वहाँ भी हाजिरी पूरी नहीं होगी तो एक बरस तो योंही चला जायगा। रसिक बाबू ने अपने स्थान को बचा रखने की जो बात कही थी वह भी याद आ जाती और मन बहुत दुखी होता। मगर लाचारी थी। कुछ वस नहीं चलता। अन्त में डाक्टर नीलरतन सरकार के पास भाई ले गये। उन्होंने नुस्खा दिया। ज्वर आना बन्द हुआ और मैं चंगा हो गया। वह नुस्खा प्रायः एक बरस तक चलता रहा। न मालूम इस साल-भर में कितना कुनैन खा लिया होगा। होमियोपैथिक डाक्टर ने २५—२६ बरसों के बाद कहा कि आज का दम्मा उसी कुनैन का नतीजा है। मालूम नहीं, क्या सत्य है।

अच्छा हो जाने पर मैं बहुत परिश्रम से पढ़ने लगा। तीन-चार महीना पढ़ाई में पिछड़ गया था। उसको पूरा करना था और साथ ही यह भी चिन्ता थी कि युनिवर्सिटी में अपनी जगह नहीं खोनी चाहिए। प्रत्येक विषय को मैं इस खयाल से पढ़ने लगा कि मैं उसमें फर्स्ट होऊँ। मैं प्रत्येक विषय की एक पुस्तक के अलावा, जो क्लास में पढ़ाई जाती, प्रायः तीन-चार और पुस्तकें पढ़ गया। मैं अपने को हिसाब में कमजोर समझता था, इसलिए उस पर विशेष ध्यान दिया और अलजबरा, ट्रिगोनोमिट्री कौनिकसेक्शन की जितनी पुस्तकें मिल सकीं और उनमें जितने उदाहरण दिये गये थे, एक-एक करके सबको बना लिया। युनिवर्सिटी में जितने प्रश्न उस समय तक पूछे गये थे, एक-एक को उसी तरह से लगा लिया।

मेरी इच्छा थी कि एफ० ए० पास करके मैं साइन्स पढ़ूँगा। डाक्टर जे० सी० बोस और डाक्टर पी० सी० राय के पढ़ाने का तरीका इतना अच्छा था कि उस ओर रुचि बहुत हो गयी और उन विषयों के अधिक जानने का शौक हो गया। यों तो हिस्ट्री पढ़ानेवाले प्रोफेसर विनयेन्द्रनाथ सेन भी बहुत अच्छे शिक्षक ही नहीं, बल्कि बहुत उच्च कोटि के सज्जन पुरुष भी थे, जिनकी कृपा मुझपर बहुत रहती थी, और जो

बीमारी की हालत में होस्टल में आकर मुझे देख भी गये थे। पर अधिक झुकाव विज्ञान की ओर ही था। उन विषयों में जी लगने लगा और जहाँ तक पुस्तकें मैं पा सका, पढ़ गया। उन दिनों क्रियात्मक रूप से लैब्रेटरी में एफ० ए० के लड़कों को कुछ नहीं करना पड़ता था; पुस्तकी ज्ञान ही पर्याप्त समझा जाता था। मैंने प्रायः बी० एस-सी० क्लास तक का पुस्तकी ज्ञान प्राप्त कर लेने की चेष्टा की थी। एक ही दिक्कत मालूम होती थी। ऊपर जाकर अधिक गणित की जरूरत होगी और इतने परिश्रम के बाद भी गणित में मेरा दिमाग नहीं चलता था। इसलिए उस पर अधिक परिश्रम करता।

इस प्रकार दो बरस बीते। परीक्षा के दिन निकट आये। कुछ बंगाली साथियों से मित्रता हो गयी। रसिक बाबू ने जो मुझे डरा दिया था, उसका मुझे कहीं कुछ भी आभास नहीं हुआ। साथियों के साथ दिन बहुत खुशी और प्रेम के साथ बीते। न तो कहीं किसी की बुरी दृष्टि पड़ी और न मुझे किसी की बुरी भावनाओं का शिकार ही बनना पड़ा। सबके साथ सहृदयता बढ़ती गयी और कुछ के साथ तो बड़ी घनिष्ठता हो गयी, जो आज भी मुलाकात होने पर याद आ जाती है, जैसे वह कल की बात हो।

युनिवर्सिटी की परीक्षा के पहले क्लास में कालेज की ओर से परीक्षा होती है। वह हुई और मेरा नम्बर प्रायः प्रत्येक विषय में सबसे ऊपर आया। एक-दो विषय में लेक्चर की हाजिरी जितनी होनी चाहिए थी, नहीं थी। प्रोफेसर ने मेहरबानी करके कुछ अधिक लेक्चर दिये, जिसमें युनिवर्सिटी के नियम मेरे परीक्षा देने में बाधक न हों और अनुपात के अनुसार हाजिरी हो जाय। परीक्षा देने की इजाजत के पहले एक दिलचस्प घटना हुई। मैंने प्रायः प्रत्येक विषय में सबसे अधिक नम्बर पाया था, पर जब कालेज-परीक्षा का फल बताया जाता था तो कहा गया कि मुझे युनिवर्सिटी की परीक्षा में शरीक होने की इजाजत नहीं दी गयी! उस समय एक अँगरेज प्रिन्सिपल आ गये थे। परीक्षा-फल स्वयं सुनाने के लिए आये। सब लड़के वहाँ जमा थे। उन्होंने एक-एक करके नाम बताना शुरू किया। मेरा नाम ही नहीं कहा। जो फिहरिस्त तैयार की गयी थी, उसमें गलती से मेरा नाम ही छूट गया था—लिखा नहीं गया था। जब नाम नहीं कहा गया, सब लोगों को आश्चर्य हुआ। मैं तो घबरा गया। मैंने कहा कि मेरा नाम नहीं पढ़ा गया। प्रिन्सिपल ने तो एफ० ए० में पढ़ाया नहीं था; किसी लड़के को जानते नहीं थे। पूछने पर झट उत्तर दिया, तुमने पास नहीं किया, इसलिए तुम्हारा नाम नहीं कहा गया। मैंने फिर कहा, ऐसा हो नहीं सकता; मैंने जरूर पास किया होगा। उत्तर मिला, ऐसा हो नहीं सकता, अगर पास किया होता तो जरूर नाम रहता। मैंने फिर कहना चाहा। वह बिगड़ गये और बोले, चुप रहो, नहीं तो जुर्माना करूँगा। मैंने फिर हिम्मत करके कुछ कहना चाहा। उत्तर मिला, तुमको पाँच रुपये जुर्माना करता हूँ। मैं फिर बोला। उत्तर दिया, १०) रुपये जुर्माना। इस प्रकार पाँच-पाँच रुपये बढ़कर, जिस तरह नीलाम में डाक बढ़ती है, वह बीस या पचीस तक पहुँचे। एक तमाशा था! मेरी समझ में न आया कि

क्या करूँ। इतने में कालेज के हेडक्लर्क ने, जो मुझे जानता था, उनके पीछे से मुझे इशारा किया कि चुप रहो, सब ठीक हो जायगा। मैं चुप रह गया।

दूसरे दिन फारम वगैरह जो भरना होता है उसे भरकर दे दिया और फीस दाखिल कर दी। किसी ने कुछ पूछा ही नहीं। उस क्लर्क ने गलती सुधार दी और प्रिन्सिपल से उनकी या अपनी गलती बताई या नहीं, इसका मुझे पता नहीं। जुर्माना तो किसी ने फिर माँगा ही नहीं और न मैंने ही अपनी ओर से दाखिल करने की कोशिश की। हाँ, इस घटना से छपरे में ड्राइङ्ग-मास्टर ने एण्ट्रेंस-परीक्षा देने की इजाजत में जो बाधा डाली थी वह बात फिर याद हो गयी।

एफ० ए० की परीक्षा के लिए मैंने खूब तैयारी की। परीक्षा का नतीजा भी एक प्रकार से ठीक निकला। मैं उसे एक प्रकार से ठीक निकलना इसलिए कहता हूँ कि यद्यपि मैं सबसे ऊपर आया, तथापि मेरी यह इच्छा पूरी नहीं हुई कि मैं साइन्स में और गणित में सबसे ऊपर आऊँ। इन विषयों में अधिक परिश्रम किया था। अँगरेजी, फारसी, लौजिक इत्यादि में उनके मुकाबले बहुत कम परिश्रम किया था। पर जब परीक्षाफल निकला तो मालूम हुआ कि अँगरेजी, फारसी और लौजिक में मैंने सबसे अधिक नम्बर पाया है, और दूसरे विषयों में औरों से थोड़े-थोड़े नम्बरों के लिए पीछे पड़ गया हूँ—यद्यपि सब मिलाकर औरों से ऊपर हूँ। एण्ट्रेन्स-परीक्षा के फलस्वरूप सबसे अधिक नम्बर पाने के लिए २०) मासिक की छात्रवृत्ति के अलावा अँगरेजी में भी औवल होने से १०) मासिक की अलग छात्रवृत्ति एक बरस के लिए मिली थी। एफ० ए० में सबसे ऊपर होने के लिए २५) मासिक की दो बरसों तक के लिए छात्रवृत्ति मिली। इसके अलावा अँगरेजी में औवल होने के लिए १०) मासिक की एक छात्रवृत्ति, और भाषाओं में फर्स्ट होने के लिए १५) मासिक की छात्रवृत्ति—जिसे डफ-स्कालरशिप कहते थे—मिली, और लौजिक में फर्स्ट होने के लिए पुस्तकों का इनाम मिला। इसका नतीजा हुआ कि मैंने समझ लिया, मैं गणित में सफल नहीं हो सकूँगा और इसलिए विज्ञान भी मेरे लिए कठिन होगा।

परीक्षाफल के बाद मैंने पूर्व निश्चय को बदल दिया और विज्ञान की ओर न जाकर बी० ए० क्लास में नाम लिखाया। उन दिनों एफ० ए० तक की पढ़ाई सबके लिए एक होती थी। सब विषय पढ़ने पड़ते और तब कोई बी० एस-सी० में नाम लिखाकर साइन्स पढ़ता और कोई बी० ए० में नाम लिखाकर अँगरेजी फिलासफी पढ़ता। बी० ए० में नाम लिखा लेने के बाद डाक्टर पी० सी० राय से मुलाकात हुई। उन्होंने पूछा कि तुमने साइन्स में क्यों नहीं नाम लिखाया? (Why have you deserted our standard?) मैंने उत्तर दिया कि मैं गणित में कमजोर हूँ। उन्होंने उत्तर दिया कि तुमने मुझसे राय क्यों नहीं ली; मैं भी गणित कम जानता हूँ, पर इसलिए मैं विज्ञान से भागता नहीं हूँ। उनको अफसोस रहा, पर अब बहुत देर हो चुकी थी और बदलना कठिन था।

दो बरसों तक पूरे ध्यान से मैंने रसिक बाबू की बात याद करके फिर फर्स्ट होने के लिए कोशिश की, और उसमें सफल रहा। रसिक बाबू इस बीच में बदलकर कलकत्ते चले आये थे। मुलाकात करने पर बहुत खुश हुए। कभी-कभी जाकर उनसे मिलता। कुछ दिनों के बाद उनकी मृत्यु हो गयी।

९—परीक्षा के प्रति अश्रद्धा

बी० ए० क्लास में पहुँचकर मेरी हालत कुछ बदल गयी। परीक्षा की ओर से रुचि कुछ हट गयी। ध्यान और चीजों की ओर कुछ बँट गया। बचपन से ही आदत थी, मैं भरसक जो कुछ क्लास में पढ़ाया जाता उसे बहुत ध्यानपूर्वक सुनता और क्लास का समय किसी तरह बरबाद नहीं होने देता। इसका शुरू में तो एक कारण यह था कि घर पर कोई पढ़ानेवाला या बतानेवाला मास्टर नहीं था, इसलिए सब कुछ स्कूल के मास्टर के बताने पर ही निर्भर रहता। पीछे आदत ही ऐसी पड़ गयी। कालेज में भी यही बात रही। नाम लिखाते ही यह प्रश्न हुआ कि किस विषय में ऑनर्स लिया जाय। उन दिनों बी० ए० में तीन विषय पढ़ने होते, जिनमें अँगरेजी और फिलासफी अनिवार्य थे और तीसरा विषय ऐसा था जिसको चुन लेने का अधिकार विद्यार्थी को था; पर चुन लेने के बाद उसे भी अन्य दो अनिवार्य विषयों की तरह ही पढ़ना होता और उसमें भी परीक्षा पास करनी होती। मैंने हिस्ट्री और एकनौमिक '(अर्थशास्त्र) चुन लिया। उन दिनों ऑनर्स के लिए 'पास' के अलावा कुछ और पुस्तकें पढ़नी होतीं और इन पुस्तकों में परीक्षा भी अलग होती। इस तरह से ऑनर्स के विषय की परीक्षा अधिक कड़ी होती और क्लास-लेक्चर भी अधिक हुआ करते। यह भी नियम था कि विद्यार्थी चाहे तो एक से अधिक विषयों में भी ऑनर्स ले सकता है। मेरे सामने प्रश्न यह था कि मैं किस विषय में ऑनर्स लूँ—दो विषयों में या तीनों में। मैंने पहले कुछ निश्चय नहीं किया और तीनों विषयों में ऑनर्स-क्लास में शरीक होने लगा।

मेरे साथी रामानुग्रह, जो एफ० ए० में छपरे से दूसरे कालेज में चले गये थे, बी० ए० के लिए प्रेसिडेन्सी कालेज में आ गये थे। उनकी राय हुई कि हम दोनों को तीनों विषयों में ऑनर्स लेना चाहिए। उन्होंने स्वयं तीनों विषयों में ऑनर्स ले भी लिया। बी० ए० परीक्षा के फलस्वरूप दो स्कालरशिप—एक ५०) मासिक और दूसरा ४०) मासिक के—मिला करते थे। केवल ऑनर्स के नम्बर जोड़कर ही स्कालरशिप मिला करता था। इसलिए उनका विचार था कि तीनों विषयों में ऑनर्स लेना चाहिए। पर ऐसा हुआ करता था कि एक या दो विषयों में ऑनर्स में इतना नम्बर आ जाता कि तीन विषयों के नम्बर से भी अधिक हो जाता। ऐसी अवस्था में दो ही विषयवाले विद्यार्थी को वह छात्रवृत्तियाँ मिल जातीं। मुझे डर लगता था कि तीन विषयों में ऑनर्स लेने पर परिश्रम बहुत करना पड़ेगा। चन्द दिनों तक पसोपेश में रहा। तीनों विषयों के क्लास में जाता रहा। इत्तफाक से उन दिनों

फिलासफी के प्रोफेसर कुछ ऐसे नीरस तरीके से पढ़ाते थे कि उसमें मेरा जी नहीं लगा। इसके बदले में अँगरेजी और हिस्ट्री के प्रोफेसर मिस्टर पर्सिवल और विनय बाबू अपने विषयों को बहुत सुन्दर रीति से पढ़ाते थे। इसलिए उनके क्लास में जी बहुत लगता।

मैंने निश्चय कर लिया कि अँगरेजी, हिस्ट्री और एकनामिक्स में ही ऑनर्स पढ़ूँगा। रामानुग्रह और एक दूसरा विद्यार्थी, केवल दो ही विद्यार्थी, तीनों विषयों में ऑनर्स पढ़ते रहे। कुछ दिनों के बाद डाक्टर पी० के० राय फिलासफी पढ़ाने लगे। उनका तरीका इतना सुन्दर और मनग्राही था कि मैंने देखा, सबसे सहज विषय फिलासफी था। उनके लेक्चर इतने अच्छे होते कि अगर उन्हें ध्यानपूर्वक सुना जाय तो पुस्तक पढ़ने की जरूरत ही कम हो जाती थी। परीक्षा में सब विषयों में पास करना तो जरूरी था, पर जैसा पहले कह चुका हूँ, छात्रवृत्ति के लिए ऑनर्स के ही नम्बर जोड़े जाते और उनपर स्वभावतः अधिक ध्यान दिया जाता। सलिए मैंने फिलासफी पर डाक्टर राय के लेक्चर सुनने के अलावा बहुत ही कम ध्यान दिया। पर उनका पढ़ाना इतना अच्छा था कि बिना पुस्तक पढ़े ही मैंने उस विषय का इतना ज्ञान पा लिया था कि परीक्षा पास कर सकूँ। पीछे अफसोस भी हुआ कि अगर इस विषय को लिये होता तो शायद कम परिश्रम से ही तीसरे विषय में भी ऑनर्स हो जाता।

इस प्रकार कुछ दिनों तक तो कालेज में खूब जी लगाकर पढ़ता रहा, पर कुछ ऐसे संयोग घटे कि परीक्षाफल से मन उचट गया और ध्यान दूसरी ओर जाने लग गया। उन्हीं दिनों श्रीसतीशचन्द्र मुखर्जी ने एक संस्था कायम की थी, जिसका नाम था 'डॉन सोसाइटी' (Dawn Society)। विद्यार्थी उसके मेम्बर होते। उनको कुछ देना नहीं पड़ता था। उसका उद्देश्य था कि पढ़ाई में भी छात्रों को मदद दी जाय और उनके चरित्र सुधारने में और उन्हें देश की बातों की जानकारी हासिल कराने में भी सहायता दी जाय। उनसे कुछ सेवा का काम भी लिया जाता था और यह वहाँ की शिक्षा का एक अंग समझा जाता था। तरीका यह था कि प्रत्येक सप्ताह संध्या समय दो क्लास किये जाते और उनमें दो लेक्चर दिये जाते। एक लेक्चर तो विविध विषयों पर होता और दूसरा गीता पर। गीता-क्लास तो एक पंडित लेते और बहुत सहज रीति से वह गीता समझाते। दूसरे क्लास में सतीश बाबू स्वयं लेक्चर दिया करते और दूसरे लोगों को भी बुलाकर लेक्चर दिलवाया करते। उस क्लास में कभी-कभी एक कालेज के प्रिन्सिपल एन० एन० घोष, कभी सिस्टर निवेदिता, कभी और दूसरे लोग लेक्चर दिया करते। ठीक समय से जाना पड़ता। हाजिरी लिखी जाती। लेक्चर के पहले ही पेंसिल-कागज सब लड़कों को दिया जाता कि वे लेक्चर का नोट ले लिया करें। दो जिल्दबँधी बहियाँ मिली थीं जिनमें दोनों लेक्चरों का सारांश लिखकर दाखिल करना पड़ता। सतीश बाबू इन बहियों को घर पर ले जाते और पढ़कर जो भूल-चूक होती उसे सुधार देते और अलग-

अलग हर आदमी को बुलाकर गलतियाँ बता देते। लेक्चर के विषय बहुत अच्छे हुआ करते जिनसे देश और दुनिया की बहुत बातों की जानकारी बढ़ती और चरित्र पर भी असर पड़ता। सुने हुए लेक्चर को नोटों की मदद से फिर अपनी भाषा में अदा करने का अभ्यास हर तरह से अच्छा था। इससे युनिवर्सिटी की परीक्षा में भी मदद मिलती। साल के अन्त में सब बहियाँ किसी बड़े आदमी के पास सतीश बाबू भेजते और वह महाशय उन्हें देखकर जिसका काम सबसे अच्छा हुआ रहता उसको छात्रवृत्ति और इनाम देते। क्रियात्मक रूप से सेवा का तरीका यह था कि एक छोटी-सी दूकान स्वदेशी कपड़ों और दूसरी चीजों की खोली गयी थी जिसकी देख-रेख मेम्बरों के ही जिम्मे थी। वह दूकान शाम को दो घंटों के लिए खुलती और बेचने, हिसाब रखने का काम मेम्बरों के जिम्मे था।

मैं किसी प्रकार इस सोसाइटी के एक लेक्चर में पहुँच गया। सब बातें बहुत अच्छी लगीं। मैं इसमें शरीक हो गया। सतीश बाबू की कृपा रहती, जो आज तक बनी हुई है। सतीश बाबू युनिवर्सिटी के अच्छे छात्रों में थे। उन्होंने उसी साल बी० ए० परीक्षा पास की थी, जिस साल सर आशुतोष मुखर्जी ने पास की थी। पढ़ने के समय वह स्वामी विवेकानन्द के साथी थे। उन्होंने वकालत शुरू की थी, पर थोड़े ही दिनों के बाद उसे छोड़ दिया था और इसी प्रकार के सार्वजनिक काम में लग गये थे। उन्होंने कभी शादी नहीं की। उनका विचार हुआ कि विद्यार्थियों का जीवन सुधारना चाहिए और इसलिए उन्होंने डॉन सोसाइटी की स्थापना की थी। इसमें मिस्टर एन० एन० घोष, सिस्टर निवेदिता, सर गुरुदास बनर्जी प्रभृति जैसे महान् पुरुषों की सहायता और सहानुभूति मिलती थी। सोसाइटी में जाने पर मुझे बहुत ऐसे विद्यार्थियों से भी घनिष्ठता हो गई जो मेरे क्लास के साथी नहीं थे, पर जो युनिवर्सिटी के नामी विद्यार्थियों में थे—जैसे विनयकुमार सरकार जो विख्यात विद्वान और लेखक हैं, रवीन्द्रनारायण घोष जो रिपन-कालेज के प्रिन्सिपल थे और हाल में ही जिनका स्वर्गवास हो गया है।

मुझे स्मरण है कि साल के अन्त में डॉन सोसाइटी की छात्रवृत्ति और इनाम भी मुझे मिले, जिनको सभा में सर गुरुदास बनर्जी ने कुछ उत्साहवर्धक शब्दों के साथ मुझे दिये थे। सोसाइटी में जाने से विचारों का मंथन खूब हुआ। परीक्षा से श्रद्धा हट गयी और ध्यान सार्वजनिक बातों में अधिक लगने लगा। यों तो मैं बचपन से ही कुछ इस तरह की बातों की ओर अधिक ध्यान दिया करता था। जब स्कूल में पढ़ता था तो वहाँ पर एक डिबेटिङ्ग सोसाइटी कायम की थी जिसमें रविवार को हम सब मिलते, अपने-अपने लेख पढ़ते अथवा भाषण करते। इनमें कभी-कभी स्कूल के मास्टर भी निमंत्रण देकर बुलाये जाते, पर यह संस्था स्कूल की नहीं थी, स्वतंत्र थी। उसी प्रकार कलकत्ते में भी हम लोगों ने बिहारियों की सभा 'बिहारी क्लब' कायम कर ली थी, जिसमें हम सब प्रति रविवार को मिलते और लेख पढ़ते, भाषण करते। इसके अलावा कालेज के युनियन में भी मैं भाग लिया करता और

एक साल तो उसका मंत्री भी चुना गया था। कालेज-युनियन की ओर से एक मासिक पत्र निकाला गया था जिसके संचालन में मेरा हाथ रहता।

पर इन सब प्रवृत्तियों के रहने पर भी, डॉन सोसाइटी में शरीक होने के पहले, ये सब एक प्रकार से बिना किसी उद्देश्य की थीं। इनका कुछ भी निर्दिष्ट अभिप्राय नहीं था और न हमारे सामने कोई नियमित कार्यक्रम ही था। मैं अखबारों को पढ़ा करता था। कांग्रेस का नाम जानता था। जब उसका सालाना जलसा होता तो उसके भाषणों को ध्यानपूर्वक पढ़ता। यों तो जब कभी कोई सार्वजनिक सभा होती और बड़े लोगों के भाषण होते—जैसे सुरेन्द्रनाथ बनर्जी के—तो मैं उसमें जाकर भाषणों को सुनता। पर डॉन सोसाइटी से अधिक दिलचस्पी थी। स्वदेशी का प्रेम तो भाई ने स्कूल के समय में ही पैदा कर दिया था, पर वह भी अभी पूरी तरह प्रस्फुटित नहीं हुआ था। यह डॉन सोसाइटी और सतीश बाबू के सत्संग का ही प्रसाद था कि यह जो विचार और प्रवृत्तियाँ अंकुर-रूप में पहले से मौजूद थीं और जो बिना किसी उद्देश्य या समझ के अंधकार में काम कर रही थीं, कुछ परिष्कृत हो गईं। मैं कुछ आगे का भी सोचने लगा।

१०—वंगभंग का आन्दोलन

१९०४ में मैंने एफ० ए० परीक्षा पास की। १९०५ में वंगभंग का आन्दोलन शुरू हुआ। मैं सभी सार्वजनिक सभाओं में पहले से ही जाया करता था। वंग-भंग-विरोधी सभाओं में भी खूब जाता। उन दिनों इस बात में रोक-टोक अभी नहीं थी। ७ अगस्त १९०५ की बड़ी सभा में, जिसमें विदेशी वस्तुओं का बायकाट और स्वदेशी के प्रचार का निश्चय हुआ, मैं शरीक था। उसमें बहुत उत्साह था। लोगों ने व्रत लिया कि स्वदेशी का ही वे व्यवहार करेंगे। मेरे लिए इसमें कोई कठिनाई थी नहीं; क्योंकि मैं बहुत पहले ही से केवल स्वदेशी वस्तुओं का ही व्यवहार किया करता था। आन्दोलन खूब जोरों से चला। प्रायः प्रतिदिन कहीं न कहीं सार्वजनिक सभाएँ होतीं। हम सब जाते। कहीं सुरेन्द्र बाबू, कहीं विपिनचन्द्र पाल, कहीं ए० चौधरी, कहीं अरविन्द घोष के भाषण होते। होस्टल के लड़कों में बड़ी हलचल थी। जो लोग कभी स्वदेशी नहीं बर्तते थे उन्होंने भी स्वदेशी बर्तना आरम्भ किया। बड़ों की तो मुझे खबर नहीं, पर विद्यार्थियों में नया जोश और नया उत्साह पैदा हो गया।

एक छोटी घटना का जिक्र करना अच्छा होगा। यों तो मैं स्वदेशी का ही व्यवहार करता था; पर क्लास में एक दिक्कत महसूस करता था। जो लेक्चर होते उनका नोट रोज लेता। पेन्सिल से नोट मिट जाने का भय रहता। इसलिए कलम-दावात ले जाता और लिखता। एक दिन देखा कि स्टाइलोपेन् (Stylopen) निकला है जिसमें रोशनाई भर दी जाती है और आदमी को दावात साथ ले जाने की जरूरत नहीं पड़ती। यह विदेशी था और 'ह्वाइटवे लैडलॉ' की दूकान में उन

दिनों आधे दाम पर ही बिक रहा था। मैंने एक खरीद लिया। होस्टल के साथियों को यह मालूम हुआ। वे बहुत बिगड़े और मुझसे झगड़ने लगे। उनमें एक आदमी ऐसा भी था, जिसके बारे में मैं जानता था कि उसके पास चि ्ठी लिखने के लिए बहुत विदेशी कागज था। दूसरा ऐसा था जिसके पास थोड़े ही दिन पहले का बना हुआ विदेशी कपड़े का नया कीमती कोट था। विद्यार्थियों ने निश्चय किया था, एक दिन विदेशी कपड़ों की होली जलायी जायगी और उसी दिन होस्टल के आँगन में उन चीजों को भी जलाया जायगा। सबके दिल में था कि कुछ कपड़े जला दिये जायँ। पर शायद ही किसी के दिल में हो कि सब विदेशी कपड़े जला दिये जायँ; क्योंकि प्रायः सबके पास अधिक से अधिक विदेशी कपड़े ही थे।

जब लोगों ने मुझे बहुत दिक किया तो मैंने कहा, "सब अपने-अपने ट्रंक खोलो। जिसके पास जितना विदेशी कपड़ा हो, होली में आज ही जला दो। मैं भी अपना ट्रंक खोलता हूँ और जो कुछ विदेशी मेरे पास निकलेगा, मैं सब अभी यहीं जला दूँगा।" सब चौकन्ने हो गये। वे यह तो जानते नहीं थे कि उस कलम के सिवा मेरे पास कुछ भी दूसरी चीज विदेशी नहीं थी। मैंने ट्रंक खोल दिया और एक-एक करके सब चीजें कमरे में बिखेर दीं। उसके बाद भीड़ हट गयी और फिर किसी ने इस प्रकार का आक्षेप मुझपर नहीं किया! उस साथी ने अपने विदेशी कागज तो जला दिये, पर जहाँ तक मुझे स्मरण है, दूसरे साथी ने नये कोट को जल्दी में जलाना उचित नहीं समझा। हाँ, उसे उन दिनों फिर पहनने के लिए निकाला नहीं। ऐसा ही दूसरों ने भी किया।

१९०५ का साल इस प्रकार एक बड़े आन्दोलन और जागृति का साल था। विशेष करके विद्यार्थियों में एक नये जीवन का संचार हो गया था और बहुतेरों ने पढ़ना भी छोड़ दिया था। उसी समय कलकत्ते में राष्ट्रीय शिक्षा की एक बड़ी संस्था खुली। श्रीसतीश बाबू उसमें चले गये और डॉन सोसाइटी का काम कुछ दिनों के बाद ढीला पड़ गया। सोसाइटी के साथियों में से कई उस संस्था में शरीक हो गये। मैं इन सब सभाओं में बराबर आया-जाया करता और भाषणों को सुनता, पर मेरे दिल में किसी समय कालेज छोड़कर इस राष्ट्रीय संस्था में जाने की इच्छा नहीं हुई। मेरे सामने उसका उद्देश्य साफ नहीं था और न अपना दिल ही इसके लिए तैयार था कि कालेज छोड़ दूँ और भविष्य को इस तरह से एकबारगी बदल दूँ। मैं एक भीरु आदमी लड़कपन से ही रहा हूँ और किसी विषय में जल्दी करके कोई बड़ा कदम उठाना मेरे लिए हमेशा एक कठिन समस्या रहा करती है। उस समय तो कदम उठाने का सवाल भी जोरों से सामने नहीं आया। जहाँ तक मुझे याद है, स्वदेशी आन्दोलन और वंग-विच्छेद के विरुद्ध आन्दोलन में कभी विद्यालयों के छोड़ने का कार्यक्रम उसी तरीके से सम्मिलित नहीं था जिस तरीके से १९२०—१९२१ के आन्दोलन में था। मैं इस तरह उन चीजों के साथ एक प्रकार से बाहर से ही सहानुभूति रखता रहा, कभी उनके अन्दर नहीं घुसा।

पर इन सब आन्दोलनों का नतीजा यह तो अवश्य हुआ कि पुस्तकों के पढ़ने में समय कम लगा और परीक्षाफल की ओर से एक प्रकार की उदासीनता-सी हो गयी। परीक्षा मार्च के महीने में हुआ करती थी। सितम्बर-अक्टूबर में दुर्गा-पूजा और दशहरे के लिए छुट्टियाँ हुआ करतीं, जो प्रायः एक महीने या उससे भी अधिक लम्बी होतीं। मैं इस बार की छुट्टी में कलकत्ते में ही रह गया; क्योंकि मैंने समझ लिया था कि अब कुछ पढ़ना चाहिए, नहीं तो परीक्षा पास करने में कठिनाई हो जायगी।

कालेज की परीक्षा हुई। मेरे दिल में इसका तो भय था नहीं कि इस परीक्षा में पास ही नहीं करूँगा। हाँ, यह हो सकता था कि औरों से नम्बर कम आवे। कुछ साथियों ने मिलकर सलाह किया, परीक्षा के पहले के प्रायः पाँच-सात सप्ताह कहीं बाहर जाकर बिताये जायँ, जहाँ शान्ति से हम पढ़ सकें और परीक्षा के लिए तैयार हो सकें। हम लोगों ने बिहार के संथाल-परगना जिले के 'जामतारा' स्थान में जाकर रहना निश्चित किया। वहाँ एक मित्र ने छोटा-सा मकान भाड़े पर ठीक कर दिया। कालेज की परीक्षा देकर उसके फल का इन्तजार न करके हम लोग वहाँ चले गये।

मैं कह चुका हूँ कि अँगरेजी और हिस्ट्री में, जिसमें एकनामिक्स और पालिटिक्स भी शामिल था, मैंने ऑनर्स लिया था। हिस्ट्री-ऑनर्स के परीक्षक थे मि० पर्सिवल। उन्होंने जल्दी ही परीक्षा करके नम्बर हम लोगों को बता दिया था। मेरा स्थान सबसे ऊपर था और नम्बर भी बहुत अच्छा मिला था। और विषयों का पता नहीं था। उस समय के प्रिन्सिपल सायन्स पढ़ाया करते थे, इसलिए हम लोगों से उनकी पढ़ाई का वास्ता नहीं था। वह हम लोगों को जानते ही नहीं थे। उन्होंने नोटिस निकाल दी कि कोई प्रोफेसर किसी विद्यार्थी को परीक्षाफल न बतावे।

मिस्टर पर्सिवल इसके पहले हमको फल बता चुके थे। हम लोगों के जामतारा चले जाने के बाद परीक्षाफल सुनाया गया। प्रिंसिपल साहब ने फल सुनाते समय मेरे नाम पर कहा कि मैं अँगरेजी ऑनर्स में परीक्षा दे सकूँगा, पर हिस्ट्री ऑनर्स में नहीं। मेरे साथी जो वहाँ मौजूद थे, अचम्भे में आ गये। एक ने हिम्मत करके कहा कि उन्होंने जरूर पास किया होगा। उत्तर मिला कि अगर पास किया होता तो परीक्षा देने की इजाजत जरूर मिलती। उसने फिर कहा कि उन्होंने सब परीक्षाओं में औवल स्थान पाया है और छात्रवृत्ति भी पायी है, ऐसा हो नहीं सकता कि इसमें न पास करें। प्रिन्सिपल ने फिर कहा उसी के शब्दों को दुहराते हुए कि सबमें औवल पास किया तो औवल स्थान मिला और छात्रवृत्ति मिली, इसमें नहीं पास किया, इसलिए इस बार परीक्षा देने की इजाजत नहीं मिलेगी। उसने एक बार और जोर लगाकर कहा कि हम लोगों को पता लग गया है और नम्बर भी मालूम हो गया है—उन्होंने उस विषय में बहुत नम्बर और औवल स्थान पाया है। इस पर वह चिढ़ गया और बोला, ऐसा हो नहीं सकता, मैंने नोटिस निकाल

दी है कि किसी को नम्बर न बताया जाय और ऐसा कहकर जोर से डाँट दिया कि मुझे ऑनर्स परीक्षा में बैठने की इजाजत नहीं मिलेगी। उसने बार-बार यही कहा कि बड़ी सावधानी से उसने सब नम्बर देख लिये हैं—कोई भूल नहीं है।

मेरा साथी घबरा गया। उसने तुरन्त जामतारा मेरे पास तार दिया। तार पाकर मैं और भी चक्कर में पड़ गया। आपस में सलाह करके कलकत्ते आना ही ठीक जँचा। मैं कलकत्ते पहुँचकर सीधे मिस्टर पर्सिवल के घर पर गया। वह बड़े विद्वान समझे जाते थे। उनके पढ़ाने का ढंग भी बहुत अच्छा था। उनकी विद्वत्ता और पढ़ाई से लड़के मुग्ध रहा करते थे। अविवाहित थे। घर पर अकेले रहते थे। केवल पुस्तकों का ही साथ था। बड़े सूखे मिजाज के थे। किसी से न मिलना न जुलना। ठीक समय पर कालेज में आना, क्लासों में जाकर पढ़ाना और फिर सीधे घर चले जाना। केवल युनिवर्सिटी के सिनेट इत्यादि में, जिनके मेम्बर थे, जाना और घर में पढ़ते रहना। अपने काम में बड़े पक्के। वह प्रेसिडेन्सी कालेज में प्रायः २५–३० बरसों तक रहे। पीछे, कुछ दिनों के लिए प्रिन्सिपल भी हुए थे। कर्त्तव्य-परायणता इतनी थी कि कभी एक मिनट का समय न क्लास में न और कहीं बरबाद करते। सादे कपड़े पहनते और जो कोई ठाठबाट से रहते उनको पसन्द नहीं करते। केवल पढ़ाने से ही सम्बन्ध रखते। पर उनकी सादगी, कर्त्तव्यपरायणता, ऊपरी शुष्कता और कड़ाई का असर हम सब पर बहुत पड़ता। हम डरते भी खूब थे। शायद ही कोई उनके घर पर गया हो। उनका एक तरीका था कि जितनी परीक्षाओं में वह परीक्षक होते, चाहे वह कालेज की हो अथवा युनिवर्सिटी की, परीक्षार्थियों की नामा-वली बनाकर जो नम्बर देते, लिखकर अपने पास रख लेते। जब कभी कोई विद्यार्थी उनसे सर्टिफिकेट, नौकरी वगैरह के लिए, माँगता तो उससे उन सब परीक्षाओं का समय पूछ लेते जिनमें उन्होंने उसकी परीक्षा ली थी। अपने रजिस्टर देखकर, परीक्षा-फल के आधार पर, दूसरे दिन सर्टिफिकेट लिखकर ला देते। उनके सर्टिफिकेट की बड़ी कद्र होती।

मैं हिम्मत करके उनके घर पर पहुँचा। डरता तो था, पर कोई चारा नहीं था। उन्होंने प्रायः दो बरसों तक पढ़ाया था। इसलिए मुझे जानते थे। देखते ही पूछा कि क्यों आये हो। मैंने अभिप्राय बतलाया। अभी परीक्षा लिये चन्द दिन ही बीते थे, उनको फल याद था। उन्होंने कहा कि मुझे याद है, तुम सबसे ऊपर आये हो और नम्बर भी अच्छा मिला है, तो भी ऐसा क्योंकर हुआ? मैंने तार दिखलाया। उन्होंने अपना रजिस्टर निकाला। देखकर फिर कहा कि मेरा खयाल ठीक है, तुम्हारा अच्छा नम्बर आया है और तुम औवल हुए हो, मैंने खुद अपने हाथों से लिखकर परीक्षाफल प्रिन्सिपल को दिया है, उसमें कोई भूल नहीं थी, वहाँ आफिस में कोई भूल हुई है, मुझसे कालेज में मिलो।

मेरी जान में जान आई। मैं पहले से ही कालेज की सीढ़ी पर खड़ा था। वह समय से एक दो मिनट पहले ही पहुँचे और सीधे प्रिन्सिपल के कमरे में चले

गये। वहाँ देखा कि मेरा नम्बर दूसरे साथी के नाम के सामने लिख गया है जिसने ऑनर्स में पूरा नम्बर नहीं पाया है और इसलिए फेल किया है और उसका नम्बर मेरे नाम के सामने लिखा गया है! प्रिन्सिपल ने अपनी भूल मान ली और खेद प्रगट किया और कहा कि उस लड़के से कह दीजिए कि भूल हो गयी थी, अब उसको परीक्षा देने की इजाजत है।

मैं तो इन्तजार में खड़ा था ही। वहाँ से निकलते ही उन्होंने मुझसे सब बातें कहीं और कहकर क्लास में पढ़ाने चले गये। इस गोलमाल का नतीजा यह हुआ कि मेरे दो दिन बेकार गये। जामतारा से कलकत्ते आने-जाने में कुछ खर्च पड़ा और कुछ देर तक बड़ी चिन्ता लगी रही। एक दूसरा नतीजा यह भी हुआ कि मेरे दूसरे साथी, जिनके नाम के सामने मेरे नम्बर लिखे गये थे, ऑनर्स में परीक्षा देने पाये। भूल सुधारने के पहले ही उनकी दर्खास्त, फारम भरकर प्रिन्सिपल के हस्ताक्षर के साथ, युनिवर्सिटी में भेजी जा चुकी थी। वह इजाजत वापस लेना अब सम्भव नहीं था। उन्होंने परिश्रम से पढ़ा और युनिवर्सिटी की परीक्षा में वह भी ऑनर्स के साथ पास कर गये। जैसा मैं ऊपर कह चुका हूँ, एण्ट्रेंस, एफ० ए० और बी० ए० तीनों परीक्षाओं में मुझे इजाजत मिलने में कुछ दिक्कत हुई, यद्यपि मैं तीनों में पहले भी और युनिवर्सिटी की परीक्षा में भी बराबर औवल रहा।

जब परीक्षा के दिन नज़दीक आये तो मैं कुछ घबराया। कुछ खयाल पैदा हुआ कि इस बार भी अगर औवल न हुआ तो शिकायत होगी। पर इस बार इच्छा कुछ तीव्र नहीं थी और अब समय भी नहीं रह गया था कि उसके लिए एफ० ए० परीक्षा की तरह तैयारी की जाय। परीक्षाफल में स्थान केवल आनर्स के नम्बर से ही मिलता था। इसलिए मैंने ऑनर्स के विषयों पर ही ध्यान दिया। फिलासफी, जिसमें केवल पास ही करना था, एक तरह से छोड़ ही दिया। पहले भी डाक्टर पी० के० राय के लेक्चरों को ही ध्यान से सुना करता था। किताबें कम पढ़ी थीं। इसमें एक बार एक घटना से प्रोत्साहन भी मिला था। एक दिन डाक्टर राय बीमार पड़ गये। उन्होंने उस दिन पढ़ाया नहीं। कुछ सवाल दे दिये और सबको उन सवालों का उत्तर लिखकर देने कहा। सबने उत्तर लिखे। मैंने किताबें तो पढ़ी नहीं थीं। केवल लेक्चर में जो उन्होंने कहा था उसे ही, जहाँ तक हो सका, लिख दिया। डाक्टर ने सब उत्तरों को घर पर ले जाकर पढ़ा और दूसरे दिन उस तात्कालिक परीक्षा का फल यह सुनाया कि मैं ही सबसे ऊपर हूँ और जिन लोगों ने उस विषय में ऑनर्स किया है उनसे भी मैंने अधिक नम्बर पाया है। इसके बाद से मुझे और भी विश्वास हो गया कि फिलासफी के लिए बहुत पढ़ने की जरूरत नहीं है।

युनिवर्सिटी परीक्षा के पहले कालेज की परीक्षा में भी मुझे उन परचो में ऑनर्स के लड़कों के मुकाबले ज्यादा नम्बर मिला। इसलिए जामतारा में भी इसपर ध्यान नहीं दिया। परीक्षा का दिन निकट आ गया। अँगरेजी की परीक्षा हो गयी। उसके बाद फिलासफी की परीक्षा थी। प्रायः दो महीनों से मैंने शायद ही फिला-

सफी की कोई पुस्तक देखी थी। उस दिन संध्या को अचानक एक भय पैदा हो गया कि फिलासफी में मैं दूसरे दिन कुछ भी उत्तर नहीं दे सकूँगा। इस प्रकार जब सोचने लगा तो मालूम पड़ने लगा कि कुछ भी याद नहीं है। मैंने सोचा कि पुस्तक पढ़ने का तो समय है नहीं। रात-भर में जो कुछ नोट वगैरह थे उनको एक बार दुहरा जाऊँ तो शायद पास करने लायक लिख सकूँ। फिलासफी में साइकलौजी (मनोविज्ञान), एथिक्स (आचारशास्त्र) और लौजिक तीन विषय पढ़ने थे। साइकलौजी पढ़ना शुरू किया। आदत के मुताबिक सही शाम ही नींद आ गयी। कुछ देर के बाद फिर घबरा कर उठा तो सोचा कि अच्छा होगा कि अभी सो जाऊँ और रात में २–३ बजे से उठकर सब कुछ एक बार दुहरा लूँगा। एक बूढ़ा नौकर था। उसको कह दिया कि ठीक दो बजे जगा देना। दो तीन दिनों से परीक्षा में बहुत मेहनत पड़ी थी। बहुत थक गया था। नींद खूब जोर से आ गयी। नौकर बेचारा रात भर बैठा रहा। जैसे दो का घंटा बजा, जगाना शुरू किया। पर उसके हजार कोशिश पर भी मेरी नींद नहीं टूटी! करीब ४।। बजे के नींद खुली और घड़ी देखी। बहुत घबराया। नौकर पर गुस्सा हुआ, पर उसने कहा कि वह तो बराबर जगाता ही रहा, मैं न उठा तो उसका क्या दोष। जल्दी जल्दी नोट उलटने लगा। साइकलौजी और एथिक्स तो उलटकर देख गया। इन विषयों को डाक्टर राय ने पढ़ाया भी था। पर लौजिक देखने का समय नहीं मिला। घबराकर एक साथी के पास गया। सब हाल कहा। उसने लौजिक के सभी अध्यायों के शीर्षक कह दिये और प्रत्येक शीर्षक के सम्बन्ध में कुछ बातें कह दीं। उस समय मालूम होता था कि मैं एक नई चीज पहले-पहल पढ़ रहा हूँ। इतने में जाने का समय हो गया। दौड़कर दस-पन्द्रह मिनटों में मुँह धोकर स्नान करके कुछ भात निगल कर दौड़ता हुआ युनिवर्सिटी में पहुँचा। पहुँचने के पहले ही पहली घंटी बज चुकी थी। दौड़कर स्थान पर बैठ गया और परचा हाथ में आ गया। इतना घबराया था कि कुछ पता नहीं चलता था कि एक प्रश्न का भी उत्तर लिख सकूँगा या नहीं। डर यह होता था कि और विषयों में ऑनर्स पाकर ही क्या होगा—अगर इस विषय में फेल कर गया। किसी एक भी विषय में फेल करने पर सारी परीक्षा में आदमी फेल हो जाता था।

परचा मिलने पर कुछ शान्ति लाने की कोशिश की। आहिस्ता-आहिस्ता प्रश्नों को पढ़ा। कुछ ऐसा मालूम हुआ कि पहले प्रश्न का उत्तर दे सकूँगा। लिखना शुरू किया। जब खतम किया तो ऐसा समझा कि उत्तर कुछ बुरा नहीं हुआ। इसी प्रकार दूसरे प्रश्न और उसके बाद तीसरे प्रश्न इत्यादि सबका उत्तर लिख गया। उधर समय भी पूरा हो गया। अब मन में विश्वास हो गया कि फेल नहीं करूँगा। सारी घबराहट कम हो गयी। आध घंटे की छुट्टी के बाद दूसरा परचा मिला। उसमें भी वैसा ही हुआ। प्रायः सभी प्रश्नों का उत्तर लिख दिया, केवल एक बाकी रह गया था। उसका भी उत्तर कुछ तो दे सकता था, पर पूरा नहीं; क्योंकि उसका सम्बन्ध उस अध्याय के साथ था, जिसका शीर्षक तो मैंने देखा था और साथी ने संक्षेप में कुछ कहना

भी शुरू किया था। पर उसे वह पूरा नहीं कर पाया था, और मैं घड़ी देखकर जल्दी में होस्टल से चला आया था। मैंने उसका उत्तर नहीं दिया और समय से पहले ही चला आया। मुझे विश्वास हो गया था कि अब फेल होने का तो कोई डर ही नहीं है। जब नतीजा निकला तो हिस्ट्री ऑनर्स में मैं औवल आया। अँगरेजी में भी ऑनर्स तो मिला, पर औवल स्थान नहीं मिला। फिलासफी में बहुत अच्छा नम्बर आया था। सब विषयों को मिलाकर मैं ही सबसे ऊपर था और वह दोनों छात्रवृत्तियाँ, एक पचास की और दूसरी चालीस मासिक की, मुझे फिर मिल गयीं। इस बार का फल किसी प्रयत्न का नतीजा नहीं था, क्योंकि मैंने कोई प्रयत्न किया ही नहीं था।

११—समुद्रयात्रा-सम्बन्धी आन्दोलन

जब मैं एफ० ए० की परीक्षा देकर, सन् १९०४ की गर्मी की छुट्टियों में, जीरादेई आया था, भाई भी घर पर ही थे। परीक्षा-फल की प्रतीक्षा थी। अखबारों में हम लोगों ने देखा कि विदेश से शिक्षा पाकर डाक्टर गणेशप्रसाद वापस आ रहे हैं। वह बलिया के, जो हमारे जिले छपरा-(सारन) से लगा हुआ है, रहनेवाले थे। उनका नानिहाल छपरे में था। जाति के वह भी कायस्थ थे। इलाहाबाद से डी० एस-सी० की उपाधि पाकर वह पढ़ने के लिए इँगलैंड गये और वहाँ से फिर जर्मनी गये। गणित-शास्त्र में उन्होंने बड़ा नाम किया था। देश में उनके पहुँचने के पहले से ही एक आन्दोलन उठ खड़ा हो गया था कि उनको जाति में ले लेना चाहिए। छपरे में ो दल हो गये थे। सुधारक दल के नेता बाबू व्रजकिशोरप्रसाद थे, जो अभी नये उठते हुए वकील थे और विरोधी दल के नेता ो सबसे प्रतिष्ठित और नामी बूढ़े वकील थे। व्रजकिशोर बाबू हमारे घर पर आये। भाई से सलाह करके उन्होंने बाबूजी से कहा कि डाक्टर गणेश को जाति में ले लेना चाहिए और उनके यहाँ जो बिरादरी का भोज ो उसमें बाबूजी को चलना चाहिए।

उस समय तक बिहार-भर में केवल मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा ही विलायत से लौटे कायस्थ थे। उनको लौटे ग्यारह-बारह बरस बीत चुके थे। उनके लौटने के समय भी कुछ आन्दोलन हुआ था, पर उन्होंने प्रायश्चित्त करके फिर पुराने तरीके से जाति के बन्धन को मानना स्वीकार नहीं किया था। सलिए बाजाब्ता वह जाति में नहीं लिये गये थे। डाक्टर गणेशप्रसाद से, पहुँचने के पहले ही लिखा-पढ़ी करके, तय हो चुका था कि वह जाति-बन्धन को मानें। उन्होंने विदेश में भी बहुत सादा जीवन बिताया था और कभी मांस-मछली-मद्य का व्यवहार नहीं किया था। उनका और सुधारकों का विचार था कि इस तरह से ही उस समय समुद्र-यात्रा का रास्ता खुल सकेगा। मिस्टर सिन्हा के लौटने के बाद दस बरसों तक किसी की हिम्मत उस बन्धन को तोड़कर विदेश जाने की नहीं हुई थी। इसलिए अब इस शर्त को मानकर भी रास्ता खोलना चाहिए।

बा व्रजकिशोर ने कुछ लोगों को तैयार किया था कि डाक्टर गणेश के घर चलकर भोज में शरीक होना चाहिए। बाबूजी से उन्होंने बहुत आग्रह किया कि वह

भी चलें। बाबूजी ने खुद तो जाना मंजूर नहीं किया, मगर यह कह दिया कि वह हम दोनों भाइयों को भेज दें।

डाक्टर गणेश लौटे। बलिया में भोज का दिन मुकर्रर हुआ। बाहर से बाबू व्रजकिशोर की प्रेरणा से हम २०-२१ आदमी छपरे से बलिया गये। इनमें दो भाई हम और हमारे दोनों साथी जमुना भाई और गंगा भाई भी थे। गाँव के पटवारी भी थे। डाक्टर गणेश से भेंट हुई। बलिया के कायस्थों में बड़ी हलचल थी।

मैं लिख चुका हूँ कि हम लोगों का घर पहले बलिया में ही था। वहाँ हमारे गोतिया लोग रहते थे। हमारे ब्राह्मण-पुरोहित आज तक बलिया से ही शादी और श्राद्ध में आया करते हैं। मेरी ससुराल के लोग भी बलिया में रहते थे। उस घर के कई आदमी वहाँ वकालत करते थे। कुछ लोग दूसरे कामों में भी थे। हम लोगों के पहुँचने की खबर वहाँ फैल गयी। इसको छिपाना भी तो मंजूर नहीं था। हमारे एक गोतिया भी वकील थे। वह रिश्ते में हम लोगों के भाई लगते थे। उन्होंने हम लोगों से भेंट की और हम लोगों का उस भोज में शरीक होना पसन्द नहीं किया। उनका खयाल था कि हम लोग बाबूजी की आज्ञा के बिना ही चुपचाप चले आये हैं। जब हम लोगों ने विश्वास दिलाया कि ऐसी बात नहीं है, तो उनको और भी दुख हुआ। उन्होंने कहा कि चचा साहब को हमसे पूछ लेना चाहिए था, जब हम सब यहीं रहते हैं।

इसी प्रकार मेरी ससुराल के लोगों को भी यह बात बहुत पसन्द नहीं थी; पर उनकी ओर से कुछ अधिक जोर नहीं डाला गया। रात को भोजन हुआ। भात खाकर हम सब अपने स्थान के लिए वापस हुए। डाक्टर गणेश पहले इलाहाबाद में और फिर हिन्दू-युनिवर्सिटी में और कलकत्ता-युनिवर्सिटी में गणित-विभाग के सर्वोच्च स्थान पर रहकर कई बरसों के बाद गुजर गये। हम लोगों से उस पहली मुलाकात को वह कभी भूले नहीं और मुझसे बहुत प्रेम रखते रहे।

बलिया से लौटकर मैं अपनी दूसरी बहन के घर, जो छपरे से कुछ दूर पर ब्याही थी, बाहर ही बाहर चला गया। वहाँ जाने का कोई खास विचार नहीं था। पहले से ही उसकी इच्छा थी कि मैं दो-चार दिन उसके साथ रहूँ। छपरे से ही वहाँ जाने में सुविधा थी। इसलिए घर वापस न जाकर वहाँ चला गया।

जिन लोगों ने भोज में शिरकत की थी उनके नाम अखबारों में छपे और छपरे में बड़ा हल्ला हुआ। वहाँ तैयारियाँ होने लगीं कि वे लोग जातिच्युत कर दिये जायँ। काशी से महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री की, समुद्र-यात्रा के विरुद्ध, व्यवस्था मँगायी गयी। जिला-भर के कायस्थों की एक बड़ी सभा करने का आयोजन होने लगा। मुझे इसकी कुछ भी खबर न थी। मैं तो बहन के गाँव में था। इसी बीच में परीक्षा-फल भी निकल गया। बाबू व्रजकिशोर ने गजट देखकर जीरादेई खबर दे दी। भाई को बात मालूम हो गयी। बाबूजी को बड़ी खुशी हुई। उन्होंने तुरन्त सत्य-नारायण की कथा सुनी; ब्राह्मण-भोजन और बिरादरी-भोज का प्रबन्ध कराया। यह सब मेरी गैरहाजिरी में ही हुआ।

मैं अपने बहनोई के घर से जीरादेई के लिए रवाना होकर छपरे पहुँचा। बहनोई भी साथ छपरे आये। छपरे में जो आन्दोलन उ खड़ा हुआ था, उसकी उनको खबर ही नहीं थी। हम लोग रात को छपरे पहुँचे और वहाँ पहुँचकर सो गये। इसलिए, उस रात को कुछ पता न मिला। मेरे परीक्षा-फल की भी खबर न मिली। खूब सवेरे रेल जाती थी, जिससे हम जीरादेई जा सकते थे। सवेरे ही मैं स्टेशन पहुँच गया। बाबू ब्रजकिशोर का डेरा स्टेशन के नजदीक ही था। मैंने नौकर को भेजा कि जाकर पूछ आओ—परीक्षा-फल अभी निकला कि नहीं। उन्होंने खबर दिलवाई कि परीक्षा-फल निकल चुका है और मुझको उनसे मुलाकात किये बिना उस गाड़ी से नहीं जाना चाहिए। मैं उनके डेरे पर गया, क्योंकि परीक्षा-फल जानने की उत्सुकता थी। वहाँ उन्होंने रोक लिया। कचहरी सवेरे सात बजे से हुआ करती थी। उनके साथ मैं भी कचहरी गया। इसकी खबर मेरे बहनोई को नहीं मिली कि मैं वहाँ रुक गया हूँ। मैं जब बाबू ब्रजकिशोर के साथ बार-लाइब्रेरी में पहुँचा तो बहुतेरे वकीलों ने मुझे घेर लिया। कुछ तो परीक्षाफल से खुश होकर बधाई देने लगे और कुछ डाक्टर गणेश के भोज का हाल पूछने ल`। वे यह जानना चाहते थे कि भोज में कौन-कौन शरीक थे और मैं कहाँ से आया हूँ। मैंने सब बातें कह दीं। यह भी कह दिया कि कई दिनों से मैं 'पैगा' में अपने बहनोई के साथ था और वहाँ से ही लौटा हूँ। मुझे इसका पता नहीं था कि मैंने जो इस तरह सच्ची बातें बता दीं उसका कुछ बुरा परिणाम होनेवाला है।

बात यह थी कि कुछ लोगों ने, जो भोज में शरीक थे, आन्दोलन को देख सहमकर, अपने घरवालों के जोर देने से, शरीक होना इनकार कर दिया था और अखबार में छपी खबर को गलत बता दिया था। मेरे बहनोई से भी, ज्यों ही वह बार-लाइब्रेरी में पहुँचे, सवाल हुए। उनको यह मालूम नहीं था कि मैं डाक्टर गणेश के भोज में शरीक हुआ था। उनको यह भी नहीं मालूम था कि मैं जीरादेई न जाकर छपरे में रुक गया था और उसी जगह बार-लाइब्रेरी में कहीं औरों से बातें कर रहा था। बड़े प्रतिष्ठित वकीलों की बात सुनकर वह भी कुछ सहम गये। उन्होंने मेरी ओर से इनकार कर दिया और कह दिया कि मैं अगर भोज में गया होता तो उनको जरूर मालूम हो गया होता। तब लोगों ने उनसे कहा कि मैं वहीं हूँ और मैंने ही भोज का हाल खुद कहा है। अब नौबत आई कि मुकाबला कराया जाय। पर मैं वहाँ से बाबू ब्रजकिशोर के डेरे पर चला गया और ट्रेन से जीरादेई चला आया। जब मैं गाँव पहुँचा तो मैंने सुना, एक दिन पहले पूजा वगैरह होकर ब्राह्मण-भोजन और बिरादरी का भोज भी हो चुका है, जिसमें केवल गाँव के ही नहीं, बल्कि आसपास के गाँवों के कायस्थ भी—जो बराबर बिरादरी-भोज में शरीक हुआ करते थे—शरीक हो चुके थे। गाँव में तो कोई दिक्कत थी ही नहीं, क्योंकि हम तीन ही घर कायस्थ थे, और तीनों घरों के लोगों ने बलिया के भोज में शिरकत की थी। मैंने छपरे का हाल भाई से कहा। बाबू ब्रजकिशोर का सन्देश भी कहा कि छपरे में होनेवाली सभा में अपने मतवाले लोगों

को पहुँचाना चाहिए और उस सभा में समुद्र-यात्रा के पक्ष में प्रस्ताव भी पास कराना चाहिए।

छपरे में सभा की बड़ी तैयारियाँ हुईं। सारे जिले के कायस्थ बुलाये गये। काशी से महामहोपाध्याय शिवकुमार शास्त्री व्यवस्था देने आये। साथ ही, इस बात की कोशिश होने लगी कि उन लोगों से, जिन्होंने भोज में खाया था, या तो इनकार कराया जाय या प्रायश्चित्त। हम लोग सभा के दिन छपरे नहीं गये। पर सुना कि बहुत कायस्थ जमा हुए। जिला दो भागों में बँट गया था। पूरब छपरा दोनों विरोधी बड़े वकील साहबों के साथ में था, और पच्छिम छपरा का—जहाँ के हम लोग रहनेवाले थे—यह दावा था कि हम पक्ष में हैं। बात यह है कि अधिक बिरादरी के लोग विरोधी थे। कुछ थोड़े लोग जो पक्ष में थे, अधिकांश पच्छिम छपरा के थे, जिनमें हमारा घर प्रतिष्ठित समझा जाता था। छपरे में, पंचमंदिर में, जो एक कायस्थ का ही बनवाया हुआ सबसे बड़ा और बहुत सुन्दर मन्दिर उस शहर में है, सभा हुई। वयोवृद्ध और प्रसिद्ध वकील साहब सभापति होनेवाले थे। जब लोग पहुँचे तो हमारे दल के एक आदमी ने उठकर प्रस्ताव कर दिया कि सभापति बाबू सरस्वतीप्रसाद वकील बनाये जायँ। यह सज्जन भोज में शरीक हो चुके थे, पश्चिम छपरा के रहनेवाले थे; पर गोरखपुर में वकालत किया करते थे। कुछ लोगों ने प्रस्ताव का समर्थन कर दिया। जिन्होंने सभा बुलायी थी वे कुछ भौंचक-से रह गये। उन्होंने तो बड़े वकील साहब का नाम सभापति होने के लिए नोटिस में छाप दिया था। सुधारक दल के जो लोग मौजूद थे, उन्होंने शोर किया कि बाबू सरस्वतीप्रसाद सभापति बनाये जायँ। दूसरे लोगों को इस विरोध की आशा नहीं थी। वह समझते थे कि सब लोग उनके ही साथ हैं। वास्तविक अधिकांश क्या, बहुमत जोरों से उस सभा में भी उनके साथ था। पर वह बहुत-कुछ डर गये। इधर से जोर होने लगा कि सभापति के चुनाव के बारे में मत लिया जाय। इससे वह और भी घबराये। उन्होंने मत लेने से इनकार कर दिया और कहा कि जिनका नाम प्रकाशित कर दिया गया है वही सभापति होंगे। वह सभापति के स्थान पर बैठने के लिए चले। इधर से बाबू सरस्वतीप्रसाद भी चले और उन्होंने कहा—वकील साहब, सभा ने तो मेरा नाम सभापति के लिए प्रस्तावित किया है, मैं सभापति हूँ, आप कैसे वहाँ बैठ सकते हैं। इससे और घबराहट फैली। उन्होंने कह दिया कि ये लोग सभा नहीं होने देंगे, इसलिए सभा बर्खास्त की जाती है।

सुधारक दल तुरन्त उठ खड़ा हुआ और खुशियाँ मनाता और यह घोषित करता हुआ कि उसकी जीत हो गयी, वहाँ से चल पड़ा। सुधारकों को तो यही कराना था, क्योंकि वे जानते थे कि सचमुच अगर मत लिया जाता तो वे जरूर हार जाते। उस दिन की सभा बर्खास्त हुई। दूसरे दिन फिर सभा की गयी। वहाँ प्रस्ताव पास किया गया कि जितने लोगों ने भोज खाया था वे जातिच्युत किये गये। उनके साथ खान-पान, शादी-विवाह, सब बन्द कर दिया गया। उनके नाम भी प्रस्ताव में दे दिये गये। उस प्रस्ताव को छपवाकर जिला-भर में बाँटने का प्रबन्ध किया गया। सुधारकों की

ओर से कहा गया कि यह सभा तो पूरी बिरादरी की थी नहीं और हमारे (सुधारकों के) चले जाने के बाद दूसरे दिन की गयी थी; इसलिए इस प्रस्ताव को हम नहीं मानते और जिला-भर की बिरादरी उसे स्वीकार नहीं करती। अगर सब लोग सचमुच इस प्रस्ताव को मानते हैं तो फिर सभा करके जिला-भर की बिरादरी बुलायी जाय और प्रस्ताव पास कराया जाय। इस प्रकार की गड़बड़ी मच गयी और अखबारों में दोनों पक्षों के बयान भी शायद निकले। फलतः जाति-बहिष्कार बहुत बलवान न हो सका।

जहाँ तक हम लोगों का सरोकार था, जाति-बहिष्कार का कोई प्रश्न उठा ही नहीं; क्योंकि हमारे आस-पास के सब लोग हमारे साथ खाते-पीते रहे और ब्राह्मण-पुरोहित ने कभी कोई दिक्कत न होने दी। हाँ, बाबूजी को एक बार कुछ दुख हुआ। मैं कह चुका हूँ कि हमारे बहनोई छपरे के नजदीक के रहनेवाले थे। उनके यहाँ इस बहिष्कार-आन्दोलन का कुछ जोर रहा। छपरे के लोगों ने उन पर बहुत जोर डालकर एक मरतबा एक बहुत बुरा पत्र बाबूजी के पास उनसे लिखवाया। एक आदमी पत्र लेकर आया, हम लोगों से मुलाकात हुई। उसने कहा कि बाबूजी को ही पत्र देने का हुक्म है, हम लोगों को नहीं। हम लोग समझ गये कि उस पत्र में कुछ इसी सम्बन्ध की बातें होंगी। बाबूजी ने पत्र पढ़ा, और कुछ सहम गये। हमारे वही एक बहनोई जीते थे। दूसरी बहन तो बहुत पहले ही विधवा हो चुकी थीं। इनके भी कोई सन्तान नहीं थी, अपने घर में अकेला थे। न कोई दूसरा भाई, न सगा-सम्बन्धी। जो कुछ सम्बन्ध था, हम लोगों के साथ ही था। इन्होंने पत्र में लिखा था कि इनका कोई दूसरा सम्बन्धी तो था ही नहीं, अब हम लोगों से भी सम्बन्ध टूट जायगा! अगर हम सम्बन्ध कायम रखना चाहते हैं तो या तो भोज में शरीक होना इनकार करके घोषणा कर दें या प्रायश्चित्त करें।

बाबूजी घबराये, पर उनका यह विचार नहीं हुआ कि हम लोगों ने कोई गलती की है। उन्होंने इतना ही कहा कि हम लोग अगर खुद भोज में शरीक होकर इस झगड़े में न पड़े होते तो वह शायद दूसरों पर असर डालकर इस काम में अधिक मदद कर सकते। माँ ने जब खबर सुनी कि ऐसा पत्र आया है तो उन्होंने साफ-साफ कहा—"इनकार की बात तो हो ही नहीं सकती है—वह तो बिलकुल झूठी बात होगी और ऐसा करने से भला नहीं होगा। हाँ, प्रायश्चित्त की बात होगी तो समय आने पर देखा जायगा।"

इसी मजमून का उत्तर भेज दिया गया। उन दिनों मेरी बहन के आने की भी कोई बात नहीं थी, इसलिए यह बात आ`े नहीं बढ़ी। बाबूजी छपरे गये। एक मुकदमा चल रहा था। उसमें हमारे वकील वही वयोवृद्ध वकील थे जो इस आन्दोलन के नेता थे। उन्होंने प्रायश्चित्त पर बहुत जोर दिया। बाबूजी ने यह कहकर बात टाल दी कि हम लोग कलकत्ते में हैं, जब आवें तो सलाह करेंगे।

उन लोगों ने इस तरह, जहाँ तक हो सका, परोक्ष रीति से जोर डाला। सार्वजनिक सभा करने का प्रयत्न भी किया। सीवान में, जो हम लोगों के नजदीक का शहर है, एक सभा की गयी जिसमें छपरे की सभा के निश्चय को घोषित करना

था। एक सज्जन छपरे से भेजे गये कि सीवान के जिन लोगों ने भोज खाया था उनके जाति-बहिष्कार का फैसला बाजाब्ता सभा में सुना दें। इस सभा में हम लोग भी गये। परन्तु सीवान की बिरादरी में बहुत लोग हम लोगों के साथ थे; क्योंकि बाबू व्रजकिशोर, बाबू सरस्वतीप्रसाद और हम लोग—सब इसी (सीवान) सब-डिवीजन के रहनेवाले थे। उस सभा में हम लोगों ने प्रस्ताव कर दिया कि छपरे की सभा को हम लोग नहीं मानते—सीवान की बिरादरी हम लोगों के साथ है।

हमारे गाँव के दो आदमी, जमुनाप्रसाद और गंगाप्रसाद जो हम लोगों के साथ बलिया भोज में शरीक हुए थे, छपरे में पढ़ते थे। वे लोग, कुछ और लड़कों के साथ, एक मकान में रहते थे। उनको कुछ कष्ट उठाना पड़ा। उस 'मेस' के लड़के उनका छुआ जल नहीं लेते थे—उनके साथ खान-पान भी नहीं करते थे। ब्राह्मण रसोई बनाकर उनके बर्त्तन में अलग से भोजन दे देता। उन्होंने इस अपमान को खुशी-खुशी बर्दाश्त किया। कुछ महीनों तक यही सिलसिला चला। पर आहिस्ता-आहिस्ता जोर कम पड़ गया। सब एक साथ हो गये। छपरे में विरोधियों के मुखिया लोगों का भी सम्बन्ध ऐसे घरों में हो गया जो समुद्रयात्रा के पक्ष में थे। उनके अपने घर के भी कुछ लोग उनके विरुद्ध हो गये। उन लोगों ने अपने जीवन में तो इस बात को निबाह दिया, पर बंधन जो टूटा वह फिर जुटा नहीं। समुद्रयात्रा के लिए कायस्थों का रास्ता खुल गया!

१२—छात्र-सम्मेलन और कांग्रेस

बी० ए० पास करके मैं कलकत्ते में एम० ए० और बी० एल० पढ़ने लगा। स्वदेशी आन्दोलन उन दिनों बहुत जोरों से चल रहा था। हम कुछ बिहारी छात्रों पर भी, जो कलकत्ते में पढ़ते थे, उसका असर पड़ता ही था। हम लोग बिहारी क्लब में अक्सर बैठते, मिलते-जुलते और विचार-विनिमय किया करते थे। हम लोगों के दिल में जोश आया कि बंगाल के विद्यार्थी इस प्रकार स्वदेशी का प्रचार कर रहे हैं, अगर हमारे बिहार में भी छात्रों का कोई संगठन होता तो उसके द्वारा स्वदेशी का प्रचार हो सकता। हमने एक गीत भी बनवाया जिसकी कुछ प्रतियाँ छपवाकर जहाँ-तहाँ बँटवायीं। इसी के बँटवाने में संगठन का अभाव और भी मालूम हुआ।

हम लोगों ने सोचा कि बिहार के छात्रों का एक सम्मेलन किया जाय। बिहारी क्लब के सामने इस प्रकार का प्रस्ताव रखा गया। उसे केवल छात्रों ने ही नहीं, बड़ों ने भी बहुत उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। मैं पटने भेजा गया। वहाँ पहले छात्रों से और फिर बड़े लोगों से मैं मिला। उनमें प्रमुख थे मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा और (स्वर्गीय) बाबू महेशनारायण, जो उन दिनों 'बिहार-टाइम्स' का सम्पादन करते थे। इन सब लोगों ने सहानुभूति दिखलाई। निश्चय हुआ कि पटने में ही पहला सम्मेलन किया जाय और नामी बैरिस्टर मिस्टर शर्फुद्दीन सभापति बनाये जायँ। पटने के छात्रों ने एक स्वागत-समिति बनाकर सब प्रबन्ध भी किया।

पहला सम्मेलन पटना-कालेज के बड़े हॉल में हुआ। बिहार के सभी कालेजों और अनेक स्कूलों के छात्र उस सम्मेलन में बड़े उत्साह के साथ शरीक हुए। सम्मेलन के उद्देश्य बतलाने का भार मेरे ऊपर दिया गया। मैंने एक लम्बा भाषण अँगरेजी में लिख कर तैयार किया था, उसे पढ़ सुनाया। औरों के भाषण भी अक्सर अँगरेजी में ही हुए। सम्मेलन में निश्चय हुआ कि पहले उन शहरों में, जहाँ कालेज है और फिर जहाँ-जहाँ स्कूल हैं, छात्र-समितियाँ कायम की जायँ, जो सम्मेलन से सम्बद्ध रहें। एक बड़ी नियमावली तैयार की गयी। उसके अनुसार सारे बिहार के छात्रों की प्रतिनिधि-स्वरूप एक स्थायी समिति पटने में कायम हुई। इसमें सभी जगहों के छात्रों के प्रतिनिधि लिये गये। यही सब छात्र-समितियों पर नियंत्रण और सम्मेलन का काम साल-भर जारी रखती थी।

मुझे याद है कि नियम बनने के समय दो प्रश्नों पर आपस में बहुत बहस हुई। एक प्रश्न था कि यह सम्मेलन राजनीति में भाग लेगा या नहीं। इसपर छात्रों में ही बहुत मतभेद था। बड़े लोगों में तो सभी इसके विरोधी थे। अन्त में यह तय हो गया कि सम्मेलन किसी प्रकार के राजनीतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेगा, चाहे वह राष्ट्र-वादी हो अथवा राजभक्तिप्रचारक या और किसी प्रकार का (Nationalist,, Loyalist or any other)। हमने यह निश्चय करके, अब मालूम होता है, बुद्धिमानी दिखलाई। बिहार कभी बंगाल का ही हिस्सा था। सूबा अलग नहीं हुआ था। बिहार शिक्षा में बहुत पिछड़ा हुआ था। सार्वजनिक जीवन तो प्रायः नहीं के बराबर था। विशेषकर छात्र तो बाहर का कुछ जानते ही नहीं थे। कांग्रेस के पक्षपाती थोड़े ही लोग थे। अभी तक बिहार का कोई राजनीतिक संगठन भी अलग नहीं था, न बिहार की अलग कांग्रेस-कमिटी थी और न बिहार-राजनीतिक-सम्मेलन (Bihar Provincial Congress) की स्थापना हुई थी। यह पहला ही संगठन था जिसमें सारे बिहार के लोग, चाहे वे नववयस्क छात्र ही क्यों न हों, अलग एकत्र होकर अपने प्रश्नों पर विचार करने बैठे थे। ऐसी अवस्था में अगर हम सँभलकर न चलते तो शायद यह संगठन होने ही नहीं पाता।

उस समय तक भारतवर्ष में कहीं भी दूसरा छात्र-सम्मेलन नहीं हुआ था। एक प्रकार से हम लोगों को एक नया संगठन, जिसका कोई नमूना सामने नहीं था, बनाना था। और, दूसरा प्रश्न, जिसपर मतभेद था, यह था कि इस सम्मेलन में केवल बिहारी छात्रों का ही संगठन रहे या इसमें बंगाली छात्र भी शामिल किये जायँ। इस सम्बन्ध में भी बहुत मतभेद रहा। मुझे याद है कि कई बरसों तक वार्षिक सम्मेलन में प्रस्ताव आता रहा कि बिहारी छात्र-सम्मेलन में बंगाली भी लिये जायँ, पर वह कभी स्वीकार नहीं हुआ। सम्मेलन का नाम तो शुरू से ही था बिहारी-छात्र-सम्मेलन। कई बरसों के बाद नियमावली में जोड़ दिया गया कि 'बिहारी छात्र' से बिहार में शिक्षा पानेवाले सभी छात्र समझे जायँ। हम जो कलकत्ते के विद्यार्थी थे, शुरू से ही इसके पक्ष में थे; पर दूसरे इसका विरोध करते थे।

था। एक सज्जन छपरे से भेजे गये कि सीवान के जिन लोगों ने भोज खाया था उनके जाति-बहिष्कार का फैसला बाजाब्ता सभा में सुना दें। इस सभा में हम लोग भी गये। परन्तु सीवान की बिरादरी में बहुत लोग हम लोगों के साथ थे; क्योंकि बाबू व्रजकिशोर, बाबू सरस्वतीप्रसाद और हम लोग—सब इसी (सीवान) सब-डिवीजन के रहनेवाले थे। उस सभा में हम लोगों ने प्रस्ताव कर दिया कि छपरे की सभा को हम लोग नहीं मानते—सीवान की बिरादरी हम लोगों के साथ है।

हमारे गाँव के दो आदमी, जमुनाप्रसाद और गंगाप्रसाद जो हम लोगों के साथ बलिया भोज में शरीक हुए थे, छपरे में पढ़ते थे। वे लोग, कुछ और लड़कों के साथ, एक मकान में रहते थे। उनको कुछ कष्ट उठाना पड़ा। उस 'मेस' के लड़के उनका छुआ जल नहीं लेते थे—उनके साथ खान-पान भी नहीं करते थे। ब्राह्मण रसोई बनाकर उनके बर्त्तन में अलग से भोजन दे देता। उन्होंने इस अपमान को खुशी-खुशी बर्दाश्त किया। कुछ महीनों तक यही सिलसिला चला। पर आहिस्ता-आहिस्ता जोर कम पड़ गया। सब एक साथ हो गये। छपरे में विरोधियों के मुखिया लोगों का भी सम्बन्ध ऐसे घरों में हो गया जो समुद्रयात्रा के पक्ष में थे। उनके अपने घर के भी कुछ लोग उनके विरुद्ध हो गये। उन लोगों ने अपने जीवन में तो इस बात को निबाह दिया, पर बंधन जो टूटा वह फिर जुटा नहीं। समुद्रयात्रा के लिए कायस्थों का रास्ता खुल गया!

१२—छात्र-सम्मेलन और कांग्रेस

बी० ए० पास करके मैं कलकत्ते में एम० ए० और बी० एल० पढ़ने लगा। स्वदेशी आन्दोलन उन दिनों बहुत जोरों से चल रहा था। हम कुछ बिहारी छात्रों पर भी, जो कलकत्ते में पढ़ते थे, उसका असर पड़ता ही था। हम लोग बिहारी क्लब में अक्सर बैठते, मिलते-जुलते और विचार-विनिमय किया करते थे। हम लोगों के दिल में जोश आया कि बंगाल के विद्यार्थी इस प्रकार स्वदेशी का प्रचार कर रहे हैं, अगर हमारे बिहार में भी छात्रों का कोई संगठन होता तो उसके द्वारा स्वदेशी का प्रचार हो सकता। हमने एक गीत भी बनवाया जिसकी कुछ प्रतियाँ छपवाकर जहाँ-तहाँ बँटवायीं। इसी के बँटवाने में संगठन का अभाव और भी मालूम हुआ।

हम लोगों ने सोचा कि बिहार के छात्रों का एक सम्मेलन किया जाय। बिहारी क्लब के सामने इस प्रकार का प्रस्ताव रखा गया। उसे केवल छात्रों ने ही नहीं, बड़ों ने भी बहुत उत्साहपूर्वक स्वीकार किया। मैं पटने भेजा गया। वहाँ पहले छात्रों से और फिर बड़े लोगों से मैं मिला। उनमें प्रमुख थे मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा और (स्वर्गीय) बाबू महेशनारायण, जो उन दिनों 'बिहार-टाइम्स' का सम्पादन करते थे। इन सब लोगों ने सहानुभूति दिखलाई। निश्चय हुआ कि पटने में ही पहला सम्मेलन किया जाय और नामी बैरिस्टर मिस्टर शर्फुद्दीन सभापति बनाये जायँ। पटने के छात्रों ने एक स्वागत-समिति बनाकर सब प्रबन्ध भी किया।

पहला सम्मेलन पटना-कालेज के बड़े हॉल में हुआ। बिहार के सभी कालेजों और अनेक स्कूलों के छात्र उस सम्मेलन में बड़े उत्साह के साथ शरीक हुए। सम्मेलन के उद्देश्य बतलाने का भार मेरे ऊपर दिया गया। मैंने एक लम्बा भाषण अँगरेजी में लिख कर तैयार किया था, उसे पढ़ सुनाया। औरों के भाषण भी अक्सर अँगरेजी में ही हुए। सम्मेलन में निश्चय हुआ कि पहले उन शहरों में, जहाँ कालेज है और फिर जहाँ-जहाँ स्कूल हैं, छात्र-समितियाँ कायम की जायँ, जो सम्मेलन से सम्बद्ध रहें। एक बड़ी नियमावली तैयार की गयी। उसके अनुसार सारे बिहार के छात्रों की प्रतिनिधि-स्वरूप एक स्थायी समिति पटने में कायम हुई। इसमें सभी जगहों के छात्रों के प्रतिनिधि लिये गये। यही सब छात्र-समितियों पर नियंत्रण और सम्मेलन का काम साल-भर जारी रखती थी।

मुझे याद है कि नियम बनने के समय दो प्रश्नों पर आपस में बहुत बहस हुई। एक प्रश्न था कि यह सम्मेलन राजनीति में भाग लेगा या नहीं। इसपर छात्रों में ही बहुत मतभेद था। बड़े लोगों में तो सभी इसके विरोधी थे। अन्त में यह तय हो गया कि सम्मेलन किसी प्रकार के राजनीतिक आन्दोलन में भाग नहीं लेगा, चाहे वह राष्ट्र-वादी हो अथवा राजभक्तिप्रचारक या और किसी प्रकार का (Nationalist,, Loyalist or any other)। हमने यह निश्चय करके, अब मालूम होता है, बुद्धिमानी दिखलाई। बिहार कभी बंगाल का ही हिस्सा था। सूबा अलग नहीं हुआ था। बिहार शिक्षा में बहुत पिछड़ा हुआ था। सार्वजनिक जीवन तो प्रायः नहीं के बराबर था। विशेषकर छात्र तो बाहर का कुछ जानते ही नहीं थे। कांग्रेस के पक्षपाती थोड़े ही लोग थे। अभी तक बिहार का कोई राजनीतिक संगठन भी अलग नहीं था, न बिहार की अलग कांग्रेस-कमिटी थी और न बिहार-राजनीतिक-सम्मेलन (Bihar Provincial Congress) की स्थापना हुई थी। यह पहला ही संगठन था जिसमें सारे बिहार के लोग, चाहे वे नववयस्क छात्र ही क्यों न हों, अलग एकत्र होकर अपने प्रश्नों पर विचार करने बैठे थे। ऐसी अवस्था में अगर हम सँभलकर न चलते तो शायद यह संगठन होने ही नहीं पाता।

उस समय तक भारतवर्ष में कहीं भी दूसरा छात्र-सम्मेलन नहीं हुआ था। एक प्रकार से हम लोगों को एक नया संगठन, जिसका कोई नमूना सामने नहीं था, बनाना था। और, दूसरा प्रश्न, जिसपर मतभेद था, यह था कि इस सम्मेलन में केवल बिहारी छात्रों का ही संगठन रहे या इसमें बंगाली छात्र भी शामिल किये जायँ। इस सम्बन्ध में भी बहुत मतभेद रहा। मुझे याद है कि कई बरसों तक वार्षिक सम्मेलन में प्रस्ताव आता रहा कि बिहारी छात्र-सम्मेलन में बंगाली भी लिये जायँ, पर वह कभी स्वीकार नहीं हुआ। सम्मेलन का नाम तो शुरू से ही था बिहारी-छात्र-सम्मेलन। कई बरसों के बाद नियमावली में जोड़ दिया गया कि 'बिहारी छात्र' से बिहार में शिक्षा पानेवाले सभी छात्र समझे जायँ। हम जो कलकत्ते के विद्यार्थी थे, शुरू से ही इसके पक्ष में थे; पर दूसरे इसका विरोध करते थे।

छात्रों का संगठन बहुत अच्छा हो गया। प्राय: सभी शहरों में इसकी शाखाएँ हो गयीं। कलकत्ते में तो बिहारी-क्लब इसकी शाखा बन ही गया, हिन्दू-युनिवर्सिटी की स्थापना के बाद वहाँ के बिहारी छात्रों ने भी एक शाखा बना ली। सभी शाखाओं में प्राय: प्रति सप्ताह सभा होती, जिसमें छात्र विविध विषयों पर लेख पढ़ते, भाषण करते और खेल-कूद में भाग लेते। इसके लिए जहाँ-तहाँ क्लब कायम किये गये। सालाना जल्से में निबन्धों और भाषणों की प्रतियोगिता होती। सबसे अच्छे लेखों, भाषणों और खेल-कूद के लिए इनाम दिये जाते। कालेज के लड़कों की अलग प्रतियोगिता होती, स्कूल के छात्रों की और लड़कियों की अलग। लड़कियों को लेख और भाषण के अलावा सीना-पिरोना इत्यादि में प्रोत्साहन देने के लिए अलग इनाम दिये जाते। इस प्रकार साल-भर काम चलता। सम्मेलन, दसहरे की हरेक छुट्टी में, कहीं न कहीं बिहार के किसी शहर में होता। इस सालाना सम्मेलन के सभापति-पद को बिहार और बाहर के बहुत बड़े-बड़े लोगों ने सुशोभित किया है। जैसे बिहार के मिस्टर शर्फुद्दीन, मिस्टर हसन इमाम, डाक्टर सच्चिदानन्द सिन्हा, बाबू परमेश्वर लाल, बाबू दीपनारायण सिंह, बाबू व्रजकिशोर प्रसाद प्रभृति। बाहर के लोगों में श्रीमती एनी बेसेण्ट, श्रीमती सरोजिनी नायडू, महात्मा गांधी, मिस्टर एण्डरूज प्रभृति।

यह सम्मेलन १९०६ में कायम हुआ और प्रति वर्ष अपना सालाना जलसा १९२० तक, जब असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ, करता रहा। उसके बाद यह कुछ शिथिल पड़ गया; क्योंकि इसके सभी उत्साही काम करनेवाले उस महान आन्दोलन में लग गये। फिर भी इसे पुनर्जीवित करने के प्रयत्न किये गये हैं। पर इसमें वह पुराना जीवन और तेज फिर नहीं आ सका। अब जो संगठन है वह एक प्रकार से नया संगठन है, जिसके कार्यकर्त्ता शायद संगठन का हाल जानते भी न होंगे। जितने दिनों तक यह काम करता रहा, बड़े उत्साह और लगन के साथ सारे सूबे के छात्र इसमें शरीक होते रहे। इसी के द्वारा छात्रों ने संगठन को क्रियात्मक रूप से सीखा, बहुतों ने भाषण करना सीखा। उन पन्द्रह बरसों में जितने भी जानदार और उत्साही युवक बिहार में हुए, सब इससे ही अनुप्राणित हुए। सबने अपने निजी स्वार्थ के अलावा देश-विदेश की कुछ बातें सीखीं और उनके लिए कुछ थोड़ी-बहुत त्याग की प्रवृत्ति भी पाई। जो कुछ उन्होंने सीखा या पाया उससे देश को लाभ भी पहुँचा। जब महात्मा गांधी बिहार में आये, इस छात्र-सम्मेलन के भूतपूर्व कार्यकर्त्ता ही उनके साथ हुए और असहयोग-आन्दोलन में जितने आगे बढ़े, इसी के उत्पादित फल थे। आज प्राय: वे ही लोग सूबे के नेतृत्व का भार वहन कर रहे हैं, जिन्होंने छात्र-सम्मेलन में ही दीक्षा पाई थी।

असहयोग-आन्दोलन ने छात्रों से बहुत बड़े त्याग की माँग की। छात्र-सम्मेलन इसके लिए तैयार नहीं था। प्रस्ताव तो पास हो गया, पर थोड़े ही छात्र अन्त तक उस आन्दोलन में ठहर सके। जो ठहरे वे अधिकतर सम्मेलन के ही कार्यकर्त्ता थे। दूसरे जो वकील-वर्ग में से आये उनमें भी अधिक सम्मेलन के ही कार्यकर्त्ताओं में से थे। १९२० तक अपना काम इस प्रकार से पूरा करके सम्मेलन मरता-जीता जीवन बिताने



१९०६ में देशरत्न



लगा। इसने एक प्रकार से अपना काम पूरा कर दिया था। नई जागृति, नया जीवन सारे सूबे में पैदा कर दिया था और भविष्य के लिए खेत तैयार करके बीज भी बो दिया था, जिसका फल असहयोग-आन्दोलन को मिला और आज तक सूबे को मिल रहा है।

१९०६ के दिसम्बर में कांग्रेस कलकत्ते में होनेवाली थी। मैं कांग्रेस की खबर तो कुछ पहले से ही पढ़ा करता था, पर अभी तक कांग्रेस देखने का सौभाग्य और सुअवसर मुझे नहीं मिला था। जब १९०५ के दिसम्बर में कांग्रेस बनारस में हुई, मैं बी० ए० परीक्षा के फेर में था और नजदीक होने पर भी वहाँ नहीं जा सका था। १९०६ की कांग्रेस में पहले-पहल स्वयंसेवक (वालंटियर) की हैसियत से मैं शरीक हुआ। कांग्रेस का अधिवेशन बड़े जोश का हुआ। गरमदल और नरमदल का आविर्भाव हो चुका था। गरमदल के नेता समझे जाते थे लोकमान्य तिलक, लाला लाजपतराय, विपिनचन्द्र पाल, अरविन्द घोष प्रभृति। नरमदल के नेता थे सर फिरोजशाह मेहता, गोखले प्रभृति। जहाँ तक मैं समझ सकता था, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी और पंडित मदनमोहन मालवीय बीच का स्थान रखते थे। आपस के झगड़े को मिटाने या कम करने के लिए दादाभाई नौरोजी विलायत से बुलाकर सभापति बनाये गये थे। सौभाग्य से मुझे कांग्रेस-पंडाल की ड्यूटी मिली थी। सलिए मैं विषयनिर्धारिणी समिति में सब बहसें सुन सका था। कांग्रेस-पंडाल में अधिवेशन के समय पहले दिन मैं कुछ दूर पर रखा गया था, जिससे सभापति का भाषण नहीं सुन सका। मैंने देखा कि अधिकांश स्वयंसेवक अपने स्थान को छोड़कर भीतर चले गये। मैंने ऐसा करना उचित नहीं समझा और अपने नियुक्त स्थान पर ही डटा रहा। सरोजिनी देवी, मालवीय जी और मिस्टर जिन्ना के भाषण पहले-पहल इसी कांग्रेस में सुने। कांग्रेस के साथ प्रदर्शनी भी बहुत जबरदस्त हुई थी। अधिवेशन देख करके कांग्रेस के बारे में श्रद्धा अधिक बढ़ गयी, पर अभी कई बरसों तक मुझे इसमें बाजाब्ता शरीक होने का अवसर नहीं मिला। यह अवसर मिला पहले-पहल १९११ में, जब कांग्रेस फिर कलकत्ते में हुई, उसी समय से आज तक मैं अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी का मेम्बर रहा हूँ और थोड़ा-बहुत कांग्रेस का काम करता आया हूँ।

उन दिनों कांग्रेस का संगठन कुछ ढीला ही था। बिहार में तो बहुत थोड़े ही लोग इससे सम्बन्ध रखते थे। वह भी अधिकतर वकील लोग ही हुआ करते थे। एक प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी १९०७ या १९०८ में ही अलग बन गयी थी, जो बंगाल की प्रान्तीय कमिटी से जुदा थी। सूबा तो १९१२ में अलग हुआ। पर यह प्रान्तीय कमिटी कुछ बहुत नियमित रूप से नहीं बनती थी। जो प्रतिनिधि होते थे वे भी कोई नियमित रूप से चुने नहीं जाते थे। एक सभा होती थी जिसमें कुछ लोग चुन लिये जाते थे। अधिवेशन में पहुँच जाते तो ठीक, अगर नहीं पहुँच पाते, तो जो लोग पहुँच जाते उनको ही मंत्री प्रतिनिधि मान लेते और उनके नाम से प्रमाणपत्र दे देते! इस तरह से बिहार कभी खाली नहीं जाता। हर साल कुछ लोग अधिवेशन में शरीक जरूर हो जाते। जो

प्रतिनिधि जाते वही उन दिनों के नियमानुकूल अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी के मेम्बर चुन लेते। मैं १९११ में अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी का मेम्बर इसी तरह से चुना गया; कांग्रेस की कोई खास सेवा नहीं की थी। उसी साल मैं पहले-पहल प्रतिनिधि बना था। पर छात्र-सम्मेलन के कारण और युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में अच्छा फल होने के कारण बिहार के सभी लोग मुझे जानते थे। सबने एक छलाँग में ही मुझे अखिल भारतीय कांग्रेस कमिटी में पहुँचा दिया। यह सब बातें १९२० के बाद बहुत कुछ बदल गयीं। पर इसका जिक्र आगे आवेगा।

१३—विदेश-यात्रा का निष्फल प्रयत्न

डॉन सोसाइटी और स्वदेशी आन्दोलन का असर मेरे ऊपर यह पड़ा कि मेरे मन में आया, देश के लिए किसी तरह कुछ करना चाहिए। भाई के साथ का भी असर कुछ वैसा ही पड़ता रहा था। पर अभी तक यह स्पष्ट नहीं हुआ था कि यह इच्छा किस प्रकार पूरी होगी और न यही साफ सूझता था कि कौन-सी सेवा की जाय और इसके लिए क्या करना चाहिए। यह एक इच्छा मात्र थी जो कभी-कभी उठा करती और फिर इधर-उधर की झंझटों में विलीन हो जाती। छात्र-सम्मेलन का संगठन एक रास्ता मिला था, पर वह भी स्थायी होगा या उसमें भी परिवर्तन आ जायगा, कुछ समझता न था और न कह सकता था। हाँ, एक बात जी में आ गयी थी, वह यह थी—सरकारी नौकरी नहीं करनी चाहिए। इसलिए बी० ए० पास करने के बाद डिपटी-मजिस्ट्रेटी के लिए दर्खास्त नहीं दी। भाई भी नहीं चाहते थे कि यह मैं करूँ। बाबूजी की इच्छा थी, कि मैं वकालत करूँ। भाई दुर्भाग्यवश एम० ए० नहीं पास कर सके। घर से अधिक खर्च लाकर कलकत्ते में या और कहीं अब रहना नहीं चाहते थे। वह डुमराँव-राज-स्कूल में शिक्षक का काम करने लगे। मैं डिप्टीगरी का खयाल छोड़कर कलकत्ते में एम० ए० बी० एल० पढ़ने लगा था।

छात्र-सम्मेलन हो जाने के बाद मुझ पर यह एक धुन सवार हो गयी। यह नहीं कह सकता कि यह विचार कैसे उठा और किसके प्रोत्साहन से; पर यह खयाल हुआ कि अब किसी प्रकार विलायत जाकर आई० सी० एस० की परीक्षा पास करनी चाहिए। सरकारी नौकरी की इच्छा नहीं थी, तो भी न मालूम मन को कैसे सन्तोष हो गया कि यह करने योग्य है। इसमें भाई ने भी प्रोत्साहन दिया। घर से इतने रुपये मिल नहीं सकते थे कि विलायत का खर्च जुट सके, इसलिए कोई दूसरा ही प्रबन्ध होना चाहिए। मिस्टर सच्चिदानन्द सिन्हा ने जब यह सुना कि मेरी ऐसी इच्छा है तो खुश हुए और बाबू व्रजकिशोर तो इसके लिए हमेशा तैयार ही रहते थे। डॉक्टर गणेश के भोज के बाद बाबू अम्बिकाचरण को उन्होंने जापान जाने में बहुत प्रोत्साहन दिया था। मेरे लिए विलायत जाना उन्होंने एक प्रकार से अनिवार्य्य समझा और लग गये रुपये जुटाने की धुन में। मुंशी ईश्वरशरण भी इसमें दिलचस्पी लेने लगे। आरा के रायबहादुर हरिहरप्रसाद ने कुछ रुपये दिये। सोचा गया कि मेरे

चले जाने के बाद और रुपये भाई इन लोगों की मदद से अथवा घर से किसी प्रकार भिजवाते रहेंगे। इस बात का डर हम लोगों को था कि बाबू जी और माँ इस बात को पसन्द नहीं करेंगी और घर में बहुत बावेला मचेगा। मैं इस सिलसिले में पटने और इलाहाबाद भी गया। भाई भी साथ थे। बाबूजी से यह बात गुप्त रखी गयी; क्योंकि उनकी आज्ञा मिलने की कोई आशा नहीं थी। हमने जाने के लिए दिन भी मुकर्रर कर लिया। कलकत्ते में कपड़े भी बनवा लिये।

उस समय तक अँगरेजी किते का कोई कपड़ा मैंने कभी पहना नहीं था। पर विलायत में दूसरे कपड़े तो पहने नहीं जा सकते, यही धारणा थी। इसलिए अँगरेजी किते के कपड़े एक अँगरेजी दूकान में ही बनवाये गये। यही एक अवसर था जब मैंने विदेशी कपड़े, १८९८ के बाद से आज तक, खरीदे हैं। पासपोर्ट के लिए दर्खास्त दी गयी। कार्रवाई हो रही थी। हम लोग समझते थे कि यह बात पूरी हो जायगी, जाने के पहले बाबूजी को खबर नहीं मिलेगी और घर की ओर से कोई बाधा नहीं आवेगी। इस षड्यंत्र में कालेज के साथियों में से तीन-चार और थे, जिनमें एक मेरे बिहारी मित्र शुकदेवप्रसाद वर्मा थे और बाकी बंगाली लोग थे। मेरे अपने लोगों में भाई, बाबू व्रजकिशोर, मिस्टर सिन्हा, मुंशी ईश्वरशरण और रायबहादुर हरिहर प्रसाद सिंह थे।

भाई और बाबू व्रजकिशोर के साथ मैं इलाहाबाद गया। मुंशी ईश्वरशरण के साथ ठहरा। वहाँ मेरी ससुराल के लड़के कालेज में पढ़ रहे थे। उनमें किसी से मुलाकात तो नहीं हुई, पर उनको किसी न किसी तरह खबर लग गयी। वे खोजते-ढूँढ़ते मुंशी ईश्वरशरण के यहाँ पहुँच गये। वहाँ पर लोगों ने कहा दिया कि मैं नहीं हूँ। उन्होंने घर पर तार दे दिया कि मैं छुपकर विदेश जा रहा हूँ और उस दिन प्रयाग में हूँ! तार पाते ही बाबूजी और घर के सब लोग बहुत घबराये। बाबूजी अस्वस्थ थे, इसलिए वह नहीं निकल सकते थे, पर मेरी माँ और बहन सीधे इलाहाबाद चली गयीं। उन लोगों की यह गलत धारणा थी कि मैं इलाहाबाद से ही चला जानेवाला था। मैं तो अभी सलाह-बात करने और रुपयों के जुगाड़ में गया था। वहाँ एक दिन रहकर वहाँ से सीधे फिर कलकत्ते चला आया था।

जब माँ इलाहाबाद पहुँचीं तो मैं वहाँ नहीं था। मुंशी ईश्वरशरण के यहाँ तलाश करने पर उनको खबर मिल गयी कि मैं कलकत्ते वापस चला गया। मुझे कलकत्ते में इन बातों की खबर नहीं थी। वहाँ तार पहुँचा कि बाबूजी बीमार हैं। मैं वहाँ से उनसे मिलने घर आया तो सब बातें मालूम हो गयीं। वह सचमुच बीमार थे, पर अभी बीमारी कुछ कड़ी नहीं थी; दुःखित जरूर थे। घर में रोना-पीटना पड़ गया था। भाई भी आये। बाबूजी उनसे बहुत रंज थे कि मुझे विदेश भेजने का षड्यंत्र वही कर रहे थे। मेरे पहुँचते ही सबकी करुणा उमड़ पड़ी। खूब जोरों से रोआ-रोहट मच गयी। मुझे जाने से साफ-साफ मना कर दिया। कह दिया कि मैं अगर विलायत गया तो वे नहीं बचेंगे। जो बातें हुई थीं, मैंने सब साफ-साफ कह दीं। वादा भी कर

दिया कि नहीं जाऊँगा। जब बाबूजी को मेरी बात पर विश्वास हो गया तब फिर उन्होंने कलकत्ते जाने की इजाजत दे दी।

कलकत्ते में, जब एक प्रकार से सब तैयारियाँ हो गयी थीं, एक छोटी घटना घटी जिसका उल्लेख करना अच्छा होगा। इस विलायत-यात्रा के जनून में हमारे वे सब साथी शरीक थे जिनको यह खबर मालूम थी। सबकी इच्छा थी कि वे भी जायँ, पर उनका सुयोग अभी जुटा नहीं था। हम सब यही सोचते थे कि मेरे जाने के बाद वे भी किसी न किसी उपाय से कुछ दिनों बाद वहाँ पहुँचने का प्रयत्न करेंगे। एक दिन लॉ-कालेज से निकलने पर एक साथी ने राय दी कि चलो एक ज्योतिषी से इस विषय में परामर्श कर लें। वह एक ज्योतिषी को जानता भी था। वहाँ हम लोग चले गये। वह एक बूढ़े ब्राह्मण थे। उनकी अवस्था प्रायः ६० बरस की होगी। अपने घर में बैठे थे। हम लोगों के जाते ही थोड़ी देर के बाद उन्होंने कहा, मैं समझ गया, तुम लोग किस काम के लिए आये हो। तब हममें से किसी ने प्रश्न पूछना शुरू किया। प्रश्न तो एक ही था—विलायत-यात्रा सफल होगी? प्रश्न हमने कहा नहीं, अपने मन में ही रखा। मुझको उन्होंने उत्तर दिया कि अभी नहीं, बहुत दिनों के बाद तुम्हारी इच्छा पूरी होगी। शुकदेव को उन्होंने उत्तर दिया, तुम्हारी इच्छा अभी बहुत जल्दी पूरी होगी। तीसरे भाई से कहा कि तुम्हारी इच्छा भी कुछ देर बाद पूरी होगी। चौथे साथी से कहा कि तुम्हारी यह इच्छा नहीं पूरी होगी।

हम लोगों ने एक रुपया दिया। प्रणाम करके वापस चले। रास्ता भर इसी का मजाक उड़ाते आये कि यह बूढ़ा बिलकुल कुछ जानता नहीं। मेरी तो सब तैयारी हो चुकी है और मैं नहीं जाऊँगा, और शुकदेव जिनके सम्बन्ध में अभी कोई बात नहीं हुई है, बहुत जल्द चन्द दिनों के अन्दर ही चले जायँगे—यह कैसे हो सकता है! हम लोग हँसते-हँसते मजाक उड़ाते वापस आये। उसके बाद ही घर से तार आ गया। मेरा जाना एकबारगी रुक गया। जब मैं घर से वापस आया और यह बात तय हो गयी कि मैं नहीं जाऊँगा तब शुकदेव के जाने की बात उठी। मेरे कपड़े और मेरे रुपये लेकर एक दिन वह चले ही गये! कपड़े और रुपये इतने गुप्त तरीके से होस्टल में रखे गये थे कि हम लोगों के किसी साथी को भी इसकी खबर तक न थी। शुकदेव के बारे में भी डर था कि कहीं उनके पिताजी भी इसी तरह रोक न दें। इसलिए वह भी गुप्त रखा गया। उनको कहीं जाना नहीं था, किसी से मिलना नहीं था। इसलिए उनकी बात एकबारगी गुप्त रही। जाने के दिन साथियों से कह दिया कि घर जा रहे हैं। हम दो-तीन साथी स्टेशन पर गये। उन्हें रेल पर चढ़ाकर बम्बई के लिए रवाना कर दिया। जब तक बम्बई से जहाज रवाना हो जाने की खबर नहीं आई तब तक हम लोगों के दिल में शक बना ही रहा कि शायद वह भी कहीं पकड़कर वापस न बुला लिये जायँ। पर जहाज खुल जाने के बाद ही उनके घर के लोगों को खबर मिली। यहाँ तक कि कलकत्ते में निकट सम्बन्धी लोगों को भी, जिनसे बहुत घनिष्ठता थी, पता नहीं चला।

१४—विद्यार्थी-जीवन की समाप्ति

शुकदेव को रवाना करके मैं तो कांग्रेस की वालंटियरी में बझ गया और कांग्रेस के बाद फिर पढ़ने में लग गया। बाबूजी की बीमारी बढ़ती गयी। कुछ दिनों में उनकी हालत खराब होने लगी। खबर मिलने पर मैं कलकत्ते से और भाई डुम-राँव से जीरादेई पहुँचे। कुछ दिनों में वह जाते रहे। मरने के पहले हम सबसे भेंट हो गयी। उस वक्त तक भाई के दो लड़कियों और एक लड़का जनार्दन के जन्म हो चुके थे। मेरे भी मृत्युञ्जय का जन्म उसी साल में हुआ था। पोता देखकर वह बहुत सन्तुष्ट रहते थे। जब बीमारी बढ़ गयी तब सबको इकट्ठा करके आशीर्वाद दिया।

बाबूजी की मृत्यु से घर में गड़बड़ी तो मची, हम सब दुखी हुए; पर मुझे एक बात की खुशी भी रही। वह यह कि अच्छा ही हुआ, मैं विलायत नहीं गया। अगर गया होता और उनकी इस प्रकार मृत्यु हो जाती तो मैं न मालूम कितना दुखी होता। मैं फिर कलकत्ते चला गया। भाई डुमराँव चले गये। घर का इन्तजाम तो भाई कुछ पहले से ही देखा करते थे। अब सारा भार उन पर ही आ गया और वह डुमराँव से आकर जब-तब घर देख जाया करते। मेरे लिए खर्च वगैरह का भी इन्तजाम वही करते। उनको पढ़ने के समय जब-तब खर्चे के लिए कुछ कष्ट भी उठाना पड़ा। घर से रुपये जाने में देर हो जाया करती। पर मुझे उन्होंने बाबूजी के रहने के समय, और उनकी मृत्यु के बाद भी, खर्च की चिन्ता में कभी पड़ने नहीं दिया। उनकी अभिलाषा थी कि जब मैं पढ़ने में तेज हूँ और सब परीक्षाएँ इस प्रकार सफ-लतापूर्वक पास करता हूँ, तो मुझे केवल पढ़ने में ही मन लगाने का पूरा मौका देना चाहिए और किसी तरह की दूसरी चिन्ता नहीं होने देनी चाहिए।

छात्रवृत्ति मुझे बराबर काफी मिलती गयी। उसको बाबूजी या भाई खर्चे में कभी नहीं जोड़ते थे। खर्च के रुपये तो हमेशा अलग से ही भेजते रहे। उन रुपयों में से मैं कालेज की फीस दिया करता। बाकी रुपया किताब खरीदने में ही लगता। बी० ए० पास करने पर दो छात्रवृत्तियाँ मिलीं, एक ५०) मासिक की जो हर महीने मिला करती। यह तो मैं खर्च करता गया। दूसरी ४०) मासिक की जिसकी शर्त थी कि एम० ए० पास करने पर एक साथ जोड़कर मिलेगी। जब एम० ए० पास करने के बाद एक साथ ४८०) मिले, तो विलायत-यात्रा के जनून में जो कुछ कर्ज लिया था उसको अदा कर दिया।

पहले कह चुका हूँ कि एफ० ए० पास करने के बाद ही परीक्षा की ओर से कुछ उदासीनता-सी हो गयी। बी० ए० में न मालूम कैसे फिर औवल हो गया। एम० ए० के समय यह उदासीनता और भी बढ़ गयी। इस बरस विलायत-यात्रा के जनून और बाबूजी की मृत्यु के कारण समय दूसरे कामों में लगा। मन भी विचलित रहा। बाबूजी की मृत्यु १९०७ के फरवरी या मार्च महीने में हुई थी। परीक्षा अगले नवम्बर या दिसम्बर में होनेवाली थी। गर्मी की छुट्टियों में कुछ दिनों के लिए मैं साथियों के

साथ खरसान (करसियांग Kurseong) चला गया। वहीं परीक्षा के लिए तैयारी की। एम० ए० की परीक्षा में मेरा स्थान औवल नहीं हुआ। मेरे ऊपर कई साथी आ गये। मुझे इसका कुछ अफसोस नहीं रहा; क्योंकि मैंने कोई आशा भी नहीं की थी और न कोई विशेष प्रयत्न ही किया था।

इसके बाद प्रश्न हुआ कि क्या किया जाय। परीक्षा देकर मैं भाई के पास डुमराँव चला गया। कुछ दिनों तक वहीं रहा। सोचता रहा कि वकालत की परीक्षा दूँ या नहीं। उस ओर जी नहीं जाता था। यह भी महसूस होने लगा कि मैं वकालत भी नहीं कर सकूँगा। कुछ अपनी शक्ति में अविश्वास-सा हो गया था। सरकारी नौकरी न करने की तो पहले ही ठान ली थी।

इसी बीच में एक मित्र बाबू वैद्यनाथनारायण सिंह ने लिखा कि मैं मुजफ्फर-पुर-कालेज में प्रौफेसर हो जाऊँ तो बहुत अच्छा होगा। वह उस कालेज में प्रोफेसरी कर रहे थे। उनके कहने से मैंने दर्खास्त भेज दी। मेरी नियुक्ति हो गयी। १९०८ की जुलाई में, कालेज खुलने पर, मैं वहाँ चला गया। उस काम में जी भी लगता था। वहाँ के लोगों से जान-पहचान भी हो गयी। पर भाई इससे सन्तुष्ट नहीं थे। आहिस्ता-आहिस्ता कालेज की आर्थिक स्थिति खराब होती जाती थी। अन्त में निश्चय हुआ कि मैं फिर वकालत की तैयारी करूँ। कालेज की पढ़ाई तो मैंने खतम कर ली थी; पर परीक्षा नहीं दी थी। भाई की राय हुई कि मैं फिर कलकत्ते जाऊँ और वहाँ परीक्षा देकर वकालत शुरू करूँ।

इस प्रकार विद्यार्थी-जीवन समाप्त हुआ। संसार में प्रविष्ट होने का समय आ गया। जब उन दिनों का स्मरण आता है तो मालूम होता है, मानो वह सुख का युग था। कभी-कभी अफसोस होता है तो इसीका कि उसका जितना अच्छा उपयोग हो सकता था, नहीं किया गया। मुझे इस बात की सुविधा तो मिली थी कि भाई पथप्रदर्शक रहे। जितने अच्छे विचार या अच्छी प्रवृत्तियाँ दिल में उठीं, सबके बीज उन्होंने ही बोये थे। पढ़ने के समय किसी प्रकार का कष्ट मैं अनुभव न करूँ, इसका प्रबन्ध वह बराबर करते रहते। उन्होंने कभी यह नहीं महसूस करने दिया कि घर में कोई आर्थिक कठिनाई है। कलकत्ते में और उसके पहले छपरे में अपने साथियों के साथ मेरा बराबर प्रेम रहा। जहाँ तक मुझे स्मरण है, किसी के साथ कभी किसी प्रकार की खटखट तक नहीं हुई, झगड़े का तो कोई सवाल ही नहीं है; बल्कि सबके साथ प्रेम का ही व्यवहार रहा। थोड़े लोगों से तो बड़ी घनिष्ठता हो गयी, जो बरा-बर कायम रही। यद्यपि पढ़ने में स्पर्धा और प्रतियोगिता काफी रही, तथापि कभी किसी ने मेरे साथ न तो चालाकी की, न धूर्तता ही की, न कभी किसी के साथ अन्यमनस्कता ही हुई। जहाँ-कहीं किसी को कोई दिक्कत या कठिनाई होती, हम बराबर एक दूसरे की मदद करते; बल्कि जो मेरे प्रतिस्पर्धी साथी थे, उनके साथ मिलकर परीक्षा की तैयारी की गयी। जब मैं एफ० ए० की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहा था तो वह मित्र (जिसे मेरे साथ एण्ट्रेन्स में दूसरा स्थान मिला था) और

में, दोनों एक साथ ही, परीक्षा की तैयारी करते रहे। इसी प्रकार और परीक्षाओं में भी सब मिलजुलकर पढ़ते रहे।

कलकत्ते जाना और इडेन-हिन्दू-होस्टल का जीवन मेरे लिए बहुत लाभदायक हुआ। कलकत्ते जाने से ही आँखें खुलीं। यह सोचना बेकार है कि वहाँ अगर नहीं गया होता तो क्या होता। पर मेरा विश्वास है कि अन्यत्र कहीं मुझे इतना लाभ नहीं पहुँचता। इडेन-हिन्दू-होस्टल में रहने से बंगाली साथियों में हिलमिल जाने का जैसा सुअवसर मिला वैसा शायद दूसरी जगह कहीं रहने से नहीं मिलता। बंगाली साथियों की स्मृति अत्यन्त सुखकर है। मुझे किसी के भी खिलाफ कोई भावना हुई ही नहीं और न उनमें से किसी ने मेरे साथ कभी कोई बुरा बर्ताव किया। कभी किसी ने कटु शब्द भी नहीं कहे। मैं मानता हूँ कि उनके साथ जो दिन बीते वे अत्यन्त सुखद और लाभप्रद हुए। उनके साथ रहते-रहते, बिना प्रयास के ही, मैंने बँगला बोलना सीख लिया। आज भी मेरे बहुतेरे मित्र सारे बंगाल में भरे पड़े हैं। बहुत दिनों के बाद जब मैं असहयोग के दिनों में बंगाल में दौरा करने गया तो जहाँ जाता वहीं कुछ पुराने जाने-पहचाने मित्र मिल जाते और पुरानी स्मृतियाँ जाग उठतीं।

जब मैं कांग्रेस-प्रेसिडेंट हुआ, बिहार में फिर १९३८–३९ में बंगाली-बिहारी-प्रश्न उठा। उसके बाद कांग्रेस में मुझे कुछ ऐसे काम करने पड़े जो बंगाल के कुछ लोगों को नापसन्द आये। मेरे ऊपर बहुत बौछारें हुईं। कटु लेख लिखे गये। गाली-गलौज भी काफी मात्रा में ई! पर मैं अभी तक यह नहीं महसूस करता हूँ कि उनके साथ मेरा कोई द्वेष है या उनके प्रति कभी किसी दूसरे प्रकार की भावना दिल में उठी भी हो। यह हो भी कैसे सकता है? इतने दिनों का सुन्दर सुहावना साथ, प्रेम का आदान-प्रदान, पुरानी सुखकर स्मृतियाँ, क्या यह सब मनुष्य भूल सकता है? कर्तव्य के वश अगर कभी किसी के साथ कोई ऐसा काम करना भी पड़ा जो उसको पसन्द न हुआ, तो मैं अपने दिल से जब पूछता हूँ, हमेशा यही उत्तर मिलता है कि मैंने कभी किसी का अनिष्ट, जान-बूझकर अनिष्ट करने की नीयत से, नहीं किया। जो हो, यह सब बातें तो भूल जायँगी, पर मेरे हृदय-पट से वे चित्र जो लड़कपन में ही वहाँ खिंचे थे, कभी न मिटें। वे सारी स्मृतियाँ कभी विलीन नहीं हो सकतीं और न मैं उस देन को भूल सकता हूँ जो बंगाल में पन्द्रह बरसों के जीवन ने मुझे दी है।

कलकत्ते में मेरी घनिष्ठता बहुत बिहारियों से भी हुई। जब मैं कलकत्ते में पढ़ने के लिए गया तो थोड़े ही बिहारी छात्र वहाँ थे। आहिस्ता-आहिस्ता उनकी संख्या बढ़ने लगी। पीछे तो वे खासी तायदाद में वहाँ पहुँच गये। हम लोगों ने अपना बिहारी-क्लब बना लिया था जिसमें हर सप्ताह सब मिला करते थे। जाति-पाँति का झगड़ा इतना साथ लेते गये थे कि हिन्दू-होस्टल में हमने अपने लिए अलग चौका रखा था जिसमें बिहारी ब्राह्मण रसोई बनाता था। यद्यपि मैं डाक्टर गणेशप्रसाद के साथ भोज में शरीक हुआ था, तथापि जाति का बन्धन बहुत मानता था। वह तो मेरी अपनी जाति के आदमी (कायस्थ) थे; किसी भी दूसरी जाति के आदमी का

छुआ हुआ कोई अन्न, जो अपने देश (बिहार) में नहीं खाया जाता है, वहाँ नहीं खाया। इतने दिनों तक वहाँ रहा, मगर बंगाली 'मेस' में कच्ची रसोई एक दिन भी नहीं खायी।

बिहारी साथियों में बहुतेरों से मेरा घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया जो आज कई जिलों में बिखरे हुए अपने-अपने स्थान पर कुछ न कुछ कर रहे हैं। इसलिए जहाँ जाता हूँ, कोई न कोई कलकत्ते का साथी मिल ही जाता है। घनिष्ठ मित्रों में चम्पारन जिले के शिकारपुर के श्री अवधेशप्रसाद और जगन्नाथप्रसाद; शाहाबाद के श्री शुकदेवप्रसाद वर्मा; भागलपुर के श्री कृष्णप्रसाद; राँची के बदरीनाथ वर्मा, बलभद्रप्रसाद ज्योतिषी, डाक्टर साधु सिंह, डाक्टर राजेश्वरप्रसाद, बटुकदेवप्रसाद वर्मा, विन्ध्यवासिनीप्रसाद वर्मा प्रभृति थे। इनमें कितने चले गये और कितने आज भी कायम हैं। अवधेश बाबू की मित्रता बहुत फलदायक हुई और उससे लाभ हुआ। पीछे उनके साथ शादी का सम्बन्ध भी हो गया।

१५—वकालत की तैयारी

मुजफ्फरपुर-कालेज में ९–१० महीनों तक काम करके १९०९ के मार्च में मैं कलकत्ते फिर वापस चला गया। उन दिनों बी० एल० की दो परीक्षाएँ होती थीं। एक परीक्षा मैंने तुरत पास कर ली और दूसरी की तैयारी करनी थी। हाइकोर्ट में वकालत करने के लिए किसी वकील के साथ दो बरसों तक काम करना चाहिए था। एक छोटी-सी परीक्षा भी पास करनी पड़ती थी जिसमें जज लोग स्वयं कुछ पूछताछ कर लिया करते थे। अगर मैं चाहता, तो बी० ए० पास करने के बाद, किसी वकील के दफ्तर में नाम लिखाकर, १९०८ में ही ये दो साल पूरा कर सकता था। पर उस समय इस ओर ध्यान नहीं गया। इसलिए जब मैं १९०९ में कलकत्ते गया तो उस समय से दो बरस की उम्मीदवारी करनी थी। इच्छा हुई कि किसी अच्छे वकील के साथ काम सीखूँ। खाँबहादुर सैयद शमसुलहुदा के पास मैं एक मित्र द्वारा पहुँचाया गया। उस समय उनके साथ दो उम्मीदवार थे और नियम के अनुसार दो ही हो सकते थे। उन्होंने कहा कि जगह खाली होते ही तुमको अपने साथ उमीदवार (आर्टिक्ल-क्लर्क) रख लूँगा, तब तक दूसरे मित्र के साथ तुम्हें रखा देता हूँ। उन्होंने मुझे जहादुर रहीम जाहिद के साथ रखा दिया। ये सज्जन भी अच्छे वकील थे। कुछ दिनों के बाद विलायत गये और बारिस्टर होकर आये। पीछे हाइकोर्ट के जज भी हुए। बाद अपने नाम में इन्होंने 'साहोवर्दी' जोड़ दिया था, इसलिए जस्टिस साहोवर्दी के नाम से ही मशहूर हुए।

मेरा विचार था कि जब दो बरसों तक और कुछ काम नहीं है तो खूब परिश्रम करके कानून अच्छी तरह पढ़ लूँगा, जिससे मैं पहले बहुत डरता था, और वकील के यहाँ काम भी सीख लूँगा। मैं भाई पर खर्च का भार नहीं देना चाहता था। इसलिए शुरू में कुछ दिनों के लिए वहाँ सिटी-कालेज में प्रोफेसरी भी की; पर वह

भी थोड़े ही दिनों के लिए। पीछे कुछ विद्यार्थियों को घर पर पढ़ाया करता और उससे वहाँ का खर्च निकाल लेता। वह लड़का, जिसको मैं पढ़ाता था, जस्टिस दिगम्बर चटर्जी का पुत्र था। इस तरीके से, वकालत शुरू करने के पहले ही, एक जज से भी परिचय हो गया।

जब शमसुलहुदा साहब के यहाँ जगह खाली हुई, मैं उनके साथ काम करने लगा। मैंने उस समय का अच्छा उपयोग किया। मामूली तौर से जो लोग इस प्रकार नाम लिखा देते थे, बहुत थोड़ा ही काम किया करते थे और अन्त में दो साल बिताकर नाम-निहादी परीक्षा पास करके वकील हो जाते थे। मैंने ऐसा नहीं किया। मैं रोज सवेरे शमसुलहुदा साहब के घर पहुँच जाता। वहाँ दस बजे तक उनके हाथ के मुकदमों के कागजों को पढ़ता। उनपर अपना नोट, जैसा उन्होंने बता दिया था, तैयार करता। कानून की नजीरें वगैरह पढ़कर उनके लिए सब कुछ तैयार कर देता। थोड़े ही दिनों में उन्होंने देख लिया कि मैं उनके लिए अच्छा नोट तैयार कर देता हूँ, जिससे उनको पूरी मदद मिल जाती है, और 'जूनियर' वकील की बहुत जरूरत नहीं होती है।

मैं एक 'मेस' में रहा करता था जो उनके घर से बहुत दूर था। वहाँ कुछ दूर तक ट्राम पर जाना होता। ट्राम से उतरकर प्रायः एक मील पैदल जाना होता। वह स्वयं बहुत सवेरे उठकर कागज वगैरह पढ़ा करते थे। मैं सात बजे पहुँच जाता और दस बजे तक उनके साथ काम करता। फिर उसी तरह अपने 'मेस' में आता। भोजन करके एक बजे हाइकोर्ट जाता। वहाँ मुकदमों की बहस सुनता। खास करके उन मुकदमों में बहुत जी लगता जिनके लिए मैं उनको नोट तैयार कर देता। संध्या को हाइकोर्ट से लौटकर फिर भवानीपुर, जो हमारे 'मेस' से प्रायः चार मील पर था, जाकर रात में लड़के को पढ़ाता और ९–१० बजे लौटकर सोता। इस तरह काफी परिश्रम करता। काम भी मैं अच्छी तरह सीख गया। पीछे शमसुलहुदा साहब ने कहा कि तुमको आने-जाने में बहुत तकलीफ होती है और समय भी लगता है, तुम मेरे ही मकान में आ जाओ, तुम्हारे लिए—जो बन्दोबस्त कहो—कर दूँगा। उन्होंने एक कमरा रहने के लिए और एक अलग रसोई के लिए मुझे दे दिया। मैं वहाँ रहने लगा। तब रात को भी और सवेरे भी, जब ४–५ बजे उठते और जरूरत समझते तो, मुझे पुकार लेते। अपने साथ ही मुझे रोज अपनी गाड़ी में कचहरी ले जाते। उनसे घनिष्ठता इतनी बढ़ गयी कि घर के लड़के की तरह मुझे मानने लगे।

आज-कल, जब हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न बहुत जोरों से खड़े होते हैं, एक छोटी घटना का उल्लेख कर देना अच्छा होगा। शमसुलहुदा साहब नामी वकील थे। मुसलमानों के एक नेता समझे जाते थे। मुस्लिम लीग के प्रेसिडेण्ट भी हुए थे। युनिवर्सिटी-सिनेट के और लेजिसलेटिव कौंसिल के मेम्बर भी थे। पीछे तो बंगाल के गवर्नर की एग्जि-क्युटिव (कार्यकारिणी) कौंसिल के मेम्बर हो गये। हाइकोर्ट के जज तक हो गये। लेजिस-लेटिव कौंसिल के प्रेसिडेण्ट भी हो गये थे। 'सर' का खिताब भी मिला था। उस समय

वह अभी खाँ बहादुर मात्र थे, पर हाइकोर्ट में मवक्किल और जज दोनों ही उनकी बड़ी प्रतिष्ठा करते थे। उनके हाथ में मुकदमे भी बहुत रहा करते थे। मिजाज भी उनका बहुत अच्छा था। धार्मिक प्रवृत्ति के आदमी थे। मुसलमान छात्रों को कुछ छात्र-वृत्तियाँ भी दिया करते थे। कुछ विद्यार्थी केवल खाने के समय आकर वहाँ भोजन कर जाया करते थे।

मैं उनके मकान में ठहरा था। बकरीद का दिन आ गया। मुहल्ला भी मुसलमानी मुहल्ला था, जिसमें बहुत बड़ी आबादी मुसलमानों की ही थी। मैंने सोचा कि शायद इस मौके पर गाय की कुर्बानी उनके घर में या आसपास के घरों में हो। मैं एक सनातनी हिन्दू था। मैंने सोचा, अच्छा होगा कि इस मौके पर दो-चार दिनों के लिए कहीं हट जाऊँ। मैं चुपचाप, उनको बगैर कुछ कहे ही, वहाँ से चला गया। 'मेस' में जाकर मित्रों के साथ ठहर गया। तीन-चार दिनों के बाद लौटकर आया। उन्होंने पूछा कि कहाँ चले गये थे। मैंने सब बातें साफ नहीं कहीं। इतना ही कहा कि कुछ मित्रों के पास दो-तीन दिनों के लिए चला गया था।

उन्होंने कहा—"मैं समझ गया, तुम बकरीद के कारण चले गये थे। तुमने सोचा होगा कि यहाँ गाय की कुर्बानी होगी, इसलिए यहाँ रहना नहीं चाहिए। क्या तुमने मेरे साथ बेइनसाफी नहीं की? तुमने समझ लिया कि तुम्हारी भावना का मैं कुछ भी खयाल नहीं करूँगा? तुम तो तुम हो, मेरे घर में कई नौकर हिन्दू हैं। फुलवारी का माली हिन्दू है, गायों को खिलाने के लिए नौकर हिन्दू है; क्या उनकी भावना का मैं खयाल नहीं रखता हूँ? उनका दिल क्या नहीं दुखता? तुमको मुझसे पूछ लेना चाहिए था। मेरे घर में अपने घर के हिन्दू नौकरों के खयाल से गाय की कुर्बानी नहीं होती है।"

मुझे बहुत शर्मिन्दा होना पड़ा। मैं समझ गया कि मैंने उनके साथ बेइनसाफी की थी। उस समय बंगभंग का आन्दोलन चल ही रहा था। बंगाली मुसलमान इस आन्दोलन का विरोध कर रहे थे। पूरब-बंगाल में, जहाँ के रहनेवाले शमसुल्हुदा साहब थे, हिन्दू-मुस्लिम दंगे भी बहुत हुए थे। वह स्वयं बंगभंग के पक्ष में थे। यह सब होते हुए भी उनकी ऐसी भावनाएँ थीं, इस प्रकार का हमारे साथ व्यवहार था!

इसी बीच मैंने बी० एल० की परीक्षा भी पास कर ली थी। उसपर मैंने कभी ध्यान ही नहीं दिया, किसी तरह केवल पास कर गया। जब मेरे दो बरस उमीदवारी के खतम होने पर आये, उसी समय उनके बंगाल के गवर्नर की एक्जिक्यूटिव कौंसिल के मेम्बर होने की खबर आने लगी। उनको इसका पता चल गया। उन्होंने मुझसे कहा कि अब तो वह बहुत दिनों तक वकालत नहीं कर सकेंगे और इस तरह मुझको वकालत शुरू करने के बाद उनसे मदद नहीं मिलेगी। मगर मैंने सोचा, काफी काम सीख लिया है और मैं खुद सब कर लूँगा।

१९११ के अगस्त महीने में मैंने वकालत शुरू की। जिस दिन नाम लिखा गया उस दिन एक मुकदमा उन्होंने मुझे दिलवाया। स्वयं मेरे साथ जाकर जजों के

सामने बैठे और मुझे बहस करने दिया। हाइकोर्ट में वकालत शुरू करने के बाद केवल चन्द दिनों के लिए हाइकोर्ट खुला रहा। उसके बाद दुर्गापूजा की लम्बी छुट्टी हो गयी। छुट्टी के पहले ही मैं बिहार चला गया। वहाँ पूज्य मालवीयजी हिन्दू-विश्व-विद्यालय के लिए चन्दा जमा करने के सिलसिले में बिहार का दौरा कर रहे थे। चन्द दिनों तक उसी काम में लगा रहा। जिस समय हाइकोर्ट खुला और मैं कलकत्ते पहुँचा, उस समय शमसुलहुदा साहब की नियुक्ति की खबर बहुत गर्म थी। मवक्किल भी समझने लगे थे कि अब यह वकालत नहीं करेंगे। हाइकोर्ट ढाई-तीन महीने बन्द रहने के बाद जब खुलता है तो इन तीन महीनों में जमा हुए बहुत मुकदमे नये दायर होते हैं। शमसुलहुदा साहब के पास जो मुकदमे आये उनमें से कई में उन्होंने मुझे मुकर्रर करा दिया। रुपये तो कम मिले या नहीं भी मिले; पर उन्होंने कहा कि अब तो मैं नहीं रहूँगा, ये मुकदमे तुम्हारे ही हाथ में रहेंगे, अगर ठीक काम करोगे तो मवक्किल तुमसे ही काम लेते रह जायँगे। इस बात का जिक्र केवल उनकी मुहब्बत दिखाने के लिए ही नहीं, पर एक दूसरे उद्देश्य से भी जरूरी था।

कुछ दिनों के बाद इन्हीं मुकदमों में से एक पेश हुआ। मवक्किल ने मुझे बाजाब्ता फीस देकर तो रखा नहीं था, पर चूँकि वकालतनामा पर मेरा भी दस्तखत था, फिहरिस्त में मेरा नाम भी आया। एक दूसरे वकील को उसने पीछे मुकर्रर कर लिया। पर ऐसे जितने मुकदमे थे, जिनमें शमसुलहुदा साहब ने मेरा नाम भी लिखवा दिया था, जब पेश होते, मैं उनके कागजों को खूब पढ़ लेता और कानून वगैरह देख-कर तैयार हो जाता। उस दिन भी उसी तरह तैयार होकर गया। कानूनी सवाल उसमें बहुत उठते थे। मेरे सीनियर वकील साहब उतनी गहराई तक नहीं उतरे थे। मुकदमा जस्टिस सर आशुतोष के इजलास में था। मैं वकील साहब को मदद दे रहा था और नजीर पर नजीर पेश करने के लिए उनके हाथ में देता जा रहा था। सर आशु-तोष सब देख रहे थे। कुछ देर के बाद उन्होंने मुझसे ही पूछा कि और कौन नजीर वहाँ है, बता दो तो किताबें मँगा लूँ। पीछे एक अच्छा फैसला लिखवाया जो रिपोर्टों में प्रकाशित हुआ।

यह बात तो हो गयी। मैं उस मुकदमे की बात भूलना ही चाहता था कि दो दिनों के बाद एक दूसरे वकील ने, जिनके साथ मैं अक्सर काम किया करता था और जो युनिवर्सिटी-सिण्डिकेट के मेम्बर थे, मुझसे पूछा कि तुमको अगर लॉ-कालेज में प्रोफेसर की जगह मिले तो मंजूर करोगे। मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मैंने इसके लिए किसी से कहा नहीं था। सर आशुतोष से भी, जो वाइस-चान्सलर थे और जिनके यहाँ वकीलों का दरबार-सा लगा रहता था, मैंने न मुलाकात की थी और न कुछ कहा ही था। मैं यह भी नहीं जानता था कि मेरे ऐसे अभी दो बरस के वकील को भी यह जगह मिल सकती है। मैंने आश्चर्य से उनसे पूछा कि यह जगह मुझे कैसे मिल सकती है, मैंने न तो किसी से मुलाकात की है और न दर्खास्त ही दी है। उसपर उन्होंने कहा कि किसी मुकदमे में तुमने सर आशुतोष के इजलास में काम किया है और

वह बहुत खुश हुए हैं, तुम उनसे जाकर मिलो। मैं गया और चन्द दिनों के बाद लॉ-कालेज में जगह मिल गयी। केस में रुपये तो ज्यादा नहीं मिलते थे, पर पढ़ाने के लिए कानून घर पर खूब पढ़ना पड़ता था जिससे पूरा लाभ हुआ। इस प्रकार एक अनजान और बिना रुपये के मुकदमे ने मुझे यह इज्जत दी।

वकालत शुरू करने के पहले की एक बात और लिख दूँ। ऊपर कह चुका हूँ कि मैं जस्टिस दिगम्बर चटर्जी के लड़के को घर पर कुछ पढ़ाया करता था। उनसे जान-पहचान हो गयी थी, पर कोई घनिष्ठता नहीं थी। वह जानते थे कि मैंने युनिवर्सिटी की परीक्षाएँ अच्छी तरह पास की हैं और इसीलिए उन्होंने अपने लड़के को पढ़ाने के लिए मुझे रखा भी था। जब उनको मालूम हुआ कि मैं अब वकालत शुरू करनेवाला हूँ तो एक दिन वह मुझसे कुछ बातें करने लगे। उन्होंने पूछा, तुम्हारा सम्बन्धी कोई वकील है? मैंने कहा, कोई नहीं है। वास्तव में मेरी ससुराल के लोगों में तो कई वकील थे, पर वे लोग बलिया में—जो युक्तप्रान्त में है—वकालत करते थे। बिहार में मेरा कोई भी सम्बन्धी इस पेशे में नहीं था। यह सुनकर उन्होंने कहा कि यह बहुत अच्छी बात है। मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरी धारणा थी कि अगर कोई सगा-सम्बन्धी वकील होता तो शुरू में वह मदद करता और उससे मुकदमे मिलते; इस तरह मुकदमे हाथ में आते।

मैंने अपना अभिप्राय बतलाया। तब वह कहने लगे—"तुम अपना सौभाग्य समझो कि तुम्हारा कोई सम्बन्धी वकील नहीं है और खास करके बहुत नामी वकील नहीं है। अगर कोई वकील होता तो शायद कुछ मुकदमे उसके सम्बन्ध से तुमको मिलते; पर मवक्किल तुमको वकील नहीं रखता। वह तो यह समझता कि बड़े वकील साहब की खातिर से किसी एक निकम्मे आदमी को भी रख लेता हूँ। उसका तुम पर न कभी विश्वास होता और न तुम्हारे लिए उसके दिल में कोई प्रतिष्ठा होती। इसलिए वह भी वकील जरूर रखता। तुम भी यह समझकर कि दूसरे को बहस करना है, अपनी ओर से विशेष कोई तैयारी नहीं करते। इस तरह तुम काम में ढिलाई करते। तुमको बहस करने का भी कम मौका मिलता। जब तुम आगे चलकर अपने परिश्रम से अगर अच्छे वकील भी हो जाते और वह मवक्किल आता तो वह तुमको याद दिलाता कि शुरू में उसने ही तुमको वकील रक्खा था। इसलिए तुमको भी लिहाज होता और तुम उससे रुपये नहीं ले सकते। धनी मवक्किल तो इस तरह के होते हैं। गरीब तुम्हारे पास शायद कोई आ जाता तो तुम अपनी आदत से उस पर अधिक ध्यान नहीं देते; क्योंकि तुम्हारे पास तो धनी मवक्किल—चाहे वे रुपये देते हों या नहीं और चाहे तुम्हें उनके मुकदमे में स्वयं जवाबदेही लेकर काम करने का मौका मिलता हो या नहीं—आ ही चुके होते और तुमको इसका गर्व भी होता। जब कोई मदद करनेवाले सम्बन्धी वकील नहीं हैं तो इस प्रकार का कोई मवक्किल तुमको नहीं मिलेगा। गरीब मवक्किल यह जानकर कि तुम अच्छे पढ़े-लिखे हो, आवेगा, रुपये कम देगा, पर अपना सर्वस्व तुमको ही समझेगा, उसका दूसरा कोई वकील

नहीं होगा; तुमको ही उसके मुकदमे में सब कुछ करना होगा। इसलिए जहाँ तक हो सकेगा तुम अपने को अच्छी तरह तैयार करोगे। इस तरह काम करने का सुयोग मिलेगा। जब मुकदमे जीत जाओगे, वह दस और-और गरीबों से तुम्हारी तारीफ करेगा। वह विज्ञापन का काम करेगा। दूसरे गरीब मवक्किल आवेंगे। इस तरह तुम्हारा नाम होगा। इसमें न किसी की मदद रहेगी, न एहसान। जब इस प्रकार वकालत चल निकलेगी, बड़े मवक्किल खुद आवेंगे। वे तुम्हारी खुशामद करेंगे, पुराना एहसान नहीं जता सकेंगे और तुम उनसे इज्जत के साथ रुपये ले सकोगे। इसलिए मेहनत करके काम करना सीखो। वकालत अच्छी चल निकलेगी।"

उनकी बातों से मेरे दिल में बहुत हिम्मत बँधी। उन्होंने जितनी बातें कही थीं, अक्षरशः सत्य निकलीं। शुरू में केवल गरीब मवक्किल मिले। मुझे शुरू से ही, बिना किसी दूसरे वकील की मदद के, काम करने का सुअवसर मिला। इससे मेहनत भी करनी पड़ती और अपनी बुद्धि भी खुलती। एक ही दो ऐसे मवक्किल मिले जो धनी कहे जा सकते हैं। उनसे पुराना सम्बन्ध था। इसी लिए वे मेरे पास आये; नहीं तो और सब गरीब ही थे।

जिस समय मैं वकालत की तैयारी कर रहा था, एक और घटना घटी, जिसका उल्लेख जरूरी है। अगर उस घटना की बात पूरी हो जाती तो जीवन का प्रवाह आज दूसरा ही हो गया होता, पर वह नहीं हुई। शायद अच्छा ही हुआ कि उस समय अधपका सपना न छेड़ा गया। वह घटना थी माननीय श्री गोखले से मुलाकात।

१६—माननीय गोखले से मुलाकात

१९१० ई० में वकालत की परीक्षा के लिए मैं पढ़ रहा था। कलकत्ते में एक 'मेस' में रहता था। वहाँ दो-चार और बिहारी साथी भी थे। मेरे भाई भी वहाँ गये हुए थे। एक दिन हाइकोर्ट में, जहाँ मैं प्रायः प्रतिदिन जाया करता था, मिस्टर परमेश्वरलाल बैरिस्टर ने मुझसे कहा कि तुम और श्रीकृष्ण जाकर माननीय गोखले से मिलो, उन्होंने तुम दोनों को बुलाया है। मुझे यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि मुझे माननीय गोखले से मिलने का सौभाग्य पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था। उनको भी मुझे जानने का कोई कारण नहीं था। मिस्टर परमेश्वरलाल ने कहा कि वह बिहार के दो-चार अच्छे होनहार विद्यार्थियों से मिलना चाहते हैं और मैंने तुम दोनों का नाम उनको बता दिया है। बात यह थी कि श्रीकृष्ण प्रसाद—जो दुर्भाग्यवश, कम अवस्था में ही, कुछ दिन हुए, इस लोक से चले गये—और मैं, दोनों ही, छात्र-सम्मेलन में प्रमुख भाग लिया करते थे। इसलिए हम लोगों को बहुत लोग जानते थे। मिस्टर परमेश्वरलाल ने भी इसी कारण हम दोनों के नाम बता दिये थे।

हम दोनों, माननीय गोखले से, जहाँ वह ठहरे थे, जाकर मिले। उन्होंने थोड़े दिन पहले 'सर्वेण्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की थी। वह चाहते थे कि बिहार के कुछ अच्छे नवयुवक उसमें शरीक हो जायँ। उन्होंने देश की सेवा पर जोर

वह बहुत खुश हुए हैं, तुम उनसे जाकर मिलो। मैं गया और चन्द दिनों के बाद लॉ-कालेज में जगह मिल गयी। केस में रुपये तो ज्यादा नहीं मिलते थे, पर पढ़ाने के लिए कानून घर पर खूब पढ़ना पड़ता था जिससे पूरा लाभ हुआ। इस प्रकार एक अनजान और बिना रुपये के मुकदमे ने मुझे यह इज्जत दी।

वकालत शुरू करने के पहले की एक बात और लिख दूँ। ऊपर कह चुका हूँ कि मैं जस्टिस दिगम्बर चटर्जी के लड़के को घर पर कुछ पढ़ाया करता था। उनसे जान-पहचान हो गयी थी, पर कोई घनिष्ठता नहीं थी। वह जानते थे कि मैंने युनिवर्सिटी की परीक्षाएँ अच्छी तरह पास की हैं और इसीलिए उन्होंने अपने लड़के को पढ़ाने के लिए मुझे रखा भी था। जब उनको मालूम हुआ कि मैं अब वकालत शुरू करनेवाला हूँ तो एक दिन वह मुझसे कुछ बातें करने लगे। उन्होंने पूछा, तुम्हारा सम्बन्धी कोई वकील है? मैंने कहा, कोई नहीं है। वास्तव में मेरी ससुराल के लोगों में तो कई वकील थे, पर वे लोग बलिया में—जो युक्तप्रान्त में हैं—वकालत करते थे। बिहार में मेरा कोई भी सम्बन्धी इस पेशे में नहीं था। यह सुनकर उन्होंने कहा कि यह बहुत अच्छी बात है। मुझे आश्चर्य हुआ, क्योंकि मेरी धारणा थी कि अगर कोई सगा-सम्बन्धी वकील होता तो शुरू में वह मदद करता और उससे मुकदमे मिलते; इस तरह मुकदमे हाथ में आते।

मैंने अपना अभिप्राय बतलाया। तब वह कहने लगे—"तुम अपना सौभाग्य समझो कि तुम्हारा कोई सम्बन्धी वकील नहीं है और खास करके बहुत नामी वकील नहीं है। अगर कोई वकील होता तो शायद कुछ मुकदमे उसके सम्बन्ध से तुमको मिलते; पर मवक्किल तुमको वकील नहीं रखता। वह तो यह समझता कि बड़े वकील साहब की खातिर से किसी एक निकम्मे आदमी को भी रख लेता हूँ। उसका तुम पर न कभी विश्वास होता और न तुम्हारे लिए उसके दिल में कोई प्रतिष्ठा होती। इसलिए वह भी वकील जरूर रखता। तुम भी यह समझकर कि दूसरे को बहस करना है, अपनी ओर से विशेष कोई तैयारी नहीं करते। इस तरह तुम काम में ढिलाई करते। तुमको बहस करने का भी कम मौका मिलता। जब तुम आगे चलकर अपने परिश्रम से अगर अच्छे वकील भी हो जाते और वह मवक्किल आता तो वह तुमको याद दिलाता कि शुरू में उसने ही तुमको वकील रक्खा था। इसलिए तुमको भी लिहाज होता और तुम उससे रुपये नहीं ले सकते। धनी मवक्किल तो इस तरह के होते हैं। गरीब तुम्हारे पास शायद कोई आ जाता तो तुम अपनी आदत से उस पर अधिक ध्यान नहीं देते; क्योंकि तुम्हारे पास तो धनी मवक्किल—चाहे वे रुपये देते हों या नहीं और चाहे तुम्हें उनके मुकदमे में स्वयं जवाबदेही लेकर काम करने का मौका मिलता हो या नहीं—आ ही चुके होते और तुमको इसका गर्व भी होता। जब कोई मदद करनेवाले सम्बन्धी वकील नहीं हैं तो इस प्रकार का कोई मवक्किल तुमको नहीं मिलेगा। गरीब मवक्किल यह जानकर कि तुम अच्छे पढ़े-लिखे हो, आवेगा, रुपये कम देगा, पर अपना सर्वस्व तुमको ही समझेगा, उसका दूसरा कोई वकील

नहीं होगा; तुमको ही उसके मुकदमे में सब कुछ करना होगा। इसलिए जहाँ तक हो सकेगा तुम अपने को अच्छी तरह तैयार करोगे। इस तरह काम करने का सुयोग मिलेगा। जब मुकदमे जीत जाओगे, वह दस और-और गरीबों से तुम्हारी तारीफ करेगा। वह विज्ञापन का काम करेगा। दूसरे गरीब मवक्किल आवेंगे। इस तरह तुम्हारा नाम होगा। इसमें न किसी की मदद रहेगी, न एहसान। जब इस प्रकार वकालत चल निकलेगी, बड़े मवक्किल खुद आवेंगे। वे तुम्हारी खुशामद करेंगे, पुराना एहसान नहीं जता सकेंगे और तुम उनसे इज्जत के साथ रुपये ले सकोगे। इसलिए मेहनत करके काम करना सीखो। वकालत अच्छी चल निकलेगी।"

उनकी बातों से मेरे दिल में बहुत हिम्मत बँधी। उन्होंने जितनी बातें कही थीं, अक्षरशः सत्य निकलीं। शुरू में केवल गरीब मवक्किल मिले। मुझे शुरू से ही, बिना किसी दूसरे वकील की मदद के, काम करने का सुअवसर मिला। इससे मेहनत भी करनी पड़ती और अपनी बुद्धि भी खुलती। एक ही दो ऐसे मवक्किल मिले जो धनी कहे जा सकते हैं। उनसे पुराना सम्बन्ध था। इसी लिए वे मेरे पास आये; नहीं तो और सब गरीब ही थे।

जिस समय मैं वकालत की तैयारी कर रहा था, एक और घटना घटी, जिसका उल्लेख जरूरी है। अगर उस घटना की बात पूरी हो जाती तो जीवन का प्रवाह आज दूसरा ही हो गया होता, पर वह नहीं हुई। शायद अच्छा ही हुआ कि उस समय अधपका सपना न छेड़ा गया। वह घटना थी माननीय श्री गोखले से मुलाकात।

१६—माननीय गोखले से मुलाकात

१९१० ई० में वकालत की परीक्षा के लिए मैं पढ़ रहा था। कलकत्ते में एक 'मेस' में रहता था। वहाँ दो-चार और बिहारी साथी भी थे। मेरे भाई भी वहाँ गये हुए थे। एक दिन हाइकोर्ट में, जहाँ मैं प्रायः प्रतिदिन जाया करता था, मिस्टर परमेश्वरलाल बैरिस्टर ने मुझसे कहा कि तुम और श्रीकृष्ण जाकर माननीय गोखले से मिलो, उन्होंने तुम दोनों को बुलाया है। मुझे यह सुनकर बहुत आश्चर्य हुआ, क्योंकि मुझे माननीय गोखले से मिलने का सौभाग्य पहले कभी प्राप्त नहीं हुआ था। उनको भी मुझे जानने का कोई कारण नहीं था। मिस्टर परमेश्वरलाल ने कहा कि वह बिहार के दो-चार अच्छे होनहार विद्यार्थियों से मिलना चाहते हैं और मैंने तुम दोनों का नाम उनको बता दिया है। बात यह थी कि श्रीकृष्ण प्रसाद—जो दुर्भाग्यवश, कम अवस्था में ही, कुछ दिन हुए, इस लोक से चले गये—और मैं, दोनों ही, छात्र-सम्मेलन में प्रमुख भाग लिया करते थे। इसलिए हम लोगों को बहुत लोग जानते थे। मिस्टर परमेश्वरलाल ने भी इसी कारण हम दोनों के नाम बता दिये थे।

हम दोनों, माननीय गोखले से, जहाँ वह ठहरे थे, जाकर मिले। उन्होंने थोड़े दिन पहले 'सर्वेण्ट्स आफ इंडिया सोसाइटी' की स्थापना की थी। वह चाहते थे कि बिहार के कुछ अच्छे नवयुवक उसमें शरीक हो जायँ। उन्होंने देश की सेवा पर जोर

देकर हम लोगों से उसमें शरीक होने को कहा। वह जानते थे कि हम दोनों ने युनिवर्सिटी-परीक्षाएँ अच्छी तरह पास की हैं और अब वकालत की तैयारी कर रहे हैं। उन्होंने कहा—"हो सकता है कि तुम्हारी वकालत खूब चले, बहुत रुपये तुम पैदा कर सको, बहुत आराम और ऐश-इशरत में दिन बिताओ। बड़ी कोठी, घोड़ा-गाड़ी, नौकर इत्यादि दिखावट के सामान, जो अमीरों को हुआ करते हैं, तुमको सब मयस्सर हों। पर मुल्क का भी दावा कुछ लड़कों पर होता है, और चूँकि तुम पढ़ने में अच्छे हो, इसलिए तुम पर वह दावा और भी अधिक है।" अपने बारे में उन्होंने कहा—"मेरे सामने भी यही प्रश्न आया था। मैं गरीब घर का आदमी था। मेरे घर के लोग बहुत आशा रखते थे कि जब मैं पढ़कर तैयार हो जाऊँगा तो रुपये कमाऊँगा और सबको सुखी बना सकूँगा। जब मैंने उनकी सब आशाओं पर पानी फेरकर देशसेवा का व्रत लिया तो मेरे भाई इतने दुखी हुए कि कुछ दिनों तक वह मुझसे बोले तक नहीं; पर कुछ दिनों के बाद वह सब बातें समझ गये और फिर मेरे साथ खूब प्रेम करने लगे। हो सकता है कि यह सब तुम्हारे साथ भी हो, पर इसका विश्वास रखो, सब लोग अन्त में तुम्हारी पूजा करने लगेंगे। लोगों की सब उम्मीदें तुम पर बँधी हैं, पर कौन जानता है, अगर तुम्हारी मृत्यु हो गयी, तो उसे तो वे लोग बर्दाश्त कर ही लेंगे।"

इसी प्रकार उन्होंने प्रायः डेढ़ दो घंटे तक हम लोगों से बातें कीं। बातें करने का तरीका भी ऐसा था कि हम लोगों के दिल पर उसका बहुत गहरा असर हुआ। अन्त में उन्होंने कहा—"ठीक इसी समय उत्तर देना जरूरी नहीं है, क्योंकि सवाल गहन है, विचार करके हमसे एक दिन फिर मिलो और तब अपनी राय दो।" हम लोग वहाँ से, एक प्रकार से खोये हुए-से होकर, निकले। अपने 'मेस' में वापस आये। उनकी बातों का इतना असर पड़ा था कि कोई दूसरी बात सूझती ही न थी।

हम दोनों उनकी बातों पर विचार करने लगे। मुझे तो कई दिनों तक नींद नहीं आई। खाना-पीना सब कुछ बरायनाम रह गया। स्वदेशी के दिनों में देश की बातें सामने आती थीं। देशसेवा की भावना भी जब-तब जाग्रत होती थी। पर इसके पहले कभी इस तरह से यह प्रश्न सामने नहीं आया था और न कभी ऐसे बड़े आदमी से मिलकर इस प्रकार के मार्मिक शब्दों के सुनने का ही सौभाग्य हुआ था। एक ओर उनकी बताई देश के लिए हम जैसे लोगों की सेवा की जरूरत; दूसरी ओर भाई पर घर का सारा बोझ लादना! मेरे भी दो पुत्र हो चुके थे और उनके भी तीन पुत्रियाँ थीं और एक लड़का। माँ अब तक जीवित थीं। वह क्या कहेंगी, घर के दूसरे लोगों को कैसा दुख होगा इत्यादि भावनाएँ इतनी सताती रहीं कि जैसा ऊपर कहा है—खाना-पीना तक प्रायः छूट गया। हम दोनों के सिवा इन बातों को दूसरा कोई जानता नहीं था। भाई साथ में ही थे, पर उनसे भी नहीं कहा। किसी दूसरे साथी से भी नहीं कहा। हाइकोर्ट जाना भी बन्द रहा। टहलना-घूमना छूट गया। कहीं न कहीं एकान्त ढूँढ़कर बैठना और चिन्ता करना, यही एक काम रह गया।

प्रायः दस-बारह दिनों तक यही सिलसिला चला। भाई को कुछ शक हुआ कि तबीयत ठीक नहीं है। उनको कुछ कहकर टाल दिया। अभी अपना जी नहीं भरता था तो उनसे क्या कहूँ।

कई दिनों की इस प्रकार की चिन्ता के बाद मैंने एक दिन निश्चय किया कि मुझे माननीय गोखले की बात मानकर उनकी सोसाइटी में शरीक हो जाना चाहिए। मेरी हिम्मत नहीं होती थी कि भाई से मैं खुलकर कहूँ, क्योंकि मुझे डर था कि उनको इससे बहुत दुख होगा। मैंने एक लम्बा पत्र लिखा, जिसमें सब बातें खोलकर लिख दीं और उनसे आज्ञा माँगी कि मुझे जाने दें। एक दिन संध्या को वह पत्र उनके बिस्तर पर, जब वह कहीं टहलने गये थे, मैंने रख दिया। मैं खुद कालेज-स्क्वायर में, जो नजदीक ही था, जाकर बैठ गया। उन्होंने पत्र पढ़ा, और मेरी तलाश करने लगे। मुलाकात नहीं हुई। जब मैं लौटा तो उनका हाल बेहाल देखा। वह उस रात तो कुछ बोल न सके। मैंने देखा कि जो विचार मुझे सता रहे थे वही उनको भी सता रहे हैं। उनका जी चाहता है कि मुझे न रोकें, पर अपने को परिवार का इतना बड़ा बोझ उठाने में असमर्थ पाते हैं। वह मुझसे मिलकर फूट-फूटकर रोने लगे। मैं भी अपने को रोक न सका। मैं भी रोने लगा।

मैं तो उनके उस रोने से ही उनके मन का भाव ताड़ गया। अधिक कुछ कहने की मेरी हिम्मत ही न हुई। राय हुई कि घर चलकर माँ-चाची और बहन से भी सलाह करनी चाहिए। मैंने माननीय गोखले से जाकर यह हाल कह दिया। मैं समझ गया था कि अब मुझसे इन सबके प्रेम के बन्धन को काटना नहीं हो सकेगा। ऐसा ही उनसे कह भी दिया। उन्होंने भी आशा छोड़ दी। मेरे साथी श्रीकृष्ण ने अन्तिम निश्चय करने के पहले कुछ दिनों तक पूना जाकर वहाँ का सब हालचाल देखना चाहा। माननीय गोखले ने इस बात को पसन्द किया। पूना जाकर श्रीकृष्ण कुछ दिनों तक रहे भी। पर अन्त में उनका भी निश्चय हुआ कि वह सोसाइटी में शरीक न हो सकें।

हम दोनों भाई जीरादेई पहुँचे। वहाँ जब घर की औरतों ने सब बातें सुनीं तो सब परीशान हो गयीं। माँ का तो प्रेम इतना रहता था कि वह कभी कुछ बोलती ही नहीं थीं। पर मेरी बहन, जो हमेशा से कुछ तेज बोलनेवाली हैं, कहने लगीं कि तुमने विलायत जाने की बात उठाकर बाबूजी को रुलाया और अब इस उम्र में साधु बनना चाहकर भाई को रुलाते हो। बस इतना कह वह स्वयं भी रोने लगीं। घर-भर में कोलाहल मच गया। उस कोलाहल में मेरी बची खुची हिम्मत, जो कलकत्ते में ही कमजोर पड़ गयी थी, अब बिल्कुल टूट गयी।

घर पर कुछ दिनों तक ठहरकर मैं फिर कलकत्ते चला गया। घर के लोगों को विश्वास हो गया कि मैं उन सबकी मर्जी के खिलाफ ऐसा काम नहीं करूँगा। इसी पसोपेश में प्रायः चार-पाँच सप्ताह बीत गये। मैंने विचार तो छोड़ दिया, पर दिल में व्यथा बनी रही। कई हफ्तों तक कुछ परेशान-सा ही रहा। आहिस्ता-आहिस्ता वह

परेशानी दूर हुई। एक नतीजा इसका यह हुआ कि बी० एल० की परीक्षा, जो उसके थोड़े ही दिनों के बाद होनेवाली थी, मेरे लिए कठिन समस्या हो गई। पढ़ने में जी नहीं लगता। परीक्षा के दिन निकट आ गये। किसी प्रकार परीक्षा पास कर ली। ऊँचा स्थान मिलने का तो सवाल ही नहीं था, क्योंकि पढ़ा ही नहीं था। पास करने में भी जी में डर लगता था, पर किसी तरह पास कर गया। उसके एक बरस के बाद वकालत शुरू की; क्योंकि उमीदवारी का समय अभी पूरा नहीं हुआ था। शुरू वकालत का हाल ऊपर लिख चुका हूँ।

१७—तिलक-दहेज की प्रथा

उपरोक्त घटना के थोड़े ही दिनों के बाद माँ की मृत्यु हो गयी। दशहरे की लम्बी छुट्टी में मैं घर आया था। कार्तिक के महीने में उनकी आदत थी कि संध्या के समय भी स्नान करके तुलसीपूजन करतीं और दिया जलातीं। इसीमें एक दिन ठंढ लग गयी। ज्वर और कफ की बीमारी हो गयी। हम दोनों भाई घर पर ही थे। बहुत दवा इलाज किया गया, पर वह बच न सकीं। चार-पाँच दिनों की बीमारी के बाद ही जाती रहीं। उस समय भाई के पैरों में कुछ दर्द हुआ था। कुछ ऐसी भावना लोगों में थी कि पिता का श्राद्ध बड़े लड़के को और माता का श्राद्ध छोटे लड़के को करना चाहिए। इसलिए सब क्रिया मैंने ही की।

भाई की बड़ी लड़की अब इतनी बड़ी हो चुकी थी कि उसका विवाह कर देना जरूरी था। माँ के जीवन-काल से ही बातचीत चल रही थी। हमारे समाज में लड़की का विवाह एक भारी हंगामा है। पहले तो पसन्द के लायक लड़का मिलना कठिन होता है। इसमें जाति-पाँति का बखेड़ा तो रहता ही है। इसके अलावा यह भी देखना पड़ता है कि उसके घर में कुछ सम्पत्ति भी होनी चाहिए ताकि लड़की को वहाँ जाकर कष्ट न होवे। छुटपन में शादी होने के कारण लड़का अभी स्वावलम्बी हुआ नहीं रहता। इसलिए घरवालों पर ही लड़की के पालन-पोषण का भार पड़ जाता है और यह देखना जरूरी हो जाता है कि घरवाले इस योग्य हैं या नहीं। मेरी अपनी शादी शायद ग्यारह बरस की उम्र में हुई थी। मैं पचीस-छब्बीस बरसों का हो चुका था। अभी तक पढ़ता ही रहा। उन चन्द महीनों के सिवा, जब मुजफ्फरपुर-कालेज में प्रोफेसरी करता रहा, अभी तक कुछ कमाया नहीं था। भाई ने भी कुछ उपार्जन नहीं किया था। स्कूल की मास्टरी में उन्हें जो थोड़ा मिलता था वह वहीं पर खर्च हो जाता था। इसलिए घर में जो जमीन्दारी थी उसी से सब काम चलता था। भाई ने इन्तजाम अच्छा कर लिया था। इसलिए अब वैसा कष्ट नहीं अनुभव होता था जैसा बाबूजी के मरने के समय हुआ था। तो भी लड़की की शादी में तो बहुत खर्च होता ही।

लड़की की शादी के लिए अगर अच्छा घर और अच्छा लड़का मिल भी गया तो लड़के के घरवालों को राजी करना कुछ आसान काम नहीं होता। उन दिनों

लड़के को राजी करने की बात नहीं होती थी, क्योंकि लड़का प्रायः कम उम्र का ही होता था और माँ-बाप की रजामन्दी ही उसकी रजामन्दी समझी जाती थी। तब से आज तक बहुत अन्तर पड़ गया है। अब लड़कों की शादी कुछ उम्र बढ़ जाने पर ही होती है, विशेष करके उन कायस्थों में, जो कुछ शिक्षित हैं। लड़के के पिता-माता की रजामन्दी हासिल करना आसान नहीं होता था। उनको भी लड़कीवालों के घर और खान्दान के बारे में पता लगाकर अपने को सन्तुष्ट करना पड़ता था कि उनकी प्रतिष्ठा के योग्य कन्या-पक्ष के लोग हैं या नहीं। यह सब ठीक जँच जाने पर तिलक-दहेज की बात उठती थी।

लड़कीवाले को वर-पूजा के समय—जिसे हमारे समाज में 'तिलक' कहते हैं—रुपये, बर्त्तन, कपड़े इत्यादि देने पड़ते हैं। फिर शादी के समय बरात आने पर भी सब चीजें और नगद रुपये देने पड़ते हैं। लड़की को रुपये देना पिता का धर्म हो सकता है। पर हमारे समाज में पिता के—अपने दिल से और प्रेम से—देने की बात नहीं रहती है। शादी के पहले ही बातचीत करके तय कर लिया जाता है कि तिलक के समय इतना देना होगा और शादी के समय बरात जाने पर इतना दहेज देना होगा। यह प्रथा हजार कोशिश करने पर अभी तक जारी है! सभी जातीय सभाओं में प्रस्ताव पास होते हैं कि इसे उठा देना चाहिए, पर घटने की जगह यह प्रथा बढ़ ही रही है। जिन जातियों में यह प्रथा नहीं थी उनमें भी प्रचलित होती जा रही है। जिनमें पहले से चलती थी उनमें तिलक-दहेज की रकम अब बहुत बढ़ती जा रही है।

अगर आज मेरी शादी होने को होती और मैं उस प्रथा से तिलक-दहेज लेकर शादी करना चाहता, तो मुझ-जैसे युनिवर्सिटी-परीक्षा में सफल विद्यार्थी के लिए, जहाँ मेरी शादी में डेढ़-दो हजार के लगभग मिले थे, आज की दर से दस-पन्द्रह हजार की रकम भी बड़ी रकम नहीं समझी जाती। इस समय की दर तो इतनी बढ़ गयी है और बढ़ती जा रही है कि कुछ ठिकाना ही नहीं मालूम होता। जिसके घर में कुछ नहीं है, पर जो कुछ पढ़ने में तेज है, वह मामूली तौर से तीन-चार हजार की फरमाइश तो कर ही देता है।

हाँ, एक फर्क हुआ है। मेरी शादी के समय लड़के को खुश करने की बात नहीं होती थी, क्योंकि दस-बारह बरसों का लड़का तो खिलौनों से भी खुश किया जा सकता था, और लड़के से शादी की बातें करना या लड़के का खुद अपने विवाह-सम्बन्ध की बातें करना बहुत बुरा माना जाता था। इसलिए अगर माता-पिता राजी हो गये तो वही काफी होता था। पर आज-कल के पढ़े-लिखे लड़कों को अलग से राजी करना पड़ता है। वे अपनी फरमाइश अलग कर देते हैं और इस तरह माँग, या कीमत, बहुत बढ़ जाती है।

भाई की लड़की की शादी जाने हुए घर में होने की बात थी, क्योंकि वर के बड़े भाई लोग हम लोगों के साथ कलकत्ते में पढ़ते थे और लड़का भी वहाँ पढ़ा करता था। इसलिए आशा थी कि सब बातें आसानी से तय हो जायँगी। पर पुरानी रूढ़ि

जल्दी छूटती नहीं, इसलिए हम लोगों को भी दिक्कत तो उठानी ही पड़ी। ईश्वर की दया से सम्बन्ध बहुत अच्छा हो गया, और दोनों पक्ष बहुत संतुष्ट हैं। सब कुछ होने पर भी घर में रुपये तो थे नहीं। अन्न तो खेतों में पैदा होता था, इसलिए उसकी बहुत चिन्ता नहीं थी; पर नगद खर्च के लिए हम दोनों भाइयों को कर्ज लेना पड़ा।

१८—वकालत का आरम्भ और एम० एल० की परीक्षा

भतीजी की शादी के थोड़े दिनों के बाद मैंने कलकत्ते में वकालत शुरू कर दी। शुरू का कुछ हाल तो पहले लिख चुका हूँ। काम शुरू करते ही मुझे मुकदमे मिलने लगे। मैंने जिस दिन से वकालत शुरू की, घर से अपने खर्च के लिए कभी कुछ नहीं लिया। मुझे इस बात की चिन्ता थी कि घर से कुछ मँगाना पड़ेगा तो भाई पर बड़ा बोझ पड़ेगा और विशेषकर लड़की की शादी के खर्चे के बाद उनकी कठिनाई अब और भी अधिक हो जायगी। पर कुछ इत्तफाक ऐसा हुआ कि हर महीने थोड़ी-बहुत आय हो जाती और वह खर्च के लिए काफी होती। कलकत्ते में खर्च तो छोटे शहरों के मुकाबले अधिक पड़ता ही, है तो भी काम चल निकला। जैसा जस्टिस चटर्जी ने कहा था, मेरे पास धनी मवक्किल नहीं आये। केवल एक आदमी—रायबहादुर हरिहरप्रसाद सिंह ने, मैंने जिस दिन से वकालत शुरू की उसी दिन से, अपनी जमीन्दारी के सब छोटे-बड़े मुकदमे मेरे सुपुर्द किये। वह मुझे जानते थे और विलायत जाने के समय उन्होंने कुछ रुपये भी दिये थे। ऐसा इत्तफाक हुआ कि उनका ही मुकदमा मेरी वकालत का आखिरी मुकदमा भी हुआ, क्योंकि वकालत छोड़ने के समय उनके ही बहुत बड़े मुकदमे में मैं काम कर रहा था।

गरीब मवक्किलों के मुकदमों में कोई दूसरा वकील भी नहीं होता था और अक्सर मुझे ही बहस करनी पड़ती थी। परिश्रम करके काम करता; इसलिए बहुत जल्द जज लोग भी मुझे पहचानने लगे। बहुत लोगों की आदत होती है कि जजों से बहुत मिला करते हैं; मैंने ऐसा कभी नहीं किया। उनसे मेरी मुलाकात इजलास की ही रही। उनमें बहुतेरे, जिनके सामने मुझे काम करने का मौका मिला, मुझसे खुश रहे। सर लौरेन्स जेन्किन्स चीफ जस्टिस थे। मेरे वकालत शुरू करने के एक-डेढ़ साल बाद ही वह चले गये, पर इतने थोड़े दिनों की वकालत से ही मुझसे इतने प्रसन्न थे कि जाने के समय अपने हस्ताक्षर के साथ अपनी एक तस्वीर मुझे दे गये। सर आशुतोष की बात ऊपर लिख ही चुका हूँ कि उन्होंने एक मुकदमे में जूनियर वकील की हैसियत से मुझे काम करते हुए देखकर लॉ-कालेज की प्रोफेसरी मुझे दे दी। इस तरह मैं अपनी कामयाबी से खूब खुश था।

मुजफ्फरपुर-कालेज के मेरे पुराने साथी बाबू वैद्यनाथनारायण सिंह ने भी कलकत्ते में आकर हाइकोर्ट में मेरे साथ ही वकालत शुरू कर दी थी। हम दोनों में घनिष्ठ मित्रता हो गयी थी। इसी बीच में बिहार सूबे के भी, १९११ के दिसम्बर

में शाही दरबार के वक्त, बंगाल से अलग होने की घोषणा हुई और १९१२ के एप्रिल से बिहार एक नया सूबा हो गया। अभी तक हाइकोर्ट और युनिवर्सिटी अलग कायम नहीं हुई थी। बिहार के मुकदमे कलकत्ते में ही फैसल हुआ करते थे और बिहार के विद्यार्थी कलकत्ता-युनिवर्सिटी की ही परीक्षाओं में बैठते थे। पर सूबा अलग होने के थोड़े ही दिनों बाद हाइकोर्ट अलग करने की बात होने लगी। जर्मनी के साथ लड़ाई शुरू हो जाने से कुछ विलम्ब होने की सम्भावना हो गयी, पर ऐसा हुआ नहीं, और मालूम हुआ कि मकान वगैरह तैयार हो जाने पर हाइकोर्ट भी खुल जायगा।

वैद्यनाथ बाबू ने मुझसे कहा कि एम० एल० की परीक्षा देनी चाहिए। मैं उस समय वकालत में बहुत दिलोजान से लग गया था और खूब कामयाब भी होना चाहता था। मैंने उनकी बात मान ली। हम दोनों एक साथ एम० एल० परीक्षा के लिए तैयारी करने लगे। कलकत्ता-युनिवर्सिटी की परीक्षाओं में यह सबसे कठिन परीक्षा समझी जाती थी। हम दोनों को कचहरी में काम भी काफी रहता था; इसलिए पढ़ने का समय कम मिलता था। फिर लॉ-कालेज में प्रोफेसरी हो जाने के बाद तो मैं और भी अधिक समय का अभाव अनुभव करने लगा। कभी-कभी इस परीक्षा की झंझट से बच जाने का भी जी चाहता था; पर वैद्यनाथ बाबू छोड़ना नहीं चाहते थे। वह बार-बार जोर देकर मुझको पढ़ने के लिए कहते रहते। कभी-कभी तो जिस तरह मास्टर लड़कों को पढ़ाते हैं उस तरह मुझे पढ़ाते। वह मुझसे बार-बार कहते—"आपने एण्ट्रेन्स से बी० ए० तक सब परीक्षाओं में औवल स्थान पाया, एम० ए० में कुछ नीचे हुए और बी० एल० तो किसी प्रकार पास किया। इन अन्तिम परीक्षाओं का फल आपके विद्यार्थी-जीवन का कलंक है। उसको धो देना चाहिए औ वह एम० एल० पास करके ही आप धो सकते हैं।' इन सब दलीलों का और उनकी मास्टरी का नतीजा यह हुआ कि हम दोनों खूब परिश्रम करने लगे। विचार हुआ कि १९१५ के दिसम्बर में होनेवाली परीक्षा में हम दोनों बैठेंगे और ऐसा सोचकर इसकी तैयारी की गयी।

जितना परिश्रम मैंने इस परीक्षा के लिए किया उतना परिश्रम कभी किसी परीक्षा के लिए नहीं किया था। एण्ट्रेन्स में तो मानों बिना जाने मैं सफल हो गया। एफ० ए० में औवल होने के लिए जान-बूझकर प्रयत्न किया, पर तो भी उसमें इतना परिश्रम तो कभी किया ही नहीं। बी० ए० में तो कुछ भी परिश्रम नहीं किया था। एम० ए० और बी० एल० के समय दूसरे विचारों में फँस गया था। किन्तु एम० एल० की परीक्षा के समय मैं अन्तिम दो-तीन महीनों में १५-१६ घंटों तक पढ़ा करता था। कचहरी, लॉ-कालेज तथा परीक्षा की तैयारी मिलाकर इतनी मेहनत पड़ी कि एक बार सख्त बीमार पड़ गया और भय हुआ कि सब मामला अब खतम हो जायगा।

१९१६ के मार्च से पटने में हाइकोर्ट खुलनेवाला था। हम दोनों समझ गये थे कि कलकत्ते में रहते हुए अगर हमने पास नहीं किया तो पटना जाकर हमसे यह

काम नहीं होगा; १९१५ की परीक्षा ही हम लोगों के लिए प्रथम और अन्तिम परीक्षा होगी; इसलिए हमको जरूर पास करना चाहिए। परीक्षा के समय जजों से कहकर कुछ दिनों के लिए छुट्टी ले ली; अपने मुकदमों को मुलतवी करा दिया। हम लोगों के मुकदमे प्रायः बिहार के ही होते थे; इसलिए कुछ दिनों से वे वहाँ भी उन्हीं जजों के यहाँ पेश होते थे जिनके पटना आने की खबर थी। कहने से उन्होंने खुशी से मुकदमे मुलतवी कर दिये।

परीक्षा देकर हम लोग हाइकोर्ट के साथ पटने चले आये। परीक्षा का फल पटने आने के बाद मालूम हुआ। हम ही दोनों पास हुए। मैं फर्स्टक्लास में पास हुआ और वैद्यनाथ बाबू सेकेण्ड क्लास में। हम ही दो बिहारी थे जिन्होंने पहले-पहल यह परीक्षा पास की। पीछे मालूम हुआ कि मुझे बहुत अधिक नम्बर मिले थे। युनिवर्सिटी के नियम के अनुसार एम० एल० परीक्षा पास करने के बाद मौलिक निबन्ध लिखकर देने पर डी० एल० की उपाधि मिल सकती है और इस तरह आदमी कानून का डॉक्टर हो सकता है। हम दोनों पटने में विचार करने लगे कि किसी अच्छे विषय पर निबन्ध लिखा जाय। इस सम्बन्ध में सर गुरुदास बनर्जी से भी हम मिले थे और राय ली थी।

कलकत्ते की वकालत के कुछ चुटकले मनोरंजक हैं। वकालत शुरू करने के थोड़े ही दिनों के बाद एक मवक्किल के मुख्तार मेरे पास एक अपील दायर करने के लिए आये। उनकी राय थी कि एक सीनियर वकील भी रखें। एक सीनियर वकील का नाम, जिनकी वकालत बहुत जोरों से चली थी और जिनके हाथ में बिहार के बहुत मुकदमे रहा करते थे, उन्होंने मुझसे कहा। मुझे खुशी हुई कि बड़े वकील के साथ काम करने का मौका मिलेगा। उनसे मेरी मुलाकात नहीं थी।

हम दोनों उनके घर पर गये। मैंने कागज पढ़कर बुद्धि के अनुसार अपील की दर्खास्त लिख ली थी। संध्या के समय हम दोनों पहुँचे। वह काम कर रहे थे। उनकी आदत थी कि रात को काम नहीं करते थे। संध्या होते ही काम बन्द कर देते और फिर दूसरे दिन सवेरे काम करते। वह कागज-पत्र समेट ही रहे थे कि हम लोग पहुँचे। मुख्तार को वह पहले से जानते थे—उनसे पूछा कि क्या काम है। मुख्तार ने कहा कि एक दोयम अपील दायर करनी है। उन्होंने दूसरे दिन मुख्तार को बुलाया और पूछा कि किसी जूनियर से दर्खास्त वगैरह लिखवायी है या नहीं। मुख्तार ने कहा कि सब कुछ तैयार है। इसपर उन्होंने जूनियर का नाम पूछा। मेरा नाम मुख्तार ने बता दिया। मैं तो वहीं चुप बैठा था। उन्होंने मुझे देखा भी या नहीं, मैं नहीं कह सकता। वह बिगड़कर बोले—"न मालूम कैसा उजबक वकील तुमने रखा है जिसको मैं जानता भी नहीं हूँ। सब काम मुझे ही करने होंगे। वह न कुछ जानता होगा और न कुछ समझेगा।" मवक्किल ने कहा—वह नये हैं, मगर बहुत तेज हैं। इसपर उन्होंने फिर उजबक वगैरह कह दिया। मैं चुप बैठा रहा। मविक्कल ने तब मेरी तरफ इशारा करके कहा कि यही तो हैं। यह सुनते ही उनके बदन पर मानों उस सर्दी के जमाने में हजारों घड़े पानी पड़ गया और बहुत घबराकर मुझसे कहने लगे—"तुमको आते ही

मुझसे जान-पहचान कर लेनी चाहिए थी। मैं तुमको जानता नहीं हूँ। मेरा मतलब कुछ तुम्हारी शिकायत करने का नहीं था। मैं तो तुमको जानता नहीं हूँ, इसलिए कहा कि कोई नया वकील काम ठीक नहीं जानता होगा।" और, इस प्रकार की बातें कहते-कहते वह माफी माँगने लगे।

मैंने कहा कि आपका कहना स्वाभाविक था; आप मुझे जानते नहीं हैं, और मैं तो अभी बिलकुल नया हूँ। तब वह सब हालचाल पूछने लगे, और दूसरे दिन कचहरी में ही कागज दिखलाने को कहकर हम दोनों को विदा किया। दूसरे दिन जब कचहरी में ही मैंने अपनी लिखी दर्खास्त उन्हें दिखलाई, तब बहुत खुश हुए और मवक्किल तथा दूसरे वकीलों के सामने मेरी तारीफ का पुल बाँध दिया। उसके बाद मुझे उनके साथ बहुत काम करने का मौका मिला और मुझे वह बहुत मानते रहे। मेरे साथ उनकी शिकायत एक बात की रहती। कपड़े पहनने में मैं लड़कपन से ही कुछ उलूल-जलूल रहा हूँ। वह इसे नापसन्द करते थे और कपड़े के बारे में शौकीन होने की शिक्षा जब-तब दिया करते थे।

इसके बरक्स (विपरीत), एक दूसरी घटना घटी। मैं अपनी आदत से मजबूर हूँ। जिससे कोई काम नहीं पड़ता, उससे कभी आगे बढ़कर जान-पहचान करने की शक्ति मुझमें नहीं थी और न आज भी है। यद्यपि डेढ़-दो बरसों से मैं वकालत करता था; फिर भी डाक्टर रासविहारी घोष से मेरी मुलाकात नहीं थी। उनके खिलाफ में बहस करके एक बड़ा मुकदमा तो मैंने जीत लिया था; पर उनके साथ काम करने का मौका नहीं मिला था। एक मुकदमे में वह मौका आया। दूसरी ओर से सर एस० पी० सिन्हा थे। हमारी ओर से सर रासविहारी घोष और बाबू कुलवंत सहाय थे, जो पीछे पटना-हाइकोर्ट के जज हुए। गया का मुकदमा था और गया के एक वकील भी आये थे।

बड़े वकीलों और बैरिस्टरों की चाल थी कि जब दूसरे पक्ष की बहस होती, तब वे किसी दूसरे इजलास में बहस करते और जवाब देने के वक्त आ जाते। बहुत मुकदमे हाथ में ले लेने का यही नतीजा होता था। कभी-कभी वे नहीं भी पहुँच पाते थे। वैसी हालत में जूनियर को ही काम कर देना पड़ता था। जो मुकदमा मैंने सर रासविहारी घोष के खिलाफ बहस करके जीत लिया था, उसमें ऐसा ही हुआ था। मेरे सीनियर साहब दूसरे इजलास में फँसे थे, मुझे ही बहस करनी पड़ी। जब दूसरे पक्ष की बहस होती रहती और सीनियर रहाजिर रहते तो जूनियर को बहस का नोट लेकर सीनियर को दिखलाना पड़ता। उसी नोट को पढ़कर दूसरी ओर की बहस को वह समझते और जवाब देते। यह कुछ बड़ा मुकदमा था, जिसमें तीन-चार दिनों तक बहस होती रही। सर सिन्हा की बहस के नोट करने का काम मेरा था; क्योंकि सबसे जूनियर मैं ही था। सर सिन्हा आहिस्ता-आहिस्ता और बहुत अच्छी तरह से बहस किया करते थे। इसलिए नोट लिखने में मुझे कोई विशेष तकलीफ नहीं हुई। मैं कुछ तेज लिखने का आदी शुरू से ही रहा हूँ। कालेज में मिस्टर पर्सिवल

बहुत तेज पढ़ाया करते थे और मैं प्रायः सब कुछ नोट कर लिया करता था। इस तरह यह आदत और भी बढ़ गई थी। इसमें काफी प्रोत्साहन 'डॉन सोसाइटी' के क्लासों में भी मिला था।

मैंने सर सिन्हा की बहस का अच्छा नोट लिख लिया। दिन-भर की बहस खतम हुई। संध्या को हम सब सर रासविहारी घोष के घर पर गये। उन्होंने बहस का सारा नोट बहुत ध्यान से पढ़ लिया। मैं कुछ डरता भी था, कुछ उत्सुक भी था कि देखें क्या कहते हैं। वह गुस्सेवर (क्रोधी) थे और जूनियर से गलती होती तो बहुत बिगड़ जाते थे। जज लोग भी यह खूब जानते थे। कभी-कभी इजलास पर ही कागज और किताब पटक दिया करते थे। इससे जूनियर बहुत डरा करते थे। मेरा तो यह पहला ही मौका था। पढ़कर उन्होंने सिर उठाया और पूछा कि नोट किसने तैयार किया है। मैंने समझा, अब शायद बिगड़ेंगे; उनके मन के ुताबिक नोट तैयार नहीं हुआ है। बाबू कुलवंत सहाय के मन ें भी शायद कुछ ऐसा ही शक हुआ। उन्होंने मेरी तरफ इशारा कर दिया। इसपर सर रासबिहारी ने मुझसे पूछा—"कितने दिनों से काम करते हो ? मैं तो तुमको जानता नहीं हूँ।" यह सब बातें होती जातीं और मन ही मन मैं काँपता जाता था कि अब कुछ होगा। बाबू कुलवंत सहाय ने कहा—"थोड़े ही दिनों से।" गुस्सा करने के बदले उन्होंने मेरी पीठ ठोकना शुरू कर दिया और कहा कि नोट बहुत अच्छा तैयार हुआ है। बाबू कुलवंत सहाय की हिम्मत बढ़ी और उन्होंने मेरी युनिर्वासिटी-परीक्षाओं का हाल कह दिया। बहुत खुश हुए और मुझसे कहा—"ऐसे ही परिश्रम से काम करो, तुम बहुत अच्छे हो जाओ े।"

मुझे बड़ा सन्तोष हुआ। उसके बाद जब कभी उनके साथ काम करने का मौका होता, तब वह मेरे नोट पर बहुत विश्वास करते और उसको ठीक समझकर उसका पूरा उपयोग कर लेते। उसी मुकदमे में एक दूसरा दृश्य भी मैंने देखा। उन्होंने एक बात पूछी और जानना चाहा कि इस बात पर कोई सबूत है या नहीं। मैं तो चुप रहा, पर गया के वकील ने कहा कि कोई सबूत नहीं है। इसपर उन्होंने कहा कि जब सिन्हा ने कहा है कि सबूत है, तब जरूर कुछ होगा—ध्यान से आज रात को सब कागज देख लो, और तब कल सवेरे मुझे उत्तर देना। दूसरे दिन सवेरे उन्होंने फिर सवाल किया और वकील ने वही उत्तर दिया। रात को कागज उन्होंने पढ़ा था और निशान लगाकर रक्खा था। वकील के जवाब पर बिगड़ गये—कागज और उनका बनाया नोट फेंक दिया—"मैं तुम्हारे नोट पर भरोसा करके बहस करता हूँ। अब मैं कैसे भरोसा कर सकता हूँ ?" और अपना निशान लगाया हुआ हिस्सा दिखलाकर बहुत भला-बुरा कह दिया। मैंने एक ही मुकदमे में दोनों चीजें देख लीं, और अपना भाग्य सराहा कि मुझसे गलती नहीं हुई थी।

एम० एल० की परीक्षा दे चुका था। फल मालूम नहीं हुआ था। पटने आने के चन्द दिन ही बाकी रह गये थे। एक छोटा, मगर पेचीदा मुकदमा मेरे हाथ में था। उसकी बहस दो जजों के सामने करनी पड़ी, जो दोनों पटने आनेवाले थे। एक अभी

मुस्तकिल जज नहीं हुए थे---थोड़े दिनों के लिए ही हाइकोर्ट में गये थे और फिर चन्द दिनों के लिए पटने चले आये। यह बहस दो-तीन दिनों तक चली थी। हम जीत गये थे, और उनपर मेरी बहस का अच्छा प्रभाव पड़ा था। उनको मालूम हो गया था कि मैंने एम० एल० की परीक्षा भी दी है। पटने आकर हाइकोर्ट खुलने के पहले ही उन्होंने दूसरों से मेरी तारीफ की कि कलकत्ता हाइकोर्ट से आनेवाले वकील अच्छे हैं और यहाँ के बड़ों का मुकाबला कर सकें। जब हाइकोर्ट खुला तब मुझे इसका अनुभव भी हुआ।

दोयम अपील में केवल कानूनी बहस हो सकती है। वाकयाती बातों पर नीचे की अदालत का फैसला मान लिया जाता है। दोयम अपील छोटे-छोटे मुकदमों में ही होती है। मेरे मवक्किल गरीब हुआ करते थे। कलकत्ते में ज्यादातर दोयम अपीलें ही मेरे हाथ में आई थीं। इसलिए उनकी बहस में कानूनी बहस ही करने के लिए मुझे अधिक कानून पढ़ना पड़ता था। मैंने नियम कर लिया था कि ऐसा मुकदमा मैं दायर ही नहीं करूँगा, जिसमें अच्छी तरह मैं खुद यह न समझ लूँ कि फैसला कानूनी तौर पर गलत है और मैं उसे बहस में जीत सकूँगा। इसलिए दोयम अपील के मुकदमे मैं अक्सर जीता करता था। पटने में आकर मैंने यही नियम रक्खा।

दोयम अपील में मंजूरी के लिए बहस होती है। जब जज समझते हैं कि कुछ गलती है या कम से कम बहस की गुंजाइश है, तभी मंजूर करते हैं और दूसरे पक्ष को हाजिर होने की नोटिस देते हैं। पटने के रजिस्ट्रार, जो कुछ कम कानून जानते थे, सभी दोयम अपीलों को नामंजूर कर देते थे। मेरी अपील भी नामंजूर कर देते। पर नियमानुसार उनका अधिकार इतना ही था कि अगर वह किसी अपील को मंजूर करने योग्य न समझें तो उसे जजों के सामने भेज दें। मेरी बहुतेरी अपीलें इस प्रकार जजों के सामने उन्होंने भेजीं और प्रायः सब की सब वहाँ मंजूर हो गयीं। वह जज तो, जिसका मैंने जिक्र किया है, शायद कागज भी नहीं पढ़ता; मेरे खड़े होते ही मंजूर कर लेता। जब रजिस्ट्रार को भी विश्वास हो गया कि मैं रुपये लेने के लिए अण्टसण्ट मुकदमे नहीं दायर करता, तब उन्होंने भी वैसा करना शुरू कर दिया। मेरा यह भी अनुभव हुआ कि जिस मुकदमे को मैं यह समझकर कि उसमें कुछ जान नहीं है, नहीं दाखिल करता, मवक्किल दूसरे वकील की मार्फत दाखिल कराता और अन्त में हार जाता।

१९—पटना आना और पटना-युनिवर्सिटी बिल

सन् १९१६ के मार्च में पटने में हाइकोर्ट खुला। सभी बिहारी वकील, जो कलकत्ता-हाइकोर्ट में काम करते थे, और बहुतेरे बंगाली वकील भी—जिनको बिहार के मुकदमे मिला करते थे—पटने चले आये। मैं भी पटने चला आया। उन दिनों पटने में मकान मिलना कठिन हो गया। भाड़े का एक मकान लेकर मैं रहने लगा। कलकत्ते में ही मेरे हाथ में मुकदमे बहुत रहा करते थे। पटने में आने पर वकालत और भी चल निकली। मैं भी बहुत जी लगाकर काम करने लगा। पर यह हाल थोड़े ही दिनों तक रहा।

उसी समय कुछ महीनों के बाद, पटने में युनिवर्सिटी कायम करने के लिए दिल्ली की कौन्सिल में एक बिल पेश हुआ। हम लो ों ने उस बिल को बहुत खराब समझा। इसलिए उसके विरुद्ध आन्दोलन खड़ा किया गया। इसके पहले ही एक कमिटी बनी थी जिसने एक रिपोर्ट पेश की थी। उसकी मुख्य सिफारिशों ें एक यह भी थी कि शहर से तीन-चार मील की दूरी पर, फुलवारी शरीफ के नजदीक, युनिवर्सिटी कायम की जाय। उसकी इमारतों का खर्च भी प्रायः एक करोड़ के लगभग बताया गया था। कलकत्ते से ही मैंने उसका विरोध किया था। फिर जब मैं बिहारी छात्र-सम्मेलन का सभापति हुआ तो उस हैसियत से भी उसका जबरदस्त खण्डन किया। हम लोग समझते थे कि ऐसा होने से गरीब लड़कों के लिए युनिवर्सिटी-शिक्षा असंभव नहीं तो कठिन जरूर हो जायगी। वहाँ खर्च भी अधिक पड़ेगा और शहर से दूर होने के कारण सभी लड़कों को अधिक खर्च देकर होस्टल में रहना होगा। वहाँ उनको कोई आजादी भी नहीं रहेगी। इत्यादि।

उस विरोध को साधारण जनता से बहुत मदद मिली थी। वह योजना एक प्रकार से स्थगित हो गयी। नये बिल के सम्बन्ध में दूसरे प्रकार की बाधा थी। हम समझते थे कि सिनेट और सिण्डिकेट जैसा बनने जा रहे हैं वैसा बनने से तो उनमें जनता के सेवकों को स्थान ही नहीं मिल सकेगा—सब सरकारी आदमी ही, सारी युनिवर्सिटी को अपने हाथों में रखकर, सरकारी आज्ञा के अनुसार, मनमाने ढंग से चलावेंगे।

हमारे सामने कलकत्ता-युनिवर्सिटी थी। वहाँ के वाइस-चान्सलर लोगों ने शिक्षा के प्रचार में बड़ी निर्भीकता से काम किया था। विशेष करके सर आशुतोष हमारी आँखों के सामने थे। पर वहाँ के सिण्डिकेट और सिनेट अगर सर आशुतोष का साथ न देते तो वह बहुत कुछ न कर पाते। हम समझते थे कि हमारे यहाँ पहले तो उनके ऐसा आदमी जल्दी नहीं मिलेगा और अगर मिला भी तो वह सिनेट और सिण्डिकेट के बिरोध के सामने कुछ कर न सकेगा। इसलिए हम चाहते थे कि सिनेट और सिण्डिकेट में शिक्षकों के अलावा दूसरे लोगों को, जनता के प्रतिनिधि के रूप में, काफी जगहें दी जायँ।

युनिवर्सिटी-बिल के विरुद्ध बहुत बड़ा आन्दोलन हमने खड़ा किया। इस आन्दोलन में मेरे मित्र बाबू वैद्यनाथ नारायण सिंह और मैंने बहुत बड़ा भाग लिया। एक प्रकार से इसके संगठनकर्त्ता हम ही दोनों थे। प्रत्येक जिले में सभा की गई। हम दोनों ने अखबारों में कई लेख लिखे। चूँकि बिल दिल्ली की कौन्सिल में पेश हुआ था, इसलिए हमने जरूरी समझा कि और-और सूबों के मेम्बरों को भी बिहार के लोकमत से अवगत कर दें। सभी राष्ट्रवादी समाचारपत्रों ने विरोध किया। हमने पाँच या छः छोटी-छोटी पुस्तिकाएँ इस सम्बन्ध में लिखीं और छपवाईं। अन्त में बिहार प्रान्तीय कान्फ़्रेन्स का विशेष अधिवेशन करके इसपर विचार किया गया और सख्त विरोध हुआ। इस अधिबेशन के सभापति हुए थे पटने के नामी वकील रायबहादुर पूर्णेन्दु नारायण

सिंह। उन्होंने बड़ी समालोचनात्मक वक्तृता दी और उसी के अनुरूप प्रस्ताव भी स्वीकृत हुआ।

इसी बीच लखनऊ में, १९१६ के दिसम्बर में, काँग्रेस हुई। वहाँ हम सब बड़ी संख्या में गये। यद्यपि यह बिल एक खास प्रान्त (बिहार) से सम्बन्ध रखता था, और काँग्रेस ऐसे ही विषयों पर विचार किया करती थी जिनका सार्वदेशिक प्रभाव होता था, तथापि मैंने श्री सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, श्री परांजपे प्रभृति नेताओं से कहकर इस बिल के विरुद्ध प्रस्ताव उपस्थित करने का आयोजन किया। श्री परांजपे ने प्रस्ताव पेश किया और वह सर्व-सम्मति से पास हुआ। इस तरह बिल के विरुद्ध एक प्रकार का सार्वदेशिक आन्दोलन हो गया।

बिल के उपस्थित करनेवाले मेम्बर सर शंकर नायर थे। उन्होंने बिहार के मेम्बरों से सलाह की। बिल में काफी संशोधन किया गया। जिन-जिन बातों का अधिक विरोध हुआ था उनमें परिवर्तन कर दिया गया। मजहरुलहक साहब बिहार के प्रतिनिधि थे। वह हम लोगों से बराबर राय लेते गये। अन्त में हमारी सम्मति लेकर बहुत परिवर्तित रूप में बिल स्वीकृत हुआ।

यह पहला ही मौका था जब मैंने बिहार में सरकार के विरुद्ध एक इतना बड़ा आन्दोलन खड़ा कर दिया था और इसमें सफलता भी मिली थी। इसी समय से मैं काँग्रेस के काम में अधिक भाग लेने लगा। यों तो मैं १९११ से ही बराबर अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी का मेम्बर होता रहता; पर जब तक कलकत्ते में था, कुछ विशेष काम न कर सका। जब बिहार में आया तो लोगों का ध्यान भी मेरी तरफ गया और मैंने भी महसूस किया कि सार्वजनिक कामों में कुछ अधिक दिलचस्पी लेना जरूरी है। थोड़े ही दिनों में मैं बिहार प्रान्तीय काँग्रेस-कमिटी का सहकारी मंत्री भी बना दिया गया। इस पद पर मैं कई बरसों तक रहा। जब असहयोग-आन्दोलन शुरू हुआ और पुराने काँग्रेसी लोग अलग हो गये तब मैं मंत्री हो गया। जब युनिवर्सिटी बनी तो गवर्नर ने मुझे सिनेट का मेम्बर बना दिया।

१९१६ की काँग्रेस में बिहार-सम्बन्धी एक दूसरा प्रस्ताव भी पास हुआ था—चम्पारन के निलहे गोरों के विरुद्ध। इसका विस्तृत वर्णन अन्यत्र दिया जायगा।

हिन्दी तथा सेवाकार्य

कलकत्ते से पटने आने के पहले एक दो बातें और हुईं जिनका जिक्र कर देना उचित जान पड़ता है। छात्र-सम्मेलन का जिक्र तो आ ही चुका है। छात्रावस्था समाप्त हो जाने के बाद भी, जब मैं वकालत करता था, छात्र-सम्मेलन के साथ मेरा सम्बन्ध कायम रहा। छात्र लोग भी मेरा बहुत विश्वास करते और मैं भी अपने को उनमें से ही एक समझता।

छात्र-सम्मेलन के मुंगेरवाले अधिवेशन का मैं सभापति बनाया गया। उसी में युनिवर्सिटी-सम्बन्धी नेथन-कमिटी की रिपोर्ट का विरोध किया गया था। इसके

अलावा जहाँ जहाँ अधिवेशन होता, मैं जाता और दूसरे प्रकार से भी संगठन को सहायता देता।

उन्हीं दिनों हिन्दी के साथ भी प्रेम बढ़ा। स्कूल में, एक या दो बरसों तक, नीचे के वर्ग में, मैंने संस्कृत पढ़ी। उसके बाद फारसी पढ़ने लगा। संस्कृत छोड़ने का मुख्य कारण यह था कि बाबूजी चाहते थे, मैं वकील बनूँ। उनका खयाल था कि मुकदमे के कागज-पत्र फारसी में लिखे मिलते हैं, इसलिए फारसी पढ़ने से वकालत में मदद मिलेगी। पीछे मैंने घर पर कुछ संस्कृत पढ़ने की कोशिश भी की थी, पर वह बहुत दिन चल न सकी। इसलिए स्कूल और कालेज में मैंने बराबर फारसी ही पढ़ी। फारसी में नम्बर भी खूब आता था। अगर फारसी का नम्बर न होता तो मैं एण्ट्रेन्स में औवल नहीं होता; क्योंकि गणित में मुझे कम नम्बर आये थे। हिन्दी पढ़ने का तो कभी मौका ही नहीं आया। हिन्दी का अक्षर-मात्र जानता था। घर में माँ आदि रामायण पढ़ा करती थीं। इसलिए मुझे भी रामायण पढ़ने की चाह हो गयी थी। बहुत दिनों तक तो सबेरे रामायण का पाठ करके कुछ खाता-पीता। यह नियम कुछ दिनों तक चला था। हिन्दी के दूसरे ग्रन्थों को देखन का कभी मौका नहीं मिला था।

परीक्षा में एक पर्चा आता था जिसमें अँगरेजी से किसी देशी भाषा में और देशी भाषा से अँगरेजी में उलथा करने को कुछ दिया जाता था। एण्ट्रेन्स और एफ० ए० की परीक्षा में मैंने देशी भाषा के रूप में उर्दू ही ली थी। बी० ए० में पहुँचकर इच्छा हुई कि हिन्दी ले लूँ। बी० ए० में एक निबन्ध भी लिखना पड़ता था। मैंने हिन्दी ले ली। हिन्दी में पास भी कर गया। हिन्दी से सम्बन्ध इसी प्रकार आरम्भ हुआ।

कलकत्ते में हिन्दी के लेखक, विद्वान्, साहित्यिक और सेवक कई सज्जन रहते थे। उनमें से पंडित जगन्नाथप्रसाद चतुर्वेदी बिहार के रहनेवाले थे। बिहारी-क्लब में वह अक्सर आया-जाया करते थे। विशुद्धानन्द सरस्वती विद्यालय के प्रिन्सिपल पंडित उमापतिदत्त शर्मा भी बिहारी थे। उनसे भी उसी क्लब में मुलाकात हो गयी। इन लोगों के जरिये दूसरे लोगों से भी परिचय हो गया। कलकत्ते में हिन्दी-साहित्य-परिषद की स्थापना हुई। उसमें मैं काफी दिलचस्पी लेने लगा। उसके जन्म का साल तो याद नहीं है, पर इतना याद है कि उसके अधिवेशनों में मैंने भी कभी-कभी लेख पढ़े थे, जिनको विद्वानों ने पसन्द किया था। हममें से कुछ के दिल में खयाल उठा कि अखिल-भारतवर्षीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन भी होना चाहिए; और इस विषय के लेख लिखे गये। हिन्दी-साहित्य-सेवियों ने इस प्रस्ताव का स्वागत किया और काशी में पहला अधिवेशन हुआ। मैं भी उसमें उपस्थित था और पूज्य मालवीयजी सभापति हुए थे। इस प्रकार सम्मेलन के साथ मेरा सम्बन्ध उसके आरम्भ से ही हुआ।

जब तीसरा सम्मेलन कलकत्ते में होनेवाला था तो मैं स्वागतकारणी समिति का प्रधान मंत्री बनाया गया। अभी एक साल भी पूरा नहीं हुआ था कि मैंने वकालत शुरू की थी। बहुत लोगों से जान-पहचान भी नहीं थी। तथापि लोगों की ऐसी इच्छा हुई और मुझे यह भार उठाना पड़ा। इस सिलसिले में सम्मेलन के प्रमुख

नेताओं से परिचय हो गया। कलकत्ते के बड़ाबाजार के लोगों से तो विशेष परिचय हुआ। १९१२ के दिसम्बर में, कलकत्ते में सम्मेलन बड़ी सफलता से, पं० बदरीनारायण चौधुरी 'प्रेमघन' की अध्यक्षता में, हो गया। यह पहला अवसर था कि मुझे किसी अखिलभारतीय संस्था के अधिवेशन के प्रबन्ध का भार उठाना पड़ा। कड़ा परिश्रम करना पड़ा, पर ईश्वर की दया से सब काम ठीक हो गया।

ठीक उसी समय पटने में काँग्रेस होनेवाली थी। बिहारी होने की हैसियत से मुझे उसमें शरीक होना जरूरी मालूम पड़ता था और मैं चाहता भी था। सम्मेलन की तिथियाँ भी ऐसी रखी गयी थीं कि कोई चाहे तो सम्मेलन का काम समाप्त करके पटने की काँग्रेस में शरीक हो सकता था। पर स्वागत-समिति के प्रधान मंत्री होने के कारण मुझ पर इतनी जवाबदेही थी कि मैं कलकत्ते से न हट सका। इसलिए पटने की काँग्रेस में शरीक न हो सका।

पटने में पहुँचकर हम चन्द मित्रों ने गरीब विद्यार्थियों के सहायतार्थ एक कोष जमा किया, जिससे कुछ छात्रों को मदद दी जाती थी। यह काम छात्र-सम्मेलन ने ही आरम्भ किया था। पर पीछे मैंने इसको अपने हाथ में ले लिया था।

१९१४ में बंगाल और बिहार में बड़ी भयंकर बाढ़ आयी। पहली बाढ़ बर्द-

अनुभव हुआ कि कोई आदमी बड़े प्रेम से मेरे पैर और बदन दबा रहा है और मेरी थकावट दूर करने का प्रयत्न कर रहा है। देखा तो मेरे मित्र शम्भूशरण थे। वह भी दिन-भर मेरे साथ ही काम करके थके थे। पर उन्होंने अपनी थकावट की परवा न करके मुझे आराम पहुँचाया।

२०—गांधीजी से भेंट

१९१६ में लखनऊ की कांग्रेस बड़े समारोह के साथ हुई थी। १९०७ से जब काँग्रेस में दो दल हो गये, और गरम पार्टी काँग्रेस से अलग हो गयी, तब से काँग्रेस की लोकप्रियता कम हो गयी थी। उसके सालाना जल्सों में भी कम लोग आया करते थे। यहाँ तक कि १९१२ में जब पटने में काँग्रेस हुई, प्रतिनिधियों की संख्या बहुत कम थी। देश-हितैषियों की कोशिश थी कि दोनों दल मिला दिये जायँ जिससे काँग्रेस में फिर से जान आ जाय। यह प्रयत्न चलता रहा, पर यह सफल हुआ १९१६ की काँग्रेस में ही। इसमें सभी विचार के लोग उपस्थित थे। एक तरफ लोकमान्य तिलक दल-बल के साथ आये थे। दूसरी ओर नरम दल के प्रायः सभी नेता उपस्थित थे। मिसेज बेसेण्ट भी आयी थीं। उसी साल मुस्लिम लीग के साथ समझौता भी हुआ। मुसलमान भी बड़ी संख्या में उपस्थित थे। महात्मा गांधी भी इस काँग्रेस में आये थे। वह १९१५ में ही दक्खिन अफ्रिका से लौटकर सारे देश में भ्रमण करते रहे। पर इस काँग्रेस में वह किसी प्रस्ताव पर बोले नहीं।

बिहार के भी प्रतिनिधि अच्छी संख्या में लखनऊ पहुँचे थे। उनमें कुछ लोग चम्पारन के थे, जिनमें एक देहाती किसान राजकुमार शुक्ल थे। वह थोड़ी हिन्दी जानते थे, पर और कोई भाषा नहीं। वह उन लोगों में थे जिन्होंने खुद नीलवरों (निलहे गोरों) के हाथ से दुख पाया था। चम्पारन जिले की सतायी हुई प्रजा की ओर से वह कांग्रेस में पहुँचे थे। उनसे मेरी मुलाकात कुछ पहले से ही थी, क्योंकि जब कभी कोई मुकदमा हाइकोर्ट तक पहुँच पाता था तो मैं फीस का खयाल न करके उन लोगों के वकील की हैसियत से काम कर दिया करता था। पर इस काम में बाबू ब्रजकिशोर प्रसाद उन लोगों की बहुत मदद किया करते थे। इसलिए उन लोगों का विशेष परिचय उन्हीं से था। चम्पारन जिले की परिस्थिति से वह बहुत ज्यादा परिचित थे।

उस समय बिहार के प्रतिनिधि दो विषयों में विशेष दिलचस्पी रखते और काँग्रेस में उन पर प्रस्ताव पास कराना चाहते थे—एक पटना-युनिवर्सिटी-बिल और दूसरा चम्पारन का नीलवर-प्रश्न। राजकुमार शुक्ल, बाबू ब्रजकिशोर प्रभृति बहुत चाहते थे कि काँग्रेस इस सवाल पर भी प्रस्ताव करे। बिहार-प्रान्तीय कान्फ्रेंस के सभापति की हैसियत से बाबू ब्रजकिशोर इस प्रश्न पर कड़ी आलोचना कर चुके थे। उस कान्फ्रेंस में एक प्रस्ताव भी पास हो चुका था। कौन्सिल के वह मेम्बर थे। उन्होंने वहाँ भी इस समस्या पर प्रश्न पूछे थे और एक प्रस्ताव भी रखा था। कौन्सिल में

और बाहर भी, एक प्रकार से इस विषय को अपना लक्ष्य बनाकर, विधान के अन्दर इस पर जो काम हो सकता था, वह कर रहे थे। जहाँ तक हो सकता था, मुकदमों में भी वहाँ की रियाया की मदद किया करते थे।

यह बात बिहार के लोगों को मालूम थी कि कर्मवीर गांधी दक्खिन अफ्रिका में बहुत कुछ करके हिन्दुस्तान आये हैं, इसलिए उनसे इस काम में मदद लेनी चाहिए। राजकुमार शुक्ल आदि उनसे मिले और चम्पारन का कुछ हाल कह सुनाया। उन्होंने कुछ दिलचस्पी जाहिर की। इधर से कहा गया कि काँग्रेस में वह एक प्रस्ताव उपस्थित करें। उन्होंने इन्कार कर दिया; कहा कि जब तक वहाँ की स्थिति वह स्वयं देखकर और जाँच कर अपने को संतुष्ट नहीं कर लेंगे, प्रस्ताव उपस्थित नहीं कर सकते। जोर देने पर उन्होंने कहा कि वहाँ जाकर स्थिति देखने के लिए वह तैयार हैं और कुछ दिनों के बाद वहाँ जायँगे भी। काँग्रेस में प्रस्ताव बाबू व्रजकिशोर ने उपस्थित किया। राजकुमार शुक्ल भी उस पर कुछ बोले। यह शायद पहला ही मौका था जब एक निरा देहाती किसान काँग्रेस के मंच से किसी प्रस्ताव पर बोला हो। काँग्रेस ने प्रस्ताव स्वीकृत किया।

जब बिहार के प्रतिनिधि, बाबू व्रजकिशोर के साथ, गांधीजी के पास गये थे तब मैं उनके साथ नहीं था। यह किस्सा मैंने पीछे सुना। मैं गांधीजी के बारे में बहुत जानकारी नहीं रखता था। दक्खिन अफ्रिका में उन्होंने जो कुछ किया था उसकी जानकारी भी बहुत थोड़ी रखता था। केवल इतना ही जानता था कि उन्होंने दक्खिन अफ्रिका में कोई बड़ा और अच्छा काम किया है। यह नहीं जानता था कि वह देश के नामी नेताओं की तरह एक बड़े नेता हैं। राजकुमार शुक्ल ने न मालूम क्यों उन पर इतना विश्वास किया और उनके पास पहुँचकर उनको चम्पारन आने के लिए राजी किया।

लखनऊ-काँग्रेस के कुछ दिनों बाद गांधीजी कलकत्ते आये। उन्होंने राजकुमार शुक्ल को पत्र लिखा कि कलकत्ते में मुझसे मिलो—वहाँ से हम दोनों साथ ही चम्पारन चलेंगे। देहात में पत्र देर करके पहुँचा। राजकुमार शुक्ल के पास पत्र पहुँचने के पहले ही गांधीजी कलकत्ते से वापस चले गये थे। राजकुमार शुक्ल ने फिर पत्र लिखा। गांधीजी ने उत्तर दिया कि अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी की बैठक कलकत्ते में होगी, वह उस बैठक में उपस्थित होंगे, राजकुमार शुक्ल को वहीं उनसे भेंट करना चाहिए। मैं भी उस बैठक में उपस्थित था। इत्तफाक से मैं गांधीजी की बगल में ही एक कुर्सी पर बैठा था। पर मुझे यह मालूम नहीं था कि राजकुमार शुक्ल से उनका पत्र-व्यवहार हुआ है और वह वहाँ से बिहार आनेवाले हैं। अपनी आदत से मजबूर मैं किसी से जबरदस्ती या आगे बढ़कर जान-पहचान करना नहीं जानता। मैंने गांधी जी से न कुछ पूछा, और न एक शब्द भी मैं बोला। उस कमिटी में लोगों ने, और विशेष करके प्रेसिडेण्ट श्री अम्बिकाचरण मजुमदार ने, बहुत जोर दिया कि गांधीजी काँग्रेस के मंत्री हो जायँ। पर गांधीजी ने इनकार कर दिया। मैं बैठे-बैठे सब

देखता रहा। कभी-कभी मैं यह सोचता था कि जब लोगों का इतना आग्रह है तो उनका इनकार करना मुनासिब नहीं है। पर मैं कुछ बोल नहीं सकता था।

कमिटी का काम खतम होने पर गांधीजी बाहर निकले। राजकुमार शुक्ल उनका इन्तजार कर रहे थे। उसी रात को वह राजकुमार शुक्ल के साथ सीधे पटने चले आये। मैं कुछ देर करके बाहर आया। इसलिए उन लोगों से मुलाकात नहीं हुई। गांधीजी भी नहीं जानते थे कि मैं बिहार का ही रहनेवाला हूँ और राजकुमार शुक्ल पटने में मेरे ही घर पर उनको ले जानेवाले हैं। इसलिए वह भी मुझसे कुछ नहीं बोले।

यह बैठक ईस्टर की छुट्टियों में हुई थी। मैं कलकत्ते से जगन्नाथपुरी चला गया। गांधीजी पटने आ गये। राजकुमार शुक्ल उनको मेरे घर पर ले गये। पर वहाँ एक नौकर के सिवा और कोई था ही नहीं। नौकर ने समझा कि ये कोई देहाती मवक्किल आये हैं। इसलिए उसने उनको किसी बाहर के कमरे में ठहरा दिया और किसी किस्म का आदर-सत्कार करने के बदले कुछ तिरस्कार का ही भाव दिखलाया। गांधीजी कुछ देर ठहरे। इतने में मजहरुलहक साहब को खबर हुई। वह खुद आकर उनको अपने घर पर ले गये। संध्या को गांधीजी मुजफ्फरपुर पहुँचे। वहाँ आचार्य कृपलानी के पास ठहरे। वहाँ कुछ लोगों से भेंट-मुलाकात करके उनका इरादा था कि चम्पारन जायँ। बाबू व्रजकिशोर, जो दरभंगा में वकालत किया करते थे, तार देकर बुला लिये गये थे।

गांधीजी का इरादा था कि वह चम्पारन में जाकर वहाँ के रैयतों से मिलें और उनका दुख उन्हीं के मुँह से सुनें। पर वहाँ की ग्रामीण बोली वह समझ नहीं सकते थे। इसलिए वह चाहते थे कि कोई दु-भाषिया का काम करने के लिए उनके साथ जाय। उनका विचार था कि दो-चार दिनों में सब बातें मालूम हो जायँगी। राजकुमार शुक्ल ने भी ऐसा ही कहा था। इसलिए वह दो-चार दिनों के लिए ही तैयार होकर आये थे। बाबू व्रजकिशोर को ठीक उसी वक्त कलकत्ते में कुछ काम था। वह खुद गांधीजी के साथ न जा सके। पर उन्होंने दो मित्रों को गांधीजी के साथ कर दिया, जो वकील थे। उन्होंने यह भी सोच लिया कि कलकत्ते से लौटने पर वह खुद चम्पारन जायँगे और जरूरत होगी तो मुझे भी साथ ले जायँगे।

चम्पारन जिले का सदर शहर मोतीहारी है। गांधीजी वहाँ पहुँचे। पहुँचने के बाद उन्होंने देहात में जाने का इरादा कर लिया। एक गाँव से एक प्रतिष्ठित रैयत आये, जिनका घर दो-चार ही दिन पहले नीलवर की ओर से लूट लिया गया था। उस लूट-खसोट के निशान अभी तक मौजूद थे। उन्होंने आकर सारा किस्सा कहा। गांधीजी वहीं जाना चाहते थे। रास्ते में ही कलक्टर का हुक्म पहुँचा कि आप जिला छोड़कर चले जाइए। उन्होंने जिला छोड़ने से इनकार कर दिया। वह उद्दूल-हुक्मी के मुकदमे का इन्तजार करने लगे। उसी दिन यह भी मालूम हो गया

कि मुकदमा चलेगा। मैं उसी दिन पुरी से पटना लौटा था। कचहरी में मेरे पास ये सारी बातें उन्होंने तार द्वारा लिख भेजीं।

यह पहला ही अवसर था जब गांधीजी से मेरा किसी प्रकार का सम्पर्क हुआ। मैंने कलकत्ते तार देकर बाबू व्रजकिशोर को बुला लिया। दूसरे दिन सवेरे की गाड़ी से मिस्टर मजहरुलहक और मिस्टर पोलक—जो उस समय हिन्दुस्तान में ही थे—उसी रात को, गांधीजी का तार पाकर, पटने पहुँच गये थे। बाबू व्रजकिशोर, अनुग्रह नारायण और शम्भूशरण के साथ मैं मोतीहारी के लिए रवाना हो गया। हम लोग दिन में तीन बजे के करीब, सिपहर को, वहाँ पहुँचे। उस समय तक मामला अदालत में पेश हो चुका था, बल्कि सुनवाई के बाद हुक्म के लिए तीन-चार दिनों के वास्ते मुलतबी कर दिया गया था।

बाबू गोरखप्रसाद के मकान पर गांधीजी ठहरे थे। हम लोग जब वहाँ पहुँचे तो गांधीजी एक कुर्त्ता पहने हुए बै थे। हम लोगों से उनका परिचय पहले से नहीं था। जब परिचय कराया गया तो मुझसे हँसते हुए उन्होंने कहा—"आप आ गये? आपके घर पर तो मैं गया था।" मैंने कुछ किस्सा तो सुन लिया था, इसलिए कुछ शर्मिन्दा भी हुआ। उन्होंने, जो कुछ कचहरी में हुआ था, सब कह सुनाया।

'चम्पारन में महात्मा गांधी' नामक पुस्तक में, जो उस आन्दोलन के सफलता-पूर्वक समाप्त होने के थोड़े ही दिनों बाद लिखी और प्रकाशित की गयी थी, मैंने चम्पारन का सारा किस्सा विस्तार-पूर्वक दे दिया है। यहाँ केवल अपने सम्बन्ध का ही जिक्र करना चाहता हूँ।

गांधीजी को पहले पहल देखकर मेरे ऊपर कोई खास असर नहीं पड़ा। मैं चम्पारन का हाल थोड़ा-बहुत जानता था। पर अधिकतर बाबू व्रजकिशोर की आज्ञा मानने के लिए ही शुरू में वहाँ गया था। सोचा था, जो कुछ काम होगा वह कर दिया जायगा। स्वप्न में भी यह मन में नहीं आया था कि वहाँ पहुँचते ही जेल जाने का जटिल प्रश्न हमारे सामने आयेगा।

गांधीजी ने सब बातें कहकर हमसे कहा कि अपने साथी बाबू धरनीधर और बाबू रामनौमी से और सब बातें सुन लीजिए। इतना कह वह मि० पोलक से बातें करने लगे। हम लोगों ने उन दोनों भाइयों से विस्तार-पूर्वक सारा हाल सुना। मालूम हुआ कि गांधीजी प्रायः रातभर जागकर वायसराय तथा नेताओं के पास भेजने के लिए पत्र लिखते रहे हैं और कचहरी के लिए अपना बयान भी उन्होंने रात में ही तैयार कर लिया था। उन दोनों से, जो दुभाषिया का काम करने के लिए ही आये थे, गांधीजी ने पूछा था कि मेरे कैद हो जाने के बाद आप लोग क्या करेंगे। वे लोग प्रश्न की गूढ़ता को शायद पूरा समझ न सके थे। बाबू धरनीधर ने मजाक में कह दिया था कि आपके (गांधीजी के) कैद हो जाने के बाद दुभाषिया का काम नहीं रह जायगा—हम लोग अपने-अपने घर चले जायँगे। यह सुनकर गांधीजी ने प्रश्न किया—और इस काम को ऐसे ही छोड़ देंगे? इस पर उन लोगों को कुछ सोचना पड़ा। बाबू धरनीधर ने, जो

बड़े थे, उत्तर दिया कि वह जाँच का काम जारी रखेंगे, और जब उन पर भी सरकार की ओर से नोटिस हो जायगी, तो वह चूँकि जेल जाने के लिए तैयार नहीं हैं, खुद तो चले जायँगे और दूसरे बकील को भेजेंगे, जो जाँच का काम करेंगे, और अगर उन पर भी नोटिस हुई, तो वह भी चले जायँगे और उनके पीछे तीसरी टोली आयेगी—इस प्रकार काम जारी रखा जायगा।

यह सुनकर गांधीजी को कुछ सन्तोष हुआ, पर पूरा नहीं। उन लोगों को भी सन्तोष न हुआ। वे लोग रात को सोचते रहे कि यह आदमी न मालूम कहाँ से आकर यहाँ के रैयतों के कष्ट दूर करने के लिए जेल जा रहा है और हम लोग—जो यहाँ के रहनेवाले होकर रैयतों की मदद का दम भरा करते हैं—इस तरह घर चले जायँ, यह अच्छा नहीं मालूम होता।

पर जेल की बात अभी हम में से किसी ने कभी सोची ही न थी। जेल तो एक भयंकर जगह समझी जाती थी, जहाँ से गिरफ्तारी के बाद भी बचने के लिए लोग हजारों खर्च करके जमानत पर छुट्टी लिया करते थे। अगर कोई मजबूरी से जेल गया भी तो वहाँ रुपये खर्च करके आराम पाने का प्रबन्ध करता था। और, यहाँ यह आदमी, जो दक्खिन अफ्रिका में इतना काम कर आया है, इन अनजान किसानों की खातिर सब कष्ट सहने के लिए तैयार है। ऐसी दशा में भी हम घर चले जायँ, यह कैसे हो सकता है? इधर बाल-बच्चों की भी फिक्र थी!

रात-भर सोच-विचार करने के बाद, दूसरे दिन सबेरे, जब गांधीजी के साथ ये लोग कचहरी जा रहे थे, इनकी भावनाएँ उमड़ पड़ीं। इन्होंने साफ साफ कह दिया, आपके जेल जाने के बाद अगर जरूरत पड़ी तो हम लोग भी जेल जायँगे।

यह सुनते ही गांधीजी का चेहरा खिल उठा। वह बहुत ही खुश होकर बोल उठे—अब मामला फतह हो जायगा।

वहाँ पहुँचते ही ये सारी बातें हम लोगों ने उन दोनों भाइयों से सुनीं। अब तो हमारे सामने भी जेल जाने का प्रश्न आ गया। हम लोगों ने तय कर लिया कि जरूरत पड़ने पर हम भी जेल जायँगे। यह निश्चय गांधीजी को हमने सुना दिया। उन्होंने कागज-कलम लेकर सबके नाम लिख लिये। हम लोगों को कई टोलियों में उन्होंने बाँट दिया। यह भी तय कर दिया कि ये टोलियाँ किस क्रम से जेल जायँगी। पहली टोली के सरदार मजहरुलहक साहब थे, दूसरी के बाबू व्रजकिशोर। एक टोली का सरदार मैं भी बनाया गया। ये सारी बातें, वहाँ पहुँचने के तीन-चार घंटों के अन्दर ही, तय हो गयीं।

मुकदमे में, तीन या चार दिनों के बाद हुक्म सुनाया जाने को था। उस दिन गांधीजी जेल जानेवाले थे। मजहरुलहक साहब के हाथ में कोई मुकदमा गोरखपुर में था। वह चले गये वहाँ, ताकि मामला खतम करके उस दिन के पहले ही वापस आकर नेतृत्व करेंगे।

बाबू व्रजकिशोर भी अपने घर का प्रबन्ध करने के लिए दरभंगा चले गये।

हम लोग मोतीहारी में ही ठहरकर किसानों के बयान सुनने और लिखने लगे। विचार था कि जब ये दोनों सज्जन वापस आ जायँगे तब हम लोग भी एक-एक करके घर जायँगे और घर के लोगों से मिलजुलकर जेल-यात्रा की तैयारी करके लौट आयँगे।

गांधीजी ने अपनी 'आत्मकथा' में लिखा है कि इससे वह सन्तुष्ट हुए थे, और उसी दिन से बिहार के प्रति उनका बहुत प्रेम हो गया और हम लोग उनके विश्वासपात्र बन गये।

चम्पारन की जाँच शुरू हो गयी। हजारों की तायदाद में किसानों ने बयान लिखवाये। शायद २०–२५ हजार बयान हम लोगों ने लिखे होंगे। तारीख के पहले ही मजिस्ट्रेट ने लिख भेजा कि सरकार के हुक्म से गांधीजी पर से मुकदमा उठा लिया गया और उनको जिले में जाँच करने की इजाजत दे दी गयी। जाँच से पता चला कि जो कुछ जुल्म हमने सुना था, वहाँ की परिस्थिति उससे कहीं अधिक बुरी थी। अगले अध्याय में इसका हाल संक्षेप में बताऊँगा। यहाँ पर इतना ही कह देना काफी है कि पहली मुलाकात में ही हम लोग अपनी इच्छा से गांधीजी के फाँस में फँस गये। ज्यों-ज्यों दिन बीतते गये, उनके साथ केवल प्रेम ही नहीं बढ़ा, उनकी कार्य-पद्धति पर विश्वास भी बढ़ता गया। चम्पारन का काण्ड समाप्त होते होते हम सबके सब उनके अनन्य भक्त और उनकी कार्यप्रणाली के पक्के हामी बन चुके थे।

२१—चम्पारन

चम्पारन-जिले में अँगरेज प्रायः एक सौ बरसों से नील की खेती करते और कराते थे। प्रायः सारे जिले भर में जहाँ-जहाँ नील हो सकती थी, उन्होंने अपने नील बनाने के कारखाने खोल लिये थे और बहुत जमीन भी अपने कब्जे में कर ली थी जिसमें वे खुद अपने हल-बैल से नील की खेती कराते थे। जिले का बहुत बड़ा हिस्सा बेतिया-राज की जमीन्दारी में है। उन्होंने बहुत-से गाँवों की जमीन्दारी मालगुजारी वसूल करने का ठेका राज से ले लिया था और इस जरिया से उन गाँवों पर उनका कब्जा हो गया था। जिन गाँवों पर उनका कब्जा हो गया उनमें रहनेवाले रैयतों को भी वे मजबूर करते कि वे लोग अपनी जमीन में भी इन नीलवरों के लिए नील बोया करें। आहिस्ता-आहिस्ता उन्होंने इसको एक कानूनी जामा भी पहना दिया, और यह दावा भी करने लगे कि उनको इस बात का हक है कि रैयत को वे मजबूर कर सकते हैं कि अपने खेत के फी बीघे में पाँच कट्ठे या तीन कट्ठे जमीन में वह जरूर नील बोवे। इस प्रथा को वे पँच-कठिया या तीन-कठिया कहते थे। किसी रैयत की हिम्मत नहीं पड़ती थी कि वह नील बोने से इनकार करे। अगर कोई हिम्मत करता तो उस पर हजार तरह के जुल्म करके उसको मजबूर कर दिया जाता। घर और खेत लूट लिये जाते। खेत मवेशियों से चरा दिया जाता। झूठे मुकदमे लगा दिये जाते। जुर्माना वसूल किया जाता। पीटा भी जाता। इस डर के मारे प्रायः

सभी रैयत तीनकठिया मानकर बीघा पीछे तीन कट्ठा नील बो दिया करते। उनके खेतों में जो सबसे बेहतर खेत होते, नीलवर उन्हीं को चुनकर नील बोने के लिए कहते। नील बोने का काम काश्तकारी के और सब कामों से पहले ही पूरा करना होता। जब नील तैयार हो जाती तब उसे काटकर कोठी पर पहुँचा देना होता। इसके लिए रैयत को वे कुछ बीघा पीछे दिया करते थे जो कभी खर्चे के लिए भी पूरा नहीं होता। गवर्नमेण्ट के अफसर उन गोरों की ही मदद करते। अगर कोई अफसर हिम्मत करके इनसाफ करना चाहता तो नीलवरों का असर ऊपर के अफसरों पर इतना होता कि उस मातहत अफसर पर आफत आ जाती। जो अफसर सच्चे होते, नीलवरों के जुल्म और तीनकठिया के खिलाफ गवर्नमेण्ट के पास रिपोर्ट भेजा करते; पर इससे कुछ होता-जाता नहीं। कभी-कभी घबराकर रैयत बलवा कर देते, किसी नीलवर को मार देते या आपस में मिलकर कुछ दूसरे प्रकार का तहलका मचा देते। पर तब भी वे नीलवरों का मुकाबला कैसे कर सकते थे! नतीजा यह होता कि गाँव के गाँव लूट लिये जाते। पुलिस और कचहरी के अमलों की मदद से बेचारे रैयत हर तरह से जेर कर दिये जाते।

गवर्नमेण्ट पर निलहे गोरों का इतना असर था कि लगान-कानून (Tenance act) में उन्होंने एक दफा बनवा दिया कि जमीन्दार की मर्जी के मुताबिक जहाँ रैयत कोई खास फसल बोने के लिए मजबूर किया जा सकता है वहाँ अगर वह इस शर्त से अपनी रिहाई चाहे, तो जमीन्दार को हक है कि इस रिहाई के बदले में जितना चाहे उतना लगान बढ़ा दे सकता है। मामूली तौर से जमीन्दार को यह हक नहीं था कि मनमाना लगान बढ़ा सके। वह बाजाब्ता रजिस्ट्री पट्टे से रुपये में दो आने से ज्यादा लगान नहीं बढ़ा सकता था और एक बार बढ़ा देने पर एक लम्बी मुद्दत तक लगान में फिर इजाफा नहीं किया जा सकता था। नीलवरों के फायदे के लिए यह हद हटा दी गई थी।

बेतिया-राज को रुपये की जरूरत पड़ी। उसने कुछ कर्ज लिया। यह कर्ज नीलवरों की मदद से इंगलैंड से मिला। सूद और असल की वसूली के लिए नीलवरों को गाँवों पर कब्जा दिया गया और बहुतेरे गाँवों में उन्हें मुकर्री हक मिल गया। मुकर्री हक का मतलब यह कि वे एक तरह से गाँवों के जमीन्दार हो गये। केवल एक मुकर्रर (निश्चित) रकम उनको हर साल मालगुजारी के रूप में राज को देनी पड़ती। उस गाँव से वे जो चाहें और जितना चाहें, पैदा कर सकते थे; राज का उस पर कोई हक नहीं था। उसे केवल वह मुकर्रर रकम ही मिल सकती थी। ऐसे मुकर्री गाँवों में लगान बढ़ाया जाय, और एक के बदले दो की आमदनी हो जाय, तो मुकर्रीदार की आमदनी बढ़ेगी—राज को जो पहले मिलता था, वही मिलेगा। जिन गाँवों में उन निलहों का मुकर्री हक नहीं था, उन गाँवों का उनको केवल नियत मीयाद के लिए ठीका मिला था। वहाँ भी नियत रकम राज को देनी पड़ती; पर मीयाद पूरी हो जाने पर राज को अख्तियार था कि फिर ठीका दे या न दे और अगर दे तो नई शर्तों पर दे, और ठीकेदार जो मालगुजारी राज को देता था उसे राज चाहे तो बढ़ा दे।

यद्यपि ऐसा शायद ही कभी होता था कि कोई ठीके का गाँव नीलवर के हाथ से मीयाद पुरने पर निकाला जाता हो या उसकी मालगुजारी बढ़ाई जाती हो, तथापि राज को अधिकार तो ऐसा करने का था ही।

बेतिया के महाराजा मर गये। महारानी को पागल करार देकर सारा राज कोर्ट आफ वार्ड्स में आ गया। कोर्ट का एक मैनेजर उन्हीं नीलवरों में से मुकर्रर किया गया। इस प्रकार प्रायः बीस बरसों तक नीलवरों के कब्जे में ही राज रहा। जिस समय गांधीजी चम्पारन पहुँचे थे, उस समय एक सिविलियन मैनेजर था। उसके बाद कोई नीलवर फिर मैनेजर नहीं हुआ। इस तरह अपने खेत में और रैयतों के खेतों में तीन-कठिया के जरिये नील आबाद कराकर पौधे से नील तैयार करायी जाती थी। यह नील बोने की प्रथा बिहार के दूसरे जिलों में भी फैली थी। पर इसका जितना जोर चम्पारन में था उतना और कहीं नहीं। अगर नील की खेती वे खुद करते और रैयतों से जबरदस्ती इस तरह नील न बुवाते तो उनको इसमें कोई लाभ न होता। इसलिए यह जबरदस्ती की प्रथा कायम रखना जरूरी हो गया और वह चलती रही।

इस बीच में जर्मनी में दूसरे प्रकार से रंग बनाने के तरीके का आविष्कार किया गया, जो नील के रंग से सस्ता पड़ता था। नील की कीमत घट गयी। जुल्म और जबरदस्ती से नील पैदा कराये जाने के बावजूद नील में नफा नहीं रह गया। नीलवरों ने अपने इस नुकसान को गरीब रैयतों के सिर पर डालकर अपना नफा कायम रखना चाहा। इसलिए उन्होंने कानून के उस दफे की शरण ली जिसमें रैयतों को नील की खेती से रिहाई देकर उनको लगान में मनमाना इजाफा करने का हक दिया गया था। रैयतों से उन्होंने कहा कि वे नील बोने से उन्हें रिहाई दे देंगे अगर रैयत इजाफा के पट्टे तामील कर दें। रैयत यह जानते थे कि नील से नीलवरों को अब नफा न रहा, इसलिए अब वे इस कारबार को खुद छोड़ देंगे; इसलिए उनको लगान में बढ़ती कबूल करके यह रिहाई लेने की जरूरत नहीं है। जब तक नील में मुनाफा था तब तक तो नीलवरों ने उनकी हजार कोशिश पर भी यह रिहाई दी नहीं; अब अपने मतलब से जबरदस्ती रिहाई देना उन्होंने शुरू कर दिया। हजारों हजार की तायदाद में उन्होंने अपने मुकर्री गाँवों के रैयतों से, जहाँ लगान की बढ़ती का नफा उनको मिलता था और बेतिया-राज का उस पर हक नहीं पहुँचता था, इजाफा के पट्टे तामील करा लिये। ये पट्टे मार-पीट, झूठ-फरेब और जबरदस्ती से तामील कराये गये थे। इस प्रकार उन्होंने उन गाँवों में लाखों की आमदनी बढ़ा ली। जहाँ उनका हक केवल ठीकेदार का था और मीयाद पूरी होने पर इजाफे का नफा बेतिया-राज को मिलता था, वहाँ पर लगान में बढ़ती न कराकर उन्होंने नगद रुपये वसूल किये। जिस रैयत के पास रुपये नहीं थे उससे हैण्डनोट लिखवाया और दूसरे तरीकों से भी रुपये लिये। इस प्रकार प्रायः बीस-पचीस लाख नगद वसूल किया।

चम्पारन का कुछ हिस्सा ऐसा भी है जहाँ नील की खेती हो ही नहीं सकती। वहाँ के गाँवों में नीलवर नील की खेती न कराकर किसी दूसरे तरीके से ही रुपये

लिया करते थे। उन गाँवों में पचासों प्रकार के अबवाब (टैक्स), जो कानूनन मना थे, वसूल किया करते थे। जब जिले के नीलवाले हिस्से में इजाफा या नगद सलामी वसूल होने लगी तब गैर-नील हिस्से में भी उन्होंने कुछ वसूल करना चाहा और वहाँ भी एक न एक बहाना लगाकर या तो लगान बढ़ा दिया या नगद वसूल किया। एक तरीका लगान बढ़ाने का यह था कि किसी रैयत को पट्टा दे दिया जाता, जिसमें ऐसी जमीन उसके साथ बन्दोबस्त की जाती थी जो वास्तव में थी ही नहीं—यों ही फरजी नाम-निहादी चौहद्दी जमीन की दे दी जाती और उसके लिए वे जितना इजाफा करना चाहते थे उतना लगान रख दिया जाता था। कानून के अनुसार लगान बढ़ाने की हद रुपये में दो आने की मुकर्री थी, पर नयी जमीन की मालगुजारी जमीन्दार जो चाहे, ले सकता था। इसलिए इजाफा की हदबन्दी से नाम-निहादी नयी जमीन बन्दोबस्त करके वे अपने को बचाना चाहते थे और उन्हें उम्मीद थी कि कुछ दिनों में पुरानी जमीन और नाम-निहादी जमीन दोनों के लगान इकट्ठा कर दिये जायँगे। इस तरह, नील चाहे कोई बोता हो या न बोता हो, गाँव मुकर्री हो या केवल मीयादी ठीके में, सब गाँवों से उन्होंने या तो लगान बढ़ाकर अपनी आमदनी बढ़ा ली या नगद रुपये वसूल कर लिये। गवर्नमेंट ने उनकी पूरी मदद की। जब इजाफा के पट्टे लिखवाये जा रहे थे, गवर्नमेण्ट ने उन पट्टों को रजिस्टरी करने के लिए खास रजिस्ट्रार मुकर्रर कर दिये ताकि रजिस्ट्री में सहूलियत हो जाय।

यह सब अभी पूरा हुआ ही था कि १९१४-१८ का जर्मन-युद्ध छिड़ गया। विदेश से रंग आना बन्द हो गया। नील की खेती में फिर मुनाफे की उमीद मालूम हुई। नीलवरों ने, अपनी दी हुई रिहाई की परवा न करके, फिर जबरदस्ती तीनकठिया नील बोने पर रैयतों को मजबूर किया। बहुत जगहों पर इसमें वे काययाब भी होने लगे। इसी समय गवर्नमेण्ट ने उस जिले का दोबारा सर्वे (पैमाइश) कराना शुरू किया। यह काम प्रायः पूरा होने पर था, जब गांधीजी चम्पारन में पहुँचे। सर्वे में रैयतों ने शरहबेशी के पट्टों के बारे में बयान किया कि जबरदस्ती उनसे पट्टे लिखवाये गये हैं। सर्वे-सेटेलमेण्ट-अफसर ने फैसला दिया कि पट्टे जबरदस्ती नहीं लिखाये गये हैं, इसलिए सब इजाफे कानूनन जायज हैं। रैयतों में बड़ी खलबली थी। उधर जर्मन लड़ाई चल रही थी। रैयतों की सुनवाई यों भी नहीं हुआ करती, उस समय जब लड़ाई में नीलवर शरीक हो रहे थे, सुनवाई का और भी कम मौका था। रैयत ऊबे हुए थे। उनको कहीं कोई उपाय नहीं नजर आता था। तब वे गांधीजी के पास पहुँचे थे। इसी मौके पर गांधीजी वहाँ आ गये।

चम्पारन (क)

गांधीजी से जब राजकुमार शुक्ल ने चम्पारन में रैयतों पर हो रहे जुल्मों का बयान किया तो गांधीजी को विश्वास नहीं हुआ कि यह सब सच है। इसलिए वह जाँच करने के लिए चम्पारन आये। उनके चम्पारन पहुँचने के पहले ही लोगों में एक

अजीब जागृति पैदा हो गयी थी। वहाँ के रैयत इस प्रकार दबाये गये थे कि उनकी यह भी हिम्मत नहीं होती थी कि वे कचहरी में जाकर नालिश करें। अगर कोई बहुत हिम्मत करके ऐसा करता भी तो कोठी का सिपाही इजलास पर से उसको पकड़कर खींच लाता और खूब पीटता। जब गांधीजी चम्पारन के रास्ते में मुजफ्फरपुर पहुँचे, बहुतेरे रैयत मुजफ्फरपुर तक आ गये। उन लोगों ने अपना दुखड़ा कह सुनाया। वहाँ नीलवरों की संस्था (प्लैण्टर्स एसोसिएशन) के मंत्री तथा तिर्हुत-डिवीजन के कमिश्नर ने गांधीजी को चम्पारन जाने से मना किया; कहा कि गवर्नमेण्ट खुद रैयतों की शिकायत पर विचार कर रही है—वह सर्वे-सेटलमेण्ट की रिपोर्ट की प्रतीक्षा कर रही है। उन्होंने इस पर भी जोर दिया कि इस लड़ाई के जमाने में आप वहाँ जाकर हलचल शुरू करेंगे तो अच्छा न होगा—बलवा-फसाद होगा। हमारे अपने देशी लोगों ने भी बताया कि लड़ाई का नाजुक समय है, फसाद पैदा होना किसी तरह अच्छा नहीं है। पर जो कुछ गांधीजी ने सुना उससे उनकी इच्छा और भी प्रबल हो गयी। उन्होंने निश्चय कर लिया कि चम्पारन जाना ही चाहिए।

गांधीजी के चम्पारन पहुँचते ही रैयतों के दिल से डर न मालूम कहाँ भाग गया। जो अदालत में भी जाने से डरते थे वे गांधीजी के पास बहुत बड़ी संख्या में आकर अपना दुख बताने लगे। उन लोगों के सीधे-सादे हृदय पर न मालूम कहाँ से यह अमिट छाप पड़ गयी कि उनका उद्धारक आ गया, अब उनका दुःख दूर हो जायगा।

जिस दिन गांधीजी पर मुकदमा चला और वह अदालत में गये, गाँवों से हजारों की तायदाद में रैयत वहाँ आये थे। इतनी भीड़ हो गयी कि अदालत के दरवाजे टूट गये। अदालत में गांधीजी ने बयान दे दिया। मुकदमा खतम हो गया। तीन-चार दिनों के बाद गांधीजी की रिहाई हो गयी। उनको यह इजाजत हो गयी कि वह जाँच कर सकते हैं। अब हजारों की तायदाद में रैयत आये। सबने अपना-अपना बयान लिखाया। हम लोग बयान लिखने में लग गये। गांधीजी ने हम लोगों को हिदायत की थी कि तुम लोग वकील हो, खूब जाँच-बूझकर और जिरह करके बयान लिखना। जो बातें लिखी जायँ वे सच्ची हों।

हम लोग सबेरे ६ बजे स्नानादि से निवृत्त होकर बयान लिखने लगते। दिन के ग्यारह बजे तक लिखते। फिर भोजन और कुछ आराम के बाद एक या डेढ़ बजे से पाँच बजे शाम तक। फिर संध्या का भोजन करते और गांधीजी के साथ टहलने जाते। बीच में जब कोई ऐसा बयान आता जिसे गांधीजी को तुरन्त बतला देना जरूरी समझा जाता तो उनसे वह तुरंत कह दिया जाता। नहीं तो बयान लिख-लिखकर उनको देते जाते और वह पढ़ते जाते। इस प्रकार हम लोग कई दलों में बँटकर बहुत दिनों तक बयान लिखते रहे। प्रायः बाईस या पचीस हजार रैयतों के बयान लिखे गये। इससे सारे जिले में हलचल मच गयी। हम लोग कभी बेतिया में रहते और कभी मोती-हारी में। कुछ दिनों के बाद दो दलों में विभक्त होकर मोतीहारी और बेतिया दोनों जगहों में बयान लिखे जाने लगे। कभी कभी महात्माजी गाँवों में भी जाते या हम

लोगों में से किसी को कोई विशेष बात दरियाफ्त करने के लिए गाँवों में भेजते। हम सबको गांधीजी का हुक्म था कि कहीं कोई सभा करके व्याख्यान न दें। हम लोगों में से किसी ने उन दिनों चम्पारन में एक भी सभा में व्याख्यान नहीं दिया और न गांधीजी ने स्वयं ऐसा किया।

उन दिनों देश में होमरूल (स्वराज्य) का आन्दोलन खूब चल रहा था। गांधीजी हम लोगों से कहा करते, तुम लोग यह सबसे बड़े होमरूल का काम कर रहे हो। अगर तुम लोग उस आन्दोलन में शरीक न होगे तो कोई हर्ज नहीं है।

हम लोगों की जाँच का नतीजा यह हुआ कि चम्पारन के मुकामी अफसर बहुत घबराने लगे। उनमें से कितनों के दिल पर यह असर हुआ कि चम्पारन से अँगरेजी राज उठा जा रहा है—लोग यह समझने लगे हैं कि गांधीजी ही सबसे बड़े अफसर हैं जिसके सामने जिला-कलक्टर और मजिस्ट्रेट के खिलाफ भी शिकायत की जा सकती है—नीलवरों का रोब तो उठ ही गया, हम अफसरों का रोब भी उठा जा रहा है। इसलिए घबराकर उन लोगों ने प्रान्तीय सरकार के पास रिपोर्ट भेजी। प्रान्तीय सरकार ने गांधीजी को अपने एक मेम्बर से भेंट करने के लिए लिखा। वह पटने में आकर उनसे मिले। उस वक्त तक जितनी शिकायतें आ गयी थीं, सबका एक खुलासा ब्योरा बनाकर उनको दिया। सरकारी मेम्बर ने उसे गवर्नमेण्ट के पास पेश किया। उस पर विचार होने लगा। इधर हमारा जाँच का काम चलता रहा। अब तक बयान बहुत लिखे जा चुके थे। इसलिए बयान लिखना कुछ मुख्तसर कर दिया गया। मगर देहातों में जाकर देखना-सुनना ज्यादा हो गया। गांधीजी से नीलवरों की भी कुछ राय-बात हो गयी थी। वे भी उनको कहीं-कहीं ले जाते, अपनी बातें कहते, या जो कुछ दिखलाना होता, दिखलाते थे।

हम लोगों के लिए गांधीजी का तरीका एक बिलकुल नया तरीका था। उस तरह का काम हमने पहले कभी किया ही न था। हम समझते थे कि कांग्रेस में अथवा किसी सभा में किसी विषय पर व्याख्यान दे देना, अदालत में जाने लायक बात को वहाँ पेश कर देना, या जो कौन्सिल में प्रश्न कर सकता हो उसका किसी बात पर वहाँ प्रश्न कर देना या प्रस्ताव उपस्थित कर देना ही काफी है। इससे अधिक हो ही क्या सकता है। गांधीजी ने इनमें से एक बात भी न की। उन्होंने रैयतों के बयान लिये। इस तरह उन्होंने पहले सब बातों की ठीक-ठीक जानकारी हासिल कर ली। इस तरह बयान लेने से ही रैयतों का डर छूटता गया। हम लोगों को भी ऐसी-ऐसी बातें मालूम होने लगीं जिनका होना हमने स्वप्न में भी मुमकिन नहीं समझा था। हम लोग भी निडर होते गये। एक-दो विशेष घटनाएँ यहाँ बता देने से ही यह साफ हो जायगा।

ऊपर कहा गया है कि हम लोग कई दलों में बँटकर बयान लिखा करते थे। पुलिस के आदमी आस-पास में लगे रहते थे। वे रैयतों के नाम इत्यादि नोट कर लिया करते थे। इसी तरह नीलवरों के आदमी भी रैयतों के नाम इत्यादि जानकर अपने

मालिक के पास सब बातों की रिपोर्ट पहुँचा देते। काम शुरू करने के दो-तीन दिनों के अन्दर ही एक घटना हो गयी। जहाँ हममें से एक आदमी बयान लिख रहे थे, पुलिस का सब-इन्सपेक्टर आकर बैठ गया। तब वह उस जगह से उठकर, रैयतों को साथ लेकर, कुछ दूर पर दूसरी जगह जाकर, बयान लिखने लगे। पुलिस सब-इन्सपेक्टर वहाँ भी पहुँच गया। उनको कुछ गुस्सा आ गया। उन्होंने डाँटकर सब-इन्सपेक्टर को कहा—आपको जो कुछ देखना-सुनना हो, दूर से ही देखें-सुनें, इतना नजदीक न आवें। सब-इन्सपेक्टर ने महात्माजी से इस बात की शिकायत की। कहा—"हम लोगों को ऊपर का हुक्म है कि जो कुछ हो रहा है उसकी हम खबर रक्खें। जब आपके आदमी नजदीक आने ही नहीं देंगे तब हम कैसे इस हुक्म को बजा लावें।"

गांधीजी ने बयान लिखनेवाले सज्जन को बुलाया और पूछा कि क्या बात है। उन्होंने जो कुछ सब-इन्सपेक्टर ने कहा था, उसे कबूल किया। तब गांधीजी ने पूछा—आप अकेले थे या आपके साथ और लोग भी थे? उन्होंने कहा कि बहुतेरे रैयत घेरे बैठे थे और एक-एक करके बयान लिखा रहे थे। गांधीजी ने फिर पूछा कि आप कोई गुप्त काम तो नहीं कर रहे थे। उन्होंने कहा कि नहीं। गांधीजी ने फिर पूछा, तब सब-इन्सपेक्टर से क्यों छिपाने की कोशिश कर रहे थे? उन्होंने कहा, छिपाने की कोई बात नहीं थी; मगर यह आकर पास में ही बैठ जाते थे। मैंने इनको कुछ दूर रहकर देखने-सुनने को कहा। गांधीजी ने कहा—"इतने रैयत जब आपको घेरे हुए थे और उनसे आपके काम में कोई बाधा नहीं पड़ती थी, तब एक आदमी और भी अगर वहाँ आ बैठा तो आपने क्यों बाधा महसूस की। आपने इनको भी उन रैयतों-जैसा ही क्यों नहीं समझा?"

यह सुनते ही सब-इन्सपेक्टर पर मानों घड़ों पानी पड़ गया। पर वह कुछ कह भी नहीं सकता था। वह तो अपना रोब बढ़ाने के लिए आया था। यहाँ गांधीजी ने कह दिया कि उसका दर्जा किसी रैयत से ज्यादा नहीं है और उसके साथ भी रैयतों जैसा ही व्यवहार होना चाहिए। इसके बाद हममें से कोई किसी पुलिस-अफसर के पास आने से न घबराता और न कोई पुलिस-अफसर अधिक नजदीक आने की कोशिश करता।

जिस समय गांधीजी पर मुकदमा चलकर फैसले के लिए मुलतवी हो चुका था, उसी समय दीनबन्धु एण्डरूज आये। वह स्टेशन से एक एक्के पर आये। उनको एक्के पर चढ़ने का तरीका नहीं मालूम था, इससे उनके जूते पहिये में लगकर घिस गये। इस तरह का अँगरेज, जो उलूल-जुलूल कपड़े पहने हो, जो एक्के पर चढ़ता हो और जो हिन्दुस्तानियों से खुलकर मिलता-जुलता हो, हमने अपने होश में नहीं देखा था। यह भी सुना कि वह एक बहुत प्रतिष्ठित आदमी हैं, जिसकी पहुँच वायसराय तक है और जो दुनिया भर में चक्कर लगाया करता है। उस समय जो उनसे मुलाकात हुई, उनकी सादगी और सचाई की जो छाप पड़ी, वह दिन-दिन गहरी होती गयी। मेरे साथ तो उनका मानों एक प्रकार का बन्धुत्व स्थापित हो गया जो उनके मरने के समय

तक बना रहा। उनके फीजीद्वीप जाने की बात थी। वहाँ से उनकी बुलाहट आई थी। वह महात्माजी से भेंट करके वहाँ जानेवाले थे। इसी बीच में चम्पारन में महात्माजी पर मुकदमा चल गया। उन्हीं से मिलने वह चले आये। हम लोगों से उनकी बातें हुईं। हम लोग चाहते थे कि वह वहाँ ठहर जायँ। अभी गांधीजी के मुकदमे का फैसला नहीं हुआ था। पता भी न था कि क्या होगा। हम लोग समझते थे कि सजा हो जायगी। इसलिए अगर एण्डरूज जैसा एक अनुभवी आदमी रह जाय तो आगे के काम में मदद मिलेगी। ये सब बातें हम लोगों ने उनसे कहीं और जोर दिया कि वह रह जायँ। वह कुछ राजी भी हुए कि फीजी कुछ दिनों के बाद जायँगे। मगर इसके लिए गांधीजी की अनुमति चाहिए थी। उनकी अनुमति के बिना वह नहीं ठहर सकते थे। इसलिए यह बात गांधीजी से कही गयी, उन पर बहुत जोर डाला गया।

सब बातें सुनकर गांधीजी ने कहा--"आप लोग जितना जोर डाल रहे हैं कि एण्डरूज़ को रहना चाहिए उतना ही मेरा निश्चय दृढ़ होता जा रहा है कि उनको नहीं रहना चाहिए, उन्हें जरूर चला जाना चाहिए। आप लोगों के दिल में गवर्नमेण्ट और अँगरेज़ नीलवरों का डर है। आप समझते हैं कि एक अँगरेज रहेगा तो आपका सहारा होगा। आप इसी कारण से एण्डरूज को रोकना चाहते हैं। मैं चाहता हूँ कि यह डर आपके दिल से निकल जाय और यह भाव भी निकल जाय कि अँगरेज में और आप लोगों में कोई फर्क है। आपको अपने ऊपर भरोसा करना होगा। इसलिए एण्डरूज को कल ही यहाँ से जाना चाहिए।"

एण्डरूज से भी उन्होंने कहा कि फीजी का काम भी ज़रूरी है, वह किसी तरह रोका नहीं जा सकता। इसलिए एण्डरूज दूसरे दिन सुबह जाने के लिए तैयार हो गये। हम लोगों ने भी समझ लिया कि महात्माजी बात ठीक कह रहे हैं; हमारे दिल की जो बात है, उन्होंने ठीक पकड़ ली है।

दूसरे दिन एण्डरूज जाने के पहले डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट से मिलने गये। उसन कहा, गवर्नमेण्ट का हुक्म आ गया है कि मुकदमा उठा लिया जाय, मैं कुछ देर के बाद बाजाब्ता सूचना भेज दूँगा। एण्डरूज ने रवाना होने के पहले यह खबर हम लोगों को सुना दी। हम लोगों का उत्साह और भी बढ़ गया।

एक बार एक नीलवर ने महात्माजी से अपनी तारीफ की। कहने लगा कि उसके इलाके में रैयत खुश हैं, उनको कोई शिकायत नहीं है। उसने महात्माजी को वहाँ खुद जाकर देखने के लिए निमंत्रित किया। महात्माजी के साथ मैं भी गया। उसने इन्तजाम किया था कि कुछ लोग आकर ऐसा ही कहेंगे। हम लोग पैदल ही जा रहे थे। कुछ चार-पाँच मील की दूरी पर वह गाँव था जहाँ उसने बुलाया था। रास्ते में ही बहुतेरे रैयत मिले। उन्होंने कहा कि साहब ने कुछ लोगों को जमा कर रखा है जो उसकी तारीफ करेंगे। महात्माजी ने कहा, अगर तुम लोगों को तकलीफ या शिकायत हो तो तुम भी वहाँ साहब के मुकाबले में ही कहना। हम लोगों ने उस इलाके के रैयतों के बयानों को देख लिया था और महात्माजी को बता दिया था कि

शिकायतें क्या हैं। वहाँ दो-तीन सौ आदमियों की एक सभा हो गयी। उस नीलवर के अलावा वहाँ के सब डिवीजन का मजिस्ट्रेट भी हाजिर था। दो-चार रैयतों ने कहा कि उनको बहुत सुख है, उन्हें कोई शिकायत नहीं है। उनके बोलते ही दूसरे शोर करने लगे कि ये सिखाकर लाये गये हैं, झूठ कह रहे हैं। महात्माजी ने उनको रोका और अपनी बातें पीछे कहने को कहा। जब उनकी बारी आयी तो उन्होंने वही शिकायतें कीं जो हम लोगों के पास बयान में लिखाई थीं। मजिस्ट्रेट की भी शिकायत एक आदमी करने लगा। कहने लगा कि ये सब लोग मिले हुए हैं, इनके पास कोई इन्साफ नहीं हो सकता। उसने एक खास घटना का जिक्र करके मजिस्ट्रेट से ही सवाल कर दिया। मजिस्ट्रेट तुरंत उठकर चला गया। दूसरे ही दिन साहब ने अपने एक छोटे बँगले में आग लगवा दी। चाहा कि सब रैयतों को आग-लगी के मुकदमे में फँसावें और गाँव लुटवा दें। यह आग रात को लगाई गई। वह खुद इन्तजार में बैठा रहा कि जब खबर मिले, पुलिस की मदद लेकर लूट-पाट किया जाय। पर जिस आदमी के जिम्मे खबर देने का काम सौंपा था, उसने जान-बूझकर खबर नहीं दी, बहाना करके दूसरे दिन खबर देने गया। इस बीच में हम लोगों को खबर मिल गयी। महात्माजी ने सब बातें गवर्नमेण्ट के पास लिख भेजीं। उधर मजिस्ट्रेट ने भी एक लम्बी रिपोर्ट भेजी। उसमें लिखा कि अराजकता फैल रही है—जान पड़ता है, ब्रिटिश राज मानों उठ गया। इस तरह की घटनाएँ प्रायः होती रहीं।

गवर्नमेण्ट ने इस रिपोर्ट पर कार्रवाई की। बिहार के गवर्नर ने गांधीजी को राँची बुलाया। उसके पत्र का आशय यह था कि चम्पारन में गांधीजी के रहने से बहुत अराजकता फैल रही है, इसलिए गवर्नमेण्ट उनको वहाँ से हटा देना चाहती है; मगर कोई हुक्म देने के पहले गवर्नर एक बार उनसे मिल लेना चाहते हैं। गांधीजी के राँची जाने के पहले हम लोगों ने सोच लिया कि अब या तो वह गिरफ्तार कर लिये जायँगे या सूबे से बाहर निकाल दिये जायँगे और शायद हम लोग भी अब बाहर रहने न पावेंगे। महात्माजी ने हम लोगों को बेतिया और मोतीहारी में दो टोलियों में रख छोड़ा। गिरफ्तारी होने पर किस तरह से क्या करना होगा, इसके सम्बन्ध में उन्होंने पूरी व्यवस्था दे दी। हम लोगों के पास इतने रैयतों के बयान आ गये थे—इतने कागज-पत्र जमा हो गये थे कि रैयतों की शिकायतों के लिए पूरा सबूत हाथ में आ गया था। उसको सुरक्षित रखना था। हम लोगों ने पहले से ही सबकी नकल करा ली थी। नकलों को सुरक्षित रखने का प्रबन्ध कर दिया गया। अपने-अपने स्थान पर हम लोग खबर का इन्तजार करने लगे। बेतिया-आफिस मेरे चार्ज में रखा गया था। बहुत इन्तजारी के बाद राँची से तार आया कि गवर्नर से बातें अभी चल रही हैं। नतीजा यह हुआ कि दो-तीन दिनों तक बातें होती रहीं। अन्त में गवर्नर ने एक कमीशन मुकर्रर किया। गांधीजी को भी उसका मेम्बर बनाया। रैयतों की शिकायतों की जाँच करने का काम उसी के सुपुर्द किया। कमीशन ने सरकारी अफसरों, नीलवरों और रैयतों के इजहार लिये। दूसरे जो कागज-पत्र

पेश किये गये उन्हें देखा। बहुतेरी कोठियों में जाकर उनके कागज-पत्र देखे। रैयतों से भी मिला।

कमीशन की नियुक्ति हो जाने पर, महात्माजी के आज्ञानुसार, रैयतों की तरफ से जो कागज पेश हुए थे उनको खूब देखकर और दूसरे सबूत इकट्ठे करके, हम लोगों ने कमीशन के लिए एक बयान तैयार किया। कमीशन में सरकारी अफसर थे। नीलवरों का प्रतिनिधि था। जमीन्दारों का प्रतिनिधि था। रैयतों की तरफ से प्रतिनिधि-स्वरूप गांधीजी थे। जब रिपोर्ट लिखने का समय आया, तब एक भारी अड़चन आ पड़ी। गांधीजी की और कमीशन के अध्यक्ष सर फ्रैंक स्लाई की बहुत इच्छा थी कि सर्वसम्मति से रिपोर्ट दी जाय। गवर्नर ने भी कहा था जब सर्वमान्य रिपोर्ट होगी तभी उस पर वह कुछ कर सकेगा, नहीं तो कुछ करने में कठिनाई होगी।

किसानों की शिकायतों का कुछ वर्णन ऊपर दिया गया है। अन्त में महात्माजी और नीलवरों के दरमियान बहुत बातचीत के बाद यह तय हुआ कि जो लगान बढ़ा दिया गया है उसका थोड़ा-सा हिस्सा छोड़ दिया जाय, जो एक-चौथाई से कुछ कम था, बाकी तीन-चौथाई इजाफा ज्यों का त्यों रह जाय। जो नगद रुपये वसूल किये गये थे उनमें से भी फी सैकड़ा पचीस रुपये वापस किये जायँ और बाकी को रैयत छोड़ दें। मुख्य शिकायतें यही दो और तीनकठिया प्रथा थीं। दूसरी शिकायतें ऐसी थीं जिनका दूर करना अफसरों के ठीक काम और इनसाफ करने ही पर निर्भर था। ये सिफारिशें रिपोर्ट में सर्व-सम्मति से मान ली गयीं। पिछली शिकायतों के सम्बन्ध में रिपोर्ट में विशेष नहीं लिखा गया। केवल शिकायतों का उल्लेख करके उनके दूर करने का उपाय बतलाया गया। शरह-बेशी कम करने और नगद तावान के रुपये पचीस फी सैकड़ा वापस करने के अलावा तीनकठिया-प्रथा-कानून बन्द कर देने की भी सिफारिश हुई।

हम लोग आपस में इस पर बहस किया करते कि शरह-बेशी और तावान अगर नाजायज हैं तो पूरे इजाफे से रैयतों को छुटकारा मिलना चाहिए और तावान का सब रुपया वापस होना चाहिए। नीलवरों ने कानूनी अड़चनें भी पैदा कर रखी थीं। जिसने तावान के रुपये वसूल किये उसने कोठी किसी दूसरे के हाथ बेच डाली थी और खुद रुपये लेकर चलता बना था! अब तावान के रुपये नये मालिक से, जिसने रुपये लिये नहीं और जिसने दाम देकर कोठी नई खरीदी थी, किस तरह वसूल किये जायँ! इसी तरह, इजाफे का छुड़ाना कोई आसान काम नहीं था। अगर कानून बनाकर उसे न हटाया जाय तो वह शायद हट नहीं सकता था। कानून के अनुसार प्रत्येक रैयत को दीवानी मुकदमा दायर करना होगा। साथ ही, यह साबित भी करना होगा कि उससे शरह-बेशी की कबूलियत जबरदस्ती लिखायी गयी है, उस पर नील बोने की पाबन्दी नहीं थी इत्यादि। इन बातों का सबूत गरीब सीधे-सादे निरीह रैयत कहाँ से देते?

महात्माजी के चम्पारन जाने के पहले एक जगह के ग्यारह रैयतों ने मुकदमे भी दायर किये थे। नीलवरों ने अपनी ओर से बहुत बड़ा बैरिस्टर रखा था। मुकदमा महीनों पेशी में रहा था। अन्त में पाँच में रैयत जीते थे और छः में नीलवर। अपील में थोड़ा-बहुत हेर-फेर भी हुआ था। वहाँ लाखों नहीं तो हजारों पट्टों के बारे में इस प्रकार के मुकदमे करने होते। यह असम्भव था। इन दिक्कतों को ध्यान में रखकर सुलह से ही कुछ तय करना मुनासिब समझा गया। इसलिए सर्वसम्मति से रिपोर्ट तैयार हुई। गवर्नमेण्ट ने रिपोर्ट की सिफारिशों को मंजूर कर लिया। एक कानून बनाकर तीन-कठिया उठा दिया। सब रैयतों का इजाफा भी घटा दिया। बेतिया-राज्य (कोर्ट आफ वार्ड्स) ने नीलवरों से रुपये वसूल करके, निश्चय के अनुसार, रैयतों को तावान के रुपये लौटा दिये।

चम्पारन (ख)

चम्पारन के इस काण्ड में हमने गांधीजी के काम के तर्ज को पहले-पहल देखा। हम लोगों को सार्वजनिक जीवन का एक प्रकार से एक अद्भुत पाठ पढ़ने का मौका मिला। होमरूल के आन्दोलन में भाग न लेना कभी-कभी हममें से कुछ को बहुत अखरता था; पर हमने बड़ी सावधानी और संयम के साथ गांधीजी के आदेश का पालन किया—जिस काम में लगे थे, लगे रहे। हमने यह भी देखा कि गांधीजी किस तरह नीलवरों को बहुत बड़ी हानि पहुँचाकर भी उनके मित्र बने रहे। उनमें से कितनों ही के साथ गांधीजी का व्यवहार बहुत अच्छा रहा। वे लोग उनको अपने बँगले पर बुलाया भी करते थे। हाँ, कुछ ऐसे अवश्य थे जिन्होंने उनका जबरदस्त विरोध किया। पर यह कहना अत्युक्ति नहीं है कि अन्त में गांधीजी से उनका सम्बन्ध कड़वा नहीं हुआ। जब कमीशन का काम पूरा हो गया, गांधीजी ने जगह-जगह स्कूल खोलने का विचार किया, नीलवरों से मदद भी माँगी। नीलवरों ने, एक के सिवा, किसी प्रकार की बाधा नहीं डाली।

कमीशन में जो बात सुलह से तय हुई वह रैयतों की माँग से बहुत कम थी। मगर इस सारे आन्दोलन का यह नतीजा हुआ कि चम्पारन से नीलवरों का रोब उठ गया। अब उनमें वह शक्ति नहीं रह गयी कि जुल्म कर सकें। रैयतों में हिम्मत और जान आ गयी। अब वे चुपचाप जुल्म बर्दाश्त करने के लिए तैयार नहीं थे। और, जुल्म के बिना चम्पारन का कारबार मुनाफा नहीं दे सकता था। वह जुल्म अब बन्द हो गया। नीलवरों ने यह बात जल्द समझ ली। तीन-चार बरसों के अन्दर सबने अपनी जमीन और कोठी बेच डाली। जो कुछ मिला, लेकर चले गये। उनकी जमीन रैयतों के हाथ आ गयी। अब वे उसको आबाद कर रहे हैं। जहाँ नीलवरों के सुन्दर बगीचे और बँगले थे, वहाँ आज रैयतों के मवेशी बाँधे जा रहे हैं। उन ७०-७५ कोठियों में से इक्की-दुक्की आज भी खड़ी हैं। वहाँ अब जुल्म नहीं हो सकता। वे उस साँप की

तरह अपने दिन बिता रही हैं जिसके दाँत तोड़ दिये गये हैं, जो अब भी कुछ फुफकार तो सकता है, पर किसी को काट नहीं सकता !

चम्पारन में सत्याग्रह का हमने वही रूप देखा जो गांधीजी ने, थोड़े ही दिनों के बाद, देशव्यापी रूप में, बहुत बड़े पैमाने पर, जारी किया। एक जिले के दुःख दूर करने में प्रायः एक बरस लग गया था। सारे हिन्दुस्तान की स्वतंत्रता प्राप्त करने में उसी अनुपात से जो समय लगना चाहिए, वह शायद अभी तक पूरा नहीं हुआ है।

चम्पारन के आन्दोलन में कोई मतभेद नहीं था। गांधीजी की बातें सबने मानीं। उनके विरुद्ध किसी ने, चाहे वह रैयत हो या हमारे-जैसा कार्यकर्त्ता, कोई आचरण नहीं किया। गांधीजी नीलवरों का जुल्म रोकना चाहते थे; पर उनसे किसी प्रकार का द्वेष-भाव नहीं रखते थे। हम लोगों के मन में भी कोई ऐसा भाव नहीं था। एक प्रकार से सत्याग्रह का एक अच्छा नमूना वहाँ पेश हुआ। इसी लिए नतीजा भी बहुत ही संतोषप्रद हुआ। मेरा विश्वास है कि भारतवर्ष के स्वराज्य का मसला भी इसी तरह हल हो जायगा। बहुत-कुछ छोड़कर सुलह करने पर भी हम सोलह आने जल्द ही ले सकेंगे। कुछ हद तक ऐसा ही हुआ भी है। देर की कई वजहें हैं। क्षेत्र बहुत विस्तृत है। सारी जनता में वह अटल विश्वास नहीं है जो चम्पारन के रैयतों में था। निःसंकोच वफादार काम करनेवाले भी काफी नहीं हैं। देश ने अहिंसा को उस हद तक नहीं पाला है जिस हद तक चम्पारन में उसका पालन किया गया था। तथापि जो पिछले पचीस बरसों में हुआ है वह कुछ कम नहीं है। गांधीजी का चमत्कार भारतवर्ष में लोग तब समझेंगे जब हमारा काम पूरा हो जायगा। चम्पारन में भी हम पूरे सन्तुष्ट नहीं थे। पर जब तीन-चार बरसों के भीतर ही नीलवर चले गये, तब उस चमत्कार का पूरा फल हम देख सके। भारत में काम तो हुआ है। ब्रिटिश का रोब तो बहुत अंशों में खतम हो गया है। पर अभी पूरा फल हम नहीं देख सके हैं। इसलिए उस चमत्कार की महिमा का अनुभव नहीं कर सके हैं।

चम्पारन में हमारे जीवन पर भी बहुत बड़ा असर पड़ा। वहीं हम लोगों ने जाति-पाँति का भेद छोड़ा। उस समय तक मैं जाति-भेद को बहुत मानता और बर्तता था। ब्राह्मण छोड़कर किसी दूसरी जाति के आदमी का छुआ हुआ दाल-भात इत्यादि, जिसे यहाँ कच्ची रसोई कहते हैं, कभी नहीं खाया था। गांधीजी ने कहा कि यहाँ अलग-अलग चौका करते रहोगे तो कैसे काम चलेगा—जो लोग एक काम में लगे हैं मान लो कि वे सब एक जाति के हैं। बस हम सब लोग एक दूसरे की बनाई रसोई खाने लगे—यद्यपि हममें कई जातियों के लोग थे। जिन्दगी में सादगी भी बहुत आ गयी। हम लोगों के साथ नौकर थे। वे सब एक-एक करके हटा दिये गये। केवल बर्तन साफ करने के लिए एक नौकर रह गया। अपने हाथों कुँए से पानी भर लेना, नहाना, कपड़े साफ कर लेना, अपने जूठे बर्तन धो लेना, रसोई-घर में तरकारी बनाना, चावल धोना इत्यादि सब काम हम खुद किया करते। कहीं जाना हो तो तीसरे दर्जे में रेल में सफर करना और जहाँ तक हो सके, पैदल ही चलना—सब कुछ वहाँ हमने गांधीजी से

सीखा। आराम का जीवन छोड़ देना पड़ा। जब तक हम चम्पारन में रहे, इसी तरह से रहे।

यह काम पूरा हो जाने पर गांधीजी ने चम्पारन के तीन हिस्सों में तीन स्कूल खोले। मैं उन स्कूलों में से किसी में न रह सका। पटने वापस आकर मैं फिर अपनी वकालत में लग गया। पर बराबर उन स्कूलों को देखने के लिए साल में एक या दो बार जाया करता था।

चम्पारन में अन्य प्रान्तों के कुछ अच्छे त्यागी कार्यकर्त्ताओं से भी हम लोगों का परिचय हो गया। कुछ तो ऐसे आये जो आज तक देश के काम में उत्साह-पूर्वक लगे हुए हैं। उस समय की मुलाकातें और सब अनुभव बहुत कीमती निकले, जिनसे आज भी हम बहुत कुछ सीख सकते हैं।

चम्पारन में जो विजय मिली उसका असर बिहार पर बहुत पड़ा। बिहार एक पिछड़ा हुआ सूबा था, जहाँ सार्वजनिक जीवन का स्रोत बहुत पतला बहा करता था। शिक्षा का भी पूरा अभाव था। सभी बातों में बिहार के लोग अन्य सूबों के लोगों की अपेक्षा बहुत पिछड़े समझे जाते थे। बिहार, अँगरेजी शासन में, आरम्भ से ही, बंगाल के साथ था। वह बरसों बंगाल का एक हिस्सा बना रहा। यहाँ तक कि बिहार का अलग नाम तक लोग भूल गये थे। बंगाल उन्नत सूबा था, पर उस उन्नति का प्रभाव बिहार तक नहीं पहुँच पाया था। अँगरेजी शिक्षा में भी बिहार इतना पिछड़ा था कि बिहारी लोग सरकारी दफ्तरों तक नहीं पहुँच पाते थे, ऊँचे ओहदों की कौन कहे।

बीसवीं शताब्दी के शुरू से ही कुछ बिहारियों के हृदय में बिहार की शोचनीय दशा देखकर ग्लानि पैदा हुई। फलतः बिहार को बंगाल से अलग करने का आन्दोलन आरम्भ हुआ। इस आन्दोलन के प्रमुख नेता बाबू महेशनारायण (स्वर्गीय) और डाक्टर सच्चिदानन्द सिनहा थे। डाक्टर सिनहा के प्रयत्न से ही बिहार काँग्रेस का एक अलग सूबा माना गया। सन् १९११ में जब सम्राट् पंचम जार्ज दिल्ली में दरबार के लिए आये, तो बिहार को एक अलग सूबा बनने की घोषणा कर गये। यह घोषणा वंग-विच्छेद के आन्दोलन के फलस्वरूप हुई थी। पूरब और पच्छिम का बंगाल फिर एक कर दिया गया। बिहार और उड़ीसा को मिला कर एक अलग सूबा कायम कर दिया गया। अलग सूबे की बात उठते ही कुछ नवजीवन का संचार हुआ था। उसके चिह्न देखने में आ रहे थे। बिहारी छात्र-सम्मेलन का जिक्र ऊपर आ चुका है। बिहार-प्रान्तीय राजनीतिक कान्फ्रेंस भी हर साल होने लगी थी। बिहार के कालेजों और स्कूलों में विद्यार्थियों की संख्या बढ़ने लगी थी। उच्च शिक्षा के अभिलाषी छात्र अधिकाधिक संख्या में कलकत्ते में जाने लगे थे। नया सूबा हो जाने के बाद सब प्रकार से सूबा (बिहार) आगे बढ़ने लगा था। पर इतना होते हुए भी १९१७ तक देश-सेवा का कोई संगठित काम नियमित रूप से नहीं चलता था। उन दिनों की काँग्रेस-कमिटी, आज की कमिटी के मुकाबले में, एक खेल-तमाशे की चीज थी। मैं उन दिनों प्रान्तीय कांग्रेस-कमिटी का मंत्री था। जो प्रतिनिधि चुने जाते थे—विशेष

करके जो अखिल भारतीय कांग्रेस-कमिटी के सदस्य चुने जाते थे—वे ही कुछ चन्दा देते थे, जिससे प्रान्तीय कमिटी का काम चला करता था और आल इण्डिया कमिटी का सालाना चन्दा दिया जाया करता था। वह सालाना चन्दा हमेशा बाकी पड़ा रहता था। मुझे स्मरण है कि उन दिनों के कांग्रेस-मंत्री श्रीयुत सुब्बाराव पटने कभी-कभी आया करते। उनके आने पर प्रमुख लोग आपस में मिलकर कुछ जमा करके दे दिया करते। नवाब सरफराज हुसेन खाँ बहुत दिनों तक प्रान्तीय कमिटी के सेक्रेटरी थे। मैं भी उनके साथ सेक्रेटरी था। आफिस का खर्च बहुत करके हम दोनों अपने पास से ही चला लेते थे। इससे यह न समझना चाहिए कि आफिस का खर्च कुछ बड़ी रकम का था। केवल डाक और तार में ही खर्च पड़ता था, जो हम लोग आसानी से कर सकते थे।

ऐसा ही सार्वजनिक संगठन बिहार में उस समय था जब महात्मा गांधी चम्पारन में पहुँचे। उन दिनों शायद एक भी ऐसा आदमी न था जो अपना सारा समय देकर देश का काम करता हो। जो लोग कांग्रेस के सदस्य थे, अथवा दूसरे प्रकार से सार्वजनिक जीवन के नेता थे, वे अपने-अपने काम करते हुए देशसेवा का काम भी करते थे। बहुत करके ऐसी ही अवस्था दूसरे सूबों की भी रही होगी। पर दूसरे सूबों में कुछ कार्यकर्ता तो ऐसे जरूर थे जो देशसेवा में अपना सारा समय देते रहे। महात्माजी के साथ जितने लोग यहाँ पहुँचे, प्रायः सभी वकालत-पेशे के लोग थे। इनमें से एक ने भी पेशा छोड़ने का इरादा करके उनके साथ काम शुरू नहीं किया था। हम तो यह सोचकर गये थे कि चन्द दिनों में फुर्सत हो जायगी। पर वहाँ पहुँचने पर देखा कि काम बढ़ता ही जाता है। उसको पूरा किये बिना वहाँ से हटना भी कठिन था। इसलिए दस-पाँच दिनों के इरादा से गये हुए लोग प्रायः दस महीनों तक चम्पारन में रह गये। काम पूरा होने पर जब हम अपने-अपने स्थान को वापस गये, तो अपने साथ नये विचार, नयी स्फूर्ति और नये कार्यक्रम लेते गये। सारे सूबे में एक नया जीवन आ गया, जिसका प्रभाव थोड़े ही दिनों में देखने में आया। हम लोगों की आँखें बहुत करके खुल गयीं। अब हम समझने लगे कि जब तक हममें से कुछ लोग ऐसे न निकलेंगे जो अपना सारा समय देश के काम में लगावें, तब तक बिहार का सार्वजनिक जीवन ढीला ही रहेगा।

एक दिन गांधीजी के साथ मैं एक गाँव से वापस आ रहा था। रास्ते में बातें होने लगीं। मैंने पूछा कि आप सारे देश में घूमते-फिरते रहते हैं—किस जगह को देशसेवा की दृष्टि से आप सबसे ऊपर स्थान देते हैं। उन्होंने प्रायः सभी सूबों की बातें कहीं। अन्त में कहा कि देश-सेवक के लिए 'पूना' तीर्थ-स्थान है। वहाँ एक शहर के अन्दर इतने त्यागी लोग हैं जितने और किसी स्थान में नहीं। वहाँ की संस्थाएँ, त्याग की दृष्टि से, देश के लिए आदर्श उपस्थित करती हैं—नयी संस्थाएँ भी बराबर कायम होती जा रही हैं।

हमने पहले भी फरगुसन-कालेज का नाम सुना था। महात्माजी से बातें करने

के बाद कौतूहल और भी बढ़ गया कि एक बार पूना जाना चाहिए। हम लोग चम्पारन में ही बैठकर विचार करने लगे कि यहाँ का काम खतम करके एक ऐसी संस्था कायम करनी चाहिए, जिसमें त्यागी लोग केवल निर्वाह-व्यय लेकर देश-सेवा में लगे रहें। विचार हुआ कि फर्गुसन कालेज के ढंग का एक कालेज स्थापित किया जाय। बाबू ब्रजकिशोर ही हम सबके नेता और उत्साह दिलानेवाले थे। उन्होंने इस बात को इतनी दूर तक बढ़ाया कि हम लोगों ने अपने-अपने नाम भी लिखा दिये कि जब यह संस्था स्थापित होगी तो हम भी इसी में निर्वाह-व्ययमात्र लेकर शरीक होंगे। कालेज के लिए रुपये जमा करने की भी बात हुई। कुछ लोगों से वादा भी लिया गया।

महात्माजी से बातें करने पर उन्होंने संस्था की बात तो पसन्द की पर उसको कालेज का रूप देना उतना पसन्द नहीं किया। हम लोग इस विषय पर विचार करते रहे। जब १९१८ में काँग्रेस का विशेष अधिवेशन बम्बई में हुआ, मैं वहाँ गया। वहाँ से मैं पूना भी चला गया। वहाँ की सब संस्थाओं को अच्छी तरह देखा। उनके सम्बन्ध में काफी जानकारी भी हासिल की।

२२—१९१७ की कलकत्ता काँग्रेस से दिल्ली काँग्रेस तक

१९१७ में, जब हम लोग चम्पारन में काम कर रहे थे, देश में होमरूल का आन्दोलन जोरों से चल रहा था। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि महात्माजी ने हम लोगों को किसी भी आन्दोलन में भाग लेने से रोक रखा था और कहा था कि चम्पारन का काम ही होमरूल का सबसे बड़ा काम है। इसी बीच में श्रीमती एनी बेसेण्ट नजरबन्द की गयीं। इससे आन्दोलन में अधिक जोर पहुँचा। हम लोग ये सब बातें अखबारों में पढ़ते, पर मन चम्पारन में ही था। किसी और चीज की ओर हम ध्यान नहीं बँटाते थे। चम्पारन छोड़कर बिहार के और जिलों में होमरूल का आन्दोलन चला। मैं समझता हूँ कि बिहार में यह पहला ही अवसर था जब पढ़े-लिखे लोग गाँवों में जाकर सभाएँ करने लगे; जनसाधारण से राजनीति की बातें कहने लगे। इसका असर अच्छा पड़ा था।

हुए। उस समय की दुर्घटनाओं की याद आज तक दोनों सम्प्रदायों को है। उन दिनों सार्वजनिक जीवन इतना उन्नत नहीं था कि दोनों के बीच मेल कराने का या फसाद रोकने का कोई प्रयत्न किया जाय। जब मुकदमे चलने लगे तब वकीलों ने मुजरिमों की थोड़ी-बहुत सहायता की। पर इससे अधिक कुछ नहीं हुआ। मेरा इस दुर्घटना से कोई सीधा सम्बन्ध न रहा। पर वहाँ की बातों का दिल पर असर जरूर पड़ा।

कलकत्ते की काँग्रेस में बिहार से—विशेष करके चम्पारन से—प्रतिनिधियों की बड़ी टोली गयी। मैं एक बड़ी टोली के साथ वहाँ पहुँचा। सेठ जमनालाल बजाज ने महात्माजी के ठहरने का प्रबन्ध किया था। चम्पारन की टोली भी वहीं जा जुटी। सेठजी से पहली मुलाकात शायद वहीं हुई। जहाँ तक मुझे याद है, महात्माजी ने इस काँग्रेस में कोई विशेष भाग नहीं लिया।

जब हम चम्पारन में थे तभी भारत-सचिव मिस्टर मौण्टेगू का वह वक्तव्य निकला, जिसमें ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की ओर से उन्होंने भारत में आहिस्ता-आहिस्ता करके प्रजातंत्र स्थापित करने का वादा किया था। उसके बाद वह भारत में आये। कुछ दिनों के बाद उनकी और लार्ड चेम्सफोर्ड की भारत में राजनीतिक सुधार-सम्बन्धी रिपोर्ट निकली। इस रिपोर्ट के निकलने पर सारे देश में इस पर विचार होने लगा। सभी राजनीतिक व्यक्ति और दल अपना-अपना मत प्रकाशित करने लगे। बिहार में भी इसकी चर्चा होने लगी। हम लोग चम्पारन के काम से मुक्त हो चुके थे। इसलिए इस पर ध्यान देने का अवसर था। मेरा अपना स्वभाव शुरू से ही नरम है। उग्र विचार जल्दी हृदय में उठते ही नहीं हैं। इस विषय पर विचार करने में मैं नरम-दल के पक्ष का ही समर्थक था। बिहार में इस पर विचार करने के लिए प्रान्तीय कान्फ्रेन्स की बैठक हुई। उसमें मैंने भाग लिया; पर हमेशा उग्र विचारों के विरोध में ही मैं रहा। मैं समझता था कि इसमें अभी इतनी शक्ति नहीं आयी है कि गवर्नमेण्ट पर जोर देकर हम कुछ भी करा सकते हैं। इस बात का भी मुझे पूरा विश्वास न था कि देश के शासन का सब भार अगर हमारे ऊपर आ जाय तो हम उसका सुचारु रूप से वहन कर सकेंगे। इसलिए मैं उस रिपोर्ट को ठीक मानता था। उसके आधार पर जो कुछ भी हो सकता था, मैं उसे स्वीकार करने के लिए तैयार था। मैं यह पसन्द नहीं करता था कि उसकी टीका-टिप्पणी ऐसी हो कि जिससे हमारी अनिच्छा या नामंजूरी समझी जाय। प्रान्तीय कान्फ्रेंस में मतभेद रहा। जहाँ तक मुझे स्मरण है, यही विचार स्वीकृत भी हुए। हाँ, जहाँ-तहाँ कुछ सुधार सुझाये गये।

इसी रिपोर्ट पर विचार करने के लिए बम्बई में काँग्रेस का विशेष अधिवेशन हुआ। मैं वहाँ भी गया। अपनी आदत और स्वभाव के अनुसार मैंने बहस में कोई भाग नहीं लिया। पर विषयनिर्धारिणी समिति और काँग्रेस की बहसों को खूब गौर से सुनता रहा। पटना के नामी बारिस्टर सैयद हसन इमाम ही सभापति

थे। उनका भाषण बहुत जबरदस्त हुआ था। कांग्रेस की कार्रवाई उन्होंने बड़ी योग्यता से चलाई। बम्बई में उनका स्वागत भी बड़ी शान के साथ हुआ। मैंने विषय-निर्धारिणी समिति में देखा कि कई बार ऐसा मौका आया जब दो दलों के बीच झगड़ा होता दीख पड़ा। एक ओर से लोकमान्य तिलक गर्म विचारों के समर्थक थे, दूसरी ओर से अन्य नेता बहस किया करते थे। इन बड़ों के झगड़े का निपटारा बीच-बीच में अपने दो-चार शब्दों से अथवा भाव-भंगी से सभापति करते रहे।

१९१८ में एक और महत्त्व की घटना हुई। जब महात्माजी चम्पारन में थे तभी गुजरात के 'खेड़ा' जिले के किसानों में लगान के सम्बन्ध में आन्दोलन खड़ा हुआ। । महात्माजी चम्पारन जाने के पहले ही साबरमती में, झोपड़ों में, सत्याग्रह-आश्रम एक प्रकार से स्थापित कर चुके थे। उनका विचार था कि चम्पारन से दस-पाँच दिनों में लौटकर उसका बाजाब्ता उद्घाटन करेंगे। पर जब चम्पारन में रुक जाना पड़ा तो उन्होंने वहाँ खबर दे दी कि आश्रमी लोग वहाँ का काम आरम्भ कर दें। मेरी बहुत लालसा थी कि मैं भी जाकर आश्रम देखूँ।

१९१८ के अप्रैल में अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन इन्दौर में हुआ। महात्मा गांधी उसके सभापति हुए। हम लोग बिहार से कुछ प्रतिनिधि गये। चम्पारन के बाद हम यह समझ बैठे थे कि महात्माजी पर हमारा विशेष अधिकार हो गया है। इस खयाल से इन्दौर में हम लोग सभापति के साथ ही ठहरे। उस सम्मेलन में बड़े मार्के की बात यह हुई कि दक्षिण भारत में हिन्दी-प्रचार का काम आरम्भ करने का निश्चय हुआ। महात्माजी के लिए यह कोई नई बात नहीं थी। उन्होंने चम्पारन से ही उस काम को शुरू कर दिया था। एक बार स्वामी सत्यदेवजी वहाँ उनसे मिलने आये। महात्माजी ने उनको राय दी कि कुछ दिनों तक साबरमती-आश्रम में ठहरने के बाद वह दक्षिण-भारत में हिन्दी-प्रचार करने का काम अपने हाथ में लें। इन्दौर-सम्मेलन के कुछ पहले से ही दक्षिण में यह काम शुरू हो गया था। स्वामी सत्यदेव के साथ उन्होंने अपने कनिष्ठ पुत्र देवदास गांधी को इस काम के लिए भेज दिया। इन्दौर-सम्मेलन में जो काम आरम्भ हुआ उसका विस्तार आज सारे दक्षिण-भारत में हो गया है। वहाँ लाखों स्त्रियों और पुरुषों ने हिन्दी सीख ली है।

सम्मेलन से महात्माजी के साथ मैं सीधे साबरमती चला गया। अभी आश्रम के मकान नहीं बने थे। बाँस की चटाइयों की झोपड़ियाँ थीं। उन्हीं में आश्रम-वासी रहा करते थे। मुझे आश्रम में अधिक ठहरने का मौका नहीं मिला। महात्माजी तुरंत 'खेड़ा' के गाँवों में चले गये। वहाँ लगानबन्दी का काम शुरू हो गया था। सरदार वल्लभ भाई, श्री शंकरलाल बैंकर, श्रीमती अनुसूयाबाई साराभाई और दूसरे कार्यकर्त्ता गांधीजी के नेतृत्व में वहाँ प्रचार-कार्य कर रहे थे। मुझे महात्माजी के साथ दो-तीन दिनों तक वहाँ के गाँवों में सफर करने का सुअवसर मिला। गुजरात

के लोगों के साथ वह घनिष्ठ सम्बन्ध आरम्भ हुआ जिसका सूत्रपात चम्पारन में गांधीजी के साथ गये हुए और उनके भेजे हुए लोगों से मुलाकात होने ही पर हो गया था। महात्माजी पैदल ही सफर करते थे। मुझे भी वैसा ही करना पड़ा। उन दिनों वह जूते नहीं पहनते थे। अप्रैल के अन्त में गरमी काफी पड़ रही थी। एक दिन, प्रायः दो पहर हो चुके थे, हम लोगों को रेतीले रास्ते से जाना था। बालू गर्म हो गयी थी। पैर जल रहे थे। पर गांधीजी ने परवा नहीं की। जहाँ जाना था, हम लोग चले ही गये। खेड़ा का सत्याग्रह सफल हुआ। चम्पारन और खेड़ा, दोनों का काम प्रायः एक बरस के भीतर ही खतम हो गया।

मैं फिर अपनी वकालत में लग गया। बीच-बीच में कान्फ्रेन्सों और काँग्रेस में शरीक होना उन दिनों वकील अपना फर्ज़ समझते थे। मैं भी उन्हीं में एक था। चम्पारन के बाद विचारों में बहुत परिवर्त्तन आ गया था। इस प्रकार के काम को छुट्टियों के दिनों में केवल मनोरंजन का विषय न मानकर इसमें अधिक समय देने की जरूरत महसूस करने लगा था। पर अभी कोई रास्ता निर्धारित नहीं था। इसलिए अभी पुराने ढर्रे पर ही काम होता रहा। इन्दौर के हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन, बम्बई में काँग्रेस के विशेष अधिवेशन और फिर दिल्ली में उसके दिसम्बरवाले साधारण अधिवेशन में शरीक हुआ। बस इतने ही से अपना कर्त्तव्य पूरा समझा।

गांधीजी के चम्पारन जाने के बाद बिहार का नाम जहाँ-तहाँ सुना जाने लगा था; पर अभी उसको कोई विशेष स्थान नहीं मिला था। इसी लिए कलकत्ते की काँग्रेस में कोई अलग स्थान न रहने के कारण हम लोगों को अधिकतर गांधीजी की ही छावनी में ठहरना पड़ा।

दिल्ली-काँग्रेस में एक बड़ी पुर-मजाक घटना हुई। हम लोग वहाँ पहुँचे। स्टेशन पर वालण्टियर मिले। पर उनमें से कोई यह न बता सका कि बिहार के प्रतिनिधियों के ठहरने का स्थान कहाँ है। नायक ने कहा कि आप लोग पटौदी-हाउस में चले जाइये। वहाँ भी हम लोग पहुँचे। अभी प्रायः सबेरे के ५ बजे थे। कुछ रात थी। सर्दी काफी थी। एक छोटे कमरे में जाकर हम पन्द्रह-बीस आदमी बैठे रहे। जब सबेरा हो गया और दरियाफ्त किया तो वहाँ भी कोई हम लोगों के लिए स्थान नहीं बता सका। हम लोगों ने सोचा कि बस अब यहीं ठहरना चाहिए। दो-मंजिले पर एक अच्छा कमरा था। उसे भी हम लोगों ने दखल कर लिया। कुछ देर के बाद स्वागत समिति के कोई साहब आये। उन्होंने हुक्म दिया कि हम लोगों को मकान खाली कर देना चाहिए। यह पूछने पर कि आखिर हम लोग कहाँ ठहरें, उन्होंने इतना ही उत्तर देना काफी समझा कि वह मकान बंगाल के डेलिगेटों के लिए है—ऊपर का कमरा श्रीयुत बी० चक्रवर्ती और श्रीयुत सी० आर० दास के लिए है, इसलिए हम कहीं दूसरी जगह जाकर ठहरें। बहुत कहने पर भी उन्होंने हमारे लिए कोई दूसरी जगह ठीक कर देने का भार अपने ऊपर लेना या किसी दूसरे को सुपुर्द करना जरूरी नहीं समझा। हम लोगों ने भी निश्चय कर लिया कि जब तक दूसरी जगह ठीक न हो

जाय, हम भी हटेंगे नहीं। कुछ देर के बाद हम लोगों को फिर हुक्म मिला कि यहाँ से चले जाइये। हमने साफ इनकार कर दिया। गुस्से में आकर उन सज्जन ने हुक्म दिया कि हम अगर उनकी बात नहीं मानेंगे, तो हम लोगों के लिए स्वागत-समिति के चौके में भोजन का प्रबन्ध नहीं किया जायगा। यह धमकी हम लोगों को पसन्द आयी। स्वागत-समिति में प्राय: २) रोजाना देना होता। हमने तुरंत कुछ हाँड़ियाँ मँगा लीं और ईंटों के चूल्हे बनाकर खिचड़ी पका ली, जिसमें खर्च शायद चार-छ: आने से अधिक न पड़ा। बस वहीं हम लोग जम गये। बहुत जोर लगाया गया, पर जब अपना खास चूल्हा जल चुका था, तो हटता कौन है। अन्त में लोग आजिज आकर हम लोगों को छोड़कर चले गये।

श्री सी० आर० दास मुझे कलकत्ते की वकालत के जमाने से ही जानते थे। कुछ मुकदमों में हमें एक साथ काम करने का मौका मिला था। उनसे काँग्रेस में भेंट हुई। हँसते-हँसते उन्होंने कहा—"सुना है कि मेरे लिए जो कमरा था उसे तुम लोगों ने जबरदस्ती अपने कब्जे में कर लिया है।" मुझे बहुत शर्म मालूम हुई। मैंने सब बातें कहीं। यह भी कहा कि आप अगर चाहें तो हम लोग तुरंत कमरा खाली कर दें। उन्होंने कहा कि तुमने ठीक ही किया; जब तुम्हारे लिए कोई जगह नहीं थी तो तुम दूसरा कर ही क्या सकते थे। अपने बारे में उन्होंने कहा कि मेरे लिए चिन्ता मत करो, मैं बहुत आराम से होटल में ठहर गया हूँ।

इस प्रकार १९१८ समाप्त हुआ। फिर हम पटने वापस आकर वकालत करने लगे।

२३—प्रिय मित्र की मृत्यु

रायबहादुर हरिहरप्रसाद सिंह पढ़ने के समय से ही मुझे जानते थे। जब मैं विलायत जाने की बात सोच रहा था, तब उन्होंने कुछ सहायता भी की थी। मैंने जब वकालत शुरू की तो उन्होंने मुझे अपना वकील बना लिया। हाइकोर्ट में उनके जितने मुकदमे जाते थे उनमें मैं ही वकील हुआ करता था। उनकी एक बहुत बड़ी सम्पत्ति बरमा में भी थी। उस सम्पत्ति के सम्बन्ध में डुमराँव के महाराजा बहादुर ने अदालत में दावा कर दिया। उनकी जो कुछ सम्पत्ति बिहार में थी उसे भी उस दावे में शामिल कर लिया। दोनों ओर से कई बड़े-बड़े और नामी वकील रखे गये। मुझे भी बाबू हरिजी ने काम करने के लिए कहा। १९१८ की दुर्गापूजा की छुट्टियों में प्रयाग में, जहाँ वह उन दिनों रहा करते थे, कागजों को पढ़ने के लिए मुझे बुलाया। मैं छुट्टियों में प्रयाग में ही कागज पढ़ता रहा। मेरे मित्र बाबू वैद्यनाथनारायण सिंह भी छुट्टियों में प्रयाग में ही, दारागंज में किराये पर एक मकान लेकर, अपने कुटुम्ब के साथ, दिन बिता रहे थे। हम दोनों अक्सर सुबह-शाम टहलने के समय मिला करते थे।

एक दिन दोपहर को ही वह मेरे यहाँ चले आये। बहुत तरह की बातें करने लगे। प्राय: संध्या तक मैं मुकदमे का कुछ काम न कर सका। चलने के समय

फिर दूसरे दिन आने को कह गये। दूसरे दिन पहले दिन से भी पहले ही चले आये। फिर बहुत-सी बेतुकी बातें करते रहे। मुझे सन्देह हुआ कि इनका मिजाज ठीक नहीं है। मैंने एक मित्र के उन्माद-रोग का आरम्भ देखा था। वैसे ही लक्षण इनमें भी दिखाई देने लगे। जाते समय मैं भी उनके साथ हो लिया। उनके घर तक साथ गया। वहाँ पूछने से मालूम हुआ कि कई दिनों से रात को वह सोते बहुत कम हैं और इसी प्रकार दिन-रात कुछ बोलते रहते हैं। मेरा भय और भी अधिक बढ़ गया। तीसरे दिन तो यह देखा कि वह एकदम पागल हो गये हैं। मैं उनके ही साथ रहने लगा। उनके भाई को तार देकर बुला लिया। दिन-दिन उनकी हालत बिगड़ती गयी।

एक दिन उन्होंने अपना बक्स खोलकर वकालत का 'गाउन' निकाला। उसे टुकड़े-टुकड़े करके फाड़ डाला। युनिवर्सिटी की किसी परीक्षा में उनको सोने का एक पदक मिला था। उसे उन्होंने इसी तरह निकाल कर फेंक दिया। अपनी छोटी बच्ची को, जो उनकी सबसे छोटी सन्तान थी, एक दिन मार डालने पर उतारू हो गये।

हम लोग बहुत घबराये। वहाँ जो कुछ चिकित्सा हो सकी, की गयी; पर राय ठहरी कि इन्हें पटने ले चलना ही अच्छा होगा। दो-चार दिनों में कुछ अच्छे होते मालूम हुए। एक दिन यह निश्चय हुआ कि मैं उनके साथ पटने चला जाऊँ और उनके छोटे भाई जगन्नाथजी परिवार को लेकर दूसरे दिन पटने पहुँचें। हाइकोर्ट की छुट्टियाँ समाप्त हो गयी थीं। पटने पहुँचना हम दोनों के लिए आवश्यक हो गया था। छुट्टियों में बराबर प्रयाग में ही रहने के कारण घर के लोगों से मैं मिला भी न था; क्योंकि मेरे परिवार के लोग छपरे में या मेरे गाँव जीरादेई में ही रहा करते थे, मेरे साथ पटने में नहीं। मैं सोचता था कि दो-चार दिनों के लिए, छुट्टी के अन्त में, घर जाकर उनसे मिल आऊँगा; पर वैद्यनाथ बाबू की अस्वस्थता के कारण यह विचार छोड़ देना पड़ा था।

जब हम दोनों प्रयाग से पटने के लिए रवाना हुए तब वैद्यनाथ बाबू बिलकुल स्वस्थ-से मालूम पड़ते थे। कपड़े इत्यादि ठीक तरह से पहन कर होश की बातें करते-करते मेरे साथ रेल पर सवार हुए। रास्ते में उन्होंने मुझसे पूछा कि मैं घर जाना चाहता था तो उस विचार को क्यों छोड़ दिया और कहा कि अब उनकी तबीयत बिलकुल ठीक हो गयी है, कोई चिन्ता की बात नहीं है। जो कुछ हुआ था उसका स्मरण करके उन्होंने अफसोस और लज्जा का भाव जाहिर किया तथा मुझसे कहा कि मैं सीधे घर चला जाऊँ और वह पटने चले जायँगे, इसमें कोई हर्ज नहीं है।

मैं उनकी बातें सुन कर बहुत खुश हुआ। मुझे विश्वास हो गया कि उनकी तबीयत ठीक हो गयी। मैं उस समय तक lucid moments (पागलपन के बीच कुछ चेतन क्षण)* का अर्थ नहीं जानता था। काशी स्टेशन पर उनको पटने की गाड़ी

---

* वे क्षण जब पागलपन के बीच-बीच में पागल की दशा कभी-कभी बिलकुल अच्छे आदमी की-सी हो जाती है।

में सवार कराकर मैं छपरे की गाड़ी से छपरे चला गया। वह दूसरे दिन सबेरे जब पटने पहुँचे तो उनकी हालत पहले की तरह बिलकुल एक पागल जैसी हो गयी थी। स्टेशन के कर्मचारियों ने उन्हें पहचाना। ऐसी अवस्था में उनको अकेला देखकर कुछ मित्रों को खबर दी। वे लोग आये और उनको किसी तरह घर ले गये। दूसरे दिन जब मैं पटने वापस आया तो मैंने उनको उसी बुरी दशा में पाया। मुझे बहुत अफसोस हुआ कि मैंने बड़ी गलती की थी। उनसे मुलाकात हुई तो उन्होंने बड़ी हँसी उड़ायी। कहा कि आप अपने को बड़ा होशियार समझते हैं; मुझे पहरे में रखने के लिए—जगन्नाथजी के साथ षड्यंत्र करके—मेरे साथ आये थे; कैसा चकमा देकर बेवकूफ बनाया! इतना कहकर हँसने लगे। फिर वही बेतुकी बकझक आरम्भ कर दी।

पटने में भी हम लोग बराबर देख-रेख करते रहे; पर वह कभी पूरी तरह स्वस्थ नहीं हुए। कभी-कभी अच्छे हो जाते, यहाँ तक कि वह हाइकोर्ट भी जाने लगते। 'पटना-लॉ-वीकली', जिसको मैं और वह साथ मिलकर निकाला करते थे, निकालने भी लगते। पर बीमारी ज्यों की त्यों बनी रहती। कुछ दिनों के बाद उनकी आकस्मिक मृत्यु हो गयी। उनकी मृत्यु का सदमा मेरे दिल पर बहुत पड़ा। पर वह जिस अवस्था में थे उसमें रहने से कहीं अच्छा देहान्त हो जाना था। उनके लिए यह मृत्यु एक प्रकार की मुक्ति ही थी। उनका जितना मेरे साथ प्रेम था और जितना उपकार उन्होंने मेरे साथ किया था, वह जब स्मरण आता है तो आज भी दुःख होता है; और इस बात का पश्चात्ताप होता रहता है कि उनके लिए अथवा उनके कुटुम्ब के लिए मैं कुछ भी न कर सका।

२४—प्रथम महायुद्ध के बाद

सन् १९१८ के नवम्बर में योरप का महायुद्ध समाप्त हो गया। १९१७ से ही भारतवर्ष में राजनीतिक जागृति की लहर उठने लगी थी। चम्पारन में गांधीजी के पधारने और रैयतों की सेवा करने का असर चारों ओर पड़ रहा था—यद्यपि समाचार-पत्रों में बहुत कम खबरें छपने के लिए दी जाती थीं और कहीं भी सभाओं में व्याख्यान देने की हम लोगों को मनाही थी। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने 'होमरूल-लीग' कायम करके सारे देश में १९१७ में ही बड़ी हलचल मचा दी थी। प्रायः सभी प्रान्तों में उसकी शाखाएँ कायम हो गयी थीं। लोग खूब जोरों से प्रचार के काम में लग गये थे। सरकार इससे कुछ घबरा-सी गयी। उसने श्रीमती एनी बेसेण्ट को, उनके दो साथियों के साथ, नजरबन्द कर दिया था। इस पर आन्दोलन ने और जोर पकड़ा। ब्रिटिश सरकार अपनी दु-धारी नीति को १९१७ में भी चला रही थी। एक ओर उसने इस तरह आन्दोलन की मुख्य अधिष्ठात्री को नजरबन्द किया, दूसरी ओर पारलेमेण्ट में नये नियुक्त भारत-मंत्री श्री मांटेगू ने एक एलान किया, जिसमें वादा किया गया कि भारत को आहिस्ता-आहिस्ता करके शासन का अधिकार दिया जायगा; पर कब और कितना अधिकार भारतीयों के हाथ में आवेगा, इसका निर्णय पारलेमेण्ट

ही कर सकेगी! उसके बाद श्री मांटेगू भारतवर्ष में आये। यहाँ के वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड के साथ भारतीय नेताओं से मिले। दोनों ने मिलकर एक रिपोर्ट तैयार की, जिसके आधार पर पारलेमेण्ट ने १९२० में एक कानून पास किया। श्रीमती एनी बेसेण्ट भी कुछ दिनों के बाद छोड़ दी गयीं। वह १९१७ में कलकत्ते में होनेवाले कांग्रेस अधिवेशन की सभानेत्री चुनी गयीं। उत्साह बहुत था। हम लोग भी चम्पारन से गांधीजी के साथ ही काँग्रेस में गये थे। सेठ जमनालालजी से वहीं प्रथम परिचय हुआ। उन्होंने ही गांधीजी के रहने इत्यादि का प्रबन्ध किया था। उसी मकान में गांधीजी के साथ काम करनेवाले हम बहुतेरे बिहार-निवासी सेठजी के ही मेहमान बने। बहुतेरे दूसरे बिहारी भी हम लोगों के साथ ही आकर ठहरे और वे हम मेहमानों के भी मेहमान हो गये। जमनालालजी के आतिथ्य को ग्रहण करने का पहला अवसर वहीं मिला।

जर्मन युद्ध के समय भारतवर्ष ने गवर्नमेण्ट की सहायता की थी। इसकी प्रशंसा सभी सरकारी कर्मचारी बहुत जोरों से किया करते थे। पर जो कुछ सहायता लोगों ने अथवा उन दिनों की कौन्सिल ने अपनी खुशी से की थी, उसके अलावा जोर-जबरदस्ती से भी बहुत सहायता ली गयी थी जिसके कारण देश में बहुत असन्तोष भी फैला था। पंजाब में उन दिनों लेफ्टेनेण्ट गवर्नर थे सर माइकेल ओडायर। वह एक बड़े जबरदस्त सिविलियन थे। उन्होंने रँगरूट भरती कराने में और चन्दा जमा करने में बड़ी सख्ती से काम लिया था। इसका असर पंजाब पर बहुत बुरा पड़ा था। वहाँ के लोग—हिन्दू, मुसलमान और सिख—बहुत ही दुखी थे। सरकार भी जानती थी कि पंजाब के अतिरिक्त और जगहों में भी असन्तोष काफी है। लड़ाई शुरू होते ही, कुछ भारतीय, जो विदेशों में थे, इस प्रयत्न में लग गये थे कि हिन्दुस्तान में इस मौके से नफा उठाकर क्रान्ति की जाय। उन्होंने इस दिशा में कुछ काम किया भी था। मुसलमानों में इस बात से बहुत खलबली मची थी कि उनके खलीफा—तुर्की के बादशाह—लड़ाई में जर्मनी की तरफ हो गये थे और तुर्क सेना से मुकाबला करने के लिए हिन्दुस्तानी फौज भेजी गयी थी जिसमें मुसलमान भी अच्छी संख्या में थे। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इन सब कारणों से प्रभावित होकर अपनी दुहरी नीति चलाती रही। मुसलमानों को संतुष्ट करने के लिए उन्होंने कई वादे किये, जिनमें उनके धार्मिक स्थानों को सुरक्षित रखने और तुर्की की ताकत और उनके राज्य को अधिक नुकसान न पहुँचाने की बातें भी थीं। दूसरी ओर सरकार यह भी सोच रही थी कि भारत-रक्षा-कानून की (जो लड़ाई का अन्त होने के छः महीने बाद तक ही जारी रह सकता था) जरूरत बाद में भी पड़ेगी, क्योंकि वह अगर न रहा तो जितने लोग नजरबन्द हैं उनको छोड़ना पड़ेगा, और अगर असन्तोष ने कुछ विकट रूप धारण किया तो उसे सँभालने के लिए कुछ ऐसी व्यवस्था करनी होगी जिससे अदालत में मुकदमे की पेशी होने पर गवाही जुटाने की झंझट से वह बची रहे। इसलिए एक कमिटी मुकर्रर की गयी थी जिसके प्रधान थे सर सिडनी रौलट, जो लन्दन के हाइकोर्ट के एक जज थे। इस कमिटी ने एक रिपोर्ट तैयार की जिसमें भारतीय षड्यंत्रों का

इतिहास देते हुए इस बात की सिफारिश की गयी कि एक ऐसे कानून की जरूरत है जिसके द्वारा सरकार के हाथ में, षड्यंत्रकारियों को उपद्रव करने से रोकने और क्रान्ति से हिन्दुस्तान की रक्षा करने के लिए, पूरा कानूनी अख्तियार रहे—अर्थात् प्रायः वे सब अधिकार रहें जो लड़ाई की नाजुक स्थिति सँभालने के लिए भारत-रक्षा कानून के द्वारा दिये गये थे। इस प्रकार एक तरफ मांटेगू-चेम्सफोर्ड-रिफार्म-स्कीम १९१८ के बीच में और दूसरी ओर रौलट-रिपोर्ट भी १९१८ के अन्त में निकली।

२५—रौलट-बिल-विरोधी आन्दोलन

रौलट-रिपोर्ट के निकलते ही सारे देश में बड़ा असन्तोष उत्पन्न हुआ जिसने—पहले ही सुलगती हुई असन्तोष की—आग में घी का काम करके उसे जोरों से प्रज्वलित कर दिया। चम्पारन से लौटने के बाद मैं अपनी वकालत में लग गया था। छः-आठ महीनों की गैरहाजिरी के बाद भी उसमें किसी तरह की कमी नहीं आयी थी। १९१८ और १९१९ में जोरों से हाइकोर्ट में काम करता रहा। मुकदमे और रुपये भी खूब मिलते रहे। गांधीजी ने चम्पारन में ही हम लोगों से एक बार कहा था कि हम लोग अगर चम्पारन में सचाई के साथ काम करेंगे तो एक प्रकार की पूँजी कमा लेंगे, जिससे आगे बहुत लाभ उठा सकेंगे। वहाँ पर पूरी सचाई के साथ काम हुआ। आज भी जब मैं पिछले पचीस बरसों के अपने जीवन पर विचार करता हूँ तो मुझे जान पड़ता है कि वहाँ की कमाई हुई पूँजी दिन-दिन बढ़ती गयी है। कभी-कभी यह जानकर बड़ा सन्तोष होता है कि जो सबक सचाई का गांधीजी ने वहाँ सिखाया था उसीका यह एक फल है कि अपने जीवन में जिसका मैं कर्त्तव्य-वश घोर से भी घोर विरोध करता हूँ वह भी मेरे कहने पर विश्वास रखता है। पर इस प्रकार सार्वजनिक जीवन में सचाई से जो लाभ हुआ है उसके अलावा वकालत के काम में भी उससे हमेशा लाभ ही हुआ है—कुछ लाभ अपने पेशे में सफलता के रूप में और उसके फलस्वरूप पैसे कमाने के रूप में हुआ। मुझे इस बात का गर्व रहता है कि वकालत के जमाने में जजों ने मुझ पर विश्वास किया। एक अँगरेज जज तो कभी-कभी ऐसा मजाक किया करता था कि प्रतिपक्षी वकील अगर कमजोर जान पड़ता तो वह मुझसे ही कहता कि तुम ही अपने विरुद्ध जो सबसे खराब नजीर हो उसे बता दो। मैं इसके लिए तैयार भी रहा करता था। उस नजीर को पेश करके उसके काट में जो नजीर पेश करनी होती थी वह भी पेश कर देता था। मैं कभी भी लचर दलील नहीं पेश करता था। जिस मुकदमे में बहस की गुंजाइश न रहती उसे कभी लेता ही न था। मवक्किल को साफ-साफ कह देता कि इसमें कुछ होने-जाने का नहीं, इसलिए इसे दाखिल करके पैसे बरबाद मत करो। कोई-कोई मवक्किल दूसरे के पास जाकर अपील दायर कराता और पैसे खर्च करके हार जाता। मैंने ऐसे लोगों को, जिनको मैंने अपील दायर करने से मना करके उनके कागज और पैसे लौटा दिये थे, दूसरों की मार्फत अपील दायर

करते और हारते भी देखा है। एक ऐसा भी मुकदमा मैंने देखा जिसे मैंने वापस कर दिया था, पर दूसरे वकील ने उसे दायर किया और हाइकोर्ट में जीत भी लिया। ऐसा होना आश्चर्य की बात नहीं है; क्योंकि मुकदमेबाजी एक प्रकार का जुआ तो है ही। हो सकता है कि मैं उस मुकदमे की बारीक बातें न समझ सका होऊँ अथवा, जज किसी धोखे में आ गया हो और उसने गलत फैसला दे दिया हो। अस्तु।

मैं वकालत तो जोरों से करता रहा; पर अब गांधीजी का सम्पर्क भी छूटने-वाला नहीं था। रौलट-रिपोर्ट के निकलने के बाद देश में बड़ा आन्दोलन उठ खड़ा हुआ। गांधीजी ने उसका नेतृत्व अपने हाथों में लिया। बिहार से लौटने के बाद गांधीजी ने 'खेड़ा' के किसानों का, जिन पर मालगुजारी का इजाफा हो रहा था, नेतृत्व करके इजाफा छुड़वाया। इसके लिए वहाँ सत्याग्रह का प्रबन्ध करना पड़ा था। पर अन्त में बात तय हो गयी। जब गांधीजी 'खेड़ा' में दौरा कर रहे थे, मैं भी उनके साथ गुजरात के किसानों के उस जिले में (सन् १९१८ में) दो-तीन दिनों तक घूमा था। एप्रिल का महीना था। गर्मी काफी पड़ रही थी। धूप खूब कड़ी हुआ करती थी। उस गर्मी में भी गांधीजी गाँवों में घूमते रहते। उन दिनों वह जूता नहीं पहना करते थे। इसलिए बालू तप जाने पर खाली पैरों से चलने में उन्हें तकलीफ बहुत होती थी। एक दिन ऐसा दृश्य मुझे देखने को मिला। गर्मी के मारे पैर जले जाते थे। बालू कुछ दूर तक थी। मैं तो जूता पहने हुए था। मुझे कोई कष्ट नहीं हुआ। पर गांधीजी को बहुत कष्ट हुआ। एक स्थान पर मैंने चादर बिछा देनी चाही जिसमें उनको थोड़ा आराम मिल जाय। पर उन्होंने ऐसा नहीं करने दिया। उसी यात्रा में सरदार वल्लभ भाई के गाँव 'कामसद' में भी जाने का सु-अवसर मिला था। मैंने उनका पैतृक मकान देखा था। उस सत्याग्रह के नेता एक प्रकार से सरदार वल्लभ भाई ही थे। उसी सत्याग्रह के कारण उनका गांधीजी के साथ वह सम्बन्ध स्थापित हुआ जो आज तक अटूट बना हुआ है और जो दिन-दिन इन दोनों शक्तियों के संगम का अच्छा फल देश को देता आ रहा है।

खेड़ा-सत्याग्रह के बाद गांधीजी, सरकार की मदद के लिए, खेड़ा जिले के लोगों को फौज में भरती होने के लिए सलाह देते हुए, दौरा करने लगे। उस समय तक ब्रिटिश गवर्नमेंट पर उनका पूरा विश्वास था। वह मानते थे कि सरकार अक्सर भूल कर दिया करती है और कहीं-कहीं उसने जुल्म भी किया है। परन्तु सभी बातों पर विचार करने के बाद वह इस नतीजे पर पहुँचते थे कि ब्रिटिशनीति न्याय-संगत है, उससे न्याय की आशा रखी जानी चाहिए। इसी लिए वह सरकार की मदद करने के लिए लोगों को फौज में भरती होने का मशविरा देने लगे। अपनी आदत के मुताबिक इस काम में भी वह बहुत जोरों से लग गये। खेड़ा के दौरे के कारण उनके स्वास्थ्य पर बहुत बड़ा धक्का पहुँचा। वह बहुत जोरों से बीमार पड़ गये। उसी नीति के अनुसार मैं भी बिहार में बने उस सरकारी बोर्ड का मेम्बर हो गया जो फौजी रँगरूटों की भरती में मदद करने के लिए बना था। उसके मंत्री उन

दिनों श्री रसल थे, जो आज बिहार के गवर्नर के सलाहकार (adviser) हैं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, गांधीजी के जी-तोड़ परिश्रम के बाद भी भरती में बहुत सफलता नहीं हुई। बिहार में भी मैं कुछ विशेष न कर सका।

गांधीजी की बीमारी इतनी बढ़ गयी कि वह बम्बई में काँग्रेस के उस विशेष अधिवेशन में, जो माण्टेग्यू-चेम्सफोर्ड-रिपोर्ट पर विचार करने के लिए श्री सैयद हसन इमाम के सभापतित्व में हुआ था, शरीक न हो सके थे। पर मैं उसमें शरीक हुआ था। वहाँ से लौटते समय मैं अहमदाबाद और साबरमती में कई दिनों तक गांधीजी के साथ ठहरा भी था। जहाँ तक मैं उनके विचारों को समझ सका था, मैं कह सकता हूँ कि वह यदि कांग्रेस में रहते तो नरम दल के लोगों का ही साथ देते। कांग्रेस का काम समाप्त तो हो गया, पर दोनों दलों का मतभेद बहुत स्पष्ट हो गया। कुछ लोगों के कांग्रेस से हटने और लिबरल दल के अलग संगठन करने का सूत्रपात वहीं हो गया। तीन महीनों के बाद, दिल्ली के अपने सालाना अधिवेशन में, प्रायः बम्बई के फैसलों को ही कांग्रेस ने कायम रखा।

जब मैं बम्बई से अहमदाबाद पहुँचा तो देखा कि गांधीजी अहमदाबाद शहर के मिर्जापुर महल्ले में सेठ अम्बालाल साराभाई के बहुत बड़े महल में ठहरे हुए हैं। सेठजी उन दिनों अपने एक दूसरे नये मकान में रहा करते थे और यह मकान खाली था। गांधीजी की तबीयत बहुत खराब थी। डाक्टर लोग देखा तो करते थे, पर वह कोई दवा नहीं खाते थे। मल का प्रकोप था। ज्वर का भी जोर था। साबरमती में आश्रम स्थापित हो चुका था, पर अभी तक मकान कम बने थे। किन्तु वहाँ रहनेवालों की संख्या बढ़ती जा रही थी। एक दिन गांधीजी का ज्वर बहुत बढ़ गया, पर उसका विचार न करके उन्होंने कहा कि अब यहाँ नहीं ठहरना चाहिए, तुरन्त साबरमती आश्रम में चले चलो। साथियों ने बहुत रोका; पर उन्होंने किसी की एक न सुनी। उसी हालत में आश्रम में चले गये। जिस समय ऐसा हुआ, मैं अहमदाबाद शहर की मशहूर चीजों को देखने गया था! जब मैं लौटा तो मैंने सुना कि सब लोग आश्रम चले गये। फिर मैं भी संध्या को वहाँ चला गया।

दूसरे दिन सवेरे जब मैं गांधीजी के पास बैठा हुआ था, मुझे वह दृश्य देखने को मिला और वह बात सुनने में आयी, जिसको मैं कभी भी भूल नहीं सकता। गांधीजी का ज्वर कुछ कम हो गया था; पर वह बहुत कमजोर थे। एक छोटे-से कमरे में चारपाई पर पड़े हुए थे। मैं नीचे पड़ी हुई चटाई पर बैठा था। वह श्री छगन-लाल गांधी को बुलवाकर उनसे बातें करने लगे। उन्होंने इतने आवेश में बातें कीं कि उसका असर पड़े बिना रह नहीं सकता था। यद्यपि मैं गुजराती कम समझ पाता था फिर भी मैंने सारांश तो पा ही लिया। उन्होंने कहा—"कल जब ज्वर का बहुत वेग था, मैंने जिद्द करके यहाँ चले आने को कहा। मैं समझता था कि यहाँ पहुँचने पर ही ज्वर का वेग कम होगा। यह ज्वर तो शरीर में था, पर वहाँ

उस बड़े महल में पड़े-पड़े मेरे हृदय के भीतर बड़ी ज्वाला जल रही थी। मैं सोच रहा था—'गांधी! तुझे इतने बड़े महल से क्या काम? तू यहाँ क्यों ठहरा हुआ है? तेरी जगह तो गरीबों के झोपड़ों में है—आश्रम में है। यहाँ से तुरत चला जा। तू जब तक ऐसा नहीं करता, तुझे चैन नहीं मिल सकता।' इसी कारण मैंने इतनी जिद्द की जो तुममें से कुछ को बुरी भी लगी होगी। वहाँ से यहाँ आने पर भी मैं रात को सोया नहीं हूँ। बराबर सोचता ही रहा हूँ। मैं अपने से पूछता रहा हूँ कि क्या तेरी जिन्दगी इसी तरह बिना कुछ सफलता पाये ही बीत जायगी। जब से दक्षिण अफ्रिका से हिन्दुस्तान आया, एक पर एक काम मैंने हाथ में लिया; पर किसी को भी पूरा न कर सका; सबको अधूरा ही छोड़ता गया। मिल-मजदूरों में हड़ताल का काम हुआ। हड़ताल इस मानी में तो सफलतापूर्वक समाप्त हुई कि उनकी माँगें मंजूर हो गयीं; पर मजदूरों में अभी बहुत-सी ऐसी त्रुटियाँ हैं, जिनको दूर करना चाहिए। मेरी इच्छा थी कि उनके बीच काम करके उन त्रुटियों के दूर करने का प्रयत्न करूँगा। पर वह न कर सका, चम्पारन चला गया। चम्पारन में भी, जहाँ तक नीलवरों का प्रश्न है वह तो एक प्रकार से समाप्त हुआ; पर वहाँ के किसानों के बीच बहुत काम करने की जरूरत है। इसीलिए वहाँ पर कुछ पाठशालाएँ खोली गयीं। मेरी इच्छा थी कि मैं इस प्रकार के काम में योगदान करता रहूँगा और उस जिले में इस प्रकार के काम का सूत्रपात करके उसे खूब जोरों से चलाऊँगा। इस काम के लिए सच्ची लगनवाले त्यागी लोग भी मिले थे और दूसरे भी मिलनेवाले थे; पर उसको भी अधूरा ही छोड़कर मुझे खेड़े के सत्याग्रह में लग जाना पड़ा। फिर खेड़े के किसानों का काम पूरा होते ही फौज की भरती के काम में लग गया। खेड़े में भी जनता में काम करने की जरूरत है; पर वह भी पूरा न हो सका। इतने में मैं बीमार पड़ गया। मालूम नहीं, इस बीमारी से बचकर फिर खड़ा होऊँगा या नहीं। अगर हो भी सकूँगा तो कुछ ठीक नहीं कि कब तक। तुम लोग, जो दक्षिण अफ्रिका से ही मेरे साथ काम करते आ रहे हो, मेरी इस दशा के कारण किसी काम को जमकर नहीं कर पाते। तुम्हारा स्वास्थ्य भी खराब ही है। इस आश्रम को ही मैंने बहुत आशा और मनसूबा लेकर स्थापित किया था। पर इसको भी मैं अब तक समय नहीं दे सका हूँ। चम्पारन से ही मुझे इसके उद्घाटन का संदेश भेजना पड़ा, स्वयं उस समय आ भी न सका था। तबसे अब तक मैं किसी न किसी काम में बझकर बाहर रहा। अब मेरी यह हालत है। न मालूम ईश्वर को क्या मंजूर है।"

इस प्रकार बातें करते-करते वह फूट-फूटकर रोने लगे। कुछ देर तक रोते रहे। हम ही दोनों वहाँ थे। उनको कोई चुप करावे तो कैसे करावे। हम जानते थे कि उनके हृदय की ज्वाला अब आँसुओं के रूप में भाप का पानी बनकर निकल रही है। कुछ देर के बाद वह खुद चुप हुए। उन्होंने कहा, यह ज्वाला बहुत जला रही थी, रात-भर सोया नहीं, कुछ आँसू बह जाने के बाद वह कुछ शान्त हुई है।

इसके बाद कुछ देर तक चुप रहे। मैं भी चुप बैठा रहा और सोचता रहा कि ईश्वर ने हमारे लिए बड़ा सौभाग्य प्रदान किया कि ऐसे महापुरुष का सम्पर्क मुझे मिला। छुट्टी लेकर दो-एक दिन के बाद मैं अपने काम पर वापस आया।

इस बीमारी से उठने के बाद, जिसमें वह शायद कभी-कभी मृत्यु का भी दर्शन करते थे, उन्होंने रौलट-रिपोर्ट के विरुद्ध आन्दोलन का नेतृत्व ग्रहण किया। रिपोर्ट निकलने के कुछ ही दिनों बाद, गवर्नमेण्ट ने उसकी सिफारिश के मुताबिक दो बिल दिल्ली की इम्पीरियल कौन्सिल में पेश किये, जिनके द्वारा सरकार को बहुत व्यापक और जुल्मी अख्तियार मिलते थे। वह जिसको चाहे, बिना अदालत में गये ही, नजरबन्द कर दे सकती थी। जनता ने यह देखा कि लड़ाई के दिनों में जो स्वराज्य-सम्बन्धी वादे ब्रिटिश सरकार की ओर से किये गये थे उनके पूरा होने का तो कुछ करीना नजर नहीं आता; पर ये 'काले कानून' हमारे सिर पर लादे जा रहे हैं। सारे देश में बड़ा क्षोभ पैदा हुआ। सभी जगहों में विरोधी सभाएँ होने लगीं। कौन्सिल में गैर-सरकारी मेम्बरों ने इन बिलों का प्रबल विरोध किया; पर उनकी सुनता कौन था। अन्त में एक बिल पास हो गया। सभी चुने हुए हिन्दुस्तानियों ने उसका विरोध किया था। पर सरकारी कर्मचारियों और कुछ सरकार द्वारा नियुक्त मेम्बरों की सम्मति से वह बहुमत से पास हो गया। गांधीजी ने पहले ही घोषणा कर दी थी कि ये कानून यदि पास हुए तो हम लोग इन्हें नहीं मानेंगे—सत्याग्रह करेंगे।

उस समय की वे विरोधी सभाएँ, जो देश के कोने-कोने में हुईं, एक नयी जागृति और नवजीवन की द्योतक थीं। इतनी बड़ी-बड़ी सभाएँ, जिनमें सब वर्ग और जाति तथा धर्म के लोग इतनी अधिक संख्या में शामिल होते हों, शायद ही पहले कभी देखी गयी थीं। गांधीजी ने एक बिल के पास होते ही, अपने वादे के मुताबिक, सत्याग्रह का प्रश्न उठाया। देश की हवा का रुख देखकर सरकार ने दूसरे बिल को आगे नहीं बढ़ाया। उसे वापस भी नहीं लिया। इस प्रकार वह लटकता पड़ा रहा। न पास हुआ, न नामंजूर। शायद, कायदे के मुताबिक, कुछ दिनों के बाद, गिर गया होगा। पर जो बिल पास हो चुका था, वह भी कुछ कम न था। उससे सरकार का काम निकल आता था। जो आन्दोलन उठ खड़ा हुआ उसका फल यह हुआ कि वह कानून पास तो हो गया; पर कभी काम में नहीं लाया गया। कुछ बरसों के बाद वह रद्द भी कर दिया गया।

२६—छ अप्रैल और जंगी कानून

गांधीजी ने उसी समय 'यंग इण्डिया' का सम्पादन अपने हाथ में लिया। प्रति सप्ताह उसमें उनके लेख निकलने लगे, जो सारे देश में सनसनी पैदा करने-वाले होते थे। उन्होंने अहिंसात्मक सत्याग्रह की घोषणा कर दी। एक दिन भी निश्चित कर दिया कि उस दिन सारे देश में लोग उपवास करें, अपने-अपने धार्मिक

मन्दिरों और मसजिदों में प्रार्थना करें, जलूस निकाल कर संध्या समय सभा करें जिसमें सब लोग 'काले कानून' का विरोध करें। विरोधी सभाएँ तो बराबर हो ही रही थीं। किन्तु इस दिन का बहुत बड़ा महत्त्व था। पहले के आन्दोलन से जमीन खूब तैयार हो गयी थी। उस दिन की हड़ताल इतनी जबरदस्त हुई कि शायद ही कभी पहले वैसी हड़ताल देखी गयी हो। शहरों में सभी दूकानें बन्द थीं, सवारियों का चलना बन्द हो गया था। गाँवों में लोगों ने उस दिन बैलगाड़ी और हल जोतना तक बन्द कर दिया था। न मालूम यह सन्देश किस प्रकार सभी जगहों में पहुँच गया। अभी कांग्रेस का संगठन इतना न तो फैला था और न इतना मजबूत ही था कि वह उस संदेश को सभी सुदूरवर्ती गाँवों तक पहुँचा सकती; पर तब भी यह अद्भुत घटना हुई!

पटने में विरोधी सभाओं के संगठन इत्यादि का काम मैं तत्परता से करता रहा। गांधीजी के पत्र भी जब-तब मिल जाया करते थे। पर विशेष सभी बातें 'यंग इण्डिया' से मिलती थीं। श्री मजहरुल हक साहब और श्री सैयद हसन इमाम काफी दिलचस्पी लेते थे। मजहरुल हक साहब तो उन दिनों दिल्ली-कौन्सिल में गये थे; पर हसन इमाम साहब सभाओं में जाते थे। उस दिन की हड़ताल के सम्बन्ध में पहले से ही सभी दूकानदारों से कहा गया था। सभी राजी हो गये थे; पर एक बड़ी दूकानवाले राजी नहीं होते थे। यह बात हसन इमाम साहब तक पहुँचायी गयी। मेरे साथ ही वह उस दूकानदार की दूकान तक गये। वहाँ पहुँचते ही बूढ़े दूकानदार के पैरों पर उन्होंने अपनी टोपी उतारकर रख दी। वह तो भौंचक-सा हो गया। कहने लगा, आपने यह क्या किया, आपका हुक्म ही हमारे लिए काफी होता। नतीजा यह हुआ कि सारे शहर में एक भी दूकान न खुली, चाहे वह हिन्दू की हो या मुसलमान की। शहर की तमाम दूकानें, चाहे वह सोने-चाँदी की हो या साग-सब्जी की, बन्द रहीं। उस दिन जो जलूस निकला वह भी अद्भुत था। गुलजार बाग से लेकर प्रायः शहर के किले तक, जहाँ सभा होनेवाली थी, लम्बा जलूस फैला हुआ था जिसमें सबसे आगे नंगे पैर हसन इमाम साहब थे और पीछे-पीछे हम सब लोग। जो सभा किले के छोटे मैदान में होनेवाली थी वह वहाँ न हो सकी; क्योंकि जगह कम थी। गंगा के किनारे रेत में सभा करनी पड़ी। हम सब डरते थे कि कहीं इतने बड़े मजमे की पुलिस से मुठभेड़ न हो जाय; पर कुछ भी न हुआ। बड़ी शान्ति और उत्साह के साथ उस दिन का काम समाप्त हुआ।

गांधीजी ने कुछ दिन पहले ही लिख भेजा था कि ऐसे सत्याग्रहियों से एक प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर लिये जायँ, जो इस बात के लिए तैयार हों कि वे अहिंसा का पालन करते हुए सरकार के ऐसे कानूनों को न मानेंगे जिन्हें तोड़ने की आज्ञा एक मनोनीत कमिटी देगी, और इसके लिए जो सजा होगी उसे खुशी के साथ भोगने को तैयार होंगे। अभी तक कमिटी ने कानूनों को नहीं बताया था। इस पर देश में

कुछ नरमदल के लोगों और अखबारों की ओर से बड़ी टीका-टिप्पणी भी हुई। पर गांधीजी विचलित न हुए। बिहार में वह प्रतिज्ञा-पत्र मेरे पास ही आया। उस पर हसन इमाम साहब ने हस्ताक्षर किया। मैंने तथा कुछ और लोगों ने भी।

६ अप्रैल की हड़ताल और सभाएँ सारे देश में बड़ी सफलता और समारोह के साथ हुईं। दिल्ली में जो सभा हुई थी वह बड़े मार्के की थी। हिन्दू-मुस्लिम एकता इतनी बढ़ गयी कि दोनों ने साथ ही साथ सरकारी गोली खायी। जलूस के नेता स्वामी श्रद्धानन्दजी ने अपना सीना खोल दिया था कि सरकार अगर चाहे तो उन्हें गोली मार दे। मुसलमानों पर इतना असर पड़ा कि उन्होंने स्वामी श्रद्धानन्द को ले जाकर जुमा मसजिद में उनका भाषण करवाया। वहाँ पर जो छोटा-मोटा बलवा हो गया उसे शान्त करने के लिए गांधीजी दिल्ली के लिए रवाना हुए। मगर रास्ते में ही, दिल्ली के नजदीक 'पलवल' स्टेशन पर, सरकारी हुक्म से, रेल से उतार लिये गये और एक अनजान स्थान को भेज दिये गये। श्री महादेव भाई देसाई उनके साथ थे, जो वहाँ से अकेले बम्बई की ओर वापस हुए। रास्ते से उन्होंने मेरे पास तार भेजा कि गांधीजी गिरफ्तार होकर अनजान स्थान को भेज दिये गये हैं और मुझे तुरत बम्बई पहुँच कर उनसे (महादेव भाई से) मिलना चाहिए। तार पाते ही मैं बम्बई के लिए रवाना हो गया। रास्ते ही में जो अखबार मिले उनसे मालूम हुआ कि कई स्थानों में इस खबर के पहुँचते ही बलवा शुरू हो गया है, जिनमें पंजाब के कई शहर, अहमदाबाद और बम्बई थे। मैं जब दो दिनों के बाद बम्बई पहुँचा तो वहाँ उस समय तक शान्ति हो गयी थी। गांधीजी पलवल से बम्बई ले जाये गये। वहाँ ले जाकर छोड़ दिये गये। गांधीजी के बम्बई पहुँच जाने से बलवा जोर न पकड़ सका, शीघ्र ही शान्त हो गया। पर अहमदाबाद से खराब खबर मिली थी। गांधीजी वहाँ के लिए रवाना हो चुके थे। महादेव भाई भी बम्बई पहुँच कर उनके साथ हो लिये थे। जब मैं पहुँचा तो मैंने सुना कि वे दोनों अहमदाबाद चले गये हैं। मैं भी उसी दिन संध्या की गाड़ी से अहमदाबाद के लिए रवाना हुआ। जब दूसरे दिन सवेरे स्टेशन से बाहर निकला तो देखा कि गोरे सिपाहियों का पहरा पड़ रहा है और शहर में जंगी कानून जारी है। किसी तरह साबरमती-आश्रम में एक टाँगे पर पहुँचा। वहाँ भी गांधीजी के पहुँचने से लोगों में शान्ति हो गयी थी। बलवा-फसाद कम हो गया था। जंगी कानून भी मेरे पहुँचने के कुछ ही घंटों के अन्दर उठा लिया गया, या शायद पहले ही उठा लिया जा चुका था। वहाँ शान्ति कायम रखने का प्रबन्ध करके गांधीजी उसी दिन या दूसरे दिन रात की गाड़ी से बम्बई के लिए रवाना हुए। मैं भी साथ था।

इसी बीच पंजाब से बलवा हो जाने की खबरें आती रहीं जिससे गांधीजी बहुत सोच में पड़ गये। जलियाँवाला बाग का हत्याकांड इसी बीच में हो चुका था। कुछ थोड़ी खबर मिली थी, पर पूरा हाल कुछ महीनों तक ठीक-ठीक न मिला।

इतना अवश्य मालूम हो गया कि पंजाब की स्थिति बहुत भयंकर हो गयी है। गांधीजी सोचने लगे कि ऐसी अवस्था में सत्याग्रह चलाना ठीक न होगा। उन्होंने उस रात को अहमदाबाद और बम्बई के रास्ते में रेलगाड़ी में ही अपना वह वक्तव्य लिखा जिसमें उन्होंने लोगों में अहिंसा के अभाव के कारण सत्याग्रह स्थगित करने का विचार प्रकट किया। हम लोगों ने उसे रेल में ही पढ़ लिया। बम्बई पहुँचने पर वह अखबारों में प्रकाशन के लिए दे दिया गया।

बम्बई में कुछ देर तक मैं ठहर गया। वहाँ अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के अधिवेशन में, जो उन्हीं दिनों वहाँ हो रहा था, शामिल हुआ। उसके बाद मैं पटने चला आया। सत्याग्रह स्थगित हो जाने पर फिर मैं अपनी वकालत में लग गया।

२७—पंजाब-हत्याकांड, खिलाफत और असहयोग

सत्याग्रह बन्द तो हो गया, पर देश में असन्तोष बढ़ता ही गया। उधर पंजाब में जंगी कानून के नाम पर जुल्म-ज्यादतियाँ हुईं। जनता की बेइज्जतियाँ की गयीं। हजारों आदमियों को कड़ी-कड़ी सजाएँ मिलीं। सबकी खबर कुछ-कुछ बाहर आती गयी; पर पूरी खबर किसी को न मिलती थी। आपस का मेल इतना था कि हिन्दू, मुसलमान और सिक्ख सब बातों में पूरी तरह शरीक होते थे। साथ ही गोलियाँ खाते, लाठियाँ सहते, पानी पीते, जमीन पर रेंगते अथवा हवाई जहाज के गोलों के शिकार बनते। इस हत्याकांड का पूरा वर्णन यहाँ नहीं दिया जा सकता। उसको तो काँग्रेस द्वारा नियुक्त कमिटी की रिपोर्ट में ही पढ़ना चाहिए। बहादुर पंजाबियों पर होनेवाले जुल्मों की खबरें पंजाब से बाहर नहीं आ पाती थीं। न कोई पंजाब जाने पाता था, न कोई वहाँ से बाहर आने पाता था, और न वहाँ तार या चिट्ठियाँ ही जा पाती थीं। जब जंगी कानून उठा लिया गया तब सब बातें मालूम हुईं। देश में भयंकर रोषाग्नि पैदा हुई।

उस साल काँग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में होनेवाला था, जहाँ जलियाँवाला बाग में हत्याकांड हो चुका था। सारा पंजाब जंगी कानून से बहुत ही परेशान किया जा चुका था। भय होने लगा कि शायद वहाँ की जनता काँग्रेस का आयोजन न कर सके। पर निश्चय हुआ कि चाहे जिस तरह हो, काँग्रेस का अधिवेशन अमृतसर में ही होना चाहिए। वैसा ही हुआ भी। पंडित मोतीलाल नेहरू सभापति चुने गये। मैं इस काँग्रेस में शरीक नहीं हुआ। काँग्रेस दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में हुआ करती थी और दूसरी जनवरी से ही बाबू हरिजी का मुकदमा खुलनेवाला था। उन्होंने मुझे रोक लिया। उक्त पंडितजी भी उस मुकदमे में काम करनेवाले थे; पर वह कुछ देर करके—कई दिनों के बाद—पहुँचे। तब तक श्री नृपेन्द्रनाथ सरकार (सर एन० एन० सरकार) ने ही कई दूसरे वकीलों और बैरिस्टरों के साथ काम शुरू कर दिया था। १९२० की जनवरी से अक्टूबर तक मैं आरा में उसी मुकदमे के लिए

रहा। कभी-कभी एक-दो दिनों के लिए छुट्टी मिलने पर पटने आ जाया करता था—विशेष करके अपने बड़े लड़के मृत्युञ्जय को देखने के लिए, क्योंकि उसको उस समय काला आजार की बीमारी हो गयी थी और उसकी चिकित्सा पटने में हो रही थी। कभी-कभी किसी मवक्किल के काम से भी आ जाता। पर प्रायः इन दस महीनों का समय बर्मा के मुकदमे में ही लगा।

गवर्नमेण्ट ने पंजाब में जंगी कानून उठ जाने के बाद, एक कमिटी मुकर्रर कर दी थी जिसके जिम्मे वहाँ की घटनाओं के सम्बन्ध में जाँच करने का काम दिया गया था। लार्ड हण्टर, जो बिलायत के एक जज थे, इसके सभापति बनाये गये थे। काँग्रेस की ओर से पहले इस कमिटी के सामने अत्याचार-सम्बन्धी गवाही पेश करने का निश्चय हुआ था। कुछ दिनों तक यह काम हुआ भी। पर कुछ मतभेद हो जाने पर काँग्रेस इस जाँच से हट गयी। उसने अपनी एक अलग कमिटी बना दी जिसको वही काम सौंप दिया जो गवर्नमेण्ट की ओर से हण्टर कमिटी कर रही थी। हण्टर-कमिटी के सामने जब बातें आने लगीं और सब अखबारों में छपने लगीं तब पहले-पहल इसका पता चला कि पंजाब में कितना जुल्म हुआ है। पंजाब में हुए अत्याचारों की खबरें बाहर जिस अनुपात में फैलीं, देश में उसी मात्रा में रोष भी बढ़ता गया। काँग्रेस कमिटी की जाँच भी प्रायः उसी समय हुई। इसके लिए गांधीजी, देशबन्धु दास, श्री जयकर, श्री अब्बास तैयबजी प्रभृति पंजाब के गाँवों और जिलों में खूब चक्कर लगाते फिरे। दोनों कमिटियों की रिपोर्टें १९२० में प्रकाशित हुईं।

उधर तुर्की के साथ अँगरेजों के व्यवहार से मुसलमानों में खास खलबली मची हुई थी। अमृतसर-काँग्रेस के समय ही मौलाना शौकतअली, मौलाना मुहम्मदअली, मौलाना अबुलकलाम आजाद प्रभृति मुसलमान नेता—जो लड़ाई के कारण नजरबन्द थे—छोड़ दिये गये थे। इन लोगों ने खिलाफत-सम्बन्धी संगठन और आन्दोलन के लिए खिलाफत-कमिटियाँ सारे देश में स्थापित कीं। मुसलमान इतने रुष्ट थे कि वे चाहते थे, सरकार के खिलाफ कुछ किया जाय; पर यह निश्चय नहीं कर पाते थे कि क्या और किस तरह किया जाय। इधर पंजाब के हत्याकाण्ड से दूसरों में भी रोष था। रौलट कानून को भी लोग भूले नहीं थे। इन सभी के मिल जाने से देश में एक भयंकर स्थिति उत्पन्न हो गयी थी। खिलाफत-कमिटियाँ और काँग्रेस-कमिटियाँ एक दूसरे के निकटतर आती जा रही थीं। बहुतेरे हिन्दुओं ने भी खिलाफत-कमिटियों की मेम्बरी स्वीकार की और पैसे से भी उनकी मदद की। उधर मुसलमान भी बड़ी संख्या में काँग्रेस में शरीक होने लगे। जब हण्टर-कमिटी और काँग्रेस-कमिटी की रिपोर्टें निकलीं तब अखिल-भारतीय काँग्रेस-कमिटी की एक बैठक बनारस में उन पर विचार करने के लिए हुई। मैं भी मेम्बर की हैसियत से उसमें शरीक हुआ।

गांधीजी का अली-बन्धुओं से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध हो गया। खिलाफत-कमिटी में वह शरीक हुआ करते थे। बनारस की सभा के थोड़े ही पहले, प्रयाग में, खिलाफत-कमिटी की बैठक में, उन्होंने अहिंसात्मक असहयोग का कार्यक्रम, पहले-पहल १९२०

के अप्रैल में, पेश किया। खिलाफत-कमिटी ने उसे मंजूर किया और निश्चय किया कि उसे वह काम में लायेगी। साथ ही, मौलाना लोगों ने भी धार्मिक रीति से इसका जोरों से समर्थन किया और एक फतवा निकाला, जिसके द्वारा सरकार के साथ किसी प्रकार के सहयोग को हराम करार दिया। बनारस में काँग्रेस-कमिटी ने निश्चय किया कि सारी बातों पर विचार करके देश को क्या करना चाहिए, इसका निर्णय करने के लिए काँग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया जाय। उस अधिवेशन का कलकत्ते में होना तय हुआ। लाला लाजपतरायजी, जो बहुत दिनों के बाद हाल ही विदेश से वापस आये थे, सभापति चुने गये। सारे देश में असहयोग की चर्चा होने लगी। गांधीजी कुछ दौरा भी करते और कुछ लिखते भी। यह तैयारी हो ही रही थी कि १ अगस्त (१९२०) को लोकमान्य तिलक का देहावसान हो गया।

मौलाना शौकतअली अप्रैल १९२० में ही पटने आये थे जब एक बड़ी सभा हुई। उस दिन पटने में रहने के कारण मैं भी इस सभा में शरीक हो गया। गांधीजी की राय और कार्रवाइयों से मैं परिचित था ही। आरा में पंडित मोतीलाल नेहरू और देशबन्धु दास दोनों ही डुमराँव-राज्य और हरीजी के 'बरमावाले' मुकदमे में दोनों ओर से काम कर रहे थे। मैं पंडितजी के साथ काम तो कर ही रहा था, उनसे राजनीतिक स्थिति के सम्बन्ध में भी बातें हुआ करतीं। वह कभी-कभी देशबन्धु से भी बातें करते। इसलिए मैं सब बातों से अवगत था। जब पटने में मौलाना शौकत-अली ने असहयोग का कार्यक्रम बताया, लोगों से पूछा कि लोग इसके लिए कहाँ तक तैयार हैं और मुझे इस सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए कहा गया, तो मैंने उसी सभा में पहले-पहल असहयोग में शरीक होने का वचन दे दिया। अभी तक काँग्रेस ने कुछ फैसला नहीं किया था और न कार्यक्रम ही पूरी तरह से निश्चित था; पर मैंने कह दिया कि देश अगर असहयोग करने का निश्चय करेगा और इस निश्चय के अनुसार जब असहयोग आरम्भ किया जायगा, तो मैं भी पीछे नहीं रहूँगा। उस समय तक यह जाहिर हो चुका था कि असहयोग में वकालत छोड़नी पड़ेगी और कौन्सिलों में नहीं जाना होगा। मैं वकील तो था ही। मेरी इच्छा यह भी थी कि १९२० के नवम्बर में, नये माण्टेगू-चेम्सफोर्ड-विधान के अनुसार होनेवाले चुनाव में, चम्पारन से प्रान्तीय कौन्सिल के लिए उमीदवार खड़ा होऊँ। इस विचार के अनुसार मैं चम्पारन में एक-दो बार कुछ जगहों का दौरा भी कर चुका था। एक जगह तो मजहरुल हक साहब मेरी उमीदवारी के समर्थन में जा भी चुके थे। असहयोग आरम्भ होने पर दोनों ही छोड़ना पड़ेगा! मैंने उस सभा में यह घोषणा करके बता दिया कि मैं दोनों ही छोड़ूँगा। मौलाना शौकतअली से मेरी पहले की मुलाकात नहीं थी; पर शायद गांधीजी ने उनसे मेरे सम्बन्ध में कुछ कहा था। सभा समाप्त होते ही मैं चला आया। वहाँ उनसे मुलाकात नहीं हुई। पर उन्होंने मेरी तलाश की थी। जब वह रवाना होने-वाले थे, मैं स्टेशन पर गया। वहीं उनसे पहले-पहल बातें हुईं। सभा की बात और गांधीजी की कही हुई बातें उनको याद थीं। इसलिए उन्होंने बहुत प्रेम-पूर्वक बातें

कीं। मेरा उत्साह भी बढ़ाया। इस तरह मेरे लिए असहयोग का सूत्रपात अचानक इस सभा में हुआ, जहाँ मैं उस दिन पटने में इत्तफाक से आने के कारण जा सका था।

काँग्रेस का विशेष अधिवेशन सितम्बर में होनेवाला था। विहार-प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन भी अगस्त में होनेवाला था। असहयोग की बातें जोरों से चल रही थीं। बिहार में यह प्रश्न उठा कि प्रान्तीय सम्मेलन का सभापति कौन बनाया जाय। लोगों ने मुझे ही चुना। मैं असहयोग का पक्षपाती था; पर यह नहीं कह सकता था कि प्रान्त के लोग इसे मंजूर करेंगे वा नहीं। अगर मंजूर करेंगे भी, तो समय आने पर कितने इसमें शरीक होंगे। इसलिए मैंने श्री सच्चिदानन्द सिंह से पूछा कि ऐसी स्थिति में क्या यह मेरे लिए उचित होगा कि मैं अपनी राय सभापति के भाषण में खोल कर कहूँ और यदि सम्मेलन मेरी बात स्वीकार न करे तो एक संकट उपस्थित कर दूँ। उन्होंने कहा कि मुझे पूरा अधिकार है कि मैं अपनी राय दे दूँ और सम्मेलन को भी अधिकार है कि उसे वह स्वीकार करे वा न करे; इसलिए मेरे सभापतित्व स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं है।

मैं आरा में मुकदमे में फँसा हुआ था। वहाँ मैंने अपना भाषण हिन्दी में लिखना शुरू किया। प्रान्तीय सम्मेलन-जैसी सभा या संस्था में उन दिनों हिन्दी में भाषण नहीं हुआ करते थे; प्रायः अँगरेजी में ही सब कार्रवाई हुआ करती थी। एक ओर मुकदमे की भीड़, दूसरी ओर सम्मेलन का भाषण लिखना और स्थिति की चिन्ता, सब मिल-मिलाकर मैं ज्वर-ग्रस्त हो गया। भय होने लगा कि प्रान्तीय सम्मेलन के लिए मैं भागलपुर न जा सकूँगा। पर समय आते-आते इतना अच्छा हो गया कि किसी तरह अपने लिखे भाषण के साथ यथासमय भागलपुर पहुँच गया। वहाँ सम्मेलन में भाग ले सका। पर सम्मेलन के सम्मुख उपस्थित कठिन समस्या ऐसी थी कि वह किसी भी काम करनेवाले को डरा सकती थी। मेरा अपना विचार साफ और दृढ़ था कि असहयोग आवश्यक हो गया है। पर मैं यह जानता था कि सूबे के सभी पुराने और अनुभवी राजनीतिज्ञ नेता उसके विरोधी थे। यद्यपि रौलट-बिल-विरोधी आन्दोलन के समय से ही सभाओं में जनता बहुत बड़ी संख्या में आया करती थी पर यह कहना कठिन था कि वह असहयोग में कहाँ तक साथ देगी। सम्मेलन में बड़े-बड़े नेताओं में से बहुतेरे गये भी नहीं। इसलिए यदि सम्मेलन मेरे कहने से असहयोग की नीति स्वीकार कर ले, तो इसका अर्थ यह होगा कि उसको कार्यान्वित करने का भार अधिकतर हम लोगों के ही ऊपर पड़ेगा—हम कहाँ तक इसे निबाह सकेंगे? इस तरह के अनेकानेक प्रश्न दिल को दहला देते थे। पर मैं जानता था कि नये लोग अधिकांश में मेरे साथ थे।

बाबू व्रजकिशोर प्रसाद, बाबू धरणीधर प्रभृति जोरों से असहयोग का समर्थन कर रहे थे। इनके अतिरिक्त मुसलमान तो प्रायः बड़ी उमंग से इसमें आनेवाले थे। मजहरुल हक साहब के अलावा शाह मुहम्मद जुबैर, मौलवी महम्मद शफी, मौलाना नूरुलहसन प्रभृति भी साथ देनेवाले थे ही। पर मुसलमानों में भी हसन इमाम साहब,

नवाब सर फराज हुसेन खाँ प्रभृति—जो बराबर सार्वजनिक कामों में भाग लिया करते थे—विरोधियों में ही थे। एक ओर अधिक अनुभव तथा बहुत दिनों की सार्वजनिक सेवा थी तो दूसरी ओर उत्साह, देश की परिस्थिति से उत्पन्न असह्य बेचैनी, और आग में कूदने की तत्परता थी। ईश्वर का नाम लेकर मैंने इस सेवा को उठाया और खुलकर असहयोग का समर्थन किया।

सम्मेलन ने मेरी बात मान ली, बहुत बड़े बहुमत से असहयोग के सिद्धान्त का समर्थन किया और बिहार की स्थिति पर ध्यान रखते हुए कार्यक्रम बनाने के लिए एक कमिटी बना दी। वहाँ पर बाबू व्रजकिशोर प्रसादजी ही नेता थे। उनकी यह जबरदस्त राय थी कि यह असहयोग, खिलाफत-सम्बन्धी अन्याय को दूर और पंजाब-हत्याकाण्ड-सम्बन्धी काँग्रेस की माँगों को पूरा कराने के अलावा स्वराज्य के लिए भी किया जाय। उस समय तक जितनी सभाएँ होती थीं अथवा जो लेख पत्रों में लिखे जाते थे उनमें खिलाफत और पंजाब-हत्याकाण्ड ही असहयोग के कारण बताये जाते थे। बाबू व्रजकिशोर उसमें 'स्वराज' को जोड़ करके (जब तक स्वराज्य प्राप्त न हो) उसे एक प्रकार से स्थायित्व देना चाहते थे। ऐसा ही हुआ भी। गुजरात में प्रान्तीय (राजनीतिक) सम्मेलन हुआ और वहाँ भागलपुर-सम्मेलन के दो-चार दिन पहले ही असहयोग का समर्थन हुआ। जहाँ तक मुझे याद है, बिहार और गुजरात ही दो प्रान्त थे जिनके प्रान्तीय सम्मेलन ने कलकत्ते के काँग्रेस के विशेष अधिवेशन के पहले असहयोग का समर्थन किया था। भागलपुर-सम्मेलन के अवसर पर गांधीजी ने तार दिया था कि सम्मेलन असहयोग का समर्थन करे।

कलकत्ता-काँग्रेस में मैं नहीं जा सका था। देशबन्धु दास और पंडित मोतीलालजी गये थे। पर ठीक उसी समय श्री एन० एन० सरकार हम लोगों की ओर से बहस कर रहे थे और उनकी सहायता के लिए मेरा आरा में रहना आवश्यक था। काँग्रेस बड़े समारोह से हुई। पंडितजी ने अन्त में असहयोग का समर्थन किया था और वह बहुत बड़े बहुमत से स्वीकृत हुआ था। वहाँ खिलाफत और पंजाब-हत्याकाण्ड के अलावा स्वराज्य को भी असहयोग का कारण बताया गया था।

इन्हीं दिनों बेतिया में बिहार-प्रादेशिक हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन का अधिवेशन हुआ। मैं उसमें शरीक हुआ। सुरुजपुरा (सूर्यपुरा) के राजा राधिकारमण प्रसाद सिंहजी, जो उन दिनों हिन्दी के एक होनहार प्रभावशाली गद्य-लेखक थे, सभापति हुए। उन्होंने जो भाषण वहाँ किया था वह इतना मनोहर और सुन्दर था तथा उसमें भाषा और भाव दोनों का ऐसा अच्छा सम्मिश्रण था कि उसका असर मेरे दिल पर आज तक है। बेतिया में ही मुझे मलेरिया ने पकड़ लिया। छपरे में पहुँचकर मैं बहुत बीमार पड़ गया।

कलकत्ता-काँग्रेस के कुछ ही दिनों के बाद बम्बई में अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी की एक बैठक हुई, जिसमें असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव को कार्य्यान्वित करने के सम्बन्ध में विचार हुआ। असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव के पास हो जाने पर मेरे सामने

अब वकालत छोड़ देने का प्रश्न वास्तविक रूप से उठ खड़ा हुआ। मैं तथा पंडितजी जिस मुकदमे में काम कर रहे थे, वह भी प्रायः समाप्त हो रहा था—थोड़े ही दिनों के बाद समाप्त हो गया। उससे उस समय तो फुरसत मिल गई, पर वह मुकदमा वहीं तक रहनेवाला नहीं था। उसकी अपील हाइकोर्ट और प्रिवी कौन्सिल तक जरूर जानेवाली थी, चाहे जो भी हारे। बाबू हरिजी चाहते थे कि मैं कम से कम उनके इस मुकदमे में, जब जरूरत पड़े, उनका काम कर दिया करूँ। उसमें मैंने काफी दिनों तक काम किया था और उनसे रुपये भी मिले थे, अतः मैं उनके इस अनुरोध को टाल न सका। पर उसी समय यह निश्चय कर लिया कि इसके अलावा नये मुकदमे हाथ में न लूँगा। हाँ, जो पुराने मुकदमे हाथ में थे--विशेष करके जिनके लिए कुछ रुपये ले लिये थे—उनके सम्बन्ध में अभी कुछ निश्चय नहीं कर पाया था।

भाई से मैंने कोई राय नहीं ली। पर वह समझ गये थे कि अब मैं वकालत छोड़ दूँगा। उनको आशा थी कि मैं कुछ पैसे पैदा करके घर की स्थिति, जो बहुत अच्छी नहीं थी, कुछ उन्नत करूँगा। पर उन्होंने मेरे निश्चय के सम्बन्ध में उस समय कुछ भी नहीं कहा। बहुतेरे दूसरे लोगों ने भी वकालत छोड़ी। साधारणतः लोग समझते थे कि एक बरस के बाद सब अपने-अपने काम पर वापस आ सकेंगे। इस विचार से लोगों को और भी एक प्रकार का ढाढ़स बना रहा। जब से भागलपुर-कान्फ्रेंस में, और उसके बाद कलकत्ता-काँग्रेस में, असहयोग के कारणों में स्वराज्य की बात भी जोड़ दी गयी थी, तब से मैंने समझ लिया था कि अब असहयोग लम्बा चलेगा; क्योंकि ब्रिटिश गवर्नमेंट स्वराज्य पर जल्दी राजी होनेवाली नहीं है। महात्माजी कहा करते थे कि यदि खिलाफत और पंजाब के सम्बन्ध में गवर्नमेंट हमारी माँगें मान लेने पर मजबूर की जा सकेगी, तो वही स्वराज्य का सूचक हो जायगा, और इसी लिए उन्होंने पहले स्वराज्य की बात प्रस्ताव में नहीं रखी थी। इसलिए उनकी नजर में आन्दोलन की अवधि या विकटता 'स्वराज्य' जोड़ देने से बढ़ी नहीं।

बम्बई से लौटने के बाद, मेरे ही घर पर पटने में, कुछ ऐसे मित्रों की सभा हुई, जो असहयोग कर रहे थे। वहाँ पर वकालत छोड़ने की बात हुई। मैंने कहा कि जो मुकदमे हाथ में हैं उनके सम्बन्ध में दिक्कत हो सकती है; क्योंकि हम मवक्किल से वचन-बद्ध हो चुके हैं, और विशेषकर जहाँ पैसे ले चुके हैं वहाँ तो हम छोड़ ही नहीं सकते। कुछ भाइयों ने इसे एक प्रकार से वकालत जारी रखने के लिए बहाना समझा। मैंने यह केवल अपने लिए नहीं कहा था; पर उन्होंने समझा कि मैं अपने ही बारे में यह सुबिधा दूसरों के नाम पर लेना चाहता हूँ। बात तो यह थी कि एक बरस आरा चले जाने के कारण हाइकोर्ट से मैं प्रायः गैर-हाजिर रहा था। इसलिए इतने दिनों में बहुत-से पहले के मुकदमे खतम हो चुके थे और नये तो हाथ में आये ही नहीं थे। इसी तरह मेरे हाथ में जितने मुकदमे रहा करते थे उनकी संख्या बहुत कम हो गयी थी, तो भी, चूँकि उनकी संख्या बहुत रहा करती थी, इसलिए घटने पर भी वह काफी थी। मैं अपनी बात पर अड़ा रहा; पर वास्तव में उस बरमा (Burma) के मुकदमे के

सिवा और किसी मुकदमे में मेरे हाइकोर्ट जाने की नौबत नहीं आयी। या तो मवक्किल ने मुझे छोड़ दिया, या मैंने अगर रुपये ले लिये थे तो वापस करके छुट्टी ले ली, या किसी दूसरे मित्र को अपनी जगह पर काम करने को कह दिया, जिस पर मवक्किल भी राजी हो गया।

दूसरी बात सरकारी और सरकार से सम्बद्ध स्कूलों और कालेजों के बहिष्कार की थी। मेरा अनुभव बताता था कि इसमें हमें बहुत सफलता नहीं मिलेगी। मैंने बंगाल-विच्छेद के समय कलकत्ते में उस आन्दोलन को अच्छी तरह देखा था, जो सरकारी स्कूलों के विरुद्ध चला था। वहाँ भी यह प्रयत्न हुआ था कि राष्ट्रीय विद्यालय खोला जाय। उस 'नेशनल कौन्सिल आफ एडुकेशन' को ऐसे-ऐसे व्यक्तियों की सहायता तथा सहानुभूति मिली थी, जो केवल राजनीतिक पुरुष ही नहीं थे। सर गुरुदास बनर्जी, जो हाइकोर्ट की जजी से पेन्शन पा चुके थे और जो पहले कलकत्ता-युनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर रह चुके थे, इसके बड़े पक्षपाती और सहायक थे। इसलिए उसे गवर्नमेंट के विरोध का भी विशेष भय नहीं था। काँग्रेस तथा आन्दोलन के प्रोग्राम में भी बहिष्कार की बात नहीं थी। उसमें अच्छे-अच्छे कुछ उत्साही युवक, जिन्होंने युनिवर्सिटी में बड़ा नाम पाया था, शरीक हुए थे। उनमें से विख्यात लेखक श्री विनयकुमार सरकार हैं, जिन्होंने एम० ए० की परीक्षा में स्वर्णपदक और सर्वप्रथम स्थान पाया था। इतने पर भी उसमें उतना उत्साह नहीं देखा गया; क्योंकि वहाँ से शिक्षा पाये हुए विद्यार्थियों को किसी प्रकार जीविका-निर्वाह का रास्ता नहीं मिलता था। इससे मैं डरता था कि यहाँ भी यदि हम इस पर जोर देंगे तो विद्यार्थियों में, और विशेष करके उनके अभिभावकों में, बहुत उत्साह नहीं आवेगा, और तब यह कार्यक्रम जोरों से चल नहीं सकेगा। मैंने बैठक में अपने इस विचार को भी रखा था; पर कुछ भाइयों को मेरी बात नहीं जँची; क्योंकि वे समझते थे कि मैं बहुत डरपोक हूँ और यों ही अपने सामने अनावश्यक भय खड़ा कर लेता हूँ।

बात यह है कि हमारे देश में विद्या अर्थकरी है। जो पढ़ता है उसे कुछ कमाना चाहिए। उसकी जिन्दगी ऐसी बन जाती है कि वह पुराने तरीके से रह नहीं सकता। उसके अपने रहन-सहन में भी अधिक खर्च पड़ने लगता है। घरवाले आधुनिक शिक्षा दिलाने में खर्च काफी करते हैं और आशा रखते हैं कि उस शिक्षा से वह उस पूँजी को अगर बढ़ा न सकेगा तो कम से कम कायम रख सकेगा। वह शिक्षा भी ऐसी हुआ करती है कि शिक्षा समाप्त होने के बाद सरकारी नौकरी या वकालत की तरह के पेशे को छोड़कर दूसरा कोई काम भी नहीं मिलता। आरम्भ में, जब ऐसी विद्या प्राप्त किये हुए लोगों की संख्या कम थी, लोगों ने पैसे भी खूब कमाये थे। पर जैसे-जैसे अँगरेजी शिक्षा का प्रचार बढ़ता गया, शिक्षितों की संख्या बढ़ती गयी, पैसे कमाने का मौका कम होने लगा; क्योंकि इन नौकरियों और पेशों में जानेवालों की संख्या बढ़ने लगी, फलतः आपस की होड़ से कठिनाई भी बढ़ने लगी। इसलिए, यद्यपि सरकारी अँगरेजी शिक्षा से भी उतनी आशा नहीं की जा सकती थी, तथापि राष्ट्रीय शिक्षा के

मुकाबले अर्थकरी होने में वह अब भी बहुत बढ़ी-चढ़ी थी। इसलिए मेरा विचार था कि हम पहले कार्यक्रम के अनुसार लड़कों को स्कूल-कालेज छोड़ने के लिए कहें, और जब देखें कि उनकी संख्या काफी होती जा रही है तब अपनी ओर से विद्यालय इत्यादि का प्रबन्ध करें। मैं यह भी सोचता था कि विद्यालय खोल देने के बाद उसको चलाते रहना चाहिए। यदि हम ऐसा न कर सकेंगे तो इसका असर अच्छा न होगा। इसलिए मैं विद्यालय खोलने अथवा परीक्षा लेने के पक्ष में शुरू में नहीं था।

मैंने जो कुछ ऊपर कहा है उसका यह अर्थ नहीं है कि मैं आधुनिक शिक्षा की त्रुटियों को नहीं समझता था। मैं समझ गया था कि आधुनिक शिक्षा बिलकुल निकम्मी है। विदेशी भाषा द्वारा दी जाने के कारण इसमें समय और शक्ति की बहुत बरबादी है। इससे वह स्वाभाविक मानसिक विकास नहीं हो पाता जो अपनी भाषा द्वारा दी गई शिक्षा से होता है। स्पष्ट है कि जहाँ शब्दों के अर्थ स्मरण रखने में ही सारा समय लग जाता है वहाँ उसके समझने और चिन्तन के लिए कैसे समय मिल सकता है। इसलिए, यदि और कुछ नहीं तो केवल इस एक ही दोष के कारण वह शिक्षा सर्वथा अनिष्टकर है। विदेशी भाषा सीखने और जानने में दोष नहीं है। जानना अच्छा है। आज की दुनिया में, कम से कम किसी एक योरोपीय भाषा का परिचय एक प्रकार से अनिवार्य-सा हो गया है। तो भी भाषा जान लेना और उससे अपना काम निकालना एक बात है, और विदेशी भाषा को सारी शिक्षा का माध्यम बनाना बिलकुल दूसरी बात है। हम उसे माध्यम बनाने के विरोधी हैं, सीखने के नहीं। मैं यह भी समझता था कि इस शिक्षा की नींव पड़ी थी अँगरेज हाकिमों की आवश्यकता की पूर्ति के कारण। वह आवश्यकता थी अँगरेजी पढ़े-लिखे देशी लोगों की, जिनका सहयोग वे अपना कारबार चलाने में अनिवार्य समझते थे। वे कुछ ऐसे हिन्दुस्तानियों को चाहते थे जो रूप-रेखा में तो हिन्दुस्तानी हों, पर विचार और मानसिक वृत्ति में अँगरेज ही हों। उन्होंने यह भी चाहा था कि उनके दफ्तरों के काम चलाने के लिए ऐसे सस्ते हिन्दुस्तानी पैदा किये जायँ, जो अँगरेजी सीखकर उनका सब काम अँगरेजी में ही कर दें। इस तरह, अँगरेजों को हिन्दुस्तान में भ्रमण करने तथा हिन्दुस्तानियों पर राज करने के लिए भी हिन्दुस्तानी भाषा से परिचित होने की आवश्यकता नहीं होगी। इसलिए शिक्षा की पद्धति भी कुछ ऐसी बनी थी कि विशेषतः उसी जरूरत के मुताबिक लोग तैयार किये जा सकें। हाँ, ऐसे तैयार होनेवालों में कुछ तो ऐसे जरूर निकल आवेंगे जो स्वतन्त्र रूप से कुछ विचार करने की शक्ति भी प्राप्त कर लेंगे और जो बिलकुल सरकार पर ही भरोसा न रखेंगे। ऐसे अगर कुछ निकलें तो निकलें; पर शिक्षा-पद्धति का मुख्य उद्देश्य दफ्तरी लोगों को तैयार करना ही था। ऐसा ही उसका फल भी हुआ। इसलिए मैं इस शिक्षा का पक्षपाती तो किसी तरह भी न था; पर राष्ट्रीय शिक्षा में जो दिक्कतें मैं देखता था उनसे कुछ डरकर आहिस्ता-आहिस्ता कदम बढ़ाना चाहता था। सबसे ज्यादा मुझे इस बात की चिन्ता थी कि शुरू होकर किसी काम का शीघ्र ही बन्द हो जाना और किसी नतीजे तक न पहुँचना

लोगों को हतोत्साह करेगा। इसलिए, यदि हम काम थोड़ा भी करें तो हर्ज नहीं, पर जो करें वह ठोस होना चाहिए।

पहले कह चुका हूँ कि हम लोग बिहार में पूना के फरगुसन-कालेज के ढंग का एक कालेज खोलने का विचार चम्पारन में ही कर रहे थे। कुछ रुपये भी जमा कर लिये थे। पर वह विचार स्थगित कर दिया गया था; क्योंकि गांधीजी ने कहा था कि सरकार से सम्बद्ध शिक्षालय खोलने से कोई फायदा नहीं है—यदि ऐसा करना ही चाहते हो तो बिलकुल नयी पद्धति से पढ़ानेवाली राष्ट्रीय संस्था खोलो। उनकी वह बात भी हम लोग भूले नहीं थे। इसलिए हृदय के अन्दर एक तरफ राष्ट्रीय शिक्षा के पक्ष में विचारों की धारा बह रही थी, दूसरी ओर कठिनाइयों की चट्टानों को देखकर मन में सन्देह हो रहा था। इसी लिए मैं कुछ ठहरकर यह देख लेना मुनासिब समझता था कि देश और विशेषकर विद्यार्थी-समुदाय असहयोग के मैदान में किस तरह आता है। कुछ भाइयों का विचार था कि असहयोग को सफल बनाने के लिए जब तक हम विद्यार्थियों के सामने कोई दूसरी शिक्षा-संस्था नहीं प्रस्तुत कर देंगे तब तक वे सरकारी विद्यालयों को छोड़कर नहीं आवेंगे। इसलिए विद्यार्थियों को सरकारी विद्यालयों से हटाने—असहयोग कराने—के लिए राष्ट्रीय विद्यालय का होना आवश्यक है। मैं इस प्रकार प्रलोभन देकर असहयोग कराना पसन्द नहीं करता था। मैं चाहता था कि विद्यार्थियों को देश के नाम पर और सरकारी शिक्षा की त्रुटियों को बताकर हटाना अच्छा होगा। जब वे इस तरह सब कुछ समझ-बूझकर असहयोग करेंगे तभी उनका असहयोग टिकाऊ हो सकेगा। अगर वे यह समझकर असहयोग करेंगे कि वहाँ भी उनको नौकरी दिलानेवाली शिक्षा मिलेगी और इस तरह उन्हें कोई नुकसान नहीं उठाना पड़ेगा, तो उनका निश्चय टिकाऊ न होगा। हमारे विद्यालय में आकर जब वे यह देखेंगे कि उनको उतनी सुविधा नहीं है जितनी सरकारी विद्यालयों में थी, तो वे हताश होकर फिर वापस चले जायँगे। मैं चाहता था कि केवल ऐसे ही लोग आवें जो यह समझ लें कि यह रास्ता कंटकाकीर्ण है—इसमें कष्ट है और उसे झेलने के ही लिए हम जा रहे हैं, न कि उन कुछ सुविधाओं के लिए जो सहयोग करनेवालों को प्राप्त हैं।

यह सब बहस चल ही रही थी और हम लोग सोच ही रहे थे कि मजहरुल हक साहब ने एक राष्ट्रीय स्कूल खोल दिया, जिसके प्रधान अध्यापक हुए लाट बाबू (श्री रामकिशोर लाल नन्दक्युलियार), जो हाल ही में विलायत से एम० ए० और बैरिस्ट्री पास कर लौटे थे। दिसम्बर के आरम्भ में गांधीजी, मौलाना महम्मद अली और मौलाना आजाद के साथ, दौरे पर निकले। वह बिहार में भी आये। उन्होंने काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय और अलीगढ़-मुस्लिम-विश्वविद्यालयों पर भी चढ़ाई की थी। थोड़ी सफलता भी मिली थी, पर पूरी नहीं। उसी चढ़ाई के फलस्वरूप काशी-विद्यापीठ और जामे-मिल्लिया (दिल्ली) का जन्म हुआ था। बिहार में उन लोगों के आने से बड़ा उत्साह उमड़ा। बिहार के विद्यार्थी भी उस लहर में बह चले।

२८—पटना-विश्वविद्यालय से असहयोग

सरकारी शिक्षा से असहयोग का अर्थ था किसी भी शिक्षा-सम्बन्धी संस्था से सम्बन्ध न रखना। मैं पटना-युनिवर्सिटी के सिनेट और सिण्डिकेट का मेम्बर था। युनिवर्सिटी के कामों में काफी दिलचस्पी भी लिया करता था। युनिवर्सिटी ने एक कमिटी मुकर्रर की थी। कलकत्ता-युनिवर्सिटी की स्थिति पर विचार करने के लिए नियुक्त सेडलर-कमिटी की रिपोर्ट पर विचार करके पटना-युनिवर्सिटी में आवश्यक सुधार की सिफारिश करने का भार उस कमिटी को दिया गया था। मैं भी उस कमिटी का एक सदस्य था। उसमें मैंने काफी परिश्रम किया था। मेरा विशेष प्रयत्न यह था कि युनिवर्सिटी कम से कम मैट्रिकुलेशन की परीक्षा तक के लिए, मातृभाषा को ही शिक्षा का माध्यम मान ले। इस पर कमिटी के अन्दर काफी वाद-विवाद रहा। यह प्रश्न सिनेट के सामने आनेवाला था। सिनेट की बैठक नवम्बर के महीने में होनेवाली थी। मैंने यह सोचा कि इस प्रस्ताव को यदि मैं सिनेट में स्वीकार करा सकूँगा तो यह भी राष्ट्रीय शिक्षा का ही एक काम होगा। इसलिए मैंने मन ही मन निश्चय कर लिया कि यद्यपि मैंने असहयोगी होने का निश्चय कर लिया है तथापि मैं सिनेट की बैठक तक सिनेट और सिण्डिकेट से नहीं हटूँगा। मैं जानता था कि सिनेट में इसके विरुद्ध प्रान्त के बड़े-बड़े लोग थे। अभी तक लोगों के मन में अँगरेजी भाषा के लिए यह मोह था कि बचपन से ही अगर यह नहीं पढ़ी जायगी तो इसका पूरा ज्ञान नहीं हो सकेगा और हमारे युवक संसार की होड़ में पीछे रह जायँगे। यद्यपि सैडलर-कमिटी ने भी मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने पर जोर दिया था तथापि हमारे अपने देश के लोग इसके विरोधी थे।

सिनेट के सामने, प्रस्ताव के समर्थन में, मैंने एक बहुत जबरदस्त भाषण किया, जिसमें दलीलों के अतिरिक्त भावुकता की मात्रा भी काफी थी। जहाँ तक मैं समझ सका, उसका असर लोगों पर काफी पड़ा। हमारे विरोधियों में मिस्टर सुल-तान अहमद, मिस्टर खाजा महम्मद नूर, जस्टिस ज्वालाप्रसाद, प्रोफेसर यदुनाथ सरकार प्रभृति थे। कुछ ने अपने भाषणों से विरोध किया, कुछ चुप रहे; पर सम्मति विरोध में दी। हमारे समर्थक दो अँगरेज निकले। प्रोफेसर हामिल्टन और प्रोफेसर ड्युक। इनसे मैंने कुछ कहा नहीं था और न इनसे इस विषय में कभी विचार-विनिमय ही हुआ था। पर दोनों ने, केवल शिक्षा की उपयोगिता की दृष्टि से, मेरे प्रस्ताव का जोरों से समर्थन किया। प्रस्ताव बहुमत से स्वीकृत हुआ। सिनेट की यह सिफारिश हुई कि युनिवर्सिटी के नियमों में ऐसा परिवर्तन किया जाय जिससे मैट्रिक-परीक्षा तक की शिक्षा मातृभाषा द्वारा दी जा सके। इस प्रस्ताव को पास कराकर मैं बहुत खुश हुआ। किन्तु सिनेट की बैठक समाप्त होते ही मैंने सिनेट और सिण्डिकेट से इस्तीफा दे दिया।

उन दिनों 'सर हविलैण्ड लिमेजरर' गवर्नर की कौन्सिल के एक मेम्बर

थे। वह सिनेट के भी मेम्बर थे। सुना कि उनको मेरे इस्तीफा देने से रंज हुआ; क्योंकि वह जानते थे कि मैं युनिवर्सिटी में अच्छा काम कर रहा था। मुझे किसी तरह युनिवर्सिटी से असहयोग न करने देने के लिए ही, उन्हीं की अनुमति से, बहुत-से सरकारी लोगों ने मेरे उस प्रस्ताव के पक्ष में सम्मति देकर उसे पास कराया था। यह बात मुझे इस्तीफा भेजने के बाद मालूम हुई। मुझ पर जोर भी डाला गया कि मैं इस्तीफा वापस ले लूँ, पर मैंने वैसा नहीं किया। मैंने सोचा कि एक ओर राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार करना—सरकारी शिक्षा के दोष बताना और विद्यार्थियों को सरकारी विद्यालयों से निकल आने को प्रोत्साहित करना, और दूसरी ओर सरकारी शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली सर्वोच्च संस्था (युनिवर्सिटी) में बने रहना परस्पर-विरोधी बातें हैं। यह बिलकुल गलत रास्ता होगा। इसलिए मैं इस्तीफा वापस लेने पर राजी नहीं हुआ।

अगर मैं युनिवर्सिटी में रह गया होता तो जिस प्रस्ताव को इतने परिश्रम से मैंने सिनेट में पास कराया था। उसको कार्यान्वित करने में भी शायद सफल होता। निश्चित रूप से कुछ भी आज कहना सम्भव नहीं है; पर यह दुःख की बात है कि सिनेट के निश्चय के बाद भी उसके अनुसार काम नहीं किया गया। अँगरेजी माध्यम की शिक्षा प्रायः बीस बरसों तक बनी रही! हाल में मैट्रिक तक के लिए, अँगरेजी और हिसाब छोड़कर, और विषयों की शिक्षा और परीक्षा का माध्यम मातृभाषा बनी है। इन बीस बरसों में देश की स्थिति में कितना अन्तर हो गया है, यह वही जानता है जिसने बीस बरसों के पूर्व सार्वजनिक हित के कार्यों में भाग लिया हो और जो आज भी लेता हो। युनिवर्सिटी भी आखिर इस आवश्यक सुधार को ज्यादा दिन न रोक सकी। बीस बरसों के बाद उसने भी इसे स्वीकार कर ही लिया है।

२९—बिहार-विद्यापीठ और सदाकत-आश्रम

कलकत्ते में असहयोग का प्रस्ताव पास होने के बाद ही मैं कौन्सिल की अपनी उम्मीदवारी से हट गया। चुनाव नवम्बर के महीने में ही होनेवाला था। इसलिए सब से पहले इसी कार्य-क्रम पर जोर देना जरूरी समझा गया। हम लोगों ने बिहार में बहुत पर्चे छपवाये। उसमें जनता से अपील की गयी थी कि जो लोग इस चुनाव में खड़े हो रहे हैं उनको कोई भी वोट न दे। कुछ लोग दौरे पर भी निकले। जगह-जगह सभाएँ करके लोगों को वही बात बतायी गयी। मैंने भी कुछ दौरा किया। स्मरण है कि कार्त्तिक-पूर्णिमा के मेले के अवसर पर मैं 'दरौली' (जिला सारन) गया था। वहाँ सभा हुई थी जिसमें मैंने भाषण किया था। हम लोगों की इच्छा और कोशिश थी कि कोई उमीदवार ही न खड़ा हो; पर इसमें हम सफल नहीं हुए। सभी स्थानों के लिए उमीदवार खड़े हो गये। कुछ तो बिना विरोध चुने गये; पर जहाँ वोट देने का मौका मिला, वहाँ जनता ने बहुत कम संख्या में वोट

दिया। मेरा ख्याल है कि बिहार में शायद प्रतिशत बीस-पचीस से अधिक वोटरों ने वोट नहीं दिया था।

जब महात्माजी दिसम्बर में बिहार के दौरे पर आये, प्रायः उसके थोड़े ही दिन पहले, एक घटना बिहार में हुई थी, जिसका जिक्र जरूरी है। ऊपर कहा जा चुका है कि चम्पारन में नील-सम्बन्धी जाँच समाप्त हो जाने पर गांधीजी ने कई जगहों में पाठशालाएँ खोली थीं। इनके अलावा उस जागृति का नतीजा सूबे की कई जगहों में किसी न किसी रूप में देखने में आया। इस जागृति में होमरूल-आन्दोलन ने भी काफी मदद पहुँचायी थी। एक रूप इसका यह हुआ कि जहाँ-तहाँ किसान-सभाएँ कायम हुईं, जो जमीन्दारों के विरुद्ध किसानों की शिकायतों को जाहिर करने लगीं। चम्पारन में भी एक किसान-सभा बन गयी, जो किसानों की मदद करना अपना कर्तव्य समझती थी। उधर नये विधान के कारण यह भी स्पष्ट होने लगा कि जनता को कुछ हद तक मताधिकार मिलेगा और कौन्सिल के चुनाव में किसानों को हिस्सा लेना पड़ेगा। किसान-सभाओं को इससे भी प्रोत्साहन मिला। जमीन्दार भी कुछ घबराये। वे सोचने लगे कि हम ऐसा संगठन करें कि नये विधान के चुनाव में सफ-लता-पूर्वक भाग ले सकें। उन्होंने नीलवरों के साथ एक समझौता किया और नीलवर-जमीन्दार-संस्था कायम की। इससे किसानों और शिक्षित वर्ग में कुछ खलबली मची और रोष पैदा हुआ। उस समय के समाचार-पत्रों के देखने से पता चलेगा कि इस संगठन के विरोध में शिक्षित वर्ग ने भी आवाज उठायी। बिहार-प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन में खुल्लम-खुल्ला मुकाबला करने की बात कही गयी। इस संस्था का जन्म मुजफ्फरपुर में हुआ था। पर इसकी शाखाएँ और-और जगहों में भी बनती गयीं। दरभंगा के महाराजाधिराज इसके सभापति थे।

इन्हीं दिनों श्री रामरक्ष ब्रह्मचारी ने चम्पारन जिले के बेतिया-सबडिवीजन के 'मछरगाँवा' गाँव में जाकर काम शुरू किया। वह स्थायी रूप से ग्राम-संगठन का काम करना चाहते थे। वहाँ के लोगों ने भी उत्साह-पूर्वक साथ दिया था। बहुतेरे स्वयंसेवक काम करने के लिए तैयार थे। वहाँ वह जो कुछ कर रहे थे, मेरे परा-मर्श से कर रहे थे। जब एक बार मैं वहाँ गया तो वहाँ का संगठन देखकर मुझे बहुत आनन्द हुआ। लोगों में ऐसी पंचायतें कायम करना जो आपस के झगड़े मिटा दें, बच्चों की शिक्षा के लिए पाठशालाएँ खोलना, गाँवों की सफाई, किसानों की शिकायतें दूर कराने का प्रयत्न करना—यही मुख्य कार्य-क्रम थे। वहाँ एक आश्रम बना जिसका खर्च जनता 'मुठिया' (घर-घर से एक-एक मुट्ठी अन्न) द्वारा जुटाती थी। संगठन का काम अच्छा चल रहा था। लोगों में उत्साह भी काफी था। पुलिस और निलहे गोरे इस प्रकार के संगठन को पसन्द नहीं करते थे—विशेष करके पुलिस वाले; क्योंकि उनकी धाँधली वहाँ नहीं चल सकती थी। उसी इलाके में पुलिस ने एक बड़ा काण्ड कर डाला।

एक आदमी ने किसी के विरुद्ध पुलिस-दारोगा के पास नालिश कर दी।

जहाँ यह वाकया हुआ था, उसके पास के ही गाँव में दारोगा किसी दूसरे मुकदमे की तहकीकात कर रहे थे। उन्होंने पुलिस के सिपाहियों और गाँव के दफादार को भेजा कि जिसके विरुद्ध नालिश की गयी थी उसे और कुछ दूसरे लोगों को भी पकड़ लाओ। उन्होंने इस तरह जाने से इनकार कर दिया। जोर लगाने पर भी वे नहीं गये। दारोगाजी को गुस्सा आया। तफसील की सारी बातें यहाँ देना अनावश्यक है। दारोगा ने जिले के सदर मुकाम से मिलटरी-पुलिस बुलवा ली। कई गाँवों को पुरानी रीति के अनुसार लुटवा लिया। लोगों के साथ बड़ी सख्तियाँ हुई। यहाँ तक कि स्त्रियाँ भी सुरक्षित न रहने पायीं। ब्रह्मचारी रामरक्ष के साथी सर्वश्री ध्वजाप्रसाद, रामविनोदसिंह और मनोरंजनप्रसाद ने वहाँ की धाँधली की खबरें अखबारों में छपवा दीं। रामरक्ष गिरफ्तार कर लिये गये। बिहार-प्रान्तीय काँग्रेस-कमिटी ने, जाँच के लिए, श्री मजहरुल हक साहब की प्रधानता में, एक कमिटी बनाई। उस कमिटी ने जनता की शिकायतों को ही ठीक बताया और गवर्नमेंट की लीपा-पोती को गलत ठहराया।

यह आन्दोलन जोरों से चल ही रहा था जब गांधीजी बिहार में पहुँचे। वह चम्पारन जाने पर घटनास्थल पर भी गये। उन गाँवों के लोगों से भी उनकी भेंट हुई। इसी यात्रा में गांधीजी ने अहिंसा की एक ऐसी व्याख्या दी जो अभी तक जहाँ-तहाँ लोगों को समझानी पड़ती है। उन्होंने कहा था—"पुरुषों ने, स्त्रियों और घर-बार को छोड़, भागकर बड़ी कायरता दिखलायी थी। उनका धर्म था कि अपनी जान देकर उनकी रक्षा करते। पर यदि उनमें इस प्रकार बिना हाथ उठाये मरने की शक्ति नहीं थी तो उनको, चाहे जिस तरह हो सकता, मुकाबला करना चाहिए था। अपने धर्म में स्थित रहकर, बिना हाथ उठाये, मर जाना ही सच्ची अहिंसा है; पर डर से भाग जाना बड़ी भारी हिंसा है। भागने से बेहतर है कि जो कुछ मिले उसे हाथ में लेकर मुकाबला किया जाय"। मैंने यह महात्माजी के शब्दों में नहीं कहा है। यह सारांश मात्र है। ब्रह्मचारी रामरक्ष और दूसरों पर जो मुकदमे चले वे कई महीनों तक पेशी में रहे। अन्त में सब झूठ साबित हुए। सब लोगों की रिहाई हो गयी।

महात्माजी की यात्रा से आन्दोलन ने अधिक जोर पकड़ा। कौन्सिल का चुनाव खतम हो चुका था। अब अधिक जोर स्कूल-कालेजों के खाली करने पर था। हम लोगों ने भी निश्चय किया कि एक राष्ट्रीय महाविद्यालय (कालेज) खोला जाय। पटना-गया-रोड पर भाड़े पर एक मकान लेकर कालेज खोला गया। मैं जिस मकान में रहा करता था उसके पास ही यह मकान भी था। अब मैंने सोच लिया कि भाड़े पर अपने लिए मकान रखना, जब वकालत छोड़ ही दी है, अनावश्यक है—१५०) मासिक का यह खर्च बन्द कर देना चाहिए। इसलिए मैंने अपना मकान छोड़ दिया। महाविद्यालय में ही जाकर रहने लगा। कानून की पुस्तकों को अपने मित्र श्री शम्भुशरण वर्मा के पास रख दिया। वे पुस्तकें उनके ही साथ उनके जीवन-भर रहीं। उनकी

असामयिक मृत्यु के बाद फिर दूसरे मित्र के पास चली गयीं, जहाँ आज तक उनके काम आ रही हैं।

पटने के इन्जीनियरिंग स्कूल के विद्यार्थियों का वहाँ के प्रिन्सिपल से किसी विषय में मतभेद हो गया। विद्यार्थियों ने हड़ताल कर दी। एक साथ जलूस बनाकर श्री मजहरुल हक साहब के पास, जो उन दिनों सिकन्दर-मंजिल में फ्रेजर रोड पर रहा करते थे, गये। उनसे कहा कि हम लोगों ने स्कूल छोड़ दिया है, हमको स्थान दीजिए। मजहरुल हक साहब बड़े भावुक और निर्भीक व्यक्ति थे। उनके त्याग की शक्ति भी अपूर्व थी। उस समय वह बहुत ही ऐश-आराम से उस बड़ी कोठी में रहा करते थे। अपने लिए एक बड़ी कोठी और भी बनवा रहे थे। सब कुछ छोड़कर, उन लड़कों को साथ लेकर, पटना-दानापुर-सड़क पर एक बगीचे में चले गये। वहाँ उनके एक परिचित सज्जन का छोटा-सा मकान था। वहीं रहने लगे। जाड़े के दिन थे। खूब सर्दी पड़ रही थी। वह स्थान गंगा के किनारे होने के कारण कुछ अधिक ठण्डा था। घने बगीचों से घिरे रहने के कारण वहाँ की जमीन में कुछ सील भी थी। तब भी मजहरुल हक साहब वहाँ कुछ दिनों तक उसी छोटे बँगले में रहे। आहिस्ता-आहिस्ता वहाँ ताड़ की चटाइयों के कुछ झोपड़े भी बन गये। लड़के भी बड़े उत्साही थे, कष्ट का खयाल न करके उनके साथ आनन्द से रहने लगे। उसी स्थान का नाम उन्होंने 'सदाकत-आश्रम' रक्खा। कुछ दिनों में वही बीहड़ स्थान, जहाँ से रात में नव बजे के बाद किसी राही का गुजरना खतरनाक समझा जाता था, गुलजार हो गया। वहाँ चर्खों का एक कारखाना खोल दिया गया। सभी लड़के चर्खे बनाने में लग गये। आहिस्ता-आहिस्ता हक साहब ने अपने पैसों से ही मकान बनवाना शुरू कर दिया। कुछ दूसरे लड़के भी जाकर उनके साथ रहने लगे। वह स्वयं वहीं रहते, लड़कों को पढ़ाते और वही मोटा खाना खाते जो लड़के खाते। लड़के अधिकांश हिन्दू ही थे। हक साहब का खयाल था कि कोई लड़का यह न समझे कि वह अपने हृदय में हिन्दू-मुसलमान का भेद, किसी प्रकार से भी, रखते हैं। इसलिए वह सबको एक तरह से मानते थे। लड़के भी उनको पिता की तरह पूज्य समझते थे। वैसा ही उनपर विश्वास भी रखते थे।

इस सम्बन्ध में यहाँ एक बात का उल्लेख कर देना अच्छा होगा। इसी बात से उस महान् व्यक्ति के सच्चे भावों का पता चलेगा। हक साहब के साथ एक बहुत गरीब घर का मुसलमान लड़का रहा करता था। उन्होंने देखा था कि लड़का पढ़ने में तेज है। उनके दिल पर इसका भी असर पड़ा था कि मुसलमान होकर भी उसने हिन्दी और संस्कृत पढ़ी थी। वह कालेज के फर्स्ट या सेकेण्ड इयर में पढ़ता था। नाम था महम्मद खलील। हक साहब उसे बहुत मानते थे। असहयोग का आरम्भ होने पर उसने भी कालेज छोड़ दिया। हक साहब के साथ ही उनकी कोठी छोड़कर सदाकत-आश्रम में जाकर रहने लगा। एक-डेढ़ साल के बाद मैंने सुना कि हक साहब ने उसको आश्रम से निकाल दिया। महम्मद खलील ने भी आकर मुझसे कहा कि

वह रंज हो गये हैं, आप सिफारिश करके उनको शान्त कर दीजिए। हक साहब की मेहरबानी मेरे ऊपर बराबर रहा करती थी। वह दिल से मुझे प्यार किया करते थे। इसलिए मैंने महम्मद खलील के बारे में उनसे कहा। उस समय तक महम्मद खलील सारे बिहार में विख्यात हो गये थे। उन्होंने असहयोग का आरम्भ होते ही एक राष्ट्रीय भजन बनाया था, जो उन दिनों बहुत प्रचलित हो गया था। वह वास्तव में बहुत सुन्दर, हृदयग्राही और मर्मस्पर्शी गान था। उसका टेक था—'भारत जननि, तेरी जय तेरी जय हो।' उन दिनों शायद ही ऐसी कोई सभा होती जिसमें यह गीत बड़े उत्साह से न गाया जाता।

जब मैंने हक साहब से कहा कि महम्मद खलील की कोई गलती हो तो माफ कीजिए, तो उन्होंने बहुत ही दुःख के साथ मुझसे कहा—"मैं तुम्हारी बात कभी नहीं टालता, पर इस समय मजबूर हूँ। तुम नहीं जानते कि खलील ने कितना बुरा काम किया है। इसीलिए तुम सिफारिश कर रहे हो। मैंने जिस चीज को अपने सारे जीवन का मुख्य उद्देश्य बना लिया है, जिसके लिए आज तक सब कुछ करता आया हूँ और आज फकीर बन गया हूँ, उस पर इसने ठेस लगाई है। मैंने अब तक की सारी जिन्दगी में हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए काम किया है। उसी में आज भी लगा हुआ हूँ। आश्रम में रहकर इसने हिन्दू लड़कों के साथ ऐसा बर्ताव किया है जिससे वे लड़के, जो मुझ पर विश्वास करके प्रेमवश मेरे पास आ गये हैं, हिन्दू-मुस्लिम भेद भाव समझने लगे। इसने मेरे सारे जीवन के बने-बनाये काम को बिगाड़ने का प्रयत्न किया है। इसने इस बात की कोशिश की है कि लड़कों को मुसलमान बनावें। मैं सब कुछ माफ कर सकता हूँ; पर इस तरह इसलाम के नाम पर विश्वासी लड़कों के साथ विश्वासघात करना बरदाश्त नहीं कर सकता। अब मैं जान गया हूँ कि हिन्दी और संस्कृत भी इसने ढोंग के लिए पढ़ी है। एक दिन यह हिन्दू-मुस्लिम फसाद भी करा देगा। मैं इसे आश्रम में हरगिज न रहने दूँगा।"

यह वही महम्मद खलील थे, जो कुछ दिनों बाद 'खलील दास' के नाम से विख्यात हुए। इनके सम्बन्ध में जनता समझती है कि इन्होंने कई स्थानों में हिन्दू-मुस्लिम नाइत्तफाकी का संगठन किया। इसके बहुत बुरे फल, दंगा-फसाद के रूप में, देखने में आये। इन दंगों में बहुत-से हिन्दुओं और मुसलमानों ने अपनी जानें गँवायीं। जब मैंने कई बरसों के बाद इनके सम्बन्ध में इस तरह की शिकायतें सुनीं तब मुझे हक साहब की भविष्य-वाणी याद आयी। उनके वे उद्‌गार—वे मर्म-भरे शब्द—कानों में एक बार फिर गूँज उठे।

राष्ट्रीय महाविद्यालय खोल दिया गया। मैं उसका प्रिन्सिपल बनाया गया। उसके अध्यापकों में श्री बदरीनाथ वर्मा—जो उस समय बिहार-नेशनल-(बी० एन०) कालेज (पटना) में अँगरेजी के प्रोफेसर थे, श्री जगन्नाथप्रसाद एम० ए० काव्यतीर्थ—जो पटना-कालेज में संस्कृत के प्रोफेसर थे, श्री प्रेमसुन्दर बोस—जो भागलपुर के टी० एन० जुबिली-कालेज में फिलासफी के प्रोफेसर थे, अपने-अपने पदों से इस्तीफा

देकर, आ जुटे। इनके अलावा श्री जगतनारायण लाल, श्री रामचरित्रसिंह, श्री अब्दुलबारी प्रभृति भी आ गये। हमने कालेजों के उन लड़कों को, जो पढ़ना चाहते थे, पढ़ाना शुरू कर दिया। अभी प्रायः वही विषय पढ़ाये जाते जो सरकारी कालेजों में पढ़ाये जाते थे। जो रुपया चम्पारन-यात्रा के समय महाविद्यालय के लिए जमा किया गया था, इसी में खर्च किया जाने लगा।

उधर युनिवर्सिटी की परीक्षाओं का समय नजदीक आ रहा था। कुछ भाइयों का, विशेषकर मौलवी शफी दाऊदी का, विचार था कि हम लोगों को उन लड़कों की परीक्षा भी लेनी चाहिए जो सरकारी परीक्षाओं में शरीक होना नहीं चाहते। इसलिए यह भी आवश्यक हो गया कि परीक्षाओं का संगठन किया जाय। महात्मा गांधी ने भी बिहार से जाने के समय कहा था कि बिहार में भी विद्यापीठ होना चाहिए। मेरे यह कहने पर कि हमारे पास रुपये नहीं हैं, उन्होंने कहा था कि चिन्ता न करो, अगर काम ठीक तरह से होगा तो रुपयों की कमी न होगी। जब नागपुर-कांग्रेस के बाद वह दुबारा बिहार के दौरे पर आये तो झरिया में पचास-साठ हजार रुपये जमा करके मेरे पास तार दिया कि पटने आ रहा हूँ—विद्यापीठ के उद्घाटन का प्रबन्ध करो। उसी मकान में, जहाँ हमने महाविद्यालय खोल रक्खा था, उन्होंने आकर विद्यापीठ का उद्घाटन किया। श्री मजहरुल हक साहब उसके चान्सलर मुकर्रर किये गये। हमने बाजाब्ता सिनेट वगैरह भी बना लिया। हम लोग पाठ्यक्रम निर्धारित करने के काम में लग गये।

यह सब देखकर सरकारी कालेज में पढ़नेवाले लड़कों में भी बहुत उत्साह उमड़ा। एक दिन पचास-साठ लड़के जलूस बनाकर, पटना-कालेज और साइन्स-कालेज छोड़कर, सीधे पटना-गया-रोड पर हमारे महाविद्यालय में आ गये। इनमें पटना-युनिवर्सिटी के अच्छे से अच्छे विद्यार्थी भी थे। कुछ तो रह गये, जो आज सारे प्रान्त में फैले हुए हैं और आज भी सूबे के प्रमुख लोगों में हैं। कुछ ने कुछ दिनों तक तो काम किया; पर जब आन्दोलन कुछ ढीला पड़ा तो फिर सरकारी कालेज में वापस चले गये। वहाँ से वे अच्छी तरह पास करके सरकारी नौकरी में चले गये। आज वे ऊँचे उहदे तक पहुँचकर सरकारी काम कर रहे हैं। कुछ तो शीघ्र ही वापस चले गये और फिर अपनी पुरानी रीति से काम करने लगे।

३०—पूर्णतः असहयोग में

असहयोग के मुख्य अंग चार वहिष्कार थे—(१) सरकारी उपाधियों और खिताबों को छोड़ देना, (२) सरकारी शिक्षा-संस्थाओं से सम्बन्ध-विच्छेद, जिसका अर्थ था कि न उनमें खुद शिक्षा ग्रहण करना और न अपने बाल-बच्चों को वहाँ शिक्षा पाने देना, (३) कौन्सिल में न जाना और उनसे किसी प्रकार का लाभ न उठाना, (४) सरकारी अदालतों से सम्बन्ध छोड़ना अर्थात् उनमें न मुकदमे दायर करना और न उनमें वकालत या मुखतारकारी या नौकरी करना। आशा की जाती

थी कि हममें से प्रत्येक इन चारों बहिष्कारों को, जहाँ तक जो उससे सम्बन्ध रखता हो, पूरा करेगा। मुझे तो कोई खिताब या उपाधि नहीं मिली थी; पर मेरे भाई साहब को को-आपरेटिव-सोसाइटी कायम करने और उनमें दिलचस्पी लेने के लिए 'रायसाहब' का खिताब मिला था। मैंने उनसे कभी खिताब छोड़ने के लिए नहीं कहा, पर उन्होंने खुद ही नागपुर-काँग्रेस के कुछ बाद उसे वापस कर दिया। इसका संयोग इस तरह घटा। जब असहयोग-आन्दोलन जोर पकड़ने लगा तो बिहार-उड़ीसा की सरकार के मंत्री मिस्टर हैलेट ने (जिन्होंने अभी युक्तप्रान्त के गवर्नर के पद से अवकाश ग्रहण किया है) एक गश्ती चिट्ठी निकाली जिसमें उन्होंने कहा कि म्युनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड भी एक प्रकार से सरकार के अंग हैं; इसलिए उनके सदस्य और कर्मचारी किसी तरह असहयोग में भाग नहीं ले सकते। इससे लोगों में और भी रोष पैदा हुआ। और मेरे भाई उस समय छपरा-म्युनिसिपैलिटी के वाइस-चेयरमैन और ऑनररी-मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने अपने खिताब को वापस कर दिया। मजिस्ट्रेटी से भी इस्तीफा दे दिया। साथ ही उन्होंने यह भी साफ़ कह दिया कि वह जनता द्वारा चुने गये हैं, इसलिए वह वाइस-चेयरमैनी से नहीं हटेंगे—अपना वह काम करते रहेंगे।

भाई साहब के लड़के जनार्दन ने हाल ही में मैट्रिक पास करके हिन्दू-युनिवर्सिटी के इंजीनियरिंग कालेज में नाम लिखाया था। मेरे दो लड़कों में मृत्युंजय, जो हाल ही कालाआजार से बचकर अब अच्छा हो गया था, मैट्रिक में पढ़ता था; पर कम उमर होने के कारण युनिवर्सिटी के नियमानुसार परीक्षा में बैठने से रोक लिया गया था। दूसरा लड़का धनञ्जय स्कूल के किसी निचले दर्जे में पढ़ता था। तीनों लड़के कालेज और स्कूल से हटा लिये गये। तीनों में कोई भी फिर सरकारी स्कूल या कालेज में नहीं गया। जनार्दन कीर्त्यानन्द-आयरन-स्टील वर्क्स के लोहे के कारखाने में कुछ दिनों के बाद काम सीखने लगा। वहाँ एक-डेढ़ साल काम सीखने के बाद वह विलायत चला गया। उसको विदेश में लोहे का काम सीखने के लिए एक छात्रवृत्ति मिल गयी। उसी से वह अपना सब काम चला लेता, घर से भाई साहब को थोड़ा ही बहुत खर्च करना पड़ा। मृत्युञ्जय बिहार-विद्यापीठ में पढ़ने लगा और वहाँ का स्नातक हुआ। छपरे में राष्ट्रीय स्कूल जब तक चलता रहा, धन्नू पढ़ता रहा। उसके बाद उसने घर ही पर जो कुछ शिक्षा मिल सकी, प्राप्त की। मैं ऊपर कह चुका हूँ कि मैंने किस तरह युनिवर्सिटी से सम्बन्ध-विच्छेद कर लिया था। वकालत मैंने छोड़ ही दी थी। इस तरह ईश्वर की दया से हम लोगों ने अपने शरीर से और व्यक्तिगत रूप से असहयोग का कार्य्यक्रम यथासाध्य पूरा किया।

उस समय तक बिहार में काँग्रेस का संगठन नहीं के बराबर था। प्रान्तीय काँग्रेस कमिटी थी। उसके मंत्री नवाब सरफराज हुसेन खाँ थे। मैं भी उनका सहायक था। इसी तरह जिलों में भी कहीं-कहीं किसी जिला कमिटी का कोई मंत्री था। पर उन दिनों बाजाब्ता मेम्बर बनने की प्रथा न थी। जो चाहता था अपने को मेम्बर

समझ लेता था। प्रतिनिधियों का चुनाव भी बाजाब्ता नहीं हुआ करता था। जो काँग्रेस के जल्से के समय पहुँच जाते थे, प्रतिनिधि बन जाते थे। जिले या प्रान्त के नामधारी मंत्री उनको प्रमाण-पत्र दे देते थे। वे १०) फीस दाखिल करके प्रतिनिधि हो जाते थे। ऐसे ही प्रतिनिधि काँग्रेस के सालाना जल्से के समय अखिल-भारतीय काँग्रेस कमिटी के मेम्बर चुन देते। उस चुनाव में अधिक होड़ नहीं होती थी। अक्सर प्रान्त के कुछ प्रमुख लोग, जो काँग्रेस में दिलचस्पी लिया करते थे, चुन दिये जाते थे। अखिल-भारतीय काँग्रेस कमिटी के नियमानुसार बिहार-प्रान्त को उसे १५००) वार्षिक चन्दा देना पड़ता था। एक प्रकार से यह बात मान ली गयी थी कि जो लोग १००) देंगे, वे ही अखिल-भारतीय काँग्रेस कमिटी के मेम्बर चुने जायँगे। इसलिए, बहुतेरे ऐसे लोग, जो यह शर्त पूरी नहीं कर सकते थे, कभी उमीदवार होने की हिम्मत नहीं करते थे। इससे यह न समझना चाहिए कि सभी चुने गये सदस्य यह १००) अदा कर देते थे। उन दिनों अखिल-भारतीय काँग्रेस कमिटी के मंत्री थे राजमहेन्द्री के सुविख्यात काँग्रेस कर्मी श्री सुब्बाराव पान्तलु। मुझे याद है कि वह अकसर पटने में यह चन्दा जमा करते। तो भी यह हर साल अदा नहीं होता! १९२० में कई हजार रुपये बिहार के नाम पर बाकी पड़े थे!

नागपुर-काँग्रेस ने काँग्रेस की नियमावली बदल दी। उसने सभी जगहों में काँग्रेस का मेम्बर बनाना अनिवार्य कर दिया। प्रत्येक सूबे को उसकी आबादी के प्रति-लाख पर एक प्रतिनिधि चुनने का ही अधिकार दिया। इस प्रकार प्रतिनिधियों की संख्या परिमित हो गयी। उसने यह भी अनिवार्य कर दिया कि प्रतिनिधियों का चुनाव केवल काँग्रेस के मेम्बर ही कर सकते हैं। वह भी किसी काँग्रेस-कमिटी की बाजाब्ता बैठक में ही। चुने हुए प्रतिनिधियों की सूची अधिवेशन के कई दिन पहले ही अखिल-भारतीय कमिटी के दफ्तर में पहुँच जानी चाहिए। उस सूची में जिनके नाम दिये गये होते थे उन्हें छोड़, बिना विशेष कारण के, कोई दूसरा प्रतिनिधि नहीं हो सकता था। सूची के नामों में हेरफेर तभी हो सकता था, जब कोई चुना हुआ प्रतिनिधि इस्तीफा दे देता और उसकी खाली जगह पर कोई नया चुनाव हो जाता। इसका प्रमाण प्रान्तीय मंत्री को देना होता।

इन नियमों के कारण अब काँग्रेस के चुनाव में काफी सख्ती आ जानेवाली थी, अब पुरानी नीति चलनेवाली न थी। इसलिए नये सिरे से संगठन करके बाजाब्ता चुनाव कर लेना आवश्यक हो गया था। काँग्रेस ने इसके लिए समय भी निर्धारित कर दिया था। प्रान्तीय कमिटी को नये नियमों के अनुसार अपने नियम भी बना लेने का अधिकार दिया गया था। इसलिए सोचा गया कि जब तक नया संगठन न हो जाय, एक छोटी कमिटी बना दी जाय, जो सब काम करेगी। पुराने बहुतेरे काँग्रेसी नेता अब काँग्रेस से अलग हो गये थे। कुछ तो काँग्रेस के सिद्धान्त बदलने के कारण और कुछ वे, जिनको सिद्धान्त (Creed) अगर मंजूर भी था तो असहयोग के कार्यक्रम से विरोध था। इसलिए भी पुनःसंगठन आवश्यक था। इस कमिटी का मंत्री मैं बनाया गया।

सभापति हुए मौलाना मजहरुल हक साहब। इसको पुनस्संघटन-समिति (Reorganisation Committee) का नाम दिया गया। कमिटी ने अपना काम बड़े उत्साह के साथ आरम्भ किया। हम जहाँ जाते, काँग्रेस के मेम्बर बनाने की बात करते और असहयोग का प्रचार तो करते ही।

बहुतेरे वकील, मुख्तार और विद्यार्थी—जिन्होंने अपने-अपने काम छोड़ दिये थे—सारे प्रान्त में फैल गये। वे सभी जगहों में काँग्रेस का सन्देश पहुँचाने लगे। प्रायः सभी जिलों में राष्ट्रीय पाठशालाएँ खुल गयीं; कुछ तो मैट्रिक कक्षा तक के लिए और कुछ नीचे के दर्जे तक। सबका सम्बन्ध बिहार-विद्यापीठ के साथ हो गया। मैं समझता हूँ कि मैट्रिक पाठशालाओं की संख्या ५० के लगभग होगी और प्राइमरी शालाएँ प्रायः दो-ढाई सौ। सब पाठशालाओं में, जो बिहार-विद्यापीठ से सम्बद्ध थीं, २० से २५ हजार तक विद्यार्थी शिक्षा पाने लगे। बहुतेरे लोग, जिन्होंने दूसरा काम छोड़ा था, इन पाठशालाओं में शिक्षक बन गये।

उन दिनों प्रान्त-भर में अनगिनत सभाएँ हुई होंगी। किसी भी जिले का शायद ही कोई हिस्सा बचा होगा जहाँ कार्यकर्ता न पहुँचे हों और जहाँ सभा करके काँग्रेस का कार्य-क्रम और संदेश लोगों को न बताया गया हो। मैंने सारे सूबे का चक्कर लगाया। १९२१ में ही पहले-पहल सारे सूबे का परिचय हुआ। असंख्य कार्यकर्ताओं से जान-पहचान भी हो गयी।

मैं वकालत तो किया करता था, पर बड़ी सभाओं में बहुत बोलने का अभ्यास नहीं था, यद्यपि मैं लड़कपन से ही सभाओं में भाग लिया करता था। असहयोग के प्रचार में असंख्य सभाओं में भाषण करने पड़े। नतीजा यह हुआ कि सभाओं में बोलते समय जो थोड़ा संकोच हुआ करता था, वह निकल गया। मैं अब धड़ल्ले से भाषण कर सकता था। जिन जिलों में लोग भोजपुरी बोला करते हैं उनमें जाता तो भोजपुरी में ही भाषण करता। दूसरी जगहों में शुद्ध हिन्दी में। मुझे स्मरण नहीं है कि पुरुलिया में मैंने कभी बँगला में उस साल भाषण किया या नहीं, यद्यपि यह याद है कि पुरुलिया में मैंने कभी बँगला में भी भाषण किया है। सभाएँ भी कुछ छोटी-मोटी नहीं होती थीं। पाँच-दस हजार का जमाव होना तो कोई बड़ी बात नहीं थी। दस हजार लोगों की सभा में आसानी से मैं सब लोगों तक अपनी आवाज पहुँचा सकता था। उससे अधिक संख्या होने पर परिश्रम पड़ता था। मेरा अनुमान है कि पन्द्रह हजार तक की सभा में यदि लोग शान्त रहते तो मैं अपनी आवाज पहुँचा सकता, पर बहुत अधिक परिश्रम पड़ता और पेट में दर्द हो जाता। मुझे यह भी याद है कि बीस-पचीस हजार के मजमे में भी मैंने उस साल में भाषण किये थे। एक सभा छपरा-जिले में हथुआ में हुई थी। वहाँ न मालूम किस तरह खबर उड़ गयी थी कि सभा में महात्मा गांधी आनेवाले हैं। इसलिए वहाँ प्रायः पचास हजार का जमाव हो गया। हजार कोशिश करने पर भी सभा ठीक नहीं जम सकी। यद्यपि मैंने अपनी पूरी शक्ति भर जोर लगाकर एक छोटा-[illegible] किया तथापि मुझे शक है कि थोड़े ही लोगों ने उसे सुना या समझा।

में भाषण करते समय देखा करता था कि सभा में उपस्थित लोगों पर उसका कैसा प्रभाव पड़ रहा है। जहाँ अच्छा प्रभाव पड़ता नजर आता और जनता सुनने के लिए उत्सुक और समझदार मालूम पड़ती वहाँ का भाषण भी मैं खुद समझ सकता था कि अच्छा हो जाया करता था। जहाँ ये बातें नहीं होतीं वहाँ भाषण भी ऐसा-वैसा ही होता। भाषण भी कुछ छोटे नहीं होते। काँग्रेस का इतिहास, खिलाफत-आन्दोलन और पंजाब-सम्बन्धी जुल्म तथा स्वराज्य की आवश्यकता के अलावा असहयोग का कार्यक्रम मैं सभी सभाओं में बहुत विस्तार के साथ बताता। इसमें प्रायः एक-डेढ़ घंटे लग जाते। जहाँ दस हजार तक का जमाव होता वहाँ तो पूरे विस्तार के साथ डेढ़ घंटे या इससे अधिक देर तक भी बोल लेता। जहाँ इससे अधिक जनता एकत्र होती वहाँ कुछ संक्षेप करना पड़ता। बीस हजार से अधिक लोगों की सभा में आध घंटे से ज्यादा नहीं बोल सकता था। इस तरह मैं सारे सूबे में दौरा करता रहा। दूसरे साथी भी यही कर रहे थे।

३१—'देश' और 'सर्चलाइट' का प्रकाशन

असहयोग-आन्दोलन में सभी नेता शरीक नहीं हुए। काँग्रेस के पुराने और वयोवृद्ध नेताओं ने, जो असहयोग में शरीक नहीं हुए, एक दूसरी संस्था 'बिहार-प्रान्तीय लीग' के नाम से क़ायम की। देश के नरमदल के समाचार-पत्रों में इसकी चर्चा बहुत चली; पर यह संस्था कुछ कर न सकी। इसके सम्बन्ध में पीछे कुछ सुनने में नहीं आया। हमारे सूबे में एक बात की खूबी थी। मतभेद होते हुए भी आपस में संघर्ष नहीं हुआ। हम लोगों का आपस का व्यवहार भी ज्यों का त्यों बना रहा। पर इतने लोगों के अलग हो जाने के कारण, विशेष करके नागपुर में काँग्रेस की नियमावली और उसके विधान में बहुत अदल-बदल हो जाने के कारण, काँग्रेस कमिटियों का पुनः संगठन आवश्यक हो गया। यह संगठन कई महीनों में जाकर पूरा हुआ। जून के अन्त तक जिला-कमिटियाँ बाजाब्ता बनकर प्रान्तीय कमिटी का चुनाव कर सकीं। तब फिर अखिल-भारतीय कमिटी के नये सदस्य चुने गये।

काँग्रेस के पुनःसंगठन के प्रश्न के साथ-साथ कुछ और भी प्रश्न उपस्थित हो गये। समाचार-पत्रों के लिए बिहार अच्छा सूबा नहीं है। पहले बहुत परिश्रम और त्याग से 'बिहार-टाइम्स' और 'बिहारी' निकाले गये थे; पर आर्थिक कठिनाइयों के कारण दोनों बन्द हो चुके थे। 'बिहार-टाइम्स' के जन्मदाता और मुख्य कार्यकर्ता बाबू महेश-नारायण (अब स्वर्गीय) थे। उन्होंने उसे अपनी जिन्दगी में चलाया था। श्री सच्चि-नन्द सिंह (अब डाक्टर) की भी अखबार-नवीसी में बहुत दिलचस्पी रही है। इन्होंने अपने निजी 'हिन्दुस्तान रिव्यू' के अलावा इन अखबारों की भी धन और कलम से पूरी सहायता की थी। 'बिहारी' को बनैली-राज से बहुत मदद मिली थी। एक प्रकार से वही उसके बन्द होने का कारण भी हुआ। दूसरा अखबार हथुआ के महाराजा की ओर से 'एक्सप्रेस' नाम से निकलता था। घाटे पर बहुत दिनों तक चलकर वह भी बन्द

हो गया। १९१८ में पटने के सभी नेताओं ने, विशेष करके श्री सच्चिदानन्द सिंह (अब डाक्टर) और श्री हसन इमाम ने, एक अखबार की जरूरत बहुत महसूस करके निश्चय किया कि एक पत्र निकाला जाय। उसका नाम श्री सिंह के कहने के अनुसार 'सर्चलाइट' रख दिया गया। वह सप्ताह में दो बार निकला करता था। उसके डाइरेक्टरों में श्री सिंह, श्री हसन इमाम प्रभृति थे। नये लोगों में श्री व्रजकिशोर प्रसाद थे और मैं भी था। आन्दोलन आरम्भ होने पर 'सर्चलाइट' के सामने यह प्रश्न आया कि वह असहयोग का समर्थन करे या नहीं। पैसा खर्च करनेवालों में मुख्य श्री हसन इमाम और श्री सिंह थे। वे असहयोग के पक्षपाती नहीं थे। इधर सारे सूबे में असहयोग की लहर इस तरह उमड़ रही थी कि उसके खिलाफ जाने का अर्थ था 'सर्चलाइट' का हमेशा के लिए लोकप्रियता खो देना। इसके अलावा डाइरेक्टरों में भी हम लोग थे जो असहयोग में शरीक थे। उसके सम्पादक श्री मुरली मनोहर प्रसाद भी असहयोग के पूरे पक्षपाती थे। ऐसी अवस्था में, आपस के इस मतभेद के कारण, नीति निर्धारित कर देना आवश्यक हो गया।

१९२० से, सर्चलाइट प्रेस से ही, हिन्दी-साप्ताहिक 'देश' भी निकला करता था, जिसका नाम-निहादी सम्पादक मैं समझा जाता था। असहयोग ने राजनीति को, अँगरेजी-पढ़े कुछ वकील-बैरिस्टरों और बड़े-बड़े व्यापारियों के अँगरेजी तरीके से सजे कमरों से बाहर निकालकर, गाँवों के बरगदों के साये के नीचे और गाँवों के खेत-खलिहानों तक पहुँचा दिया था। वहाँ अँगरेजी का गुजर नहीं था। जो जनता तक पहुँचना चाहता था उसे देशी भाषा की शरण लेनी पड़ती थी। इसलिए हम लोगों ने सोचा कि 'सर्चलाइट' से ज्यादा उपयोगी 'देश' होगा। हमने श्री हसन इमाम और श्री सिंह से 'सर्चलाइट' और 'देश' के सम्बन्ध में यह समझौता कर लिया कि 'सर्चलाइट' अपने सम्पादकीय लेखों में असहयोग का न तो विरोध करेगा और न समर्थन। पर दूसरों के लेख, लेखक के नाम के साथ, चाहे वे पक्ष में हों अथवा विपक्ष में, छाप सकेगा। 'देश' हम लोगों का पत्र हो जायगा। अब से उसका घाटा और नफा हम लोगों का होगा। उसकी नीति हम जैसी चाहेंगे वैसी ही होगी; पर वह सर्चलाइट प्रेस में छपाई देकर छपा करेगा।

इस तरह एक हिन्दी-साप्ताहिक हमारे हाथ में आ गया। अँगरेजी 'सर्चलाइट' भी अगर सहायक नहीं तो विरोधी भी न रहा। हम यह भी समझते थे कि हम लोग उसमें लेख लिखा करेंगे। पर यह आशा पूरी नहीं हुई; क्योंकि आन्दोलन में इतना काम बढ़ गया कि लेख लिखने का समय ही न मिला। 'देश' ने प्रचार-कार्य में बहुत सहायता पहुँचायी। ग्राहकों की संख्या भी बहुत बढ़ गयी। विज्ञापन भी बहुत मिलने लगे। हम लोग तो आन्दोलन में लगे थे। 'देश' के प्रबन्ध पर ध्यान नहीं दे सके। जैसे-जैसे ग्राहकों की संख्या बढ़ती गयी, प्रबन्धक की गलती से घाटे की मात्रा भी वैसे ही बढ़ती गयी। कुछ दिनों के बाद जब हमने हिसाब देखा तो मालूम हुआ कि विज्ञापन की दर इतनी कम कर दी गयी थी कि उसमें जितना खर्च पड़ता था उतना

भी विज्ञापनों से नहीं मिलता था। इसलिए जैसे-जैसे बिकनेवाली प्रतियों की संख्या बढ़ी, घाटा भी बढ़ता गया। हमने यह देखा कि बहुतेरों के माल का प्रचार हम अपने खर्च से सारे प्रान्त में जोरों से कर रहे थे; पर यह ज्ञान बहुत नुकसान उठा लेने के बाद हुआ। इस प्रकार उस समय 'देश' पर जो बोझ पड़ा, वह उसके गले में हमेशा के लिए एक भारी पत्थर-सा बँध गया।

जन-आन्दोलन कुछ दिनों के बाद ढीला पड़ा। 'देश' की बिक्री भी कुछ कम हो गयी। अन्त में आर्थिक कठिनाइयों के कारण उसे बन्द कर देना पड़ा। जितने दिनों तक आन्दोलन का जोर रहा, वह खूब काम करता रहा और बहुत लोकप्रिय भी हो गया था।

'सर्चलाइट' निर्धारित नीति पर चल रहा था। कुछ दिनों के बाद श्री हसन इमाम और श्री सिंह उससे अलग हो गये। वह हम लोगों के अधिकार में पूरी तरह से आ गया। यहाँ हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि उन दोनों ने यद्यपि पैसे और परिश्रम से इसे शुरू में बहुत सहायता पहुँचायी थी तथापि उसे बड़ी उदारता से हम लोगों के हाथों में आने दिया। जबसे यह स्थिति हो गयी, 'सर्चलाइट' पूरा-पूरा काँग्रेसी पत्र हो गया। उसके सम्पादक श्री मुरली मनोहर प्रसाद के मिजाज के अनुकूल यही था। जब १९३०-३४ का सत्याग्रह चला और काँग्रेस की आज्ञा निकली कि जो समाचार-पत्र स्वतंत्रता-पूर्वक सच्ची घटनाएँ न छाप सकें और अपने स्वतंत्र विचार न प्रकट कर सकें, वे सरकारी हुक्म मानने के बजाय अपना प्रकाशन ही बन्द कर दें, तो 'सर्चलाइट' उन बहुत ही अल्प-संख्यक पत्रों में से एक था जिसने काँग्रेस की आज्ञा का पूरी तरह से पालन किया। यह सब होते हुए भी 'सर्चलाइट' कभी आर्थिक कठिनाइयों से मुक्त नहीं हुआ। अन्त में हम लोगों को उसका स्वत्व श्री बिड़ला-ब्रदर्स को इस शर्त पर दे देना पड़ा कि उसकी आर्थिक व्यवस्था वह करेंगे; पर उसकी सम्पादकीय नीति में हम लोगों का ही अधिकार रहेगा। यह निश्चय १९४१ के अन्त में हुआ। तब से बिड़ला बन्धु बहुत-कुछ खर्च कर चुके हैं। अभी वह अर्थ-संकट से बाहर हो ही रहा था कि १९४२ के आन्दोलन में सरकार ने उसे बन्द कर देने का हुक्म निकाल दिया। सम्पादक भी हम लोगों के साथ नजरबन्द कर दिये गये। जहाँ आज मैं इन पंक्तियों को लिख रहा हूँ, वह भी साथ हैं।

३२—आन्दोलन का जोर और सरकारी दमन

ऊपर कहा जा चुका है कि काँग्रेस का सालाना जल्सा १९२० के दिसम्बर में नागपुर में हुआ था। मैं इस अधिवेशन में भी अपनी अस्वस्थता के कारण शरीक न हो सका था; पर सुना कि अधिवेशन में इतने प्रतिनिधि आये थे जितने शायद कभी किसी अधिवेशन में नहीं आये थे। इसका एक कारण भी था। कुछ लोग समझते थे कि असहयोग-सम्बन्धी प्रस्ताव पर नागपुर में फिर विचार किया जायगा। अतः दोनों पक्षों के लोग अपने-अपने पक्ष को बल पहुँचाने के लिए अधिक से अधिक संख्या में वहाँ आये थे। पर दोनों पक्षों में समझौता हो गया। अन्त में कुछ हेर-फेर के साथ असहयोग

का निश्चय कायम रह गया। इस प्रस्ताव के द्वारा देश को क्रमशः असहयोग का आदेश दिया गया। सरकारी खिताबों को छोड़ना, कौन्सिल से अलग रहना, जो काँग्रेस के निश्चय के विरुद्ध कौन्सिल में गये हैं उनसे किसी प्रकार की सेवा न लेना, गवर्नमेंट से सम्बद्ध शिक्षालयों से अलग रहना और अदालतों का बहिष्कार—आरम्भ में यही मुख्य कार्य-क्रम था। फिर क्रमशः सरकारी नौकरी छोड़ना और कर-बन्दी का आदेश मिलने पर उसे भी करने का निश्चय हुआ। साथ ही, शिक्षा के लिए गैर सरकारी राष्ट्रीय शिक्षालयों की स्थापना, आपस के झगड़ों को सुलझाने के लिए पंचायत की स्थापना, चर्खा-प्रचार और विदेशी वस्त्र-बहिष्कार, ये आवश्यक बतलाये गये थे। हिन्दू-मुस्लिम-ऐक्य और अहिंसा पर भी जोर दिया गया था।

नागपुर के निश्चय के बाद वे सभी लोग, जो पहले कुछ दुविधा में थे, अब दृढ़ होकर असहयोग में लग गये। महात्माजी ने यह भी कह दिया कि काँग्रेस के कार्यक्रम को यदि लोग पूरा कर दें, तो स्वराज एक बरस के भीतर ही हो जायगा। लोगों ने एक बरस की बात मन में धर ली। शर्तों को पूरा करने के प्रयत्न में जी-जान से सब लग गये। ऊपर कही हुई सभाओं में प्रचार का यही मुख्य उद्देश्य था।

ऊपर कहा जा चुका है कि सारे सूबे (बिहार) में असंख्य कार्यकर्त्ता काम करने लगे और स्वराज्य तथा असहयोग का संदेश गाँव-गाँव में पहुँचाने लगे। थोड़े ही दिनों में अद्भुत जागृति देखने में आने लगी। सरकार भी अपनी ओर से चुप न रही। वह देखती थी कि इस प्रचार का फल यह हो रहा है कि जनता में उसका रोब एक-बारगी उठता जा रहा है, लोग निर्भीक होते जा रहे हैं। हम भी काँग्रेस की ओर से इस बात का पूरा खयाल रखते थे कि उत्साह में जनता की ओर से कहीं ज्यादती न हो जाय। इसलिए नागपुर के बाद प्रान्तीय कमिटी ने जो आदेश निकाला उसमें शान्ति और अहिंसा पर पूरा जोर दिया गया—साफ-साफ कहा गया कि किसी के साथ किसी प्रकार की जबरदस्ती न की जाय। हम समझते थे, और कार्यकर्त्ताओं को भी यही समझाने का प्रयत्न किया गया, कि हम बल-प्रयोग में सरकार से हार जायँगे; क्योंकि उसके पास इसके साधन हैं, हमारे पास नहीं। इसके अलावा असहयोग की मुख्य शर्त अहिंसा है। उसके द्वारा जनता को भी हम अपनी ओर खींच सकते हैं। यदि हमारी ओर से जोर-जबरदस्ती हुई तो इसका नतीजा उलटा होगा, हमें एक दिन पछताना पड़ेगा। इसलिए जहाँ कहीं भाषण किया जाता, इस पर जोर दिया जाता। जो पर्चा निकाला जाता उसमें भी इसी पर जोर दिया जाता। गवर्नमेंट इसकी खोज में रहती कि कहीं भी कुछ अशान्ति हो तो धर दबाया जाय। उसे इसका मौका ही न मिलता!

मुजफ्फ़रपुर-जिले में महँगी के कारण कई जगहों में हाटों की लूट हो गयी। दरभंगा-जिले और चम्पारन-जिले में भी एकाध जगह ऐसा ही हुआ। सरकार को वह बहाना मिल गया जो वह खोज रही थी। हम लोग शराबबन्दी का भी प्रचार किया करते थे। इसका असर भी काफी पड़ रहा था। आबकारी की दूकानों का ठेका मार्च के महीने में दिया जाता है। बिक्री कम होती जा रही थी। सरकार को डर हो गया कि

यह एक आमदनी का बड़ा जरिया खतरे में पड़ गया। इन दोनों बातों को लेकर दमन जारी हो गया। दमन मुजफ्फरपुर-जिले से ही आरम्भ हुआ। और जिलों में भी जल्द ही फैल गया। चम्पारन में लौरिया-काण्ड के समय से ही कुछ दमन चल रहा था। वहाँ अब और भी जोर लगाया जाने लगा। दमन का आरम्भिक रूप यह हुआ कि कार्यकर्त्ताओं पर, दफा १०७ जाब्ता फौजदारी के अनुसार, मुचलका देने के मुकदमे चलाये गये। दफा १४४ जाब्ता फौजदारी के अनुसार कार्यकर्त्ताओं को सभा में भाषण करने और जलूस वगैरह में शरीक होने से मना किया गया। इतने दिनों के बाद यह कहना तो मुश्किल है कि कितने आदमियों पर इस तरह के मुकदमे चलाये गये; पर इतना निश्चय ही कहा जा सकता है कि लोगों ने जमानत नहीं दी। जिन पर मुकदमा चलाया जाता वे जेल चले जाते। हाँ, मुकदमे में जहाँ-तहाँ लोगों ने पैरवी की। कहीं-कहीं मुकदमा अन्त में खारिज करना पड़ा; क्योंकि कोई सबूत न मिला। बात तो यह थी कि सभा करने के सिवा, जिसमें असहयोग का कार्यक्रम समझाया जाता, हमारे आदमी दूसरा कोई काम कर भी नहीं रहे थे। जो हाट-लूट की लहर चली थी उसके रोकने में हमारे आदमियों ने बहुत मदद की थी। जहाँ कहीं से खबर आ गयी, वहाँ दौड़कर पहुँच जाते और जनता को समझा-बुझाकर सँभाल लेते। लुटेरों से मुकाबला करने के लिए जनता को तैयार भी कर देते। पर सरकार तो आन्दोलन को रोकना चाहती थी। इसलिए उसने लुटेरों के बदले काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओं की गिरफ्तारी को ही अधिक जरूरी और मुनासिब समझा।

थोड़े ही दिनों में सैकड़ों कार्यकर्त्ता इस प्रकार के मुकदमों के शिकार हो गये। प्रान्तीय सरकार के प्रधान सेक्रेटरी मिस्टर टेनी ने एक सर्कुलर निकाला जिसमें जिले के अधिकारियों को प्रोत्साहन दिया गया कि वे आन्दोलन को दबावें। स्वायत्तशासन-विभाग के मंत्री मिस्टर हैलेट ने दूसरा सर्कुलर निकाला जिसमें बताया गया कि म्युनिसिपैलिटियाँ और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड सरकार के अंग हैं, अतः उनके सदस्यों और कर्मचारियों को असहयोग में भाग लेना नहीं चाहिए। 'हाँके भीम होंहि चौगूना'—जिले के अधिकारी तो यह चाहते ही थे। उन्होंने १०७ और १४४ की नोटिसों की झड़ी लगा दी। सैकड़ों आदमी गिरफ्तार कर जेल भेज दिये गये।

मैं मजहरुल हक साहब के साथ आरा जानेवाला था। हक साहब किसी कारण से वहाँ न जा सके। मैं अकेला ही गया। आरा-स्टेशन पर उतरते ही मुझे १४४ की नोटिस मिली कि ९ बजे से ५ बजे तक किसी जलूस और सभा में शहर के अन्दर मैं शरीक नहीं हो सकता। मेरे सामने एक संकट आकर उपस्थित हो गया। नोटिस भी पुरमजाक थी। उन दिनों मैट्रिक परीक्षा हो रही थी। आरा भी उसका एक केन्द्र था। नोटिस में मनाही का कारण बतलाया गया था कि जलूस और सभा से परीक्षार्थियों के काम में हर्ज होगा और वे रुष्ट होंगे।

नागपुर-काँग्रेस ने निश्चय किया था कि अखिल-भारतीय कमिटी की आज्ञा जब तक न हो, सत्याग्रह न किया जाय। जब इस प्रकार की कार्रवाई सरकार की ओर

से होने लगी अथवा इसकी सम्भावना मालूम हुई, तो हमने प्रान्तीय कमिटी की ओर से आदेश निकाल दिया था कि इस तरह के हुक्मों को मान लेना चाहिए; क्योंकि कांग्रेस ने अभी सत्याग्रह का आदेश नहीं दिया है। हाँ, जहाँ कहीं आत्म-प्रतिष्ठा की बात आ जाय, वहाँ दूसरी बात है।

मैंने नोटिस पाकर निश्चय किया कि मुझे इसे मान लेना चाहिए। इसलिए स्टेशन से मैं शहर के अन्दर नहीं गया। मैं प्रायः दोपहर को पहुँचा था। स्टेशन से, म्युनिसिपैलिटी के बाहर, नजदीक के ही एक गाँव में चला गया। वहाँ पर दोपहर के समय ठहर गया। वहीं एक बड़ी सभा हो गयी, जिसमें देहात के अलावा शहर के भी काफ़ी लोग आ गये! फिर शाम को ५ बजे के बाद शहर में गया। वहाँ भी एक बड़ी सभा हो गयी जहाँ मैंने अपने कार्य-क्रम को पूरा किया। इस तरह इस नोटिस का नतीजा यह हुआ कि एक सभा के बदले दो सभाएँ हो गयीं। जनता का उत्साह भी बहुत बढ़ गया। मैं भभुआ जानेवाला था। वहाँ भी हमारे जाने के पहले ही कुछ मनाही की नोटिस निकल गयी। मैं वहाँ गया तो जरूर था; पर याद नहीं है कि नोटिस का क्या हुआ।

उस समय प्रान्तीय कौन्सिल की बैठक हो रही थी। जो लोग कौन्सिल में शरीक हुए थे वे कांग्रेस के आदेश के विरुद्ध वहाँ गये थे। पर सरकारी सरकुलरों को लेकर और मुझ पर जो नोटस निकली थी उसे लेकर उन्होंने वहाँ बहस छेड़ दी। साथ ही, जो आम तौर पर दमन चल रहा था, उसकी भी कड़ी समालोचना हुई। अखबारों में इन सब बातों के छपने पर सूबे के बाहर के पत्रों ने भी बिहार-सरकार की कार्रवाइयों—विशेष करके उसके सरकुलरों और दमन-नीति—की कड़ी समालोचना की। बात बहुत बढ़ गयी। मुजफ्फरपुर-जिले के सीतामढ़ी-सबडिवीजन के सबडिवीजनल अफसर मिस्टर ली, जिन्होंने इस तरह की कार्रवाइयों से बहुत ख्याति पायी थी, कुछ दिनों के बाद वहाँ से बदल दिये गये। मालूम नहीं कि इस देशव्यापी आन्दोलन के कारण उनकी बदली हुई अथवा और किसी कारण से; पर लोगों में यह धारणा हुई कि आन्दोलन ही उनकी बदली का कारण था।

शराब-बन्दी के कारण कहीं-कहीं सरकारी अफसरों ने धाँधली मचायी। हजारीबाग-जिले के 'चतरा' में खेतों में शराब बिकने लगी। जनता में शराब का प्रचार तो बहुतेरे अफसर कर ही रहे थे। कहीं-कहीं कार्यकर्ता और स्वयंसेवकों पर शराबबन्दी में भाग लेने के कारण मुकदमे भी चलाये गये।

हमारे कार्य-क्रम में पंचायत कायम करना भी एक मुख्य कार्य था। बहुत जगहों में पंचायतें कायम हुईं। बहुतेरे मुकदमे फैसल होने लगे। कहीं-कहीं लोगों ने पंचायती फैसले को मनवाने के लिए जातीय बहिष्कार का सहारा लिया। हमने इसे प्रान्तीय कमिटी की ओर से रोका, तो भी जहाँ-तहाँ कुछ हो ही गया। एक जगह तो पंचायत का इतना रोब हो गया था कि वह सरकारी अदालतों की तरह काम कर रही थी। लोग बाजाब्ता मुकदमे दायर करने और उन्हें फैसल कराने के लिए फीस देते थे। अधिकांश फैसले लोग मान लेते; पर कहीं-कहीं दिक्कत पैदा होती। एक

कमजोरी यह हुई कि पुराने-पुराने सड़े-गले मुकदमे भी कुछ लोग पंचायत में लाने लगे, जिसका नतीजा यह होता कि पंचायत अगर बहुत पुराना कहकर उसे न सुने तो उसकी शिकायत हो कि यह भी सरकारी अदालत की तरह इनसाफ न देखकर तमादी की बात करती है और यदि फैसला करना चाहे तो उसके फैसले को मनवाने का साधन नहीं था।

पंचायत को ही लेकर गिरिडीह में एक बड़ा वाकया हो गया। वहाँ पंचायत का फैसला न मानने के कारण एक आदमी का बहिष्कार किया गया। बहिष्कृत आदमी को कुएँ से पानी नहीं भरने दिया गया। उसका घड़ा तोड़ दिया गया। पुलिस ने घड़ा तोड़नेवाले को गिरफ्तार किया। उसके साथ बहुत लोग थाने तक आये। वहाँ तथा जेल के सामने वाकया हो गया। पुलिस का कहना था कि जनता ने ढेले फेंके और पुलिस पर हमला किया। दारोगा ने अपनी पिस्तौल से गोली मारी। बहुत लोग घायल हुए। जेल और थाने का कुछ नुकसान हुआ। कुछ लोगों पर मुकदमे चलाये गये। इसकी खबर पाते ही डाक्टर महमूद के साथ मैं वहाँ गया। लोग शान्त किये गये। मुकदमे में शहर के बहुतेरे धनी लोग फाँस लिये गये थे। ऐसे लोगों में से कुछ ने तो माफी माँग ली; पर दूसरों पर मुकदमे चले। अन्त में क्या हुआ, मुझे याद नहीं है।

३३—एक मनोरंजक घटना

थोड़े ही दिनों बाद, मार्च १९२१ में, बेजवाड़ा में अखिल-भारतीय काँग्रेस कमिटी की बैठक हुई। वहाँ निश्चय हुआ कि लोकमान्य तिलक के स्मारक-रूप में एक करोड़ रुपये स्वराज्य के काम के लिए, तिलक-स्वराज्य-फण्ड के नाम से, ३० जून तक जमा कर लिये जायँ—बीस लाख चर्खे जारी हो जायँ और काँग्रेस के एक करोड़ मेम्बर बना लिये जायँ। बेजवाड़ा पहुँचने के पहले महात्माजी दौरा कर रहे थे। मैं कलकत्ते से ही महात्माजी के साथ उड़ीसा गया। वहाँ उन दिनों अकाल था। महात्माजी को इसकी खबर पहले से थी। उन्होंने कुछ मदद भी करायी थी। अकाल-पीड़ितों को महात्माजी के आगमन की खबर मिली थी। बहुतेरे दूर-दूर से आये थे। महात्माजी ने उनके अस्थि-पंजरों को देखा। वह बहुत ही प्रभावित हुए। उन्होंने एक लेख में उड़ीसा के नंगे-भूखे कंकालों का जबरदस्त जिक्र किया। मैंने कई बार उन गरीबों की याद करके उन्हें आह भरते भी देखा है। एक बड़े मकान में वह ठहराये गये थे। एक ओर श्री जगन्नाथजी का विशाल मन्दिर, पंडों और धनी-मानी लोगों का सुखमय जीवन, महात्माजी के स्वागत के लिए धूमधाम, और दूसरी ओर ये नंगे-भूखे कंकाल!

उड़ीसा की ही किसी सभा में महात्माजी ने बहुत मार्के का भाषण किया था, जिसका असर आज तक मेरे दिल पर है। सभा में किसी ने महात्माजी से प्रश्न किया कि आप अँगरेजी-शिक्षा के विरुद्ध क्यों हैं—अँगरेजी-शिक्षा ने ही तो राजा राम-मोहन राय, लोकमान्य तिलक और आपको पैदा किया है? महात्माजी ने उत्तर में

कहा—"मैं तो कुछ नहीं हूँ; पर लोकमान्य तिलक भी जो हैं उससे कहीं अधिक बड़े हुए होते यदि उनको अँगरेजी द्वारा शिक्षा का बोझ ढोना न पड़ा होता। राजा राम-मोहन और लोकमान्य तिलक श्री शंकराचार्य, गुरु नानक, गुरु गोविन्द सिंह और कबीरदास के मुकाबले में क्या हैं? आज तो सफर के और प्रचार के इतने साधन मौजूद हैं। उन लोगों के समय में तो कुछ नहीं था, तो भी उन्होंने विचार की दुनिया में कितनी बड़ी क्रान्ति मचा दी थी।" अँगरेजी राज्य के सम्बन्ध में भी उन्होंने कहा कि मुगलराज्य में अकबर के समय में राणा प्रताप और औरंगजेब के दिनों में शिवाजी-जैसे वीरों के लिए सुअवसर था, आज वह कहाँ है? इस प्रकार एक बड़े प्रभावशाली भाषण में उन्होंने यह दिखला दिया कि यह हम लोगों का मोह है जो अँगरेजी शिक्षा को ही देशोन्नति का कारण बताते हैं। हाँ, अँगरेजी जानना बुरा नहीं है। उसे हम में से बहुतेरों को जानना होगा। हम उसे सीखेंगे भी; पर आज की तरह वह शिक्षा का माध्यम और साधन नहीं रह सकती।

उड़ीसा से महात्माजी के साथ मैं बेजवाड़ा गया। रास्ते के दृश्य अवर्णनीय हैं। जैसा उत्साह अपने सूबे में देखा था वैसा ही आन्ध्र देश में भी देखने में आया। वही जनता की भीड़, वही दसों दिशाओं को गुँजानेवाले नारे! स्टेशनों पर वही जन-समूह, चलती रेलगाड़ी के किनारे लाइन पर लोगों का वही जमघट और वही विराट् सभाएँ। मुझे याद है कि विजयनगर में हम लोग रात को प्रायः ३ बजे रेल से उतरे। सारे शहर में लोगों ने दीवाली मनाई थी!

हम बिहार के प्रतिनिधि बेजवाड़ा से लौटते समय रेल में कार्यक्रम पूरा करने के सम्बन्ध में परस्पर बातें करने लगे। एक प्रकार से पटना पहुँचते-पहुँचते यह निश्चय कर लिया गया कि यह काम कैसे पूरा किया जायगा। रुपये जमा करने और चर्खा चलवाने की ओर लोगों का विशेष ध्यान गया। मैं भी दिन-रात सारे सूबे में दौड़ता और रुपये जमा करने में लगा रहा। सब जिलों में कार्यकर्त्ता इस काम में दिलोजान से लग गये। रुपये जैसे-जैसे जमा होते, बैंक में जमा होते। हम लोगों ने कई प्रकार की रसीदें छपवा ली थीं, जिनसे यह सुविधा होती कि प्रत्येक आदमी को रसीद लिखकर देने की जरूरत नहीं होती। कम से कम चार आने की रसीद थी। बड़ी रकमों के लिए लिखकर रसीद दे दी जाती। इसके पहले बिहार में सार्व-जनिक काम के लिए जन-साधारण से इस प्रकार कभी रुपये नहीं माँगे गये थे। हम भी नहीं जानते थे कि हम कहाँ तक सफल होंगे। पर लोगों में उत्साह देखकर आशा बढ़ती जाती थी। हमको बहुत बड़े और धनी लोगों से बहुत ज्यादा नहीं मिला। पर हर जिले में मझोले दर्जे के लोगों ने बहुत उत्साहपूर्वक चन्दा दिया। अन्त में ३० जून तक हमने सात-आठ लाख के लगभग जमा कर लिया। ३० जून को गांधीजी को तार द्वारा इसकी सूचना दे दी गयी। इस काम में सब से ज्यादा उत्साह तिरहुत डिवीजन के जिलों ने दिखाया—यद्यपि और जिले भी कुछ बहुत पीछे नहीं थे।

बिहार के कई जिलों में घूमते-घूमते काफी अनुभव हुआ। कहीं-कहीं कुछ दिलचस्प घटनाएँ भी हुईं। मनोविनोद के लिए एक घटना का वर्णन कर देता हूँ।

जून का महीना था। मैं राँची जिले में तिलक-स्वराज्य-कोष के लिए रुपया जमा करने गया। वहाँ के कार्यकर्त्ताओं ने मेरे लिए दो दिनों का कार्यक्रम, जिले के विभिन्न स्थानों में जाने के लिए, बना लिया। पहले दिन राँची से मोटर पर चलकर १० बजे तक 'बुण्डू' पहुँच वहाँ का काम समाप्त करना था। दोपहर का भोजन राँची ही वापस आकर करना था। सेपहर को 'खूँटी' जाना था। रात तक फिर राँची वापस आना था। दूसरे दिन सवेरे लोहरदगा जाना था। वहाँ से दोपहर तक वापस आकर तीसरे पहर की गाड़ी से पटने के लिए रवाना होना था।

हम लोग राँची में सवेरे ही नहा-धोकर तैयार हो गये। टैक्सी के आने में कुछ देर हो गयी। हम सात आदमी, जिनमें एक ड्राइवर और दूसरा क्लीनर था, उस पर सवार होकर रवाना हुए। यह सोचा गया था कि दोपहर को राँची में ही आकर भोजन करना होगा। इसलिए हमने साथ में कुछ भी न लिया। जो कुर्ते पहने और चादर लिये हुए थे वही सारा सामान था। डाक्टर पूर्ण मित्र ने, जो वहाँ के नेता थे, साथ में एक छोटा-सा बेग रख लिया था, जिसकी खबर हम लोगों को उस समय नहीं थी। कुछ दूर जाने पर, एक जंगल में पहुँचने पर, मोटर में कुछ टूट गया। ड्राइवर ने मरम्मत शुरू की और कहा कि बस दस-पाँच मिनट में तैयार कर लूँगा। मरम्मत में देर होने लगी। ज्यों-ज्यों हम घबराते, वह आश्वासन देता जाता। दो-तीन घंटों के बाद उसने कहा कि लोहार की जरूरत होगी। तलाश करने पर एक गाँव मिला, जहाँ लोहार के घर जाकर उसने कुछ पीट-पाट कर दुरुस्त कराया। जंगल में कुछ भी खाने-पीने का सामान नजर नहीं आता था। इमली के वृक्ष थे। उनमें इमली के फल के गुच्छे लटक रहे थे। हम लोग उन्हें तोड़-तोड़कर जबान और दाँत खट्टे करते रहे। दोपहर के बाद प्यास ने जोर किया। फिर गाँव तलाश करके लोटा-बाल्टी मँगनी माँगी गयी। बहुत दूर से पानी लाकर प्यास बुझायी गयी।

जब मरम्मत का काम जारी था, एक दूसरी मोटर पर सवार पुलिसवाले जाते हुए नजर आये। हम लोगों को देखकर उन्होंने अपनी गाड़ी रोक ली। हमने उनसे कहा कि हम 'बुण्डू' शीघ्र ही पहुँचते हैं, आप वहाँ कह देंगे कि मोटर बिगड़ने के कारण हम लोगों के आने में कुछ विलम्ब हो रहा है। उन्होंने मोटर रोककर हम लोगों का हाल ज्ञान लेने की शिष्टता तो की थी; पर यह संवाद वहाँ पहुँचाने की भद्रता नहीं की! वहाँ जो जनता कुछ दूर-दूर के गाँवों से भी आई थी, हम लोगों का तीन-चार बजे तक इन्तजार करके जहाँ-तहाँ चली गयी।

अन्त में मोटर मरम्मत हो गयी। हम लोग पाँच-छः बजे शाम तक 'बुण्डू' पहुँचे। जो लोग गाँवों से आये थे, वे तो चले गये थे। पर खास 'बुण्डू' के लोगों में हमारे पहुँचने की खबर बात की बात में पहुँच गयी। सभा जुट गयी। हसब-मामूल

वहाँ भी भाषण हुआ। रुपये जमा किये गये। जहाँ तक मुझे याद है, वहाँ सात-आठ सौ रुपये के लगभग धन एकत्र हुआ।

काम खतम करके हम लोग तुरत चलने के लिए तैयार हुए। पर दिन-भर केवल इमलियों पर ही बीता था, इसलिए वहाँ के लोगों ने भोजन कर लेने का आग्रह किया। हमने भी उसे मान लिया। रसोई तैयार होते-हवाते ९-१० बज गये। अन्त में भोजन करके यह विचार होने लगा कि अब क्या किया जाय। उस दिन 'खूँटी' का प्रोग्राम छूट चुका था। दूसरे दिन लोहरदग्गा का प्रोग्राम किसी तरह छूटना न चाहिए। तीसरे पहर की गाड़ी से पटने के लिए रवाना होना भी अत्यन्त आवश्यक था। कुछ लोगों का विचार हुआ—विशेष कर मोटरवाला इस पर जोर देने लगा—कि रात को चलना ठीक नहीं है, रास्ते में जंगल है, खतरा है, मोटर भी न मालूम कहीं बिगड़ गयी तो रात का समय बड़ा भयानक होगा। मैं समझता था कि वह बहाना कर रहा है—इतनी देर तक मोटर की मरम्मत की गयी थी, और वह ठीक चली भी थी, अब क्या बिगड़ेगी। विशेष कर दूसरे दिन के कार्य-क्रम की मुझे चिन्ता थी। मैंने बहुत जोर लगाया कि नहीं, जरूर चला ही जाय।

अन्त में प्रायः ११-१२ बजे रात में उसी टूटी मोटर पर हम सात आदमी सवार होकर रवाना हुए। बीच में, थोड़ी ही दूर पर, एक घाट है जहाँ कुछ ऊँची चढ़ाई है। उस चढ़ाई पर चढ़ते समय मोटर फिर टूट गयी। जहाँ मोटर टूटी वहाँ से प्रायः दो-ढाई सौ गज और ऊपर चढ़ना था। उसके बाद उतार था। उतार में यदि इंजिन न भी काम करे, तो मोटर आसानी से चली जायगी, ऐसा ड्राइवर ने कहा। हम लोगों ने भी ऐसा ही अनुमान किया। घाट से उतरकर ही एक डाक-बँगला था। हमने सोचा कि डाक-बँगले तक अगर हम किसी तरह पहुँच जायँ तो वहाँ रात आराम से कटेगी, हम सो सकेंगे। अपनी बेवकूफी से और उत्साह में हमने यह निश्चय किया कि जो थोड़ी चढ़ाई है उसे हम लोग मोटर ढकेल करके ही पार कर लेंगे। इसलिए हमने मोटर को आगे ढकेलना शुरू किया। २०-३० गज तक मोटर ढकेल ले गये। वहाँ ढाल बहुत कम थी और ऊँचाई अधिक। मोटर का ऊपर चढ़ना कठिन था; पर हम लोगों ने जोर लगाया। नतीजा यह हुआ कि चन्द गज ऊपर ढकेलने के बाद मोटर उलटे पीछे की ओर झुकी। हम अपनी सारी शक्ति लगा-कर उसे रोकने लगे। किसी-किसी तरह उसे एक खड्ड में गिरने से हम बचा केस। इसके बाद अब फिर हिम्मत न हुई कि मोटर ढकेलने की कोशिश की जाय।

रात के शायद १२-१ बजे होंगे। मध्य जंगल में हम सात आदमी किसी हतर मोटर में बैठकर आये थे। दिन-भर की थकान के बाद रात को सोना भी आवश्यक था। ड्राइवर, उस निर्जन स्थान की भयानक बातें कहकर, हम लोगों को डराता भी जाता था। उसने कहा कि यहाँ हिंसक जानवरों और चोर-डाकुओं दोनों का रड था। हमने कहा कि चोर-डाकू हमसे लेंगे ही क्या, हमारे पास तो कुछ नहीं है। हाँ, यदि जंगली जानवर आ जाय तो उसका भय अवश्य है। मैंने यह कह तो दिया; पर

मुझे यह नहीं मालूम था कि डाक्टर ने बुण्डू के मिले रुपयों को अपने बेग में रख लिया था। वह बेग साथ ही था। उस समय मेरी बात सुनकर डाक्टर भी कुछ न बोले। मैं भी दूसरे दिन सुबह तक इसी भूल में था कि हमारे हाथ बिलकुल खाली हैं।

हम सलाह कर ही रहे थे कि जंगल के भीतर से गरगराहट सुन पड़ी। ड्राइवर तो बहुत डर गया। कहने लगा, यह भयानक आवाज बनैले जानवर की है। कुछ ही देर में आवाज बन्द हो गयी। हम सब शान्त होकर किसी तरह मोटर में बैठ गये। कुछ देर बाद जब फिर कुछ चित्त शान्त हुआ तो हमने सोचा कि मोटर वहीं छोड़ दी जाय और हम लोग डाक-बँगले तक पैदल चलकर वहाँ सोवें, फिर सबेरे मोटर का कुछ प्रबन्ध किया जायगा। मगर ड्राइवर इस पर राजी न हुआ। जब हम लोगों ने कहा कि हम लोग चले जाते हैं, तुम मोटर के साथ यहीं ठहरो, तो वह रोने-चिल्लाने लगा।

अन्त में यह निश्चय हुआ कि तीन आदमी मोटर के साथ ठहर जायँ, बाकी चार आदमी डाक-बँगले पर चले जायँ। रात चाँदनी थी, यही एक चीज थी जिससे कुछ हिम्मत बनी रहती थी। डाक-बँगला पहुँचते-पहुँचते हम लोग प्यास के मारे परेशान थे। डाक-बँगले में कोई था नहीं; दरवाजे बन्द थे। हमने सोचा कि दरवाजा किसी तरह खोला जाय। इसमें हम सफल भी हो गये। अन्दर से टटोल कर एक बाल्टी निकाली गयी। दो चारपाइयाँ और दो मेजें थीं। वे भी बाहर निकाली गयीं। पर बाल्टी से तो प्यास बुझती न थी, कुएँ और डोरी की आवश्यकता रह ही गयी। हम लोग फिर एक बार डाक-बँगले के आस पास चौकीदार की खोज में निकले। कुछ दूर पर देखा कि एक आदमी एक बच्चे को बगल में लेकर गाढ़ी नींद में सोया हुआ है। उस घोर जंगल में बच्चे के साथ उस आदमी को इस प्रकार निश्चिंत सोते देखकर हम अचम्भे में आ गये। वह बहुत पुकारने पर जगा। ऊँघते-ऊँघते ही उसने कहा कि डोरी तो नहीं है, पर कुआँ जंगल में थोड़ी ही दूर घुसने पर मिलेगा।

प्यास से हम लोग परेशान थे। इसलिए फिर कुएँ की तलाश में निकले। वह मिला भी। अपनी चादरों को जोड़कर डोरी बनायी गयी। उसी से बाल्टी में पानी निकाला गया। पानी पीकर हम लोगों में से कुछ तो चारपाई पर और कुछ टेबुल पर सो रहे। सोने का समय थोड़ा ही मिला। सवेरे उठकर, मुँह-हाथ धोकर, हम लोगों ने सोचा कि यहाँ तो कोई सवारी मिलनेवाली नहीं है, इसलिए राँची की ओर हम लोग पैदल ही बढ़ें; कोई गाँव मिल जायगा तो वहाँ कुछ खाने का भी प्रबन्ध हो सकेगा।

सब लोग चलने पर राजी नहीं थे। इसलिए मैं तथा एक आदमी और, दोनों चल पड़े। वहाँ से तीन-चार मील जाने पर एक गाँव मिला, जहाँ कुछ चने मिले। प्रायः ९ बजे चले थे। चने चबाकर हम लोग कुछ विश्राम करने लगे। धूप कड़ी हो गयी थी। शीतल हवा चल रही थी। तुरंत नींद आ गयी। प्रायः एक-डेढ़ घंटे के बाद किसी ने आकर जगाया। मालूम हुआ कि राँची के भाइयों ने कल दोपहर तक

हमारी बाट जोही। जब हम नहीं पहुँचे तो दूसरी टैक्सी करके हमारी खोज में कुछ लोगों को भेजा। उन्होंने भूल यह की कि इस टैक्सी पर भी प्राय: पूरा बोझ लेकर तीन-चार आदमी आये। हम लोग पाँच आदमी तो, मोटरवालों को छोड़कर, एक गाड़ी का बोझ पहले से थे ही। हमने कहा कि हममें से जो लोग अभी पीछे छूटे थे उनको पहले राँची पहुँचाओ, फिर दुबारा मोटर ले आओ तो हम दोनों चलेंगे। उन्होंने भी इसे पसन्द किया। हम लोग प्राय: डेढ़-दो घंटे और आराम से सोये। फिर जब मोटर प्राय: एक बजे के करीब आई तो राँची गये। वहाँ कुछ भोजन करके, सेपहर की गाड़ी से, सीधे पटने के लिए रवाना हो गये।

इतनी दिलचस्प तो नहीं, पर इस प्रकार की कई घटनाएँ उन दिनों के सफर में होती रहीं।

३४—हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और खादी-प्रचार

जुलाई १९२१ में बम्बई में अखिल-भारतीय काँग्रेस-कमिटी का अधिवेशन हुआ। वहाँ बिहार के और लोगों के साथ मैं भी गया। अधिवेशन में काफ़ी उत्साह था, क्योंकि तुरंत एक करोड़ रुपये जमा करने का कार्यक्रम सफलता-पूर्वक देश नें पूरा कर लिया था। चर्खे के सम्बन्ध में भी काफ़ी प्रचार हुआ था। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य तो मानों पूर्णरूपेण स्थापित जान पड़ता था। हम लोग यह नहीं समझ सकते थे कि यह कभी फिर टूटेगा। इन कारणों से उस अधिवेशन में कुछ लोगों ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि सत्याग्रह शुरू करना चाहिए।

उधर गवर्नमेण्ट की ओर से भी कुछ कार्रवाइयाँ हो रही थीं, जिनसे बहुत लोग क्षुब्ध थे। हमने यद्यपि बहुत बड़ा आन्दोलन सारे देश में चलाया था, तथापि वह वैध था। कानून तोड़ा नहीं गया था—यद्यपि भाषणों में काफी आजादी बरती जाती थी। काँग्रेसी लोगों के रहन-सहन और चाल-ढाल से साहस, उत्साह और सबसे अधिक निडरपन टपका करता था। गवर्नमेण्ट जहाँ-तहाँ कार्यकर्त्ताओं को गिरफ्तार कर लिया करती थी। देश में इस प्रकार कई सौ आदमी जेलखानों में थे। बिहार में हुई गिरफ्तारियों और दमन का जिक्र ऊपर किया गया है। इन कारणों से भी लोगों ने बहुत जोर दिया कि सत्याग्रह शुरू कर देना चाहिए।

महात्मा गांधी ने अभी सब्र रखने की सलाह दी। चर्खा-प्रचार और उसके द्वारा विदेशी वस्त्र-बहिष्कार ३० सितम्बर तक पूरा करने का निश्चय हुआ। उन्होंने कहा कि जो कार्यक्रम काँग्रेस ने निर्धारित कर दिया है उसको पूरा करना चाहिए और तभी सत्याग्रह में सफलता की आशा की जा सकेगी। इसलिए अभी तैयारी पर जोर देते हुए सत्याग्रह का निश्चय स्थगित रहा। पर एक दूसरी चीज ऐसी आ गयी जिसने सत्याग्रह का बीज बो दिया।

गवर्नमेण्ट की ओर से घोषणा की गयी कि जाड़ों में प्रिन्स आफ वेल्स (इँगलैंड के युवराज) हिन्दुस्तान की यात्रा करेंगे। उन्होंने शायद सोचा था कि जनता में ब्रिटिश

सरकार के विरुद्ध इतना प्रचार हो रहा है, लोगों में इतना उत्साह और जोश बढ़ रहा है, इसके रोकने में यह यात्रा सहायक होगी। वायसराय लार्ड चेम्सफोर्ड ने एक बार आन्दोलन के सम्बन्ध में कहा था कि इससे मैं घबरा गया हूँ, चक्कर में पड़ गया हूँ (Puzzled and perplexed)। अब लार्ड रीडिंग यहाँ वायसराय बनकर आ गये थे। वह इँगलैंड के चतुर से चतुर नीतिज्ञों में समझे जाते थे। उन्होंने कुछ ही दिन पहले अमेरिका में राजदूत के पद पर रहकर अमेरिका को लड़ाई में इँगलैंड के पक्ष में ले आने का कौशल दिखलाया था और अब इँगलैंड के चीफ जस्टिस के पद पर नियुक्त थे। हो सकता है कि यह (युवराज-यात्रा) उनकी चातुरी का नतीजा हो। हो सकता है, नीतिज्ञों ने समझा हो कि जैसे बंगविच्छेद के बाद बंगाल में बहुत असन्तोष फैल गया था और जब वह किसी प्रकार दमन-नीति से दबाया नहीं जा सका तब सम्राट् पंचम जार्ज हिन्दुस्तान में अपना अभिषेक कराने आये और यहाँ की जनता तथा सभी लोगों ने बड़े उत्साह के साथ उनका स्वागत किया वैसे ही इस बार भी युवराज के आगमन से हिन्दुस्तान की जनता में राजभक्ति उमड़ पड़ेगी और आन्दोलन खुद-बखुद कमजोर पड़ जायगा। युवराज के इस समय हिन्दुस्तान में आने का कोई भी दूसरा कारण देखने में नहीं आता था।

अखिल-भारतीय काँग्रेस ने एक प्रस्ताव स्वीकार किया जिससें यह अनुरोध किया गया कि गवर्नमेण्ट यहाँ युवराज के लाने का निश्चय छोड़ दे। उसमें साफ-साफ कहा गया कि गवर्नमेण्ट के लिए, अपनी गिरती हुई लोकप्रतिष्ठा को पुनः स्थापित करने के हेतु, सम्राट् के पुत्र और भावी सम्राट् का इस प्रकार इस्तेमाल करना मुनासिब नहीं है। यह भी बतला दिया गया कि देश की यह बात यदि गवर्नमेण्ट स्वीकार नहीं करेगी तो मजबूरन हमको इस यात्रा का बहिष्कार करना पड़ेगा—यद्यपि युवराज के साथ हमारा कोई व्यक्तिगत झगड़ा नहीं है, वरन् उनके लिए हम लोगों के हृदय में आदर ही है, तथापि उनका बहिष्कार भी अनिवार्य हो जायगा। इस प्रस्ताव द्वारा साफ-साफ चेतावनी दे दी गयी कि गवर्नमेण्ट की इस चालबाजी का नतीजा अच्छा न होगा और देश को सत्याग्रह के लिए तैयारी करने का आदेश दिया जायगा।

बकरीद का समय भी निकट आ गया था। बिहार और संयुक्त प्रान्त में यह समय हमेशा बहुत नाजुक समझा जाता है; क्योंकि जहाँ-तहाँ गाय की कुरबानी के लिए हिन्दू-मुस्लिम दंगा-फसाद हो जाया करते हैं। इस बार सोचा गया कि इस हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के जमाने में भी यदि बलवा-फसाद हुआ तो इसका बहुत बुरा असर पड़ेगा। सोचा गया कि इस अवसर का उपयोग हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के बढ़ाने में करना चाहिए। इस सम्बन्ध में बहुत प्रचार हुआ। महात्माजी का रास्ता यह था कि हम मुसलमानों के खिलाफ लड़कर उनसे गाय की रक्षा नहीं करा सकते और उनको मारकर हम गोरक्षा का फल भी अच्छा नहीं पा सकते। इसलिए यह उनपर ही छोड़ना चाहिए कि वे, अपने हिन्दू-भाइयों की भावना को ठेस न लगाकर, भाई-चारे के व्यवहार

से, खुद गोवध बन्द करें--हिन्दुओं की जोर-जबरदस्ती से नहीं, बल्कि अपने प्रेम-भाव और उदार विचार से।

इस सिलसिले में अली-बन्धुओं के साथ महात्माजी ने कुछ स्थानों का दौरा भी किया। इसी दौरे के सिलसिले में वह बिहार में भी आये। इस दौरे में महात्माजी शाहाबाद, गया और पटना जिलों में ही गये जहाँ बकरीद के अवसर पर कुछ गड़बड़ी का भय था। मौलाना महम्मदअली और मौलाना आजाद सुभानी उनके साथ थे। महात्माजी का कार्यक्रम बहुत ही संगीन था--एक दिन में कई जगहों में सभाएँ और बहुत दूर तक मोटर से सफर। मुझे याद है कि एक दिन वह संध्या को भोजन भी नहीं कर पाये, क्योंकि सूर्यास्त के बाद वह भोजन नहीं करते और सूर्यास्त के पहले इसके लिए समय नहीं मिला। मैं सफ़र में साथ रहा। सभी जगहों में आपस के मेल-जोल की बातें ही कही गयीं। साथ ही साथ, खादी-चर्खा के प्रचार की बातें भी की गयीं। बड़े सन्तोष और गौरव की बात है कि मुसलमान नेताओं ने--यद्यपि वे कुर्बानी करने के अपने स्वत्व को नहीं छोड़ना चाहते थे तथापि--जनता में प्रचार किया कि आदमी स्वत्व रखकर भी उसके व्यवहार करने या न करने का फैसला खुद कर सकता है; इसलिए मुसलमानों को चाहिए कि भाई-चारा और रवादारी के खयाल से, जहाँ तक हो सके, कुछ ऐसा न करें जिससे हिन्दुओं का दिल दुखे!

इसी वक्त हकीम अजमल खाँ तथा दूसरे नेताओं ने भी बड़ी करामात दिखलाई। फलस्वरूप उस साल की बकरीद केवल शान्ति के साथ ही नहीं बीती, बल्कि गायों की कुर्बानी भी इतनी कम हुई जितनी शायद कभी पहले भी न हुई थी। इसमें हिन्दू और मुसलमान दोनों ने एक दूसरे की भावनाओं की प्रतिष्ठा की। किसी तरफ जोर-आजमायिश की कोशिश नहीं हुई। दोनों ने एक दूसरे की रवादारी और भाई-चारे पर भरोसा किया। उनका यह भरोसा निष्फल नहीं गया।

बिहार के कुछ भागों में, विशेष करके उत्तर-बिहार के जिलों में, चर्खे का चलना कभी एकबारगी बन्द नहीं हुआ था--यद्यपि वह बहुत कम हो गया था। इस आन्दोलन से उसको नवजीवन मिला। चर्खा-प्रचार के लिए, तिलक-स्वराज्य-कोष से, रुपये भी मिले। हमारे प्रान्त में भी काम शुरू किया गया। काम तो हमने शुरू किया; पर शास्त्रीय ज्ञान हमको कुछ भी न था। उत्साह था, पर व्यापार-बुद्धि नहीं थी। इसलिए जो काम उस समय हुआ उसका केवल यह फल हुआ कि खादी का प्रचार तो हुआ, पर पैसा भी काफी नुकसान हुआ। जब मैं गांधीजी के उस कथन पर अब विचार करता हूँ, जिसको उन्होंने आन्दोलन के आरम्भ में ही कहा था, तो मुझे उनकी दूरदर्शिता और कार्य-कौशल का एक और भी ज्वलंत दृष्टान्त मिल जाता है। उन्होंने कहा था कि हमारे राष्ट्रीय स्कूल चर्खा-शाला होने चाहिए और इसी के ज्ञान को प्राप्त करने और बढ़ाने में राष्ट्रीय शालाओं को लग जाना चाहिए--चर्खा द्वारा ही हम युवकों को सहस्रों की संख्या में काम दे सकेंगे और जनता की धनवृद्धि में सहायक हो सकेंगे। उन्होंने साबरमती-आश्रम में उद्योग-शाला खोलकर चर्खा-सम्बन्धी

खोज का काम भी जारी करा दिया। पर राष्ट्रीय शिक्षा के अधिकारी इस मर्म को पूरी तरह नहीं समझ सके; उन्होंने विद्यापीठों और उनके अधीन की पाठशालाओं को चर्खाशाला नहीं बनाया—यद्यपि सभी जगहों में चर्खा चलाना एक अनिवार्य विषय बना दिया गया था।

चर्खे चलने लगे; पर शास्त्र का ज्ञान शिक्षकों को तो था ही नहीं, बच्चों को वे कहाँ से देते। इस तरह अन्धों का नेतृत्व अन्धे करने लगे! अतः चर्खा ठीक रास्ते पर कुछ दिनों तक नहीं आ सका। आज हम इस अदूरदर्शिता के लिए किसी को दोष नहीं दे सकते; क्योंकि ऐसा होना स्वाभाविक-सा था। सब लोगों की आँखें भावी स्वराज्य की ओर, जो एक राजनीतिक परिवर्तन की सीमित चीज समझी जाती थी, लगी हुई थीं। काँग्रेस के अन्दर भी कुछ लोग, विशेष करके महाराष्ट्रवाले, खादी-चर्खे का विरोध करते ही रहे। पर इन त्रुटियों के रहते हुए भी खादी का प्रचार खूब हुआ। अभी शुद्ध और अशुद्ध खादी का भेद लोग इतना नहीं समझते थे। जो मोटा कपड़ा हाथ-कर्घे पर का बुना हुआ होता उसे ही खादी समझकर खरीदते। महात्माजी ने कहा था कि सत्याग्रह के लिए खादी का प्रचार अत्यन्त आवश्यक है और प्रचार का सबूत आँखों को ही मिलना चाहिए। अर्थात् जब चारों ओर लोगों को खादी पहने हम देखेंगे तो हम समझ लेंगे कि इसका प्रचार हो गया—इसके लिए पुस्तकों और लेखों तथा अखबारों में छपे आँकड़ों में, अथवा किसी से पूछ करके, सबूत ढूँढ़ने की जरूरत नहीं होगी।

बिहार के इस दौरे में गांधीजी ने खादी पर काफी जोर दिया। कोकटी का कपड़ा, जो दरभंगा-जिले के मधुवनी-इलाके में बनता था, काफी महीन और सुन्दर तथा मुलायम होता है। उसको देखकर लोग चकित हो जाते थे। इसका व्यापार अभी तक मरा नहीं था। इसका विशेष कारण यह था कि इस कपड़े का खर्च नेपाल-दरबार में और वहाँ की संभ्रान्त जनता में काफी था। वहाँ के लिए ही यह कपड़ा, विशेष करके उस इलाके में जो नेपाल की सरहद पर ही है, बहुत बना करता था। उस इलाके की बनी हुई कुछ धोतियाँ भी पेश की गयीं, जिनको देखकर, विशेष कर मुझे याद है कि मौलाना मुहम्मदअली, बहुत ही सन्तुष्ट हुए थे। बिहार-शरीफ-जैसे मोमिनों के एक बड़े मुख्य स्थान पर गांधीजी गये और उन लोगों ने मदद करने का वचन भी दिया।

बिहार-यात्रा समाप्त करने के पहले गांधीजी अपने साथियों के साथ पटने आये। सदाकत-आश्रम में ठहरे। अखिल-भारतीय काँग्रेस की नयी बनी हुई कार्यकारिणी की बैठक वहीं हुई। बम्बई की अखिल-भारतीय कमिटी में वर्किङ्ग कमिटी का चुनाव हुआ था। मैं भी सदस्य चुना गया था। इसलिए मैं भी इस बैठक में शरीक हुआ। इस बैठक में विशेष कर इसी बात पर जोर दिया गया कि विदेशी वस्त्र-बहिष्कार का कार्य-क्रम पूरा होना चाहिए और इसके लिए चर्खा-प्रचार आवश्यक है।

बिहार से गांधीजी कलकत्ते होते आसाम चले गये। मैं बिहार में खादी-संगठन और चर्खा-प्रचार के लिए घूमने लगा। प्रान्तीय कमिटी ने इस काम के लिए कुछ

लोगों की एक समिति बना दी। सभी जिलों में इस काम के लिए कुछ लोग नियुक्त कर दिये गये। काम खूब जोरों से चलने लगा। सरकार अपनी ओर से चुप नहीं रही। उसको भय हो गया कि विदेशी कपड़ों की दूकानों पर पहरा बैठाया जायगा। काँग्रेस ने कपड़े के व्यापारियों से अनुरोध किया था कि वे विदेशी कपड़े का व्यापार छोड़ दें और जो विदेशी माल उनके पास मौजूद है उसे विदेशों में ही बेचने का प्रबन्ध करें—भारतवर्ष में यहीं के बने कपड़े ही बेचें। इसी निश्चय से डरकर बिहार-सरकार के नये प्रधान मंत्री (चीफ सेक्रेटरी) मिस्टर सिफ्टन ने एक दूसरी विज्ञप्ति निकाली, जिसमें जिला-अफसरों को प्रोत्साहन दिया गया कि वे विदेशी वस्त्र-सम्बन्धी प्रचार करें और जनता को यह बतावें कि विदेशी वस्त्र के बिना लोगों को बहुत कष्ट होगा—कपड़ा बहुत मँहगा हो जायगा। और, जहाँ कहीं काँग्रेसी लोग जोर लगावें, गिरफ्तार किये जायँ। पहले इस प्रकार की एक विज्ञप्ति चीफ सेक्रेटरी रेनी ने असहयोग के सम्बन्ध में निकाली ही थी। अब विदेशी वस्त्र को लेकर और भी जोरदार नीति की घोषणा सरकार ने कर दी। मालूम होने लगा कि एक न एक दिन मुठभेड़ हो ही जायगी। पर हम अपना काम दृढ़ता—किन्तु सहिष्णुता—के साथ करते गये। काम खूब जोरों से आगे बढ़ता गया।

गांधीजी आसाम का दौरा समाप्त करके कलकत्ता वापस आये। वहाँ फिर वर्किङ्ग कमिटी की बैठक हुई जिसमें शरीक होने के लिए मैं वहाँ गया।

३५—मोपला-विद्रोह और हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न

गांधीजी कलकत्ते से मद्रास की ओर चले गये। इसी यात्रा में उन्होंने कहीं पर लँगोटी पहनने की घोषणा कर दी। मौलाना महम्मदअली, जो यात्रा में साथ थे, वाल्टेयर स्टेशन पर गिरफ्तार कर लिये गये। वह दूसरे कई नेताओं के साथ—जिनमें मौलाना शौकतअली, डाक्टर किचलू, मौलाना हुसेन अहमद, मौलाना निसार अहमद, पीर गुलाम मजद्दिद और श्री भारती कृष्ण तीर्थ शंकराचार्य भी थे—कराची में, खिलाफत-कान्फ्रेन्स के भाषण तथा एक फतवे के प्रचार के लिए, कचहरी में पेश किये गये। इस मुकदमे ने भी देश में बड़ी खलबली पैदा कर दी। मौलाना महम्मद अली ने अपने बचाव में जो बयान दिया उसके कारण, तथा उन व्यक्तियों के व्यक्तित्व के कारण जो इसमें मुजरिम थे, यहाँ एक बड़ा महत्त्वपूर्ण मुकदमा हो गया। अन्त में श्री शंकराचार्य को छोड़कर सबकी सजा हुई।

इस पर वर्किङ्ग कमिटी की बैठक बम्बई में हुई और उसने आज्ञा दे दी कि जिस फतवे के लिए इन नेताओं को सजा मिली है वह सभी जगहों पर बड़ी-बड़ी सभाओं में दुहराया जाय। बम्बई में एकत्र वर्किङ्ग कमिटी के मेम्बरों और दूसरे नेताओं ने अपने हस्ताक्षर से एक एलान निकाला जिसमें वही बातें दुहरायी गयी थीं, जिनके लिए कराची का मुकदमा चला था। इस एलान पर मैंने भी दस्तखत किया था। सारे देश में अनगिनत सभाएँ हुईं। उनमें अनगिनत लोगों ने उक्त फतवे

को दुहराया। सरकार ने कुछ नहीं किया, हक्का-बक्का होकर रह गयी! जिस फतवे को केवल मुसलमान जानते थे वही फतवा इस प्रकार न मालूम कितने हिन्दुओं ने भी दुहराया और यह दिखला दिया कि वही काम जिसे अगर थोड़े लोग करें तो कानूनी जुर्म हो जाता है और यदि सारा देश संगठित रूप से करे तो जुर्म नहीं रह जाता। सत्याग्रह का यह एक सुन्दर नमूना देश के सामने पेश हो गया!

ठीक इसी समय बिहार-प्रान्तीय राजनीतिक कान्फ्रेंस की बैठक, बहुत धूम धाम से आरा में, मौलवी महम्मद शफी के सभापतित्व में हुई। मैं उसमें एक ही दिन शामिल हो सका; क्योंकि मुझे वर्किङ्ग कमिटी में भाग लेने के लिए बम्बई चला जाना पड़ा। फिर भी आरा में बहुत उत्साह रहा। साथ ही वहाँ प्रान्तीय खिलाफत-कान्फ्रेंस भी हुई, जिसमें बहुतेरे हिन्दुओं ने खिलाफत-फंड और सुमिरना-फंड के लिए रुपये जमा करने का वचन दिया और रुपये जमा भी हुए।

जब महात्माजी इसी सफर में थे, खबर मिली कि मालावार में मोपलों ने सरकार के खिलाफ बगावत कर दी है। शुरू में इस तरफ पूरी खबर नहीं पहुँच पाई, पर आहिस्ता-आहिस्ता खबर मिलने लगी। मौलाना महम्मदअली का वहाँ जाने का इरादा था जब वह गिरफ्तार कर लिये गये। महात्माजी भी जाना चाहते थे, पर उन्हें भी इजाजत नहीं मिली और वह रोक दिये गये। यदि वे लोग वहाँ जाने पाते तो शायद इस आन्दोलन का वह रूप नहीं होता जो हो गया अथवा जिसका इतना प्रचार किया गया। शुरू में मोपलों ने सरकारी कर्मचारियों और रेल तथा कचहरियों इत्यादि पर ही हमला किया; पर कुछ बाद खबर फैलने लगी कि उन्होंने हिन्दुओं पर भी आक्रमण करना शुरू कर दिया—उनको मारने तथा जबरदस्ती मुसलमान बनाने लगे! इस खबर से हिन्दुओं में काफी खलबली फैली। एक प्रकार से आपस के मनमुटाव का बीज-वपन भी हो गया। जो हिन्दू-मुस्लिम एकता एक प्रकार से स्थापित दीखती थी, वह इस एक घटना से ही हिलती हुई नजर आने लगी। कुछ हिन्दुओं के, और विशेष करके सरकार के, प्रचार से इसका काफी असर पड़ने लगा। पर अभी तक बात बहुत बिगड़ी नहीं थी। यदि कुछ महीनों के बाद दूसरी घटनाएँ, जिन्होंने हिन्दू-मुस्लिम दंगे का रूप धारण कर लिया, न हुई होतीं तो १९२१ के ऐक्य का दृश्य हमारे सामने आता ही रहता। पर होना कुछ और ही था!

गांधीजी का विचार है कि उन्होंने खिलाफत के सम्बन्ध में मुसलमानों की जो कुछ मदद की, वह ठीक ही किया। इसके लिए उनको आज तक तनिक भी पश्चात्ताप नहीं है। उन्होंने जो कुछ किया अथवा हिन्दुओं ने जो कुछ उनकी प्रेरणा से किया, वह उचित और न्याय्य था। जब एक घर में दो भाई रहते हों तो एक पर यदि किसी प्रकार की आपत्ति-विपत्ति आवे तो दूसरे का धर्म है कि उसकी सहायता करे। इसमें यह विचार करना नहीं चाहिए कि इस सहायता के बदले में विपद्ग्रस्त भाई सहायता देनेवाले के साथ क्या बर्ताव करेगा या इस उपकार को भूल जायगा। अपना कर्तव्य करना ही मनुष्य के लिए काफी होना चाहिए। उसकी जज़ा या बदले की

आशा बेकार है। इसके अतिरिक्त मैं समझता हूँ कि उन्होंने मुसलमानों की मदद कुछ देश के लिए स्वार्थबुद्धि से भी की थी; क्योंकि वह मानते थे कि हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य देशोद्धार के लिए आवश्यक है और इस सेवा द्वारा वह हिन्दुओं के लिए मुसलमानों से गोरक्षा की भी आशा रखते थे।

दूसरी ओर, कुछ लोगों का विचार है कि खिलाफत के आन्दोलन को, जो एक धार्मिक आन्दोलन था, इस प्रकार मदद देकर धार्मिक कट्टरपन को ही सहायता पहुँचायी गयी, जिसका नतीजा यह हुआ कि आम मुसलमान जनता में कट्टरता बढ़ी, जो समय पाकर इतनी भयंकर हो गयी कि सारे देश में—जैसे ही यह आन्दोलन कुछ कमजोर पड़ा—हिन्दू-मुस्लिम दंगे और फसाद शुरू हो गये। इतना ही नहीं, मुसलमानों में इतनी और जागृति आ गयी कि वह धार्मिक विषयों के अलावा राजनीति में भी अपना कट्टरपन दिखाने लगे। और, जब कुछ दिनों के बाद तुर्कों ने ही खलीफा को निकाल दिया, और इस प्रकार खिलाफत की जड़ ही कट गयी, तो यह जागृति पूरी तरह से भारतीय राजनीति में मुसलमानों को कट्टरपंथी बनाने में समर्थ हुई। यदि इतना ही होता तो कोई हर्ज नहीं था, पर यह कट्टरपन धार्मिक होने के कारण मुसलमानों में अपना राजनीतिक प्रभुत्व स्थापित करने की भावना पैदा करने लगा।

कोई भी क्रिया अपनी प्रतिक्रिया के बिना नहीं रहती। कट्टरपन हिन्दुओं में भी आने लगा। एक ओर से मुसलमानों ने तबलीग़—धर्म-परिवर्तन—के लिए जनता में प्रचार करना शुरू किया, तो दूसरी ओर हिन्दुओं ने शुद्धि और संगठन का बिगुल बजाया। सबका नतीजा यह हुआ कि आहिस्ता-आहिस्ता मनमुटाव बढ़ता गया। आज दोनों के बीच में एक बहुत चौड़ी और गहरी खाई-सी पैदा हो गयी है, जिसका इस समय किसी तरह पटना या पार करना बहुत मुश्किल हो रहा है। ब्रिटिश सरकार इस मौके पर कैसे चूक सकती थी। वह समय-समय पर अपनी कूटनीति से काम लेने से बाज नहीं आयी। वह छोटी चिनगारी को चतुरता से बराबर फूँकती गयी। अब भी, जब वह एक ज्वाला का रूप धारण कर चुकी है, वह उसमें घी डालने से बाज नहीं आती!

यहाँ पर मैंने थोड़े शब्दों में एक लम्बी कहानी कह डाली। ऐसा न समझा जाय कि मैंने जो कुछ लिखा है वह सब कुछ १९२१ में ही हो गया। उस समय किसी तरह जमीन पर बीज गिर गया, जिसको शायद बहुतेरों ने गिरते देखा भी नहीं, अगर देखा भी तो उसे इतना महत्त्व नहीं दिया, क्योंकि बावजूद मोपला-विद्रोह के सारे देश में अभी तक ऐक्य ही ऐक्य देखने में आता था जिसका सबसे उज्ज्वल प्रमाण उन सभाओं में मिला जो फतवा दुहराने के लिए सारे देश में की गयीं तथा जिसकी पुष्टि युवराज के आने पर देश ने सर्वव्यापी बहिष्कार द्वारा की।

यहाँ इन दो विचार-धाराओं के सम्बन्ध में इतना ही कह देना चाहता हूँ कि लोगों के दृष्टिकोण में बड़ा अन्तर है। मुसलमान चाहे जिस तरह से भारत में

आये हों और चाहे जिस तरह उनकी संख्या बढ़ी हो, आज वे हिन्दुस्तान के वैसे ही निवासी हैं जैसे हिन्दू। उनके लिए भी कोई दूसरा देश नहीं है। उनकी सहानुभूति दूसरे देशों के मुसलमानों के साथ भले ही हो, और बहस के लिए यह भी मान लिया जाय कि उनको यदि इस बात के चुनने का मौका मिले कि वे किसी विपत्ति-काल में अपने पड़ोसी गैर-मुस्लिमों को छोड़कर दूरवर्ती विदेशी मुसलमानों के साथ ही अपनी सहानुभूति रखेंगे और अधिक करके दिखलायेंगे, तो भी इससे इनकार नहीं किया जा सकता कि इसी देश के अन्दर उनको भी मरना-जीना, सुख-दुख पाना और जिन्दगी के सभी अरमान पूरे करना तथा मुसीबतें झेलना है। मरने के बाद भी वे देश के कुछ हिस्से पर कब्जा जमाये रखते हैं। हिन्दू मरने के बाद जला दिया जाता है और उसके पांचभौतिक शरीर का निशान कहीं नहीं रह जाता, जो थोड़ी-बहुत राख के रूप में रह जाता है उसे भी वायु उड़ा ले जाती है अथवा पानी बहा ले जाता है! पर मुसलमान तीन-चार हाथ जमीन लेकर स्थायी रूप से यहाँ की धरती पर पड़ा रहता है। यह बात कौन नहीं जानता कि इन कब्रों के कारण कितने झगड़े हुआ करते हैं। इसलिए हमको यह मान लेना ही पड़ेगा कि हम मुसलमानों को इस देश में गैर नहीं समझ सकते।

अब प्रश्न यह होता है कि मुसलमान यदि गैर नहीं हैं तो उनका भी इस देश के साथ वही सम्बन्ध है जो और किसी का; इसलिए उनको भी यहाँ की सभी चीजों में हिस्सा मिलना चाहिए। राजनीतिक अधिकार के बँटवारे में भी उनका हिस्सा न्याय्य है। उससे इनकार करने का एक ही अर्थ है, और हो सकता है, वह अर्थ यह है कि उनको दबाकर उन अधिकारों से वंचित रखा जाय।

जो बातें मुसलमानों के सम्बन्ध में कही गयी हैं वही बातें सभी मत, धर्म और विचारवालों के लिए लागू हैं। जिस देश में इतनी जातियाँ, इतने धर्मवाले, इतनी भाषाओं के बोलनेवाले, इतने मत-मतान्तर के माननेवाले बसते हों, वहाँ आपस की एकता में यदि स्थायित्व न हो, तो पारस्परिक विश्वास और प्रेम की नींव पर शान्ति कभी स्थायी नहीं हो सकती। जो जब चाहेगा, दूसरों को दबा सकेगा, अपना प्रभुत्व स्थापित कर लेगा; पर दबे हुए लोग फिर उठ खड़े होने के प्रयत्न में ही लगे रहेंगे—न खुद शान्त रहेंगे और न दूसरों को शान्त रहने देंगे। आज जो दृश्य इस पृथ्वीव्यापी महायुद्ध में हम टकराती हुई शक्तियों में देख रहे हैं वही दृश्य कुछ छोटे पैमाने पर हिन्दुस्तान में बराबर ही बना रहेगा। यह कोई बुद्धिमत्ता अथवा दूरदर्शिता का परिचायक नहीं है। हम आज के इस भयंकर संहार को देखते हुए भी यदि इस रहस्य को न समझें, और इस देश को उसी प्रकार के संहार से बचाने के उपाय न सोचें, तो यह हमारे लिए लज्जा और दुख तथा हँसी की बात होगी। गांधीजी ने इसी विचार-धारा के अनुसार शुरू से ही अहिंसा पर जोर दिया है, जिसकी आवश्यकता भारत-जैसे देश के लिए सबसे ज्यादा है।

अहिंसा का तत्त्व बहुत गहन है। इसको जीवन में उतारना बड़ा ही कठिन

है। इसको ठीक न समझने के कारण ही कुछ लोग इसकी शक्ति और मर्य्यादा की हँसी उड़ाते हैं। वे कहते हैं कि इसके द्वारा आदमी कायर हो जाता है—आज तक संसार में किसी देश ने इसे अपने राष्ट्रीय कार्य-क्रम में स्वीकार नहीं किया है। लोग कहते हैं कि इसके द्वारा देश की स्वतंत्रता की रक्षा नहीं हो सकती। मामूली जन-साधारण की कौन कहे, बड़े-बड़े समझदार और संयमी पुरुष भी क्रोध को नहीं रोक सकते। क्रोध ही तो हिंसा का जन्मदाता अथवा दूसरा स्वरूप है। इसलिए यह नीति कभी प्रचलित नहीं हो सकती। यह अव्यवहार्य है। इत्यादि।

इस विषय पर विचार करते समय पहली बात यह मान लेनी चाहिए कि हिंसा में कायरता है, अहिंसा में नहीं। जहाँ कायरता आ गयी वहाँ अहिंसा रह नहीं सकती। हम यदि अपने प्रतिपक्षी से डरते हैं और उस डर से उसका नुकसान नहीं करना चाहते हैं तो इसमें अहिंसा कैसे हो सकती है? प्रतिपक्षी को क्षति न पहुँचाने की प्रवृत्ति डर के कारण है न कि इसलिए कि नुकसान पहुँचाना बुरा है। जो मनुष्य इस तरह डर के मारे नुकसान नहीं पहुँचाता, उसको यदि आज मौका मिल जाय, किसी तरह दूसरे के बल का सहारा भी मिल जाय और उसका भय दूर हो जाय, तो वह निःसंकोच और अविलम्ब प्रतिपक्षी पर वार कर देगा; उससे जहाँ तक हो सकेगा उसकी क्षति करेगा। यह अहिंसा कदापि नहीं है। अहिंसा उसी में रह सकती है जो यह महसूस करता है कि क्षति पहुँचाना ही बुरा है, दूसरे को दुख देना अन्याय है और इसी विश्वास से वह दुख पहुँचाने से हिचकता है। उसकी यह प्रवृत्ति उसकी क्षति पहुँचाने की शक्ति पर निर्भर नहीं रहती। उसको यदि शक्ति न भी हो और वह इस भावना से प्रेरित होकर क्षति पहुँचाने का विचार तक न करे, तो भी उसकी प्रवृत्ति अहिंसात्मक होगी। और, यदि शक्ति होते हुए भी वह क्षति पहुँचाने में प्रवृत्त नहीं होता, तो उसके अहिंसात्मक होने में किसी को सन्देह ही नहीं हो सकता। जब मनुष्य इस प्रकार और इस भावना से प्रेरित होकर दूसरे को कष्ट नहीं देना चाहता, तो इसके साथ-साथ उस पर यदि प्रतिपक्षी कुछ ज्यादती और जुल्म भी करता हो, तो उसे सहने की शक्ति उसमें होनी ही चाहिए। यदि कोई किसी अन्याय को इसलिए सह लेता है कि ऐसा यदि न किया जाय तो अन्यायी और भी अधिक कष्ट पहुँचा सकता है और इसलिए मन मारकर उसे सह लेना ही ठीक है, तो यह अहिंसात्मक प्रवृत्ति नहीं है, यह कायरता है। अहिंसात्मक प्रवृत्ति वह है कि हम जो ठीक और न्याय-संगत समझते हैं उसको करते ही जायँगे—निर्भय होकर अपने कर्त्तव्य पर डटे रहेंगे और अन्यायी चाहे जितना भी जुल्म करना चाहे कर ले, पर हम कर्तव्य-च्युत नहीं होंगे और अन्यायी से बदला लेने की भावना से उत्तेजित होकर उसके साथ कोई बलप्रयोग न करेंगे। जहाँ इस प्रकार अपने निर्धारित पथ से हम नहीं हटते, अपने पथ पर डटे रहने के कारण जो भी जुल्म अन्यायी करता है उसे सह लेते हैं और साथ ही उसे कष्ट नहीं पहुँचाते, तो सच्चे अहिंसात्मक मनुष्य का-सा हमारा बर्ताव होता है। इससे स्पष्ट है कि अहिंसात्मक क्रिया में काय-

रता नहीं है। उसमें कष्ट सहने से डर नहीं है। यह तभी हो सकता है जब अपने पक्ष के न्याययुक्त होने में पूरा विश्वास हो, उसके समर्थन के लिए दृढ़ संकल्प हो और विपक्षी को कष्ट न पहुँचाने का पक्का विचार हो। अन्त में अहिंसात्मक व्यक्ति की ही विजय होती है।

यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार की सहनशक्ति मनुष्य में, विशेष करके जन-साधारण में, पैदा करना मुश्किल है तो इतना ही कहना काफी होगा कि जो लोग लड़ाई में अस्त्र-शस्त्र से लड़ते हैं उनमें भी तो साधारण श्रेणी के ही लोग रहते हैं जिनको अगर यों ही छोड़ दिया जाय तो उतनी बहादुरी नहीं दिखला सकते जो वे रणभूमि में दिखलाते हैं। केवल अभ्यास और अध्यवसाय की जरूरत है। फौज के सिपाही की बहादुरी भी अभ्यास द्वारा ही पैदा की जाती है। पर वह बहादुरी भय पर अवलम्बित है—प्रतिपक्षी को मारना ही चाहिए, नहीं तो वह मार डालेगा! प्रतिपक्षी द्वारा मारे जाने का भय ही एक अत्यन्त जबरदस्त कारण बहादुरी का होता है। और, इनके अलावा, सभी संगठित सेनाओं में अनुशासन का भी भय तो रहता ही है। जो बात तुलसीदासजी ने मारीच के सम्बन्ध में कही है वह यहाँ भी लागू होती है—"उभय भाँति देखा निज मरना"! तब मनुष्य एक प्रकार से स्वभावतः बहादुरी करने लगता है। यह बहादुरी बहुत अभ्यास से आती है। अहिंसात्मक बहादुरी भी इसी तरह अभ्यास चाहती है।

अहिंसात्मक अभ्यास दूसरे प्रकार का होता है। फौज में दिन प्रति दिन कवायद, कसरत, क्रूरता-पूर्ण शिकार इत्यादि कराये जाते हैं। अहिंसात्मक अभ्यास इससे बिलकुल भिन्न है। उसका साधन, यदि एक शब्द में कहना चाहें तो, बस संयम है। यहाँ संयम व्यापक अर्थ में उन तमाम नियमों के लिए व्यवहृत किया गया है जिनका जिक्र हिन्दुओं के तथा दूसरे धर्मों के धर्मग्रन्थों में पाया जाता है। वे साधारण सदाचार के नियम सख्ती से पालन करके सीखे जाते हैं। इन सब नियमों का झुकाव अहिंसा और सत्य की ओर ही होता है। गांधीजी ने बारबार लिखा है कि ईश्वर पर विश्वास इसका एक बहुत बड़ा सहायक होता है। यदि इस अहिंसात्मक प्रवृत्ति को जाग्रत और पुष्ट करने में समय लगाया जाय, बचपन से ही अभ्यास कराया जाय और इस पर पूरा ध्यान दिया जाय, तो निर्भयता इत्यादि जो इसके मुख्य बाह्य रूप देखने में आते हैं, अवश्य ही प्राप्त किये जा सकते हैं। यह कहना कि यह मनुष्य के लिए संभव नहीं, बे-बुनियाद बात है।

एक समय था जब सभी देशों में जनता में से थोड़े ही लोग लड़ने का पेशा किया करते थे अथवा अपना धर्म समझा करते थे और साधारण जन-समूह फौज और लड़ाई से अलग रहा करता था। भारत में युद्ध क्षत्रियों का ही धर्म समझा जाता था। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट भी भारतवर्ष में कुछ विशेष जाति वा प्रदेश के लोगों को ही लड़ाकुओं में गिना करती थी और उनमें से ही फौज में लोग भर्ती हुआ करते थे। पर आजकल के विध्वंसकारी महायुद्ध ने यह साबित कर दिया कि युद्ध के लिए सभी लोग

तैयार किये जा सकते हैं और जिस देश ने इस मर्म को जितना जल्द समझा और लोगों को युद्ध-शिक्षा देने का जितना अच्छा सुप्रबन्ध किया वह उतना ही शीघ्र और अधिक तैयार हो गया। हिन्दुस्तान में भी इस महायुद्ध में वही बंधन भर्ती में रहे जो पहले रहा करते थे और उन जातियों तथा प्रदेशों में भी काफी भर्ती हुई है जो पहले लड़ाकू नहीं समझे जाते थे। यह स्पष्ट है कि जिस तरह, आज की सेना सभी श्रेणियों और बिभागों के लोगों से बनी है और बहादुरी के साथ लड़ी है उसी तरह अहिंसा-त्मक सेना भी जन-साधारण से तैयार की जा सकती है, बलकि इस अहिंसात्मक सेना की भर्ती के लिए क्षेत्र और भी अधिक विस्तृत हो सकता है। सशस्त्र सेना में शारीरिक ताकत आवश्यक होती है और इसलिए बूढ़े, कम उम्र के बच्चे और बहुत अंश में स्त्रियाँ उसके योग्य नहीं समझी जातीं। अहिंसात्मक सेना में बूढ़े, बच्चे, स्त्रियाँ और यहाँ तक कि अंधे, लूले, लँगड़े भी शरीक हो सकते हैं; क्योंकि इसमें वह शारीरिक शक्ति इतनी आवश्यक नहीं है—मानसिक दृढ़ता और आत्मबल ही काफी हैं।

अहिंसात्मक क्रिया का एक बहुत महत्त्व-पूर्ण फल यह है कि इसमें जो शरीक होता है वही अपने ऊपर आपत्ति बुलाता है। दूसरे अगर प्रतिपक्षी भी हों तो भी कष्ट और मुसीबत के भागी नहीं होते; क्योंकि दूसरों को कष्ट पहुँचाना इसको इष्ट नहीं होता और न उस कष्ट द्वारा यह अपना कार्य-साधन ही करना चाहती है। इसका उद्देश्य तो प्रतिपक्षी को भी अपने बश में कर लेना होता है, और वह बल-प्रयोग से नहीं, अपने प्रेम के प्रयोग से और प्रतिपक्षी में भी उसी प्रकार की भाव-नाओं को जाग्रत करके। इसलिए अहिंसात्मक क्रिया में कम से कम कष्ट होता है। जहाँ बल-प्रयोग है वहाँ दोनों पक्षों पर मुसीबत होती है। इसमें केवल एक पक्ष अपने ऊपर मुसीबत लेता है। कष्ट की मात्रा इस तरह यों ही आधी हो जाती है। पर यह मात्रा आधी से भी कहीं अधिक कम होती है; क्योंकि जहाँ विपक्षी बल-प्रयोग से कष्ट नहीं पहुँचाता वहाँ दूसरे के भी हाथ कमजोर पड़ जाते हैं और हथियार भोथरे हो जाते हैं। बाहु में बल-प्रयोग की शक्ति आन्तरिक क्रोध से बढ़ती है और वह क्रोध बल-प्रयोग द्वारा प्रतिकार से जितना जाग्रत होता है उतना अहिंसात्मक प्रतिकार से नहीं होता है। इसलिए यदि दोनों पक्षों के कष्टों और मुसीबतों का लेखा लिया जाय तो इसमें सन्देह नहीं कि अहिंसात्मक क्रिया में कष्ट की मात्रा बहुत ही कम हो जाती है।

अहिंसात्मक क्रिया में किसी विशेष साधन की आवश्यकता नहीं होती। आज के युद्ध में नित्य नये अस्त्र-शस्त्रों का आविष्कार और प्रयोग होता रहता है। आज जितना धन खर्च हो रहा है उसके आँकड़े बुद्धि को चकरा देते हैं। अमेरिका ने इस युद्ध में प्रायः ५५ करोड़ रुपये प्रतिदिन खर्च किये हैं और इँगलैंड ने प्रायः १५-१६ करोड़ रुपये। गरीब भारतवर्ष ने भी एक करोड़ प्रतिदिन खर्च किया है। दूसरे देशों का पता नहीं। पर रूस और चीन के खर्च का भी कुछ इन्हीं आँकड़ों से अन्दाज लगाया जा सकता है। इन राष्ट्रों के प्रतिद्वन्द्वी जर्मनी, इटली और जापान कितना

रोजाना खर्च करते रहे, उसका भी हम इसी से अनुमान कर सकते हैं। इन आँकड़ों में जो खर्च हुआ है वही बताया गया है। दुश्मन की कार्रवाई से जो प्रतिदिन नुकसान पहुँचाया गया है उसका हिसाब शायद इसमें नहीं है। इसी प्रकार मनुष्यों की हत्या भी बेहिसाब हुई है। और, युद्ध से पैदा हुई उन मुसीबतों और कष्टों का तो कोई हिसाब ही आँकड़ों के रूप में नहीं कहा जा सकता जो उन देशों की जनता को सहने पड़े हैं जो लड़ाई में शरीक थे, और कुछ हद तक उन देशों को भी जो लड़ाई में शरीक नहीं थे। इसके विपरीत अहिंसात्मक क्रिया में बाह्य पदार्थों की कोई विशेष आवश्यकता नहीं है और जन-साधारण के जीवन-क्रम में कोई विशेष गड़बड़ी भी आवश्यक नहीं है। इस तरह से कष्ट, धन का खर्च, मानव-रक्त का खर्च और जन-समूह की मुसीबतें—सभी बातें अहिंसात्मक क्रिया में बहुत ही कम, नहीं के बराबर, हो जाती हैं, जहाँ बल-प्रयोग में वे इतना ज्यादा होती हैं कि उनका हिसाब ही नहीं लगाया जा सकता है। इसलिए गरीब देश भी इसका प्रयोग आसानी से कर सकता है और बड़े से बड़े शक्तिशाली देश का मुकाबला कर सकता है।

यह तो हुआ अन्तर्राष्ट्रीय कामों में अहिंसा का महत्त्व। जहाँ एक ही देश में विभिन्न धर्मों के माननेवाले, विभिन्न भाषाएँ बोलनेवाले और विभिन्न विचार रखनेवाले बसते हैं वहाँ तो यदि हिंसा की शरण ली गयी तो वहाँ की जनता एक दिन भी चैन से नहीं रह सकती। अगर भारतवर्ष के लोग आपस में भाईचारे का बर्ताव न करें, एक दूसरे के प्रति सहिष्णुता न बर्तें और अपने स्वत्वों को ही मुख्य समझकर दूसरों से उनको मनवाने में संलग्न रहें तथा दूसरों के प्रति अपने कर्तव्यों को गौण समझकर उनके पालन के सतत प्रयत्न में न लगे रहें, तो इसका नतीजा दिन-दिन खूनखराबी बढ़ने के सिवा दूसरा हो ही नहीं सकता। जहाँ तक एक व्यक्ति की हिंसात्मक प्रवृत्ति का सम्बन्ध दूसरे एक व्यक्ति से होता है वहाँ तक तो देश की स्थापित राष्ट्र-शक्ति अपनी पुलिस और अदालतों द्वारा उसका नियंत्रण कर सकती है। पर जब वह प्रवृत्ति जन-समूह तक पहुँच जाती है और देश के विभिन्न विभाग एक दूसरे से टकराने लगते हैं, तो पुलिस और कचहरियाँ बेकार हो जाती हैं। और इस झगड़े का रूप गृहयुद्ध (Civil War) का हो जाता है। इससे बचने के लिए अहिंसात्मक क्रिया पर भरोसा करने के सिवा दूसरा कोई रास्ता भारतवर्ष-जैसे देश के लिए नहीं हो सकता।

इस सम्बन्ध में एक और बात स्मरण रखने योग्य है। जब हिंसा-अहिंसा की बात हम करने लगते हैं और यह कह बैठते हैं कि हिंसा तो हमारी नस-नस में भरी है, हम कैसे आशा करें कि उत्तेजन के समय साधारण मनुष्य और विशेष करके साधारण जन-समूह अहिंसात्मक रह सकेंगे, तो ऐसा कहते समय हम भूल जाते हैं कि यदि किसी व्यक्ति या समूह के जीवन की रोजाना कार्रवाइयों को देखा जाय, तो हम पावेंगे कि इन सबमें शायद ही एक-दो ऐसे काम होते होंगे जिनमें हिंसा का प्रयोग किया जाता होगा। १०० में प्रायः ९९ काम ऐसे ही बिना बल-प्रयोग और बिना

हिंसात्मक क्रिया के होते हैं, और उन एक या दो प्रतिशत परिस्थितियों पर भी काबू कर लेना तथा हमेशा अहिंसात्मक क्रिया को ही बर्तना कुछ असम्भव नहीं होना चाहिए। हाँ, प्रयत्न के बिना हमारी जिन्दगी जंगली जानवरों से भी बुरी हो सकती है।

चम्पारन में गांधीजी ने कहा था कि नीलवरों का मैं बुरा नहीं चाहता हूँ; पर साथ ही उनके द्वारा जो जुल्म, ज्यादती और अन्याय रैयतों पर होते हैं उनको बन्द कराऊँगा और दोनों का मित्र बना रहूँगा। कुछ ऐसा ही हुआ भी। कारण, सब कुछ हो जाने के बाद उन्हीं नीलवरों ने गांधीजी को पाठशाला खोलने और दूसरे प्रकार से रैयतों की उन्नति के कामों में सहायता देने का वचन भी दिया था। थोड़ी-सी सहायता कुछ लोगों से मिली भी थी। पर गांधीजी देश के दूसरे काम में लग गये और यह काम आगे न बढ़ सका। थोड़े दिनों तक तीन पाठशालाएँ चलीं। पर कुछ दिनों के बाद पाठशालाएँ बन्द हो गयीं। एक के सिवा दो पाठशालाओं का नीलवरों के साथ अच्छा और मीठा अनुभव रहा।

यही बात अँगरेजी सल्तनत के साथ भी बड़े पैमाने पर हो सकती है यदि देश ने अहिंसा के रास्ते को मजबूती से पकड़ रक्खा। पर आज संसार में प्रलयंकर युद्ध के बाद भी जिसने बलप्रयोग को पराकाष्ठा तक पहुँचा दिया है और यह साबित कर दिया है कि मनुष्यमात्र को यदि जीवित रहना है और सभ्यता को कायम रहना है, तो कोई न कोई ऐसा रास्ता निकालना चाहिए जिसमें राष्ट्रों को हर बीस-तीस वर्ष पर अपने युवकों को कटवाना न पड़े, माताओं को केवल मारे जाने के लिए ही बच्चे न जनने पड़ें और धन-राशि केवल अग्नि द्वारा जलाये जाने अथवा समुद्र के पेट में डुबाये जाने के लिए ही पैदा न की जाय। मैं देखता हूँ कि हमारे देश का, कांग्रेसियों का और उन कार्यकर्त्ताओं का भी—जिन्होंने अहिंसा के सहारे से ही आज तक काम किया है और राष्ट्रीय काम में सफलता भी पायी है—उस अहिंसा पर विश्वास कम होता जा रहा है।

हिन्दू-मुस्लिम एकता के विषय में भी बहुतेरे कह बैठते हैं कि यह केवल शक्ति से ही स्थापित हो सकती है, भाई-चारे से नहीं—अर्थात् जोर-आजमाई करके एक को दबा रखना जरूरी है। कुछ मुसलमान सोचते हैं कि आज से कहीं कम संख्या में रहते हुए भी हमने प्रायः सारे हिन्दुस्तान पर सैकड़ों बरसों तक राज किया है, तो फिर आज भी कर सकते हैं। उसी तरह हिन्दू भी कुछ ऐसे जरूर हैं जो कहते हैं कि हमारी संख्या इतनी अधिक है; हम विद्या, धन और बल में किसी तरह मुसलमानों से कम नहीं हैं, बल्कि बढ़े हुए हैं, और अब वे दिन लद गये जब थोड़े-से मुसलमानों ने—हिन्दुओं में जागृति न होने के कारण—राज किया था; अब हिन्दू-जाति जाग्रत है और संगठित होती जा रही है, [देश हिन्दुओं का था, दूसरे लोग तो केवल एक अल्प-संख्यक जाति-मात्र हैं; इसलिए यहाँ अधिकार हिन्दुओं का ही होना चाहिए—हाँ, मुसलमान तथा सभी दूसरे अल्पसंख्यक लोगों के साथ पूरा-पूरा न्याय होना चाहिए।

ये दोनों दल अपने बल पर ही भरोसा रखते हैं। अहिंसा की बात, जो एक-मात्र इस कठिन समस्या के सुलझाने का साधन है, ये बिलकुल भूल जाते हैं। क्रिया और उसकी प्रतिक्रिया साधारण नैसर्गिक नियम है। हिंसात्मक क्रिया की प्रतिक्रिया हिंसात्मक होती है और अहिंसात्मक क्रिया की प्रतिक्रिया अहिंसात्मक। इसलिए इस हिन्दू-मुस्लिम-समस्या के सुलझाने में यदि हम हिंसात्मक भावना से काम लेकर हिंसात्मक क्रिया पर उतरे, तो सुलझाने के बदले यह अधिक उलझती जायगी। हाँ, हमारी क्रिया सच्चे अर्थ में अहिंसात्मक होनी चाहिए। उसमें न क्रोध होना चाहिए, न बल-प्रयोग— न डर होना चाहिए, न कायरता। सत्य और न्याय पर भरोसा और निष्ठा तथा सच्ची अहिंसात्मक क्रिया का ही प्रयोग। हो सकता है कि इस प्रकार की अहिंसात्मक क्रिया का फल शीघ्र और सभी स्थानों पर देखने में न आवे; पर यदि हमारी क्रिया आत्मविश्वास और सचाई और बहादुरी पर अवलम्बित होगी—आत्मलाघव और डर तथा कायरता पर नहीं, तो इसकी विजय अवश्यम्भावी है।

मैं हिन्दू-मुस्लिम-समस्या की बात लेकर अहिंसा-सम्बन्धी बातें बहुत कुछ लिख गया। यह विवेचन कहीं न कहीं आनेवाला था ही। यदि यहीं आ गया, तो ठीक ही हुआ।

३६—छपरे की भयंकर बाढ़

उस साल आश्विन के महीने में छपरा-जिले में एक दिन बहुत पानी बरसा। २४ घंटो में प्रायः ३६ इंच वर्षा हुई। इसका नतीजा यह हुआ कि सारा जिला जल-प्लावित हो गया और भयंकर बाढ़ आ गयी। मेरे भाई साहब जन-सेवा में बराबर लगे रहते थे। इस मौके पर उन्होंने लोगो के सहायतार्थ बहुत परिश्रम से काम किया।

छपरा नगर में इस बाढ़ से लोगों को बहुत कष्ट उठाना पड़ा था। पर इसके साथ ही साथ एक बात और देखने में आयी जिसका उल्लेख अनुचित न होगा। स्थानीय सरकारी कर्मचारियों ने जनता की मुसीबत में बड़ी उदासीनता और उपेक्षा से काम लिया, जिससे लोगों में बड़ा रोष पैदा हुआ। अखबारों में खबर छपी कि जिस समय लोग पानी के मारे त्राहि-त्राहि कर रहे थे, कुछ अफसर नावों पर चढ़कर झिरझिरी खेल रहे थे। डूबते और परेसान लोगों की, यहाँ तक कि स्त्रियों और बच्चों को भी बचाने में, उनमें से बहुतेरों ने कुछ भी सहायता नहीं की; बल्कि वहाँ के अँगरेज जज और बंगाली सबजज ने मदद की, पर कलक्टर और पुलिस के अफसर तथा डिप्टी मजिस्ट्रेट टस से मस नहीं हुए। इस बात को लेकर छपरे में सार्वजनिक सभा हुई जिसमें खुले आम उनकी निन्दा की गयी और मदद करनेवालों की— विशेष करके बाबू महेन्द्रप्रसाद और काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओं की—बड़ी प्रशंसा की गयी तथा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट की गयी।

दिहातों का भी हाल यही था। एक जगह एक बात मजाक की भी हो गयी। छपरे में मशरक से जो रेल की लाइन आती है उसे काटने के लिए लोगों

ने कलक्टर से बहुत कहा; पर उन्होंने एक न सुनी। पीछे वह लाइन टूट गयी। अथवा, जैसा मैंने पीछे सुना, किसी ने उसे थोड़ा-सा काट डाला और पीछे पानी के जोर ने ज्यादा काटकर एक बहुत लम्बा चौड़ा खंदक बना दिया। इसी सिलसिले में दो घटनाएँ उल्लेखनीय हैं। सीवान से पच्छिम एक जगह पानी बहुत जमा हो गया था। गाँववालों ने रेलवे-लाइन काट डालना चाहा; पर सशस्त्र पुलिस का पहरा था। पहले उनकी हिम्मत नहीं पड़ी, कष्ट सहते ही गये। पर जब वह बर्दाश्त के बाहर हो गया तो एक गाँव के दो-चार आदमी कंधे पर कुदाल रखकर पानी में तैरते हुए लाइन की ओर आये। पुलिसवालों ने देखा और उनको धमकाया। उन्होंने जवाब दिया—"पानी में डूबकर हम मर रहे हैं और तुम लाइन नहीं काटने देते। अब तक हमने बर्दाश्त किया, अब नहीं बर्दाश्त कर सकते। मरना दोनों हालत में है, डूब करके मरें वा गोली खाकरके मरें। हमने निश्चय कर लिया है कि गोली खाकर मरना बेहतर है। इसलिए हम लाइन काटेंगे, तुम गोली मारो"

यह कहकर वे लाइन काटने लगे। पुलिस की हिम्मत नहीं पड़ी कि वह गोली चलावे। लाइन कट गयी। पानी बह निकला और कितने ही गाँव बच गये। सुना कि पुलिसवालों ने रिपोर्ट कर दी कि पानी से लाइन बह गयी, किसी ने काटा नहीं। वहाँ अब एक बड़ा पुल हो गया है। तब से लाइन के उत्तर के गाँवों में पानी रुक जाने के कारण अब बाढ़ नहीं आती।

दूसरी घटना दरौली थाने के अन्दर के किसी गाँव की है। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की सड़क ऊँची है। इसलिए सड़क पानी को रोक देती है, जैसे रेलवे-लाइन रोक देती है। गाँववालों ने थाने के दारोगा से जाकर कहा कि सड़क कटवा दीजिए तो बहुतेरे गाँव बच जायँ। उन दिनों गाँव-गाँव में काँग्रेस-कमिटियाँ बन गयी थीं। थाना-भर के सब गाँवों को मिलाकर थाना-कमिटी बनी थी। थाना-कमिटी के मुख्य कार्यकर्ता, चाहे वे थाना-कमिटी के सभापति हों अथवा मंत्री, 'स्वराजी दारोगा' कहलाया करते थे। लोगों ने यह नाम न मालूम कैसे दे दिया था; पर यह बहुत जगहों में प्रचलित हो गया था। सरकारी दारोगा ने मजाक में कहा—मेरे पास क्यों आये हो, 'स्वराजी दारोगा' के पास क्यों नहीं जाते। छपरे में भी किसी उच्चपदाधिकारी ने ऐसा ही कहा था कि मदद के लिए मेरे पास क्यों आते हो, गांधी के पास जाओ। छपरावालों ने भी गांधी—अर्थात् काँग्रेसवालों—से मदद पायी थी। दरौली थाने के देहाती लोग भी थाना-मंत्री के पास गये और दारोगा के साथ हुई बात कह सुनाई। उन्होंने सुनकर कहा—अच्छा, अगर दारोगा ने ऐसा कहा है और मेरे पास भेजा है, तो मैं कहता हूँ, जहाँ तुम जरूरी समझो, सड़क काट डालो, जिसमें पानी बह जाय; पर इसका ध्यान रखना कि बिना जरूरत सड़क न बिगाड़ना। लोगों ने वैसा ही किया। सड़क काटकर पानी बहा दिया।

मैं भी सहायता के काम में जुट गया। पर मैं जब पहुँचा, छपरा शहर से पानी हट गया था। गोलेदारों के गोलों में जो अन्न पानी में पड़कर सड़ गया था,

उसकी दुर्गन्ध से उन मुहल्लों में चलना मुश्किल हो रहा था। मैंने पैसे जमा करने में और दूसरी तरह से सहायता के काम में कुछ भाग लिया। वह प्रवृत्ति पहले से ही थी। १९१४ की बाढ़ में मैंने कलकत्ते से ही सहायता देने का काम संगठित रूप से आरम्भ किया था। यह प्रवृत्ति गांधीजी के संसर्ग से और भी कुछ दृढ़ हो गयी थी। जब कभी अपने प्रान्त में कहीं भी बाढ़ आयी, तो मैं कुछ न कुछ सहायता का प्रबन्ध करने का प्रयत्न करता था। १९२३ में शाहाबाद में सोन की भयंकर बाढ़ आयी। मैं उस समय झण्डा-सत्याग्रह के काम से नागपुर गया था। खबर पाते ही वहाँ से चला आया। इसी तरह दरभंगा-जिले के मधुवनी-सबडिवीजन में भयंकर बाढ़ आयी। वहाँ भी सहायता के लिए जाना पड़ा था। इन सभी जगहों में बड़ी कठिनाइयों का भी सामना करना पड़ता था। आरे में बहुत मुश्किल से पहुँच पाया था, क्योंकि कोइलवर और आरे के बीच में रेल की लाइन—जो बहुत ऊँची बनी है—एकदम टूट गयी थी, उसके बाँध में एक-एक जगह १५०-२०० फुट चौड़ी कई खाइयाँ बन गयी थीं। नीचे का रास्ता तो बिलकुल जलमग्न था ही। रेल की पटरी के नीचे का बाँध तो कट गया था; पर ऊपर लोहे की पटरी और कहीं-कहीं काठ की पटरियाँ भी, जिन पर लोहे की रेल जड़ी रहती है, लटकती थीं। नीचे कहीं जोरों से पानी बह रहा था, तो कहीं कुंड बन गया था जिसमें बहुत गहरा पानी जमा था। इन खाइयों को पार करने का एक ही साधन था—उन पटरियों पर किसी तरह चलकर या लटक कर पार करना। मेरे साथ प्रोफेसर अब्दुलबारी थे। हम दोनों इन पटरियों पर कहीं लम्बे होकर चौपाये की तरह, कहीं हाथों से इन्हें पकड़ कर, नीचे लटकते हुए बन्दरों की तरह, खाइयों को पार करके आरा पहुँचे। वहाँ जाकर सहायता का काम संगठित किया। इन अवसरों पर रुपयों की कमी नहीं होती थी। अपील करने से लोग पैसे भेज देते। विशेष करके गांधीजी के सम्पर्क के कारण गुजराती भाइयों की कृपा रहती थी। बम्बई और गुजरात से पैसे आ जाया करते थे। सेठ जमनालाल जी बजाज का भी हमेशा खयाल रहा करता था। प्रायः सभी जगहों में नावों पर चढ़कर दूर-दूर तक जाना पड़ता था; क्योंकि दूसरी कोई सवारी जा नहीं सकती थी। मधुवनी के इलाके में एक जगह 'कमला' नदी को नाव पर पार करना पड़ा था। धारा का वेग बहुत तेज था। बहुत मुश्किल से नाव उस पार पहुँच सकी थी।

सभी जगहों में, चाहे छपरा में, चाहे शाहाबाद में, चाहे दरभंगा में, एक ही दृश्य हमेशा देखने को मिलता था। देहातों में घर विशेष कर मिट्टी के ही होते हैं जो गिरे हुए नजर आते। घरों में जो कुछ अनाज होता सब सड़ता हुआ मिलता। माल-मवेशी बहकर मरे हुए और लोग भूख से परीशान दीख पड़ते। गाँव के कुत्ते भूखों परीशान भूकते हुए! मवेशी भी उसी तरह भूखों मूक खड़े हुए! बाढ़ के हट जाने के बाद बीमारी—विशेषकर मलेरिया का प्रकोप! कुछ दिनों बाद, रबी (बैसाखी) बोने के समय बीज की कमी और चारों ओर से उसकी माँग! मुझे याद

है कि छपरे में बाढ़ के बाद जब मलेरिया का प्रकोप बढ़ा तो हमने छपरे के डाक्टरों को इकट्ठा किया। सब ने मिलकर एक नुसूखा तैयार किया, जिसमें मलेरिया के अलावा कुछ पेट साफ रखने और मामूली खाँसी रोकने की भी दवा थी। इसी को हमने बहुत बड़े पैमाने पर इकट्ठे तैयार कराया और बोतलों में भर-भरकर सारे जिले में बँटवाया। इसका फल बहुत अच्छा हुआ। बिना डाक्टर के ही हमने अपने काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओं द्वारा दवा बाँट करके बहुतेरे रोगियों को आराम किया। दवा बहुत कामयाब साबित हुई। पीछे जहाँ-कहीं मलेरिया का प्रकोप होता, उसी नुसूखे को हम लोग बहुत दिनों तक काम में लाते रहे।

शाहाबाद में, गंगा के दियारे के इलाके में, जहाँ बाढ़ का बहुत प्रकोप था, रबी (बैसाखी) की फसल ही होती है। वहाँ बीज की बहुत आवश्यकता थी। मुझे याद है कि मैं हफ्तों तक गाँवों में घूम घूम कर बीज के लिए रुपये बाँटता रहा। कार्यकर्त्ता पहले से ऐसे लोगों की फिहरिस्त बना रखते थे, जो बीज चाहते थे। हम दो-तीन आदमी रुपये लेकर एक दिन गाँव में पहुँचते थे। सब लोग वहाँ जमा रहते थे। फिहरिस्त की जाँच खुली सभा में करके रुपये बाँट देते थे। जिस समय आरा में बाढ़ आयी थी, उसका असर छपरा-जिले पर भी पड़ा था; क्योंकि गंगा में भी बाढ़ थी और सोन का पानी गंगा खींच नहीं सकती थी। नतीजा यह हुआ कि संगम के नजदीक कई कोसों तक दोनों नदियों का पानी इकट्ठा हो गया और गंगा-पार में भी भयंकर स्थिति पैदा हो गयी। वहाँ पर भी सहायता का प्रबन्ध किया गया। जो रुपये जमा हुए उनका एक हिस्सा छपरा में भी खर्च हुआ; पर मैं वहाँ खुद जाकर, आरा में कार्य्यव्यस्त रहने के कारण, काम नहीं कर सका। वहाँ के स्थानीय लोगों ने ही, जिनमें मुख्य मेरे भाई साहब थे, काम सँभाल लिया।

ऊपर कहा जा चुका है कि रेलवे लाइनों के कारण बाढ़ों की भयंकरता बढ़ जाती है। अपने सूबे में, पिछले तीस बरसों में, जितनी बड़ी और भयंकर बाढ़ें आई हैं, सबका मुझे काफी अनुभव है। मेरा यह दृढ़ विचार है कि रेलवे-लाइन और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड की तथा दूसरी ऊँची सड़कें बाढ़ के कारणों में प्रमुख कारण हैं। यदि इनमें जगह-जगह काफी और चौड़े पुल बने रहते तो ऐसी हालत न होती। मैंने अपनी आँखों देखा है कि लाइन के एक ओर सात-आठ फुट गहरा पानी है और दूसरी ओर एक दो फुट भी मुश्किल से है। पानी को यदि मौका मिले और दूर तक फैल जाय तो स्वभावतः उसकी गहरायी कम हो जाती है और बहाव भी कमजोर पड़ जाता है। पर जब उसी पानी को तंग रास्ते से निकलना पड़ता है और वह सामने के बाँध को तोड़कर नहीं निकल सकता, तो स्वभावतः वह जमा हो जाता है और जब कहीं निकल पाता है तो वहाँ बहुत जोर का होता है। इस-लिए यह एक महत्त्वपूर्ण प्रश्न है, जिस पर गवर्नमेंट को ध्यान देना उचित है। पर यहाँ तो रेल की कम्पनियों के मुनाफे पर ही अधिक ध्यान रखा जाता है, उनको पुल बनवाने के लिए मजबूर नहीं किया जाता, लाइन काटना तो दूर की बात है।

कई बार बाढ़ से जनता को भयंकर कष्ट सहने पड़े हैं। ईस्ट-इण्डियन रेलवे ने तो शाहाबाद की बड़ी बाढ़ के बाद कोइलवर से आरा के बीच में बहुतेरे बड़े पुल बनवा दिये। इस तरह वहाँ के लोगों का भय बहुत हद तक दूर हो गया। सरकारी सड़क में भी, जो अब बन गयी है, उसी तरह पानी बहने के लिए कई पुल और लचक बना दिये गये हैं। पर बी० एँन० डब्लू० रेलवे ने (जो अब ओ० टी० रेलवे के नाम से मशहूर है) इस मामले में बहुत कंजूसपन दिखलाया है। यद्यपि अब उसमें कई जगह पुल बने हैं, तथापि अब भी बहुत ऐसे स्थान हैं जहाँ पुल की जरूरत है। उसने जो पुल बनवाये हैं, वे जनता के कष्ट दूर करने के खयाल से नहीं—अपने मुनाफे के खयाल से; क्योंकि जब तक केवल जनता के कष्ट की बात रही, एक न सुनी गयी; पर जब प्रकृति ने लाइन को इस तरह तोड़ा कि महीनों रेल चलना बन्द हो गया तो उसने मजबूरन कई पुल बनवा दिये। अब, जब वह लाइन गवर्नमेंट की हो गयी है, आशा की जा सकती है कि शायद इस पर अधिक ध्यान दिया जाय। हमने सुना है कि सरकारी कर्मचारी भी कहा करते थे कि इस लाइन के मालिक जबरदस्त हैं—उनकी एक नहीं सुनते। डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और पी० डब्लू० डी० को भी इस बात पर ध्यान देने की जरूरत है।

इन सब घटनाओं का मैंने एक ही स्थान पर जिक्र कर दिया, यद्यपि ये कई बरसों में घटी थीं।

३७—सत्याग्रह की तैयारी

एक ओर देश में जोरों से असहयोग का आन्दोलन चल रहा था। दूसरी ओर गवर्नमेंट और उसके अनुयायी युवराज के स्वागत की तैयारियाँ कर रहे थे। ऐसा जान पड़ता था कि इस मौके पर मुठभेड़ हुए बिना न रहेगी।

बम्बई में, शुरू अक्टूबर में, वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उसी में निश्चय हुआ कि नवम्बर के शुरू में दिल्ली में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक की जायगी। यह बैठक विशेष करके सत्याग्रह शुरू करने के प्रश्न पर विचार करने के लिए होनेवाली थी। काँग्रेस के सभापति श्री विजय राघवाचारी तथा मंत्री पंडित मोतीलालजी में कुछ मतभेद हो गया। सभापति ने घोषणा निकाल दी कि दिल्ली में होनेवाली बैठक नहीं होगी। मंत्री ने घोषणा की कि वर्किंग कमिटी के निश्चय को रद करने का अधिकार सभापति को नहीं है; और चूँकि महत्त्वपूर्ण विषय पर विचार करने के लिए यह बैठक होनेवाली है, इसलिए यह स्थगित नहीं की जा सकती। महात्माजी भी पंडितजी के साथ सहमत थे। आखिर बैठक दिल्ली में हुई। श्री विजय राघवाचारीजी नहीं आये। उनकी गैरहाजिरी में लाला लाजपतराय ने सभापति की जगह ली। मैं छपरे में बीमार पड़ गया था, इसलिए नहीं जा सका।

बम्बई में जमा हुए लोगों ने, एक प्रकार से फतवे के सम्बन्ध में घोषणा निकाल कर, व्यक्तिगत रूप से सत्याग्रह कर ही दिया था। वह बहुत जगहों पर बड़ी-बड़ी सभाओं में, जैसा कहा जा चुका है, दुहराया गया था। वर्किंग कमिटी ने

यह भी निश्चय कर दिया था कि जहाँ कहीं विदेशी वस्त्र-बहिष्कार और खादी-प्रचार के काम में सरकार की ओर से रुकावट डाली जाय, काँग्रेसी कार्यकर्त्ता—यदि वह चर्खा चलाते हों और खादी पहनते हों—अपने प्रान्त की प्रान्तीय कमिटी की आज्ञा से सरकारी प्रतिबंध की अवहेलना कर सकते हैं। दिल्ली की अखिल-भारतीय कमिटी ने निश्चय किया कि सूबा-कमिटियाँ अपने-अपने सूबे में, जहाँ और जिसको वह मुनासिब समझें, सत्याग्रह की—जिसमें करबन्दी भी शामिल है—अनुमति दे सकती हैं। अनुमति की शर्तें व्यक्ति के लिए थीं—असहयोग की सभी बातों का उस व्यक्ति के द्वारा पूरा होना—अर्थात् उसे खादी पहनना चाहिए, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य मानना चाहिए, अछूतपन छोड़ना चाहिए इत्यादि। इसी तरह किसी इलाके को अनुमति मिलने की शर्त थी—उस इलाके में विदेशी वस्त्र का पूरा बहिष्कार, वहाँ की जनता द्वारा स्वदेशी वस्त्र और खादी का धारण करना, अछूतपन का दूर होना, राष्ट्रीय शिक्षा का प्रचार इत्यादि। इन शर्तों में किसी को छोड़ देने का अधिकार वर्किंग कमिटी को दिया गया। यह घोषणा कर दी गयी कि किसी सत्याग्रही के परिवार के भरण-पोषण का भार काँग्रेस पर नहीं होगा और अहिंसा में विश्वास सबके लिए अनिवार्य है तथा जब तक इस बात का पूरा प्रबन्ध न हो जाय कि सत्याग्रह होने पर बलवा-फसाद न होगा तब तक सत्याग्रह की इजाजत न दी जाय। इस तरह प्रान्तीय कमिटियों को अधिकार तो मिला; पर सत्याग्रह की शर्तें इतनी कड़ी थीं कि किसी भी व्यक्ति या इलाके के लिए उनको पूरा करना बहुत कठिन था। साथ ही, यह भी समझा गया था कि सत्याग्रह आरम्भ करने में जल्दी नहीं की जायगी, और यद्यपि सभी सूबे तैयारी में लग जायँगे तथापि वे गुजरात का इन्तजार करेंगे, जहाँ बहुत तैयारी हो रही थी। इसके अनुसार बिहार में भी तैयारियाँ हो रही थीं। छपरा-जिले के लोग चाहते थे कि वसन्तपुर-थाना को सत्याग्रह की अनुमति मिले। खादी-प्रचार द्वारा और दूसरे साधनों द्वारा लोगों की तैयारी भी बतायी जाती थी। प्रान्तीय काँग्रेस-कमिटी ने कुछ लोगों को, जिनमें मुख्य मौलवी महम्मद शफी साहब थे, जाँच के लिए भेजा भी। उन्होंने इलाके को तैयार पाया।

इस तरह की बातें चल रही थीं कि नवम्बर महीने के मध्य में युवराज बम्बई पहुँच गये। सरकार की ओर से स्वागत की तैयारी थी, जनता की ओर से बहिष्कार की। हिन्दू और मुसलमान तो एक राय थे। वे मिलकर बहिष्कार में लगे थे। पर कुछ पारसी स्वागत में शरीक हुए। बहिष्कार काफी कामयाब रहा। पर जब कुछ पारसी स्वागत से लौट रहे थे, काँग्रेसियों से उनका झगड़ा हो गया। काँग्रेसियों में विशेष भाग मुसलमानों ने ही लिया था। बड़ा बलवा आरम्भ हो गया। आरम्भ तो किया हिन्दू-मुसलमानों ने, पीछे पारसियों और क्रिस्तानों ने इसे जारी रखा। भाग्यवश गांधीजी उन दिनों बम्बई में ही थे। उन्होंने पहले श्रीमती सरोजिनी नायडू, सेठ उमर सुभानी, सेठ छोटानी तथा शंकरलाल बैंकर प्रभृति को दंगा शान्त करने के लिए भेजा। पीछे स्वयं जहाँ मारपीट हो रही थी, पहुँच गये। बलवा कई दिनों के

बाद किसी तरह शान्त हुआ। इसके लिए गांधीजी को उपवास भी करना पड़ा था। इस बलवे में प्रायः ५०-६० आदमी मारे गये और ३०० से अधिक घायल हुए। मरे हुओं और घायलों में तीन-चौथाई से अधिक काँग्रेसी थे। इस बलवे का असर उनके दिल पर पड़ा। वर्किंग-कमिटी की बैठक बम्बई में हुई। वहाँ पर उन्होंने जोर दिया कि सभी जगहों में सत्याग्रह करना खतरनाक होगा; क्योंकि अभी तक लोगों ने अहिंसात्मक लड़ाई के ढंग और नीति को पूरी तरह से नहीं समझा है। इसलिए वर्किंग-कमिटी ने निश्चय किया और प्रान्तीय कमिटियों को आदेश दिया कि शान्ति-रक्षा के लिए और जनता के जमाव को सँभालने के लिए संगठित सेवकों की जरूरत है, इसलिए सभी कमिटियाँ सेवक-दल कायम करें—वे ही लोग सेवक हो सकेंगे जो शपथ करेंगे कि वे मनसा, वाचा, कर्मणा अहिंसक रहेंगे और काँग्रेस के अनुशासन को मानेंगे। विचार था कि यदि ऐसे संगठित सेवक-दल तैयार रहेंगे तो बम्बई-जैसी दुर्घटनाएँ नहीं होंगी। बम्बई में गांधीजी के उपवास का फल केवल यही नहीं हुआ कि बलवा शान्त हो गया, वहाँ के सभी जातियों के लोगों ने आपस में मेल बढ़ाने की एक प्रकार से प्रतिज्ञा भी की। इस तरह देश-भर में शान्ति के पक्ष में भावना फैली।

श्रीमती एनी बेसेण्ट शुरू से ही असहयोग-आन्दोलन का बहुत जोरों से विरोध कर रही थीं। उन्होंने एक बार यहाँ तक लिख दिया था कि गांधीजी अंधकार की शक्तियों के प्रतिनिधि हैं (Represents the forces of darkness)! बम्बई के दंगे के बाद उन्होंने बहुत कड़े लेख लिखे। किसी बलवे के सम्बन्ध में उन्होंने तो यह भी लिखा था कि गवर्नमेंट ईंट-पत्थरों के ढेलों का जवाब गोलियों से ही दे सकती है। वर्किंग कमिटी के समय भी उनका एक लेख कुछ ऐसा ही निकला। मुझे याद है कि देशबन्धु दास अखबार की उस संख्या को अपने हाथ में लेते आये। महात्माजी से वह बोले, हम आशा करते हैं कि 'यंग इण्डिया' के अगले अंक में इसकी गूँजती हुई तीव्र आलोचना हमको पढ़ने को मिलेगी। महात्माजी ने उत्तर दिया, ऐसी आशा आप न रक्खें। हमने देखा है कि गांधीजी इस तरह के 'तू-तू मैं-मैं' में नहीं पड़ते। इस प्रकार के लेखों को शायद वह पढ़ते भी नहीं। इससे उनके लेखों में कटुता नहीं आती। कड़ी से कड़ी बात भी वह चुस्त—पर संयत—भाषा में कह डालते हैं। उनके सम्पर्क की ही कृपा है कि मैं भी अपने उस स्वभाव को, जो बचपन से ही झगड़े से बचने का है, अधिक दृढ़ कर सका हूँ—अपने लेखों और भाषणों में यथासाध्य कटुता न आने देने का प्रयत्न करता हूँ।

३८—गिरफ्तारियाँ और समझौते का प्रयत्न

बम्बई में युवराज के उतरने के समय की घटनाओं से सारे देश में खलबली मच गयी। गवर्नमेण्ट ने भी निश्चय कर लिया कि दमन-नीति से काम लेना चाहिए। इसलिए अब जहाँ-तहाँ गिरफ्तारियाँ होने लगीं। चन्द दिनों के अन्दर ही, दिसम्बर

में, प्रायः सभी जगहों में, एक साथ ही बहुत-से काँग्रेसी लोगों की—विशेष कर बड़े-बड़े नेताओं की—गिरफ्तारियाँ शुरू हो गयीं। इन गिरफ्तारियों का विशेष कारण यह हुआ कि गवर्नमेण्ट ने सेवक-दलों को गैरकानूनी बना दिया।

१९०८ में दो कानून बने थे। उस समय कई जगहों में, विशेष कर बंगाल में, क्रान्तिकारी दल काम कर रहे थे, जिनके सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट कहा करती थी कि वे बम बनाया करते हैं—सरकारी कर्मचारियों को बम तथा गोली से मारा करते हैं इत्यादि उन्हीं को दबाने के लिए 'क्रिमिनल लॉ अमेंडमेंट ऐक्ट' (Criminal law Amendment Act) पास हुआ था। एक दूसरा कानून 'सेडीशस मीटिङ्ग ऐक्ट' (Seditious meetings Act), विद्रोही सभाओं के नियंत्रण और रोक-थाम के लिए, बना हुआ था। दोनों कानूनों का कारण, गवर्नमेण्ट के कहने के अनुसार, हिंसात्मक दलों की प्रवृत्तियाँ था। पर इस समय यद्यपि काँग्रेस पूर्णरूपेण अहिंसात्मक संस्था थी और उसका सेवा-दल भी वैसा ही अहिंसात्मक दल था, तथापि गवर्नमेण्ट ने उन पुराने कानूनों को सभी सूबों में—जहाँ वे पहले से जारी नहीं थे—जारी कर दिया। एक-एक करके पंजाब, दिल्ली, बंगाल, बिहार, युक्तप्रदेश प्रभृति सूबों की सरकारों ने सेवक-दलों को—जो विभिन्न नाम से सूबे-सूबे में कायम हो रहे थे—गैरकानूनी करार दे दिया। इस तरह खिलाफत-सेवक-दल और काँग्रेस-सेवक-दल में शरीक होना ही जुर्म हो गया। सभाएँ करना भी कठिन हो गया।

काँग्रेस-कमिटियों ने निश्चय किया कि हम इन जुल्मी कानूनों को नहीं मानेंगे। वे सेवक-दल संगठित करने के लिए विशेष जोर लगाकर काम करने लगीं। इसलिए, जो भी सेवक-दलों में शरीक होता अथवा उसे संगठित करने का काम करता, वह गिरफ्तार कर लिया जाता। देश के सामने सरकार ने एक नया प्रश्न खड़ा कर दिया। अब हमारे सामने इस समय खिलाफत-सम्बन्धी, पंजाब-सम्बन्धी तथा स्वराज्य-प्राप्ति की भी बात न रही। अब प्रश्न यह हो गया कि हमें अपने देश में संगठन करने का—आपस में मिल जुलकर काम करने का—भी हक रहेगा या नहीं। सरकार ने इस स्वत्व का भी कानूनों के द्वारा हरण कर लिया। अब काँग्रेस को सबसे पहले इनके लिए लड़ना आवश्यक हो गया। गांधीजी ने कहा था कि इस लड़ाई में हम सत्याग्रह जो करना चाहते थे वह नहीं कर रहे हैं—इस समय हम केवल भाषण-स्वतंत्रता और सम्मेलन-स्वतंत्रता के लिए ही लड़ रहे हैं—यह स्वतंत्रता हम केवल काँग्रेस-कमिटियों और खिलाफत-कमिटियों के लिए नहीं चाहते हैं—हम सभी संस्थाओं और व्यक्तियों के लिए ये स्वत्व चाहते हैं और इसलिए यह लड़ाई सबके लिए और सबकी ओर से है। पर सरकार कब सुननेवाली थी! उसने दबाने का इरादा कर लिया था।

अली-बन्धु प्रभृति कराँची के मुकदमे के समय से ही गिरफ्तार होकर सजा पा चुके थे। चन्द दिनों में ही देशबन्धु दास, पंडित मोतीलाल नेहरू, पं० जवाहर-लाल, लाला लाजपतराय, मौलाना आजाद, श्री राजगोपालाचारी इत्यादि सार्वदेशिक

नेता गिरफ्तार हो गये। हजारों की संख्या में दूसरे काँग्रेसी लोग भी गिरफ्तार कर लिये गये। पर जहाँ-जहाँ युवराज गये, बहिष्कार और भी अधिक संगठित होता गया। उनके कलकत्ते जाने के दिन नजदीक आ रहे थे। लार्ड रीडिंग चिन्तित तो थे ही, उनके लॉ-मेम्बर थे सर तेज बहादुर सप्रू। इस बात का प्रयत्न होने लगा कि किसी तरह से समझौता हो जाय जिसमें कलकत्ते में युवराज का ठीक स्वागत हो सके। इस प्रयत्न में मुख्य भाग लेनेवाले थे पंडित मदनमोहन मालवीयजी। उन्होंने कलकत्ते में जाकर वहाँ के गवर्नर लार्ड रोनल्डशे से भेंट की; देशबन्धु दास से भी मिले; देश के कतिपय काँग्रेसी और खिलाफती नेताओं से भी—जो बाहर थे—बातचीत की। वाइसराय लार्ड रीडिंग के पास एक डेपुटेशन ले जाने की बात हुई। देशबन्धु दास कलकत्ता-जेल में थे। उनसे बातचीत शुरू हुई। कुछ ऐसा मालूम होने लगा कि बात तय हो जायगी।

बिहार में भी गिरफ्तारियाँ होने लगीं। प्रान्तीय कमिटी की बैठक छपरे में हुई। बैठक के समय ही पुलिस ने वहाँ की कमिटी के दफ्तर की तलाशी ली। जब हम लोग एक सार्वजनिक सभा में भाग ले रहे थे, तो पुलिस की तैयारियों से मालूम होता था कि हम लोग वहीं गिरफ्तार कर लिये जायँगे। पर ऐसा हुआ नहीं। एक आदमी ने सभा में, पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट की ओर हाथों से इशारा कर-करके, तुलसी-दास की एक चौपाई को जोरों से बार-बार दुहराना शुरू किया; तो भी पुलस ने कुछ नहीं किया। चौपाई यह थी—"गाधि-सुवन मन चिन्ता व्यापी, कब मरिहहिं ये निसिचर पापी।" सब लोग बैठक और सभा के बाद अपने-अपने स्थान को गये। सभी जिलों में काँग्रेस-कमिटियों की तलाशी होने लगी। लोग गिरफ्तार किये जाने लगे। मैं भी पटने आया। हम सब गिरफ्तारी का इन्तजार कर रहे थे। सभी जिलों में अनेक प्रमुख काँग्रेसी गिरफ्तार कर लिये गये। पटने में मौलवी खुरशैद हसनैन, बाबू जगतनारायणलाल और कृष्णप्रकाश सेन सिंह गिरफ्तार हो गये। और जगहों में मौलवी महम्मद शफी, बाबू श्रीकृष्ण सिंह, बाबू विन्ध्येश्वरीप्रसाद वर्मा, बाबू रामनारायण सिंह इत्यादि कई काँग्रेसी लोग जेल भेज दिये गये। मैं नहीं गिरफ्तार किया गया। हक साहब, ब्रजकिशोर बाबू और मैंने कई साथियों के साथ एक बयान छपवाया जिसमें हमने जनता को सेवक-दल में शरीक होने के लिए उत्साहित किया, गवर्नमेण्ट की नीति की निन्दा की और अपने को सेवक-दल का मेम्बर बतलाया। पर तो भी हम गिरफ्तार नहीं किये गये। इस तरह सभी जगहों में जिला-मजिस्ट्रेटों तथा दूसरे हाकिमों के पास लोग अपने-अपने हस्ताक्षर करके लम्बी-लम्बी फिहरिस्तें भेजने लगे, जिनमें सेवकों के नाम रहते। पटने में मैं इसका इन्तजार कर ही रहा था कि मालूम हुआ, सुलह होने जा रही है।

गिरफ्तारियाँ बन्द हो गयीं। लार्ड सिंह ने बिहार की गवर्नरी से इस्तीफा दे दिया था। उनकी जगह पर मिस्टर लीमेजरर गवर्नर हो गये थे। बिहार-कौंसिल के कुछ प्रमुख व्यक्तियों ने—जिनमें मुख्य मिस्टर हसन इमाम, राय बहादुर द्वारकानाथ

प्रभृति थे—गवर्नर के पास डेपुटेशन लेजाकर कहा कि बिहार में पूरी शान्ति है, यहाँ सेवक-दल को गैर-कानूनी करार देने से ही ज्यादा गड़बड़ी होने की सम्भावना है, इसलिए गिरफ्तारियाँ बन्द हो जानी चाहिए। गवर्नर ने उनसे कुछ ऐसी बातें कीं जिनसे मालूम हुआ कि गवर्नमेण्ट की सारी कार्रवाई गलत बुनियाद पर हुई है। हम लोगों ने उसका प्रतिवाद प्रकाशित किया। पर उसके प्रकाशित होने के पहले ही गिरफ्तारियाँ बन्द करने का हुक्म उन्होंने निकाल दिया। यद्यपि सेवा-दल के विरुद्ध प्रचारित हुक्म रद नहीं किया गया तथापि जिला-मजिस्ट्रेटों को गिरफ्तारियाँ बन्द करने का हुक्म हो गया।

सर तेज बहादुर सप्रू, लार्ड रीडिंग के पास, वाइसराय की कौन्सिल की बैठक के लिए, कलकत्ते जा रहे थे। वह पटना होते हुए गुजरे। कुछ लोगों से उनकी मुलाकात हुई जिससे यह बात फैल गयी कि अब सुलह हो जायगी। बिहार में गिरफ्तारियों के रुक जाने से इसकी और भी पुष्टि हुई। उधर गवर्नमेण्ट ने जो बातें देशबन्धु दास से जेलखाने में कीं उनसे मालूम पड़ा कि देशबन्धु दास उन शर्तों पर राजी हो गये थे, जो सरकार की ओर से पेश की गयी थीं। महात्माजी से राय पूछी गयी थी और उन्होंने कुछ शर्तें पेश कीं। इस सम्बन्ध की सब बातें उस समय जाहिर नहीं हुईं। इतना ही मालूम हुआ कि गांधीजी ने देशबन्धु दास की यह सिफारिश कि शर्तें मान ली जायँ, नामंजूर कर दी है। सब बातों को विस्तार से जानने के लिए श्री कृष्णदास की पुस्तक 'महात्मा गांधी के साथ सात मास' (Seven Months with Mahatma Gandhi) देखना चाहिए।

शर्तें कुछ इस तरह की थीं—काँग्रेस युवराज के बहिष्कार को बन्द कर दे। गवर्नमेण्ट एक कान्फ्रेन्स करेगी जिसमें सब बातों पर विचार किया जायगा। राजनीतिक कैदी छोड़ दिये जायँगे। पर कराँची के फतवावाले कैदी, जिनमें अलीबन्धु भी थे, नहीं छोड़े जायँगे।

गांधीजी चाहते थे कि कान्फ्रेन्स की तिथि और कार्यक्रम (Terms of reference) निश्चित हो जाना चाहिए और कराँचीवाले कैदियों को भी जरूर छूटना चाहिए। मुमकिन था कि दो-एक दिन का और समय यदि मिलता तो इन विषयों पर भी विचार करके कुछ तय हो जाता। पर उधर युवराज के कलकत्ते पहुँचने का दिन पहुँच गया और बात तय न हो सकी। गवर्नमेण्ट ने देखा कि जब स्वागत के काम में उसे सफलता नहीं मिली तो फिर ये सुलह की बातें भी बेकार थीं। उसने दमन-नीति को और जोरों से चलाने का निश्चय कर लिया। जो डेपुटेशन गया उसे भी कोरा उत्तर दे दिया। साथ ही, कुछ ऐसी गोलमटोल बातें कीं जिनसे कुछ लोगों पर, विशेष करके पं० मालवीयजी पर, यह असर पड़ा कि यद्यपि अभी कुछ नहीं हुआ तथापि राउण्ड टेबुल कान्फ्रेन्स करने का प्रयत्न जारी रखना उचित होगा और जो शर्तें वाइसराय ने पेश की हैं वे ऐसी हैं जो पूरी की जा सकती हैं।

देशबन्धु दास महात्माजी के इस निश्चय से बहुत क्षुब्ध हुए। उन्होंने सोचा था कि उस समय ब्रिटिश गवर्नमेण्ट का इतना झुकना ही बड़ी बात थी और इसको

मान लेना चाहिए था। यदि काँग्रेस मान लेती तो काँग्रेस की शक्ति बढ़ती और काम अधिक जोरों से चलता। गवर्नमेण्ट उसे दबा नहीं सकती। महात्माजी ने सोचा कि लार्ड रीडिंग की इच्छा थी कि किसी प्रकार कलकत्ते जैसे शहर में युवराज का अच्छा स्वागत हो जाय तो बम्बई आदि की घटनाएँ कुछ महत्त्व नहीं रखेंगी और वह भारत की राजभक्ति की घोषणा कर सकेंगे। कान्फ्रेन्स की नीति और तिथि दोनों ही अनिश्चित थीं। न मालूम वह कब होगी और क्या करेगी। उस पर भरोसा करना बेकार है और काँग्रेस की शक्ति बढ़ने के बदले घटेगी जब देश यह देखेगा कि हम किस तरह से ठग लिये गये। इसके अलावा अली-बन्धुओं को हम जेल में कैसे छोड़ सकते हैं। जिन लोगों ने सब बातों में साथ दिया है, जिनका जनता पर इतना प्रभाव है और जो हमारे साथी हैं, उनको जेल में छोड़ देना उनके साथ अन्याय होगा। इसलिए लार्ड रीडिंग की शर्तें हमें केवल धोखा देंगी, कोई काम नहीं निकलेगा।

इसमें कोई शक नहीं कि देशबन्धु दास बहुत क्षुब्ध हो गये। जब मीयाद खतम होने पर वह छूटे तो उन्होंने अपने एक भाषण में कहा था कि महात्माजी ने बहुत भारी और भद्दी भूल की थी (Bungled and blundered)। इस विषय पर, तटस्थता के साथ, तो कोई भावी इतिहास-लेखक ही विचार कर सकेगा। मैं इतना ही कह सकता हूँ कि उस समय से आज तक जो अनुभव ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट के साथ समझौते के हमें हुए हैं, वे बहुत कड़ुवे हैं। शब्दाडम्बर में असली बातें अक्सर छिप जाती हैं। समझौते अँगरेजी भाषा में ही लिखे जाते हैं और उनके अर्थ में अनर्थ की काफी गुंजाइश रहती है। १९३१ के मार्च में लार्ड इर्विन के साथ जो समझौता हुआ, उसकी शर्तों के पूरा करने में लार्ड विलिंगडन की गवर्नमेण्ट ने और सिविल-सर्विस ने जो-जो दिक्कतें पेश कीं उन्हें वही जान सकता है, जिसको उस सम्बन्ध में उनसे बातें अथवा पत्र-व्यवहार करने का मौका मिला हो। महात्माजी अपने अनुभव से जानते थे कि किसी शर्त को गोलमटोल छोड़ देना अथवा उसमें किसी प्रकार की अनिश्चितता रहने देना अन्त में घातक होगा। उनको ब्रिटिश सरकार की खुश नीयत पर भी विश्वास नहीं था। इसलिए उन्होंने ऐसी शर्तों को मानना ठीक नहीं समझा और काँग्रेस की निश्चित नीति को तथा अपने साथियों को इन अनिश्चित शर्तों के भरोसे जेलखाने में छोड़ने से इनकार कर दिया। किसी भी देश को स्वतंत्रता यदि सस्ती दर से मिल जाय तो उसकी उतनी कदर नहीं रह जाती। विशेषकर भारतवर्ष को तो इसे वाजिब मूल्य देकर ही लेना चाहिए; क्योंकि हम इतने दिनों की दासता के कारण इसका उचित मूल्य आँकना भी भूल-से गये हैं।

३९—अहमदाबाद-काँग्रेस और सत्याग्रह

इधर ये बातें चल रही थीं, उधर काँग्रेस के सालाना जलसे के दिन भी आ गये। देशबन्धु दास ही सभापति मनोनीत हुए थे। वह थे जेलखाने में। काँग्रेस का अधिवेशन अहमदाबाद में होनेवाला था। वहाँ सरदार बल्लभभाई स्वागताध्यक्ष थे। बड़े पैमाने पर

तैयारियाँ की गई थीं। जब बिहार में गिरफ्तारियाँ बन्द हुईं, हम लोग जो बाहर थे, अहमदाबाद के लिए रवाना हो गये।

अहमदाबाद की काँग्रेस बहुत बातों में अनूठी थी। पहले-पहल काँग्रेस से कुर्सियाँ उठा दी गयीं। प्रतिनिधियों को फर्श पर बैठाने का प्रबन्ध किया गया था। इस तरह उतने ही स्थान में बहुत अधिक प्रतिनिधि और दर्शक बैठ सकते थे। प्रतिनिधियों का चुनाव पहली बार नागपुर के परिवर्तित नियमों के अनुसार हुआ था। अब हम कह सकते थे कि काँग्रेस चुने हुए प्रतिनिधियों की सभा है। बहुतेरे चुने हुए प्रतिनिधि जेलखानों में थे, जिनमें प्रमुख तो मनोनीत सभापति देशबन्धु चित्तरंजन दास थे ही। बहुतेरे नेता—जिन्होंने साल-भर बड़े परिश्रम, लगन और उत्साह से देश को जगाया और संगठित किया था—इस अधिवेशन में, गवर्नमेण्ट की नीति के कारण, आने से वंचित थे। जो लोग आये थे उनमें और सारे देश में उत्साह उमड़ा पड़ रहा था, मानों भरी नदी के किनारों को पार करके जल-प्रवाह चारो ओर फैल रहा है। इतनी गिरफ्तारियों के कारण कहीं भी मुर्दनी नहीं थी। दमन-नीति ने दबाने के बदले लोगों को अधिक उभाड़ने का ही काम किया था। गांधीजी भी आशा और उत्साह से भरे थे। सब लोग सत्याग्रह का स्वप्न देख रहे थे। लोग इस आशा में थे कि काँग्रेस सत्याग्रह का आदेश देगी और आयोजन करेगी। काँग्रेस के साथ एक बड़े महत्त्व की प्रदर्शनी भी हुई थी, जिसमें नवजात—बल्कि पुनर्जीवित—खादी का बड़ा महत्त्व था। प्रतिनिधियों के रहने के लिए काँग्रेस-पंडाल के नजदीक ही एक छोटा-मोटा नगर 'खादी नगर' नाम का बस गया था, जिसमें सभी ठहराये गये थे। ये सब बातें काँग्रेस के लिए नयी थीं। पास ही में उसी तरह खिलाफत-कान्फ्रेन्स के लिए पंडाल इत्यादि बने थे।

काँग्रेस का अधिवेशन भी निराला ही था। पुरानी प्रथा के विरुद्ध स्वागताध्यक्ष का भाषण बहुत छोटा था। उसमें देश की परिस्थिति और काँग्रेस के कार्यक्रम पर विचार नहीं किया गया था। केवल उपस्थित प्रतिनिधियों का स्वागतमात्र था, और था गुजरात में हुए काम का छोटा-सा विवरण। मनोनीत सभापति गैरहाजिर थे, इसलिए उनके स्थान पर हकीम अजमल खाँ सभापति चुन लिये गये। स्वागताध्यक्ष और सभापति दोनों के ही भाषण राष्ट्रभाषा हिन्दी या उर्दू में ही हुए।

सबसे महत्त्व का प्रश्न सत्याग्रह का था। अधिवेशन में एक ही प्रस्ताव स्वीकृत हुआ, जिसमें परिस्थिति का सिंहावलोकन करते हुए सत्याग्रह का निश्चय प्रकट किया गया। इस काम के लिए गांधीजी सर्वेसर्वा (Dictator) बनाये गये। इस बात का अन्देशा था कि जैसे और नेता गिरफ्तार किये जा चुके हैं, गांधीजी भी गिरफ्तार कर लिये जायँगे; इसलिए प्रस्ताव में उनको उसी अधिकार के साथ अपना उत्तराधिकारी मनोनीत करने का भी अधिकार दिया गया। पर यह साफ कह दिया गया कि काँग्रेस के ध्येय को बदलने का अधिकार उनको नहीं होगा। हाँ, यदि गवर्नमेण्ट से कुछ सुलह हो तो उसकी मंजूरी काँग्रेस से लेनी पड़ेगी। सेवक-दलों के संगठन पर जोर

दिया गया और जिस प्रतिज्ञा-पत्र पर उनके हस्ताक्षर होनेवाले थे, वह और भी कुछ सख्त बनाया गया।

इस अधिवेशन में एक विशेष बात यह हुई कि मौलाना हसरत मोहानी ने यह प्रस्ताव पेश किया कि काँग्रेस का ध्येय स्वराज्य के बदले स्वतंत्रता (Independence) बना दिया जाय। गांधीजी ने इसका विरोध किया। अतः प्रस्ताव स्वीकृत नहीं हुआ। उसके बाद प्रायः हर अधिवेशन में इस प्रकार का प्रस्ताव आता रहा। पर गांधीजी के विरोध से तब तक नामंजूर होता रहा जब तक यह कई बरसों के बाद गांधीजी के विरोध हटा लेने पर स्वीकृत न हो गया। दूसरी बात यह हुई कि पंडित मालवीयजी का गोलमेज-कान्फ्रेन्स-सम्बन्धी प्रस्ताव नामंजूर कर दिया गया। पंडितजी कलकत्ते से सीधे अहमदाबाद आये थे। वहाँ उनका प्रयत्न असफल हो गया था, पर वह बहुत बड़े आशावादी हैं। उन्होंने काँग्रेस को सलाह दी और प्रस्ताव पेश किया कि यदि गोलमेज-कान्फ्रेन्स गवर्नमेण्ट करे तो काँग्रेस उसमें शरीक हो। ऊपर कहा जा चुका है कि इस समय इसका कोई मौका ही नहीं था। इसलिए काँग्रेस ने उस बात को नहीं माना। पीछे यह मालूम हुआ कि पंडित मोतीलालजी भी किसी प्रकार के समझौते के विरुद्ध थे।

काँग्रेस के बाद सभी लोग अपने-अपने स्थान को रवाना हुए। वहीं पर मालूम हो गया कि महात्मा गांधी एक जगह सत्याग्रह करेंगे और वह स्थान होगा बारडोली। औरों को भी आदेश मिला कि अपने-अपने स्थान पर जनता में प्रचार और संगठन करें। सबसे अधिक काँग्रेस के कार्यक्रम की पूर्ति के लिए, विशेषकर सेवक-दल के संगठन के लिए, जी-तोड़ परिश्रम करके प्रयत्न करें।

पंडित मालवीयजी और कुछ दूसरे नेताओं ने निश्चय किया कि एक ऐसी कान्फ्रेन्स की जाय, जिसमें काँग्रेस और गवर्नमेण्ट के बीच का झगड़ा मिटाने का प्रयत्न किया जाय। उन्होंने अहमदाबाद-काँग्रेस समाप्त होते ही इसकी घोषणा की। देश के मुख्य-मुख्य लोग, जिनमें मुख्य-मुख्य काँग्रेसी और खिलाफती भी शामिल थे, बम्बई में आमंत्रित हुए। यह सभा जनवरी के मध्य में बम्बई में हुई। सर शंकर नायर इसके सभापति हुए। मैं भी, और काँग्रेसियों की तरह, वहाँ गया। गांधीजी ही हमारी ओर से बोलनेवाले थे। हम लोगों ने निश्चय कर लिया था कि सबकी ओर से जो कुछ कहना होगा वही कहेंगे। महात्माजी ने साफ-साफ बता दिया कि हम काँग्रेसियों को इस गोलमेज-कान्फ्रेन्स से, जिसके आयोजन का प्रस्ताव गवर्नमेण्ट से किया जा रहा था, कोई आशा नहीं है; तो भी अगर वह हो, और गांधीजी बुलाये जायँ, तो वह बिना शर्त के उसमें शरीक होंगे; पर व्यक्तिगत हैसियत से। हाँ, यदि काँग्रेस को आमंत्रित किया जाय तो वह तभी शरीक हो सकेंगे जब कान्फ्रेन्स का कार्यक्रम और तिथि निश्चित कर ली जाय। साथ ही, वह घोषणा वापस कर ली जाय, जिसके द्वारा सेवक-दल गैर-कानूनी करार दिये गये हैं तथा जिसे न मानने के कारण जिन लोगों को सजा दी गई है वे छोड़ दिये जायँ। फतवावाले कैदियों को जरूर छोड़ना चाहिए। खिलाफत, पंजाब और स्वराज-

वाली काँग्रेस की माँगें जाहिर थीं; काँग्रेस उन्हीं को वहाँ पेश करके उन्हें मनवाने का प्रयत्न करेगी। अपनी ओर से हम सत्याग्रह स्थगित कर देंगे।

कान्फ्रेन्स करनेवालों की तरफ से एक प्रस्ताव पेश किया गया; पर गांधीजी को वह मंजूर न हुआ। इस कारण उस पर विचार करके उसे रद-बदल कर फिर उपस्थित करने के लिए एक उपसमिति बना दी गयी। उस दिन जो लोग उपस्थित थे उनके भाषण हुए। मेरे दिल पर एक भाषण का बहुत असर पड़ा था। वह था सर हरमुसजी वाडिया का भाषण। यह थे एक वयोवृद्ध बड़े व्यापारी——लिबरल-दल के विचार रखनेवाले पारसी। इन्होंने गवर्नमेण्ट की सारी नीति की तीव्र शब्दों में निन्दा की। यह यद्यपि सत्याग्रह के विरोधी थे, तथापि इन्होंने साफ-साफ बता दिया कि इस अवस्था की सारी जवाबदेही सरकार पर है।

दूसरे दिन उपसमिति की बैठक हुई। उसमें गांधीजी शरीक रहे। सबकी राय से एक प्रस्ताव तैयार हुआ। पर सर शंकर नायर बहुत बिगड़ गये। सेपहर को वह कान्फ्रेन्स से चले गये। उनके साथ कोई दूसरा नहीं गया। तब कान्फ्रेन्स के सभापति सर विश्वेश्वरैया हुए। उन्होंने उस प्रस्ताव को मंजूर कर लिया। गांधीजी ने फिर अपनी वही बातें दुहरा दीं। यह भी उन्होंने कह दिया कि काँग्रेस की वर्किंग-कमिटी द्वारा वह ३१ जनवरी तक के लिए सत्याग्रह स्थगित करा देने का प्रयत्न करेंगे।

बम्बई में वर्किंग-कमिटी के लोग प्रायः सभी थे ही। बैठक में तय हुआ कि ३१ जनवरी तक और यदि गोलमेज कान्फ्रेन्स की बात तथा प्रस्ताव की दूसरी शर्तें गवर्नमेण्ट ने मंजूर न कर लीं, तो जब तक उसका कुछ फैसला न हो जाय तब तक सामूहिक सत्याग्रह बन्द रहेगा और व्यक्तिगत सत्याग्रह केवल बचाव के लिए ही जहाँ मजबूरी होगी वहीं किया जायगा; पर सेवक-दल के संगठन का काम जारी रहेगा। कान्फ्रेन्स के प्रस्ताव को तार द्वारा कान्फ्रेन्स-कमिटी ने वाइसराय के पास भेजा। एक लम्बे तार द्वारा यह भी सूचित किया गया कि कलकत्तेवाले डेपुटेशन के उत्तर में जो शर्तें लार्ड रीडिंग ने दी थीं, प्रायः वे सभी मंजूर कर ली गयी हैं और अब गवर्नमेण्ट को गोलमेज-कान्फ्रेन्स मंजूर कर लेनी चाहिए। उधर से नामंजूरी का जवाब आ गया! इस पर फिर तार द्वारा लिखापढ़ी की जा रही थी कि ३१ जनवरी का दिन पहुँच गया। अब काँग्रेस के लिए कुछ निश्चय करना अनिवार्य हो गया।

काँग्रेस से लौटने के बाद मैंने अपने सूबे में दौरा शुरू किया। यह ३१ जनवरी वाली अवधि बीतने के बाद, बारडोली की एक सार्वजनिक सभा में, जिसमें महात्माजी और हकीम अजमल खाँ शरीक थे, बारडोली में सत्याग्रह शुरू करने का निश्चय हुआ। यह बात घोषित भी कर दी गयी। श्री बिट्ठल भाई पटेल और सरदार बल्लभ भाई अब वहीं रहने लगे थे। महात्माजी भी पहुँच ही गये थे। वहाँ जनता की सभा में महात्माजी ने सत्याग्रह के अर्थ को और उसमें होनेवाले कष्टों को लोगों को बताया। उनसे शपथ भी ली कि वे सत्य और अहिंसा पर डटे रहकर सारे देश के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने में अपने को भस्मीभूत कर देंगे। सूरत में

वर्किंग-कमिटी की बैठक हुई। उसने वहाँ सत्याग्रह करने की मंजूरी दे दी। इसके बाद ही गांधीजी ने वाइसराय को पत्र लिखा जिसमें उन्होंने सत्याग्रह के निश्चय की सूचना देते हुए सत्याग्रह आरम्भ करने के लिए तिथि भी ठीक कर दी।

४०—चौरीचौरा, सत्याग्रह स्थगित और गांधीजी की गिरफ्तारी

मैं सूबे के दौरे में, मुजफ्फरपुर-जिले के गाँवों में घूमता-घूमता, 'पुपरी' गाँव की सभा में भाषण कर रहा था। उसी समय तार मिला कि वर्किंग-कमिटी की बैठक बारडोली में होनेवाली है और मुझे वहाँ तुरंत पहुँचना चाहिए। मैं वहाँ से तुरंत रवाना हुआ। पहली गाड़ी जो मिली उससे पटना होता हुआ वहाँ चला गया। इस बीच में एक बहुत दुःखद और महत्त्वपूर्ण घटना हो गयी। गोरखपुर-जिले के 'चौरी-चौरा' गाँव में जनता और पुलिस में मुठभेड़ हो गयी। जनता ने आवेश में आकर पुलिस-थाने को जला दिया। कितने ही पुलिस-कर्मचारियों को भी मार डाला।

महात्माजी के दिल पर इसका बहुत गहरा असर पड़ा। उन्होंने देख लिया कि देश ने अभी तक अहिंसा के तत्त्व और महत्त्व को नहीं समझा है; इसलिए यदि सत्याग्रह आरम्भ हुआ तो इस प्रकार की घटनाएँ अनेक स्थानों में होने लगेंगी; इसके फलस्वरूप सरकार की ओर से भी दमन-नीति जोरों से बरती जायगी और जनता उसको बर्दाश्त नहीं कर सकेगी; इसलिए यद्यपि वाइसराय को सत्याग्रह आरम्भ करने की सूचना दे दी गयी है तथापि सत्याग्रह को स्थगित ही कर देना चाहिए।

देश की नाड़ी पहचानकर महात्माजी इस निश्चय पर पहुँच गये। इसी पर विचार करने के लिए उन्होंने वर्किंग-कमिटी की बैठक की।

यद्यपि मैं जल्द से जल्द रवाना हुआ था तथापि जब मैं बारडोली स्टेशन पर पहुँचा तो उसी ट्रेन से वापसी के लिए रवाना होते हुए पंडित मदनमोहन माल-वीयजी से वहीं भेंट हो गयी। उन्होने बता दिया कि वर्किंग-कमिटी का काम समाप्त हो चुका है और सत्याग्रह स्थगित करने का निश्चय कर लिया गया है। जब मैंने यह सुना तो मेरे दिल पर भी एक धक्का-सा लगा। मैं वहाँ पहुँचा जहाँ गांधीजी ठहरे थे। उन्होंने जाते ही पूछा कि निश्चय सुन लिया है न? मैंने कहा, हाँ! इस पर उन्होंने पूछा कि इस विषय में तुम्हारी राय क्या है? मैं अभी कुछ उत्तर नहीं दे सका था कि वह समझ गये, मेरे दिल में कुछ सन्देह मालूम हो रहा है! उन्होंने उसी क्षण सब बातें समझा दीं। मैं सुनता गया, पर अभी किसी निश्चय पर नहीं पहुँचा था कि अन्त में उन्होंने कहा, जो कुछ मैंने कहा है उस पर विचार करो।

संध्या हो गयी थी। मैंने रात को सब बातों पर और सब पहलुओं पर, महात्माजी की बताई बातों की रोशनी में, विचार किया। मेरी भी दृढ़ राय हो गयी कि निश्चय ठीक ही हुआ है। दूसरे दिन गांधीजी ने फिर पूछा, क्या विचार किया? मैंने उत्तर दे दिया कि मैं सब बातें समझ गया और निश्चय ठीक ही हुआ है। इससे वह कुछ प्रसन्न मालूम हुए।

इस निश्चय के प्रकाशित होते ही सारे देश में एक अजीब परिस्थिति उत्पन्न हो गयी। मामूली कार्यकर्ताओं की बात कौन कहे, बड़े-बड़े धुरंधर नेता—पंडित मोतीलाल नेहरू, लाला लाजपतराय प्रभृति जो सभी जेल में थे—इससे बहुत असन्तुष्ट हुए। अखबारो में भी विरोध की आवाज उठी। हाँ, हकीम अजमल खाँ और डाक्टर अनसारी भी बारडोली की उस बैठक में नहीं पहुँच सके थे। इन लोगों ने सत्याग्रह स्थगित करने की राय वहाँ भेज दी थी। साधारण जनता में एक प्रकार की मुर्दनी-सी दिखाई देने लगी, मानों दौड़ता हुआ मनुष्य ठेस लग जाने से गिर पड़ा हो।

बारडोली में ही गांधीजी ने पहले-पहल उस रचनात्मक कार्यक्रम को निश्चित और परिष्कृत रूप दिया, जो आज तक काँग्रेस का मुख्य कार्यक्रम है। वह प्रस्ताव इतने महत्त्व का है कि उसका उद्धरण आवश्यक है। नीचे उसका हिन्दी-रूपान्तर दिया जाता है—

"चूँकि गोरखपुर (चौरीचौरा) का भयानक काण्ड इस बात का प्रत्यक्ष प्रमाण है कि देश की जनता अब तक यह बात अच्छी तरह नहीं समझ सकी है कि 'अहिंसा' भद्रअवज्ञा या सिविल नाफरमानी का एक जरूरी क्रियात्मक और प्रमुख अंश है; और चूँकि स्वयंसेवकों की भर्ती में बिना छानबीन किये ही—और काँग्रेस की बतायी हुई हिदायतों के खिलाफ भी—लोग ले लिये गये हैं, जिससे लोगों में सत्याग्रह के मूल तत्त्व की समझ की कमी जाहिर होती है; और चूँकि इस कार्यकारिणी कमिटी की राय में राष्ट्रीयता तक पहुँचने में देरी होने का एक प्रधान कारण काँग्रेस के शासन-प्रबन्ध को व्यवहार में लाने में अपूर्णता और दुर्बलता ही है; इसलिए काँग्रेस के अन्दरूनी संगठन को सुदृढ़ बनाने के खयाल से यह वर्किंग-कमिटी काँग्रेस के सभी संगठित अंगों को सलाह देती है कि वे नीचे लिखे कार्यक्रम को अंजाम देने में संलग्न हो जायँ—

(१) कम से कम एक करोड़ काँग्रेस के मेम्बरों की भर्ती। चूँकि शान्ति (अहिंसा और वैधता) और सत्य काँग्रेस की नीति के मूल तत्त्व या सार हैं, इसलिए किसी ऐसे व्यक्ति की भर्ती न की जावे जो स्वराज्य-प्राप्ति के लिए सत्य और अहिंसा को अनिवार्य न समझता हो। इस खयाल से काँग्रेस की नीति को खूब अच्छी तरह हर ऐसे शख्स या व्यक्ति को समझा देना चाहिए जिससे काँग्रेस का मेम्बर बनने का अनुरोध किया जाय। मेम्बर बनानेवाले कार्यकर्ता को खयाल रखना चाहिए कि सालाना चन्दा न अदा करनेवाला काँग्रेस का योग्य मेम्बर नहीं समझा जायगा। इसलिए पुराने मेम्बरों को फिर से नये साल के लिए अपना-अपना नाम दर्ज करा लेना चाहिए।

(२) चर्खे को लोकप्रिय बनाना और हाथ के कते हुए सूत से हाथ की बुनी हुई खादी तैयार करने का संगठन (यानी प्रबन्ध) करना। इस कार्य की सफलता के लिए कुल कार्यकर्ताओं तथा काँग्रेस के पदाधिकारियों को खद्दर की ही पोशाक

पहननी चाहिए और यह भी अच्छा रहेगा कि दूसरों के हौसले बढ़ाने के लिए उन्हें खुद चर्खे पर सूत कातना सीखना चाहिए।

(३) नेशनल स्कूल यानी राष्ट्रीय विद्यालय कायम करना। गवर्नमेण्ट स्कूलों पर धरना नहीं देना चाहिए। राष्ट्रीय स्कूलो की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ाने में इन स्कूलों की अच्छी पढ़ाई पर ही भरोसा करना चाहिए।

(४) गिरी हुई दलित जातियों के रहन-सहन को बेहतर बनाने के लिए तथा उनकी सामाजिक, मानसिक एवं नैतिक हालत को सुधारने के लिए उनका संगठन करना। उनको समझा-बुझाकर उनके बच्चों को स्कूलों में पढ़ने के लिए भेजना और जो सुविधाएँ सबको मिलती हैं वे इन लोगों को भी दिलवाना। जहाँ कहीं अछूत जातियों से लोग ज्यादातर अलग रहते हैं और छूत-छात का भाव जबरदस्त है वहाँ पर इनके बालकों के लिए काँग्रेस के पैसे से अलग स्कूल-पाठशालाएँ चलायी जानी चाहिए और लोगों को समझा-बुझाकर अछूतों को भी सार्वजनिक कुँओं से पानी भरने देने का प्रबन्ध कराना चाहिए।

(५) मादकद्रव्य-निषेध के लिए शराबियों की बस्ती में घर-घर जाकर, उन लोगों को समझा-बुझाकर, नशाखोरी बन्द करने का संगठित कार्य करना। इस कार्य के लिए धरना (पिकेटिंग) से काम न लिया जाय, बल्कि समझाने-बुझाने से, आरजू-मिन्नत से ही काम निकालना चाहिए।

(६) आपस के झगड़ों और मुकदमों को खानगी तौर पर ही तय-तसफिया करा देने की गरज से शहरों और गाँवों में पंचायतें कायम करना। पंचायती फैसलों को लोगों से मनवाने की शक्ति पंचायत की सचाई और ईमानदारी, इनसाफ और लोक-प्रियता से ही पैदा होनी चाहिए। किसी तरह की जोर-जबरदस्ती की परछाई भी न पड़ने पावे। इसलिए ऐसा न होना चाहिए कि जो कोई पंचायती फैसला न माने वह समाज या जाति से खारिज किया जाय।

(७) हर जाति या वर्ग के लोगों में मेलजोल बढ़ाने और आपस के ऐसे मेल-मिलाप की आवश्यकता पर सबका ध्यान खींचने की गरज से मेल-मुआफकत का बढ़ाना असहयोग-आन्दोलन का एक ध्येय है। ऐसे सामाजिक सेवा-विभाग का संगठन करना, जो बगैर किसी भेद-भाव के, सबकी सेवा, रोग-शोक या आपत्ति-विपत्ति-काल में, एक तरह से, एक भाव से करे। असहयोगी को, अपनी नीति पर दृढ़ता से कायम रहते हुए भी, बीमारी में या किसी विपद् के समय, अँगरेजों या हिन्दुस्तानियों की, यानी सबकी, बराबर सेवा करना, अपनी बड़ाई या सौभाग्य की बात समझना चाहिए।

(८) तिलक-स्वराज्य-फंड को इकट्ठा करने का काम जारी रखना और हर-एक काँग्रेसी से या काँग्रेस से सहानुभूति रखनेवालों से माँग पेश करना कि वे अपनी सन् १९२१ की आमदनी का $\frac{१}{१००}$ (सौ हिस्से में एक हिस्सा) तिलक-स्वराज्य-कोष

में दान कर दें। हर-एक सूबा-काँग्रेस-कमिटी अपने इस जमा किये हुए धन का ¼ (चौथाई हिस्सा) हर महीने अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी के पास भेज दिया करे।

(९) वर्किंग कमिटी का यह प्रस्ताव, अगर जरूरी समझा जायगा तो, संशोधन (तरमीम) के लिए अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी की अगली बैठक में पेश किया जायगा।

(१०) वर्किंग कमिटी की राय में किसी ऐसे प्रबन्ध की जरूरत मालूम पड़ती है, जिसके जरिये सरकारी नौकरियों को छोड़कर आये हुए लोगों के लिए कुछ रोजगार-धन्धा दिया जा सके। इस गरज से यह कमिटी सर्वश्री मियाँ मुहम्मद हाजीजान, मुहम्मद छोट्टानी, सेठ जमनालाल बजाज तथा बी० जे० पटेल को मुकर्रर करती है कि ये लोग एक योजना उस तरह की तैयार करके आगामी अखिल भारतीय कमिटी की विशेष बैठक में विचारार्थ पेश करें।

बारडोली में ही यह निश्चय कर लिया गया कि अखिल भारतीय कमिटी की बैठक शीघ्र ही की जाय। तिथि निश्चित करके दिल्ली में बैठक की घोषणा कर दी गयी। इसी बैठक में बारडोली के निश्चय पर विचार होने को था।

गांधीजी ने पाँच दिनों का उपवास किया। वहाँ की जनता की सभा में उन्होंने अपने निश्चय को बतलाया। मैं भी उस सभा में उपस्थित था। लोगों ने बात तो मान ली, पर यहाँ भी निराशा मालूम होती थी।

दिल्ली में, वर्किंग कमिटी की बैठक में, जो अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के पहले हुई, लालाजी और पंडित मोतीलालजी तथा औरों की रोषपूर्ण सम्मतियाँ मिलीं—'यह निश्चय देश के लिए बड़ा हानिकर हुआ है, इससे केवल जनता हतोत्साह ही नहीं होगी बल्कि देश की प्रतिष्ठा को भी ठेस लगेगी।' कुछ नेताओं के पत्र भी, इसी आशय के, गांधीजी के पास, जेल से आ गये थे। ऐसा मालूम होता था कि मानों सभी नेता, यदि वे बाहर होते तो, गांधीजी को पदच्युत कर देते और सत्याग्रह जारी करते। किन्तु गांधीजी टस से मस नहीं हुए। उन्होंने साफ-साफ बता दिया कि जो लोग जेल में बन्द हैं उनको परिस्थिति का पूरा ज्ञान नहीं हो सकता, इसलिए उनको राय देने का कोई अधिकार नहीं है, और यदि वे राय देते हैं तो उसका बहुत वजन नहीं हो सकता। वर्किंग कमिटी में ही मैंने देखा कि गांधीजी जब निश्चय पर पहुँच जाते हैं तो किस प्रकार अटल रह सकते हैं—और अटल रह सकते हैं तीव्र से तीव्र विरोध के बावजूद !

हकीम अजमल खाँ काँग्रेस के सभापति थे। अखिल भारतीय कमिटी का जलसा शुरू हुआ। गांधीजी ने बारडोली के निश्चय के समर्थन और मंजूरी का प्रस्ताव पेश किया। इस पर डाक्टर मुंजे ने उसके सुधार (संशोधन) के रूप में एक प्रस्ताव पेश किया, जिसमें कहा गया कि एक कमिटी बनायी जाय जो असहयोग के कार्यक्रम और उसके अनुसार हर काम की जाँच करे तथा देश को उचित परामर्श दे। इस

प्रस्ताव ने, और इसके समर्थन में किये गये उनके भाषण ने, गांधीजी पर अविश्वास (No Confidence या Censure) का रूप धारण कर लिया। गरमागरम बहस चलने लगी। इसी समय हकीम साहब की तबीयत अचानक खराब हो गयी। वह सभा में बैठने से मजबूर हो गये। उन्होंने गांधीजी को अपने स्थान पर सभापति बना दिया। यह कहकर वह चले गये कि दर्द कम होते ही मैं हाजिर हो जाऊँगा, तब तक महात्माजी सभा का काम चलावेंगे। हम लोगों के देखने में यह ठीक नहीं मालूम होता था कि जिस पर अविश्वास का प्रस्ताव पेश है और उस पर बहस हो रही है, वह सभापति के पद पर बैठा रहे। पर गांधीजी ने निःसंकोच भाव से काम आरम्भ कर दिया। उनके चेहरे-मोहरे से कुछ भी संकोच नहीं झलका। हमने सोच लिया कि वह मानते हैं कि सभापति का काम इतना ही है कि सभी सदस्यों का वह विश्वास-भाजन बना रहे और अपनी किसी कार्रवाई से प्रतिपक्षी के दिल में यह भाव न आने दे कि वह अपने सहायकों का पक्षपाती है। गांधीजी ने वहाँ नीति भी अजीब बरती। जब कोई बोलने उठता तो उससे पूछते कि आप डाक्टर मुंजे के पक्ष में बोलेंगे अथवा विरोध में। यदि वह कहता कि विरोध में, तो कहते कि आप ठहरें। यदि वह कहता कि पक्ष में, तो उसे कहते कि आपको जो कहना हो आप कहें। इस प्रकार कितने ही भाषण डाक्टर मुंजे के पक्ष में हुए और एक भी भाषण उन्होंने अपने पक्ष में होने नहीं दिया। हम लोग कुछ शंकित भी होने लगे। सोचने लगे कि गांधीजी इस प्रकार क्यों अपने पक्ष को कुछ कहने का मौका ही नहीं दे रहे हैं। अन्त में उन्होंने प्रस्ताव को सम्मति के लिए सभा के सामने पेश कर दिया। हाथ उठने पर मालूम हुआ कि प्रायः उतने ही हाथ डाक्टर मुंजे के पक्ष में उठे जितने भाषण उनके पक्ष में हुए थे! अविश्वास का प्रस्ताव बड़े बहुमत से नामंजूर हो गया। बारडोली का निश्चय निम्नलिखित प्रकार से पेश किया गया।

(१) अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी की यह बैठक बारडोली के—११ और १२ फरवरी १९२२ की वर्किंग कमिटी की बैठक में पास हुए—रचनात्मक कार्यक्रम के प्रस्ताव को पूर्ण विचार के बाद मंजूर करती है और साथ ही साथ यह निश्चय करती है कि व्यक्तिगत या शख्सी भद्र अवज्ञा यानी सिविल नाफरमानी, चाहे वह रक्षार्थ हो चाहे आक्रमणकारी या हमलेआवर, खास-खास जगहों में या खास-खास कानूनों के बाबत, मुकामी सूबा काँग्रेस-कमिटी से इजाजत लेकर, की जा सकती है। पर खयाल रहे कि यह उसी हालत में की जा सकती है जब कि अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी या उसकी वर्किंग कमिटी की बताई हुई, सिविल नाफरमानी जारी करने के पहले की, कुल शर्तें ठीक-ठीक पूरी हो चुकी हों।

(२) कई जगहों से रिपोर्ट आई है कि शराब की दूकानों पर जिस तरह से धरना या पिकेटिंग की जाती है, उसी तरह कपड़े की दूकानों पर भी पिकेटिंग की जरूरत है। इसलिए यह अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी ऐसी पिकेटिंग की इजाजत

कपड़े की दूकानों के लिए भी देती है, जो नेकनीयती से और बारडोली के प्रस्ताव में बतलाये हुए तरीकों से तथा उन्हीं शर्तों के साथ की जायगी।

(३) अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी अपनी यह राय जाहिर कर देना चाहती है कि वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव के यह मानी नहीं हैं कि वह अपने पहले के असहयोग या सामूहिक भद्र अवज्ञा के प्रोग्राम को छोड़ देती है। उसका मतलब सिर्फ यह है कि बारडोली-प्रस्ताव में बतलाये हुए रचनात्मक कार्यक्रम पर कार्यकर्त्ताओं के पूरे दिल से लग जाने से और उसे सफल बनाने से ही सामूहिक भद्र अवज्ञा के लिए आवश्यक या अनुकूल वायु-मण्डल तैयार किया जा सकता है। अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी की यह तजवीज है कि जनता को ऐसी ही हालत में सिविल नाफरमानी वा भद्र अवज्ञा को काम में लाने का पूरा हक और कर्तव्य है जब कि शासनकर्ता व अधिकारीवर्ग जनता के निश्चय किये हुए विचारों का विरोध करने पर उतारू हो जायँ।

नोट—शख्सी या व्यक्तिगत अवज्ञा या नाफरमानी उसे कहते हैं जो एक शख्स या एक निश्चित संख्या के (महदूद) लोगों के दल या जमायत के जरिये कानून के खिलाफ या गवर्नमेण्ट के हुक्म को न मानकर किया जाय। इसलिए ऐसी मीटिंग या सभा को, जिसमें टिकट के जरिये ही लोग जाने पाते हों और जिसमें कोई अनधिकारी दर्शक नहीं जा सकता है, यदि सरकार ने करने से मना कर दिया हो, कर लेना व्यक्तिगत अवज्ञा या शख्सी नाफरमानी है। और अगर सभा आम जनता की है, जिसमें चाहे जो कोई बिना रोक-टोक शरीक हो, तो वैसी सभा यदि सरकार की आज्ञा के विरुद्ध की जाय, तो वह सामूहिक भद्र अवज्ञा (Mass Civil Disobedience) है। अवज्ञा या नाफरमानी को बचाव के लिए वा रक्षार्थ उस हालत में कहेंगे जब मीटिंग या सभा किसी कार्यक्रम को अंजाम देने के लिए की गयी हो। आघातक या हमलेआवर उस हालत में कहेंगे जब सभा किसी काम के करने के लिए नहीं, बल्कि गवर्नमेण्ट की मनाही की आज्ञा को तोड़ने के लिए की जाय तथा गिरफ्तारी या जेल या दूसरे प्रकार के दमन को अपने ऊपर लाने के लिए करें।

यह कमिटी बारडोली के निश्चय को मंजूर करने के साथ-साथ केवल सामूहिक भद्र अवज्ञा को छोड़ लोगों को सभी जरूरी कार्यक्रम पूरा करने की हिदायत करती है, जो इस समय स्थगित हो गये हैं।

गांधीजी ने प्रस्ताव पेश करने के समय ही ऐसा भाषण कर दिया था कि उसका असर लोग नहीं मिटा सके। सत्याग्रह स्थगित रह गया।

इस बैठक के सम्बन्ध में दो बातें, यद्यपि वे छोटी हैं, कह देना बेजा न होगा। दिल्ली की बैठक का दिन निश्चित करने के समय पंचांग नहीं देखा गया था। इत्तिफाक से जो दिन मुकर्रर किया गया उसी दिन फाल्गुन की शिवरात्रि का पर्व था। हिन्दुओं की ओर से तार पहुँचने लगे कि दिन बदल दिया जाय। पर गांधीजी इस पर राजी नहीं हुए। मैंने उनसे कहा कि शिवरात्रि बड़ा भारी पर्व माना जाता है—बहुतेरे लोग उपवास और पूजा इत्यादि करते हैं; इसलिए दिन क्यों न बदल दिया

जाय। इस पर उन्होंने कहा, "उपवास और बैठक में कोई विरोध नहीं हो सकता; क्योंकि लोग उपवास करके भी सभा में शरीक हो सकते हैं, और यह कहाँ किस शास्त्र में लिखा है कि व्रत के दिन कोई अच्छा काम नहीं करना चाहिए? देशसेवा का यह एक महत्त्वपूर्ण काम है। यदि हिन्दू उसमें उस धार्मिक प्रवृत्ति के साथ शरीक होंगे, जो ऐसे पवित्र दिन में उनसे अपेक्षित है, तो इससे बढ़कर दूसरी बात और क्या बेहतर हो सकती है?" तिथि उन्होंने नहीं बदली।

एसोसिएटेड प्रेस के संस्थापकों में एक सज्जन श्री केशवचन्द्र राय (के० सी० राय) थे, जिनको मैं कलकत्ते में पढ़ने के समय से ही जानता था। वह उन दिनों कलकत्ते के एक अँगरेजी पत्र 'डेली न्यूज' के सम्पादकीय विभाग में काम किया करते थे। उन दिनों वह बहुत प्रसिद्ध व्यक्ति नहीं हुए थे। इसलिए मुझ-जैसे एक विद्यार्थी के साथ भी उनकी जान-पहचान अच्छी तरह हो गयी थी। एसोसिएटेड प्रेस की स्थापना के बाद अखबारी दुनिया में उनका बड़ा नाम हो गया था। उच्च से उच्च कोटि के लोगों तक वह आसानी से पहुँच पाते थे। सरकारी हलकों में उनकी धाक और पहुँच तो थी ही। उनसे दिल्ली में मुलाकात हो गयी। बहुत प्रेम से उन्होंने मुझसे एकान्त में कहा कि अब तुम लोगों के साथ सरकार सख्ती बरतेगी—वह जान गयी है कि तुम लोग अब कमजोर हो गये हो—तुम लोगों में आपस में फूट आ गयी है—एकमत नहीं रहा, इसलिए अब गांधीजी भी शीघ्र गिरफ्तार कर लिये जायँगे। उनके कहने से मुझे कुछ ऐसा नहीं मालूम हुआ कि ये बातें उन्होंने किसी मिली हुई खबर के आधार पर कही हैं। मैंने समझा कि परिस्थिति को देखते हुए यह उनका अनुमान-मात्र ही था। जो हो, दिल्ली की बैठक के बाद हम लोग अपने-अपने स्थान पर पहुँचे ही थे कि खबर आ गयी—गांधीजी गिरफ्तार करके साबरमती जेल में ले जाये गये हैं! मैं तुरंत साबरमती के लिए रवाना हो गया। वहाँ जिस दिन मुकदमा दौरा-जज के यहाँ पेश होनेवाला था, मैं पहुँच गया।

कोर्ट के दृश्यों को मैं कभी भूल नहीं सकता। गांधीजी का बयान तो एक तारीखी बयान है ही। जज का तौर-तरीका भी उस महत्त्वपूर्ण समय के अनुकूल ही था। गांधीजी पर 'यंगइण्डिया' में लिखे गये लेखों के सम्बन्ध में अभियोग था। गांधीजी ने अभियोग को तो अपने बयान में ही स्वीकार कर लिया था। यह भी कह दिया था कि यदि वह आजाद रहेंगे तो वैसे ही आग के साथ खेलते रहेंगे जैसे अब तक खेलते रहे हैं। जज के लिए भी दो रास्तों में से एक को स्वीकार करने के सिवा तीसरा रास्ता नहीं हो सकता। यदि वह गांधीजी के विचारों से सह-मत हों तो उनको इस्तीफा दे देना चाहिए, और यदि सहमत न हों तो जितनी सख्त सजा वह दे सकते हों उनको देना चाहिए; क्योंकि जो कुछ गांधीजी ने किया है वह जान बूझकर किया है और मौका मिलने पर फिर करेंगे।

जज ने एक छोटे-से भाषण में, जिससे भी आवेश टपक रहा था, कहा कि अभियोग स्वीकार कर लेने से उनका काम एक प्रकार से तो हल्का हो गया है, पर

दूसरे प्रकार से जो काम बाकी रह गया है अर्थात् सजा देने का, वह काम बहुत ही कठिन है। गांधीजी को उनके असंख्य देशवासी पूज्य मानते हैं। जज को किसी ऐसे पुरुष के मुकदमे के देखने-सुनने का मौका पहले कभी नहीं मिला है और शायद मिलेगा भी नहीं। जज को केवल कानून के अनुसार काम करने का ही अधिकार है। कानून एक मनुष्य और दूसरे मनुष्य में, व्यक्तित्व के कारण, भेद नहीं करता। इसलिए उसे सजा तो देनी पड़ेगी ही। गांधीजी का स्थान लोकमान्य तिलक-जैसा ही है। जो सजा उनको ऐसी ही परिस्थिति में मिली थी, वही अर्थात् छः साल कैद की सजा, गांधीजी को भी देना अनुचित न होगा।

यही हुक्म जज ने सुना दिया। गांधीजी ने उनको इस बात के लिए धन्यवाद दिया कि उन्होंने उनको लोकमान्य-तिलक के समकक्ष माना। जज के उठ जाने के बाद, हम जितने थे सब, एक-एक करके, गांधीजी से मिलकर, प्रणाम करके बिदा हुए। वह दृश्य अत्यंत कारुणिक था। मैं दिल का कमजोर हूँ। बच्चों का रोना भी मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। करुणा के मौके पर मैं अपने को रोक नहीं सकता। मैं फूटफूटकर रोने लगा। श्री केलकर भी वहाँ उपस्थित थे। उन्होंने मुझे रोते हुए देखकर बहुत समझाया और कहा कि जब लोकमान्य को दण्ड मिला था, तो उन लोगों की भी वही दशा हुई थी। कुछ देर के बाद मैं भी सँभल गया और गांधीजी से बिदा हुआ।

उसी मुकदमे में श्री शंकरलाल बैंकर भी अभियुक्त थे। वही 'यंगइण्डिया' के प्रिण्टर और प्रकाशक थे। उनको भी एक साल की सजा मिली। उनका सौभाग्य था कि वह गांधीजी के साथ ही सजा पाकर जेल गये और अपनी मीयाद पूरी होने तक उनके साथ ही रहे।

४१—रचनात्मक काम का प्रारंभ और भद्र अवज्ञा कमिटी की नियुक्ति

जेल जाते समय महात्मा गांधी ने आदेश दिया था कि कांग्रेस को रचनात्मक काम में लग जाना चाहिए; उसी के द्वारा देश सत्याग्रह के लिए तैयार हो सकेगा। इस रचनात्मक कार्यक्रम में खादी-प्रचार द्वारा विदेशीवस्त्र-बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा, अछूतोद्धार, हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की स्थापना इत्यादि मुख्य थे। देश को सत्याग्रह के लिए तैयार न पाकर ही उन्होंने बारडोली में सत्याग्रह स्थगित कर दिया था। इससे स्पष्ट था कि अभी वह सत्याग्रह के लिए अनुमति देना नहीं चाहते थे। उनके जेल चले जाने के बाद देश में एक प्रकार की किंकर्तव्यविमूढ़ता आ गयी। उत्साही और आवेश में आये हुए लोग चाहते थे कि सत्याग्रह आरम्भ कर ही दिया जाय। कुछ लोग यह कहने को भी तैयार हो गये थे कि गांधीजी ने सत्याग्रह रोक कर देश का सत्यानाश कर दिया और अब यह सारा आन्दोलन खतम हो गया। कुछ लोग सोचने लगे कि जब सत्याग्रह नहीं करना है तो कौन्सिलों का बहिष्कार बेकार है—वहाँ जाने में जो प्रतिबन्ध है उसे हटा देना चाहिए। कुछ लोग गांधीजी के बताये

रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर दे रहे थे और उसके लिए जोरों से काम करना चाहते थे।

जो फूट का बीजवपन दिसम्बर के महीने में लार्ड रीडिंग के साथ समझौता न करने के कारण हुआ था, और जो बारडोली-निश्चय के समय काफी अंकुरित हो चुका था, वह तीव्र गति से पल्लवित होता गया। बड़े-बड़े नेता भी जेल में थे। बारडोली और दिल्ली के निश्चय ऊपर दिये गये हैं। उनसे स्पष्ट है कि सामूहिक सत्याग्रह तो स्थगित कर दिया गया था, आक्रमणकारी व्यक्तिगत सत्याग्रह भी बन्द ही था; पर बचाव के लिए सत्याग्रह की इजाजत थी।

कुछ लोग, विशेष करके महाराष्ट्र के कुछ लोग, शुरू से ही असहयोग के और सत्याग्रह के कार्यक्रम से असन्तुष्ट थे। देश की परिस्थिति के प्रभाव से जो निश्चय काँग्रेस ने कर दिया उसके अनुसार वे काम तो अवश्य करने लगे थे; पर उनका दिल कभी इस सारे कार्यक्रम में नहीं लगा। इसलिए जब-जब उनको मौका मिलता, वे इसके किसी न किसी अंश के विरुद्ध आवाज उठाते। १९२१ की जुलाई-वाली अखिल भारतीय कमिटी के बम्बई-अधिवेशन में ही उन्होंने आवाज उठाई थी। फिर वही बात अहमदाबाद-काँग्रेस के समय भी कही जाने लगी। जब बारडोली में वर्किंग कमिटी ने सत्याग्रह स्थगित करने का निश्चय किया, तो उनको और भी बहुत अच्छा मौका मिला। दिल्ली की अखिल भारतीय कमिटी में डाक्टर मुंजे ने उसी कारण से एक प्रस्ताव उपस्थित किया था, जिसका जिक्र ऊपर किया जा चुका है। वह चाहते थे कि सारे कार्यक्रम के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए एक कमिटी बनायी जाय। वहाँ तो वह प्रस्ताव नामंजूर हो गया। पर मराठी मध्यप्रादेशिक काँग्रेस-कमिटी में डाक्टर मुंजे की इच्छा पूरी हुई। वहाँ एक कमिटी बनी। उसने एक रिपोर्ट तैयार की, जिसमें प्रायः सारे कार्यक्रम को तोड़मरोड़ कर एक नया कार्यक्रम बनाया गया। वहाँ की प्रान्तीय कमिटी ने उसे अखिल भारतीय कमिटी के पास विचारार्थ भेजने का निश्चय किया। पर वहाँ की जनता इससे सन्तुष्ट नहीं थी। नागपुर में एक बड़ी सभा हुई। उसमें प्रान्तीय कमिटी पर अविश्वास प्रकट किया गया। उस सभा में आठ-नव हजार आदमी थे। श्री जमनालाल बजाज उसके सभापति थे। डाक्टर मुंजे के विचारवाले लोग भी उसमें सम्मिलित थे। रिपोर्ट के समर्थन में जो कुछ कहा जा सकता था, उन्होंने कहा भी। पर सात घंटों की बहस के बाद सभा ने रिपोर्ट की निन्दा की। चन्द हाथ ही उसके पक्ष में उठे। बाकी सबके सब रिपोर्ट के विरोध में ही रहे!

इसके बरक्स (विपरीत) बिहार ने बारडोली और दिल्ली के निश्चयों का स्वागत किया। प्रान्तीय कमिटी ने रचनात्मक कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक लम्बा प्रस्ताव पास किया। यद्यपि यहाँ भी सरकारी दमन चल ही रहा था तथापि सत्याग्रह बन्द कर दिया गया और काँग्रेस-कमिटियों को आदेश दिया गया कि वे रचनात्मक कार्य-क्रम जोरों से चलावें। गुजरात ने भी ऐसा ही किया। बिहार में इसका यह असर

हुआ कि दूसरे विचार के लोग, जो असहयोग और सत्याग्रह के कारण काँग्रेस से अलग हो रहे थे, रचनात्मक काम में मदद देने के लिए तैयार हो गये। इनमें मुख्य थे बाबू गणेशदत्त सिंह। पटने में ऐसे लोगों की एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें मैं भी दूसरे असहयोगियों के साथ शरीक हुआ था। वहाँ पर उन्होंने निश्चय किया कि वे भी इसमें पूरी दिलचस्पी लेंगे और यथासाध्य मदद करेंगे।

हमने खादी का काम जोरों से हाथ में लिया। साथ ही, राष्ट्रीय शिक्षा-सम्बन्धी एक कान्फ्रेन्स की गयी, जिसमें इसके नियम और पाठ्यक्रम इत्यादि पर विचार किया गया। उस समय जितनी पाठशालाएँ चल रही थीं उनकी आर्थिक सहायता इत्यादि का प्रबन्ध सोचा गया। हम लोग, सभी, इन्हीं विचारों को लेकर, जहाँ-तहाँ सफर भी करने लगे।

सरकार की दुहरी नीति चलती रही। कहीं-कहीं गिरफ्तारियाँ भी हो रही थीं। दूसरी ओर, जो जेल में गये थे उनके मुकदमों के कागजों को गवर्नमेण्ट ने हाइकोर्ट के एक जज सर वसन्तकुमार मल्लिक के पास भेजा। उनसे कहा गया कि वह कागजों को देखकर अपनी सम्मति दें कि सजा ठीक और उचित है या नहीं। उनकी सिफारिश से कुछ लोग छोड़ दिये गये और कुछ की सजा कम हुई। पर अधिकांश ज्यों के त्यों जेलों में पड़े रहे।

श्री सच्चिदानन्द सिंह १९२१ में ही, राय कृष्णसहाय बहादुर की मृत्यु के बाद, बिहार के गवर्नर की कौन्सिल के मेम्बर नियुक्त हो चुके थे। जेल का महकमा उन्हीं के चार्ज में था। उन्होंने राजबन्दियों के सम्बन्ध में कुछ नियम बनाये, जिनसे जनता को कुछ सन्तोष हुआ। पर जेल के अधिकारी इससे बिलकुल सन्तुष्ट नहीं थे। कुछ दिनों के बाद, एक आदमी (सर हरमुसजी बनातवाला) जेलों का इन्स-पेक्टर-जेनरल बनकर, कहीं किसी दूसरे प्रान्त से, आया। वह बड़ी सख्ती बरतने लगा। नये कायदों के बावजूद, बिहार के जेलों में राजबन्दियों के साथ काफी सख्ती होती रही, जिसका जिक्र उन दिनों पत्रों में अक्सर हुआ करता था। उनसे चक्की चलवाना और कोल्हू पेरवाना तो मामूली बात थी। अगर हुक्म के मुताबिक पूरा काम न हो तो उसके लिए सजा होती। पैरों में बेड़ी, डंडाबेड़ी, खड़ी हथकड़ी, चट्टी कपड़ा, जो जेल की सख्त सजाएँ हैं, बहुतेरों को भोगनी पड़ीं। कहीं-कहीं बेंत भी लगाये गये। मुसलमानों की संख्या जेलों में काफी थी। इसलिए उनसे अजान के मामले को लेकर मुठभेड़ हो गयी। अधिकारियों ने इसे बन्द करने का हुक्म दिया। उन्होने नहीं माना। इसके लिए बहुतों की सजा हुई।

मौलाना मजहरुल हक साहब ने १९२१ के सितम्बर से ही एक साप्ताहिक पत्र, 'मदरलैंड' के नाम से, निकालना शुरू किया था। उसमें वह खुद अधिक लिखा करते थे। वह पटने से प्रकाशित हुआ करता था। उसमें जेल-सम्बन्धी एक लेख छापने के लिए उन पर सर हरमुसजी बनातवाला ने मुकदमा चलाया, जिसमें उनकी

भी सजा हो गयी। मुझे भी एक कड़ी टिप्पणी, श्री सच्चिदानन्द सिंह के जेल-सम्बन्धी शासन के विरुद्ध, लिखनी पड़ी थी।

महात्माजी के कैद हो जाने के बाद वर्किंग कमिटी की बैठक जहाँ-तहाँ होती रही। बैठकों में रचनात्मक काम पर जोर दिया जाता रहा। एक में खादी-प्रचार के काम को संगठित रूप से चलाने के लिए एक बोर्ड बनाने का निश्चय हुआ। इस काम के लिए तिलक-स्वराज्य-फण्ड से रुपये देने की भी अनुमति दी गयी। श्री विट्ठल-भाई पटेल, जो अखिल भारतीय कमिटी के मंत्री थे, भाषणों और समाचारपत्रों में लेखों द्वारा, जनता को और काँग्रेस-कार्यकर्ताओं को बराबर उत्साहित करते रहे कि वे काँग्रेस के अधिक से अधिक मेम्बर बनाने में, तिलक-स्वराज्य-फण्ड के लिए पैसे जमा करने में तथा खादी-प्रचार, अछूतोद्धार और राष्ट्रीय शिक्षा के कामों में जोर लगाते रहें। तो भी सुस्ती आती गयी। लखनऊ में अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी की बैठक की गयी। श्री विट्ठलभाई पटेल उस समय की परिस्थिति से बहुत असन्तुष्ट थे। मैं लखनऊ पहुँचा तो सही, पर वहाँ पहुँचकर ज्वरग्रस्त हो गया। इसलिए वहाँ की बैठक में प्रायः दर्शक-सा ही भाग ले सका, बहस-मुबाहसे में बहुत भाग न ले सका। भाग्यवश पंडित मोतीलाल नेहरूजी उसी समय छूटे। दूसरे दिन वह उस बैठक में शरीक हुए। पंडितजी के पहुँचने के पहले ही उस बैठक में श्री विट्ठलभाई पटेल और कति-पय दूसरे नेताओं की प्रेरणा से एक कमिटी मुकर्रर करने की बात हुई, जिसके जिम्मे यह काम दिया गया कि वह देश की परिस्थिति पर विचार करके और जहाँ जाकर जाँच करने की जरूरत समझी जाय वहाँ जाकर जाँच करके इस बात की रिपोर्ट करे कि देश सत्याग्रह के लिए तैयार है वा नहीं। पंडितजी ने भी आन के बाद इसे मंजूर कर लिया और सभापति से आग्रह किया गया कि वह एक कमिटी बनावें। गांधीजी, बगैर किसी कमिटी की जाँच के ही, देश की नाड़ी पहचान लिया करते थे। जब से वह भारत लौटे थे तथा सार्वजनिक कामों में खुले तौर पर भाग लेने लगे थे, उन्होंने अपनी इसी शक्ति से काम लिया था। उनके हटते ही कमिटी को इसकी जरूरत महसूस हुई। पर इसका परिणाम अच्छा नहीं हुआ। जैसे भारत में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट जब किसी विषय को टाल देना चाहती है तो एक जाँच-कमिटी मुकर्रर कर देती है, वैसे ही हमने भी किया! इससे एक प्रकार से सत्याग्रह स्थगित हो गया। रचनात्मक काम में जो उत्तेजना मिलनी चाहिए थी और जिस पर गांधी जी जोर दे गये थे, वह भी एक प्रकार से गौण बन गया।

इसी बैठक में एक दूसरा काम भी किया गया, जिसका फल कुछ दिनों के बाद बहुत अच्छा निकला। देश-भर में बढ़ते हुए खादी के काम की देख-रेख के लिए वर्किंग कमिटी ने जो बोर्ड बनाया था, उसे कमिटी ने, मंजूर किया। १९२१ में जब स्वराज्य-फण्ड जमा हो चुका और खादी के काम पर जोर दिया गया, तो उस फण्ड में से सभी प्रान्तों को खादी-प्रचार के लिए रुपये दिये गये। किसी को अभी खादी का न तो बहुत ज्ञान था और न अनुभव। इसलिए महसूस किया गया कि रुपये बहुत

नुकसान होंगे, और काम ठीक तरह से आगे नहीं बढ़ेगा। इस बोर्ड के जिम्मे सभी सूबों में संगठित रूप से काम की देखरेख करने का भार दिया गया। सेठ जमनालाल बजाज इसके सभापति नियुक्त हुए। सेठजी को रचनात्मक काम पर बहुत विश्वास था। उन्होंने खादी-प्रचार तथा अछूतोद्धार के काम को बहुत परिश्रम और दिलचस्पी से शुरू कर दिया।

४२—बिहार में काँग्रस को निमंत्रण और उसकी तैयारी

अहमदाबाद-काँग्रेस में बिहार के जो प्रतिनिधि उपस्थित हुए उन सबकी राय हुई कि इस बार काँग्रेस का अधिवेशन बिहार में करने के लिए निमंत्रण दिया जाय। बिहार में इसके पहले केवल एक ही बार काँग्रेस हुई थी—१९११ में, जब आपस के मतभेद के कारण काँग्रेस बहुत क्षीण हो चुकी थी और उसमें हाजिरी बहुत कम हुआ करती थी। उस बार के अधिवेशन के प्रबन्धकों का अनुभव कुछ अच्छा नहीं, बल्कि कटु ही था। यहाँ तक कि काँग्रेस के समय में जो खर्च हुआ उसके कुछ रुपये बाकी पड़ गये। स्वागत-समिति के अध्यक्ष मजहरुल हक साहब, मंत्री श्री सच्चिदानन्द सिंह तथा अन्य सदस्यों पर उन बाकी रुपयों के लिए अदालत में नालिश हुई! पर अब बिहार में, चम्पारन में महात्माजी के आगमन के बाद, और विशेषकर १९२१ के आन्दोलन के कारण, काफी जागृति हो गयी थी। हम लोगों ने महसूस किया कि इस बार वैसे कटु अनुभव नहीं होंगे। साहस करके हमने निमंत्रण तो दे दिया; पर वहाँ यह निश्चय न कर सके कि बिहार के किस नगर में अधिवेशन किया जाय। यह बिहार की प्रान्तीय कमिटी की बैठक में निश्चय करने के लिए छोड़ दिया गया। काँग्रेस ने भी अहमदाबाद में निश्चय नहीं किया कि किस सूबे में अगला अधिवेशन होगा। यह निश्चय कुछ दिनों के बाद वर्किंग कमिटी ने किया कि बिहार का निमंत्रण मंजूर किया जाय।

बिहार में, प्रान्तीय कमिटी की बैठक के पहले, मैंने कुछ जगहों को जाकर खुद देखा। तब कमिटी की बैठक की गयी। वहाँ पर निश्चय हुआ कि गया में काँग्रेस का अधिवेशन किया जाय। उस जिले में, रुपये जमा करने के लिए, मैं श्री कृष्णप्रकाश सेन सिंह के साथ दौरा करने लगा। कुछ सफलता भी मिली। सारे जिले में, जहाँ मैं पहले कभी नहीं गया था, जाने का अच्छा मौका मिला। उस ज़िले में बरसात में घूमना बहुत मुश्किल है। मिट्टी केवाल (चिकनी-कड़ी) है। जहाँ पक्की सड़क नहीं है वहाँ किसी भी सवारी का गुजर नहीं है। इसलिए, बरसात के पहले ही, मैंने बहुतेरी जगहों में, जहाँ कुछ जमा हो सकता था वहाँ जाकर, काम कर लिया।

पटने में १९११ की काँग्रेस के स्वागत-मंत्री पर मुकदमे की बात मुझे याद थी। इसलिए निश्चय किया गया था कि अभी स्वागताध्यक्ष तथा अन्य पदाधिकारियों का पक्का चुनाव न किया जाय। जब काफी संख्या में स्वागत-समिति के सदस्य बन जायँगे तभी पदाधिकारियों का चुनाव करना ठीक होगा। तब तक काम चलाने

के लिए मैं ही अस्थायी मंत्री बना दिया गया। कुछ लोगों की, जिनमें अनुग्रह बाबू भी थे, मेरे सहायतार्थ, एक छोटी कार्यकारिणी बना दी गयी। मैंने निश्चय कर लिया और कमिटी को कह भी दिया था कि मैं एक पैसा भी उधार या कर्ज ले करके खर्च नहीं करूँगा—इतना ही नहीं, किसी काम को तब तक शुरू भी नहीं करूँगा जब तक उसके लिए पूरे रुपये पास में न आ जायँगे। यही एकमात्र उपाय था, जिससे अपने ऊपर की आर्थिक जिम्मेदारी से मैं तथा कमिटी के मेम्बर अपने को बचा सकते थे। सभी जिलों में पत्र लिखे गये कि सभी स्वागत-समिति के सदस्य बनावें और चन्दा जमा करें। पर कार्यकर्त्ताओं में कुछ सुस्ती-सी दीखने लगी, धनसंग्रह में भी कमी होने लगी। अहमदाबाद के बाद काँग्रेस का रूप ही बदल गया था। हमको एक नया शहर-सा बसाना था, जो गया शहर से बाहर हो और जहाँ लोगों के रहने के लिए झोपड़े तथा रोशनी और पानी का पूरा प्रबन्ध हो। इसके अतिरिक्त काँग्रेस का पंडाल तैयार कराना था। कुछ कठिनाई जमीन मिलने में हुई। पर स्थानीय लोगों की कृपा से, गया शहर से प्रायः डेढ़-दो मील दक्खिन, 'तेनुई' गाँव में, पक्की सड़क के पूरब आम का बगीचा और पच्छिम में खाली खेत मिल गये। खाली खेत में पंडाल और बगीचे में रहने के लिए झोपड़े बनाने का निश्चय हुआ। कुछ दूर पर एक दूसरी फुलवारी मिल गयी, जिसमें एक छोटा बँगला भी था। उसी में खादी-प्रदर्शनी करने का निश्चय हुआ। कुछ समय तो नक्शा बनाने में और जहाँ-तहाँ रुपये तथा बाँस-बल्ली जमा करने में लगा। बरसात में काम हो ही नहीं सकता था। इसलिए बर-सात के बाद ही काम शुरू करने का निश्चय हुआ।

अधिवेशन दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में हुआ करता था। इसलिए बरसात के बाद प्रायः तीन महीने मिलते थे। यदि रुपये और सामान तैयार रहें तो सब कुछ कर लेना ज्यादा मुश्किल न था। पर दुर्भाग्यवश अभी रुपये काफी नहीं आये थे। मैंने पत्रों द्वारा और आदमी भेज कर सभी जिलों को ताकीद किया, पर रुपये काफी नहीं आये। मेरी चिन्ता बढ़ने लगी। मैंने तो निश्चय कर ही लिया था कि तब तक किसी के साथ कोई काण्ट्राक्ट (ठीका) नहीं करूँगा जब तक काण्ट्राक्ट के लिए पूरे रुपये बंक में जमा न हो चुके होंगे। ज्यों-ज्यों समय नजदीक आने लगा, चिन्ता बढ़ने लगी। हम उस समय के नजदीक पहुँचने लगे जब कोई काण्ट्राक्टर (ठीकेदार) समय की कमी के कारण आवश्यक झोपड़े, पंडाल इत्यादि तैयार कर देनेवाला न मिलता। कमिटी की बैठक हुई। सब बातों पर विचार किया गया। मैं अपने इस निश्चय पर डटा रहा कि जब तक किसी काम के लिए पूरे रुपये बंक में जमा न हो जायँगे तब तक मैं मंत्री की हैसियत से किसी काण्ट्राक्ट पर दस्तखत नहीं करूँगा। सब जिलों के कार्यकर्त्ताओं की सुस्ती से हम घबरा रहे थे। अन्त में यह निश्चय किया गया कि कमिटी के मेम्बरों की व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर बंक से रुपये कर्ज लिये जायँ, ये रुपये बंक में जमा कर दिये जायँ और तब नगर-निर्माण इत्यादि का काण्ट्राक्ट दिया जाय।

इस तरह पचास हजार रुपये कर्ज लेने की बात तय हुई। कुछ लोग चाहते थे कि यह बात गुप्त रखी जाय, क्योंकि इसका प्रकाशित होना सारे सूबे के लिए बेइज्जती की बात होगी और गवर्नमेण्ट के कर्मचारी तथा दूसरे लोग यह देखकर खुशियाँ मनायेंगे। मैंने कहा कि सूबे की जनता पर मेरा पूरा विश्वास है। लोगों को जब यह मालूम हो जायगा कि काँग्रेस को निमंत्रित करके हम इस असहाय अवस्था में हैं, तो वे जरूर आवश्यक रुपये दे देंगे। साथ ही, काँग्रेसी कार्यकर्त्ता भी परिस्थिति की विषमता समझेंगे और रुपये जमा करने में दिल से लग जायँगे।

प्रस्ताव अखबारों में छाप दिया गया। मैं रुपये जमा करने के लिए दौरे पर निकल गया। जैसे ही लोगों ने इस प्रस्ताव को अखबारों में पढ़ा, सारे सूबे के काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओं के दिल में आग-सी लग गयी। सभी खूब जोरों से स्वागतकारिणी के मेम्बर बनाने और रुपये जमा करने में लग गये। मैं जहाँ गया वहाँ काफी रुपये मिलने लगे। सभी लोग प्रान्त की बेइज्जती महसूस करने लगे। मैं प्रायः एक सप्ताह के दौरे के बाद कई हजार रुपये जमा करके लौटा। रुपये साथ में थे। हम लोग ठहरा करते थे उसी छोटे बँगले में जो शहर से प्रायः डेढ़ मील दूर था और जिसमें खादी-प्रदर्शनी करने का निश्चय हुआ था। वहाँ इतने रुपये साथ में रखना ठीक नहीं था। रेल से मैं चार बजे के करीब सेपहर को उतरा। गया स्टेशन पर मुझे पुलिस का एक दारोगा मिला। उसने अखबारों में हमारे प्रस्ताव को पढ़ा था। वह यह स्वप्न देख रहा था कि शायद गया में काँग्रेस हो ही नहीं सकेगी। उसने ट्रेन से उतरते ही मुझसे प्रश्न किया, बंक से रुपये कर्ज ले लिये गये? शायद वह समझता था कि कोई बंक भी इतनी बड़ी रकम व्यक्तिगत जिम्मेदारी पर कर्ज न देगा। मैंने उत्तर दिया, नहीं। तब उसने पूछा, तो काँग्रेस कैसे हो सकेगी? मैंने उत्तर दिया, कर्ज लेने की अब जरूरत नहीं रह गयी। यह सुनकर वह बहुत आश्चर्य में पड़ गया। मैंने यह भी कह दिया कि अब काम के लिए काफी रुपये आ गये हैं और मैं खुद अपने साथ एक अच्छी रकम जमा करके ला रहा हूँ। उसको मेरी बातों पर पूरा विश्वास नहीं हुआ। मैं तो रुपयों के बोझ को बंक में डाल देना चाहता ही था। इसलिए गाड़ी भाड़ा करके सीधे बंक की ओर चला। वह साइकिल पर गाड़ी के पीछे-पीछे चला। जब उसने देखा कि बंक में सचमुच मैं एक बड़ी रकम गिनवा कर जमा कर रहा हूँ तब उसको मेरी बात पर विश्वास हुआ। वह हमारा साथ छोड़कर अपने दूसरे काम पर चला गया। मैं जो कुछ जमा करके लाया था उसके अलावा सभी जिलों से रोजाना रुपये पहुँचने लगे। हम लोग भी इधर-उधर चक्कर लगाते ही रहे। इधर निर्माण का काम भी तेजी से चलने लगा।

भला गरीब बिहार धनी अहमदाबाद के ठाट-बाट की कहाँ तक नकल या मुकाबला कर सकता था। पर मेरा खयाल है कि हमने भी अच्छा ही प्रबन्ध कर लिया और खर्च भी गुजरात से बहुत कम ही किया।

प्रदर्शनी के सम्बन्ध में हमने निश्चय कर लिया था कि खादी बनाने की सभी प्रक्रियाओं का प्रदर्शन किया जाय। खादी में हमने केवल कपास के कपड़े को

ही नहीं, बल्कि रेशम, ऊन, पाट इत्यादि उन सभी चीजों को शामिल कर लिया था, जिनसे सूत या रस्सी बट करके कोई भी चीज बुनकर बनाई जाती है। इनमें से प्रत्येक की, आरम्भ से लेकर जब तक चीज तैयार होकर इस्तेमाल के योग्य न बन जाती थी तब तक की, सभी प्रक्रियाएँ दिखाने का प्रबन्ध किया गया। उदाहरणार्थ, कपास को लीजिए। कपास के पौधे से लेकर, कपास की ओटाई, धुनाई, कताई, ताना करना, पाई करना, बुनना, कपड़े की धुलाई-छपाई इत्यादि तक, सभी प्रक्रियाएँ दिखलाई जाती थीं। इसी प्रकार से ऊन, रेशम, पाट इत्यादि की भी। अभी चर्खा-संघ कायम नहीं हुआ था। उसका काम खद्दर-बोर्ड करता था, पर वह अभी एक बरस का भी नहीं हुआ था। इसलिए खादी-कार्य का संगठन और अनुभव तथा जानकारी नहीं के बराबर थी। इन सब चीजों को और सबके लिए कारीगरों को जुटाना कुछ आसान काम न था। पर यह सब प्रबन्ध हो गया। खादी-प्रदर्शनी अपने ढंग की अच्छी हुई। दर्शकों के टिकट से जो पैसे आये वे प्रायः प्रदर्शनी के खर्च के लिए काफी साबित हुए।

४३—आसाम और संथाल-परगना में दमन

काँग्रेस के वार्षिक अधिवेशन और कार्रवाई के सम्बन्ध में कुछ कहने के पहले १९२२ वाली काँग्रेस के सम्बन्ध में कुछ कह देना आवश्यक है।

महात्मा गांधी की गिरफ्तारी के बाद भी सरकारी दमन किसी-किसी सूबे में जोरों से जारी रहा। बड़े नेताओं में पंडित मदनमोहन मालवीयजी और श्री विट्ठल-भाई पटेल को छोड़ दूसरे सभी प्रायः जेल में थे। दमन के कारण जनता कुछ घबरा-सी रही थी। काँग्रेस को जीवित रखना आवश्यक था। जो थोड़े लोग बाहर रह गये थे उनकी जिम्मेदारी और भी बढ़ गयी थी। पंडित मालवीयजी का विचार हुआ कि आसाम में, जहाँ से दमन की भयंकर खबरें आ रही थीं, अवश्य जाना चाहिए। मैं भी उनके साथ गया। वहाँ प्रायः सभी जिलों में काँग्रेस-कमिटियाँ, केवल शहर में ही नहीं बल्कि बहुतेरे गाँवों में भी, स्थापित हो गयी थीं। आसाम में मकान बहुधा फूस के ही हुआ करते हैं। काँग्रेस के घर भी फूस के ही थे। सरकारी कर्म-चारियों ने प्रायः सभी जगहों के काँग्रेस के दफ्तरों को जला दिया था। सभी अच्छे-अच्छे कार्यकर्त्ता गिरफ्तार हो चुके थे। काँग्रेस के सेवक-दल के सदस्य, जहाँ-कहीं मिलते, गिरफ्तार कर लिये जाते थे।

वहाँ की सरकार के क्रुद्ध होने का विशेष कारण यह था कि आसाम में अफीम की बिक्री से सरकार को अच्छी आमदनी होती है। वहाँ के लोग अफीम खाते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके शारीरिक और मानसिक बल का ह्रास हो जाता है। कम उम्र में ही वे बूढ़े-जैसे जान पड़ते हैं। दिल और दिमाग की कमजोरी के कारण वे निकम्मे हो जाते हैं। यह हाल सुनकर गांधीजी ने वहाँ के कार्यकर्त्ताओं को आदेश दिया था कि अफीम-बन्दी का आन्दोलन करो। उस आन्दोलन के कारण अफीम की बिक्री बहुत घट गयी थी और उसके साथ-साथ सरकारी आमदनी भी। इसलिए

सरकारी कर्मचारियों का प्रयत्न था कि काँग्रेस को दबाना चाहिए। जैसा ऊपर कहा गया है, वे कड़ी दमन-नीति से काम ले रहे थे।

वहाँ पहुँच कर हमने सब हाल देखा और निश्चय किया कि सूबे का दौरा किया जाय। मेरे लिए और पूज्य मालवीयजी के लिए भी आसाम-दर्शन का यह पहला अवसर था। अत्यन्त हरा-भरा फूला-फला देश, जिसमें महानद ब्रह्मपुत्र और पहाड़ों की छटा अत्यन्त मनमोहक थी। घने विशाल वृक्षोंवाले तथा छोटी झाड़ियों-वाले जंगल जहाँ प्रदेश की शोभा बढ़ाते थे, वहाँ जंगली जानवरों के कारण—जिनमें हाथी और शेर मुख्य हैं—उसे खेती और सफर के लिए खतरनाक भी बना देते थे। हरियाली सुहावनी तो है; पर जमीन के हमेशा तर रहने के कारण प्रान्त का बहुत भाग मलेरिया-ग्रस्त भी है।

गोहाटी में पूज्य मालवीयजी ने बहुत ही जोशीला और उत्साहवर्धक भाषण किया। अफीमबन्दी के काम को जारी रखने के लिए सब लोगों से अपील भी की। मैंने भी कुछ कहा; पर पूज्य मालवीयजी के सभा में रहते दूसरा कोई क्या बोल सकता है। जितना समय आसाम-भ्रमण के लिए हम दे सकते थे, उतने में बहुत जगहों तक हम दोनों नहीं पहुँच सकते थे। इसलिए हम दोनों दो दलों में बँट गये। कुछ स्वयंसेवक पूज्य मालवीयजी के साथ उन स्थानों पर गये जहाँ रेल या स्टीमर से जाया जा सकता था। कुछ स्वयंसेवकों के साथ मेरा कुछ ऐसे स्थानों में जाना निश्चित हुआ जहाँ बैलगाड़ी पर जाना था। निश्चय ठीक और मेरे मन के अनुकूल था; क्योंकि इस प्रकार मैं गाँवों की परिस्थिति अधिक देख सकता था। साथ ही, पूज्य मालवीयजी अपनी वृद्धावस्था में—उस समय वह साठ से अधिक के रहे होंगे—बैलगाड़ी के सफर से बच जाते थे। स्थान ऐसे ही चुने गये थे जहाँ दमन का चक्र अधिक तीव्र गति से चला था।

मुझे एक बीहड़ स्थान पर जाना था, जहाँ कुछ दूर तक घोर जंगल में से होकर जाना पड़ता था। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि आसाम के गाँवों में बिहारी मजदूर काम करते हैं। बिहार की बैलगाड़ियाँ बोझ ढोने का काम करती हैं। गोहाटी में, ब्रह्मपुत्र में, मैं स्नान करने गया। वहाँ इत्तिफाक से दो नावें लगी हुई थीं। उनके मल्लाहों को आपस में बातचीत करते सुना तो समझ गया कि वे छपरे की बोली बोल रहे हैं। पूछने से मालूम हुआ कि वे छपरा-जिले के किसी गाँव के रहनेवाले माँझी हैं और बराबर नाव ले आया-ले जाया करते हैं। स्टीमर पर जो हलवाई दूकान करता था वह भी छपरे का ही रहनेवाला था।

हम लोग गोहाटी से १५-१६ मील तक लारी पर गये। वहाँ से बैलगाड़ी पर प्राय: २० मील और जाना था। रास्ता जंगल से होकर जाता था। स्थानों का नाम आज स्मरण नहीं है। उस स्थान पर तो हम प्राय: १२ बजे दिन को ही पहुँच गये। मैंने सोचा था कि जंगल का रास्ता भी शीघ्रता से चलने पर दिन में ही अधिकांश कट जायगा। दो बैलगाड़ियाँ भाड़े पर ली गयीं, पर गाड़ीवाले किसी न किसी बहाने

से अब-तब करते प्राय: ५ बजे तक रवाना नहीं हुए। दरियाफ्त करने से मालूम हुआ कि सख्त धूप के कारण बैलगाड़ियाँ अधिकतर रात को ही चलती हैं। एक गाड़ी पर मैं और एक स्वयंसेवक बैठे। दूसरी पर दो या तीन दूसरे स्वयंसेवक। पास में खाने के लिए कुछ था नहीं। आठ बजे रात को किसी स्थान पर पहुँचे जो चट्टी-सी जान पड़ती थी। बहुतेरी गाड़ियाँ वहाँ लगी थीं। खोजने पर केवल कुछ भुने चने मिले जिनको हम लोगों ने ले लिया और गाड़ी को रवाना किया। उन्हें चबाकर मैं गाड़ी में सो गया। कुछ घंटों बाद बहुत शोर-गुल सुनकर मेरी नींद टूटी। मैंने देखा कि स्वयंसेवक किरासन तेल के दो टिनों को बहुत जोरों से पीट-पीट कर और जोरों से गा-गाकर शोर मचा रहे हैं। साथ ही, गाड़ीवाले भी बहुत जोरों से चिल्ला-चिल्ला कर बैलों को हाँक रहे हैं। दोनों गाड़ियों के साथ लालटेनें थीं जो जल रही थीं। सड़क बहुत सकरी हो गयी थी। दोनों ओर बड़े-बड़े वृक्षों का बहुत घना जंगल था। वह घाटी थी, जहाँ दोनों ओर पहाड़ भी थे, पर वे रात को गाड़ी पर से नजर नहीं आते थे—उनको मैंने लौटती बार ही देखा। पूछने पर मालूम हुआ कि उस स्थान पर जंगली जानवर, विशेष कर शेर, अक्सर आ जाया करते हैं। उन्हीं को भगाने के लिए स्वयंसेवक और गाड़ीवान शोर मचा रहे थे। उन्होंने कहा कि जानवर उस आवाज के नजदीक नहीं आते। यदि सड़क पर भी होते हैं तो हट जाते हैं। पर कोई-कोई जानवर इतना शोख होता है कि बैलगाड़ी में जुते हुए बैलों को भी खींच ले जाता है। मालूम हुआ कि एक घटना ऐसी हाल में ही हो चुकी थी। इसके बाद मैं सो न सका।

जब हम घोर जंगल से बाहर निकल आये और जानवरों का डर कम हो गया तब शोर मचाने की प्रक्रिया बन्द हुई। हम अपने स्थान पर बहुत सवेरे ही पहुँच गये। वहाँ की जनता बहुत आतंकित थी। काँग्रेस का छोटा-सा घर जला दिया गया था। सभी काँग्रेसी काम करनेवाले गिरफ्तार हो चुके थे। थाना पास में ही था। लोग डर के मारे अब काँग्रेस के काम से विमुख हो गये थे। हम लोगों के पहुँचने से उनमें साहस आ गया। सब जमा हो गये। आसपास के गाँवों में खबर दी गयी कि सभा होगी। इस बीच में गाँव के लोगों से वहाँ के दमन का हाल हम सुनते रहे। अफीम-बन्दी-सम्बन्धी जानकारी भी हासिल करते रहे। सेपहर तक लोग जमा हो गये। दो-तीन सौ आदमियों की एक अच्छी सभा हो गयी। देखा कि लोगों की हिम्मत बढ़ गयी। फिर काँग्रेस-भवन बना लेने और अफीम-बन्दी का काम जारी करने का लोगों ने वचन दिया। पुलिस के मौजूद रहते भी लोगों ने सभा में खुले-आम भाग लिया।

हम लोग तीन बजे के करीब वहाँ से वापस हुए। इरादा था कि उस दुर्गम स्थान को, जहाँ रात को टिन पीटना पड़ा था, रोशनी रहते ही पार कर जायँ। ऐसा ही हुआ भी। उस स्थान पर पहुँचते-पहुँचते सूर्य्यास्त हो चुका था, पर अभी अँधेरा नहीं हुआ था। मैं साथियों के साथ पैदल ही चल रहा था। दोनों गाड़ियाँ भी साथ

ही साथ चल रही थीं। इसी बीच में पहाड़ियों की तरफ से बाघों की दहाड़ सुनने में आने लगी। यह आवाज दोनों तरफ से मालूम पड़ती थी, पर हो सकता है कि एक ही ओर से आती रही हो और एक ही बाघ की हो तथा वह उस निर्जन जंगल-पहाड़ों में प्रतिध्वनित होकर कई बाघों की आवाज-सी मालूम पड़ रही हो। पर बाघ कहीं देखने को न मिला। आवाज भी बहुत नजदीक नहीं थी, शायद दो-तीन फर्लांग की दूरी से आ रही थी। मैंने चिड़ियाखाने के सिवा बाघों की ऐसी दहाड़ और कहीं नहीं सुनी है।

रात भर गाड़ी पर चलकर हम लोग कुछ रात रहते उस स्थान पर पहुँचे जहाँ से मोटर-लारी जाती थी। प्रायः दस बजे फिर गोहाटी पहुँचे। पूज्य मालवीयजी के साथ और जगहों की यात्रा समाप्त करके हम लोग वापस चले। लखनऊ में होनेवाली अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी की बैठक में शरीक हुए। मैंने देखा कि वैसी गिरी हुई अवस्था में भी पूज्य मालवीयजी लोगों को जगाने और हिम्मत दिलाने में कितने सफल हुए। उनकी वाणी में शक्ति तो है ही, वहाँ की हालत देखकर उसमें और भी तेज आ गया था। उनकी वह यात्रा ऐसे विकट समय में भी बहुत ही सफल रही।

हमारे अपने सूबे (बिहार) में संथाल-परगना से दमन की खराब खबर आयी—विशेषकर 'पाकुर' से। मैं वहाँ भी गया। वहाँ लोग इतने आतंकित थे कि स्टेशन पर हम लोगों से मिलने कोई नहीं आया। हम रात-भर स्टेशन के प्लाटफार्म पर सोये रहे। सवेरे उठे तो देखा कि एक जूता कुत्ता उठा ले गया है। वहीं मुँह-हाथ धोकर शहर में जाने का विचार किया। कुछ ही दूर गये थे जब वकालत के दिनों के एक परिचित मवक्किल मिले। उन्होंने सुना था कि मैं स्टेशन पर पड़ा हूँ—कोई पूछनेवाला नहीं है, और यह सुनकर वह हमको अपने घर लाने के लिए जा रहे थे। उनके घर पर हम गये। स्नानादि से निवृत्त होकर जेलखाने पर गये, जहाँ हमारे पहुँचने के एक ही दो दिन पहले पाँच-छः काम करनेवाले गिरफ्तार करके रखे गये थे। उनसे मुलाकात प्रायः १२ बजे दिन को हुई। जूता तो था ही नहीं। धूप कड़ाके की थी। वहाँ की सड़क का मोटा 'मोरम'* बहुत गर्म हो गया था। वहाँ से खाली पैर वापस होते समय पैर इतना जला कि सारे तलवे में फफोले उठ आये। किसी प्रकार निवास-स्थान पर पहुँच कर एक रस्सी का तल्लावाला जूता मँगवाया। सेपहर को एक सड़क की बगल में ही सभा हुई, जिसमें कुछ लोग आये; पर आतंक काफी था। वहाँ भी हमारे जाने से लोगों में कुछ साहस आया। गिरफ्तार कार्यकर्त्ताओं के घर जाकर उनके घर-वालों को ढाढ़स दिलाया।

हम लोग दुमका भी गये, पर वहाँ भी कोई ठहरानेवाला नहीं मिला। हम

---

* एक किस्म का पत्थरों का महीन टुकड़ा अथवा मोटी बालू जो लाल रंग की होती है और सड़क बनाने में इस्तेमाल की जाती है।

लोग एक धर्मशाला में जाकर ठहरे। वहाँ और कुछ लोग आकर मिले। उनमें वहाँ की पुलिस के दारोगा भी थे जो भोजपुरी बोलते थे और हर मिनट में 'जय शिव' या 'बम-बम' कहा करते थे। उन्होंने बहुत सज्जनता से बातें कीं; पर उनकी सलाह यह हुई कि हमारा वहाँ का काम तो खतम हो गया, अब वहाँ बहुत ठहरने की जरूरत नहीं रह गयी। उन्होंने अन्त में यह भी कहा कि हम लोगों को वहाँ से चले जाने का हुक्म है। हुक्म माँगने पर वह दिखा नहीं सके—उसे लाने चले गये, पर फिर लौटे नहीं! हम वहाँ उनका इन्तजार ही करते रह गये। मैंने अपने प्रोग्राम के अनुसार वहाँ अधिक ठहरने का निश्चय नहीं किया था, अतः रात की गाड़ी से वापस चला आया।

उसी जिले (दुमका) में एक दूसरे स्थान पर कुछ नेता गये थे। वहाँ के लोगों में से एक आदमी ने अच्छा स्वागत किया था। जहाँ वे लोग ठहरे थे, एक आदमी उन लोगों को पंखा झल रहा था। लोगों में काफी आतंक था; पर वह व्यक्ति निडर था। उन लोगों के चले आने के बाद सुना कि उस गरीब पंखा झलने-वाले की जमीन 'उच्छेद' कर ली गयी। वहाँ की जमीन सरकारी समझी जाती थी। किसी किसान को अपनी जमीन से निकाल देने को वहाँ 'उच्छेद' कहा जाता है। पीछे हमने बहुत कोशिश की कि उसकी जमीन वापस हो जाय; पर असफल रहे।

संथाल-परगने में जो जुल्म हुए थे, उनके सम्बन्ध में मैंने एक लम्बी रिपोर्ट तैयार की। वह सामयिक पत्रों में, विशेषकर 'सर्चलाईट' में, छाप दी गयी।

४४—कौन्सिल-प्रवेश-सम्बन्धी वाद-विवाद

ऊपर सत्याग्रह जाँच-कमिटी का जिक्र आ चुका है। उस कमिटी ने प्रश्नावली तैयार की और सभी काँग्रेस-कमिटियों से उत्तर माँगा। उसके बाद सभी सूबों में जाकर, वहाँ के कार्यकर्त्ताओं से मिलकर, बातचीत करने और इजहार लेने का निश्चय किया। मुझे यह अच्छा नहीं लगता था; क्योंकि यह सरकारी कमिटियों का तरीका है, जो प्रायः रिपोर्ट देने के सिवा—वह भी बहुत समय बिताकर—और कुछ करना नहीं चाहतीं। कमिटी का काम ज्यों-ज्यों आगे बढ़ा, यह स्पष्ट होने लगा कि उसमें दो मत हैं। एक पक्ष गांधीजी के बताये हुए रचनात्मक काम पर जोर देकर देश को सत्याग्रह के लिए तैयार करना चाहता था और दूसरा पक्ष यह देखकर कि देश सत्याग्रह के लिए तैयार नहीं है—यह राय रखता था कि कौन्सिलों में जाना चाहिए और कौन्सिल-बहिष्कार का जो प्रस्ताव कलकत्ते के विशेष अधिवेशन ने १९२० में स्वीकार किया था उसे बदल देना चाहिए। काँग्रेस-कार्यकर्त्ताओं में भी बहुत मतभेद देखने में आया—यद्यपि गांधीजी के कार्यक्रम को ज्यों का त्यों रखने के पक्ष में अधिक लोग मालूम पड़ते थे। कमिटी ने सभी सूबों के उत्तरों को और खुद जाकर कार्यकर्त्ताओं के इजहारों को जमा कर लिया। इसी सिलसिले में कमिटी के सदस्य पटने में भी आये। अन्य काँग्रेसियों के अलावा मुझे भी इजहार देना पड़ा।

में गांधीजी के कार्यक्रम का पक्का पक्षपाती था। मैंने उसी का समर्थन अपने इजहार में जोरों से किया।

अन्त में कमिटी की रिपोर्ट जब निकली तो मालूम हुआ कि छः सदस्यों में तीन एक पक्ष में थे और तीन दूसरे पक्ष में! इसलिए कौन्सिलों के सम्बन्ध में कमिटी कोई सिफारिश न कर सकी। सब मेम्बरों की राय ही देकर कमिटी सन्तुष्ट रही। रिपोर्ट निकलने के पहले से ही उग्र मतभेद प्रदर्शित हो रहा था। रिपोर्ट के बाद तो उसका रूप और भी उग्र हो गया। अखबारों में तथा काँग्रेसी हलकों में कौन्सिल में जाने या न जाने पर बहसें होने लगीं। जो लोग कौन्सिल-प्रवेश के पक्ष में थे वे परिवर्तनवादी (प्रो-चेंजर्स) कहलाने लगे, और जो पहले के कार्यक्रम में परिवर्तन नहीं चाहते थे—अर्थात् जो कौन्सिल-प्रवेश के विरोधी थे—वे अपरिवर्तनवादी (नो-चेंजर्स) कहलाने लगे।

क्रमशः बड़े-बड़े नेता भी मीयाद काटकर छूटने लगे। उनमें देशबन्धु दास का स्थान सबसे ऊँचा था। लालाजी की लम्बी मीयाद थी। उनके छूटने की अभी सम्भावना नहीं थी।* शुरू में पंडित मोतीलालजी के विचारों का ठीक पता मालूम न हुआ। ऐसा मालूम होता था कि वह गांधीजी के प्रोग्राम को ही मानते हैं। पर देशबन्धु दास के छूटने के बाद स्पष्ट हो गया कि पंडितजी का विचार भी कौन्सिलों में जाने के पक्ष में ही था। पहले के प्रोग्राम के समर्थकों के नेताओं में श्री राजगोपालाचारी, डाक्टर अनसारी, श्री वल्लभभाई पटेल, सेठ जमनालाल बजाज प्रभृति थे। देशबन्धु दास ने कमिटी की रिपोर्ट के बाद अपनी राय जाहिर कर दी। वह थी कौन्सिल-प्रवेश के पक्ष में। अहमदाबाद-काँग्रेस के मनोनीत सभापति वही थे। इसलिए जब वह छूटे तो नियमानुकूल अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी के सभापति हो गये। चुने जाने पर भी वह अहमदाबाद में सभापति न हो सके थे। देश ने उनको फिर गया के अधिवेशन के लिए सभापति चुना।

अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी की एक बैठक कलकत्ते में हुई। सत्याग्रह कमिटी की रिपोर्ट उसमें विचार करने के लिए पेश हुई। तीन-चार दिनों तक बहस चलती रही। श्री राजगोपालाचारी ने ही हम सब अपरिवर्तनवादियों का नेतृत्व किया। मुझे भी वहाँ के वाद-विवाद में हिस्सा लेना पड़ा था। हम लोगों की कोशिश थी कि कुछ अदल-बदल करके और कौन्सिल के सिवा अन्य विषयों पर—जिनका जिक्र रिपोर्ट में था—यदि कुछ समझौता हो जाय तो अच्छा होगा। पर ऐसा हो न सका। बहुत बहस के बाद यह विषय गया-काँग्रेस के लिए स्थगित कर दिया गया।

४५—गुरु का बाग और मुलतान

इस साल, अगस्त-सितम्बर में, जहाँ तक मुझे स्मरण है, दो बड़ी दुर्घटनाएँ हुईं जिनका असर सारे हिन्दुस्तान की राजनीति के वातावरण पर पड़ा। पहली घटना वह थी जो गुरु के बाग से सम्बन्ध रखती थी। कुछ समय पहले से सिक्खों में उनके

अपने गुरुद्वारों के सुधार के लिए आन्दोलन चल रहा था। उनके गुरुद्वारे धार्मिक स्थान हैं जिनका सम्बन्ध किसी धार्मिक घटना से हुआ करता है। मुख्य गुरुद्वारों का सम्बन्ध किसी न किसी गुरु के जीवन की किसी घटना से होता है। इतिहास साक्षी है, सिक्खों ने अपने धर्म के लिए बहुत कष्ट सहे हैं, बहुत जुल्म बर्दाश्त किये हैं। इसलिए गुरुद्वारों के प्रति उनकी बड़ी ममता और श्रद्धा है। इन गुरुद्वारों के पास जनता की दी हुई काफी जायदाद है। पंथ की सेवा के लिए ही वह दी गयी थी। गुरुद्वारों के इन्तजाम के लिए जो सेवक नियुक्त किये गये थे वे ही उस जायदाद के प्रबन्ध इत्यादि भी किया करते थे। जैसा अक्सर हुआ करता है, गुरुद्वारे महन्तों के कब्जे में थे। बहुतेरे महन्त निकम्मे और दुराचारी थे। इसलिए सिक्खों में एक दल, जिसे अकाली दल कहते हैं, इस पर जोर देने लगा कि गुरुद्वारों का सुधार करने के लिए महन्तों का नियंत्रण किया जाय।

आहिस्ता-आहिस्ता यह आन्दोलन जोर पकड़ने लगा। गुरुद्वारों का प्रबन्ध अपने हाथ में लेने के लिए उन्होंने 'शिरोमणि-गुरुद्वारा-प्रबन्धक-कमिटी' स्थापित की। कहीं-कहीं के महन्तों ने शिरोमणि-कमिटी की बात मान ली और अपना प्रबन्ध उसके हाथ सौंप दिया। गवर्नमेण्ट भी इस बात पर विचार करने लगी कि यह काम कानूनन किया जाय और कानून बनाकर गुरुद्वारों का प्रबन्ध कमिटियों को सौंपा जाय। पर कोई बात अभी तय नहीं हुई थी। गवर्नमेण्ट पसोपेश में थी। अकालियों से रुष्ट होकर कुछ महन्त जोर-जबरदस्ती करने लगे। एक गुरुद्वारे में वहाँ के महन्त ने बहुतेरे अकालियों को बड़ी क्रूरता से मरवा और जलवा डाला था। यह घटना कुछ पहले नानकाना-साहब-गुरुद्वारे में हो चुकी थी। इससे अकालियों में बहुत क्षोभ और रोष पैदा हुआ था। उन्होंने गांधीजी की बतायी हुई अहिंसात्मक नीति को स्वीकार किया। उन्होंने यही निश्चय किया कि गुरुद्वारों को वे अहिंसात्मक तरीके से अपने कब्जे में करेंगे। यह अहिंसात्मक नीति सिक्खों के लिए नयी चीज नहीं थी। मुसलमानी काल में भी उन लोगों ने इस नीति को ग्रहण किया था और बहुत दुख सहे थे।

'गुरु का बाग' नामक एक स्थान अमृतसर से कुछ दूर पर है। वहाँ एक गुरुद्वारा है जो एक महन्त के कब्जे में था। अकालियों ने इस गुरुद्वारे को अपने हाथ में लेना चाहा। पहले महन्त ने उनकी बात मान ली। आपस में यह तय हो गया कि गुरुद्वारा अकालियों के हाथ में रहे और मठ महन्त के कब्जे में। वहाँ कुछ जमीन भी थी जिसमें बबूल का जंगल-सा था। आगे चलकर आपस में फिर झगड़ा छिड़ गया। शिरोमणि-कमिटी की ओर से गुरुद्वारे का प्रबन्ध हो रहा था। ग्रन्थ साहब की सेवा के लिए सेवक नियुक्त थे। गुरुद्वारों में और सिक्ख-संगतों में अक्सर 'लंगर' (भंडारा) हुआ करता है। यहाँ भी वे लंगर खोले हुए थे। उसमें जलाने के लिए कुछ बबूल के वृक्ष काट लाये। महन्त ने इसे रोका और पुलिस की मदद ली। सरकार की ओर से अकालियों को वहाँ जाने की मनाही हो गयी। अकालियों ने सत्याग्रह करने का निश्चय कर लिया। वे उस जंगल में लकड़ी काटने के लिए जाते, पुलिस

रोकती; न रुकने पर पहले तो उनको गिरफ्तार करती, पर पीछे केवल मारपीट कर हटाने लगी। जो अकाली वहाँ जाता वह बहुत बुरी तरह से पीटा जाता। पीछे गवर्नमेण्ट ने वहाँ जाने के रास्ते पर, कुछ दूर से ही, रोक लगा दी। अकालियों में बहुत जोश था। वे अमृतसर के अकाल-तख्त में जाकर, अहिंसात्मक रहकर वहाँ पहुँचने की, सौगन्द लेते। जब तक रास्ता खुला था, गुरुद्वारे में आकर ठहरते। वहाँ से जंगल में जाते और पीटे जाते। जब रास्ता रोक दिया गया तो उनके जत्थे रास्ते में ही रोके और पीटे जाते––इतनी बुरी तरह से पीटे जाते कि बेहोश हो जाते। उस हालत में लोग उनको वहाँ से उठाकर अस्पताल में, जो कायम किये गये थे, ले जाते।

इसका शोर सारे देश में फैल गया। दूर-दूर से लोग वहाँ का सत्याग्रह देखने आने लगे। पंडित मालवीयजी, हकीम साहब और दूसरे लोग भी गये। मैं भी गया। अमृतसर में वर्किंग कमिटी की एक बैठक हुई। वहाँ से हम लोग 'गुरु का बाग' देखने गये। हमने जो दृश्य देखा, उसे कभी भूल नहीं सकते। कुछ अच्छे तगड़े जवान सिक्ख हाथ जोड़े हुए आगे बढ़े। उधर से, लोहे और पीतल से मढ़ी हुई लाठियाँ लिये, पुलिस के सिपाही, एक अँगरेज अफसर के साथ, आगे आये। उन लोगों को उन्होंने रोका। वे लोग बैठ गये। इस पर उनको लाठियों से खूब पीटा। वे फिर उठकर खड़ा होना चाहते, पर मारकर गिरा दिये जाते। यह क्रम उस वक्त तक चलता रहता जब तक वे बेहोश नहीं हो जाते। बेहोश हो जाने पर चारपायी (अम्बुलेन्स) पर लादकर उनको दूसरे लोग उठा लाते। कभी-कभी उनका केश पकड़ कर उन्हें घसीटा भी जाता। लोग यह देखने के लिए जमा होते, पर एक आदमी भी कभी हाथ न उठाता। जो पीटे जाते वे बेचारे भी कभी हाथ न उठाते। यह अहिंसात्मक सत्याग्रह का एक अत्यन्त ज्वलन्त उदाहरण सारे देश के सामने आ गया। सारे देश में, बड़ी उत्सुकता के साथ, 'गुरु का बाग' की खबरें पढ़ी जाने लगीं। हजारों आदमी गिरफ्तार हुए। शिरोमणि-कमिटी के प्रमुख सदस्य भी गिरफ्तार हुए। बहुतेरे लोग तो यों ही पीटे गये। जो अकाली-सत्याग्रह में शरीक होते उनमें बहुतेरे ऐसे थे जो जर्मन-युद्ध में ब्रिटिश सरकार की ओर से बहादुरी से लड़े थे। गवर्नमेण्ट का कहना था कि महन्त की जमीन को, जिस पर उसका कानूनी हक था, वह कैसे छीन ले और जब महन्त अपना कब्जा कायम रखने में गवर्नमेण्ट की मदद माँगता है तो वह कैसे इनकार कर सकती है। इसी कानूनी उधेड़-बुन में बहुत-से लोग जेल गये। इसी कारण बहुत-से लोग बुरी तरह से पीटे जा रहे थे। पुलिस के एक सुपरिण्टेण्डेण्ट ने लाठी चलाने की कला को भी वह रूप दे दिया था जो फौज में और-और हथियारों के चलाने को दिया जाता है। उसने इसके लिए कवायद के नियम बना दिये थे। किसी नायक या सरदार के हुक्म के अनुसार सभी सिपाही लाठियों से पीठ पर अथवा सिर पर वार करते थे। अथवा, दोनों जंघों के बीच में लाठी लगाकर फोते पर चोट करते या पेट में मारते थे। इस तरह अफसरों के हुक्म के मुताबिक ही चोट की जाती। सिक्खों की हिम्मत और बर्दाश्त की शक्ति भी अद्भुत थी!

हम लोग वहाँ गये और अपनी आँखों सारा काण्ड देखकर हमें विश्वास हो गया कि सच्चा सत्याग्रह भी किया जा सकता है। उसके लिए बहादुरी, हिम्मत और दुःख सहने की शक्ति चाहिए। वह शक्ति यदि हट्टे-कट्टे जवाँमर्द भी बिना हाथ उठाये दिखला सकें, तो कोई भी शक्ति उनको दबा नहीं सकती।

सरकार की ओर से कोशिश हुई कि कोई रास्ता निकाला जाय। एक रास्ता निकल भी गया। सर गंगाराम ने, जो एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे, महन्त से जमीन का बन्दोबस्त लेकर अकालियों को दे दिया। सरकार को अब जबरदस्ती रोकने की जरूरत नहीं रह गयी। कुछ दिनों के बाद एक कानून भी बना, जिसके अनुसार अब गुरुद्वारों का प्रबन्ध होता है। पर यह सब जल्दी नहीं हुआ। इसमें समय लगा। बहुतों को बहुत कष्ट भी सहना पड़ा। सत्याग्रह की उपयोगिता और उसमें निहित संभावना (Possibility) साबित हो गयी। इसका श्रेय सिक्खों को है। उन्होंने इसे अपनी सत्य निष्ठा और शक्ति से दिखला दिया।

दूसरी घटना भी पंजाब में ही हुई। हम लोग अमृतसर से ही मुलतान गये। वहाँ एक दूसरे प्रकार की घटना हुई थी। मुलतान में ताजिया का जलूस निकला। उसी जलूस के कारण बड़ा भारी हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो गया। मुसलमानों का कहना था कि हिन्दुओं में से किसी ने ताजिया पर ढेला फेंका। हिन्दुओं का कहना था कि उनकी ओर से कुछ नहीं किया गया—मुसलमानों की ओर से हिन्दुओं को लूटने की तैयारी पहले से थी, ताजिया तो सिर्फ बहाना था। जो भी कारण हो, मगर फसाद जो हुआ उसमें बहुत ही हृदय-विदारक घटनाएँ हुईं। खबर पाकर हकीम अजमल खाँ—जो काँग्रेस के सभापति का काम कर रहे थे—पंडित मदनमोहन मालवीयजी, सेठ जमनालालजी, श्रीप्रकाशम् और मैं वहाँ गये। आपस की खींचतान इतनी जबरदस्त थी कि हम लोगों के ठहरने-ठहराने के स्थान के सम्बन्ध में ही दोनों पक्षों में कोई बात तय न हो सकी। इसलिए, जब हम लोग स्टेशन पर उतरे, पहला सवाल ठहरने के स्थान का सामने आया। हमने अपने दल को दो हिस्सों में बाँट दिया। कुछ लोग मुसलमानों के मेहमान होकर वहाँ के एक नवाब के यहाँ ठहरे। कुछ लोग हिन्दुओं के मेहमान होकर दूसरी जगह ठहरे। मैं हकीम साहब के साथ नवाब के यहाँ ठहरा।

हम लोगों ने बलवे के स्थानों को जाकर देखा। कितने ही हिन्दुओं के घर लूटे और जलाये गये थे। उन घरों का सारा सामान लूटा या जला दिया गया था। कितने ही आदमी मारे भी गये थे। जो लोग बचे थे उनमें से विशेषकर स्त्रियों ने घटना का बहुत ही दर्दनाक वर्णन किया, जिसका असर हम लोगों के दिल पर काफी पड़ा। एक जगह मैंने देखा, हकीम साहब साफ-साफ बहुत ही प्रभावित दीख रहे थे। एक स्त्री ने कहा कि सब कुछ लूट लेने और जला देने के बाद लुटेरों ने और कुछ नहीं पाया तो एक पिंजड़े को, जिसमें उसने तोता पाल रखा था, आग में डाल दिया। राख की ढेर अभी ज्यों की त्यों थी। उसमें लोहे का पिंजड़ा भी पड़ा था। पर तोता जलकर खाक हो गया था! कई मंदिरों तथा देवस्थानों की भी यही हालत हुई थी।

हम लोग वहाँ के डिपटी-कमिश्नर मिस्टर एमर्सन से भी मिले। यही पीछे गांधी-अर्विन-समझौते के समय गवर्नमेण्ट आफ इंडिया के होम-सेक्रेटरी थे। उसके बाद यह पंजाब के गवर्नर हुए। इनका रुख हमने कुछ ऐसा नहीं पाया कि आपस में मेल-मुहब्बत कायम हो। यह कानून की दुहाई देकर बलवाइयों की सजा की बात ही जोरों से कहते रहे। हम चाहते थे कि इसके अलावा आपस में मेल-जोल कायम करने का भी प्रयत्न किया जाय। वहाँ दोनों पक्ष के मुख्य-मुख्य लोगों की एक छोटी सभा हुई। उनसे बातें करने के बाद हमने देखा कि यद्यपि लोगों में कशीदगी (मनमुटाव) बहुत है, तो भी दोनों मिल-जुलकर रहने के लिए तैयार-से मालूम होते थे। मुसलमानों को बहुत फिक्र इस बात की थी कि उन्हीं के आदमी गिरफ्तार हुए थे और हो रहे थे—सब मुकदमे उन्हीं लोगों पर चलेंगे और हो सकता है कि उनको लूट के लिए मुआवजा भी देना पड़े। पीछे एक बड़ी सभा हुई जिसमें हकीम साहब और पंडित मालवीयजी के भाषण हुए। आपस में मेल-जोल बढ़ाने के लिए हम लोगों ने एक गैर-सरकारी कमिटी कायम कर दी, और वहाँ से चले आये।

वहाँ के सारे दृश्य का मुझ पर बहुत असर पड़ा। मैंने देखा कि पंडित मालवीयजी भी बहुत ही प्रभावित हुए थे। उन्होंने वहाँ पर हिन्दुओं से कहा—तुमको भी संगठित हो जाना चाहिए, तुम्हें अपने जान-माल और इज्जत पर हमला करनेवाले का मुकाबला करना चाहिए। सरकार से भी उन्होंने अनुरोध किया कि बलवाइयों को सजा देनी चाहिए।

हमारे वहाँ जाने का इतना असर मालूम हुआ कि कशीदगी (खींचतान) कम हो गयी। जहाँ वे लोग आपस में एक साथ बैठकर यह तय नहीं कर पाते थे कि हम लोग कहाँ ठहराये जायँगे, वहाँ अब वे एक साथ कमिटी के मेम्बर बनने को तैयार हो गये। सब लोग मेल-जोल बढ़ाने के प्रयत्न में लग गये। हकीम साहब ने एक बयान प्रकाशित किया, जिसमें उन्होंने मुसलमानों की कार्रवाइयों की निन्दा की और हिन्दुओं को सान्त्वना दी।

गया-काँग्रेस के समय कुछ लोगों का यह भी विचार हुआ कि जैसे वहाँ खिलाफत-कान्फ्रेन्स होगी वैसे हिन्दू-सभा भी होनी चाहिए। प्रबन्धकों ने पंडित मालवीयजी को सभापति बनाने का आग्रह किया। मुझ पर बहुत जोर डाला गया कि मैं भी यदि आग्रह कर दूँ तो पंडित मालवीयजी स्वीकार कर लेंगे। मुझसे यह भी आग्रह किया गया कि मैं स्वागताध्यक्ष बन जाऊँ। उस समय तक हिन्दू-सभा ने, यदि उसका अस्तित्व हो भी तो, कोई वैसा महत्त्व नहीं पाया था जैसा अब प्राप्त है और न उसकी नीति ही काँग्रेस-विरोधी थी। साथ ही, खिलाफत-कमिटी काँग्रेस के साथ-साथ हुआ करती थी। इसलिए काँग्रेस के साथ हिन्दू-सभा का कोई विरोध नहीं था और न होने की कोई सम्भावना दीखती थी। मैंने स्वागताध्यक्ष होना स्वीकार कर लिया। पूज्य मालवीयजी भी सभापति बन गये। गया में कोई ऐसी कार्रवाई भी नहीं हुई जिससे किसी को आपत्ति हो सकती थी। पर पंडित मालवीयजी ने

अपने भाषण में मुलतान की घटना का वर्णन किया। उन्होंने हिन्दुओं को भी आत्म-रक्षा के लिए तैयार होने का आदेश दिया। यहाँ इतना ही कहना यथेष्ट होगा कि यद्यपि वहाँ कोई बड़ी बात नहीं हुई, तथापि भविष्य में हिन्दू-महासभा के अलग हो जाने की स्थिति की नींव पड़ गयी। इसमें मेरा भी भाग रहा। पीछे जब हिन्दू-सभा और काँग्रेस में मतभेद स्पष्ट हो गया, तो पंडित मालवीयजी ने मुझसे कहा भी कि मैंने, तुम्हारे कहने से ही गया के अधिवेशन का सभापतित्व स्वीकार किया था और सभा की स्थायी नींव डाली थी। मैं इसको इन्कार नहीं कर सका और न आज भी कर सकता हूँ। उस समय, जहाँ तक मैं समझ सका, गया में मुसलमानों ने भी महासभा के संगठन में कोई खास बुराई नहीं देखी। और अगर देखी भी हो, तो हम लोगों को बताया नहीं।

जैसा मैं ऊपर कह आया हूँ, मुलतान के दंगे के बाद से हिन्दू-मुसलमानों के बीच कशीदगी बढ़ती गयी। अनेक स्थानों से हिन्दू-मुस्लिम दंगों के होने की खबरें आने लगीं। काँग्रेसी हिन्दू और मुसलमान परिस्थिति पर काबू करने के प्रयत्न में लगे रहते, पर किसी न किसी कारण बलवे हो ही जाते। इन दंगों में, अधिकतर स्थानों में, प्रायः हिन्दू ही अधिक पिटते। इसी कारण हिन्दू-संगठन का जन्म हुआ। शुद्धि का जन्म तो धार्मिक प्रवृत्ति से हुआ था। यदि शुद्धि भी कट्टरता का रूप धारण न करती तो शायद उससे अधिक चिढ़ भी पैदा न होती। पर १९२३ से—लगातार तीन-चार बरसों तक—हिन्दुओं में शुद्धि और संगठन का तथा मुसलमानों में तबलीग़ और तनज़ीम का हो-हल्ला रहा जिसका नतीजा यह हुआ कि आहिस्ता-आहिस्ता काँग्रेस से बहुतेरे मुसलमान और बहुतेरे हिन्दू भी अलग होने लगे।

४६—गया-काँग्रेस (क)

गया-काँग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले स्वागत-समिति में एक घटना हुई जिसका जिक्र कर देना जरूरी है। एक सज्जन ने स्वागत-समिति को ५०००) देने का वचन कुछ महीने पहले दिया था। रुपये की जब जरूरत महसूस होने लगी तब उनसे तकाजा किया गया, पर वह अब-तब करते गये। जब स्वागताध्यक्ष के चुनाव का दिन निश्चित हो गया और स्वागत-समिति की बैठक की गयी तो उसी दिन उन्होंने स्वागत-समिति की सदस्यता के लिए दो सौ दर्खास्तों पर दस्तखत कराकर, फी दर्खास्त २५) के हिसाब से, ५०००) रुपये भेजे। उनकी इच्छा थी कि वह इस तरह से स्वागताध्यक्ष चुन लिये जायँगे; क्योंकि और किसी की तरफ से कोई चुने जाने की कोशिश नहीं की गयी थी। यद्यपि सदस्यों की संख्या काफी थी तथापि सब सदस्य उस सभा में, जो काँग्रेस के चन्द दिन ही पहले हो रही थी, आये नहीं थे। हमको यह बात बहुत बुरी मालूम हुई। हमने समझा कि यह एक प्रकार का कुचक्र है और वह सज्जन सारे सूबे की आँखों में धूल डालकर, सारे प्रान्त के प्रतिनिधि-रूप से, आगन्तुक नेताओं के स्वागत करने का श्रेय लेना चाहते हैं। यदि उन्होंने काँग्रेस की

कुछ बड़ी सेवा की होती, तो शायद मुझे इतना क्षोभ न होता। पर ऐसी कोई सेवा भी उनकी नहीं थी। उन्होंने इस प्रयत्न को सब लोगों से गुप्त रखा था। इससे वह क्षोभ और भी अधिक हो गया। हमने उनके रुपये, कारणों के साथ, वापस कर दिये। यद्यपि रुपयों की जरूरत थी तथापि हमने यही ठीक समझा कि इस प्रकार के फरेब को रोकना ही उचित है। सब की इच्छा थी कि स्वागताध्यक्ष का पद श्री ब्रजकिशोर-प्रसाद को दिया जाय। स्वागत-समिति ने सर्व-सम्मति से उनको ही स्वागताध्यक्ष चुना।

काँग्रेस के अधिवेशन के दिन निकट आ गये, पर अभी काफी झोपड़े तैयार नहीं हुए थे और न पंडाल ही तैयार हुआ था। गया में सर्दी काफी पड़ती है। उस साल कुछ विशेष सर्दी थी। झोपड़ों के लिए कुछ और भी नये कण्ट्राक्टर मुकर्रर किये गये, पर पंडाल का काम पूरा होता नजर नहीं आता था। उन दिनों काँग्रेस एक बड़े शामियाने के अन्दर ही हुआ करती थी, आज-कल की तरह खुले मैदान में नहीं। लोगों के बैठने के लिए जमीन ऊँची-नीची ढालू बनानी पड़ती थी। आशा थी कि और सब काम तो पूरा हो जायगा, पर मिट्टी भरने का काम पूरा न हो सकेगा।

काँग्रेस के अधिवेशन के दो दिन पहले, राँची-जिला और उसके आस-पास के आदिवासी लोग, प्रायः तीन-चार सौ की संख्या में, पैदल चलकर गया में पहुँच गये। वे लोग अपने साथ हाँडी और लकड़ी भी बहँगियों पर लादकर लाये थे। प्रायः डेढ़-दो सौ मील की दूरी सें, लगातार कई दिन चलकर, गया पहुँचे थे। काँग्रेस में उन लोगों की श्रद्धा इतनी बढ़ गयी थी कि उसके नाम पर सब कुछ करने को तैयार रहते थे। कभी-कभी नासमझी का काम भी कर दिया करते थे। जब असहयोग का आन्दोलन जोरों से चल रहा था, उनको अहिंसा का अर्थ किसी ने यह बता दिया था कि बकरियाँ मांस के लिए ही पाली जाती हैं, इसलिए उनका पालना भी ठीक नहीं है। मालूम नहीं, यह प्रचार किसकी ओर से किया गया; पर नतीजा यह हुआ कि हजारों बकरियों को उन्होंने यों ही जंगलो में छोड़ दिया! मैं जब एक बार सफर में उधर गया था तो इन बकरियों को देखा भी था और वहीं मुझे यह बात मालूम हुई थी। उन्हीं लोगों की एक जमात उसी श्रद्धा के साथ गया में पहुँची। उन्होंने स्वागत-समिति से केवल इतनी ही फरमाइश की कि हम लोगों के लिए किसी बगीचे में कुछ खाली जमीन बतला दी जाय, हम वहीं ठहरेंगे और रसोई बनाकर खायँगे। वे लोग काम करने में भी खूब मेहनती थे। उनसे किसी ने जाकर कहा कि काँग्रेस के पंडाल में मिट्टी भरने का काम पूरा नहीं हो रहा है जिसके कारण हम लोग बहुत चिन्तित हो रहे हैं। उन्होंने हमसे कुदाल और टोकरियाँ माँगीं। उनको सब सामान दिये गये। बस वे सभी इस काम में लग गये। दिन-रात काम करके, दो दिनों के भीतर, सब काम पूरा कर दिया। हम लोग उनके उत्साह और परिश्रम को देखकर चकित रह गये। स्वागत-समिति की ओर से उनमें से प्रत्येक को एक गांधी-टोपी और स्वागत-समिति की मेम्बरी का एक फूल दिया गया। वह फूल टोपी पर जड़ दिया गया। इससे वे बहुत खुश हुए। कई बरसों के बाद भी, जब मैं उस इलाके में दौरे

पर गया, उन्होंने बड़े गौरव के साथ फूल-टँकी टोपियाँ दिखलाईं। इस तरह मुझे याद दिलाया कि वे गया-काँग्रेस में गये थे।

अधिवेशन के चन्द दिन पहले मुझे दमे का दौरा हो गया। मुलतान की यात्रा में मैंने पहले-पहल महसूस किया था कि साँस की कुछ दिक्कत हो रही है। उसके पहले जाड़ों में खाँसी हो जाया करती थी; पर साँस की तकलीफ मैंने कभी महसूस नहीं की थी। खाँसी के कारण ही मैं नागपुर-काँग्रेस में शरीक न हो सका था। मुलतान की यात्रा में हकीम अजमल खाँ के साथ ही मैं था। उन्होंने देखा और कहा कि दमा हो रहा है। उन्होंने एक दवा भी दी, जिससे उस समय मैं अच्छा हो गया। जब दिसम्बर की सर्दी बढ़ी तो गया में फिर दौरा हो गया, पर वहीं के एक हकीम की दवा से मैं शीघ्र ही अच्छा हो गया। जिस दिन देशबन्धु दास सभापति होकर गया पहुँचे और जलूस निकला, मैं न तो स्टेशन पर स्वागत के लिए जा सका और न जलूस ही देख सका; पर अपनी कमजोरी की हालत में ही विषय-निर्धारिणी समिति में शरीक हुआ। कुछ प्रबन्ध के काम की देख-रेख भी करता रहा। प्रबन्ध के काम का भार विशेषकर श्री अनुग्रहनारायणसिंह पर पड़ा। भोजन-विभाग की जिम्मे-दारी मेरे भाई साहब ने ली। उन्होंने बड़ी खूबी से उसे निबाहा। पंडाल तैयार कराने और सजाने का काम गोरख बाबू, मथुरा बाबू तथा मुजफ्फरपुर के जमीन्दार श्री वैद्यनाथप्रसादसिंह ने किया। स्वयंसेवक-दल के प्रधान श्री बदरीनाथ वर्मा रहे। प्रदर्शनी का भार श्री बनारसीप्रसाद झुनझुनूवाला ने सँभाला।

स्वागत-समिति का प्रबन्ध अच्छा ही हुआ; पर मेरा विचार है कि यदि कुछ और अनुभव होता तो जितना खर्च पड़ा उतना न पड़ता। जिस समय अधिवेशन हो रहा था, मैं डर गया था कि अन्त में कुछ घाटा रहेगा। इसलिए सभी विभागों में खर्च कम करने पर मैं बहुत जोर देता रहा। गया-स्टेशन से सभा-स्थान प्रायः तीन मील या इससे भी अधिक की दूरी पर था। वहाँ से लोगों को लाने के लिए हमने बहुत-सी लारियाँ भाड़े पर मँगा ली थीं। विचार था कि सभी लोगों से लारी का भाड़ा लिया जायगा। इसके लिए प्रत्येक लारी पर एक आदमी टिकट के साथ रखा गया था। पर यह प्रबन्ध नहीं चल सका। हम भाड़े में बहुत कम वसूल कर सके। पर सब लारियों का भाड़ा तो देना ही पड़ा। इसमें कई हजार रुपयों का नुकसान हुआ। इसी से विशेष डर हो गया था कि घाटा पड़ेगा; पर अन्त में हिसाब होने पर कुछ बच ही गया—घाटा नहीं हुआ।

गया-काँग्रेस (ख)

गया में काँग्रेस का अधिवेशन बड़े मार्के का हुआ। पहले से ही देश में कौन्सिल-प्रवेश की चर्चा चल रही थी। सत्याग्रह-कमिटी की रिपोर्ट ने एक होहल्ला मचा रखा था। उस पर विचार करने की बात काँग्रेस के लिए स्थगित कर दी गयी थी। पंडित मोतीलालजी, हकीम अजमल खाँ और देशबन्धु दास—इन तीन बड़े नेताओं की राय

पक्की थी कि जब सत्याग्रह नहीं हो सकता है तो कौन्सिलों में जाने की इजाजत मिलनी चाहिए। किन्तु अधिकांश कांग्रेसियों का विचार मालूम होता था कि गांधीजी के दिये हुए कार्यक्रम में परिवर्तन नहीं करना चाहिए। इसलिए दोनों पक्षों के लोग अपने-अपने विचारवालों को ही प्रतिनिधि चुनकर गया में भेजने का यथासाध्य प्रयत्न करने लगे। इसी कारण श्री जयकर तथा श्री नटराजन-जैसे प्रमुख व्यक्ति भी अपने सूबे से प्रतिनिधि नहीं चुने जा सके। यह कोई ऐसी बात नहीं थी जो चुनावों में नहीं हुआ करती है। हम जानते हैं कि इँगलैंड में मिस्टर बालफोर कई बरसों तक प्रधान मंत्री रहने के बाद भी चुनाव में साधारण मेम्बर नहीं चुने गये। उनकी पार्टी बुरी तरह हार खाकर अपने नेता को भी कुछ दिनों तक पारलेमेण्ट में नहीं देख सकी। हमारे यहाँ यह चीज अभी नई थी। इसलिए ऐसे व्यक्तियों के हारने से कुछ लोगों के दिल में चोट-सी लगी। उन लोगों में मैं भी एक था।

यद्यपि श्री जयकर का विचार कौन्सिल-प्रवेश के पक्ष में था और मेरा विरुद्ध, तथापि मैंने सोचा कि विचार-विरोधी होने पर भी ऐसे विशिष्ट व्यक्ति का काँग्रेस में न आना ठीक न होगा—काँग्रेस चाहे जो भी फैसला करे, ऐसे योग्य आदमी की राय, उसी के अपने शब्दों में, सुन लेना काँग्रेस के लिए मुनासिब होगा। उन दिनों, काँग्रेस के विधान के अनुसार, कोई आदमी—यदि वह काँग्रेस का सदस्य है तो—किसी भी सूबे के किसी भी क्षेत्र से, प्रतिनिधि चुना जा सकता था। इसलिए मैंने प्रयत्न करके श्री जयकर और श्री नटराजन को बिहार से प्रतिनिधि चुनवा दिया। इसकी सूचना दोनों को दे दी। इससे वे बहुत सन्तुष्ट हुए। काँग्रेस में वे आये भी।

इस छोटी-सी बात को यहाँ इतने विस्तार से मैंने इसलिए लिख दिया कि उन दिनों के वाद-विवाद के उत्साह में पड़कर कुछ लोगों ने यह कह दिया कि अपरिवर्तनवादियों ने अन्याय-पूर्वक गांधीजी के नाम का सहारा लेकर प्रचार किया और काँग्रेस में वोट जुटाया। कुछ ने तो यहाँ तक कह दिया कि देशबन्धु दास के परिवर्तनवादी होने के कारण, सभापति होने पर भी, उनका वैसा सम्मान नहीं किया गया जैसा होना चाहिए था—उनके स्वागत और सेवा में भी त्रुटि की गयी; क्योंकि बिहार-सूबा गांधी-भक्त अपरिबर्तनवादी सूबा था। ये सब बातें मर्म को चोट पहुँचानेवाली थीं। जहाँ तक हो सका, हमने सेवा-सम्मान का प्रबन्ध किया था। उनके निवास-स्थान के प्रबन्ध के लिए श्री दीपनारायणसिंह को भार दिया गया था। इन्होंने अथक परिश्रम और उत्साह के साथ काम किया था। यह ठीक है कि अपनी अस्वस्थता के कारण मैं बहुत दौड़-धूप न कर सका; पर दूसरे सभी लोग दिन-रात काम करते रहे। सभापति की तथा उनकी पार्टी की पूरी खातिरदारी हुई। किसी तरह की त्रुटि नहीं होने पायी।

देशबन्धु दास का भाषण बहुत बड़ा और मार्के का था। पर उसमें कौन्सिल-प्रवेश पर बहुत जोर दिया गया था। विषय-निर्वाचिनी समिति में कौन्सिल-प्रवेश पर बहस करने का प्रस्ताव पेश किया गया। सभापति ने कहा कि उनके विचार उनके

भाषण में दिये गये हैं, इसलिए उनका भाषण हो जाने के बाद ही इस विषय पर विचार किया जाय, ताकि प्रतिनिधियों को उनके विचार जान लेने का मौका मिल जाय और तब वे अपनी राय कार्यकारिणी समिति में दें। इसलिए शुरू में सभापति ने इस बहस की इजाजत नहीं दी। पीछे तो कई दिनों तक बहस होती रही जिसमें दोनों पक्षों के लोगों ने खूब भाग लिया। रात या सवेरे के समय, जब विषय-निर्वाचिनी की बैठक से फुर्सत रहती, प्रतिनिधियों की अलग-अलग सभाएँ हुआ करतीं, जिनमें लोग अपने-अपने विचारों की पुष्टि करते। बहस बहुत गरमागरम होती।

विषय-निर्वाचिनी समिति ने कौन्सिल-प्रवेश की बात को बहुमत से नामंजूर कर दिया। इसलिए यह बात एक संशोधन के रूप में ही खुली काँग्रेस के सामने आयी। काँग्रेस में भी वैसी ही गरमागरम बहस कई दिनों तक चलती रही। काँग्रेस के लिए जो समय निर्धारित था उससे दो या तीन दिन अधिक समय लगा। मैंने भी खुली सभा में कौन्सिल-प्रवेश का जोरों से विरोध किया। हमारे विचार के नेता थे श्री राजगोपालाचारी। वह भी उन दिनों दमा से रोग-ग्रस्त थे; पर विषय-निर्वाचिनी समिति और काँग्रेस में उन्होंने अद्भुत परिश्रम और चमत्कार से अपने पक्ष का समर्थन किया। श्री श्रीनिवास अयंगर ने समझौते के लिए एक संशोधन पेश किया। वह नामंजूर हुआ। अन्त में जब मूल प्रस्ताव पर सम्मति ली गयी, तो बहुत बड़े बहुमत से कौन्सिल-प्रवेश-सम्बन्धी प्रस्ताव नामंजूर हो गया। शायद कौन्सिल-प्रवेश के पक्ष में एक-तिहाई और विपक्ष में दो-तिहाई प्रतिनिधियों के मत आये।

यह समझना भूल होगी कि सिविल-डिस ओबिडियन्स-एनक्वायरी-कमिटी ने अथवा गया-काँग्रेस ने केवल एक ही विषय पर विचार किया या प्रस्ताव पास किया था। कमिटी की रिपोर्ट ने असहयोग के पूरे कार्यक्रम पर, जिसमें सत्याग्रह और करबन्दी शामिल हैं, विचार किया था। सभी प्रस्तुत विषयों पर उसने राय दी थी। पर उन विषयों के सम्बन्ध में इतना मतभेद नहीं था, इसलिए वे तह में पड़ गये। गया-काँग्रेस ने भी उन विषयो पर प्रस्ताव स्वीकृत किया। सरकारी स्कूलों और अदालतों के बहिष्कार को कायम रखा। स्वदेशी-प्रचार और खादी-प्रचार पर जोर दिया गया। एक प्रस्ताव इस आशय का भी उपस्थित किया गया था कि सभी प्रकार के अँगरेजी मालों का बहिष्कार किया जाय, और इस विचार से, बहिष्कृत किये जानेवाले मालों की सूची बनाने के लिए, तथा बहिष्कार के उपाय निर्धारित करने के लिए, एक कमिटी बनायी जाय। यह प्रस्ताव विषय-निर्धारिणी में पास हो गया था; पर काँग्रेस ने इसे बहुमत से नामंजूर कर दिया; क्योंकि यह अव्यावहारिक बताया गया और इसमें हिंसात्मक वृत्ति के जाग्रत होने का भय था।

एक बहुत महत्त्व का दूसरा प्रस्ताव यह पास हुआ कि उस दिन के बाद ब्रिटिश गवर्नमेण्ट, स्वयं अथवा भारतीय व्यवस्थापिका सभा की मंजूरी से, जो कुछ कर्ज लेगी उसका देनदार स्वतंत्र भारत नहीं होगा; क्योंकि ब्रिटिश सरकार मनमाना खर्च करके भारत के नाम पर कर्ज लेती है और व्यवस्थापिका सभाएँ भारत का

प्रतिनिधित्व नहीं करतीं। इस प्रस्ताव में उस तिथि के पूर्व के कर्जों को स्वीकार कर लिया गया था। इस प्रस्ताव के सम्बन्ध में भी मतभेद था; पर यह भी बहुमत से पास हुआ था—यद्यपि यह विषय नया था और प्रस्ताव उपस्थित होने के पहले इस पर देश में कोई चर्चा नहीं हुई थी।

गया-काँग्रेस ने सत्याग्रह-जाँच-कमिटी की रिपोर्ट पर एक प्रस्ताव और भी मंजूर किया कि व्यक्ति को अपने बचाव के लिए वह सभी अधिकार प्राप्त है जो कानून से उसको मिले हैं—अर्थात् कानूनन हिंसात्मक बचाव जहाँ तक जायज है, काँग्रेस भी उसे मंजूर करती है। एक दूसरा प्रस्ताव इस आशय का भी स्वीकृत हुआ कि देश को सत्याग्रह के लिए तैयार किया जाय तथा इसके लिए पचीस लाख रुपये और पचास हजार स्वयंसेवक जुटाये जायँ। इस तरह, गया-काँग्रेस में कई प्रस्ताव पास हुए। जहाँ तक मैं जानता हूँ, काँग्रेस का इतना लम्बा अधिवेशन दूसरा नहीं हुआ है। पर कौन्सिल-सम्बन्धी मतभेद के कारण और सब बातें गौण पड़ गयीं।

काँग्रेस के अधिवेशन के साथ-साथ गया में खिलाफत-कान्फ्रेन्स और जमीअत-उल-उलेमा के अधिवेशन भी बड़े समारोह एवं उत्साह के साथ हुए। खिलाफत-कमिटी ने भी काँग्रेस-कमिटी के साथ ही एक सत्याग्रह-जाँच-कमिटी बनायी थी। उसने भी देश में दौरा करके अपनी रिपोर्ट दी थी। वहाँ भी वही मतभेद था जो काँग्रेस में—विशेषकर कौन्सिलों के सम्बन्ध में। इन दोनों संस्थाओं ने भी कौन्सिल का बहिष्कार जारी रखा। पर उस समय तक खलीफा और तुर्कों की हालत में बहुत परिवर्तन हो चुका था। तुर्कों ने ग्रीस को हराकर बड़ी फतह हासिल कर ली थी। उन्होंने यह भी निश्चय कर लिया था कि उनके सुलतान, जो खलीफा भी थे, तख्त से उतार दिये जायँ। इस सम्बन्ध में भारत के मुसलमानों में बड़ी सनसनी थी। पर जहाँ तक मैं समझ सकता हूँ, उन्होंने तुर्कों की इस कार्रवाई का समर्थन ही किया; क्योंकि आशा यह की जाती थी कि ऐसे सुलतान का—जो दूसरों के हाथों में कठपुतली बनकर देश और इस्लाम को हानि पहुँचाता था—पदच्युत होना ठीक ही है, और उसकी जगह नये और जबरदस्त खलीफा चुने जायँगे, जो इस्लाम के तीर्थों और पवित्र स्थानों की रक्षा करने की इच्छा तथा शक्ति दोनों रखते होंगे। तुर्कों ने अपनी शक्ति बता दी थी, इससे यह आशा होती थी कि नये खलीफा अपने कर्तव्यों का ठीक पालन करेंगे। पर पीछे कुछ दिनों के बाद तुर्कों ने खलीफा के पद को ही अपने यहाँ से उठा दिया और तुर्क प्रजातंत्र कायम कर दिया। तुर्क प्रजातंत्र में प्रधान चुना जाया करेगा और वही प्रथा अब तक जारी है।

मुसलमानों की दूसरी बात अरब की आजादी से सम्बन्ध रखती थी। अरब और तुर्क दोनों ही धर्म में मुसलमान हैं; पर दोनों एक जाति के नहीं हैं। तुर्कों ने अरब पर अपना राज्य-शासन कायम कर लिया था। चूँकि वे भी मुसलमान थे इस-लिए दूसरे मुसलमान उनके सुलतान को ही खलीफा मान लेते थे। जर्मन-युद्ध में जब जर्मनी से मिलकर तुर्की लड़ने लगा, तो अँगरेजों ने तुर्कों के खिलाफ अरबों को उभाड़ा

और अरब देश के लोगों को तुर्कों के शासन से मुक्त कर दिया। पर वे एकबारगी स्वतंत्र नहीं हुए। मुसलमान चाहते थे कि अरब स्वतंत्र होकर रहें पर खलीफा का चुनाव सबकी राय से हो। ऐसा नहीं हो सका। पीछे तो तुर्कों ने खलीफा का पद ही उठा दिया। अरब की देख-रेख का भार (Mandate) इँगलैंड और फ्रान्स को मिल गया। इस तरह अरब लोग अभी तक पूरे स्वतंत्र नहीं हुए हैं—यद्यपि दिखलाने के लिए कुछ अधिकार उनके अमीर के हाथों में हैं।

इन्हीं कारणों से, कुछ दिनों के बाद, भारत में खिलाफत का आन्दोलन ठण्ढा पड़ गया। यद्यपि खिलाफत कमिटी बहुत दिनों तक कायम रही, पर वह नाममात्र के लिए ही रह गयी। गया में होनेवाले अधिवेशन के समय तक ये सब प्रश्न अभी इस तरह साफ नहीं हुए थे, इसलिए वहाँ भी बहुत उत्साह से खिलाफत-कान्फ्रेन्स हुई और उसने काँग्रेस का साथ दिया। यदि यह कहा जाय कि उसने काँग्रेस से अधिक जोश और जीवट दिखलाया, तो अत्युक्ति न होगी। इसका विशेष कारण था उस समय तुर्कों के प्रति ब्रिटिश सरकार का रुख और उसकी कारवाई।

४७—स्वराज्य-पार्टी का जन्म

पहले से ही दोनों दलों में (परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों में) काफी खींचतान हो गयी थी। काँग्रेस का अधिवेशन समाप्त होते ही अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी के सभापतित्व से देशबन्धु दास ने इस्तीफा दे दिया। जो लोग कौन्सिल-प्रवेश के पक्ष में थे उन्होंने मिलकर स्वराज्य-पार्टी की स्थापना की घोषणा कर दी। उसके प्रमुख नेताओं में देशबन्धु दास, पं० मोतीलाल नेहरू, हकीम साहब, श्री बिट्ठलभाई पटेल, श्री केलकर प्रभृति थे। देशबन्धु दास उसके प्रमुख नायक और पंडित मोतीलाल नेहरू मंत्री बने। जो अपरिवर्तनवादी थे उन्होंने बहुत आग्रह किया कि देशबन्धु दास सभापति बने रहें; पर उन्होंने यह स्वीकार नहीं किया। उनका कहना था कि बहुमत उनके पक्ष में नहीं है, इसलिए वह सभापति नहीं रह सकते—स्वराज्य-पार्टी द्वारा वह काँग्रेस का बहुमत अपने पक्ष में लाने का प्रयत्न करेंगे, इसलिए उनका सभापति रहना मुनासिब नहीं होगा, उनके काम में भी बाधा होगी।

जो वर्किंग कमिटी बनायी गयी वह भी अधिकांश अपरिवर्तनवादियों की ही। मैं प्रधान मंत्री चुना गया। यह बोझ मेरे लिए बहुत भारी था, पर उसे वहन करना ही पड़ा; क्योंकि हम सभी ने मिलकर सभापति की सम्मति नहीं मानी थी, और अब हमारा धर्म था कि प्रजातंत्र की परिपाटी के अनुसार उसके चलाने का भार सँभालें। जो हो, गया में देशबन्धु दास का इस्तीफा मंजूर नहीं हुआ। उस पर पुनः विचार करने के लिए उनसे आग्रह करने का एक प्रस्ताव पास हुआ; पर उन्होंने वहीं पर साफ कह दिया कि वह पुनर्विचार के लिए तैयार नहीं हैं।

नयी कौन्सिलों के चुनाव १९२३ के नवम्बर में होनेवाले थे। इसलिए स्वराज्य-पार्टी का निश्चय हुआ कि उसके पहले काँग्रेस में बहुमत प्राप्त कर लेना और तब

काँग्रेस की ओर से चुनाव के लिए लड़ना चाहिए। हम जो अपरिवर्तनवादी थे, सोचते थे कि काँग्रेस ने इस बात का निपटारा कर दिया है, अब केवल रचनात्मक कार्यक्रम पर ही जोर देना चाहिए। पर ऐसा होता नहीं दिखाई पड़ता था; क्योंकि कौन्सिल-प्रवेश-सम्बन्धी वाद-विवाद तो चलता ही रहा। अखिल भारतीय कमिटी की जो बैठक हुई उसमें तय हुआ कि रचनात्मक कार्यक्रम पर जोर लगाया जाय, काँग्रेस के निश्चयानुसार सत्याग्रह के लिए पचीस लाख रुपये जमा किये जायँ और पचास हजार स्वयंसेवक भरती किये जायँ, ताकि सत्याग्रह आरम्भ किया जा सके। पर यह शान्ति से होनेवाला कहाँ था! काँग्रेस के अधिवेशन के बाद ही कुछ प्रमुख काँग्रेसी जेल से छूटे जिनमें मौलाना अबुल कलाम आजाद भी थे। बिहार के नेताओं में मौलवी महम्मद शफी और बाबू श्रीकृष्ण सिंह भी इसी समय जेल से निकले। मौलाना आजाद जेल से निकलते ही इस फिक्र में लग गये कि दोनों दलों में किसी तरह समझौता कराया जाय। गया-काँग्रेस के बाद वह वर्किंग कमिटी के मेम्बर चुने गये थे। उन्होंने वर्किंग कमिटी की बैठक में समझौते की बात पेश की। वर्किंग कमिटी ने उसे मंजूर कर लिया। स्वराज्य-पार्टी के सभी नेताओं से अभी उनकी पूरी बातें नहीं हो पायी थीं; पर जहाँ तक उनको मालूम हुआ था—पार्टीवालों को भी वे बातें मंजूर थीं। इसलिए निश्चय हुआ कि फरवरी के अन्तिम सप्ताह में वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी की बैठक प्रयाग में करके इस पर विचार किया जाय। मौलाना साहब, चूँकि वह इस समझौते को पूरा कराना चाहते थे, वर्किंग कमिटी से अलग हो गये जिसमें वह निरपेक्ष भाव से इसके लिए काम कर सकें।

फरवरी के अन्त में प्रयाग में सभा हुई। देशबन्धु दास ने सभापति का आसन ग्रहण किया। उस सभा में समझौते का प्रस्ताव स्वीकृत हो गया। उसकी शर्तें ये थीं—(१) कौन्सिल-सम्बन्धी प्रचार ३० अप्रैल तक बन्द रहे; (२) दोनों पक्ष अपने-अपने कार्यक्रम के दूसरे मदों के सम्बन्ध में जो काम करना चाहें करें और एक दूसरे के काम में बाधा न डालें; (३) अपरिवर्तनवादी गया-काँग्रेस के निश्चय के अनुसार सत्याग्रह के लिए रुपये और स्वयंसेवक जुटावें; (४) परिवर्तनवादी, अपरिवर्तनवादियों के साथ, रचनात्मक काम तथा दूसरे ऐसे काम के लिए जिसे दोनों मानते हैं, रुपये जमा करने और कार्यकर्ता जुटाने में सहयोग करेंगे; (५) ३० अप्रैल के बाद फिर दोनों पक्ष, जैसा मुनासिब समझें, अपने कार्यक्रम के अनुसार काम करें।

इसी निश्चय के अनुसार श्री राजगोपालाचारी के साथ मैंने भिन्न-भिन्न सूबों का दौरा किया। इसके पहले मैं अपने सूबे में ही घूमा था। दूसरे सूबों का बहुत ज्ञान नहीं था। इस दौरे से अनेक स्थानों में जाने का और वहाँ के कार्यकर्त्ताओं से विशेष परिचित होने का सुअवसर मिला। रुपये भी जमा किये गये। रचनात्मक कार्यक्रम पर विशेष जोर दिया गया। राजाजी ही भाषण किया करते थे। राजाजी-जैसे चतुर, प्रतिभाशाली और कुशल वक्ता कम ही हैं। वह अपने भाषणों में शोरगुल नहीं मचाते, न हाथ-पैर पीटते हैं। आहिस्ता-आहिस्ता नरम शब्दों में

अपनी युक्तियों को अनूठी तरह से श्रोताओं के सामने रखते हैं और उनको मोह लेते हैं। मैंने सोचा कि मैं इनके बाद क्या भाषण कर सकूँगा, चुप रहना ही अच्छा होगा। उनके भाषण के प्रभाव को मेरा भाषण कम कर देता। पर लोग चाहते कि मैं भी कुछ कहूँ। इससे बचने की एक अच्छी युक्ति भी निकल आयी। राजाजी अँगरेजी में ही भाषण करते; क्योंकि वह हिन्दी नहीं बोल सकते थे। मैंने उनके भाषणों का भाषान्तर करने का काम उठा लिया। ऐसा यदि न करता तो हर सभा में भाषान्तरकार खोजना पड़ता और वह भी न मालूम ठीक भाषान्तर करता या नहीं। मैं उनकी विचारशैली से खूब परिचित हो गया था। उनके बोलने के तरीके को भी खूब समझ गया था। इसलिए मैंने देखा कि एक पंथ दो काज हो जाता है—उनके भाषण का भाषान्तर हो जाता है और मैं भाषण करने से बच भी जाता हूँ। वह एक वाक्य कहते और मैं उसका भाषान्तर कर देता। इस प्रकार मेरे काम में भी सुविधा होती और लोग सब बातें ठीक-ठीक समझ लेते। प्रायः सभी सभाओं में जहाँ हिन्दी में भाषान्तर की जरूरत पड़ती, मैंने यही किया। भाषान्तर का काम कठिन है—विशेषकर तात्कालिक आशु भाषान्तर का—जब कोई वक्ता धारा-प्रवाह बोलता जाता हो। पर मैं इसमें दक्ष हो गया। मैंने कलकत्ता-हाइकोर्ट में देखा था कि एक भाषान्तरकार, गवाहों के इजहार में, बैरिस्टरों के प्रश्नों और गवाहों के उत्तरों का ऐसा चमत्कार-पूर्ण भाषान्तर करता था कि केवल शब्दार्थ ही नहीं, बल्कि प्रश्नों के पूछने के लहजे को भी भाषान्तर में ला देता था।

कई बरसों के बाद, जब मैं योरप गया और वहाँ युद्ध-विरोधी एक अन्तरराष्ट्रीय कान्फ्रेन्स में शरीक हुआ, तो वहाँ भी एक चमत्कारी भाषान्तरकार देखा। वह जर्मन था। अभी उसकी अवस्था २४-२५ साल से अधिक नहीं थी। पर वह अँगरेजी, फ्रेञ्च, जर्मन और एस्परेण्टो खूब जानता था। जब कोई वक्ता इन चार में से किसी भी भाषा में भाषण करता तो वह शीघ्र-लिपि से सारे भाषण को लिखता जाता था। जैसे ही भाषण समाप्त होता, वह खड़ा हो जाता और शीघ्र-लिपि द्वारा लिखित अपनी प्रति को अपने हाथों में लेकर बाकी तीन भाषाओं में भाषान्तर कर देता। मैं यह तो नहीं कह सकता कि भाषान्तर कहाँ तक ठीक होता, क्योंकि अँगरेजी के सिवा मैं दूसरी तीन भाषाओं में से एक भी नहीं जानता था; पर जैसी शुद्ध अँगरेजी में वह भाषान्तर करता उससे मैंने अनुमान कर लिया कि अन्य भाषाओं में भी वह शुद्ध ही बोलता होगा। और, जब चारों भाषाओं में वह धारा-प्रवाह शुद्ध भाषण कर सकता था, तो कोई कारण नहीं कि उसका भाषान्तर शुद्ध न होता हो। उससे परिचय हो जाने पर मैंने दरियाफ्त किया, तो मालूम हुआ कि वह संस्कृत भी जानता था और किसी संस्कृत ग्रन्थ का जर्मन में अनुवाद करने में उस समय लगा था। मैं यहाँ भाषान्तर के फेर में बहुत बहक गया!

उस दौरे से रचनात्मक कार्यक्रम की तरफ लोगों की कुछ अभिरुचि तो हुई; पर काम बहुत आगे न बढ़ा। दो-तीन महीनों में उसका परिणाम कुछ दिखाया

भी नहीं जा सकता था। रुपये भी करीब तेरह लाख के जमा हुए, पर पूरे २५ लाख नहीं हुए। स्वराज्य-पार्टी को मौका मिला। उसने हमारे हार मानने की बात पेश की—अपने कार्यक्रम को स्वीकृत कराने का प्रयत्न भी किया।

४८—स्वराज्य-पार्टी के साथ समझौते का निष्फल प्रयत्न

एक तरफ हम उक्त दौरे में व्यस्त थे, दूसरी ओर हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बढ़ते जा रहे थे। मुलतान का जिक्र ऊपर आ चुका है। वहाँ अभी तक कुछ न कुछ मनोमालिन्य चला ही जा रहा था। इसलिए उसी वर्किंग कमिटी में, जिसमें मौलाना साहब जेल से छूट कर शरीक हुए थे, निश्चय किया गया था कि पंडित मालवीयजी के साथ मौलाना मुलतान जायँ और वहाँ के झगड़े को निपटाने का प्रयत्न करें। क्षतिग्रस्त लोगों की सहायता के लिए काँग्रेस की ओर से दस हजार रुपये भी मंजूर किये गये थे। पर अब झगड़ा केवल मुलतान में ही नहीं रह गया। अमृतसर में भी हालत खराब हो गयी। हम अपने दौरे में पंजाब की कई जगहों में गये। देशबन्धु दास, पंडित मोतीलाल नेहरू तथा हकीम अजमल खाँ भी बराबर कोशिश करते रहे। उन्होंने डाक्टर अंसारी प्रभृति के साथ मिलकर इस बात की कोशिश की कि कोई हिन्दू-मुस्लिम समझौता हो जाय जो सारे देश की बिगड़ती फिज़ाँ को सुधार सके। पर इसमें वे कामयाब नहीं हुए।

पंजाब के दौरे के दरमियान लाहौर में देशबन्धु दास से, राजाजी की और मेरी, मुलाकात हुई। वहाँ पर देशबन्धु दास ने स्थायी समझौते के लिए यह प्रस्ताव पेश किया कि काँग्रेस के काम कई विभागों में बाँट दिये जायँ और प्रत्येक विभाग के चलाने का भार ऐसे व्यक्तियों पर दिया जाय, जो उसमें विशेष दिलचस्पी रखते हों—जैसे, राष्ट्रीय शिक्षा, खादी-प्रचार, कौन्सिल-विभाग, विदेशों में प्रचार, मजदूर-संगठन, अछूतोद्धार, सत्याग्रह इत्यादि। इसके लिए पाँच-छ: करोड़ की रकम भी जमा की जाय।

पंजाब से हम लोग दौरे में पूना गये। वहाँ वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उसे यह प्रस्ताव अव्यावहारिक मालूम पड़ा। उसने इसे नामंजूर किया। उसी समय देशबन्धु दास प्रभृति का तार आया कि पंजाब की स्थिति पर विचार करने के लिए वर्किंग कमिटी की बैठक प्रयाग में तुरंत की जाय। ३० अप्रैल तक का हमने कार्यक्रम बना लिया था। इसलिए उस काम को स्थगित करके वर्किंग कमिटी की बैठक इतनी जल्दी में करना संभव न हुआ। पर राजाजी वहाँ भेज दिये गये कि जो कुछ मुनासिब हो, वह करें और अगर आवश्यक समझें तो वर्किंग कमिटी की भी बैठक करें। राजाजी वहाँ गये। देशबन्धु दास प्रभृति से उनकी बातें हुईं। पर बातें पूरी नहीं हो पायीं; इसलिए कुछ बातें दिल्ली में हकीम अजमल खाँ के साथ हुईं। इस प्रकार जितनी बातें हुईं उनका नोट बनाकर राजाजी ने हकीम साहब को दे दिया कि वह देशबन्धु दास और पंडित मोतीलालजी की राय लें। राजाजी उस नोट की एक प्रति लेकर बम्बई में वर्किंग कमिटी के दूसरे लोगों से स्वयं मिलने गये। यह प्रस्ताव

न तो पंडित मोतीलालजी को मंजूर हुआ, न सरदार वल्लभभाई और सेठ जमनालालजी को। पर इसके सम्बन्ध में कुछ ऐसे बयान निकले और ऐसा प्रचार किया गया मानों अपरिवर्तनवादी लोगों ने ही इसे नामंजूर कर दिया। श्रीमती सरोजिनी नायडू भी इसी कारण, अपरिवर्तनवादियो से, जिनमें वह भी एक थीं, कुछ नाराज हो गयीं। उस समय के पत्रों ने भी कड़ी टिप्पणियाँ लिखीं। पंडित मोतीलालजी ने तो स्वराज्य-पार्टी की ओर से प्रचार का काम शुरू कर दिया। मई के अन्त में होनेवाली अखिल भारतीय कमिटी की बैठक में, जहाँ समझौते की बात पर विचार होनेवाला था, अपने न जाने की घोषणा भी कर दी तथा अपने अनुयायियों को भी जाने से मना कर दिया।

देश में आपस के इस झगड़े से लोग खिन्न हो रहे थे। कई प्रान्तीय कमिटियों ने भी राय दी कि कोई समझौता हो जाना अच्छा होगा। अपरिवर्तनवादियों में डाक्टर अंसारी और श्रीमती नायडू समझौते के पक्षपाती थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू—जो गया-काँग्रेस के समय में जेल में थे, पर अब छूट चुके थे—समझौता चाहते थे। इसलिए एक प्रकार से समझौते के पक्ष में अनुकूल वायुमंडल तैयार हो गया। पीछे स्वराज्य-पार्टी के लोगों ने भी बम्बई में होनेवाली अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी की बैठक में शरीक होने का विचार प्रकट कर दिया और शरीक हुए भी। यह बैठक मई महीने के अन्त में हुई। वर्किंग कमिटी की ओर से यह प्रस्ताव उपस्थित किया गया कि काँग्रेस का विशेष अधिवेशन किया जाय—यदि स्वराज्य-पार्टी के लोग उसके निश्चय को मानने के लिए तैयार हों। देशबन्धु दास ने, जो सभापतित्व कर रहे थे, कह दिया कि वह इसका वादा नहीं करेंगे कि स्वराज्य-पार्टी विशेष अधिवेशन के निश्चय के अनुसार ही काम करेगी। इस पर वर्किंग कमिटी ने अपना प्रस्ताव वापस ले लिया। उपस्थित सदस्यों की ओर से कई प्रस्ताव उपस्थित किये गये, जिनमें एक के प्रस्तावक और समर्थक श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और पंडित जवाहरलालजी थे। उसका आशय यह था कि देश में चूँकि एसे लोग भी हैं जो चाहते हैं कि कौन्सिलों के चुनाव में भाग लिया जाय, इसलिए आपस के झगड़े को मिटाने के लिए गया-काँग्रेस के आदेशानुसार चुनाव के विरुद्ध प्रचार न किया जाय। कुछ लोगों ने यह प्रश्न उठाया कि गया-काँग्रेस के निश्चय के विरुद्ध होने के कारण यह प्रस्ताव अवैध (out of order) है। पर सभापति देशबन्धु ने इसको नहीं माना और प्रस्ताव को वैध करार दिया। यह प्रस्ताव थोड़े बहुमत से स्वीकृत हो गया। हम लोग, जो गया में वर्किंग कमिटी के मेम्बर चुने गये थे, इस्तीफा देकर अपने पद से हट गये। देशबन्धु दास की राय के मुताबिक एक नयी वर्किंग कमिटी चुनी गयी। उसमें ऐसे लोग थे जो न तो कट्टर अपरिवर्तनवादी थे और न कट्टर परिवर्तनवादी, अर्थात् जो समझौता चाहते थे। डाक्टर अंसारी सभापति बने। पंडित जवाहरलालजी मंत्री चुने गये।

राजाजी इस प्रस्ताव से बहुत असन्तुष्ट थे। उनका कहना था कि इस तरह

कांग्रेस आत्महत्या कर लेगी। उसे या तो कौन्सिलों में जाने की सीधे तौर पर अनुमति देनी चाहिए और चुनाव के लिए लड़ना चाहिए, नहीं तो चुनाव का बहिष्कार करना चाहिए और इस बहिष्कार के लिए जनता में पूरा प्रचार करना चाहिए। अखिल भारतीय कमिटी इन दोनों में से एक भी नहीं करती थी। वह स्वराज्य-पार्टी को प्रचार का हक देती, चुने जाने का भी मौका देती, उन पर किसी प्रकार का कांग्रेस का नियंत्रण भी नहीं रखती, और दूसरी ओर चुनाव के विरुद्ध विरोधियों का मुँह खोलना भी रोक देती है। इसलिए यह प्रस्ताव मान्य नहीं है—विशेष करके जब गया-कांग्रेस ने कौन्सिल-विरोधी प्रचार का आदेश दिया है। इसमें शक नहीं कि अधिकांश समाचार-पत्र कौन्सिल के पक्ष में थे। कांग्रेस में भी बहुतेरे लोग इस बहस से ऊब गये थे। बहुतेरों को यह समझौता अच्छा लगा। नयी वर्किंग कमिटी ने घोषणा निकाली कि गया-कांग्रेस का प्रस्ताव, जिसके द्वारा कौन्सिलों का बहिष्कार किया गया था, कायम है—केवल उसका प्रचार ही इस प्रस्ताव द्वारा रोका गया है। यह राय हमने बिहार-प्रान्तीय कमिटी की ओर से भी दी। पर दूसरे प्रान्तों की कई कमिटियों ने इसके विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकार किया। उन्होंने इस प्रस्ताव को गया के निश्चय के विरुद्ध समझ कर नहीं माना।

बम्बई की उक्त बैठक के बाद देश में फिर इस पर जोरों से बहस चलने लगी। जिस वाद-विवाद को रोकने के लिए बम्बई का प्रस्ताव किया गया था वह उसी तीव्रता के साथ जारी रहा। देशबन्धु दास बम्बई से मद्रास प्रान्त में दौरा करने के लिए गये। कई स्थानों पर उन्होंने बहुत ही कड़ुवे और उत्तेजक भाषण किये। इन्हीं भाषणों में से एक में उन्होंने, लार्ड रीडिंग के साथ समझौते की बात का इशारा करते हुए, कहा था कि उस समय के सत्याग्रह से गवर्नमेण्ट दब गयी थी—उसने झुक करके सुलह करना चाहा था—मेरे पास शर्तें भेजी थीं—मैंने 'हेडक्वार्टर्स' अर्थात् गांधीजी को भेज दी थीं; पर उन्होंने सब बातें गड़बड़ा दीं, ('Bungled and mismanaged') और अब हमें केवल चर्खा चलाने को कहते हैं। इस विषय को लेकर फिर पुरानी बातें उभड़ीं। श्रीयुत कृष्णदास ने उस समय के उन तारों को—जो गांधीजी, पंडित मालवीयजी और देशबन्धु दास ने एक दूसरे को भेजे थे—छाप दिया। पंडित श्यामसुन्दर चक्रवर्ती, पंडित मालवीयजी और मौलाना आजाद ने—जिन्होंने उस बातचीत में भाग लिया था—अपने-अपने बयान अखबारों में दिये।

सारे देश में कटुतापूर्ण जोरदार वादविवाद नये सिरे से चल पड़ा। नतीजा यह हुआ कि वर्किंग कमिटी को कुछ लोगों ने फिर अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करने के लिए मजबूर किया। एक बैठक नागपुर में जून के अन्त में हुई। वहाँ पर यह निश्चय हुआ कि कांग्रेस का एक विशेष अधिवेशन किया जाय, जहाँ इस कौन्सिल के प्रश्न का निपटारा किया जा सके। वहाँ एक प्रस्ताव वर्किंग कमिटी की ओर से पेश किया गया, जिसका आशय यह था कि जिन कमिटियों ने बम्बई की अखिल भारतीय कमिटी के निश्चय के विरुद्ध आवाज उठाई है और कांग्रेस के अनु-

शासन को भंग किया है उन पर अनुशासन की कार्रवाई की जाय। इन कमिटियों में सबसे प्रमुख स्थान तामिल-नाड कमिटी का था और इस प्रस्ताव का लक्ष्य विशेष करके श्री राजगोपालाचारी थे। इस पर बहुत गरमागरम बहस हुई। कहा जाता था कि उन्होंने अखिल भारतीय कमिटी के प्रस्ताव के प्रतिकूल काम किया है। हम लोग अखिल भारतीय कमिटी के प्रस्ताव को स्वयं काँग्रेस के निश्चय के प्रतिकूल मानते थे। इसलिए हमारा कहना था कि उन्होंने काँग्रेस के आदेश का ही पालन किया है और अखिल भारतीय कमिटी ने निरंकुशता से काम लिया है। बहस रात तक चलती रही। मुझे राजाजी के बचाव में भाषण करना पड़ा। यद्यपि मैं १९११ से बराबर अखिल भारतीय कमिटी का सदस्य रहता आया था, तथापि मैं बहुत कम अवसरों पर वहाँ बोला करता था। सत्याग्रह कमिटी की रिपोर्ट पर बहस छिड़ने और गया-काँग्रेस के समय को छोड़कर मुझे याद नहीं है कि उसके पहले और कहीं काँग्रेस में या अखिल भारतीय कमिटी में कभी भी मैं बोला हूँ। गया में मेरे भाषण हिन्दी में ही हुए थे। नागपुर में अँगरेजी में बोलना उपयोगी मालूम पड़ा; क्योंकि वहाँ दक्षिण भारत और दूसरे अहिन्दी-भाषी प्रतिनिधियों को ही अधिक समझाने की जरूरत थी। राजाजी स्वयं बहुत बोलना नहीं चाहते थे। मैंने शायद वहाँ पहली बार अँगरेजी में भाषण किया। लोगों पर प्रभाव अच्छा पड़ा। श्री सत्यमूर्ति, जो स्वराज्य-पार्टी के बड़े हिमायती और राजाजी के पक्ष के विरोधी थे, मेरे पास आये और मेरे भाषण के लिए उन्होंने बधाई देते हुए कहा कि मैं नहीं जानता था कि आप अँगरेजी में इतना अच्छा बोल सकते हैं। नतीजा यह हुआ कि प्रस्ताव अस्वीकृत हो गया। निन्दात्मक प्रस्ताव गिर जाने पर वर्किंग कमिटी ने इस्तीफा दे दिया। नयी कमिटी बनी। हम लोग फिर वर्किंग कमिटी में आ गये। श्री वेंकटपय्या सभापति हुए। श्री गोपाल कृष्णैय्या मंत्री बने। वर्किंग कमिटी के जिम्मे विशेष अधिवेशन के स्थान चुनने का काम भी दिया गया। कुछ दिनों के बाद उन्होंने निश्चय किया कि वह दिल्ली में हो। अखिल भारतीय कमिटी ने मौलाना अबुल कलाम आजाद को विशेष अधिवेशन का सभापति चुन लिया।

४९—नागपुर-झण्डा-सत्याग्रह और गांधी-सेवासंघ का जन्म

दिल्ली के विशेष अधिवेशन के सम्बन्ध में कुछ कहने के पहले नागपुर-झंडा-सत्याग्रह का जिक्र जरूरी है। राष्ट्रीय सप्ताह के उपलक्ष में १९२३ की १३वीं अप्रैल को राष्ट्रीय झंडे के साथ वहाँ जलूस निकाला गया। उसे मध्यप्रान्त की सरकार ने जबलपुर और नागपुर में सिविललाइन्स में जाने से रोक दिया। हुक्म न मानने पर पंडित सुन्दरलाल प्रभृति को जबलपुर में गिरफ्तार भी कर लिया। इससे जनता में बहुत रोष पैदा हुआ। सत्याग्रह करने का विचार होने लगा।

सभी बड़े-बड़े नेता सत्याग्रह के प्रतिकूल थे। उनका विचार था कि यह कौन्सिल के कार्यक्रम को नीचा दिखलाने के लिए अपरिवर्तनवादियों का स्वाँग है। जो हो, नागपुर में पहली मई से सत्याग्रह आरम्भ हो गया। सेठ जमनालालजी ने उसका

नेतृत्व करना आरंभ कर दिया। सत्याग्रह का रूप यह हुआ कि कुछ सत्याग्रही राष्ट्रीय झंडे लेकर, जलूस बनाकर, सिविललाइन्स की ओर जाना चाहते। एक स्थान था, जहाँ सरकार की ओर से उन्हें रोक दिया जाता और उनके न मानने पर उनको गिरफ्तार कर लिया जाता। यही क्रम प्रतिदिन चलता। बहुतेरे लोग इस प्रकार गिरफ्तार होकर जेलखानों में चले गये। सत्याग्रह की शोहरत सारे देश में फैली। सभी जगहों से सत्याग्रह करने के लिए स्वयंसेवक नागपुर पहुँचने लगे। कुछ दिनों के बाद सेठ जमनालालजी भी गिरफ्तार कर लिये गये। तब सरदार बल्लभभाई नागपुर आ गये। उन्होंने नेतृत्व ग्रहण किया। मैंने बिहार में स्वयंसेवकों का संगठन आरम्भ करके उनको नागपुर भेजना शुरू कर दिया। मैं भी उनके साथ कई बार नागपुर गया। सत्याग्रह के कारण देश-भर में हलचल मच गयी। अब अनुमान होने लगा कि सरदार बल्लभभाई भी गिरफ्तार कर लिये जायँगे। इसी कारण मेरा वहाँ जाना और भी आवश्यक हो गया।

इस प्रकार सारे देश से हजारों सत्याग्रही वहाँ गये और गिरफ्तार हुए। परिस्थिति गरुआती गयी। श्री बिट्ठलभाई पटेल, जो स्वराजी थे, वहाँ आकर सरदार की मदद करने लगे। सरकार ने भी सोचा कि यह सत्याग्रह बढ़ने देना उचित नहीं है। इसलिए श्री बिट्ठलभाई पटेल से कुछ बातें हुईं। एक दिन झंडे के साथ-साथ जलूस को सिविललाइन्स की ओर से जाने देकर सत्याग्रह बन्द कर दिया गया। मैं उस समय नागपुर में था। आखिरी दिन का जलूस बड़ी शान से निकला। बहुत लोग झण्डे लेकर उसमें शरीक हुए। श्री बिट्ठलभाई और सरदार के साथ मैं भी था। जलूस शान्ति-पूर्वक सिविललाइन्स होकर चला आया। सत्याग्रह समाप्त कर दिया गया। उसके बाद कैदी भी छोड़ दिये गये। इस सत्याग्रह का असर और जगहों में भी अच्छा पड़ा।

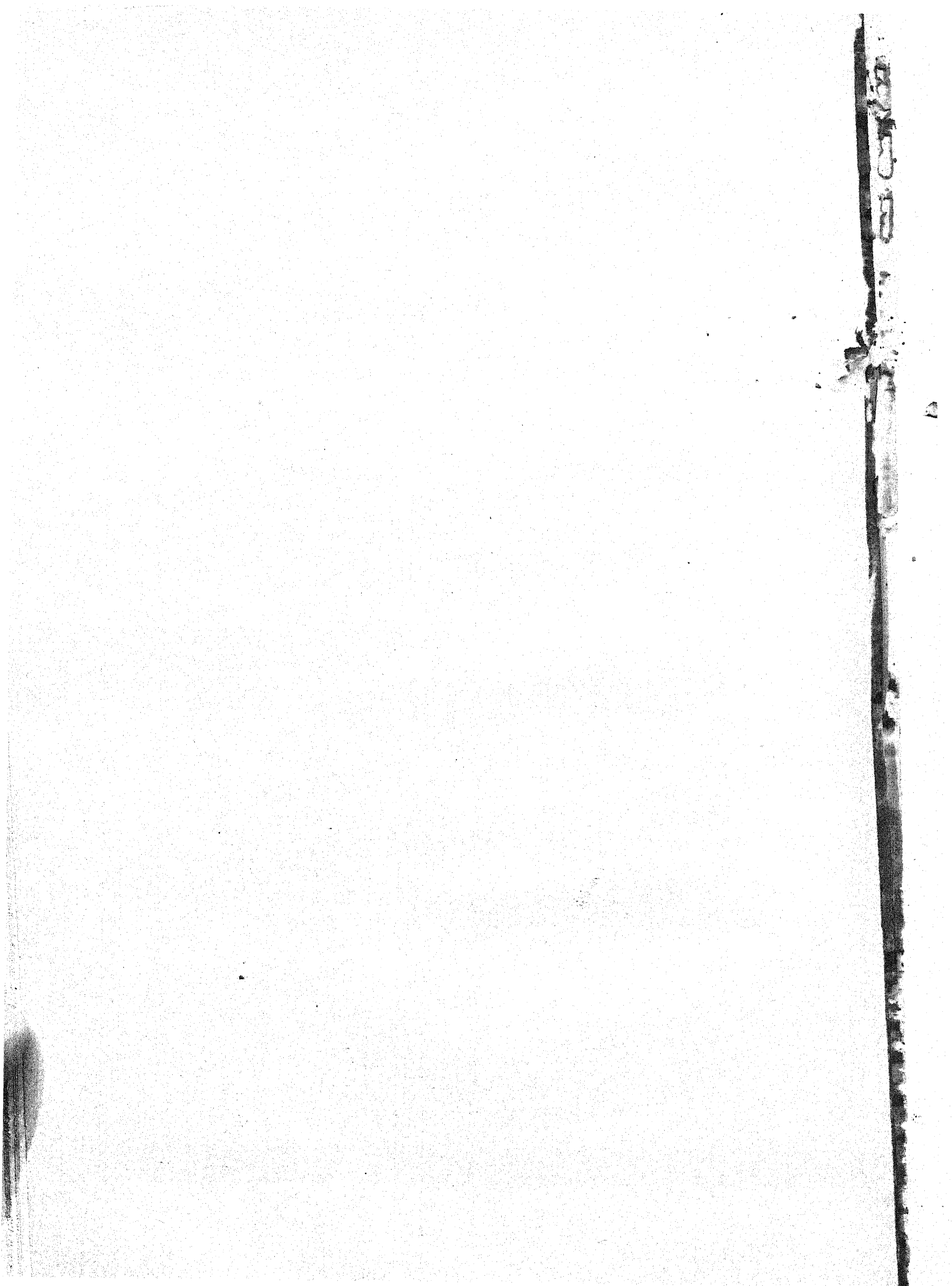
बिहार से अनेक सत्याग्रही गये थे, जिनमें से एक हरदेवसिंह की मृत्यु नागपुर जेल में हो गयी। उस दिन मैं वहीं था। जेल से शव हम लोगों को मिल गया। उसका दाह-संस्कार हम सबने मिलकर वहाँ किया। यों तो सरदार से मुलाकात थी ही। पर नागपुर में ही उनसे वह घनिष्ठता हुई, जो मेरे जीवन की सुखद स्मृतियों में एक हमेशा बनी रहेगी। वहीं मेरे दिल में उनकी कार्य-कुशलता, गम्भीरता और नेतृत्व-शक्ति के प्रति महान् आदर उत्पन्न हुआ। उनके प्रति ऐसी श्रद्धा अंकुरित हुई, जो दिन-दिन बढ़ती गयी। वहीं मैंने उनका प्रेम और विश्वास प्राप्त किया, जो उन्होंने उसी तरह से बराबर मेरे प्रति और बिहार-प्रान्त के प्रति दर्शाया है।

इन्हीं दिनों सेठ जमनालालजी की राय हुई कि परिवर्तनवादियों और अपरिवर्तनवादियों की आपस की बहस यदि चलती रहेगी तो रचनात्मक काम ढीला ही रहेगा; इसलिए एक ऐसी संस्था स्थापित की जाय जो रचनात्मक काम पर ही अधिक ध्यान दे और उसमें ऐसे लोग ही विशेष करके रहें जो गांधीजी के सिद्धान्तों को मानते हों। इस संस्था का नाम पड़ा 'गांधी-सेवा-संघ'। श्री राजगोपालाचारी, सरदार



बायें से दायें—(१) सुखदेवप्रसाद वर्मा चीफ जस्टिस जयपुर हाईकोर्ट, (२) राय बहादुर विनोदबिहारी सरकार—सेक्रेटरी बंगाल सरकार, (३) देशरत्न राजेन्द्र बाबू, (४) जोगेन्द्रनारायण मजुमदार, जज कलकत्ता हाईकोर्ट।

—१९०६



बल्लभभाई पटेल, श्री गंगाधरराव देशपाण्डे, सेठ जमनालाल बजाज प्रभृति उसके संचालक-मंडल के सदस्य हुए। मैं भी उसमें दाखिल हुआ। जब तक वह संस्था इस रूप में रही, मैं उसका सदस्य बना रहा। हम लोगों का बराबर यही प्रयत्न रहा कि उसे राजनीतिक झगड़ों से अलग रखें। ऐसा ही किया भी गया। उसके कार्यकर्त्ता विशेष करके रचनात्मक काम में--खादी-प्रचार, हरिजन-सेवा आदि में—लगे रहते। पर तो भी गांधीवाद के विरोधी इस बात की शिकायत जब-तब पेश कर दिया करते कि यह एक राजनीतिक दल है और स्वराज्य-पार्टी तथा अग्रगामी दल (फारवर्ड-ब्लाक) के साथ उसका नाम जोड़ लेते।

जो हो, गांधी-सेवा-संघ ने रचनात्मक काम में बहुत दिलचस्पी ली। विशेषकर उसी के सदस्य इसको आगे बढ़ाने के प्रयत्न में लगे रहे हैं। इसकी शाखाएँ प्रायः कई सूबों में कायम हुईं। बिहार में भी हुई। कई सदस्यों को, जिनकी संख्या घटती-बढ़ती गयी और सदस्य भी अक्सर बदलते गये, कुछ निर्वाह-व्यय भी मिलता रहा। किन्तु यहाँ पर उसका कोई एक केन्द्र स्थापित करके काम नहीं हुआ। इसका कुछ प्रयत्न, कई बरसों के बाद, सारन-जिले के 'मैरवा' गाँव में आश्रम कायम करके किया गया। पर वह भी ठीक न चला। इसलिए इस (बिहार) सूबे में उसका कोई देखने लायक काम हम नहीं बतला सकते। पर उसके कुछ सदस्यों ने रचनात्मक काम किया और कुछ राजनीतिक क्षेत्र से अलग न हो सके।

५०—दिल्ली में काँग्रेस के विशेष अधिवेशन से कोकनाडा-काँग्रेस तक

दिल्ली के विशेष अधिवेशन के पहले मौलाना महम्मद अली जेल से छूटकर आये। हमारा अनुमान था कि वह भी कौन्सिल-प्रवेश के विरोधी ही होंगे। राजाजी इस बहस से इतने ऊब गये थे कि वह दिल्ली के अधिवेशन में आये ही नहीं। हमने मौलाना महम्मद अली को ही अपना नेता मान लिया। उनके ही हाथों में सब बातें छोड़ दीं। उन्होंने निश्चय किया कि दोनों पक्षों में समझौता हो जाय। वह निश्चय इस शर्त पर हुआ कि काँग्रेस की ओर से और काँग्रेस के नाम पर चुनाव न लड़ा जाय, पर यदि कोई काँग्रेस का आदमी चुनाव में खड़ा होना चाहे तो उस पर से रोक उठा ली जाय। इस तरह स्वराज्य-पार्टी को, अपने बल पर काँग्रेसियों को खड़ा करके, चुनाव लड़ने का सुअवसर मिल गया। चुनाव के झगड़े से काँग्रेस अलग रह गयी।

हम लोग इस झगड़े से घबरा गये थे। हम देखते थे कि इससे रचनात्मक काम में भी बाधा पड़ती है; क्योंकि कुछ लोग—जो कौन्सिल के पक्ष में हैं—कौन्सिल-पक्ष के समर्थन के साथ-साथ रचनात्मक काम का प्रत्यक्ष वा परोक्ष रीति से चाहे विरोध न करें; पर उपेक्षा अवश्य करते थे। हम आशा करते थे कि इस समझौते के बाद दोनों पक्ष अपने-अपने काम में लग जायँगे और हम रचनात्मक काम को आगे बढ़ा सकेंगे। मौलाना महम्मद अली ने इस बात पर जोर दिया। पर उन्होंने उस

सिलसिले में एक बात और कही थी, जिसका मर्म हम लोगों को पीछे मालूम हुआ। उन्होंने कहा था कि समझौते के पक्ष में उनको बे-तार के तार से भी खबर मिली है, जिसका अर्थ हम लोगों ने यह लगाया था कि उनको किसी न किसी तरह गांधीजी की राय भी मालूम हो गयी है। हम जानते थे कि गांधीजी जेल से कोई संदेश नहीं भेजेंगे; क्योंकि वह इसको सिद्धान्ततः गलत समझते थे। हम लोग यह भी जानते थे कि श्री शंकरलाल बैंकर, जो गया-काँग्रेस के झगड़े के बाद जेल से छूटे थे और जहाँ वह गांधीजी के साथ ही थे, हमसे कह चुके थे कि गांधीजी के मत में कोई फर्क नहीं पड़ा है। पर तो भी हमने यह सोचा कि हो सकता है, जेल से कोई कैदी छूटकर आया हो, वहाँ बातचीत में गांधीजी की राय उसको मालूम हो गयी हो और उसने मौलाना से वह बात कह दी हो। उन दिनों अक्सर काँग्रेसी लोग अपनी सजा की मीयाद पूरी करके छूटा करते थे; इसलिए यह असंभव भी नहीं था। पीछे मालूम हुआ कि गांधीजी से श्री देवदास गांधी मिले थे। देवदासजी से महात्माजी ने कहा था कि मौलाना महम्मद अली जो उचित समझें वही करें; किन्तु हमारे प्रति उनका जो विश्वास और प्रेम है उससे प्रभावित न हों, बल्कि देश की जिसमें भलाई समझें वही करें। उसी बात को मौलाना ने अपने तरीके से 'बे-तार का तार' कहकर बताया था। इसका असर बहुतेरों पर काफी पड़ा था। ऐसे प्रभावित लोगो में सरदार बल्लभ-भाई, सेठ जमनालाल बजाज, डाक्टर अंसारी और मैं, जो कौन्सिल-प्रवेश के विरोधी थे, मुख्य समझे जाते थे। हमने कोई चारा न देखकर समझौते को कबूल कर लिया।

हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बहुत फैल रहे थे। इससे अन्देशा था कि स्वराज्य के काम में भारी अड़चन पड़ जायगी। सभी लोग चिन्तित थे। इसलिए दिल्ली-काँग्रेस ने इस विषय पर भी बहुत विचार किया। सभी जगहों में हुए झगड़ों के सम्बन्ध में जाँच करने के लिए उसने एक कमिटी बना दी। दूसरी कमिटी भी नियुक्त कर दी—हिन्दू-मुस्लिम-समझौते का मसौदा तैयार करने के लिए। यह भी निश्चय किया गया कि काँग्रेस की ओर से सभी धर्मवालों को सम्मिलित कर रक्षा-दल कायम किये जायँ,—सभी जगहो में आपस की ऐसी पंचायतें बनायी जायँ जो झगड़े को रोकें और झगड़ा हो जाने पर उसके असर को यथासाध्य कम और सीमित करें।

एक दूसरा प्रश्न था जो उस समय सारे देश में बड़ी खलबली मचा रहा था। वह था हिन्दुस्थानियों का उपनिवेशों में—विशेषकर केनिया (अफ्रिका) में—स्थान। वहाँ हिन्दुस्थानियों ने ही जाकर उस देश को बसने लायक बनाया था। उन्होंने ही वहाँ वाणिज्य-व्यापार शुरू किया था। वहाँ रेलवे बनाने में भी उन्होंने ही परिश्रम किया था। अब वहाँ गोरे लोग हिन्दुस्थानियों को उन स्थानों में रहने देना नहीं चाहते थे जो स्वस्थ, अच्छे, उपजाऊ और उँचाई पर थे। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने भी गोरों की ही बात मान ली थी। केनिया के गोरों को दक्षिण अफ्रिका के गोरों की भी सहानुभूति और मदद मिली थी। इसी तरह, फीजी में भी हिन्दुस्थानियों के प्रति कई प्रकार के अत्याचार हो रहे थे। इसलिए काँग्रेस में इस आशय का प्रस्ताव

आया कि हिन्दुस्थानियों के प्रति किये गये दुर्व्यवहार से स्पष्ट हो गया है कि ब्रिटिश साम्राज्य में हिन्दुस्थानियों के लिए स्थान नहीं है, अतः अब हिन्दुस्थानियों को उस साम्राज्य से बाहर जाने की बात पर विचार करना चाहिए। बात ठीक थी। उस समय से आज तक जितनी कार्रवाई हुई है उससे यह बात और भी स्पष्ट होती गयी है। पर उस समय काँग्रेस ने इस प्रस्ताव को, विशेषकर मौलाना महम्मद अली के जोर लगाने से, नामंजूर कर दिया। मेरी सहानुभूति प्रस्ताव के साथ थी, पर हम लोगों ने इतने बड़े परिवर्तन के लिए—जब हम कमजोर पड़ गये थे और हमारा आन्दोलन भी कमजोर पड़ गया था—वह समय उपयुक्त नहीं समझा। एक दूसरा प्रस्ताव, जिसमें साम्राज्य से अलग होने की बात नहीं थी, स्वीकृत हुआ।

दिल्ली के अधिवेशन के बाद मैं वहाँ से ही लाला लाजपतराय को देखने के लिए सोलन चला गया। वह जेल से बीमार निकले थ और वहाँ स्वास्थ्य-लाभ के लिए ठहरे थे। उन्होंने भी समझौते को पसन्द किया। वह उससे खुश थे; क्योंकि उनका विचार भी स्वराज्य-पार्टी के साथ ही था। सोलन से लौटते समय मैं लखनऊ में उतरा। वहाँ मेडिकल कालेज के प्रिन्सिपल स्प्रासन (Lt. Col. Spransos) से, जो फेफड़े की बीमारियों के विशेषज्ञ समझे जाते थे, अपनी जाँच कराई। उन्होंने भी मेरी बीमारी को दमा करार दिया। उसके लिए स्वामिन् का इन्जेक्शन बताया। पटने लौटने पर उनके आदेशानुसार मैंने उसका इञ्जेक्शन लिया। कुछ विशेष फल नहीं हुआ।

दिल्ली के अधिवेशन के बाद स्वराज्य-पार्टी ने चुनाव में भाग लिया। मध्य-प्रान्त में स्वराज्य-पार्टी को अधिकांश स्थानों में सफलता मिली। वहाँ की कौन्सिल में उसका बहुमत हो गया। बंगाल में भी अच्छी सफलता मिली, पर बहुमत नहीं हुआ। किसी और सूबे में बहुत सफलता नहीं हुई, पर सभी जगहों में कुछ अच्छे आदमी कौन्सिलों में जा सके। बिहार में भी स्वराज्य-पार्टी बनी, जिसके प्रमुख पक्ष-पातियों में मौलवी महम्मद शफी, प्रोफेसर अब्दुलबारी, श्री कृष्णवल्लभ सहाय और बाबू जलेश्वरप्रसाद थे। यहाँ चुनाव में हममें से किसी ने भाग नहीं लिया। परोक्ष रीति से भी हमने मदद नहीं की। तो भी दस या बारह आदमी चुने गये। उन्होंने कौन्सिल में अच्छा ही काम किया। जलेश्वर बाबू ही पार्टी के नेता थे। युक्तप्रान्त में पं० गोविन्दवल्लभ पन्त पार्टी के नेता हुए। बंगाल में स्वयं देशबन्धु दास। बहुमत होने के कारण मध्यप्रान्त में स्वराज्य-पार्टी ने मंत्रि-मंडल नहीं बनने दिया। कुछ दिनों तक यह सिलसिला चला। पर कुछ प्रमुख व्यक्ति फूटकर अलग हो मंत्रिमंडल में शरीक हो गये। बंगाल में देशबन्धु दास ने कुछ दूसरों के साथ मिलकर वहाँ के मंत्रिमंडल को भी कुछ काल के लिए तोड़ डालने में सफलता पाई।

१९२३ इसी प्रकार समाप्ति पर आया। दिसम्बर में काँग्रेस का सालाना अधि-वेशन कोकनाडा में हुआ। ठीक अधिवेशन के समय मैं बीमार पड़ गया, इसलिए कोकनाडा न जा सका। वहाँ राष्ट्रभाषा-प्रचार के लिए जो सभा होनेवाली थी, उसका

मैं ही सभापति चुना गया था। मैंने एक लम्बा भाषण भी तैयार किया था जो पुस्तकाकार में छपा था। जब मैं ठीक रवाना होने के दिन ही बीमार पड़ गया तो केवल छपा भाषण ही वहाँ जा सका! मेरी जगह सेठ जमनालाल बजाज सभापति हुए। मैंने सुना कि उन्होंने मेरे भाषण को पढ़ सुनाया था।

कोकनाडा-काँग्रेस के सभापति मौलाना महम्मद अली हुए। उनका भाषण बहुत बड़ा और महत्त्वपूर्ण है। हिन्दुस्थान की राजनीति में, मुसलमानों के भाग स्थान की, उन्होंने ऐतिहासिक दृष्टि से आलोचना की है। आगे के लिए भी उन्होंने बहुतेरी ऐसी बातें कही हैं जिनको शायद सभी लोग नहीं मानते। जो हो, कोकनाडा ने दिल्ली के विशेष अधिवेशन के निश्चय का ही समर्थन किया। जो इजाजत स्वराज्य-पार्टी को कौंसिल-प्रवेश के लिए मिली थी उसे फिर मंजूर कर लिया। इसके अलावा, काँग्रेस ने, हिन्दू-मुस्लिम समझौते के मसविदे को, जनता और कमिटियों के विचार के साथ, अखिल भारतीय कमिटी के सामने पेश करने का आदेश दिया। खादी-प्रचार के लिए खद्दर-बोर्ड का भी संगठन किया। उत्साह बहुत था। ऐसा मालूम होता था कि जनता में फिर जान आ गयी। ठीक काँग्रेस के समय ही श्री कृष्णप्रकाश सेन सिंह की दुःखद मृत्यु हो गयी। हममें से एक होनहार त्यागी कार्यकर्त्ता चला गया!

५१—हाइकोर्ट में बरमा का मुकदमा

मैं पटने में ठहर गया था। १९२४ ई० की दूसरी जनवरी से बाबू हरिजी-वाला मुकदमा, अपील में, हाइकोर्ट में खुलनेवाला था। मैं अस्वस्थ रहकर भी उसके लिए तैयारी करता रहा। उसमें मुझे काम करना था। जनवरी के आरम्भ से मई के अन्त तक उसकी पेशी रही। मेरा प्रायः सारा समय उसी में लगता रहा। हाइकोर्ट में हम लोगों की ओर से श्री हसन इमाम और मिस्टर मानुक ने बहस की। डुमराँव के महाराजा की ओर से सर आशुतोष मुकर्जी ने बहस की। वह हाइकोर्ट की जजी से पेन्शन पाकर हाल ही निकले थे। मुझे बहुत परिश्रम करना पड़ा। सवेरे ही स्नानादि से निवृत्त होकर श्री हसन इमाम साहब के पास सात बजे पहुँच जाता था। जब तक वह कचहरी जाने को तैयार होने के लिए उठ न जाते तब तक उनके साथ काम करता। फिर कचहरी में दिन-भर काम करता। सन्ध्या को फिर उनके साथ! शनिवार, रविवार को खास करके, और कभी-कभी दूसरे दिन भी, अकेले लाइब्रेरी में काम करता। कानूनी नजीर खोजकर निकालने का काम मुझे ही सौंपा गया था। यही काम मैंने आरा में भी किया था और यहाँ भी किया। एक विषय पर आरा में कोई नजीर नहीं मिली थी। वह बहुत जरूरी विषय था। सोचने से मालूम होता था कि इस प्रकार के मुकदमे जरूर आये होंगे और हमारे पक्ष की नजीर जरूर मिलनी चाहिए। पर आरा में पटने के समान पुस्तकों की विशेष सुविधा नहीं थी। इसलिए वहाँ यह नजीर नहीं मिली। पटने में श्री हसन इमाम की लाइब्रेरी बहुत अच्छी थी। मैंने उस

प्रकार की नजीर खोजने में बहुत समय लगाया। अन्त में मैं सफल हुआ। एक नजीर मिल जाने पर उसके पहले और पीछे की अनेक नजीरें मिल गयीं। मैंने जब श्री हसन इमाम को दिखलाया तो वह इतने खुश हुए कि मेरे साथ वह श्री मानुक के घर गये और उनको भी तुरंत वह नजीर दिखलायी। दोनों को पूरा विश्वास हो गया कि उस विषय पर वे जरूर जीतेंगे। ऐसा ही हुआ भी।

इस मुकदमे की सुनवाई के बीच में ही सर आशुतोष की असामयिक मृत्यु पटने में ही हो गयी। वह अपनी बहस खतम कर चुके थे। जजों के लिए जब वह कुछ नोट तैयार कर रहे थे, एक ही दिन की बीमारी में अचानक चल बसे। मृत्यु के समय मैं उनके पास ही था। पटने में कई महीनों तक प्रतिदिन उनसे भेंट होना भी मेरे लिए बड़ी बात थी। कलकत्ते में तो वह जज थे और मैं एक नया वकील। पटने में दोनों एक ही मुकदमे में काम करते थे—यद्यपि दो भिन्न पक्षों में, तो भी सवेरे, दोपहर और इजलास उठने के बाद प्रायः रोज ही दो-चार बातें आपस में हो ही जाया करती थीं। एक छोटी-सी घटना बता देना बुरा न होगा। श्री हसन इमाम उनको गुरुजी कहा करते थे। जब श्री हसन इमाम कलकत्ता-हाइकोर्ट के जज हुए थे तब सर आशुतोष उनसे सीनियर थे। शायद वहीं रिश्ता कायम हुआ था। अपनी बहाली के थोड़े ही दिन बाद श्री हसन इमाम फौजदारी-बेंच पर बैठे, जहाँ के सीनियर जज से, एक के बाद दूसरे, तीन मुकदमों में उनका मतभेद हो गया। तीनों मुकदमे सर आशुतोष के पास, तीसरे जज की हैसियत से, भेजे गये। तीनों में उन्होंने श्री हसन इमाम के फैसले का ही समर्थन किया था। इससे कलकत्ता-हाइकोर्ट में जल्द ही श्री हसन इमाम का बड़ा नाम हो गया था। श्री हसन इमाम ने पटने में उनको एक दिन चाय पीने के लिए निमंत्रित किया। हाइकोर्ट में ही उन्होंने कहा—गुरुजी, मेरे यहाँ आप चाय पीयेंगे? सर आशुतोष ने कहा—मैं कट्टर सनातनी (orthodox) जरूर हूँ और आज तक इसी कारण कभी गवर्नमेण्ट-हाउस में चाय नहीं पी है; पर इसका अर्थ यह नहीं है कि हसन इमाम के घर में भी चाय न पीऊँ। चाय-पार्टी में हम सब बुलाये गये और शरीक हुए।

५२—बेतिया का मीना-बाजार

महात्मा गांधी यरवदा-जेल में थे। वहाँ वह बहुत बीमार पड़ गये। 'एपिण्डि-साइटिस' का प्रकोप ऐसा हो गया कि एक दिन डाक्टरों का विचार हुआ—यदि तुरंत चीरा नहीं लगाया जायगा तो इनकी जान नहीं बचेगी। यह निश्चय रात के समय हुआ। पूना के अस्पताल में वह ले जाये गये। वहाँ के अँगरेज डाक्टर कर्नल मैडौक को चीरा लगाना पड़ा। महात्माजी से पूछा गया था कि आपके डाक्टर कौन हैं। उन्होंने बम्बई के डाक्टर दलाल और डाक्टर जीवराज मेहता के नाम बताये थे। पर अब इतना समय नहीं था कि वे बुलाये जा सकते। गांधीजी ने भी साफ-साफ कह दिया कि उनको उस अँगरेज डाक्टर पर पूरा विश्वास और भरोसा है—वह निश्चिन्त होकर

जो मुनासिब समझें करें। उस समय श्री श्रीनिवास शास्त्री अस्पताल में बुला लिये गये थे। वह तब तक वहाँ ठहरे रहे, जब तक नश्तर का काम समाप्त न हुआ। आधी रात के समय नश्तर लगाया गया। इसमें वह अँगरेज डाक्टर बहुत कामयाब रहा। एक छोटी दुर्घटना ठीक नश्तर लगाते समय हो गयी। ठीक उसी समय, जब छुरी चल रही थी, बिजली की बत्ती अचानक बुझ गयी। खैरियत हुई कि वह शीघ्र ही फिर बल गयी, नश्तर के काम में कोई बड़ी बाधा न पहुँची।

मैं उन दिनों बरमा के मुकदमे में पटना हाइकोर्ट में काम कर रहा था। अखबारों में बीमारी और नश्तर लगाये जाने की खबर छपी। पढ़कर सारे देश में चिन्ता व्याप गयी। मैंने तीन-चार दिन की छुट्टी ली। सीधे पूना चला गया। अभी महात्माजी अस्पताल में ही थे और बहुत कमजोर थे। मैंने जाकर उसी हालत में उनका दर्शन किया। हालचाल जानकर पटना वापस चला आया। उस समय यह मालूम हो गया था कि अब जान का कोई खतरा नहीं है; पर कमजोरी इतनी ज्यादा थी कि कुछ दिनों तक अच्छी तरह आराम करना जरूरी था। मेरे पटने लौटने के बाद शीघ्र ही खबर मिली कि गवर्नमेण्ट ने महात्माजी को छोड़ दिया। खबर पहुँचते ही पटने में एक सभा हुई जिसमें मैंने भी भाषण किया। गांधीजी से जो मेरी बातें पूना-अस्पताल में हुई थीं उन्हें सभा को बताया। सारांश यह था कि महात्माजी बीमारी के कारण रिहाई से प्रसन्न न होंगे। यह तो देश के लिए भी शर्म की बात है कि हम अपनी शक्ति से नहीं, पर गवर्नमेण्ट की दया से उनको छुड़ा सके। रिहाई के बाद अपने वक्तव्य में गांधीजी ने यही कहा भी था।

कुछ दिनों तक अस्पताल में रहकर, अच्छे होने पर, महात्माजी बाहर निकले। निश्चय हुआ कि आराम करने के लिए वह समुद्र के किनारे बम्बई के पास जूहू में, जाकर कुछ दिनो तक ठहरें। इसी निश्चय के अनुसार वह वहाँ जाकर कुछ दिनों तक ठहरे रहे।

इसी समय एक घटना बेतिया (चम्पारन) में हुई, जिसका जिक्र यहाँ आवश्यक जान पड़ता है। बेतिया राज बहुत दिनों से कोर्ट आफ वार्ड्स के अधीन है। उन दिनों उसके मैनेजर मिस्टर रुथरफोर्ड थे। यह पहले नीलवर थे। गवर्नमेण्ट की नीति उन दिनों में अक्सर यही होती कि जहाँ-कहीं कोई जमीन्दारी कोर्ट के कब्जे में आती और मैनेजर की जरूरत होती, उसके लिए कोई न कोई नीलवर ही मुकर्रर किया जाता। इसी नीति के अनुसार मिस्टर रुथरफोर्ड की नियुक्ति कई साल पहले हुई थी। उनके पहले भी उस राज के लिए जो मैनेजर नियुक्त किये गये थे, नीलवरों में से ही थे। अस्तु, १९२२ में, बेतिया-म्युनिसिपैलिटी के मेम्बरों का चुनाव हुआ। उसमें कुछ काँग्रेसी लोग भी चुने गये। चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन के चुनाव के लिए उमीदवार खड़े हुए। उनमें चेयरमैनी के लिए स्वयं मिस्टर रुथरफोर्ड खड़े हुए। उनके साथ वाइस-चेयरमैनी के लिए वहाँ के सब-रजिस्ट्रार खड़े किये गये। काँग्रेस की ओर से श्री विपिनविहारी वर्म्मा और श्री प्रजापति मिश्र खड़े हुए। राज के लिए,

विशेषकर मिस्टर रुथरफोर्ड के लिए, किसी का उनके मुकाबले में खड़ा होना ही बहुत बुरी बात थी। उनको हराकर काँग्रेसी चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन का चुना जाना तो असह्य था। फिर १९२४ में नया चुनाव हुआ। इस बार काँग्रेसी मेम्बरों का बड़ा बहुमत हो गया। इसलिए राज की ओर से कोई चेयरमैनी के लिए नहीं खड़ा किया गया। वही श्री विपिनविहारी वर्म्मा और पं० प्रजापति मिश्र चुने गये। यद्यपि राज के उमीदवार नहीं खड़े हुए तथापि राज के लोग मिस्टर रुथरफोर्ड की हार को भूले नहीं थे। इस बात की अफवाह अक्सर उठा करती थी कि राज की ओर से कुछ न कुछ करके दिखाया जायगा।

महात्माजी की बीमारी के कारण देश भर में खलबली थी। मौलाना महम्मद अली ने काँग्रेस के अध्यक्ष की हैसियत से आदेश दिया कि देश में सब जगह सभाएँ करके महात्माजी के आरोग्य-लाभ के लिए ईश्वर-प्रार्थना की जाय। बेतिया में भी सभा होनेवाली थी। वहाँ राज की ओर से एक मीना-बाजार बसाया गया है जिसमें शहर के व्यापारी अपनी-अपनी दूकानें भाड़े पर रखते हैं। उस दिन पं० प्रजापति मिश्र और एक दूसरे काँग्रेसी बाबू जयनारायण बाजारवालों को प्रार्थना-सभा में जाने के लिए कहने गये। राज के एक कर्मचारी ने बाबू जयनारायण को दो चपत लगाकर दोनों को बाजार से बाहर निकाल दिया। दूकानदारों में बड़ी सनसनी फैली। यदि मिश्रजी लोगों को न रोकते तो झगड़ा बढ़ जाता। इसके बाद सभा हुई और बाजार के लोग काफी संख्या में उसमें शरीक हुए। इतना ही नहीं, दूकानदारों ने निश्चय किया कि वे मीना-बाजार से अपनी दूकानें उठा लेंगे और म्युनिसिपैलिटी से जमीन माँगकर अन्यत्र कहीं दूकानें लगायँगे। दूसरे दिन से बाजार खाली होने लगा। एक तरफ कुछ हटकर दूकानें लग गयीं। दो-चार दिनों में ही एक नया बाजार बस गया। मीना-बाजार प्रायः खाली हो गया। इससे राज को और भी धक्का लगा। अब खबर उड़ने लगी कि काँग्रेस-वाले पीटे जायँगे; पर काँग्रेसियों ने इस तरह की खबरों की परवा नहीं की।

एक दिन संध्या को पं० प्रजापति मिश्र एक टमटम पर कहीं जा रहे थे। किसी ने उनके सिर पर बड़े जोर से लाठी मारी। वह प्रायः बेहोश हो गये। वह आदमी मैनेजर की कोठी की ओर भाग गया। सुना गया कि उसको लेकर राज-कर्मचारी मजिस्ट्रेट के पास भी गये और कुछ कार्रवाई करके उसे वहाँ से हटा दिया। इससे सारे शहर के लोगों में रोष छा गया। मेरे पास तार आया। मैं तुरंत वहाँ गया। सब बातों की जानकारी प्राप्त की। मीना-बाजार में, इस मार के पहले, कुछ बड़ी-बड़ी दूकानें रह गयी थीं। अब वे दूकानदार भी निकल आये। एक सुन्दर बाजार बस गया। म्युनिसिपैलिटी की आमदनी बढ़ने की तो आशा हो गयी, पर राज को प्रायः पचास हजार सालाना घाटे की आशंका हुई। पं० प्रजापति मिश्र ने बहुत ही हिम्मत और शान्ति से काम लिया। उन्होंने खाट पर पड़े-पड़े ही लोगों को शान्त रहने का संदेश भेजा। उस हमला करनेवाले पर किसी प्रकार की कार्रवाई न करने का भी निश्चय किया। मालूम हो गया कि यह सब राज के उच्च कर्मचारियों के

इशारे पर ही हुआ है। काँग्रेस के प्रति जनता की श्रद्धा का परिचय मिला। जो छोटे बड़े दूकानदार मीना-बाजार के पक्के मकानों में दूकान रखते थे, वे सबके सब खुले मैदान में अथवा टाट के छप्पर के नीचे दूकानें उठा लाये। नये बाजार में मिट्टी के बर्तनों की दूकान से लेकर सोने-चाँदी की दूकानें तक उसी तरह आ गयीं। इसका डर था कि इस तरह के बाजार में चोरी-डकैती न हो जाय। पुलिस से मदद की आशा थी नहीं। इसलिए बाजार की हिफ़ाजत के लिए शहर में स्वयंसेवक-दल कायम हो गया। वह दिन-रात पहरा देता। लोगों में बड़ा उत्साह था। यह झगड़ा बहुत दिनों तक चलता रहा। बहुत दिनो के बाद, यद्यपि मीना-बाजार में दूकानें खुल गयीं तथापि नया बाजार भी रह ही गया।

इस घटना की खबर पाकर मैं बेतिया गया था। वहाँ से जाँच करके लौटने के बाद एक बयान मैंने अखबारों में छपवाया था। उसमें सब बातें खोल करके कह दी थीं। कुछ दिनों के बाद बेतिया में बिहार-प्रान्तीय काँग्रेस कमिटी की बैठक हुई। प्रान्तीय कमिटी के सभापति मौलाना मजहरुल हक साहब और दूसरे नेता लोग भी पधारे थे। वहाँ पर निश्चय किया गया कि बेतिया की हालत यदि न सुधरी—और जैसी अफवाह फैल रही थी कि दूसरे काँग्रेसी लोग भी, जिनमें विपिन बाबू मुख्य थे, पं० प्रजापति मिश्र की तरह लाठियों के शिकार बनाये गये—तो प्रान्तीय कमिटी को मजबूर होकर बेतिया के रैयतों से लगान देना बन्द करने को कहना पड़ेगा और इसके लिए जो बलिदान करना पड़ेगा उसके लिए जनता को तैयार होना होगा। एक सार्वजनिक सभा ई जिसमें यह निश्चय घोषित कर दिया गया। बिहार-कौन्सिल में भी यह प्रश्न छिड़ा। उस समय स्वराजी लोगों ने बहुत जोरदार बहस की। जलेश्वर बाबू उनके नेता थे। उन्होंने खुद इस मामले की जाँच की थी। स्वयं हमला करनेवाले ने ही उन्हें सारी सच्ची बातें बतला दी थीं। उसी के आधार पर उन्होंने सारी बातें खोलकर कौन्सिल में कह सुनायीं।

५३—जूहू की बातचीत और उसके बाद

महात्माजी आराम तो कर रहे थे, पर काम भी कर रहे थे। ज्यों ही वह इस योग्य हुए कि कुछ बातचीत कर सकें, लोग उनसे मिलने के लिए वहाँ पहुँचने लगे। उनकी गैरहाजिरी में जो कुछ हुआ था, विशेषकर कौन्सिल-प्रवेश-सम्वन्धी आन्दोलन, उसकी सब बातें लोगों ने उन्हें बतायीं। देशबन्धु दास और पंडित मोतीलाल नेहरू भी वहाँ गये और कुछ दिनों तक ठहरे। वहाँ इस सम्बन्ध की बातें हुई और इसका प्रयत्न किया गया कि आपस के समझौते का कोई रास्ता निकले। कौन्सिलों में स्वराज्य-पार्टी की ओर से कुछ काँग्रेसी लोग जा चुके थे। इसलिए इस प्रश्न का उतना महत्त्व अब नहीं था जितना गया और दिल्ली की काँग्रेस के समय में था। पर यह जानकर मुझ-जैसे लोगों को सन्तोष हुआ कि गांधीजी ने हमारी कौन्सिल-निषेध-सम्बन्धी कार्रवाई को पसन्द किया। सन्तोष का कारण यह था कि हमसे बराबर कहा

जाता था कि गांधीजी यदि बाहर होते तो वह इस विषय में इतनी जिद्द न करते, कोई न कोई समझौता कर लेते। पर वह उसके विरोधी अब भी उतनी ही सख्ती के साथ थे जितनी दृढ़ता से उस समय थे जब उन्होंने इस कार्यक्रम को देश के सामने रखा था।

जूहू में बातचीत के बाद गांधीजी ने एक वक्तव्य निकाला जिसमें उन्होंने साफ कहा कि वह अब भी पंच-बहिष्कारों के पक्ष में हैं और उनकी राय में कौन्सिलों में जाना असहयोग की नीति के विरुद्ध है; पर वह इस राय में देशबन्धु दास, पं० मोतीलाल नेहरू तथा स्वराज्य-दल के दूसरे लोगों को न ला सके—वे लोग कौन्सिलों में चले भी गये हैं; इसलिए अब इस सम्बन्ध के वाद-विवाद से कोई लाभ नहीं है; जो अपरिवर्तनवादी हैं वे इस बहस को छोड़कर रचनात्मक काम में लग जायँ। उन्होंने यह भी कहा कि काँग्रेस के संगठन के सम्बन्ध में उनके बहुत सख्त विचार हैं जिनको वह पीछे लिखेंगे। उस समय देश में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बहुत हो रहे थे और वैमनस्य बहुत फैल रहा था। इसका भी बहुत विशद विश्लेषण उन्होंने एक लम्बे लेख में किया। इसी लेख में उन्होंने आर्यसमाज की टीका की थी जिससे बहुत लोग क्षुब्ध हुए थे। इसी में उन्होंने यह भी कहा था कि मुसलमान कलहप्रिय (bully) होते हैं और हिन्दू डरपोक (coward)। काँग्रेस के संगठन के सम्बन्ध में उन्होंने यह मत जाहिर किया कि काँग्रेस के सभी चुने हुए स्थानों में ऐसे लोगों को चुना जाना चाहिए जो पाँचों बहिष्कारों को सिद्धान्ततः मानते हैं और स्वयं अपने जीवन में उन पर अमल करते हैं—अर्थात् कचहरियों का बहिष्कार करके न तो उनको मुकदमे लड़ने चाहिए और न वकालत करनी चाहिए, अपने नाबालिग बच्चों को सरकार से सम्बद्ध स्कूलों में नहीं भेजना चाहिए, सरकारी खिताब नहीं रखना चाहिए, कौन्सिलों में नहीं जाना चाहिए, विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार के लिए खादी ही पहनना और चर्खा चलाना चाहिए।

उन्हीं दिनों, कलकत्ते में, 'डे' नामक एक अँगरेज को, एक युवक श्री गोपीनाथ साहा ने, आम रास्ते पर, दिन-दहाड़े पिस्तौल से मार डाला था। वह पकड़े भी गये थे और उनको फाँसी की सजा हुई थी। बंगाल-प्रान्तीय राजनीतिक कान्फ्रेन्स में, जो उस साल सिराजगंज में हुई थी, इस सम्बन्ध का एक प्रस्ताव स्वीकृत हुआ था जिसमें उनकी देशभक्ति की सराहना की गयी थी—यद्यपि उनके इस काम को बुरा कहा गया था। महात्माजी को यह प्रस्ताव अच्छा नहीं लगा था; क्योंकि उनका विचार था कि इस प्रकार की हत्या काँग्रेस के सिद्धान्त के बिलकुल विरुद्ध है, इससे देश की बड़ी हानि होती है और स्वराज्य के रास्ते में रोड़े पड़ते हैं। उन्होंने इस प्रस्ताव पर कड़ी टिप्पणी की। काँग्रेस के संगठन को दुरुस्त करने के लिए उन्होंने कई प्रस्तावों को अखिल भारतीय कमिटी के सामने रखने की इच्छा प्रकट की और 'डे' की हत्या के सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव पेश करने की बात लिखी। प्रस्तावों के मसविदे भी उन्होंने छाप दिये। उनका आशय यह था कि काँग्रेस के चुने हुए सदस्यों को सब बहिष्कारों

को मानना चाहिए और ऐसे ही लोगों को काँग्रेस का पदाधिकारी होना चाहिए। इसका नतीजा यह होता था कि जो लोग कौन्सिलों में गये हैं, उनको नहीं चुनना चाहिए अथवा जो चुने गये हैं उनको हट जाना चाहिए। इसी तरह, ऐसे चुने हुए सब लोगों के लिए कम से कम आधा घंटा प्रतिदिन चर्खा चलाना और प्रतिमास दो हजार गज सूत खद्दर-बोर्ड को देना अनिवार्य्य कर देना चाहिए। जो सूत न दें, उनकी जगहें खाली समझी जानी चाहिए और उनके रिक्त स्थान पर दूसरों को चुनना चाहिए। इसका नतीजा यह हुआ कि आपस के झगड़े मिटा देने की जो आशा पहले के वक्तव्य से हुई थी वह बिलकुल जाती रही। सारे देश में इन प्रस्तावों और विचारों के सम्बन्ध में बहुत जोरों से वादविवाद होने लगा। समाचारपत्रों ने पक्ष और विपक्ष में लेख लिखना शुरू किया। आर्यसमाज की शाखाओं की ओर से उस लेख की निन्दा की जाने लगी जिसमें कुछ टीका की गयी थी। गांधीजी ने अपने विचारों को, जैसा वह हमेशा करते आये हैं, बहुत संयत भाषा में——पर दृढ़ता-पूर्वक——देश के सामने रक्खा।

जून के अन्तिम सप्ताह में, अहमदाबाद में, अखिल भारतीय कमिटी की बैठक हुई। वहाँ उन प्रस्तावों का, जिनमें बहिष्कारों को न करने और चर्खा न चलाने के कारण पदाधिकारी बनने से लोगों को रोकने की बात थी, इस बुनियाद पर विरोध होने लगा कि वे प्रस्ताव काँग्रेस के नियम के विरुद्ध हैं; क्योंकि काँग्रेस की नियमावली काँग्रेस द्वारा बनायी गयी है और उसमें हेर-फेर करने का अधिकार काँग्रेस को ही है, अखिलभारतीय कमिटी को नहीं और इन प्रस्तावो का नतीजा उन नियमों में परिवर्तन करना होता है। महात्माजी का कहना था कि काँग्रेस का एक नियम है कि जब काँग्रेस का अधिवेशन न हो रहा हो तो उसके सारे अधिकार अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी को प्राप्त होते हैं और यदि इन प्रस्तावों द्वारा नियमावली का संशोधन होता हो तो भी वह अनियमित न होगा——विशेषकर उस समय जब इन प्रस्तावों का असर काँग्रेस के बहिष्कार-सम्बन्धी निश्चयों को कार्यान्वित करना ही होता है। मौलाना महम्मद अली सभापतित्व कर रहे थे। उन्होंने, यह पूछे जाने पर कि ये प्रस्ताव नियम के प्रतिकूल हैं या नहीं, अपनी राय न देकर सदस्यों की राय ली, तो मालूम हुआ कि बहुमत इनको विधान के अनुकूल मानता था——यद्यपि बहुमत और अल्पमत में थोड़े ही मतों का अन्तर था। इस पर देशबन्धु दास, पंडित मोतीलाल प्रभृति अपनी नाराजी जाहिर करने के लिए सभा छोड़कर चले गये। महात्माजी ने उनके चले जाने पर भी एक प्रस्ताव उपस्थित किया, जो थोड़े बहुमत से स्वीकृत हुआ। इस पर महात्माजी ने तुरंत एक दूसरा प्रस्ताव भी उपस्थित कर दिया कि इस स्वीकृत प्रस्ताव का वह अंश हटा दिया जाय, जिसमें बहिष्कार न मानने का दंड पदों से वंचित रहना बताया गया था। उन्होंने कहा कि उपस्थित लोगों का बहुमत यद्यपि प्रस्ताव के पक्ष में था तो भी वह बहुमत सचमुच बहुमत नहीं था; क्योंकि गैरहाजिर लोग यदि मत देते तो उनका बहुमत हो जाता, और इसके अलावा, यदि प्रस्ताव के पक्ष में बहुमत

रह भी जाता तो भी वह इतना कम होता कि वह नहीं के बराबर होता। इस तरह स्वीकृत प्रस्ताव बदल दिया गया और स्वराज्य-दल के लोगों को फिर मौका मिला कि वे वापस आ जायँ।

उसी रात को महात्माजी और उन लोगों के बीच फिर बातचीत हुई जिसके फलस्वरूप काँग्रेस के संगठन-सम्बन्धी प्रस्तावों का रूप ऐसा बना दिया गया कि दोनों दलों को स्वीकृत हो जाय। दूसरे दिन वे सभी प्रस्ताव इसी समझौते के रूप में पास हुए। 'डे'-हत्या-सम्बन्धी प्रस्ताव महात्माजी ने उपस्थित किया। देशबन्धु दास ने सिराजगंज के प्रस्ताव को ही संशोधन के रूप में पेश किया। अन्त में महात्माजी का ही प्रस्ताव मंजूर हो गया; पर इसमें भी जो बहुमत मिला वह बहुत थोड़े लोगों का था। इसका एक विशेष कारण यह था कि सिराजगंज के प्रस्ताव पर अँगरेजों और अँगरेजी पत्रों ने बहुत हो-हल्ला मचाया था। यह बात भी खुले आम ही सुनी जाती थी कि उसके लिए देशबन्धु दास तथा दूसरे लोग गिरफ्तार किये जायँगे। देशबन्धु ने उसे संशोधन के रूप में उपस्थित करने का कारण भी यही बताया कि वह यदि ऐसा न करें तो लोग समझेंगे कि उन्होंने गिरफ्तारी के भय से सिराजगंज के प्रस्ताव को छोड़ दिया। अब, काँग्रेस के संगठन-सम्बन्धी प्रस्तावों का नतीजा यह हुआ कि एक तरफ तो बहिष्कारों को कुछ सख्त बना दिया गया और दूसरी तरफ कौन्सिल-बहिष्कार को और भी ढीला कर दिया गया।

महात्माजी से कुछ लोगों ने कहा था कि कचहरियों के बहिष्कार से नफा उठाकर कुछ बेईमान लोगों ने काँग्रेसियों के प्रति भारी जुल्म किया है; क्योंकि काँग्रेसी लोग कचहरियों में न अपना दावा पेश कर सकते थे और न अपने ऊपर किये गये दावे का अपने बयान के सिवा दूसरा कोई उत्तर दे सकते थे। इसलिए उन लोगों का विचार था कि इस सम्बन्ध में ऐसे काँग्रेसियों के दावे को सुरक्षित बनाने का कोई उपाय करना चाहिए। महात्माजी इसके सम्बन्ध में राजी भी हुए थे कि ऐसे लोगों को अदालतों में अपना बचाव करने की छूट दी जाय। विशेषकर श्री गंगाधर राव देशपांडे की बात पेश थी, जो वर्किंग कमिटी के सदस्य थे। ऐसे लोगों को छूट देने के सम्बन्ध में महात्माजी ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया। इस पर डाक्टर चोयथ-राम गिडवानी ने प्रश्न कर दिया कि यह प्रस्ताव क्या नियम के प्रतिकूल नहीं है? मौलाना महम्मद अली ने महात्माजी की राय पूछी। महात्माजी ने भी कहा कि बहिष्कार-सम्बन्धी प्रस्तावों के प्रतिकूल अवश्य है। इस पर मौलाना साहब ने उसे नियम-विरुद्ध करार दिया। सभा की कार्रवाई समाप्त हुई। पर जो कुछ उस सभा में हुआ था उससे महात्माजी के दिल पर गहरी चोट लगी थी। उन्होंने एक बहुत ही मार्मिक भाषण किया। बोलते-बोलते वह एकाएक रुक गये। सभा में स्तब्धता छा गयी। गांधीजी की आँखों से अनवरत आँसू बहने लगे। कुछ देर में उन्होंने अपने को सँभाल कर अपना कथन समाप्त किया। बड़ी उदासी और निराशा का वायुमंडल छा गया। उपस्थित सदस्यों ने अपने भाषणों द्वारा महात्माजी को सांत्वना दी। उन्हें

विश्वास भी दिलाया कि वे उनके पीछे-पीछे चलने को तैयार हैं। बहुतेरे तो खुले आम महात्माजी के साथ और उनके बाद भी रोते रहे। इसी उदासी की अवस्था में सभा समाप्त हुई।

महात्माजी ने इस बैठक के सम्बन्ध में बहुत ही मर्मभेदी लेख लिखे। बहुमत होने पर भी महात्माजी ने जो अपने प्रस्ताव को बदलवा डाला था, देश के पत्रों ने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। यह सब होते हुए भी ऐसा जान पड़ता था कि काँग्रेस में मतभेद अधिक स्थायी और विकट हो जायगा। यह कोई नयी बात नहीं थी; क्योंकि इसका कुछ पता तो चौरीचौरा-काण्ड के बाद ही लग गया था—जब प्रायः सभी नेताओं ने जेल से ही गांधीजी के सत्याग्रह स्थगित कर देने का बहुत विरोध किया था। उसी का प्रदर्शन 'डे'-हत्या-कांड-सम्बन्धी प्रस्ताव में भी हुआ। सरकार तो हमेशा ही ऐसी चीजों की टोह में रहा करती है। उसने आपस की इस फूट से नफा उठाना चाहा। कुछ दिनों के बाद बंगाल के बहुतेरे भाई, जिनमें श्री सुभाषचन्द्र बोस भी थे, गिरफ्तार कर नजरबन्द कर दिये गये। गांधीजी अपनी ओर से झगड़ा सुलझाने के प्रयत्न में बराबर लगे हुए थे। इस घटना के बाद उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब किसी न किसी तरह से इसको सुलझाना चाहिए। उन्होंने अहमदाबाद में ही कहा था कि यद्यपि मुझे बहुमत मिल गया है तथापि मैं इसे अपनी हार समझता हूँ—दोनों पक्षों के वोटों में इतना कम अन्तर कोई चीज नहीं है और मैं मानता हूँ कि मैं हार गया। उसी समय से वह रास्ता ढूँढ़ने में लग गये। वह केवल स्वराज्य-पार्टी के ही साथ समझौता करना नहीं चाहते थे, बल्कि उनकी इच्छा थी कि दूसरे विचार के लोग भी, जो असहयोग आन्दोलन के कारण काँग्रेस से अलग हो गये थ, फिर काँग्रेस में आ जायँ।

डाक्टर एनी बेसेण्ट उन दिनों स्वराज्य का मसविदा तैयार करके ब्रिटिश पारलेमेण्ट के सामने पेश कराने की फिक्र में थीं। ठीक इसी समय मजदूर-दल के लोग इँगलैंड की पार्लेमेण्ट में बहुमत पाकर मंत्रिमंडल बना पाये थे। श्री रैमसे मैकडोनल्ड प्रधान मंत्री हुए थे। आशा की जाती थी कि कर्नल वेजउड, जो हिन्दुस्थान के हिमायती समझे जाते थे, भारत-मंत्री होंगे। पर हिन्दुस्थान के अँगरेजों—विशेष कर सिविल-सर्विसवालों—के विरोध के कारण वह भारत-मंत्री नहीं बनाये गये। लार्ड ओलीवियर भारत-मंत्री हुए। तो भी कुछ लोग मजदूर-दल के मंत्रिमंडल से आशा रखते थे कि वह भारत को कुछ राजनीतिक अधिकार दे सकेगा। देश की परिस्थिति देखकर, विशेषकर हिन्दू-मुस्लिम दंगों को ध्यान में रखते हुए और काँग्रेस के अन्दर तथा देश में आपस के मतभेद के कारण बढ़ते हुए वैमनस्य को दूर करने की प्रबल आवश्यकता को महसूस करके, गांधीजी ने यह राय जाहिर की कि काँग्रेस को चाहिए कि असहयोग को स्थगित कर दे, ताकि सब लोगों को उसमें आने का मौका मिल जाय।

महात्माजी के प्रस्ताव निम्नलिखित थे—(१) काँग्रेस विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार को छोड़कर अन्यान्य बहिष्कारों को स्थगित कर दे; (२) काँग्रेस वस्त्र के सिवा अन्य

ब्रिटिश मालों का बहिष्कार छोड़ दे; (३) काँग्रेस खद्दर और चर्खे का प्रचार, हिन्दू-मुस्लिम एकता तथा हिन्दुओं में अस्पृश्यता-निवारण का ही काम करे; (४) काँग्रेस मौजूदा राष्ट्रीय विद्यालयों को चलावे और आवश्यकतानुसार नये भी खोले; (५) चार आने की काँग्रेस-मेम्बरी उठा दी जाय और उसके स्थान पर ऐसा नियम कर दिया जाय कि काँग्रेस का वही मेम्बर हो सके जो कम से कम आधा घंटा रोज चर्खा चलावे और दो हजार गज अपने हाथ का कता सूत हर महीने काँग्रेस को दिया करे तथा इसके लिए गरीबी के कारण जो रुई न खरीद सकता हो उसे काँग्रेस की ओर से रुई दी जाय। इसका नतीजा यह होता था कि (१) काँग्रेस अथवा अपरिवर्तनवादियों की ओर से स्वराजियों का विरोध न किया जाय और उनको अपना संगठन करने का पूरा मौका दिया जाय; (२) दूसरे दलों के लोग काँग्रेस में शरीक होने के लिए आमंत्रित किये जायँ; (३) अपरिवर्तनवादी लोग कौन्सिल-प्रवेश के विरोध में परोक्ष या अपरोक्ष रीति से आन्दोलन करना छोड़ दें; (४) जो लोग बहिष्कारों में विश्वास नहीं रखते उनको इस बात की स्वतंत्रता दे दी जाय कि वे चाहें तो बहिष्कार छोड़ दें—अर्थात् वकील यदि चाहें तो वकालत करें और बहिष्कारों को न माननेवाले भी काँग्रेस में शरीक हो सकें तथा पदाधिकारी भी बन सकें।

महात्माजी के इन प्रस्तावों पर सब लोग विचार करने लगे। श्रीमती एनी बेसेण्ट ने तो इनको एक प्रकार से मंजूर कर लिया। उनको काँग्रेस में शरीक होने का रास्ता खुलता दिखाई पड़ने लगा।

५४—महात्मा गांधी का इक्कीस दिनों का उपवास और एकता-सम्मेलन

यह चर्चा एक ओर चल रही थी और दूसरी ओर सारे देश में जहाँ-तहाँ हिन्दू-मुस्लिम दंगे हो रहे थे। बिहार में भी भागलपुर में दंगा हो गया। वहाँ मुझे, दूसरे भाइयों के साथ, जाना पड़ा। कई दिनों तक वहाँ रहकर आपस के मेल-मिलाप के प्रयत्न म लगा रहना पड़ा। और-और जगहों में भी दंगे हुए। इन बातों का असर गांधीजी के दिल पर बहुत हुआ। दिल्ली में भारी दंगा हो गया। वहाँ गांधीजी स्वयं गये। वह कई दिनों तक वहाँ ठहरकर फिर किसी और काम से बम्बई की तरफ वापस गये। निजाम-राज्य के गुलबर्गा में भी भारी फसाद हो गया। गांधीजी फिर दिल्ली गये। ठीक उसी समय सीमा-प्रान्त के कोहाट नगर में बड़ा भारी दंगा हुआ। बहुतेरे लोग वहाँ मारे गये। बहुत-सा माल लूटा गया। बहुतेरे मकान भी जला दिये गये। गांधीजी इन घटनाओं से बहुत चिन्तित और परेशान थे। इन सबसे बहुत ऊबकर उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम एकता के लिए इक्कीस दिनों का उपवास करने का निश्चय किया। यह निश्चय उन्होंने दिल्ली में किया, जब वह मौलाना महम्मद अली के घर में ठहरे हुए थे। वहीं उपवास का भी आरम्भ कर दिया।

महात्माजी के उपवास की खबर छपते ही सारे देश में बड़ी चिन्ता व्याप गयी। हाल ही में वह बड़ी खतरनाक बीमारी से उठे थे। सब लोग, विशेषकर डाक्टर

अंसारी—जो उनके स्वास्थ्य से अच्छी तरह परिचित थे—बहुत चिन्तित हो गये। उन्होंने इस निश्चय से गांधीजी को डिगाने का बहुत प्रयत्न किया। अपने प्रेम तथा अपनी डाक्टरी कला, दोनों का प्रयोग किया। पर गांधीजी अपने निश्चय से नहीं डिगे। अन्त में वह इतने सफल हुए कि उन्होंने गांधीजी से वचन ले लिया कि उनकी मृत्यु ही अगर इस उपवास का नतीजा होनेवाला हो, तो उस हालत में वह उपवास तोड़ डालेंगे। उपवास आरम्भ हुआ। खबर पाते ही मैं भी दिल्ली पहुँच गया। गांधीजी, कुछ दिनों के बाद, मौलाना महम्मद अली के घर से हटाकर, शहर के बाहर, राय बहादुर सुलतानसिंह के एक बँगले में, ले जाकर ठहराये गये। श्री एंडरूज उनकी सेवा के लिए आ गये। डाक्टर अंसारी तो दिन-रात देख-भाल करते ही रहते।

इधर लोगों पर इसका असर पड़े बिना न रह सका। मौलाना महम्मद अली की प्रेरणा से एक सर्व-जाति-सम्मेलन दिल्ली में किया गया। इसमें हिन्दू, मुसलमान और सिख नेताओं के अतिरिक्त ईसाई नेता भी शरीक हुए। कलकत्ते के लार्ड-बिशप डाक्टर कौस वेस्टकौट भी आये। कई दिनों तक बराबर बहस होती रही। जिन-जिन बातों को लेकर झगड़े हो जाया करते थे उनके सम्बन्ध में प्रस्ताव स्वीकार किये गये। मुख्य प्रस्ताव इस प्रकार थे—

(१) देश में फैले हुए झगड़ों और फसादों पर—जो हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच हो रहे हैं तथा जिनसे जान-माल की बहुत हानि हुई है और मन्दिर भ्रष्ट किये गये हैं—यह सभा दुःख प्रकट करती है और इनको बर्बरता-सूचक और धर्म-विरुद्ध समझती है। इस सभा की राय में किसी का अपने हाथों में बदला लेने और सजा देने के अधिकार ले लेना केवल गैर-कानूनी ही नहीं, अधार्मिक भी है। सभी प्रकार के झगड़ों का निपटारा पंचायत द्वारा किया जाना चाहिए। जहाँ यह संभव न हो वहाँ कचहरियों द्वारा तय कराना चाहिए।

(२) उपर्युक्त प्रस्ताव को कार्यान्वित कराने और आपस में रवादारी का बर्ताव कायम रखने के लिए इस सम्मेलन के मत में यह जरूरी है कि हर एक आदमी को पूरा अधिकार रहे कि वह जैसा चाहे अपना विश्वास रखे और उसे प्रकट कर सके तथा दूसरों के भावों का ध्यान रखते हुए और उनके अधिकार पर आघात न करते हुए अपने धार्मिक कामों को अदा कर सके। कोई व्यक्ति या समूह किसी दूसरे धर्म के प्रवर्तक पूज्य पुरुषों को गालियाँ न दे और सिद्धान्तों की निन्दा न करे। सभी धर्मों के पूजा-स्थान पवित्र और अक्षुण्ण समझे जायँगे। किसी भी हालत में, चाहे कितनी भी उत्तेजना क्यों न दी गयी हो, बदला लेने के लिए भी उन पर कभी हमला न किया जाय और न उनको अपवित्र ही किया जाय। यदि कहीं इस तरह का काम हो तो उसकी निन्दा की जाय और सभी लोगों का यह कर्तव्य होगा कि अपनी शक्ति भर वे इस तरह की कार्रवाई न होने दें।

(३) हिन्दुओं को ऐसी आशा न करनी चाहिए कि मुसलमानों से गो-वध का हक, जबरदस्ती या किसी बोर्ड के प्रस्ताव से या व्यवस्थापिका सभा द्वारा कानून

बनवाकर या अदालत के हुक्म से, छुड़वाया जा सकता है। पर मुसलमान उसे अपनी राय से छोड़ सकते हैं। इसलिए उसे उनकी ही सद्बुद्धि पर छोड़ देकर आपस में मेल-जोल बढ़ाना चाहिए जिसमें एक दूसरे के प्रति सद्भाव बढ़े। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि कोई स्थानीय रवाज अथवा दोनों कौमों के बीच कायम हुआ आपस का समझौता बदल दिया जाय और न इसका यही अर्थ है कि जहाँ गो-वध नहीं होता है वहाँ गो-वध हो सके। जहाँ वस्तुस्थिति के सम्बन्ध में मतभेद हो वहाँ उसकी जाँच राष्ट्रीय पंचायत करेगी। वध भी इस तरह किया जायगा कि हिन्दुओं को चोट न लगे।

(४) इस सम्मेलन के मुसलमान सदस्य अपने सहधर्मियों से अनुरोध करते हैं कि जहाँ तक हो सके, गो-वध कम करें। मुसलमानों को ऐसी आशा न करनी चाहिए कि वे मसजिद के नजदीक हिन्दुओं के बाजे को, जोर-जबरदस्ती या बोर्ड के प्रस्ताव से या व्यवस्थापिका सभा द्वारा कानून बनवाकर या अदालत के हुक्म से, रोकवा सकेंगे। वह हिन्दुओं की राय से ही रुक सकता है। हिन्दुओं की सद्बुद्धि पर ही यह छोड़ देना चाहिए कि वे मुसलमानों की भावना का आदर करें। इसका अर्थ यह न समझा जायगा कि जहाँ-कहीं रवाज हो अथवा आपस का समझौता हो वह इस प्रस्ताव द्वारा रद हो गया और न इसका अर्थ यह है कि जहाँ किसी मसजिद के सामने बाजा न बजता हो वहाँ बजने लगेगा। वस्तुस्थिति-सम्बन्धी मतभेद की जाँच राष्ट्रीय पंचायत करेगी। इस सम्मेलन के हिन्दू सदस्य हिन्दुओं से अनुरोध करते हैं कि वे मसजिदों के सामने इस तरह बाजा बजावें कि वहाँ जमायती नमाज में खलल न पड़े।

(५) इस प्रकार के प्रस्ताव आरती और अजान के सम्बन्ध में भी स्वीकृत किये गये।

(६) जहाँ मांस की बिक्री और जानवरों के वध की इजाजत है वहाँ वध के तरीके का—झटका या जिबह का—विरोध नहीं किया जायगा।

(७) प्रत्येक व्यक्ति को अधिकार है कि वह चाहे जिस-किसी धर्म को माने और जब चाहे तब उसे बदल सके। धर्म बदलने के कारण वह दंडनीय नहीं समझा जायगा और न उसको किसी तरह का कष्ट पहुँचाया जायगा।

(८) प्रत्येक व्यक्ति अथवा समूह को अधिकार है कि बहस करके और समझा-बुझा कर दूसरों का धर्म-परिवर्तन करा सके अथवा जो उसके धर्म में से दूसरे धर्म में चला गया हो उसे वापस ला सके। पर जबरदस्ती या धोखा देकर या दूसरे किसी नाजायज तरीके से—जैसे किसी चीज की लालच देकर—कोई किसी का धर्म-परिवर्तन न करावें।

(९) धर्म-परिवर्तन के सम्बन्ध में कोई लुकी-छिपी बात न होनी चाहिए। किसी को यह अधिकार नहीं है कि दूसरे धर्मवाले को अपनी जगह में पूजा-स्थान बनाने से रोके या उसमें बाधा डालें। नया पूजा-स्थान दूसरे धर्म के पूजा-स्थान से कुछ दूर बनाया जाय।

(१०) पन्द्रह आदमियों की एक केन्द्रीय राष्ट्रीय पंचायत बनायी जाय और उसको अधिकार दिया जाय कि भिन्न धर्मों के स्थानीय प्रतिनिधियों की राय से वहाँ

के लिए स्थानीय पंचायत कायम करे, जो इस प्रकार सभी झगड़ों का निपटारा किया करे। पंचायत को अपने नियम बनाने का भी अधिकार होगा। इस पंचायत के सभापति महात्मा गांधी और सदस्य होंगे हकीम अजमल खाँ, श्री सी० के० नरीमन (पारसी), डाक्टर एस० के० दत्त (ईसाई), मास्टर सुन्दरसिंह लायलपुरी (सिख)। बाकी मेम्बरों को वे ही चुन लेंगे।

इस प्रयत्न से देश का वायुमंडल सुधरता दीख पड़ा। सभी धर्मों के लोग आपस में सद्व्यवहार और भाई-चारे का बर्ताव करने का निश्चय करते जान पड़ने लगे। एकता-सम्मेलन का असर भी बहुत अच्छा हुआ। अगर वह स्थायी हो गया होता तो बड़ी बात हो जाती। पर वह स्थायी न हो सका। उस समय की बँधी आशाएँ आगे चलकर पूरी न हुईं!

मैं भी बराबर इस सम्मेलन में शरीक होता रहा। हर तरह से मैं उसकी सफलता चाहता था। पर बावजूद अच्छे वायुमंडल और सदिच्छाओं के, मेरे मन में हमेशा शक बना रहा; क्योंकि सारी बातों के पीछे उतनी जबरदस्त एकता की भावना नहीं थी जितनी इस शुभ प्रयत्न के फल को स्थायी बनाने के लिए आवश्यक थी। सभी मतवाले अपने हक और अधिकार पर ही अधिक जोर देते रहे, अपने कर्तव्यों पर उतना जोर नहीं देते थे। मैं तो यही मानता हूँ कि इस प्रकार के झगड़े अपने-अपने कर्तव्यों पर ही जोर देने से सुलझ सकते हैं, हकों और अधिकारों पर जोर डालने से नहीं। पर उस समय जो कुछ हुआ, देखने में अच्छा ही लगा; इसलिए यह दिल की बात दिल के अन्दर ही रही।

उधर गांधीजी के उपवास के दिन बीतते चले जाते थे। डाक्टर अंसारी दिन में दो बार उनके पेशाब की जाँच करते। एक दिन एक अद्भुत घटना हुई। मैंने डाक्टर अंसारी से ही सुनी। एक दिन पेशाब की जाँच करने पर उन्होंने देखा, उसमें असिटोन की अधिक मात्रा निकली! यह अच्छा लक्षण नहीं है। यदि इसकी मात्रा और बढ़ जाय तो आदमी बेहोश हो जाता है। उसके बाद उस आदमी को बचाना कठिन हो जाता है। इससे वह चिन्तित हुए। उन्होंने महात्माजी से कहा कि अब आप खतरे के निकट पहुँचने लगे हैं और हो सकता है कि इक्कीस दिन पूरे होने के पहले ही आपको अपने वादे के अनुसार उपवास तोड़ना पड़े।

असिटोन की मात्रा बढ़ती गयी। डाक्टर अंसारी ने निश्चय किया कि अब अधिक ठहरना बहुत खतरनाक होगा। उन्होंने यह बात महात्माजी से कही। आग्रह भी किया कि अब उपवास तोड़ना चाहिए। वह डरते थे कि कुछ ही घंटों के बाद बेहोशी आ सकती है। उन्होंने यह सब कहा और खिलाने पर जिद की। महात्माजी ने कहा कि आपने अपनी विद्या से सब कुछ तो देख लिया है और सब हिसाब लगा लिया है; पर रात-भर मुझे छोड़ दीजिए। इस पर डाक्टर साहब राजी नहीं होते थे। तब गांधीजी ने कहा कि आपने सबका हिसाब तो लगाया है, पर प्रार्थना के असर का हिसाब तो लगाया ही नहीं; आज मुझे छोड़ दीजिए। डाक्टर साहब मान गये। दूसरे दिन पेशाब

की जाँच कर उन्होंने कहा कि असिटोन का खतरा अब नहीं है और खिलाने का आग्रह छोड़ दिया। इसके बाद, उपवास की अवधि में, फिर कभी असिटोन का उपद्रव न हुआ। डाक्टर अंसारी की चिन्ता जाती रही। उन्होंने हम लोगों से कहा कि इस चमत्कार का कोई कारण हमारी चिकित्सा नहीं बताती—हम नहीं समझ सकते, यह कैसे हुआ!

महात्माजी, उपवास की पूरी अवधि में प्रत्येक दिन, अपने नियमानुसार चर्खा कातते रहे। उनको किसी तरह चारों ओर तकिया रखकर बिठा दिया जाता। उसी तरह बैठे-बैठे वह चर्खा चला लेते। अन्त में जब उपवास समाप्त करने का समय आया, तब प्रार्थना करके, चर्खा चलाकर और भजन गाकर, उन्होंने नारंगी का रस पीकर उपवास तोड़ा। मौलाना महम्मद अली ने इस अवसर पर बूचड़खाने से एक गौ खरीद कर महात्माजी को भेंट की। इसमें कितना प्रेम और सद्भाव भरा था!

५५—पटना-म्युनिसिपैलिटी में

जिस समय मैं बाबू हरिजी के मुकदमे में पटने में काम कर रहा था उसी समय पटना-म्युनिसिपैलिटी के सदस्यों का चुनाव हुआ। काँग्रेस ने यद्यपि कौन्सिलों में जाने का निषेध किया था तथापि म्युनिसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड में जाना मना नहीं था। इसी नीति के अनुसार सरदार वल्लभभाई पटेल अहमदाबाद-म्युनिसिपैलिटी में चुने गये और वहाँ के प्रेसिडेण्ट हुए। पंडित जवाहरलालजी इलाहाबाद-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन हुए। पटने में भी राय हुई कि म्युनिसिपैलिटी के चुनाव में काँग्रेस की ओर से भाग लिया जाय। पटने के प्रमुख काँग्रेसी लोग खड़े भी हुए—जैसे मौलवी खुरशेद हसनैन, सर्वश्री अनुग्रहनारायणसिंह, जगतनारायणलाल, बदरीनाथ वर्मा, अब्दुलबारी और मैं। हम लोगों की राय थी कि मौलवी खुरशेद हसनैन चेयरमैन और अनुग्रह बाबू वाइस-चेयरमैन बनाये जायँ। चुनाव में कठिनाई काफी थी, क्योंकि पटने में कुछ लोग बहुत दिनों से म्युनिसिपल कमिश्नर होते चले आये थे, उनको हटाना कठिन था। फिर भी काँग्रेस के बहुतेरे मेम्बर चुने गये, पर बहुमत नहीं हुआ। साथ ही, काँग्रेसी लोग ही संगठित थे और कार्यक्रम रखते थे। दूसरे लोग व्यक्तिगत रूप से ही चुने गये थे। मौलवी खुरशेद हसनैन के चुने जाने में काफी दिक्कत पड़ी; क्योंकि उनके विरुद्ध एक हिन्दू खड़े थे—उन्होंने हिन्दू-मुस्लिम सवाल पेश कर दिया; अपने वोट के बक्स पर उन्होंने गाय की तस्वीर बना दी। यहाँ तक सुना गया कि वह एक बछिया लेकर दरवाजे-दरवाजे जाते और हिन्दुओं से बछिया के लिए वोट माँगते! हम लोग चिन्तित थे कि मौलवी खुरशेद हसनैन साहब-जैसा चुस्त काँग्रेसी यदि न चुना जायगा, तो हमारे लिए बहुत शर्म की बात होगी। हम लोगों ने भी काफी जोर लगाया। वह काफी बहुमत से चुने गये।

यह सब झगड़ा देखकर मौलवी खुरशेद हसनैन ने निश्चय किया कि वह चेयरमैनी के लिए उमीदवार नहीं होंगे, मुझे ही चेयरमैन होना चाहिए। मेरी इच्छा

बिल्कुल नहीं थी। समय भी मेरे पास नहीं था; क्योंकि उन दिनों मैं एक बड़े मुकदमे में काम कर रहा था। पर वह किसी तरह राजी न हुए। मुझे चेयरमैन होना मंजूर करना पड़ा। अनुग्रह बाबू भी उसी बड़े मुकदमे में दूसरे पक्ष की ओर से काम कर रहे थे। वह वाइस-चेयरमैन हुए। इस चुनाव का नतीजा यह हुआ कि कुछ भाई, जो काँग्रेस के हामी समझे जाते थे और जिनसे हम मदद की आशा रखते थे, हमारे पक्के विरोधी हो गये। उन लोगों ने म्युनिसिपैलिटी के अन्दर हम लोगों का एक विरोधी दल संगठित कर लिया। कोई भी बात पेश हो उसका विरोध उस दल का, विशेषकर दो-तीन भाइयों का, मुख्य काम हो गया। म्युनिसिपैलिटी के जलसों में बहुत समय लगता और काम कुछ भी आगे न बढ़ता। यहाँ तक कि किसी-किसी दिन पिछली बैठक की कार्रवाई की रिपोर्ट मंजूर करने में ही तीन-चार घंटे लग जाते।

खैर, हम लोगों ने काम शुरू किया। मुकदमे से फुर्सत हो जाने के बाद हम दोनों ने पूरा समय देना शुरू किया। हम दोनों म्युनिसिपल काम मे पूरे नावाकिफ थे। हम दोनों को पहला ही अवसर ऐसे काम करने का मिला था। पर हमने शीघ्र ही सब बातों को जान लेने का प्रयत्न किया और काम चलने लगा। उसी समय गया के डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड का भी चुनाव हुआ। वहाँ के लोगों ने अनुग्रह बाबू को बोर्ड का केवल मेम्बर ही नहीं, चेयरमैन भी चुन लिया। दोनों जगहों का काम सँभालना कठिन था। इसलिए कुछ दिनों के बाद अनुग्रह बाबू ने पटना की वाइस-चेयरमैनी से इस्तीफा दे दिया। अब वह गया का ही काम सँभालने लगे। पटने में मेरे साथ वाइस-चेयरमैन हो गये मिस्टर सैयद मुहम्मद, जो काँग्रेस टिकट पर तो नहीं चुने गये थे, पर हम लोगों को बहुत ही मुस्तैद और अच्छे सज्जन मालूम हुए। उन्होंने म्युनिसिपैलिटी में काम भी अच्छा किया।

म्युनिसिपैलिटी की दिक्कतें बहुत थीं—आमदनी कम थी, खर्च ज्यादा था। कोई भी काम बिना खर्च के नहीं हो सकता था। नये टैक्स के बिना आमदनी बढ़ नहीं सकती थी। उस समय सर गणेशदत्त सिंह बिहार-सरकार के मंत्री थे। उन्होंने भी हम लोगों को वहाँ का अच्छा इन्तजाम करने में प्रोत्साहन दिया। राँची जाकर मैंने उनसे म्युनिसिपैलिटी के बारे में राय ली। जब मैं राँची में उनके साथ ठहरा था, उसी समय तार मिला कि बाबू हरिजी हाइकोर्ट में अपील का मुकदमा जीत गये। यह जानकर बहुत खुशी हुई। इस प्रकार म्युनिसिपैलिटी का काम मैं बहुत जी लगाकर करता रहा। प्रायः प्रतिदिन तीन-चार घंटे आफिस में काम करता। दो-तीन घंटे शहर में घूमफिरकर मुहल्लों से परिचय प्राप्त करता और काम की निगरानी भी।

म्युनिसिपैलिटी की दिक्कतें कई प्रकार की थीं। शहर लम्बाई में प्रायः दस मील और औसत चौड़ाई में केवल एक मील का था। इससे बहुत लम्बी सड़क की जरूरत थी। मेरे-जैसे आदमी के लिए, जो शहर के पश्चिमी हिस्से में रहता था और जिसके पास एक्के के सिवा दूसरी सवारी नहीं हो सकती थी, पूर्वी हिस्से की

निगरानी के लिए जाना कई घंटों का काम हो जाता था। यही हाल म्युनिसिपैलिटी के वेतन-भोगी कर्मचारी लोगों का भी था। हेल्थ-अफसर और इन्जीनियर को घोड़ा-गाड़ी के लिए भत्ता मिलता। गाड़ी पर चलने में, एक्के के मुकाबले में, इज्जत अधिक मिलती थी; पर जल्दी पहुँचने के काम में कोई विशेष मदद नहीं मिलती थी, बल्कि तेज एक्का गाड़ी से ज्यादा जल्द पहुँच सकता था। यही सोचकर, और खर्च को भी कम करने के खयाल से, मैंने एक्के पर चलना ही पसन्द किया। चेयरमैन को, सवारी के लिए या और किसी भी खर्च के लिए, भत्ता नहीं मिलता। एक्के का भाड़ा भी अपने पास से ही देना होता। गाड़ी का भाड़ा कम से कम एक्के के दुगना या तिगुना पड़ता। मुझसे पहले वहाँ के चेयरमैन अधिकतर पटने के नवाब-घरानों के ही लोग हुआ करते थे, जिनको सवारी की दिक्कत नहीं थी और जो अपने खर्च से अच्छी से अच्छी सवारी रक्खा करते थे। मैं ऐसा नहीं कर सकता था; क्योंकि मेरे पास इसके लिए रुपये नहीं थे। जब मैंने एक्के पर सवार होकर म्युनिसिपल आफिस में, जो मेरे ठहरने के स्थान 'खद्दर-भंडार' से प्रायः चार मील की दूरी पर था, जाना शुरू किया तो पटने के उच्चवर्ग के लोगों में जहाँ-तहाँ इसकी टीका-टिप्पणी होने लगी, जिसमें कुछ पुराने खयाल के प्राचीन म्युनिसिपल कमिश्नर भी शरीक थे। पर मैंने इसकी परवा नहीं की। इसमें मुझे एक अँगरेज सिविलियन से प्रोत्साहन भी मिला। मिस्टर जौन्सटन पटने के अडिशनल मजिस्ट्रेट थे। वह शहर के पूर्वी हिस्से में रहा करते थे। कचहरियाँ प्रायः पश्चिमी छोर पर हैं। वह भाड़े के एक्के पर ही कचहरी आया करते थे। इतना ही नहीं, कभी ऐसा भी देखा जाता कि पूरे एक्के को नहीं लेते—दूसरों के साथ साझे में एक्का किराया करते, और जब तक दूसरा साथी न मिल जाता, एक्कावान एक्के को पड़ाव पर घुमाता रहता और दूसरे साझेदार के लिए चिल्लाता रहता! मैं इतनी दूर तक नहीं गया; क्योंकि मुझे एक ही स्थान तक नहीं जाना होता। जब मैं निकलता तो निगरानी का काम करता हुआ आफिस जाता और वहाँ से फिर शहर की निगरानी करता हुआ वापस आता। इस शर्त पर कोई साझेदार नहीं मिल सकता था। इसलिए मुझे अपने लिए अलग एक्का लेना पड़ता। हाँ, जब तक अनुग्रह बाबू वाइस-चेयरमैन थे, हम दोनों साथ जाते-आते।

शहर की लम्बाई की वजह से, निगरानी के अलावा, और कामों में भी काफी अड़चन पड़ती थी, जिनका अनुमान आसानी से किया जा सकता है। पटना कोई नया बसता हुआ शहर नहीं है। वहाँ व्यापार विशेषकर स्थानीय काम के लिए ही है। पहले जब नदियों द्वारा ही माल का आयात-निर्यात हुआ करता था तब पटना विशेष महत्त्व रखता था; क्योंकि यहाँ गंगा बहती है। गंगा-गंडक-संगम तो यहाँ है ही, सोन-भद्र तथा सरयू का संगम भी यहाँ से बीस-पचीस मील के अन्दर ही है। पर रेल हो जाने से वह बात अब न रही। इसलिए अब यह व्यापार का केन्द्र भी न रह गया। नये कल-कारखाने भी कम ही हैं, कोई विशेष वृद्धि उनकी अभी तक नहीं हुई है। १९२४ में तो वे और भी कम थे। यहाँ प्रान्तीय राजनीतिक केन्द्र होने से कुछ

लोग सरकारी दफ्तरों में और कुछ वकील-बैरिस्टर—हाइकोर्ट से संबन्ध रखनेवाले— अवश्य रहते हैं। इसलिए, जहाँ ये सब रहते हैं उस पश्चिमी हिस्से में कुछ रौनक है। पूर्वी हिस्सा पुराना मुहल्ला है जो अब अपना रौनक बहुत कुछ खो चुका है। इसलिए शहर की म्युनिसिपैलिटी की आमदनी कुछ ज्यादा नहीं है।

आधुनिक समय के साधनों का भी प्रायः अभाव-सा ही यहाँ था। खुले पनाले होने के कारण मच्छरों की भरमार है। नाले भी साफ नहीं रखे जा सकते; क्योंकि पानी का कोई अच्छा निकास नहीं है। पहले यहाँ हर घर में कुँए की शक्ल के पाखाने हुआ करते थे, जो कभी साफ नहीं किये जाते थे। जब वे बहुत दिनों के बाद कभी पट जाते होंगे तो उनकी बगल में दूसरे कुँए बना लिये जाते होंगे। इस कारण, शहर का स्वास्थ्य बहुत खराब रहा करता था। हम लोगों के समय के पहले से म्युनिसिपैलिटी ने इन कुँएवाले पाखानों को बन्द कर दिया था। तो भी ये जहाँ-तहाँ रह गये थे। उनको हमने बन्द कराया। प्रायः ऐसे कुँओं के निकट ही प्रत्येक घर में पानी के कुँए भी हुआ करते थे। पानी प्रायः सभी जगहों में खारा हुआ करता था। कहीं-कहीं मीठा पानी भी मिल जाता था। इसलिए लोग अधिकतर पीने के लिए गंगाजल ही काम में लाया करते थे। बरसात में गंगाजल भी गँदला हो जाया करता है। तब लोगों की दिक्कतें बढ़ जाती थीं। इसलिए यहाँ पानी-कल की आवश्यकता लोग महसूस करते थे। हमारे पहले ही पानीकल और बन्द नालों की बात चली थी। खर्च का अनुमान-पत्र भी बना था। पर अर्थाभाव से वह जहाँ का तहाँ पड़ा रह गया।

हमने इन सब चीजों की ओर ध्यान दिया, और खर्च का अन्दाजा लगाने लगे। एकबारगी इन सारे कामों के खर्च के लिए प्रान्तीय सरकार से मदद माँगी जा सकती थी। शायद कुछ मिल भी जाती। पर इनके चलाने और कायम रखने के लिए तो म्युनिसिपैलिटी को ही खर्च देना पड़ता। उसके पास इसके लिए, बिना नया 'कर' लगाये, पैसे नहीं हो सकते थे। लोगों को शुद्ध और अच्छा दूध मिलना कठिन था। हमने इस पर भी विचार किया कि म्युनिसिपैलिटी की ओर से गोशाला कायम की जाय, जो मुनासिब कीमत पर लोगों को शुद्ध दूध दे सके। पर यह सब कुछ रुपयों पर ही निर्भर था। इसलिए, हमने आमदनी बढ़ाने का रास्ता ढूँढ़ना शुरू किया। संयुक्त प्रान्त की म्युनिसिपैलिटियों को, शहर में आनेवाले माल पर चुंगी लगाने से, बहुत आमदनी होती है। हमने पटना शहर में भी चुंगी लगाने की बात सोची। इसका अन्दाजा हमने लगाया कि चुंगी द्वारा कितनी आमदनी बढ़ेगी। इस तरह के प्रस्ताव को पहले म्युनिसिपैलिटी से मंजूर कराना होता और फिर प्रान्तीय सरकार से। जब म्युनिसिपैलिटी मंजूर कर लेती तब बात आगे बढ़ती।

म्युनिसिपैलिटी के अन्दर घूसखोरी भी खूब चलती थी। जो खर्च होता था उसका भी पूरा नफा जनता को नहीं मिलता था। हमने इसको रोकने का प्रयत्न किया। फलतः कर्मचारी हमसे मन ही मन बिगड़ गये, यद्यपि ऊपर से वे कुछ नहीं कर सकते थे। कुछ म्युनिसिपल कमिश्नर भी इस मामले में कर्मचारियों के साथ थे

और उनसे सहानुभूति रखते थे! हमारे प्रयत्न उनको भी नापसन्द थे! वे उस दल में बहुत उत्साह से शरीक हो गये, जो हमारे विरोध के लिए बना था। वे हर मौके पर विरोध ही विरोध किया करते। फिर भी, सब बातों को सोच-विचार कर हमने चुंगी की बात उठायी और उसे पेश किया। म्युनिसिपैलिटी के अधिकांश मेम्बरों ने विरोध किया। प्रस्ताव नामंजूर हो गया। उन लोगों का कहना था कि वे उन सभी सुविधाओं से, जो हम उन्हें देना चाहते थे और जिनका जिक्र ऊपर किया गया है, वंचित भले ही रहें, पर किसी तरह के नये कर को मंजूर नहीं करेंगे। हमने देखा कि शहर की सफाई, सड़क का सुधार और शिक्षा-सम्बन्धी कोई भी उन्नति हमारे किये न हो पायेगी। बहुत समय लगाकर और काफी परिश्रम करके हम कोई भी बात पेश करते, विरोधी दल उसका विरोध करता। इस प्रकार कोई भी अच्छा काम करना कठिन हो जाता। इसलिए बारह-चौदह महीनों तक वहाँ रहकर हमने इस्तीफा दे दिया। इस्तीफा देने के सिवा दूसरा कोई रास्ता ही न था; क्योंकि समय की बरबादी केवल हाथ रहती। जनता को हमसे कोई लाभ नहीं पहुँचता था।

हमारे समय में एक बात हो गयी—बिजली-कल की स्थापना। म्युनिसिपैलिटी को इसमें और कुछ नहीं करना था। केवल पुरानी बत्तियों की जगह, सड़कों पर, बिजली-बत्ती लगा लेने की बात थी। किसी तरह लोगों ने यह मंजूर कर लिया। हमारे समय में ही बिजली-कम्पनी से बातचीत तय हो गयी। हमारे हटने के कुछ ही दिनों बाद बिजली-बत्ती जलने लगी। दूसरी बात यह हुई कि हमने म्युनिसिपैलिटी के मेहतरों की हालत सुधारने का थोड़ा प्रयत्न किया। एक आदमी उनके मुहल्लों में जाकर उनसे मिलता। उनके घरों और बच्चों को साफ रखने की बातें उनसे करता। सप्ताह में एक दिन संकीर्तन या कथा का भी प्रबन्ध करता। इस अवसर पर प्रसाद के लिए कुछ मिठाई बाँटी जाती। शुरू में इस लालच से वे लोग, विशेषकर बच्चे, संकीर्तन और कथा में शरीक होते। इसमें जो खर्च पड़ता उसका प्रबन्ध बाहर से किया जाता। विशेष प्रयत्न इसका भी किया जाता कि वे शराब पीना छोड़ दें। कुछ सफलता होती दीख पड़ी। पर हम वहाँ काफी समय तक रह न सके। हम लोगों के हटने के बाद शायद यह काम बन्द हो गया।

एक तीसरा काम और भी किया गया। हमने देखा कि इन लोगों के पास पैसे तो आते हैं; पर उनका दुरुपयोग होता है। इससे उनकी हालत बहुत बुरी थी। मेहतर का मुशाहरा दस-बारह रुपये मासिक होता। स्त्रियों को पुरुषों से दो रुपये मासिक कम मिलता। छोटे लड़कों को पाँच रुपये मासिक मिलता। इस तरह, यदि एक घर में एक पुरुष और उसकी स्त्री तथा दस-बारह बरस के दो बच्चे होते, तो उसकी मासिक आमदनी प्रायः तीस रुपये हो जाती, जो किसी भी सरकारी दफ्तर के क्लर्क का मुशाहरा है। पर जब हम देखते हैं कि क्लर्क को साफ-सुथरे कपड़े और जूते पहनकर कचहरी जाना पड़ता है, उसके घर के स्त्री-बच्चे स्वयं कुछ नहीं कमा सकते—क्लर्क की आमदनी पर ही निर्भर रहते हैं, तो स्पष्ट हो जाता है कि मेहतर का

परिवार इस मुशाहरे के लिहाज से अधिक कमाता है। साथ ही, मेहतर को उन घरों से, जहाँ वह काम करता है, म्युनिसिपैलिटी के मुशाहरे के अलावा कुछ न कुछ मिल ही जाता है; पर्व-त्योहार के अवसर पर भी कुछ आमदनी हो ही जाती है, तो भी उनकी हालत इतनी खराब क्यों रहती है। हमने इसके दो कारण देखे, एक तो शराबखोरी और दूसरा—कर्ज पर सूद! जिस दिन मुशाहरा बँटता उस दिन उनका महाजन वहाँ हाजिर रहता! जो मुशाहरा उन्हें मिलता, महाजन ही ले लेता! उसी रुपये को वह अपने पुराने कर्ज और सूद में सधा लेता। उसी दिन से फिर कर्ज लेकर ही मेहतर अपना काम चला सकता। कर्ज का सूद भी बहुत देना पड़ता। इसका नतीजा यह होता कि वह कभी कर्ज से बरी न हो पाता। हर महीने में एक अच्छी रकम सूद में चली जाती।

हमने इस अर्थ-संकट से उनको बचाना चाहा। दरियाफ्त करने से मालूम हुआ कि मुशाहरा महीने में एक दिन मिलता है। वे महीने में कई बार करके कर्ज लेते हैं, जिसको महीने के अन्त में सूद के साथ अदा करना पड़ता है। हमने चाहा कि वे कर्ज लेना बन्द करें; पर वे इस पर राजी नहीं होते। हमने मुशाहरा बाँटने के स्थान पर महाजनों को आने से रोकना चाहा, तो मेहतर बिगड़ गये और हड़ताल करने पर तैयार हो गये! उनका कहना था कि महाजनों से उनका काम बहुत आसानी से चलता है, इसलिए वे उनको छोड़ नहीं सकते। वे यह भी कहने लगे कि जब तक उनका कर्ज अदा न हो जाय, महाजन उनको छोड़ेंगे नहीं। हमने सारे कर्ज को अदा कर देने का वादा किया और समझाया कि महाजन से रुपये न लेने से उनको बहुत बचत होगी। वे यह जल्दी समझने को तैयार न थे। हमने महीने के अन्त के बदले बीच के पन्द्रहवें दिन मुशाहरा देने का प्रबन्ध कर दिया। यह भी कह दिया कि जब जरूरत होगी, इस शर्त पर पेशगी मुशाहरा भी मिल सकेगा और मुशाहरा मिलने के दिन पेशगी दी हुई रकम काट ली जायगी। बहुत मेहनत के बाद उन्होंने यह बात समझी, और राजी हुए। नतीजा यह हुआ कि कुछ दिनों के बाद, जब उन्होंने इस प्रबन्ध से लाभ देखा तो, वे बहुत प्रसन्न हुए। मालूम नहीं, हम लोगों के हट जाने के बाद यह प्रथा जारी रह सकी या नहीं। म्युनिसिपैलिटी से हटने में इसी एक बात का अफसोस रहा कि हरिजनों की थोड़ी-बहुत सेवा शायद की जा सकती, जो न की जा सकी।

जिस समय हम लोग पटना-म्युनिसिपैलिटी में काम कर रहे थे, प्रायः उसी समय कई अन्य जिलों के डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी में भी काँग्रेसी लोग चुने गये। पहले कहा जा चुका है कि गया के डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड में अनुग्रह बाबू चेयरमैन हुए थे। मुँगेर-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन शाह महम्मद जुबैर और वाइस-चेयरमैन श्री श्रीकृष्णसिंह, छपरा-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन मजहरुल हक साहब, चम्पारन में पहले बेतिया-म्युनिसिपैलिटी और पीछे चम्पारन-जिला-बोर्ड के चेयरमैन श्री विपिनविहारी वर्मा, मुजफ्फरपुर-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन श्री विन्ध्येश्वरीप्रसाद वर्मा और वहाँ के

डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन श्री रामदयालुसिंह हुए। भागलपुर-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चेयरमैन श्री कैलासविहारीलाल हुए। दरभंगा में चेयरमैन बाबू हरिनन्दन दास और वाइस-चेयरमैन मिस्टर महम्मद शफी (बैरिस्टर) हुए। छोटानागपुर के डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों में चेयरमन वहाँ के डिपुटी-कमिश्नर हो सकते थे और वाइस-चेयरमैन गैर-सरकारी आदमी। इसलिए वहाँ मानभूम में श्री जीमूतवाहन सेन और हजारीबाग में श्री रामनारायणसिंह वाइस-चेयरमैन हुए। इस प्रकार हमारे सूबे के अनेक स्थानों में, इन स्थानीय संस्थाओं में, काँग्रेसी लोगों के हाथों में अधिकार आया और वे काम करने लगे। जिस तरह की दिक्कतें पटने में थीं वैसी और जगहों में नहीं थीं। केवल छोटानागपुर में, अक्सर चेयरमैन और वाइस-चेयरमैन के बीच, उठा-पटक होती रहती थी। हमारे आदमियों ने, प्रायः सभी जगहों में, काम अच्छा किया। लोगों पर भी प्रभाव अच्छा ही पड़ा। पर मैं इस काम से संतुष्ट न था।

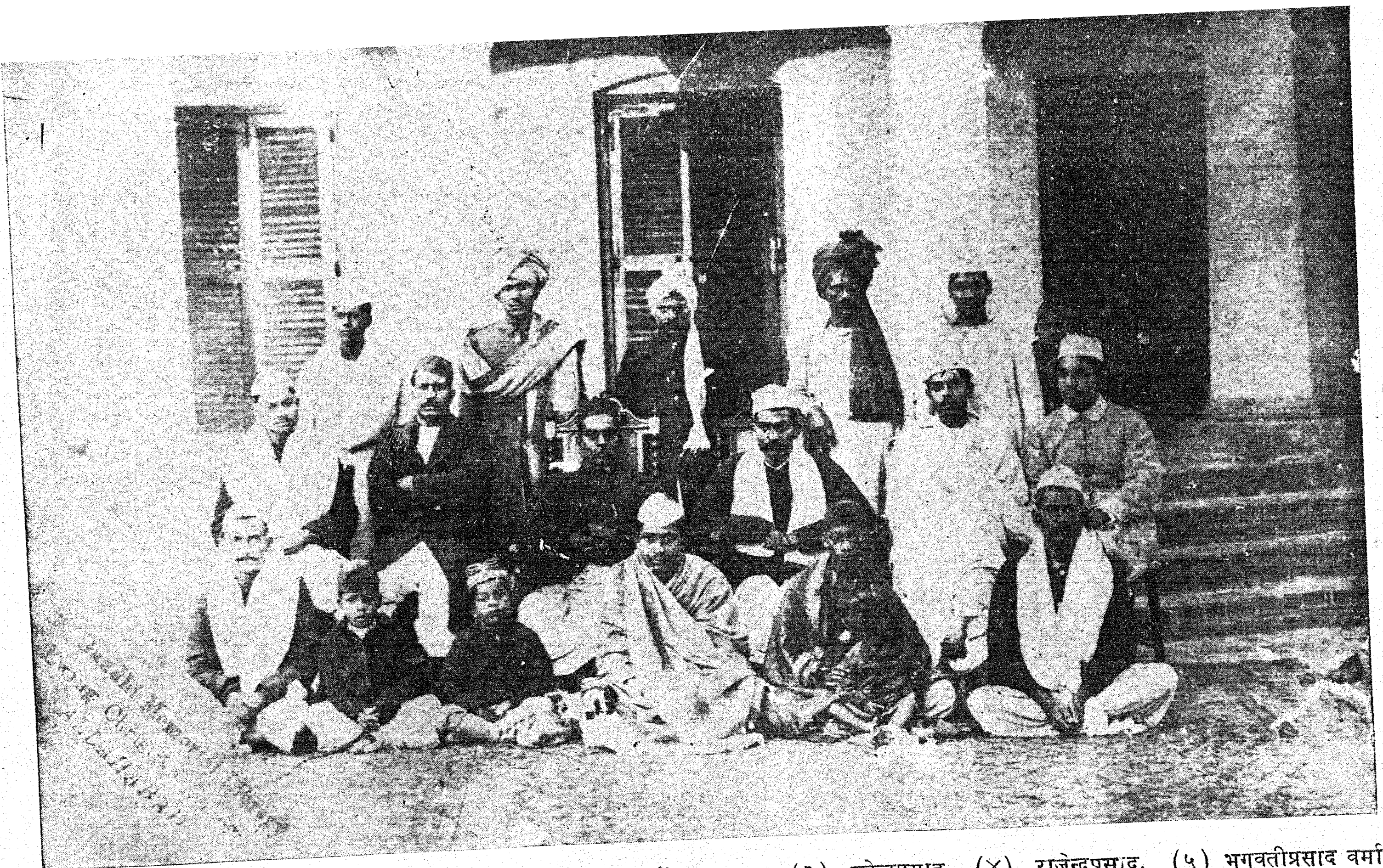
चुनाव होने के पहले ही, काँग्रेसी लोगों में, उमीदवार बनने के बारे में, परस्पर बड़ी स्पर्धा होने लगी। कुछ लोग उमीदवार न बनाये जाने पर दुःखी होते। कुछ लोग समझने लगे, हमने देश की सेवा की है, इन बोर्डों में स्थान मिलना एक प्रकार से उसी सेवा का इनाम है! अपना दावा पेश करने में वे अपनी सेवाओं की बात पेश करते! इससे मेरे दिल पर यह असर पड़ा कि अभी तो एक बहुत छोटी बात सामने आयी है और इतने ही में लोग उमीदवार बनाये जाने के लिए अपनी-अपनी सेवाओं की तालिका तैयार करा रहे हैं, तो आगे चलकर न मालूम क्या होगा। मैंने कुछ दिनों के अनुभव के बाद एक लेख कलकत्ते के 'मार्डनरिव्यु' में लिखा था। उसमें अपना नाम नहीं दिया था। पर उसमें उस समय के अपने विचारों को व्यक्त कर दिया था। बहुत जगहों में, काम अच्छा होने पर भी, आपस में कुछ मनोमालिन्य हो ही गया। इस बारे में मुँगेर का जिला-बोर्ड बिलकुल अछूता रहा। वहाँ कभी आपस की वैसी स्पर्धा देखने में न आयी जैसी अन्य स्थानों में। इसका श्रेय वहाँ के कार्यकर्त्ताओं और नेताओं को है। यद्यपि मेरा अपना विचार इन बोर्डों में शरीक होने के खिलाफ हो गया, तथापि और सभी साथियों के विचार भिन्न थे। इसलिए मैंने अपने विचारों को दबा रखा। मैं हमेशा काँग्रेसी लोगों को चुनाव में भाग लेने देता रहा। यथासाध्य उनकी मदद भी करता रहा।

जिस समय हम लोग म्युनिसिपैलिटियों और जिला-बोर्डों में काम कर रहे थे, बिहार की सरकार ने एक बिल पेश किया। उसका आशय यह था कि इन बोर्डों के हिसाब जाँच करनेवाले सरकारी निरीक्षक (ऑडीटर) को अधिकार होगा कि वह इस बात का फैसला कर सके कि कोई खर्च, जो बोर्ड या बोर्ड के किसी पदाधिकारी ने किया हो, गैरकानूनी है। और, यदि वह उचित समझे तो ऐसे गैरकानूनी खर्च की रकम उस पदाधिकारी से अथवा उन मेम्बरों से, जिन्होंने इस खर्च की मंजूरी दी हो, वसूल करने का निश्चय करे। १९२२ में म्युनिसिपैलिटी और जिला-बोर्ड के कानून संशोधित और परिवर्धित किये गये थे, इन बोर्डों को अपने चेयरमैन चुनने का अधिकार मिला

था और अन्य प्रकार से भी जनता के प्रतिनिधियों को कुछ नये अधिकार मिले थे। इस नये बिल का आशय यह था कि जो नये अधिकार दिये गये हैं वे दूसरे प्रकार से कम कर दिये जायँ। सबसे बड़ी बात यह थी कि हिसाब-परीक्षक को कानूनी बातों पर फैसला देने का अधिकार दिया गया था। इससे हमारे सूबे के बोर्डों में नये चुने हुए मेम्बरों को ये बातें बहुत खटकीं। दूसरे लोगों को भी ये पसन्द न आयीं। बोर्डों और जनता की ओर से बिल का जोरदार विरोध होने लगा।

इसी सिलसिले में, इस पर तथा बोर्ड-सम्बन्धी अन्य विषयों पर विचार करने के लिए, बोर्डों के प्रतिनिधियों की एक कान्फ्रेन्स करने की राय ठहरी। यह कान्फ्रेन्स पटने में की गयी। मौलाना मजहरुल हक साहब, जो सारन-जिला-बोर्ड के चेयरमैन थे, इसके सभापति होने को थे। मुँगेर-जिला-बोर्ड के चेयरमैन शाह महम्मद जुबैर ने इसका उद्‌घाटन किया। मजहरुल हक साहब के अकस्मात् अस्वस्थ हो जाने के कारण मुझे ही इसका सभापति बनना पड़ा। सारे सूबे के प्रायः सभी मुख्य-मुख्य जिला-बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों के प्रतिनिधि इसमें शरीक हुए। सर्व-सम्मति से आडिट-बिल की निन्दा की गयी। बोर्ड-सम्बन्धी दूसरे विषयों पर भी विचार किया गया। एक विषय, जो उन दिनों बड़े महत्त्व का हो गया था, यह था कि जिला-बोर्ड के इञ्जीनियर बोर्ड के नौकर न रहकर प्रान्तीय सरकार के नौकर हों। इसका भी विरोध किया गया। शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न पर भी विचार हुआ। कहा गया कि पाठ्यपुस्तकों को चुनने के लिए जो कमिटी है उसका संगठन हो और उसमें बोर्डों के प्रतिनिधियों को स्थान दिया जाय। कान्फ्रेंस ने एक छोटी स्थायी कमिटी कायम कर दी। और, इस प्रकार के सम्मेलन की आवश्यकता तथा उपयोगिता महसूस करके फिर समय पर मिलने का भी निश्चय किया। मैं समझता हूँ कि बोर्ड से हमारे हट जाने के बाद भी यह कान्फ्रेंस जब-तब होती और बोर्ड-सम्बन्धी विषयों पर विचार-विनिमय करती रही।

एक दुर्घटना इन बोर्डों के चुनावों को लेकर और भी हुई, जिसका असर बहुत बुरा पड़ा। १९२२ से ही हिन्दू-मुस्लिम झगड़े जहाँ-तहाँ शुरू हो गये थे। अकसर बलवे की खबर किसी न किसी जगह से आती ही रहती थी। हम लोग बहुत बेचैन रहा करते थे। अपने सूबे में दंगा न होने देने के प्रयत्न में हम सतत लगे रहते थे। पर यहाँ भी कई जगहों में दंगे हो ही गये। आज उन सब जगहों के न तो नाम ही याद हैं और न क्रम से उनकी तारीख़ ही मैं बतला सकता हूँ। इसके लिए उन दिनों के समाचारपत्रों की फाइलें देखनी होंगी। पर ये दंगे इतने बढ़ गये थे और इतने स्थानों में होते रहे कि इनका असर पड़े बिना रह नहीं सकता था। शुद्धि और तबलीग संगठन और तञ्जीम के प्रचार ने लोगों में इस हिन्दू-मुस्लिम कशमकश को और भी बढ़ा दिया। आपस का मनोमालिन्य बढ़ता ही गया। जहाँ बलवा न भी हुआ वहाँ भी दुर्भाग्यवश पारस्परिक विश्वास न रहा। उधर खिलाफत का मामला एक प्रकार से, जब तुर्कों ने खलीफा को हटा दिया तो, स्वभावतः कुछ ढीला पड़ गया। बहुत से मुसलमान, जो काँग्रेस में खिलाफत के कारण ही शरीक हुए थे,



कुर्सी पर बायें से दायें— (१) सर्वश्री मृत्युञ्जयप्रसाद, (२) नर्वदेश्वरप्रसाद, (३) महेन्द्रप्रसाद, (४) राजेन्द्रप्रसाद, (५) भगवतीप्रसाद वर्मा, (६) जनार्दनप्रसाद वर्मा। बैठे हुओं में दायें से चौथे श्री लवलीनप्रसाद, और पाँचवें बाबू धनञ्जयप्रसाद।

जीरादेई (सारन) १९२३, (लेखक के मकान पर)

विद्यापीठ के ... अध्यापक तथा विद्यार्थियों के साथ (सदाकत आश्रम १९२८)



आहिस्ता-आहिस्ता अलग होने लगे। यह साफ दीखने लगा कि १९२१-२२ की तरह सभी बातों में वे एकमत नहीं रह सकते। जनता पर दंगों का विशेष प्रभाव पड़ता था। बिहार-जैसे हिन्दू-प्रधान सूबे में मुसलमानों के चुने जाने में दिक्कत पड़ने लगी।

पटना-म्युनिसिपैलिटी में मौलवी खुरशैद हसनैन के चुनाव की दिक्कतों का जिक्र ऊपर कर चुका हूँ। यहाँ हम लोगों ने खूब जोर लगाया। मौलवी साहब को कुछ करने न दिया। वह बड़े बहुमत से चुने गये। इसी तरह छपरे में, मजहरुल हक साहब की सेवा और त्याग तथा व्यक्तित्व का बहुत बड़ा प्रभाव था। तो भी कुछ लोगों ने दिक्कत पैदा करने का प्रयत्न किया। पर वहाँ मेरे भाई साहब की बहुत धाक थी। उन्होंने वहाँ उठी हुई दिक्कतों को दबा दिया। हक साहब आसानी से चुने गये। मुँगेर में जुबैर साहब को लोग बहुत मानते थे। वहाँ कोई दिक्कत पेश न आयी। मुजफ्फरपुर में मौलवी महम्मद शफी की सेवा और त्याग किसी से कम न था। पर काँग्रेसी लोगों में उतना ऐक्य नहीं था अथवा जनता पर वे अपना उतना अच्छा प्रभाव न डाल सके। नतीजा इसका यह हुआ कि मौलवी शफी हार गये। हम सबको इसका बहुत अफसोस हुआ। पर हम लाचार हो गये। मौलवी शफी साहब के दिल पर इसका असर पड़ा। पर उस समय उन्होंने उसे दबा रखा, और काम करते रहे। किन्तु इसका बुरा परिणाम पीछे देखने को मिला, जब उन्होंने काँग्रेस छोड़कर मुस्लिम संस्था कायम करने में अपना समय लगाना शुरू कर दिया। यह कुछ दिनों के बाद हुआ; पर इसका सूत्रपात डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड के चुनाव की हार में ही हो गया था। यद्यपि इन चुनावों में यथासाध्य मुसलमानों के चुनवाने का प्रयत्न किया गया और वे अच्छी संख्या में चुने भी गये, तथापि बिहार के मुसलमानों ने महसूस किया कि वे काफी संख्या में नहीं चुने गये। ऐसे मामलों में विश्वास बड़ी चीज होता है। वह अकारण भी कमजोर पड़ सकता है। इन पंक्तियों के लिखने के समय मेरे सामने उन चुनावों के नतीजों के आँकड़े तो नहीं हैं; पर मैं समझता हूँ कि मुसलमानों के साथ कोई अन्याय नहीं हुआ था। हाँ, जहाँ-तहाँ कुछ कम-बेश चुने गये हों अथवा प्रमुख व्यक्ति न चुने गये हों; परंतु सारे सूबे पर दृष्टि डालने से मालूम होगा कि उस वक्त काँग्रेसी लोगों ने उनको चुनवाने में यथासाध्य खूब परिश्रम किया और वे सफल भी हुए। पर बहुतेरे मुसलमानों का विश्वास कम हो गया, जिसका बुरा परिणाम पीछे कुछ दिनों के बाद देखने में आया।

५६—बंगाल में दमन, स्वराज्य-पार्टी के साथ समझौता और बेलगाँव-काँग्रेस

गांधीजी का उपवास समाप्त होने के बाद उनको कुछ समय स्वास्थ्य-लाभ करने में लगा। वह कोहाट जाने के लिए बेचैन थे, पर गवर्नमेंट ने वहाँ जाने की इजाजत नहीं दी। इसी समय गवर्नमेंट ने एक और चक्र चलाया। उसने एक नया आर्डिनेन्स यह कहकर जारी किया कि बंगाल में विप्लववादी लोग फिर षड्यंत्र कर

रहे हैं और जहाँ-तहाँ उनके द्वारा हत्याएँ की जा रही हैं। 'डे' की हत्या और चन्द
दूसरी घटनाओं का हवाला देते हुए इसकी आवश्यकता बतलायी गयी। साथ ही, श्री
सुभाषचन्द्र बोस तथा बहुतेरे दूसरे कार्यकर्त्ता एक दिन बंगाल में गिरफ्तार कर लिये
गये। यद्यपि इसकी अफवाह कुछ पहले से थी कि देशबन्धु दास भी गिरफ्तार किये
जायँगे, तथापि वह पकड़े नहीं गये। इस आर्डिनेन्स और इन गिरफ्तारियों से सारे
देश में सनसनी फैल गयी। सब लोग क्षुब्ध हो उठे। इनसे नरम दलवाले भी काफी
नाराज हुए। स्वराज्य-पार्टी के लोगों के विचार में तो यह आर्डिनेन्स विशेषतः उन पर
ही लागू करने के लिए बनाया गया था; क्योंकि उन्होंने बंगाल और मध्यप्रदेश में
मंत्रिमंडल तोड़ डाला था और वहाँ नयी योजना एक प्रकार से काम नहीं कर रही
थी। महात्माजी भी इससे बहुत रुष्ट हुए। उन्होंने देशबन्धु दास और पंडित मोतीलालजी
के साथ तुरंत समझौता कर लिया। सारे देश में सभाएँ हुईं, सभी बड़े-बड़े नेताओं
ने पत्रों में अपने बयान छपवाये जिनमें सरकार की इन कार्रवाइयों की कड़ी निन्दा
की गयी। पटने में भी एक बड़ी सभा हुई। उसमें सभी विचारों और दलों के लोग
शरीक हुए। बंगाल में दमन-नीति चलाने की कड़ी आलोचना उसमें की गयी। मैंने
उस सभा में जोरदार भाषण किया।

गांधीजी ने जो समझौता किया, उसका आशय यह था कि काँग्रेस विदेशी
बस्त्र के बहिष्कार के सिवा अन्य असहयोग स्थगित कर दे और भिन्न-भिन्न प्रकार के
काम काँग्रेस के अन्दर भिन्न-भिन्न जमायतें करें; पर चर्खा और खादी का प्रचार,
आपस में—विशेषकर हिन्दू-मुसलमान के बीच—मेल-जोल और एकता बढ़ाना तथा
हिन्दुओं में अछूतपन दूर करने के काम सबके लिए अनिवार्य समझे जायँ; प्रान्तीय
तथा केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं में स्वराज्य-पार्टी काँग्रेस की अंग-स्वरूप होकर काँग्रेस
की तरफ से काम करे, इसके लिए वह अपने नियम बना ले, अपने पैसे भी जमा
और खर्च करे; चूँकि यह देखा गया है कि जब तक सूत कातना सर्वव्यापी न हो
जाय, हिन्दुस्तान कपड़े के सम्बन्ध में स्वतंत्र नहीं हो सकता; चूँकि चर्खा चलाना
एक जीता-जागता और साफ नजर आता हुआ उपाय है जो काँग्रेसी लोगों और भारत
की जनता के बीच सम्बन्ध जोड़नेवाला है, इसलिए चर्खा और खद्दर के प्रचारार्थ
काँग्रेस की नियमावली में यह संशोधन कर दिया जाय कि कोई आदमी तब तक
काँग्रेस का सदस्य नहीं हो सकता जब तक उसकी उम्र अठारह बरस की न हो—जो
राजनीतिक अवसरों और काँग्रेस के मौकों पर तथा काँग्रेस का काम करते समय
हाथ-कता हाथ-बुना खद्दर न पहनता हो—जो प्रतिमास अपने हाथ का कता दो हजार
गज अच्छा बराबर सूत, और बीमारी तथा अनिच्छा अथवा इस प्रकार के अन्य किसी
कारण की हालत में इतना दूसरे का काता हुआ सूत काँग्रेस-कमिटी को न दे। इसका
नतीजा यह होता था कि स्वराज्य-पार्टी को काँग्रेस के नाम पर कौन्सिल का काम
करने का अधिकार मिल जाता था; पर काँग्रेस-मेम्बर बनने के लिए अब चार आने
पैसे की जगह दो हजार गज सूत अपने हाथ से कातकर—बीमारी और अनिच्छा की

हालत में दूसरे से खरीद कर—देना पड़ता था। यह समझौता अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी और बेलगाँव-काँग्रेस की मंजूरी के लिए पेश होने को था।

बंगाल के दमन और इस समझौते पर विचार करने के लिए मौलाना महम्मद अली ने बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक की। उसी समय उन्होंने देश के अन्य राजनीतिक दलों को भी आमंत्रित किया कि बंगाल की स्थिति पर सब मिलकर विचार करें। गांधीजी पहले से ही इस प्रयत्न में थे कि सब दलों को काँग्रेस में फिर से शरीक होने के लिए प्रोत्साहित और आमंत्रित किया जाय। गवर्नमेंट की कार्रवाई ने इस प्रयत्न में बड़ी मदद पहुँचा दी। बम्बई में एक बड़ा सम्मेलन हो गया जिसमें सभी दलों के लोग शरीक हुए। बम्बई के सर दिनशा पेटिट इसके सभापति हुए। इसके पहले प्रस्ताव में सरकार की दमन-नीति की निन्दा करते हुए स्वराज्य की माँग पेश की गयी। दूसरे प्रस्ताव द्वारा एक कमिटी नियुक्त हुई, जिसको आदेश दिया गया कि वह इस बात पर विचार करे कि किस तरह राजनीतिक दलों को काँग्रेस के अन्दर शामिल किया जा सकता है और स्वराज्य का एक मसविदा तैयार करे, जिसमें हिन्दू-मुस्लिम समस्या के—और इस प्रकार के दूसरे मसलों के—राजनीतिक दृष्टि से हल रहें तथा इस कमिटी की रिपोर्ट ३१ मार्च तक तैयार करके अप्रैल में फिर कान्फ्रेन्स की बैठक की जाय। इस सर्वदल-सम्मेलन का महत्त्व यह था कि इसमें काँग्रेस के अलावा, जिसमें स्वराज्य-पार्टी भी शामिल थी, प्रायः और जितने राजनीतिक दल थे तथा मुस्लिम लीग के लोग—सब शरीक हुए थे। इसकी कार्रवाई से सारे देश में एक नयी लहर उठी। आशा होने लगी कि अब सब लोग फिर मिल कर, एक साथ अगर न हो तो अपने-अपने विचार के अनुसार, एक ध्येय—स्वराज्य-प्राप्ति—के लिए प्रयत्न में लग जायँगे।

उसी समय अखिल भारतीय कमिटी की बैठक भी हुई। उसमें गांधीजी और स्वराज्य-पार्टी के बीच हुआ समझौता मंजूर किया गया। अपरिवर्तनवादियों में बहुतेरे ऐसे थे जो इस समझौते को नापसन्द करते थे। उनका विशेष विरोध इससे था कि स्वराज्य-पार्टी को कौन्सिलों में काँग्रेस के प्रतिनिधि-रूप होकर बोलने का हक दे दिया गया था। लोग चाहते थे कि यदि उन्हें यह अधिकार दिया जाय तो उन पर नियंत्रण भी काँग्रेस का रहे। गांधीजी इस नियंत्रण के भार को नहीं लेना चाहते थे। बहुत वाद-विवाद के बाद समझौता मंजूर हो गया।

इन दोनों सम्मेलनों ने महात्माजी के लिए रास्ता साफ़ कर दिया। वह आपस की जिस फूट से दुखित थे वह बहुत हद तक दूर हो गयी। जो कुछ मनमुटाव रह गया था उसे भी दूर करने का दरवाजा खुल गया। बेलगाँव में होनेवाली काँग्रेस के अधिवेशन के लिए वह सभापति चुने जा चुके थे, पर उन्होंने उसे अभी मंजूर नहीं किया था। इन सम्मेलनों के बाद उन्होंने उसे मंजूर कर लिया। यह भी आशा की जाती थी कि काँग्रेस के समय अन्य दलवाले भी अपने वार्षिक अधिवेशन बेलगाँव में ही करेंगे जिसमें फिर सब लोगों को एक बार मिलकर आपस में बातचीत करने का मौका

मिले। पर ऐसा हुआ नहीं। केवल श्रीमती एनी बेसेण्ट ने काँग्रेस में शरीक होने का निश्चय कर लिया। वह अपने अनुयायियों के साथ बेलगाँव में शरीक भी हुईं।

दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में नियमानुसार बेलगाँव में अधिवेशन हुआ। वहाँ के लोगों में काँग्रेस के कारण उत्साह बहुत था। श्री गंगाधरराव देशपांडे, बूढ़े होकर भी जवान की तरह, घोड़े पर सवार सभी जगहों में आते-जाते और प्रबन्ध की निगरानी करते दिखाई देते। अधिवेशन के साथ-साथ प्रदर्शनी तो बराबर हुआ ही करती है। बेलगाँव में संगीत-सम्मेलन भी हुआ जिसमें कर्नाटक के प्रमुख गुणी और कलाकार शरीक हुए। मैसूर-दरबार से इसमें पूरी सहायता मिली थी। वहाँ के गुणी विद्वान् इसमें दरबार की ओर से भेजे गये थे। उनमें सबसे नामी श्री शेषन्नाजी थे जो वीणा के आचार्य्य समझे जाते थे। जब उपस्थित काँग्रेस-प्रतिनिधियों को समय मिला, उन्होंने बहुत ही सुन्दर दक्षिणी—विशेषतः कर्नाटकी—संगीत सुनाया। एक दिन गांधीजी की कुटी में उन्होंने अपनी वीणा का चमत्कार भी दिखलाया।

५७—बोधगया का मन्दिर

एक विशेष घटना यह हुई कि काँग्रेस के पास सिंहल द्वीप (सीलोन) से, डाक्टर कैसियस परेरा (Cassius Periera) के नेतृत्व में, बौद्धों की ओर से एक मंडली आयी। उसने यह माँग पेश की कि बोधगया का बुद्ध-मंदिर बौद्धों के अधिकार में दिला देना चाहिए। गया-काँग्रेस के समय ही बरमा से, भिक्षु उत्तमा के नेतृत्व में, प्रायः एक सौ भिक्षुओं की एक बड़ी जमायत आयी थी। बरमा हिन्दुस्थान के साथ ही था। वहाँ भी काँग्रेस-कमिटी थी। ये लोग उसी के प्रतिनिधि होकर आये थे। उनके लिए 'एक पंथ दो काज' था—काँग्रेस का देखना और बोधगया में बुद्ध-देव का दर्शन। काँग्रेस का स्थान भी बोधगया के रास्ते पर ही था। उस समय, और कोकनाडा-काँग्रेस के बाद भी, कुछ इस तरह की बात चली थी तथा मुझे इस बोध-गया-सम्बन्धी प्रस्ताव पर जाँच करने का आदेश मिला था। पर मैं यह काम कर नहीं पाया था। बेलगाँव में डेपुटेशन ने इस सवाल को काँग्रेस में पेश करना चाहा। गांधीजी ने उनसे बातें कर लीं। इस सम्बन्ध में जाँच करके रिपोर्ट पेश करने के लिए गांधीजी ने मुझे इस अधिकार के साथ काम फिर सपुर्द किया कि मैं और जिसको चाहूँ अपने साथ इसमें शरीक कर लूँ। इससे वे लोग सन्तुष्ट हो गये। लाला लाज-पतरायजी बहुत डरते थे कि विदेशी बौद्धों को यदि मंदिर पर अधिकार दिया गया तो हो सकता है कि वह विदेशी षड्यंत्र का केन्द्र बन जाय और अन्तरराष्ट्रीय जटि-लता उपस्थित हो जाय।

मैंने काँग्रेस से लौटकर जाँच का काम आरंभ किया। एक छोटी कमिटी बन गयी। उसमें श्री व्रजकिशोरप्रसाद, डाक्टर काशीप्रसाद जायसवाल और श्री रामोदार-दास (जो पीछे भिक्षु राहुल सांकृत्यायन हुए) सदस्य थे। जब जाँच आरम्भ हुई तब सिंहल से फिर सिंहलवासी श्री गुणीसिंह आये। कुछ दिनों तक विहार में रहकर

कमिटी के काम में उन्होंने बौद्धों की ओर से मदद पहुँचायी। मैंने सबसे पहले हिन्दुओं का विचार जानने का प्रयत्न किया। इसलिए पटने में दो सभाएँ की गयीं, पर उनमें उपस्थिति संतोषजनक नहीं थी, अतः उनके निश्चय का कोई विशेष महत्त्व नहीं था। भाग्यवश उसी समय मुजफ्फरपुर में हिन्दू-महासभा का अधिवेशन होनेवाला था जिसके सभापति लाला लाजपतरायजी थे। वहाँ मैं गया। बोधगया के महन्त की ओर से भी कुछ लोग सभा में गये थे। सभा ने एक प्रस्ताव मंजूर किया जिसमें हिन्दुओं और बौद्धों की सम्मिलित कमिटी के हाथों मंदिर के प्रबन्ध का भार सौंपने की राय दी गयी। पर साथ ही यह भी निश्चय किया गया कि इस बात पर पूरी तरह विचार करने—और हो सके तो महंत को भी राजी करने—के लिए एक कमिटी बनायी जाय। उसके सदस्य भी उपरोक्त चार सज्जन थे। उनके अलावा एक और सज्जन तथा बोधगया के महंत भी सदस्य बनाये गये। पर जब कमिटी का काम शुरू हुआ, ये दोनों सज्जन उसमें शरीक न हुए। इस तरह हिन्दू-महासभा और कांग्रेस की ओर से हम चार आदमियों ने ही रिपोर्ट तैयार की। कमिटी ने सभी बातों का विचार करके एक लम्बी और महत्त्वपूर्ण रिपोर्ट तैयार की। साथ ही, अपनी सिफारिश यह की कि बोधगया के मन्दिर का प्रबन्ध हिन्दुओं और बौद्धों की एक सम्मिलित कमिटी के हाथों में दिया जाय—वहाँ की पूजा-अर्चा का प्रबन्ध बौद्ध रीति के अनुसार किया जाय, पर हिन्दुओं को भी दर्शन और पूजा का अधिकार रहे।

यद्यपि यह बौद्धों का मुख्य तीर्थस्थान है तथापि इस मन्दिर का प्रबन्ध बोधगया के शैव महंत के हाथ में है। हिन्दू भी बुद्धदेव को अपने मुख्य दश अवतारों में एक मानते हैं। तब भी उनकी पूजा हिन्दुओं में प्रचलित नहीं है। कहीं-कहीं तो उनकी निन्दा भी की गयी है। इसलिए वहाँ यद्यपि पूजा का कुछ प्रबन्ध था तथापि इस महत्त्वपूर्ण तीर्थ-स्थान के योग्य नहीं था। हमने समझा कि बौद्धों की शिकायत ठीक है कि पूजा का समुचित प्रबन्ध बौद्ध ही कर सकते हैं। इसलिए कमिटी ने अपनी ओर से ऐसी सिफारिश की। हमने महंत से भी भेंट करके इस बात की कोशिश की कि वह इस बात पर राजी हो जायँ कि मन्दिर का प्रबन्ध कमिटी के जिम्मे कर दिया जाय। हमने उस कमिटी की सदस्यता उनको भी देनी चाही। उनको मन्दिर से जो कुछ आमदनी चढ़ावे के रूप में आती हो उसका मुआवजा भी देने की बात की। पर वह किसी तरह राजी न हुए। उनका कहना था कि मन्दिर पर वह मुनाफे की लालच से अधिकार रखना नहीं चाहते; क्योंकि मन्दिर में जितना खर्च होता है उतना भी हमेशा चढ़ावे के रूप में नहीं आता, और यदि कुछ आता भी है तो वह इतना कम है कि वह अपनी बड़ी जमीन्दारी के सामने उसे कुछ नहीं समझते। बात भी सच है। उस मठ की आमदनी कई लाख की है। मन्दिर से शायद हजार दो हजार साल में आते हों। पर वह यह मानते थे कि मन्दिर पर अधिकार रहने के कारण उनकी बड़ी प्रतिष्ठा है जो विदेशों तक पहुँची हुई है। उसे वह नहीं छोड़ना चाहते थे। हमने उनको बहुत समझाया कि हमारी बात मान लेने से उनकी

प्रतिष्ठा घटने की जगह बहुत बढ़ जायगी; पर वह इस बात को नहीं समझ सके। हमारा प्रयत्न असफल रहा। हमने अपनी सिफारिश करके ही मामले को उपयुक्त समय के लिए छोड़ रखा।

वह रिपोर्ट अखिल भारतीय कमिटी के सामने पेश हुई। मंजूर भी कर ली गयी। पर आज तक वह काम पूरा नहीं हुआ। जब कई बरसों के बाद काँग्रेस की मिनिस्ट्री बनी तो फिर एक डेपुटेशन सीलोन से आया। उसने वही माँग पेश की। मैं उन दिनों बीमार होकर अपने गाँव जीरादेई में जाकर रहता था। इसलिए वे लोग जीरादेई गये। प्रधान मंत्री से भी मिले। महंत किसी तरह राजी नहीं होते थे। इसलिए कानून द्वारा ही कुछ हो सकता था। मैंने प्रधान मंत्री को लिखा कि वह इस सम्बन्ध में कानून बनाने का प्रबन्ध करें। वह इस सम्बन्ध में विचार और राय-बात भी करने लगे। पर और-और झंझटों में फँसे रहने के कारण यह बात आगे न बढ़ सकी। जब मंत्रि-मंडल ने इस्तीफा दिया उस समय भी यह बात जहाँ की तहाँ टँगी रह गयी। मैं आज भी मानता हूँ कि न्याय इसी में है कि इस मन्दिर के प्रबन्ध का भार और अधिकार बौद्धों के हाथ में देना चाहिए। और, चूँकि हिन्दू भी बुद्धदेव को अवतार मानते हैं, इसलिए प्रबन्ध-कमिटी में हिन्दुओं को भी रहना चाहिए। इसी सिलसिले में एक बात और उल्लेखनीय है। सिंहल में एक प्रसिद्ध मंदिर है जिसका नाम कतरगामा है। वहाँ के हिन्दू कहते हैं कि वह हिन्दुओं का मन्दिर है और बौद्धों ने उस पर अधिकार कर लिया है। जब यहाँ बात चल रही थी, सीलोन के हिन्दुओं की ओर से मेरे पास पत्र और तार आते रहे कि हम हरगिज बोधगया के मंदिर पर बौद्धों को उस वक्त तक अधिकार न दें जब तक वे कतरगामा-मंदिर पर हिन्दुओं का अधिकार न मान लें। अगर बात आगे बढ़ती तो शायद इस सम्बन्ध की बात भी कुछ होती। पर वह समय ही नहीं आया। बात वैसे ही रह गयी।

यहाँ १९२५ की बात लिखते-लिखते इस विषय की चर्चा में १९३९ तक चला आया; क्योंकि इसे एक जगह कह देना ही ठीक था।

५८—बेलगाँव के बाद की कुछ घटनाएँ

बेलगाँव-काँग्रेस में स्वराज्य-पार्टी के साथ का समझौता मंजूर हो गया। गांधीजी इस पर राजी-से हो गये कि जहाँ तक राजनीतिक प्रश्नों का सम्बन्ध है, उसमें स्वराज्य-पार्टी की ही प्रधानता रहे और अगर वे चाहें तो वर्किंग कमिटी भी अपनी इच्छा के अनुकूल बना लें; पर खादी-प्रचार और रचनात्मक काम में पूरी मदद करें तथा उसका संचालन हम (गांधीजी) पर छोड़ दें। इसी नीति के अनुसार काँग्रेस के विधान में संशोधन हुआ। काँग्रेस का सदस्य बनने के लिए चार आना शुल्क देने के बदले अपने हाथ का कता हुआ सूत देना मंजूर किया गया।

जब से गांधीजी जेल से निकले थे, उन्होंने खादी-प्रचार पर बहुत जोर डाला था। मैं भी अपने सूबे में रचनात्मक काम में ही—विशेषकर राष्ट्रीय शिक्षा और खादी-

प्रचार में—लगा रहा। १९२४ के दिसम्बर में पटने में एक प्रदर्शनी की गयी, जिसमें चर्खा और उससे उत्पन्न सब प्रकार की खादी के नमूने दिखलाये गये। मैंने इस प्रदर्शनी को राजनीति से अलग रखा। सब लोगों को आमंत्रित किया कि वे आकर देखें कि हाथ से किस तरह और कैसा सूत बन सकता है तथा खादी-प्रचार से गरीबों को कितना लाभ हो सकता है। सरकारी उच्च कर्मचारी भी खूब आये। उन्होंने खादी की प्रगति देखी। ऐसे लोगों में पटना-हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर डासन मिलर प्रमुख थे। दूसरे हिन्दुस्तानी और अँगरेज जज, बिहार के गवर्नर की कौन्सिल के मेम्बर सर ह्यु मैकफरसन तथा अनेकानेक उच्च कर्मचारी भी आये। चर्खे की जो प्रतियोगिता हुई उसमें मलखाचक-गांधी-कुटीर (सारन) के दो लड़कों ने प्रथम पुरस्कार पाया। वे श्री रामविनोदसिंह के छोटे भाई थे। उनकी प्रगति घंटे में प्रायः ६०० गज की थी। इन्हीं दोनों युवकों में से एक डाक्टर सत्यनारायणसिंह हैं जो पीछे योरोप में शिक्षित हो डाक्टर की डिगरी लेकर वापस आये और हिन्दी में अनेक ग्रन्थों के रचयिता हुए। महीन सूत के कातनेवालों ने प्रायः ३०० नम्बर तक का सूत कात कर दिखलाया। उस समय तक जो प्रगति हुई थी, मैंने उसकी रिपोर्ट अपने भाषण में लोगों के सामने पेश कर दी। जहाँ तक मेरा अनुमान है, लोग बहुत संतुष्ट हुए। पारितोषिक-वितरण चीफ जस्टिस की पत्नी लेडी मिलर ने किया।

जो प्रदर्शनी बेलगाँव में हुई उसका उद्घाटन करने का श्रेय मुझे मिला। शायद वह इसलिए मुझे मिला कि हमारे प्रान्त में खादी का काम अच्छा चल रहा था। यद्यपि प्रदर्शनी में अन्य कलाओं के नमूने भी दिखलाये गये तथापि मैंने अपने भाषण में विशेषकर खादी के सम्बन्ध में ही कहा। मैंने इस पर जोर दिया कि यदि प्रचारक और पैसों की कमी न हो तथा लोग खादी खरीदें, तो सारे देश के लिए थोड़े समय में ही काफी खादी तैयार की जा सकती है।

इसी वर्ष में एक और छोटी-सी घटना हुई जो मेरे लिए एक पुण्यस्मृति है। पटना-युनिवर्सिटी के समावर्तन-समारोह के अवसर पर सर जगदीशचन्द्र बोस दीक्षान्त भाषण करने आये। मैंने उनको बिहार-विद्यापीठ में निमंत्रित किया। जब मैं प्रेसिडेन्सी कालेज (कलकत्ता) में पढ़ता था तब डाक्टर बोस ने मुझे पढ़ाया था। पर वह बहुत दिनों पहले की बात थी। वह भी ऊपर के दर्जों में—जैसे बी० एस्-सी० अथवा एम० ए० में नहीं, एफ० ए० में ही मुझे उनसे पढ़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ था। इसलिए, मैं नहीं समझता था कि उनको मेरे सम्बन्ध में कुछ याद होगा अथवा वह मुझे कुछ विशेष रीति से जानते होंगे। परन्तु यह जानकर मेरे आह्लाद का ठिकाना न रहा, कि वह केवल मुझे अच्छी तरह याद ही नहीं रखते थे, बल्कि मुझ पर प्रीति भी रखते थे। वह खुशी से विद्यापीठ आये। वहाँ एक अत्यन्त सुन्दर, प्रोत्साहन देनेवाला, ओजस्वी भाषण भी किया। मैंने अपने को कृतकृत्य माना। उसी प्रेम और विश्वास का परिचय अपने मरने के कुछ पहले उन्होंने दिया—बिहार में मद्यनिषेध के लिए एक बड़ी रकम दी और उसके सूद की आमदनी को खर्च करने का भार मुझे दिया। वह जैसे

विज्ञान के विद्वानों में शिरोमणि थे वैसे ही सच्चे देशभक्त और त्यागी भी। मद्यनिषेध का काम, १९४२ में मेरे जेल आने तक, मेरी निगरानी में, झरिया में होता रहा। लेडी अबला बोस मेरे पास रुपये भेजती रहीं। जब मैं जेल चला आया और काम करनेवाले भी दमन में गिरफ्तार कर लिये गये तो जो रुपये मेरे पास बचे थे, मैंने लेडी बोस और ट्रस्टियों के पास वापस कर दिये। यह इसलिए भी आवश्यक हो गया कि मेरे नाम से जितने एकौण्ट बंक में थे उन पर गवर्नमेण्ट ने रोक लगा दी। इसलिए अब रुपये के बिना, विशेषकर मेरी गैरहाजिरी में, काम बन्द हो ही जाता। मैंने सोचा कि रुपयों को अपनी जिम्मेदारी पर रखना उचित न होगा, विशेषकर जब इसका ठिकाना न था कि हम कब तक जेल में रहेंगे। मेरे लिखने पर गवर्नमेण्ट ने इस हिसाब के रुपयों को उनके पास भेज देने की इजाजत दे दी। अब प्रायः सोलह महीनों तक जेल में रहने के बाद, जब ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, मैं सोचता हूँ कि मैंने रुपये वापस कर देने का निश्चय करके ठीक ही किया। अफसोस केवल इतना है कि आचार्य बोस महोदय की इच्छा मैं पूरी न कर सका; पर इसमें मेरा कसूर नहीं है। भारतवर्ष में राजनीति कुछ ऐसी ही चीज है। इसमें पड़े हुए मनुष्य को बहुतेरे दूसरे आवश्यक और महत्त्वपूर्ण काम छोड़ने ही पड़ते हैं। यद्यपि आज गवर्नमेण्ट ने मद्यनिषेध-सम्बन्धी काँग्रेस-मिनिस्ट्री की नीति को उलट दिया है और झरिया में—जहाँ इन रुपयों से काम हो रहा था—फिर भी शराब की बिक्री होने लगी होगी, तथापि मुझे विश्वास है कि जब फिर हमको समय मिलेगा, उनकी इच्छा पूरी की जायगी।

यहाँ एक और घटना का भी जिक्र कर देना अनुपयुक्त न होगा। खादी के काम करनेवालों में एक युवक थे श्री बब्रनसिंह। सारन जिले के गोपालगंज सब-डिवीजन के कैथवलिया गाँव के रहनेवाले थे। बड़े भावुक थे। मुखतारकारी की परीक्षा के लिए तैयारी कर रहे थे। परंतु देश की पुकार सुनकर वह विचार छोड़ खादी के काम में लग गये। घर के कुछ धनी नहीं थे। बहुत छोटी वृत्ति के आदमी थे। अपने पैसे से खादी और चर्खे का प्रचार उन्होंने शुरू कर दिया। अपनी जमीन तथा पत्नी के जेवर तक बेच डाले। इतना करने के बाद उन्होंने खादी-बोर्ड से अपनी हालत कही। उस बोर्ड की ओर से उन्हें सहायता देने का निश्चय हुआ। इसी अवसर पर वह बीमार पड़ गये। उन्माद के लक्षण उनमें दीखने लगे। वह बार बार कहते कि उनको साँप काट डालेगा। हमेशा चर्खा और खद्दर के गीत गाते रहते। कभी-कभी बिगड़ भी जाते। इसलिए लोगों ने उनको एक घर में बन्द कर रखा था। एक दिन रात के समय चिल्लाकर कहने लगे कि साँप आ गया और वह उससे लड़ रहे हैं। पहले तो लोगों ने उसे पागल का प्रलाप ही समझा। पर जब लोगों ने जाकर देखा तो सचमुच एक गेहुँअन साँप को वह हाथ में पकड़े हुए थे। उसने उनको कई जगह काट लिया था। उन्होंने साँप को तो मार डाला, पर स्वयं भी कुछ देर में उसके विष से मर गये।

श्री बब्बनसिंह की स्त्री ने, उनकी बीमारी के आरंभ के दिन से ही, अन्न खाना छोड़ दिया था। जब चौबीसवें दिन उनकी मृत्यु हो गयी, उसने स्नानादि कर सती होने की इच्छा प्रकट की। लोगों ने ऐसा नहीं करने दिया। उनके शव को दाह-क्रिया के लिए ले गये। उसने बहुत जोर लगाया, पर लोगों ने उसे जबरदस्ती बन्द कर रखा। उस समय वह शान्त हो गयी। चुप रहने लगी। अपने घर में, जिसका एक कोना बहुत अँधेरा था, रहा करती। उसी कोने में कुछ रुई और खादी रखी हुई थी। तीन-चार दिनों के बाद एक रात वह अपने घर में सोने गयी। बब्बनसिंह के दो भाई बाहर के घर में सोये। किसी ने कुछ सन्देह न किया। सवेरे वह नहीं उठी। तब लोगों को सन्देह हुआ। जब लोगों ने उस कोठरी के अन्दर जाकर देखा तो पाया कि 'रामसूरत' (यही उसका नाम था) एक हाथ में गीता लिये और दूसरे हाथ पर टेक दिये बैठी है। बदन छूने पर मालूम हुआ कि पैर के अँगूठे से लेकर छाती तक शरीर जलकर खाक हो गया है और बाकी हिस्सा ज्यों का त्यों है। पीठ पर लटके हुए सिर के लम्बे केश कुछ जल गये थे, पर आँखों की पपनियों पर जलने का कुछ निशान न था। वहीं पर खादी और रुई भी यों ही बची पड़ी थी—उसके तन से तीन-चार फुट के अन्दर दो तरफ। घर में जलावन की कुछ लकड़ी रखी गयी थी, जो गायब थी; पर वह इतनी नहीं थी कि उसके शरीर को खाक कर सके। इस तरह उस देवी ने अपना सतीत्व प्रमाणित करके देह-त्याग किया। इस घटना की खबर पाकर मैं वहाँ गया। वहाँ के लोगों ने जैसी सब बातें कहीं, मैंने पत्रों में प्रकाशित करा दीं। घटना विचित्र थी। इसमें कुछ चमत्कार भी अवश्य था। बहुतेरे लोग उस स्थान के दर्शनों के लिए आये थे। मैंने भी, घरवालों को सांत्वना देने के अलावा, इस साध्वी के स्थान को देखकर अपने को धन्य माना।

५९—देशबन्धु दास का देहावसान

देशबन्धु दास का स्वास्थ्य बेलगाँव-काँग्रेस के समय से ही खराब होने लगा। वह कुछ दिनों तक पटने में ही अपने भाई श्री प्रफुल्लरंजन (पी० आर०) दास के साथ आकर ठहरे थे। उस समय मैं उनसे अकसर जाकर मिलता रहा। उन्होंने चर्खा चलाना सीखना प्रारंभ किया। मुझसे कहा कि तुम खुद सिखाओ या सिखाने के लिए किसी आदमी को नियुक्त कर दो। इस सम्बन्ध में बातें करते-करते उन्होंने कहा कि इस प्रकार के काम में हमारा हाथ नहीं चलता और न बुद्धि ही ठीक चलती है—यदि मुझ पर छोड़ दिया जाय तो मैं शायद अपने ट्रंक का ताला भी ठीक नहीं खोल सकता। मैंने कई दिनों तक सूत-कताई सिखलाई। फिर जब मुझे कहीं बाहर जाना पड़ा तो एक दूसरे मित्र उनके पास इस काम के लिए जाया करते थे। पटने में उनसे राजनीतिक बातें भी हुआ करती थीं। उन्हीं दिनों लार्ड बर्केनहेड भारत-मंत्री नियुक्त हुए थे। यों तो वह बड़े कट्टर कन्सर्वेटिव (अनुदार-दल के) और पक्के साम्राज्यवादी थे; पर देशबन्धु दास का विचार था कि वह प्रतिभाशाली और

एकबग्गा मिजाज के भी हैं, हो सकता है कि हिन्दुस्तान के सम्बन्ध में वह कुछ कर जाना चाहें। इसलिए, कुछ भीतर-भीतर बात भी शायद चली। उनको बहुत आशा थी कि कुछ न कुछ उस वक्त हो जायगा, जिससे भारत और इँगलैंड के बीच सुलह-शान्ति हो सकेगी। वह यहाँ तक कहा करते कि बर्केनहेड से यदि मेरी आशा पूरी न हुई तो देश को हमारे सामने उठाने के लिए गांधीजी के चर्खे के सिवा और कुछ भी न रह जायगा।

१९२३ के चुनाव में, जैसा पहले कहा गया है, स्वराज्य-पार्टी ने भाग लिया था। दिल्ली में काँग्रेस के विशेष अधिवेशन ने इसकी इजाजत दे दी थी; पर कौन्सिल के कार्यक्रम को अपने हाथों में नहीं लिया था। इसलिए स्वराज्य-पार्टी को उस चुनाव में उतनी सफलता नहीं मिली थी जितनी उसे काँग्रेस की मदद से मिलती; तो भी बंगाल और मध्यप्रदेश में उनकी एक अच्छी संख्या कौन्सिल में पहुँची। इसी तरह, केन्द्रीय असम्बली में, दिल्ली में भी एक अच्छी संख्या में स्वराजी लोग चुने गये। यद्यपि यथेष्ट सफलता न हुई तथापि कुछ अच्छे लोग कौन्सिलों में पहुँच ही गये। उन्होंने वहाँ की कार्रवाइयों में एक नयी रीति और नयी दृष्टि का समावेश कर दिया। मध्य-प्रदेश में तो स्वराजियों का बहुमत था। वहाँ उन्होंने बजट और मंत्रियों के मुशाहरे को नामंजूर कर दिया। गवर्नर को मजबूर होकर मंत्रियों को हटाना और सारा अधि-कार अपने हाथों में ले लेना पड़ा। इसी तरह, यद्यपि उनका बहुमत बंगाल में नहीं था, देशबन्धु दास के व्यक्तित्व और प्रयत्न के कारण, वहाँ का मंत्रिमंडल भी टूट गया। बंगाल के गवर्नर को भी सब अधिकार अपने ही हाथों में ले लेना पड़ा था। केन्द्रीय असम्बली में पंडित मोतीलालजी स्वराज्य-पार्टी के नेता थे। दूसरे दल और विचार-वालों के साथ मिलकर वहाँ भी बजट नामंजूर करा दिया गया। बड़े लाट को अपने विशेष अधिकार के द्वारा उसे मंजूर करना पड़ा। यह सिलसिला दो बरसों तक चलता रहा। बंगाल में देशबन्धु ने दमन-सम्बन्धी बिल को भी नामंजूर करा दिया। इन सब बातों का असर देश के लोगों पर बहुत अच्छा पड़ा था। किन्तु सरकारी अधिकारि-वर्ग उतना ही नाराज भी हुआ था। महात्माजी के समझौते के कारणों में स्वराज्य-पार्टी की यह सफलता भी एक मुख्य कारण थी। पर यह स्पष्ट था कि इस तरह की कार्रवाई बहुत दिनों नहीं चल सकती थी। केन्द्रीय असम्बली में जो दूसरे दलों के साथ बातचीत करके एक पार्टी बनायी गयी थी वह आहिस्ता-आहिस्ता कमजोर पड़कर टूट गयी। स्वराज्य-पार्टी दूसरे दलों से अलग हो गयी। मध्यप्रदेश में भी भीतर-भीतर, स्वराजियों में ही, मन्त्रिमंडल बनाने की कुछ मुँहामुँही होने लगी, जिसमें विशेषकर बरार प्रान्त के कुछ सदस्य इसके मुख्य समर्थक थे। इन सब बातों को देखकर ही देशबन्धु दास, जो अनुभवी और दूरदर्शी दोनों ही थे, विचार कर रहे थे कि इस मौके पर यदि प्रतिष्ठा-पूर्वक कोई समझौता इँगलैंड के साथ हो जाय तो बहुत अच्छा होगा।

गवर्नमेण्ट ने नये आर्डिनेन्स और १९१८ के रेगुलेशन के अनुसार गिरफ्ता-

रियाँ करके दिखा दिया था कि वह किसी तरह के क्रान्तिकारियों को पनपने देना नहीं चाहती। यह नया आर्डिनेन्स तथा ये गिरफ्तारियाँ, लेबर-पार्टी (मजदूर-दल) की मंजूरी से ही, जिसके प्रधान मंत्री श्री रामजे मैकडोनल्ड थे, हुई थीं। लेबर-पार्टी के चुनाव में हार जाने पर कंसर्वेटिव-पार्टी (अनुदार-दल) का मंत्रिमंडल बन गया था। उसी में लार्ड बर्केनहेड भारत-मंत्री बने थे। उन्हीं से देशबन्धु दास आशा रखते थे। उनके लिए देशबन्धु ने अपने जानते रास्ता भी साफ कर दिया। देशबन्धु जानते थे कि अँगरेजों को सन्देह है कि बंगाल की स्वराज्य-पार्टी और देशबन्धु दास भीतर-भीतर क्रान्तिकारियों की मदद करते हैं। अँगरेजों के दिल में यह सन्देह, गोपीनाथ साहा-सम्बन्धी उनके सिराजगंजवाले प्रस्ताव से, और भी पुष्ट हो गया था। देशबन्धु ने सोचा कि अँगरेज किसी प्रकार का समझौता उस वक्त तक नहीं करेंगे जब तक उनके दिल में यह सन्देह बना रहेगा। यह बात उनको अँगरेजों से बातचीत करके मालूम हो गयी थी। इसलिए इसे दूर करना उन्होंने आवश्यक समझा। एक वक्तव्य प्रकाशित करके उन्होंने यह साफ-साफ कह दिया कि काँग्रेस या स्वराज्य-पार्टी ने भी उस नीति का समर्थन नहीं किया है, जिसमें हत्या जायज समझी जाती है और स्वराज्य-पार्टी के विचार में इस प्रकार की हत्याओं से स्वराज्यप्राप्ति के रास्ते में रोड़े पड़ जाते हैं; इसलिए वह न कभी पहले इसके समर्थक थे, न अब इसका किसी तरह समर्थन कर सकते हैं। साथ ही, उन्होंने स्वराज्य-पार्टी की अड़ंगा-नीति को जायज बनाया। और, जब तक समझौता द्वारा कुछ तय होकर अधिकार हस्तान्तरित न हो जाय, उस नीति को जारी रखने की बात भी कह दी। इस वक्तव्य के पहले अंश से अँगरेज संतुष्ट हुए। यहाँ तक कि लार्ड बर्केनहेड ने भी इस पर अपनी प्रसन्नता प्रकट की; पर साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि हिन्दुस्तानियों को विधान चलाने में सहयोग करना चाहिए, जब वे ऐसा करेंगे तभी राजनीतिक प्रगति हो सकेगी। देशबन्धु दास इतने पर भी बिल्कुल निराश न हुए। उन्हीं दिनों फरीदपुर में बंगीय राजनीतिक सम्मेलन होनेवाला था। देशबन्धु उसके सभापति चुने गये थे।

गांधीजी ने उन्हीं दिनों बंगाल की यात्रा की। प्रान्तीय सम्मेलन (फरीदपुर) में वह भी शरीक हुए। देशबन्धु दास ने अपने भाषण में उन्हीं विचारों और उसी आशा को प्रकट किया। पर उनकी आशा पूरी न हुई! उनका स्वास्थ्य दिन-दिन बिगड़ता ही गया। वह दार्जिलिंग चले गये। महात्माजी भी वहाँ गये। जब वे दोनों दार्जिलिंग में थे, मैं भी जलपाईगुड़ी तक गया। मेरा उद्देश्य था गांधीजी को बंगाल से बिहार लाने का। इसीलिए मैं वहाँ तक गया भी। पर अपने स्वास्थ्य के कारण मैं पहाड़ पर नहीं गया। श्री मथुराप्रसादजी को ही गांधीजी के पास भेजा। महात्माजी राजी भी हुए। पर इसी बीच में देशबन्धु की अचानक मृत्यु हो गयी। सारे देश में उनकी असामयिक मृत्यु से मुर्दनी छा गयी। उनका शव कलकत्ते लाया गया। वहाँ अभूतपूर्व दृश्य देखने में आया। इतने अधिक लोग जलूस में शरीक हुए कि शायद ही कभी किसी दूसरे जलूस में उतने हुए हों। महात्माजी भी कलकत्ते में आ गये। वह देशबन्धु-

स्मारक के लिए रुपये जमा करने तथा बंगाल के राजनीतिक नेताओं से वहाँ की स्थिति सुलझाने के सम्बन्ध में बातें करने में लग गये। इसलिए कुछ दिनों तक उनका बिहार में आना न हो सका।

६०—सामाजिक सुधार

उन्हीं दिनों मेरे घर में दो शादियाँ थीं। एक मेरी छोटी भतीजी 'रमा' की—लखनऊ के श्री विद्यादत्त राम के साथ, और दूसरी मेरे बड़े लड़के मृत्युञ्जय की—श्री व्रजकिशोरप्रसादजी की छोटी लड़की 'विद्यावती' के साथ। लखनऊ की बरात बहुत तुजुक के साथ आयी थी। आदमी कुछ ज्यादा नहीं थे; पर बहुत प्रतिष्ठित घराने के होने के कारण उन लोगों की शान बहुत थी। सब प्रबन्ध हम लोगों को ही करना पड़ा था। भाई साहब ने बहुत इन्तजाम किया था। बाबू हरिजी ने इस शादी के ठीक होने में बड़ी मदद की थी। वे लोग उनके निकट सम्बन्धी थे। हम लोग यह नहीं चाहते थे कि किसी को कोई शिकायत हो। इसलिए ठहरने के लिए खीमों और खान-पान के लिए बहुत ही नफासत का इन्तजाम था। इसके ठीक उलटा, मृत्युञ्जय की शादी बड़े सादे तरीके से हुई। हमने तो अपने घर के तीनों लड़कों में से किसी की शादी में तिलक-दहेज नहीं लिया; पर तीनों लड़कियों की शादी में तिलक-दहेज काफी देना पड़ा था। कहीं-कहीं तो जबरदस्ती, इच्छा से अधिक, देना पड़ा था। इस सम्बन्ध में हमारे अनुभव हमेशा कटु रहे हैं। हमारे समाज में कुरीतियाँ काफी हैं। जब तक वे दूर नहीं होतीं, लड़की का होना और उसकी शादी की झंझट हमारे लिए दुःखदायी साबित होती रहेगी। कायस्थों में, विशेषकर श्रीवास्तवों और अम्बष्ठों में, बहुत सुधार की जरूरत है।

कायस्थ कान्फ्रेन्स (अखिल भारतीय) का जन्म प्रायः काँग्रेस के साथ ही हुआ था। मेरा खयाल है कि शायद पहले अधिवेशन में ही इस बात पर जोर दिया गया कि लड़की के पिता से कई नामों से तिलक-दहेज की रकमें लेने की प्रथा बहुत बुरी है, उसको रोकना चाहिए। प्रायः प्रत्येक अधिवेशन में इस आशय के प्रस्ताव पास किये गये हैं! पर जो कान्फ्रेन्स के कर्ता-धर्ता होते उनमें बहुतेरे स्वयं ही इस प्रस्ताव की अवहेलना करते! अनेक तो ऐसे भी हुए हैं जिन्होंने कान्फ्रेन्स द्वारा प्राप्त प्रतिष्ठा को अधिक तिलक-दहेज लेने का कारण बना लिया! चूँकि कान्फ्रेन्स के सभापति अथवा अन्य उच्चपदाधिकारी होने के कारण कायस्थों में उनकी बहुत प्रतिष्ठा हो गयी, इसलिए उन्होंने अधिक पैसे उगाहे! इसलिए, कायस्थ कान्फ्रेन्स, सब जातीय कान्फ्रेन्सों में पुरानी होने पर भी, अपने उद्देश्यों की सिद्धि में बहुत सफल नहीं हुई है।

जब मैं १९१६ में कलकत्ते से पटने में वकालत करने के लिए आया, उसके थोड़े ही दिनों के बाद कुछ कायस्थ मित्रों ने मुझसे एक प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कराया। उसका आशय यह था कि लड़के की शादी में, प्रत्यक्ष वा परोक्ष रीति से, किसी नाम से, लड़की के पिता या दूसरे सम्बन्धियों से, ५१) से अधिक हम नहीं लेंगे।

मेरा विचार इसके पक्ष में पहले से ही था। इसलिए मैंने खुशी से प्रतिज्ञा-पत्र पर दस्तखत कर दिया। भाई साहब इस विषय में बहुत ही कट्टर विचार के थे। वह तो यह भी मानते थे कि जो कोई तिलक-दहेज अधिक लेता है या शादी में नाच-महफिल में अधिक खर्च करता है उसकी बरात में जाना ही न चाहिए। इसलिए, हमारे घर में, इन शर्तों के मानने में कोई कठिनाई नहीं थी। तीन में से मेरी दो भतीजियों की शादी इसके पहले ही हो चुकी थी। उनमें हमको तिलक-दहेज देने पड़े थे। अब केवल एक लड़की ब्याहने को थी। पर तीन लड़के थे, जिनमें किसी की शादी नहीं हुई थी। इसलिए, जहाँ देने का सवाल था वहाँ तो हम घाटे में रहे, और जहाँ कुछ पाने की आशा की जा सकती थी वहाँ भी हमने प्रतिज्ञा करके उसका रास्ता ही बन्द कर दिया! पर यह हमने किया जान-बूझकर। उसी प्रतिज्ञा के कारण तीनों लड़कों की शादियाँ नयी रीति से, बिना तिलक-दहेज और बिना नाच-तमाशे के, हुईं। पर कन्या-पक्ष के होने के कारण हमें तीनों लड़कियों की शादियों में तिलक-दहेज देने पड़े। हमें उन सभी यातनाओं को भोगना पड़ा, जो हमारे समाज में लड़की के पिता और अभिभावकों को भोगनी पड़ती हैं।

इसके बाद, उसी साल के अन्त में (१९२५ के दिसम्बर में), जब मैं कायस्थ-कान्फ्रेन्स के जौनपुर-अधिवेशन का सभापति चुना गया तो मैंने उसे इसलिए स्वीकार कर लिया कि शायद वहाँ जाकर कम से कम इस कुप्रथा को रोकने में कुछ कृतकार्य हो सकूँ। वहाँ उस कान्फ्रेन्स में दो प्रस्ताव, पुराने होने पर भी, मार्के के हुए। एक तो तिलक-दहेज-सम्बन्धी था जिसमें हमने प्रतिज्ञा को और भी कड़ी बना दिया। उसी प्रस्ताव में, ऐसी शादी में, जहाँ प्रस्ताव का उल्लंघन होता हो, शरीक न होने की भी प्रतिज्ञा जोड़ दी गयी। दूसरे में, कायस्थों के विभिन्न वर्गों और शाखाओं में रोटी-बेटी के व्यवहार जारी करने पर जोर दिया गया। जहाँ तक मैं जानता हूँ, तिलक-दहेज की प्रथा तो उसके बाद भी जारी रही। शायद जारी रहेगी भी; क्योंकि आज के अनेक युवक तो शादी की शर्तों में कहीं-कहीं अपनी शिक्षा—विशेषकर विदेश की शिक्षा—के खर्च की माँग भी पेश कर देते अथवा दूसरी फरमाइशें स्वयं कर देते हैं। इसलिए यह आशा भी नहीं की जा सकती कि पुराने विचारवाले बड़े-बूढ़े जब गुजर जायँगे तो इस सुधार का रास्ता साफ हो जायगा; क्योंकि जिन पर आगे की आशा की जा सकती थी उनमें बहुतेरे तो पुरानों से भी अधिक व्यापार-बुद्धि रखनेवाले साबित हो रहे हैं! पर यह संतोष का विषय है कि अन्तर्वर्गीय विवाह कायस्थों में होने लगे हैं। अब कोई इस बात के मानने में नहीं झिझकता कि लड़के या लड़की की शादी किसी दूसरी शाखा के वंश में करना भी उचित और ग्राह्य है। अब तो कम उम्र की छोटी विधवाओं की शादी भी हो जाती है। उस समय तक इस सम्बन्ध में मेरे विचार साफ नहीं हुए थे। पर इसके बाद ही मैंने भी मान लिया कि विधवा-विवाह, विशेषकर छोटी उम्र की लड़कियों का, होना अनिवार्य्य है। ऐसी कुछ शादियों में अपनी सम्मति देकर मैंने प्रोत्साहन भी दिया है।

६१—बिहार में महात्मा गांधी का दौरा और कौंसिल का चुनाव

पहले कहा जा चुका है कि बेलगाँव-काँग्रेस ने उस समझौते को मंजूर कर लिया था जिसके अनुसार काँग्रेस की नियमावली में परिवर्तन करके काँग्रेस-सदस्य बनने के लिए पैसे के बदले में दो हजार गज सूत देना और काँग्रेस-सम्बन्धी अवसरों पर खादी पहनना अनिवार्य कर दिया गया था। कुछ लोग इसके गहरे विरोधी थे। काँग्रेस के बाहर के लोग, जिनसे काँग्रेस में शरीक होने की आशा की जाती थी, इसके विरुद्ध थे ही। काँग्रेस के अन्दर भी एक जमात थी जो इसका पूरा विरोध करती थी। स्वराज्य-पार्टी ने इसे मंजूर कर लिया था; पर उसके कुछ मुख्य सदस्य ऐसे थे जिन्होंने इसे कभी दिल से स्वीकार नहीं किया था। बेलगाँव के बाद भी यह कहा जाता रहा कि सूत और खादी की शर्त लगाकर काँग्रेस ने अपने क्षेत्र को और भी संकुचित कर दिया—अब उसके सदस्यों की संख्या बहुत कम होकर रहेगी। गांधीजी की आशा थी कि सब लोग मिलकर यदि जोर लगावेंगे तो बहुतेरे चर्खा चलानेवाले हो जायँगे, और यदि सदस्यों की संख्या कम भी होगी तो जो रह जायँगे वे पक्के और काम करनेवाले होंगे जिन पर पूरा भरोसा किया जा सकेगा। पर यह आशा पूरी न हुई! बहुत प्रयत्न के बाद भी काँग्रेस के सदस्यों की संख्या बहुत कम हो गयी। गांधीजी इससे प्रभावित हुए। उन्होंने यह विचार प्रकट कर दिया कि स्वराज्य-पार्टीवाले अगर चाहें तो उनको वह समझौते की शर्तों से मुक्त कर देंगे और केवल सूत की जगह सूत अथवा चार आने पैसे काँग्रेस की मेम्बरी के शुल्क के रूप में दिया जाना मंजूर कर लेंगे। पर गांधीजी इस बात पर राजी होना नहीं चाहते थे कि सूत की बात एकदम उठा दी जाय और—जैसा कुछ लोग चाहते थे—खद्दर की शर्त भी उठा दी जाय। उन्होंने पंडित मोतीलालजी के साथ बातें कीं। यह निश्चय हुआ कि नियमावली में फिर संशोधन कर दिया जाय; साथ ही यह भी तय हो जाय कि जो रुपये खादी के काम में लगे हैं वे उसी काम में लगे रहें, और खादी-प्रचार के लिए एक अलग संस्था कायम कर दी जाय जो काँग्रेस का अंग होते हुए भी स्वतंत्र हो, तथा स्वराज्य-पार्टी को काँग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रम के चलाने का पूरा अधिकार दे दिया जाय।

महात्मा गांधी कुछ दिनों के बाद बंगाल का काम पूरा करके बिहार का दौरा करने के लिए आये। बिहार के दौरे का आरम्भ छोटानागपुर से ही किया गया। इसका विशेष कारण यह था कि बिहार-प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन उस साल पुरुलिया में, शाह महम्मद जुबैर के सभापतित्व में, होनेवाला था। वहाँ के लोगों ने बहुत उत्साह के साथ तैयारियाँ की थीं। छोटानागपुर में प्रान्तीय सम्मेलन का यह पहला ही अधिवेशन हो रहा था। उन लोगों की प्रबल इच्छा थी कि महात्माजी भी वहाँ पधारें। गांधीजी ने इसे मंजूर कर लिया। एक तरह से उनकी यात्रा वहीं से शुरू हुई। इसके कुछ पहले ही महात्माजी एक बार जमशेदपुर आ गये थे। वहाँ मजदूर-संगठन में देशबन्धु दास दिलचस्पी ले रहे थे। वहाँ युनियन

(संघ) भी कायम हुआ था। पर अभी तक उसको ताता-कम्पनी ने मंजूर नहीं किया था। इस समय, देशबन्धु के बाद, श्री दीनबन्धु एण्डरूज उसके सभापति चुने गये थे। उनके अनुरोध से महात्माजी ने वहाँ जाना मंजूर कर लिया था। कम्पनी के मैनेजिंग डाइरेक्टर श्री आर० डी० टाटा वहाँ आये। कम्पनी की ओर से महात्माजी का बड़ा स्वागत हुआ। मैं भी महात्माजी के साथ था। दो दिनों तक वहाँ ठहर कर उन्होंने कारखाने को भी खूब देखा। डाइरेक्टरों से बातें भी कीं। नतीजा इसका यह हुआ कि युनियन को ताता-कम्पनी ने मान लिया; मजदूर-मेम्बरों के मुशाहरे से काटकर उसका चन्दा जमा कर देने का भी वचन दिया। जो दूसरी शिकायतें थीं उनको भी दूर कर दिया। हर तरह से यह यात्रा बहुत सफल रही।

पुरुलिया का सम्मेलन बहुत समारोह के साथ हुआ। महात्माजी बम्बई की तरफ से आये। उनको हमने 'सीनी' में डाकगाड़ी से उतारा। समय की बचत के लिए, वहाँ से पुरुलिया तक उन्हें एक स्पेशल ट्रेन से ले आये। सम्मेलन में विशेषता यह थी कि एक अच्छी प्रदर्शनी उसके साथ हुई थी जिसका उद्‌घाटन गांधीजी ने किया था। सम्मेलन समाप्त करके गांधीजी ने छोटानागपुर की यात्रा आरम्भ कर दी। उमीद थी कि वह सारे सूबे का दौरा कर सकेंगे। मैंने देखा है कि महात्माजी जब कभी दौरा करने निकलते हैं तो लोगों की इच्छा रहती है कि वह अधिक से अधिक स्थानों में ले जाये जायँ ताकि वहाँ की जनता उनके दर्शनों से लाभ उठा सके। यह एक प्रकार से स्वाभाविक भी है; पर यह कहीं-कहीं अन्दाज से अधिक हो जाता है। मुझे मानना पड़ता है कि इस प्रवृत्ति का शिकार, चाहे अपने मन से या मित्रों के अनुरोध से, मैं भी हो चुका हूँ। जो यात्राक्रम बनाया गया वह बहुत ही कड़ा बना। महात्माजी का स्वास्थ्य, जो महीनों के दौरे से पहले से ही क्षीण हो गया था, उसे बर्दाश्त न कर सका। हमने यात्रा को दो भागों में बाँटा था—पहले में छोटानागपुर, दूसरे में बिहार के अन्य जिले। छोटानागपुर की यात्रा समाप्त करके पटने में अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी की बैठक के लिए कुछ ठहरना और फिर दूसरे जिलों में जाना था। छोटानागपुर की यात्रा में ही महात्माजी बहुत थक गये। अन्तिम दिन, हजारीबाग-जिले का काम समाप्त करके 'कोडरमा' स्टेशन पर रेल में सवार होते-होते, वह बेहोश-से हो गये। मैं भी साथ था। किसी भी प्रकार से भीड़-भाड़ को रोकना कठिन हो रहा था। उनकी तबीयत कितना ज्यादा खराब हो गयी है, इसका भी पूरा पता हम लोगों को न था। अब बात खुल गयी। हमने बिहार के बाकी कार्यक्रम को कुछ समय के लिए स्थगित कर दिया। महात्माजी को पटने में, गंगाजी के किनारे एक कोठी में, कुछ दिनों तक आराम करने के लिए, ठहराने का निश्चय किया। इससे उनको बहुत लाभ पहुँचा। बिहार के लोग जहाँ-तहाँ से आकर दर्शन भी करते रहे।

उसी समय अखिल भारतीय कमिटी की बैठक पटने में हुई जिसमें यह निश्चय हुआ कि काँग्रेस की नियमावली में संशोधन और उपरोक्त परिवर्त्तन कर दिया जाय। इस बात की भी इजाजत हो गयी कि काँग्रेस का सारा राजनीतिक प्रोग्राम, जिसमें

कौन्सिलों का चुनाव भी शामिल था, स्वराज्य-पार्टी ही पूरा करे; काँग्रेस की ओर से उमीदवार खड़े किये जायँ और इसके प्रबन्ध का भार स्वराज्य-पार्टी के नेता पंडित मोतीलाल नेहरू लें। वहीं यह भी तय हुआ कि काँग्रेस के जो रुपये खादी-प्रचार के काम में लगे हैं वे—काँग्रेस से सम्बद्ध, पर अपने काम के लिए स्वतंत्र—एक नयी संस्था को सौंप दिये जायँ। इस तरह अखिल भारतीय चर्खा-संघ का जन्म हुआ। उसका विधान गांधीजी ने बनाया। उसके कई आजीवन ट्रस्टी वा प्रबन्ध-कारिणी के सदस्य हुए। उनमें एक मैं भी हुआ और आज तक हूँ। महात्माजी सभापति हुए। इसके अलावा, प्रत्येक सूबे के काम की देख-रेख करने के लिए एक एजेण्ट नियुक्त किया गया। उसकी सहायता के लिए प्रान्तीय मंत्री की भी नियुक्ति हुई। बिहार के लिए मैं एजेण्ट नियुक्त हुआ, युक्तप्रान्त के लिए पंडित जवाहरलाल, बंगाल के श्री सतीशचन्द्र दास गुप्त, तामिलनाड के श्री राजगोपालाचारी प्रभृति। इस प्रकार यह संघ, एक प्रकार से स्वतंत्र होकर, खादी-प्रचार का काम करने लगा। इसने पिछले सत्रह-अठारह बरसों में खादी-प्रचार में और उसकी कला की उन्नति में बहुत बड़ा काम किया है। जब ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, अगर सरकार इसके कारबार को जहाँ-तहाँ तहस-नहस न कर दिये होती तो, आज कपड़े की महँगी के दिनों में इसकी उपयोगिता और भी देखने में आती। इतने दिनों में इसने करोड़ों रुपये गरीबों को, विशेषकर उन गरीब स्त्रियों को जो दूसरा कोई काम नहीं कर सकती थीं, मजदूरी के रूप में बाँटा है।

जब यह निश्चय कर लिया गया कि काँग्रेस की ओर से चुनाव की लड़ाई लड़ी जाय, तो पंडितजी ने मुझसे कहा कि बिहार का भार तुमको सँभालना होगा। यद्यपि मैं इस विषय में अपने वही विचार रखता था जो पहले थे, फिर भी मैंने सोच लिया कि काँग्रेस ने जब निश्चय कर लिया है तो उसकी जीत कराने में यथासाध्य प्रयत्न कर देना ही हमारा धर्म है। मैंने पंडितजी को वचन दे दिया और वह निश्चिन्त हो गये।

उसके थोड़े ही दिनों बाद सबसे पहले कौन्सिल आफ स्टेट का चुनाव हुआ। उसमें बिहार के एक मुसलमान और तीन गैर-मुस्लिम सदस्य चुने जाने को थे। मुस्लिम स्थान के लिए शाह महम्मद जुबैर और गैर-मुस्लिम स्थानों के लिए सर्वश्री श्रीकृष्णसिंह, अनुग्रहनारायणसिंह और मेरे भाई बाबू महेन्द्रप्रसाद खड़े किये गये। विरोधियों में दरभंगा के महाराजाधिराज और डुमराँव के महाराजा बहादुर प्रभृति थे। चुनाव में परिश्रम काफी पड़ा; क्योंकि मत देनेवाले विशेषकर धनी वर्ग के—जमीन्दार, महाजन और व्यापारी—थे। उनकी संख्या बहुत नहीं थी, पर उनको किसी एक स्थान में आकर मत नहीं देना था। वे स्वयं भी किसी सरकारी उच्चपदाधिकारी के सामने कागज पर दस्तखत करके अपना सम्मति-पत्र डाक से भेज सकते थे। इसलिए एक प्रकार से कागज बटोरने की होड़-सी लग गयी। मतदाताओं के पास कागजों के पहुँचने के बाद जितना जल्द उनसे दस्तखत कराकर अपने पक्ष में भिजवाया जा

सके उतनी अधिक सफलता की आशा हो सकती थी। इसके अलावा, उड़ीसा भी बिहार के साथ था; वहाँ के वोट भी बटोरने थे! हम लोगों के प्रयत्न से शाह जुबैर साहब, बाबू अनुग्रहनारायणसिंह और बाबू महेन्द्रप्रसाद चुन लिये गये। चौथी जगह में दरभंगा के महाराजाधिराज चुने गये। श्रीबाबू के हारने का हम लोगों को काफी अफसोस रहा; पर लाचारी थी। यह सब १९२५ का अन्त होने के पहले ही हो चुका था।

६२—स्वराज्य-पार्टी में मतभेद और कानपुर-काँग्रेस

ऊपर उस प्रयत्न का जिक्र आया है जो सब दलों को काँग्रेस में शरीक करने के लिए किया गया था। यह भी कहा गया है कि बेलगाँव-काँग्रेस के पहले ही अखिल भारतीय कमिटी ने असहयोग को स्थगित करके केवल विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार को जारी रखा था। साथ ही उसने रचनात्मक कार्यक्रम पर भी जोर दिया था। काँग्रेस की ओर से कौन्सिलों में राजनीतिक काम करने का अधिकार स्वराज्य-पार्टी को दे दिया गया था। इससे आशा की जाती थी कि दूसरे दलवाले काँग्रेस में आ जायँगे। जो सर्व-दल-सम्मेलन बम्बई में हुआ उससे आशा और भी बढ़ी थी। पर खेद है कि यह आशा पूरी न हुई। सर्व-दल-सम्मेलन ने जो सब-कमिटी नियुक्त की थी वह किसी नतीजे पर न पहुँच सकी। अपनी असफलता घोषित करके वह चुप बैठ गयी! पर इसके बाद भी किसी न किसी रूप में मिलाप की चर्चा होती ही रही। नरम दलवालों और जिन्ना-जैसे लोगों को दो-तीन बातों की शिकायत थी। एक बात तो यह थी कि काँग्रेस ने यद्यपि उस वक्त असहयोग स्थगित कर दिया था तथापि उसने उसे एकबारगी हमेशा के लिए छोड़ नहीं दिया था। काँग्रेस के असहयोग और सत्याग्रह को हमेशा के लिए छोड़ देने की बात तो दूर रही, उनके लिए तो वह देश को तैयार करना चाहती थी, और इस विषय में अपरिवर्तनवादी तथा स्वराजी दोनों सहमत थे। इन दोनों में मतभेद इस विषय में नहीं था—जो भेद था वह यह था कि कौन्सिलों के द्वारा देश को तैयार करने में मदद मिलेगी या बाधा पड़ेगी। अपरिवर्तनवादी लोग कौन्सिल के कार्य को सत्याग्रह के रास्ते में बाधक समझते थे। स्वराजी लोग कौन्सिलों को भी देश की तैयारी में लगाना चाहते थे। दूसरी बात यह थी कि काँग्रेस खादी और चर्खे के प्रचार पर बहुत जोर ही नहीं देती थी, बल्कि उसने बेलगाँव में खादी पहनने को—कम से कम काँग्रेस के काम में लगे रहने के समय—अनिवार्य्य कर दिया था। उसने मेम्बरी के लिए सूत कातना भी अनिवार्य्य कर दिया था। काँग्रेस के बाहर के लोग न तो चर्खे में विश्वास करते थे और न खादी पहनने की जरूरत ही महसूस करते थे। काँग्रेस के अन्दर भी कुछ लोग इस विचार के थे, जिनमें मुख्यतः महाराष्ट्र के कुछ लोग थे; पर उनकी संख्या थोड़ी थी। तीसरी चीज, जिससे बाहरी लोग घबराते थे, यह थी कि काँग्रेस ने कौन्सिल के काम का भार और अधिकार स्वराजियों को सौंप दिया है। बाहरी लोगों में अधिक ऐसे ही लोग थे जो इन कौन्सिलों को विशेष महत्त्व देते थे। वे यह समझने लगे कि काँग्रेस के अन्दर जाकर

भी वे इन कौन्सिलों में अपने लिए स्थान सुरक्षित न कर सकेंगे और न वहाँ अपनी नीति किसी प्रकार चला सकेंगे; क्योंकि वहाँ तो नीति स्वराजियों की ही चलेगी। वे उस अड़ंगा-नीति को पसन्द नहीं करते थे और मानते यह थे कि मंत्रि-मंडल में सबको भाग लेकर विधान को काम में लाना चाहिए। इसलिए जो कुछ थोड़ी-बहुत आशा कभी-कभी अंकुरित भी हुई, वह इन मौलिक मतभेदों के कारण शीघ्र ही मुर्झा गयी। पटने में अखिल भारतीय कमिटी ने, सितम्बर १९२५ में, स्वराज्य-पार्टी को ही काँग्रेस का संगठन एक प्रकार से सिपुर्द कर दिया। अब बाहर के लोगों का काँग्रेस में शरीक होना और भी कठिन हो गया।

ऊपर यह भी कहा जा चुका है कि स्वराज्य-दल के अन्दर, विशेषकर मध्यप्रदेश में, जहाँ असम्बली में उनका बहुमत था, देशबन्धु दास के अन्तिम दिनों में ही, मंत्रिमंडल के सम्बन्ध में कुछ कानाफूसी होने लगी थी। उनकी मृत्यु के कुछ ही दिनों बाद यह बात खुल गयी कि वहाँ के कुछ लोग मंत्रिपद-ग्रहण के पक्ष में थे। अभी मंत्रिमंडल तो वहाँ न बन सका; पर एक प्रमुख स्वराजी श्री ताँबे ने—जो स्वराज्य-पार्टी की ओर से असम्बली के मेम्बर और उसी पार्टी की ओर से खड़ा करके असम्बली के प्रेसिडेण्ट चुनवाये गये थे—वहाँ के गवर्नर की एग्जिक्युटिव कौन्सिल की मेम्बरी मंजूर कर ली। उन्होंने ऐसा करने के पहले न अपने साथियों की सम्मति ली, न पार्टी की और न उससे इस्तीफा ही दिया। इससे पार्टी में बड़ी खलबली मची। पंडित मोतीलालजी नेहरू ने सख्त रुख अख्तियार किया। उधर महाराष्ट्र के श्री नृसिंह चिन्तामणि केलकर ने श्री ताँबे का समर्थन किया। श्री जयकर ने भी एक प्रकार से—उनका नहीं, पर पद-ग्रहण का—समर्थन ही किया। मध्यप्रदेश में श्री अभ्यंकर ने जोरों से इसकी निन्दा की। डाक्टर मुंजे और श्री अभ्यंकर में बड़ा मतभेद हो गया। ये सब लोग स्वराज्य-पार्टी के प्रमुख व्यक्तियों में थे; इसलिए यह गृह-कलह बहुत बढ़ गया। महाराष्ट्र में श्री केलकर और श्री जयकर ने प्रतिक्रियात्मक सहयोग का प्रचार आरम्भ किया। पंडित मोतीलालजी नेहरू पार्टी की अड़ंगा-नीति पर डटे रहे और उसका प्रचार करने लगे।

इसी मतभेद के जमाने में कानपुर में काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। सभानेत्री श्रीमती सरोजिनी नायडू चुनी गयीं। एक बरस पहले वह दक्षिण-अफ्रिका से लौटी थीं। वहाँ उन्होंने बहुत काम करके बड़ा नाम हासिल किया था। यदि गांधीजी का चलता तो वह शायद उनको बेलगाँव-काँग्रेस में ही सभानेत्री बनाते; पर लोगों के अनुरोध को मानकर उन्होंने सभापतित्व स्वीकार कर लिया था। एक प्रकार से बेलगाँव के पहले से ही, सब लोगों के दिल में, कानपुर-काँग्रेस के उस उच्च पद के लिए, सरोजिनी देवी चुनी जा चुकी थीं।

कानपुर-काँग्रेस की विशेषता यह थी कि स्वराज्य-पार्टी को ही कार्यक्रम देना था। इसलिए पंडित मोतीलालजी की राय से ही वर्किंग कमिटी ने काँग्रेस की विषय-निर्वाचिनी समिति के वास्ते प्रस्ताव तैयार किया था। दक्षिण अफ्रिका में हिन्दुस्तानियों

के विरुद्ध जो नया कानून बन रहा था उसका विरोध किया गया। एक दूसरे प्रस्ताव में, बरमा में भी जो हिन्दुस्तानियों के विरुद्ध कार्रवाई हो रही थी उसकी निन्दा की गयी। पर सबसे महत्त्व का प्रस्ताव वह था जिसका सम्बन्ध कौन्सिलों से था। उसमें यह कहा गया कि असम्बली में प्रस्ताव पास करके देश की ओर से जो स्वराज्य की माँग पेश की गयी है उसे मानकर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को उसी के अनुसार विधान बनाना चाहिए। यदि वह ऐसा न करने की इच्छा प्रकट कर दे, अथवा फरवरी के अन्त तक इसके सम्बन्ध में कुछ न कहे, अथवा जो कुछ कहे वा करे वह सन्तोषजनक न हो, तो कौन्सिलों के स्वराजी मेम्बर अपने बयान देकर वहाँ से चले आवें और जब तक फिर आज्ञा न हो, वापस न जायँ और तब रचनात्मक कार्यक्रम में लग जायँ। विरोधियों का कहना था कि १९२६ की जनवरी से मार्च तक जो बैठक, प्रान्तीय और केन्द्रीय असम्बली की, होनेवाली थी वही प्रायः अन्तिम बैठक थी जिसमें—१९२६ में होनेवाले चुनाव के पहले—स्वराजी लोग शरीक हो सकते थे; इसलिए वे अगर निकलते हैं तो इसी बैठक के अन्तिम कई दिनों के इजलास में शरीक न हो सकेंगे, यह कोई विशेष महत्त्व की बात न होगी। हाँ, अगर निकलना ही है तो हमेशा के लिए निकल आते तो एक बात होती।

जो हो, काँग्रेस ने यही निश्चय किया, जिसका अर्थ प्रतिक्रियात्मक-सहयोगवादियों ने यह लगाया कि फिर एक प्रकार से असहयोग हौले-हौले काँग्रेस-कार्य्यक्रम में दाखिल होने लगा और इस अवस्था में उनका कार्य्यक्रम चल ही नहीं सकेगा। इसलिए श्री जयकर, श्री केलकर और डाक्टर मुंजे प्रभृति कौन्सिल से इस्तीफा देकर अलग हो गये। उन्होंने प्रतिक्रियात्मक-सहयोगवादियों की नयी पार्टी कायम की। मेरा निजी विचार हमेशा यह रहा है कि हमको अगर कौन्सिलों में जाना ही हो तो वहाँ जाकर विधान के अनुसार जो कुछ हम कर सकते हों, करना चाहिए। मैं अड़ंगा-नीति को कभी समझ न सका। इस समय भी मेरा विचार यही था कि जब स्वराजी लोग वहाँ गये हैं तो वहाँ काम करना चाहिए, केवल अड़ंगा नहीं लगाना चाहिए। पर, साथ ही, मैं यह भी मानता था कि वहाँ जाना ही बेकार है; क्योंकि जो अधिकार १९२० के विधान के अनुसार मिले थे वे बिल्कुल सन्तोषप्रद नहीं थे। वहाँ जाने से देश में बुद्धिभेद फैलने के सिवा दूसरा कोई फल नहीं निकल सकता। असहयोग, जनता की विचारधारा को, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और उसकी संस्थाओं की ओर से मोड़कर, जनता की अपनी स्थापित संस्थाओं की ओर खींचना चाहता था। इस प्रकार वह जनता में रचनात्मक शक्ति जाग्रत करना चाहता था। कौन्सिल-प्रवेश इस धारा को फिर सरकारी संस्थाओं की ओर मोड़ता था। इसलिए मेरे विचार से वहाँ जाना हितकर नहीं था। पर अगर कोई जाना ही पसन्द करे तो उसको वहाँ से जो थोड़ा-बहुत लाभ मिल सके उसे देश के लिए लेना चाहिए। स्वराजी लोगों का विचार था कि कौन्सिलों से बाहर रहकर असहयोग तभी किया जा सकता है जब कोई कौन्सिलों में जानेवाला न मिले। पर ऐसा हो नहीं सकता। दूसरे प्रकार का असह-

योग अन्दर से किया जा सकता है और उसका रूप यही हो सकता है कि अड़ंगा लगाकर विधान का छकड़ा न चलने दिया जाय। ऐसा उन्होंने किया भी। बंगाल और मध्यप्रदेश में मंत्रिमंडल नहीं चल सका। स्वयं गवर्नर को ही मंत्रियों के अधिकार अपने हाथों में लेने पड़े थे। केन्द्रीय असम्बली में बहुमत न होने पर भी दूसरे दलों को मिलाकर उन्होंने बजट नामंजूर करा दिया और वायसराय को उसे अपने विशेष अधिकार द्वारा मंजूर करना पड़ा था। इस तरह जो कुछ अड़ंगा नीति से हो सकता था, उन्होंने कर दिखाया था और देश पर इसका असर अच्छा पड़ा था।

जो हो, मैं तो कौन्सिल-प्रवेश का ही विरोधी था। ऐसी अवस्था में वहाँ कौन नीति बरती जाय, इसका फैसला करनेवाला मैं नहीं हो सकता था। मैंने सोच लिया कि जो लोग वहाँ गये हैं वे ही इसका फैसला करें; उनकी राय से जो नीति काँग्रेस इस सम्बन्ध में स्वीकार करे उसे ही मुझे भी मान लेना चाहिए; उस नीति के चलाने में जो सहायता मैं दे सकूँ, मुझे देना चाहिए। महात्माजी शायद इस हद तक स्वयं जाने को तैयार नहीं थे; क्योंकि उन्होंने कहा था कि यद्यपि स्वराजियों के खयाल से काँग्रेस ने कौन्सिल का बहिष्कार छोड़ दिया था तो भी काँग्रेस किसी को कौन्सिल के लिए वोट देने अथवा अन्य प्रकार से उसकी मदद करने के लिए बाध्य नहीं कर सकती। मैं इससे कुछ आगे बढ़ता था और सोचता था कि जब काँग्रेस ने एक बार कौन्सिल-प्रवेश का कार्य्यक्रम अपने हाथों में ले लिया, तो मेरे निजी विचार चाहे जो हों, मुझे यथासाध्य उस कार्य्यक्रम को सफल बनाने (अर्थात् चुनाव) में मदद कर देना चाहिए। इसी नीति के अनुसार मैंने काम भी किया। चुनाव में पूरी शक्ति लगाकर खूब दौड़-धूप भी की।

कानपुर में भी स्वदेशी प्रदर्शनी हुई थी। वहाँ हिन्दुस्तानी सेवा-दल का अच्छा संगठन था। एक दिन यह खबर फैल गयी कि काँग्रेस के पड़ाव में कुछ लोग आग लगा देनेवाले हैं। सेवादलवालों ने डाक्टर हर्डीकर के नेतृत्व में चौकी लगायी। अधिवेशन सफलतापूर्वक, बिना किसी उपद्रव के, समाप्त हुआ। वहाँ एक और घटना हुई थी। अजमेर काँग्रेस का एक सूबा समझा जाता था। विधान में उसे भी और सूबों की तरह प्रतिनिधि चुनने का अधिकार था। वहाँ के चुनाव के सम्बन्ध में कुछ शिकायत थी। वहाँ के चुनाव को वर्किंग कमिटी ने रद कर दिया था जिस पर कुछ लोग रुष्ट होकर श्री अर्जुनलाल सेठी के नेतृत्व में काँग्रेस में या तो जबरदस्ती घुसना चाहते थे अथवा दूसरों को वहाँ जाने से रोकना चाहते थे। इस नाजुक परिस्थिति में भी सेवा-दल को काम करना पड़ा था।

६३—काँग्रेस में एक स्वतंत्र दल

काँग्रेस के निश्चय के अनुसार, मार्च के महीने में जब कोई संतोषजनक उत्तर न मिला तब, अखिल भारतीय कमिटी ने तय किया कि स्वराज्य-पार्टी के लोग केन्द्रीय असम्बली और प्रान्तीय कौन्सिलों से निकल आवें। उन्होंने एक निश्चित तिथि पर

ऐसा ही किया भी। पंडित मोतीलालजी ने, जो स्वराज्य-पार्टी के नेता थे, असम्बली में एक वक्तव्य दिया। उसमें इस निश्चय के कारणों को बताकर इसका समर्थन किया। उसी तरह, अन्य सूबों के लोगों ने भी किया। स्वराज्य-दल से सभी कौन्सिलें खाली हो गयीं। निश्चय किया गया था कि जो लोग बाहर निकलेंगे वे अपना समय रचनात्मक काम और काँग्रेस के सिद्धान्तों तथा कार्य्यक्रम के प्रचार में लगायेंगे। कुछ ने ऐसा किया; पर बहुतेरे लोग अपने निजी मनमाने काम में ही लगे रहे। इसी साल के अन्त में फिर नये चुनाव होनेवाले थे। इस बीच में कुछ दुःखद घटनाएँ हो गयीं जिनका जिक्र कर देना आवश्यक है।

हिन्दू-मुस्लिम झगड़े कई बरसों से चले आ रहे थे। हिन्दू-सभा की ओर से, विशेषकर आर्य्य-समाज की ओर से, शुद्धि और संगठन पर जोर दिया जा रहा था। उधर मुसलमानों ने भी तबलीग और तन्जीम का आन्दोलन जारी कर दिया था। कटुता बढ़ती ही गयी थी। कोहाट के दंगे का जिक्र हो चुका है और यह भी कहा गया है कि महात्मा गांधी को वहाँ जाने से गवर्नमेण्ट ने रोक दिया था। पीछे महात्माजी और मौलाना शौकत अली इस सम्बन्ध में जाँच करने के लिए रावलपिंडी गये। वहाँ से आगे जाने की इजाजत न थी, इसलिए वहीं लोगों को बुलाकर यथासंभव जाँच की गयी। कुछ बातों में दोनों में एक मत न हो सका। जब जुदा-जुदा रिपोर्टें छपीं तो मालूम हुआ कि जो दो आदमी बराबर एक राय कई बरसों से रखा करते थे उनका भी इस विषय में मतैक्य न हो सका। महात्माजी ने अपने तरीके से लिखा भी कि इससे लोगों को यह न समझना चाहिए कि हम दोनों के आपस के सम्बन्ध और व्यवहार में किसी प्रकार का फर्क पड़ा है, बल्कि लोगों को यह समझना चाहिए कि ये लोग हमेशा केवल हाँ में हाँ नहीं मिलाया करते, कहीं-कहीं मतभेद भी रख सकते हैं। चाहे इन दोनों सज्जनों के भावों में अन्तर न पड़ा हो, पर इसका असर देश पर अच्छा नहीं पड़ा। वह समस्या अधिक जटिल होती गयी। राजनीतिक मतभेद थे ही। महात्माजी एक प्रकार से सभी राजनीतिक कामों से अलग हो गये। उनका स्वास्थ्य भी बहुत खराब हो गया था। किसी तरह उन्होंने कानपुर-काँग्रेस तक काम चला दिया। उसके बाद, डाक्टरों की राय से, उन्होंने एक बरस तक साबरमती में रहने का निश्चय कर लिया। वहाँ रहकर वह आश्रम और खादी के काम को सुसंगठित करने में लग गये। कुछ लोग, जो यह समझते थे कि महात्माजी दुःखी होकर अलग हो गये हैं, बहुत जोर देने लगे कि उनको फिर नेतृत्व लेना चाहिए। पर बात ऐसी थी नहीं। उन्होंने साबरमती से काम करना अपने स्वास्थ्य और देश दोनों के लिए हितकर समझा। इसलिए वह अपने निश्चय पर अटल रहे।

इधर हिन्दू-मुस्लिम झगड़े बहुत बढ़ गये। कलकत्ते में बहुत बड़ा दंगा हो गया जिसमें बहुतेरे हिन्दू-मुसलमान मारे गये। हफ्तों तक बलवा-फसाद जारी रह गया। बकरीद के मौके पर कई जगह दंगे हो गये। इसका नतीजा यह हुआ कि खिलाफत-कमिटी के प्रमुख लोग भी प्रभावान्वित हो गये। उसके एक विशेष अधिवेशन में कड़वे

भाषण हुए। उसमें निश्चय किया गया कि अबसे खिलाफत-कमिटी मुसलमानों से सम्बन्ध रखनेवाले सभी प्रश्नों में दिलचस्पी लेगी और मुसलमानों के हकों की हिफाजत का प्रबन्ध करेगी। दूसरी ओर, हिन्दुओं में भी, बहुतेरे कड़वे भाषण किये और लेख लिखे जाने लगे। हमारे सूबे के लिए एक बात यह हो गयी कि पंडित मोतीलालजी और मौलवी महम्मद शफी में मतभेद हो गया। मौलवी महम्मद शफी ने असम्बली से इस्तीफा दे दिया। स्वतंत्र रीति से फिर खड़े होकर वह चुन लिये गये। उन्होंने स्वतंत्र रीति से कुछ प्रचार भी शुरू कर दिया। हमारे सूबे का वायुमंडल भी बिगड़ता जा रहा था। मौलाना मजहरुल हक साहब इससे बहुत दुःखी थे। उन्होंने बिहार के प्रमुख काँग्रेसी और खिलाफत-कमिटी के लोगों को, तथा कुछ और स्वतंत्र लोगों को भी आमंत्रित करके एक छोटी-सी कान्फ्रेन्स छपरे में की। कई दिनों तक वहाँ बहुत सफाई और खुलासगी के साथ बातें होती रहीं। हम सबने महसूस कर लिया कि यह मामला ऐसा है कि इसको अब छोड़ना ठीक नहीं है और जहाँ तक हमसे हो सके, बिगड़े वायुमंडल को अधिक दूषित होने से रोकना चाहिए। हम सबने निश्चय किया कि इसके लिए हम सब मिलकर प्रयत्न करेंगे। उस सभा में हमको एक बार और हक साहब के देशप्रेम और सच्ची राष्ट्रीयता का पता चला। हम समझ गये कि हमको एक ऐसा नेता मिला है जो हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के लिए सब कुछ त्याग करने को तैयार है। अपने जीवन का बहुत समय उन्होंने इसी में बिताया था। जब तक वह जीते रहे, इस प्रयत्न में ही लगे रहे। कान्फ्रेन्स के निश्चय के अनुसार हक साहब, मौलवी महम्मद शफी, बाबू जगतनारायणलाल, मैं तथा दूसरे कई भाई सूबे में दौरा करने निकल गये।

इसका असर सूबे पर बहुत अच्छा पड़ा। देश में इस बात की बहुत चर्चा होने लगी कि बिहार में हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य की जटिल समस्या के सुलझाने का बहुत सुन्दर प्रयत्न मौलाना हक के नेतृत्व में हो रहा है। बिहार का वायुमंडल बहुत हद तक शान्त बना रहा। एक असर यह भी देखा गया कि जब कुछ दिनों के बाद फिर कौन्सिल और असम्बली का चुनाव हुआ तो मुसलमान भी काँग्रेस की ओर से खड़े हुए और चुने गये। मौलवी महम्मद शफी साहब और पंडित मोतीलालजी के मतभेद से जो अनबन हो गयी थी वह भी दुरुस्त हो गयी।

नवम्बर के महीने में चुनाव हुआ। यह तो इधर अच्छा हुआ कि बिहार में मौलवी शफी साहब हम लोगों के साथ मिल कर काम करने लगे; पर उधर लाला लाजपतराय और पंडित मोतीलालजी का मतभेद हो गया! नतीजा यह हुआ कि पंडित मदनमोहन मालवीयजी और लाला लाजपतराय ने एक नया दल बना लिया। उस दल की ओर से जो उम्मीदवार खड़े किये गये उन्होंने कांग्रेस के उम्मीदवारों का विरोध किया। बिहार में बाबू जगतनारायणलाल कांग्रेस के प्रमुख कार्य्यकर्त्ताओं में थे। उनके विचार हिन्दू-संगठन के पक्ष में थे। वह हिन्दू-सभा में प्रमुख भाग लेने लगे। उस समय कांग्रेस ने हिन्दू-सभा का सदस्य होना रोका नहीं था। हममें से

बहुतेरे उसके सदस्य थे। ऊपर कहा जा चुका है कि मुजफ्फरपुर के वार्षिक अधिवेशन (हिन्दू-सभा) में बोधगया-सम्बन्धी प्रस्ताव पास कराने में हमने भी पूरा जोर लगाया था। इसलिए, यद्यपि कुछ लोगों को जगत बाबू का कांग्रेस से इतना घनिष्ठ सम्बन्ध होना और हिन्दू-सभा को इतना समय देना अच्छा नहीं लगता था, तथापि उनके ऐसा करने में कोई वैधानिक रुकावट नहीं थी। पर जब पं० मालवीयजी और लालाजी ने स्वतंत्र काँग्रेस दल का संगठन कर लिया और काँग्रेस के निश्चय के विरुद्ध काँग्रेसी उम्मीदवारों का विरोध करने लगे, तो स्थिति बहुत बदल गयी। जगत बाबू काँग्रेस की ओर से उम्मीदवार खड़े किये गये थे, पर उसे छोड़कर उन्होंने इस नरम दल की ओर से खड़ा होना पसन्द किया! मजबूर होकर उनका विरोध करना पड़ा। कुछ और लोग भी, जो काँग्रेस से नाराज थे अथवा जो काँग्रेस के विरोधी थे अथवा जिनको काँग्रेस ने उम्मीदवार न बनाकर किसी दूसरे को बना दिया था, इस दल में जा मिले। ऐसे लोगों में सारन-जिले के बाबू श्री नन्दन-प्रसादनारायणसिंह शर्मा भी थे। नतीजा यह हुआ कि बिहार में भी इस चुनाव में काफी गर्मी आ गयी। मालवीयजी तथा लालाजी यहाँ अपने उम्मीदवारों के समर्थन में दौरा करने लगे। पंडित मोतीलालजी तथा दूसरे स्वराजी नेता काँग्रेसी उम्मीदवारों की सहायता के लिए पहुँच गये। मुझसे जो कुछ हो सकता था, मैं कर ही रहा था।

मैं इसी दौरे में छोटानागपुर गया। पुरुलिया से राँची मोटर पर जा रहा था। गाड़ी खूब तेज जा रही थी; क्योंकि उसी दिन राँची में उम्मीदवारी की दरख्वास्तों की जाँच होनेवाली थी। ठीक समय से पहुँचना जरूरी था। रास्ते में भैंसा-गाड़ी आ गयी। मोटर को उससे बचने के लिए मोड़ना पड़ा। वह काबू से बाहर होकर एक गाछ से टकरा गयी। मुझे सिर और नाक पर चोट आयी। थोड़ी चोट औरों को भी लगी। गाड़ी का कुछ अंश टूट गया। पर हम लोग किसी तरह कुछ देर के बाद राँची पहुँच गये; क्योंकि यह घटना राँची के नजदीक पहुँचने पर हुई थी। वहाँ तो कुछ नहीं मालूम हुआ कि मुझे चोट ज्यादा है। डाक्टर ने पट्टी बाँध दी। मैं दौरे का काम करता रहा। छोटानागपुर का काम पूरा करके मैं उत्तर-बिहार में चला गया। बेगूसराय, समस्तीपुर इत्यादि होते हुए मुजफ्फरपुर-जिले में गया। सीतामढ़ी पहुँचकर, प्रायः घटना के एक सप्ताह के बाद, सिर में दर्द मालूम हुआ। मैंने समझा कि थकावट अथवा सर्दी लग जाने के कारण दर्द है। कुछ दवा खा ली और आगे बढ़ गया। सौभाग्यवश उसी दिन पटना लौटने का कार्य्यक्रम था। वहाँ पहुँचते-पहुँचते दर्द बढ़ गया। कई दिनों तक बहुत कष्ट हुआ। डाक्टर लोग भी कुछ निश्चय नहीं कर सकते थे कि यह दर्द क्यों है। पर दो-तीन दिनों के बाद सारे चेहरे पर सूजन आ गयी। तब मालूम हुआ कि वह उस चोट का नतीजा है जो मोटर की दुर्घटना में मुझे लगी थी। मैं इस बीमारी के कारण और कई जगहों में जहाँ जाना था, नहीं जा सका। चुनाव में बहुत बेहूदा प्रचार किया गया था। पंडित मोतीलालजी पर खुले आम व्यक्तिगत आक्षेप किये गये। कहीं-कहीं भद्दे व्यंग्य चित्र

(कार्टून) भी दिखलाये गये थे। हमने बहुत जोरों से इन सबका विरोध किया। नतीजा यह हुआ कि जिन स्थानों के लिए सदस्य चुने जानेवाले थे उनमें से अधिकांश काँग्रेस के उम्मीदवार ही चुने गये। स्वतंत्र काँग्रेस-दल के बहुत थोड़े लोग चुने गये, जिनमें बाबू जगतनारायणलाल और बाबू श्री नन्दनप्रसादनारायणसिंह शर्मा थे। ये लोग पूर्व के बिहार-कौन्सिल के स्वराज्य-दल के नेता श्री जलेश्वरप्रसाद को, जो काँग्रेस की ओर से खड़े किये गये थे, हराकर चुने गये। लोगों के बहुत कहने और जिद्द करने पर मौलाना मजहरुल हक साहब खड़े हुए थे। उनका मुकाबला किया गया। दोनों उम्मीदवारों के पक्ष में बराबर वोट आये। चिट्ठी लगायी गयी तो हक साहब के प्रतिद्वन्द्वी के पक्ष में चिट्ठी निकली! इस तरह, यद्यपि प्रान्तीय कौन्सिल के चुनाव में काँग्रेसी लोग ही अधिक संख्या में चुने गये तथापि हक साहब-जैसा व्यक्ति नहीं चुना जा सका और न काँग्रेस का वह उम्मीदवार जो स्वराज्य-पार्टी का नेतृत्व योग्यता-पूर्वक कर चुका था। साथ ही, यह भी स्पष्ट था कि चुने लोगों में से, बहुमत रखते हुए भी, काँग्रेस के विरोध में मंत्रिमंडल बन सकेगा, क्योंकि विधान के अनुसार एक अच्छी तायदाद गवर्नमेण्ट द्वारा मनोनीत सदस्यों की हुआ करती थी। काँग्रेस-विरोधी लोग और ऐसे मनोनीत सदस्य मिलकर काँग्रेस-दल से संख्या में अधिक हो जाते थे। केन्द्रीय असेम्बली में भी हमारी काफी सफलता रही। वहाँ जो एक-दो जगहें हमारे हाथ में न आईं उनमें भी काँग्रेस से सहानुभूति रखनेवाले ही चुने गये। बिहार-कौन्सिल में कई आदमी जो स्वतंत्र चुने गये थे, काँग्रेस के साथ ही रहते थे। स्वतंत्र काँग्रेस-दल के लोगों में कुछ काँग्रेस के साथ और कुछ मंत्रिमंडल के साथ हो गये थे। इस तरह, इस चुनाव से कोई बात साफ नहीं हुई। मंत्रिमंडल के साथ काँग्रेस का जो पहले सद्भाव था वह अब न रहा; क्योंकि चुनाव के समय हमको मंत्रियों और उनके द्वारा समर्थित उम्मीदवारों का विरोध करना पड़ा था। जब वे ही लोग फिर मंत्री बन गये और उनका विरोध करना काँग्रेसी मेम्बरों का प्रधान काम हो गया तब यह अनबन और भी बढ़ती गयी। मंत्री सर गणेदत्तसिंह, काँग्रेसी उम्मीदवार के भय से, कई जगहों से खड़े हुए थे! पर कहीं से अपने स्थान को सुरक्षित न देख उन्होंने मिल-मिलाकर एक उम्मीदवार को, एक ऐसे स्थान से जहाँ काँग्रेस ने कोई उम्मीदवार नहीं खड़ा किया था, बिठा दिया और वहाँ से स्वयं निर्विरोध चुने गये। इस चुनाव में धर्मगत और जाति-गत भेद-भावों का प्रचार करके कुछ लोगों ने नफा उठाया। शायद सभी काँग्रेसवाले भी इससे अपने को बचा न सके।

मेरा विचार था, और अब वह और भी दृढ़ हो गया है, कि जो भेद-भाव हिन्दुओं और मुसलमानों में फैल रहा था वह इन्हीं दोनों तक सीमित न रहेगा। हिन्दुओं में जो अनेकानेक जातियाँ हैं, एक दूसरे से उसी प्रकार आपस में झगड़ने लगेंगी जिस प्रकार हिन्दू-मुसलमान लड़ रहे हैं। मुसलमानों में भी भिन्न-भिन्न दल पैदा हो जायँगे। शिक्षित वर्ग की लड़ाई सरकारी नौकरियों और सरकार से सम्बद्ध संस्थाओं की मेम्बरी इत्यादि के लिए होती है। किसी न किसी समय हिन्दू-समाज की भिन्न

जातियों में इस प्रकार की स्पर्धा बढ़ेगी और वे आपस में लड़ेंगी। इस चुनाव में ये बातें कुछ-कुछ देखने में आ गयीं। मैंने एक लेख इस आशय का 'देश' में लिखा था, जिसको कुछ लोगों ने नापसन्द किया था। उस समय से आज तक के अनुभवों न मेरे इस विचार को और भी दृढ़ कर दिया है कि जब देश के स्थान पर हम किसी जाति-विशेष अथवा धर्म-विशेष अथवा दल-विशेष को बिठाना चाहते हैं, तब इस तरह की लड़ाई हुए बिना नहीं रह सकती। देश-सेवकों के लिए एक ही रास्ता है कि कम से कम तब तक, जब तक देश पूर्णरूपेण स्वतंत्र नहीं हो जाता, किसी स्थान अथवा प्रतिष्ठा के लिए लालायित न हों और केवल सेवा को ही ध्येय बनाकर काम करते जायँ। मैं इसको एक प्रवंचनामात्र मानता हूँ जब कोई यह सोचता और कहता है कि सेवा करने के लिए उसे किसी पद-विशेष की आवश्यकता है तथा उस पद के बिना वह सेवा नहीं कर सकता। सेवक के लिए हमेशा जगह खाली पड़ी रहती है। उम्मीदवारों की भीड़ सेवा के लिए नहीं हुआ करती। भीड़ तो सेवा के फल के बँटवारे के लिए लगा करती है! जिसका ध्येय केवल सेवा है, उसका फल नहीं, उसको इस धक्के में जाने की और इस होड़ में पड़ने की कोई जरूरत नहीं है।

वर्ष समाप्त होने के समय, दिसम्बर में, गोहाटी में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन होनेवाला था। सभापतित्व के लिए बहुत जगहों से मौलाना मजहरुल हक का नाम आया था। बिहार के लोग बहुत चाहते थे कि वह चुने जायँ। यहाँ से केवल उनका ही नाम भेजा गया था। पर उन्होंने अन्तिम चुनाव के पहले ही घोषणा कर दी कि वह इस प्रतिष्ठा के लिए उम्मीदवार नहीं हैं, लोगों को कोई दूसरा योग्य व्यक्ति चुन लेना चाहिए। इस इनकार का कारण उनके समान व्यक्तित्व और ध्येयवाले महापुरुष के योग्य ही था। उन्होंने लिखा कि वह उस समय अपने सूबे में हिन्दू-मुस्लिम-समस्या हल करने के काम में लगे हैं, कांग्रेस के सभापति हो जाने से वह उतना समय अपने सूबे के इस काम को न दे सकेंगे। हममें से बहुतेरों ने सोचा कि उनकी यह दलील ठीक नहीं थी। पर इसमें दूसरे की बात ही क्या चल सकती थी। उनके हट जाने पर श्री श्रीनिवास अय्यङ्गर एकमत से निर्विरोध सभापति चुने गये; क्योंकि डाक्टर अनसारी ने भी, जिनका नाम प्रस्तावित हुआ था, अपना नाम हटा लिया था।

भाई साहब और मैं, सपरिवार दोनों साथ, कानपुर-कांग्रेस में गये थे। वहीं मीरा बहन से मेरी पहली मुलाकात हुई। वह कुछ दिन पहले हिन्दुस्थान आ चुकी थीं; पर मुझसे मुलाकात नहीं हुई थी। उन दिनों से ही उनकी भक्ति और विश्वास तथा श्रद्धा की छाप मेरे दिल पर पड़ गयी। वह एक अँगरेज अडमिरल की लड़की हैं। उनके पिता हिन्दुस्थान में अडमिरल रहे थे। उस समय वह भी अपने पिता के साथ बम्बई में थीं। ऐसी महिला का महात्माजी के आश्रम में आना और वहाँ के लोगों के साथ हिल-मिल जाना अँगरेजों को कब पसन्द हो सकता था। कुछ अँगरेजी पत्रों ने यह समाचार छापते हुए लिखा कि गांधीजी ने उनको एक प्रकार से फुसला कर रख लिया है। बात ऐसी थी नहीं। मीरा बहन ने इसका खण्डन किया।

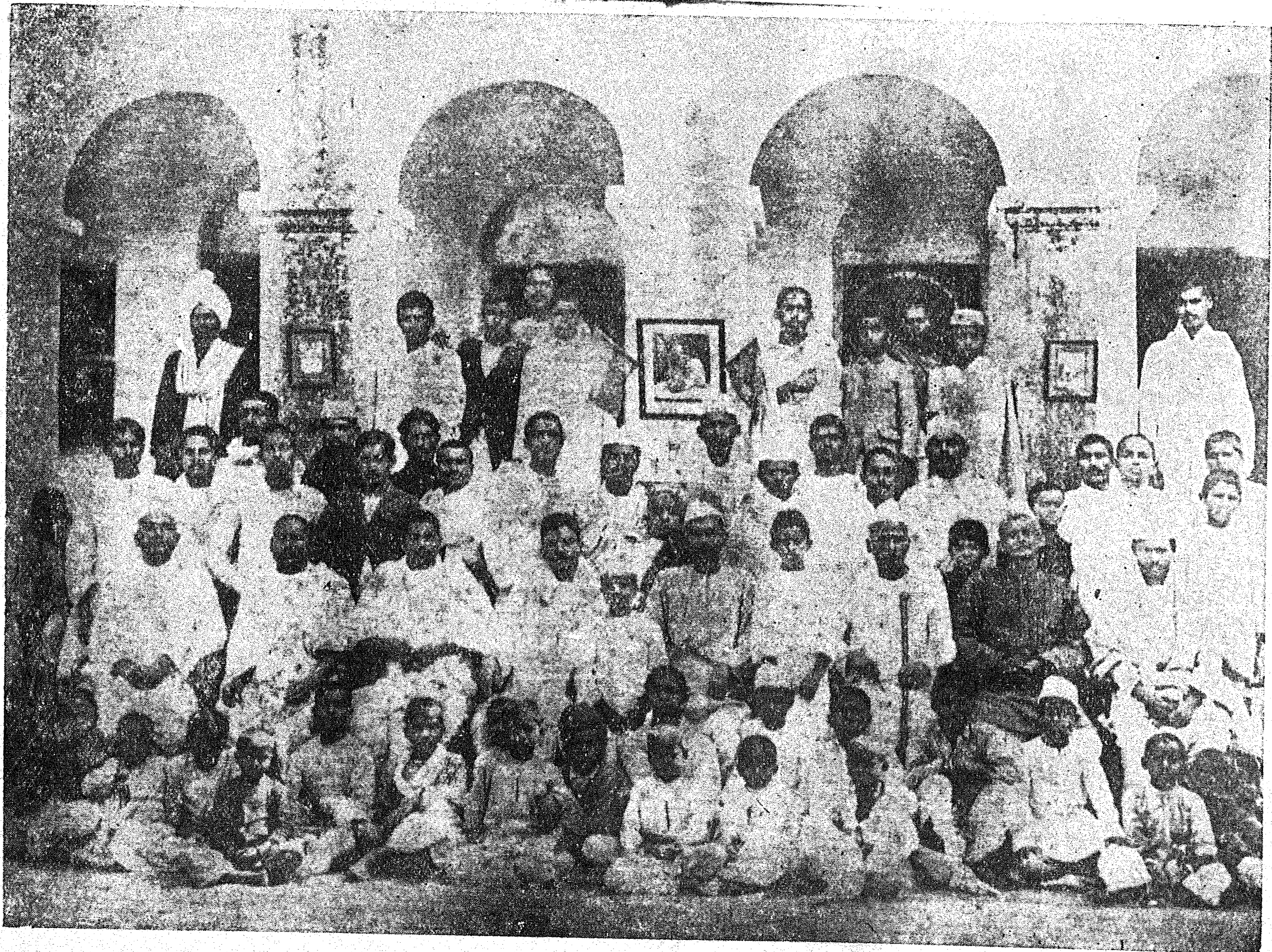
बात यह थी कि जर्मन-युद्ध के समय वह युद्ध की मारकाट से ऊब गयीं। वह इस तलाश में घर छोड़ रोमाँरोलाँ के पास गयीं कि वह इस प्रकार के भीषण जीवन से बचने का कोई रास्ता बता देंगे। श्री रोमाँरोलाँ ने उन्हें गांधीजी की पुस्तकें पढ़ने की सलाह दी और कहा कि उनकी पिपासा वहीं बुझ सकेगी। गांधीजी की लिखी जो पुस्तकें मिल सकीं, मीरा बहन ने पढ़ीं। वह जैसे-जैसे पढ़ती गयीं, उनका विश्वास जमता और दृढ़ होता गया। अन्त में उन्होंने गांधीजी के पास आना चाहा, पर गांधीजी ने उन्हें रोका। विलायत में ही वह यथासाध्य आश्रम का जीवन बिताने लगीं। अन्त में, जब उन्होंने बहुत जिद किया, तब गांधीजी ने आने की अनुमति दी। तब से वह बराबर उनके साथ हैं। जो कुछ उनका अपना था, गांधीजी को समर्पित कर दिया है।

वहीं से मैं कायस्थ-कान्फ्रेन्स का सभापतित्व करने के लिए जौनपुर गया। इसका जिक्र ऊपर कर चुका हूँ। कुछ भाइयों ने इस बात को नापसन्द किया। उनका कहना था कि काँग्रेसी लोगों को किसी जाति-विशेष की संस्था से लगाव न रखना चाहिए; क्योंकि इससे उनकी राष्ट्रीयता को धक्का पहुँचता है और जनता में बुद्धि-भेद हो सकता है। मैंने किसी जाति-विशेष की राजनीतिक उन्नति अथवा उसके अधिकारों की रक्षा के खयाल से सभापतित्व नहीं स्वीकार किया था। मैंने सोचा था कि हमारे समाज में बहुत कुरीतियाँ प्रचलित हैं; यदि हम अपने समाज की विशेष संस्था में सम्मिलित होकर उन्हें हटाने में कुछ भी सफल हो सकेंगे तो यह अच्छा ही होगा। मैंने वहाँ जो भाषण किया वह भी ऐसा ही था कि उसमें राष्ट्रीयता-विरोधी एक भी बात नहीं थी और न जाति-जाति के बीच भेद बढ़ानेवाली कोई बात थी; बल्कि मैंने तो उस मंच से भी राष्ट्रीयता का ही समर्थन किया था। कान्फ्रेन्स में अन्य जाति के स्थानीय लोग भी आमंत्रित किये गये थे। जो ऐसे लोग वहाँ उपस्थित थे, उन्होंने मुझे भाषण के लिए बधाई देते हुए कहा कि जातीय कान्फ्रेन्स के मंच से इसी प्रकार के भाषण हुआ करें तो आपस में झगड़े ही न हों।

कायस्थ-कान्फ्रेन्स पुरानी संस्था है। उसके अनेक बूढ़े और कार्य-कुशल सेवक हैं। मैं उनके लिए एक नया अजूबा व्यक्ति था; क्योंकि उसके पहले मैं कभी कायस्थ-कान्फ्रेन्स में नहीं गया था। मेरा भाषण भी शायद पुराने विचारवाले लोगों में से कुछ को पसन्द न आया हो। इसलिए मैं समझ सकता था कि कुछ ने वहाँ की कार्रवाई पसन्द नहीं की; पर अधिवेशन सफलतापूर्वक समाप्त हुआ। मुझे अफसोस यही है कि जिस आशा और अभिलाषा से मैं उसमें शरीक हुआ था वह बहुत करके पूरी न हुई। इसका दोष दूसरों पर न डालकर मुझे अपने ऊपर लेना चाहिए; क्योंकि मैं दूसरे कामों में फँस जाने के कारण अपनी पूरी शक्ति लगाकर प्रयत्न भी न कर सका।

६४—बिहार-विद्यापीठ और खादी-प्रचार-कार्य

उन दिनों मेरा अधिक समय खादी के काम की देखभाल में और बिहार-विद्यापीठ के खर्च के लिए रुपये जमा करने में लगता था। शुरू में ही हम लोगों ने



देशरत्न
विद्यापीठ के अभिभावक, अध्यापक तथा विद्यार्थियों के साथ (सदाकत आश्रम १९२८)



देख लिया कि विद्यापीठ के प्रति बहुतेरे भाई एक प्रकार से तटस्थ-से थे। कुछ लोग तो उसे उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे। १९२१ में इस भाव का कुछ प्रदर्शन होने लगा था। सबसे अधिक आश्चर्य और दुःख की बात यह थी कि जिन लोगों ने बहुत जोर देकर उसे कायम कराया था, वे ही लोग या तो उदासीन हो गये या विरोधी। शुरू में इसका आरम्भ किया गया था एक भाड़े के मकान में। प्रायः दो सौ रुपये मासिक भाड़ा दिया जाता था। हमने सोचा कि खर्च यथासाध्य कम करना चाहिए। निश्चय किया कि सदाकत-आश्रम में, जिसे मजहरुल हक साहब ने खोल रखा था और जिसमें उन्होंने कुछ मकान भी बनवा लिये थे, इसे ले जाया जाय। हक साहब ने इस बात को बहुत पसन्द किया। हम विद्यापीठ वहीं ले गये। कुछ नये मकान भी बनवा लिये गये, जहाँ प्रायः सभी छात्र और अधिकांश शिक्षक भी रहने लगे। छात्रों की संख्या कम होने लगी थी। जिलों में जो स्कूल खुले थे वे भी जहाँ-तहाँ बन्द होने लग गये थे। लोगों का उत्साह कम होता गया। बहुतेरे स्कूल अर्थाभाव और छात्राभाव से बन्द हो चुके थे। तो भी १९२६ के मार्च में ९ हाई स्कूल, १६ मिडिल स्कूल और ३० प्राइमरी स्कूल चल रहे थे जिनमें क्रमशः छात्रों की संख्या ७९७, १२८५ और १०१९ और शिक्षकों की संख्या ७९, ७० और ३४ तथा खर्च १९५०), १२६०) और ४२६) मासिक था—अर्थात् स्कूलों की संख्या ५५ थी जिनमें १८३ शिक्षक काम कर रहे थे और ३६३६) मासिक खर्च हो रहा था। पर कुछ स्कूल सभी मुसीबतों को झेलते हुए कायम रह गये और आज तक चल रहे हैं। विद्यापीठ का रहना हमने आवश्यक समझा। इसके लिए रुपये जब-तब, जरूरत पड़ने पर, जमा करते गये।

हमने महाराष्ट्र में देखा था कि कई संस्थाएँ लोग वार्षिक चन्दे से चलाते हैं। चन्दे की रकम किसी एक आदमी की बहुत बड़ी नहीं होती है; पर बहुत-से लोग पाँच या दस या इससे भी कम प्रतिवर्ष देने का वादा कर देते हैं और संस्था की वार्षिक रिपोर्ट वी० पी० द्वारा ऐसे सभी मेम्बरों के पास भेज दी जाती है। चन्द दिनों में ही चन्दे के सभी रुपये वी० पी० के जवाब में आ जाते हैं। हमने भी कुछ ऐसा ही करने को सोचा। घूम-घूमकर पाँच रुपये वार्षिक चन्दावाले मेम्बर बनवाये। जो लोग एक-मुश्त बड़ी रकम दे देते उनको आजीवन सदस्य अथवा ट्रस्टी बना लेते। पर हमारे सूबे में लोगों को इस प्रकार नियमित रूप से प्रतिवर्ष चन्दा देने की आदत नहीं पड़ी है। जिन्होंने वादा किया और मेम्बरी का फारम भर दिया उन्होंने भी साल के अन्त में बड़ी कठिनाई से रुपये दिये, एक-दो बरस के बाद वह भी बन्द कर दिया! यह संभव नहीं था कि प्रमुख लोग हर साल मेम्बरों के पास, वादा किया हुआ चन्दा वसूल करने के लिए, जायँ। इसलिए यह उपाय हमारे लिए कारगर नहीं साबित हुआ। घूम-घूमकर, जहाँ गये वहाँ से, हमेशा कुछ लाना ही पड़ता रहा। हाँ, पटने में कुछ सज्जनों ने मासिक कुछ देना स्वीकार किया। उनमें से बहुतेरे बराबर देते रहे हैं। शुरू में ही एक सज्जन (श्री भगवानदास) ने कुछ जमीन दान कर दी थी, जिसकी थोड़ी आमदनी हर साल मिलती जाती थी। कुछ दिनों के बाद मुजफ्फरपुर के श्री

गजाधरप्रसाद साहु ने अपने ट्रस्ट में से विद्यापीठ के लिए भी कुछ दिया, जो रकम बराबर मिलती जाती थी। इस तरह विद्यापीठ की आर्थिक कठिनाई हमेशा बनी रही है।

हमने इस बात की कोशिश की कि अच्छे विद्वानों को वहाँ बुलावें जिसमें जनसाधारण को उसकी उपयोगिता और वहाँ मिलनेवाली शिक्षा के प्रति विश्वास हो। काशी से प्रसिद्ध विद्वान् श्री रामदास गौड़जी आये। इसी तरह बंगाल से कुछ ऐसे विद्वान् शिक्षक लाये गये, जिन्होंने युनिवर्सिटी में ख्याति के साथ परीक्षाएँ पास की थीं। कुछ दिनों के बाद, प्राचीन भारतीय इतिहास के ख्यातनामा विशेषज्ञ श्री जयचन्द्र विद्यालंकार भी विद्यापीठ में इतिहास के शिक्षक होकर आये थे। उनके साथ मेरा परिचय उसी समय हुआ जो आगे चलकर अधिक घनिष्ठ हो गया तथा भारतीय इतिहास-परिषद् के जन्म के कारणों में एक मुख्य कारण हुआ। किन्तु इतने पर भी विद्यार्थियों की संख्या कम होती गयी। हमने वहाँ के पाठ्यक्रम में भी जब-तब परिवर्तन किया। इस बात की भी चेष्टा की कि विद्यार्थी केवल पुस्तकी विद्या न पाकर अधिक कार्य-कुशल देश-सेवक बनें। पर सब कुछ करने पर भी राष्ट्रीय शिक्षा बहुत ही परिमित क्षेत्र में रह गयी। तब भी, जहाँ तक रह गयी है, हमारे विद्यार्थी और शिक्षक अच्छे सेवक निकले हैं। सत्याग्रह के समय उन्होंने हमेशा बहुत काम किया है।

मार्च १९२६ में, समावर्तन के अवसर पर, दीक्षान्त भाषण के लिए, श्री राज-गोपालाचारी निमंत्रित किये गये थे। उन्होंने कहा था कि ये विद्यालय हमारे उत्साह की ज्योति को जगाये रखे हुए हैं। यह बात अक्षरशः सत्य है। समावर्तन संस्कार बड़े उत्साह के साथ हुआ। उनका भाषण भी बहुत ही सुन्दर और जोरदार हुआ। जो लोग उस उत्सव में शरीक हुए, सबने उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा की। विद्यापीठ और उसके छात्रों की सरलता तथा सरकारी युनिवर्सिटी के समावर्तन-समारोह की शान-शौकत याद करके सब लोग हमारी छोटी संस्था की उपयोगिता मानने लगे थे।

ऊपर कहा जा चुका है कि विद्यापीठ के अतिरिक्त मेरा अधिक समय खादी के काम में लगता था। जब से खादी का काम आरम्भ हुआ, मेरी दिलचस्पी उसमें थी; पर इन दिनों जितना समय मैं उसमें दे सका उतना पहले कभी न दे सका था और पीछे भी न दे सका। बिहार में खादी का काम १९२१ में ही आरम्भ हुआ, जब स्वराज्य-कोष के रुपयों में से एक अच्छी रकम बिहार-प्रान्तीय कमिटी को इस काम के लिए मिली। इस काम के चलाने का भार शुरू में प्रान्तीय कमिटी ने ही लिया। कई जिलों में उसकी ओर से कुछ लोग इसके चलाने के लिए नियुक्त किये गये। अनुभव न तो प्रान्तीय कमिटी में किसी को था और न उन लोगों में से किसी को। नतीजा कुछ अच्छा नहीं हुआ।

काँग्रेसी कार्यकर्त्ता श्री रामविनोदसिंह ने स्वतंत्र रूप से यही काम शुरू किया। उनको श्री आचार्य कृपालानी से मदद मिली। मधुबनी में एक उत्पत्ति-केन्द्र खोलकर वह अच्छी खादी तैयार करने लगे। यह खादी दूसरे प्रान्तों तक पहुँची। खादी-सम्बन्धी काम में बिहार का नाम उन्होंने ऊँचा किया। आचार्य कृपालानी की सिफारिश और

मेरी अनुमति से उनको काम बढ़ाने के लिए एक बड़ी रकम का कर्ज खद्दर-बोर्ड की ओर से मिला। प्रान्तीय कमिटी का काम उतना सफल न हुआ; क्योंकि काम फैलाया गया बहुत; पर उसमें न तो शास्त्रीय ज्ञान का अधिक उपयोग हुआ और न व्यापार-बुद्धि का ही। इसलिए उसमें घाटा भी काफी रहा। जब अखिल भारतीय चर्खा-संघ की स्थापना हो गयी और मैं एजेण्ट नियुक्त हुआ तथा श्री लक्ष्मीनारायण मंत्री बने, तब नये सिरे से सारे काम का संगठन किया गया। बहुत-से भंडार बन्द कर दिये गये। जहाँ बिना घाटे के काम हो सकता था वहाँ काम जारी रखा गया। इससे कुछ काँग्रेसी कार्यकर्त्ता असन्तुष्ट भी हुए। जो खादी के काम में आये उनका नियंत्रण भी अधिक होने लगा। एकचित्त होकर इस काम में लगने के लिए उन पर जोर दिया गया। नतीजा यह हुआ कि काम की व्यवस्था बहुत सुधर गयी। खादी की उत्पत्ति और बिक्री बढ़ने लगी।

मैं उन दिनों प्रायः सभी उत्पत्ति-केन्द्रों में, बरस में एक बार, जाया करता था। वहाँ एक-एक दो-दो दिन रहकर काम देखा करता था। भंडार में, जहाँ सूत की खरीद और रूई की बिक्री होती थी, खुद बैठता भी था। अपने हाथों रूई-सूत तौलता और बेचता-खरीदता था। कपड़े की बुनाई को भी जाकर देखता और तैयार कपड़े पर दाम बैठाने के काम में यथासाध्य भाग लेता। इससे मेरा निजी ज्ञान बढ़ता गया। साथ ही यह भी अनुभव होता गया कि हम इस विषय में कितनी कम जानकारी रखते हैं और इस जानकारी का न होना ही घटी के मुख्य कारणों में था। जो हम खर्च का अनुमान-पत्र बनाते, उसे चर्खा-संघ के मंत्री श्री शंकरलाल बैंकर और उनके दफ्तर के लोग खूब जाँच-समझ कर ही मंजूर कराते। पर तो भी कई बार घाटा हो गया।

उस समय खादी-प्रचार के लिए हम सबकी इच्छा रहती थी। अखिल भारतीय चर्खा-संघ की भी नीति थी कि हम जितनी सस्ती खादी बना और बेच सकें उतना ही अच्छा है। इसी नीति के अनुसार सस्ती से सस्ती दर पर सूत खरीदने, कम से कम बुनाई देकर उसको बुनवाने और दूकानों में कम से कम खर्च करके उसे बेचने का प्रयत्न किया जाता। इसका नतीजा यह होता कि कार्यकर्त्ताओं की कमी और अयोग्यता के कारण दूकानों में बिक्री ठीक न होती, माल का हिसाब ठीक न रहता और उत्पत्ति-केन्द्रों का हाल यद्यपि कुछ बेहतर होता तथापि पूरा संतोषजनक न हो पाता था। इसलिए इस देखभाल की बहुत जरूरत होती। इतना हम अवश्य कहेंगे कि उन दिनों जितनी शाखाएँ थीं उनमें बिहार की खादी बहुत करके सस्ती और अच्छी भी होती थी। महीन खादी के लिए आन्ध्र मशहूर था। बिहार की 'कोकटी' सभी सूबों में जाती। इससे बिहार की ख्याति काफी हो गयी। रँगाई-छपाई का काम भी शुरू कर दिया गया था। अब रंग-बिरंग की खादी मिल सकती थी, पर मेरे सन्तोष के लायक अभी पक्का संगठन नहीं हो पाया था।

जब काम आरम्भ किया गया था तो खादी-विभाग का दफ्तर और मुख्य

भंडार पटने में ही था। खादी तैयार होती विशेषकर दरभंगा-जिले में, पर केन्द्र-भंडार पटने में ही था। इसमें असुविधा काफी थी, पर हम सभी पटने में ही रहते थे, इसलिए केन्द्र-भंडार और दफ्तर को वहाँ से हटाने की इच्छा न होती। जब लक्ष्मी बाबू मंत्री हो गये और काम बढ़ाने का विचार हुआ तो निश्चय किया गया कि कार-बार पटने से हटाकर मुजफ्फरपुर ले जाया जाय। इसमें पटने के मित्रों का बहुत विरोध हुआ, पर मैंने इसकी उपयोगिता देख ली और हटाने की राय दे दी। मुजफ्फरपुर में, अखाड़ा-घाट पर, गंडकी नदी के किनारे, कुछ झोपड़े बने, जिनमें कार्यकर्त्ता रहने लगे और जहाँ रँगाई इत्यादि का काम होने लगा। स्थान बहुत अच्छा था। मैं भी कभी-कभी जाकर वहाँ रहता। माल रखने का गुदाम और मुख्य भंडार शहर में, सरैय्यागंज में, भाड़े के मकान में रखे गये थे। यहाँ से काम बहुत बढ़ा। कुछ दिनों के बाद हमने महसूस किया कि यह प्रबन्ध भी ठीक नहीं है; क्योंकि उत्पत्ति-केन्द्र मुख्यतः दरभंगा-जिले में थे। वहाँ से कपड़ा तैयार कराकर मुजफ्फरपुर लाया जाता। मुजफ्फरपुर में धुलाई, रँगाई, छपाई इत्यादि का काम होता। तब वहाँ से बिक्री के लिए भंडारों में खादी भेजी जाती। इसमें खर्च अधिक पड़ता। इसलिए निश्चय हुआ कि मुख्य भंडार मधुबनी (दरभंगा) में ही ले जाया जाय। इसके पहले रामविनोद बाबू का भंडार वहाँ था ही। इसलिए चर्खा-संघ का काम वहाँ अधिक न करके पंडौल में ही होता था, ताकि दोनों संस्थाओं में आपस में प्रतिस्पर्धा न हो तथा दोनों स्वतंत्र रूप से काम चलाते और बढ़ाते जायँ। पर कुछ दिनों में, रामविनोद बाबू और उनके सहकर्मियों में—जिनमें मुख्य श्री ध्वजाप्रसाद और रामदेव ठाकुर थे—मतभेद हो गया। रामविनोद बाबू का काम भी चर्खा-संघ के मुकाबले में कम हो गया। इसलिए अब मधुबनी जाने में ही सुविधा देखी गयी। एक तो वह बहुत बड़ा केन्द्र हो सकता था, दूसरे अनेक अन्य उत्पत्ति-केन्द्रों के लिए वह एक ऐसी जगह थी जहाँ से कार्यकर्त्ताओं के आने-जाने में काफी सुविधा थी। तीसरे रेल, तार, डाक, बंक इत्यादि की भी सुविधा थी। इसलिए मुजफ्फरपुर से दफ्तर और केन्द्र-भंडार हटाकर मधुबनी ले जाये गये। आहिस्ता-आहिस्ता वहाँ चर्खा-संघ का अपना मकान बन गया। आज तो वह एक देखने योग्य स्थान हो गया है। इसमें न जाने कितने बरस लगे हैं; पर एक स्थान पर ही इसका जिक्र कर देना ठीक समझा।

१९२६ में खादी-सम्बन्धी मेरा मुख्य काम यह भी रहा कि स्थान-स्थान पर खादी-प्रदर्शनी कराऊँ। मेरा प्रयत्न था कि खादी में सब लोगों की दिलचस्पी पैदा हो। इसी उद्देश्य से पटने की प्रदर्शनी सफलता-पूर्वक की गयी थी, जिसका जिक्र पहले आ गया है। १९२६ की प्रदर्शनियों में भी इसकी विशेष चेष्टा की गयी। जहाँ-तहाँ अँगरेजों और दूसरे विदेशियों ने भी दिलचस्पी ली। बेतिया (चम्पारन) की प्रदर्शनी का उद्घाटन उस समय के बेतिया-राज के मैनेजर मिस्टर एच० सी० प्रायर, आई० सी० एस० ने किया। मिस्टर रथरफोर्ड के हट जाने पर वही वहाँ मैनेजर हुए थे। मोतीहारी की प्रदर्शनी का उद्घाटन रेवरेण्ड जे० जेड० हौज ने किया। वह एक प्रतिष्ठित

पादरी थे, जिनका परिचय गांधीजी से और मुझसे पहले से ही था। जमशेदपुर में भी एक मार्के की प्रदर्शनी की गयी। इतने बड़े कारखानेवाले शहर में—जहाँ की चिमनियाँ दिन-रात धुँआ उगलती रहती हैं, जहाँ गला हुआ लोहा नदी के झरने के समान बहता रहता है, जहाँ लोहे की बड़ी-बड़ी सिलें आसानी से आटे की रोटी की तरह बेल दी जाती हैं और पत्तर अथवा लम्बी-लम्बी रेल-लाइनें बेली जाती रहती हैं—छोटी तकली और चर्खे की प्रदर्शनी एक अजीब-सी चीज थी। इसका आयोजन करना ही एक साहस का काम था। उस बड़े कारखाने के अफसरों को इस छोटी कल की करामात दिखाने की बात तो और भी बड़े दुस्साहस की थी। पर हमने ऐसा ही किया। ताता-कम्पनी के बड़े अफसर मिस्टर टेम्पुल से—जो खुद इन्जीनियर थे और जमशेदपुर के टाउन-एडमिनिस्ट्रेटर भी—प्रदर्शनी के उद्घाटन करने का अनुरोध किया गया। उन्होंने इसे मान लिया। खादी की उपयोगिता पर सुन्दर भाषण भी किया। कम्पनी के जेनरल मैनेजर मिस्टर कीनन और उनकी पत्नी, जो दोनों अमेरिका-निवासी थे, प्रदर्शनी में आये। दोनों ने कुछ खादी भी खरीदी। कम्पनी के दूसरे बड़े-बड़े अफसर भी, प्राय: सभी, प्रदर्शनी में आये। खादी की बिक्री भी अच्छी हुई। लोगों के आग्रह से एक और प्रदर्शनी शहर के एक दूसरे मुहल्ले में भी की गयी। इस साल में सूबे के प्राय: सभी बड़े-बड़े शहरों में प्रदर्शनियाँ की गयीं। उनका उद्घाटन अक्सर स्थानीय प्रतिष्ठित लोगों द्वारा कराया गया। कई जगहों में मैंने ही उद्घाटन किया। इन प्रदर्शनियों से केवल खादी-सम्बन्धी प्रचार ही नहीं हुआ, खादी खूब बिकी भी। जो माल नया तैयार हो गया था, उसकी निकासी में पूरी मदद मिली। १९२५ में गांधीजी ने बिहार के कुछ जिलों में जो दौरा किया था उसमें खादी और देशबन्धु दास-स्मारक-कोष के लिए रुपया जमा किया था। बिहार में प्राय: पचास हजार रुपये जमा किये गये थे। वह रकम पूँजी में जोड़ दी गयी थी। इससे काम खूब बढ़ने लगा था।

किन्तु महात्माजी का स्वास्थ्य प्राय: ठीक न रहता। रुधिर का दबाव अधिक हो जाया करता। वह गर्मी के दिनों में मैसूर-राज्य के नन्दी-पहाड़ पर आराम करने के लिए गये। मैं भी वहाँ गया। उनके साथ कई दिनों तक ठहरा। स्थान बहुत ही रमणीय था। पहाड़ पर चढ़ना कुछ मेहनत का काम था। पर अभी तक मेरा दमा इतना ज्यादा नहीं बढ़ा था। प्राय: गर्मियों में तो मैं अच्छा रहता ही हूँ। इसलिए मैं पहाड़ पर पैदल ही चढ़ गया। यों ही वापसी में उतरा भी। उस प्रदेश की यह मेरी पहली यात्रा थी। वहाँ से महात्माजी के साथ बँगलोर आया और ठहरा। वहाँ खादी की एक बड़ी प्रदर्शनी हुई, जिसमें विशेष भाग तामिलनाड और आन्ध्र की शाखाओं ने ही लिया। अपने ढंग की वह प्रदर्शनी बहुत ही अच्छी हुई। वहीं से मैसूर-राज्य में खादी-प्रचार का संगठित रूप से सूत्रपात हुआ। उस अवसर पर खादी-सम्बन्धी प्रक्रियाओं के प्रदर्शन के साथ-साथ खादी-सम्बन्धी भाषण भी हुए।

हिन्दी-प्रचार का काम भी दक्षिण में हो रहा था। वहाँ एक विशेष सम्मेलन

करके कुछ परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों को प्रमाण-पत्र वितरित किये गये। मैंने पहले-पहल हिन्दी-सम्बन्धी उत्साह देखा। एक ही साथ पति-पत्नी, माँ-बेटी, सास-पतोहू और पिता-पुत्र हिन्दी सीखनेवाले मिले। एक ही साथ परीक्षा में ये बैठते भी। मेरे लिए यह सब नया अनुभव था। उस यात्रा को अपने लिए मैं बहुत ही शिक्षाप्रद मानता हूँ।

बँगलोर में प्रदर्शनी समाप्त होने के बाद मैंने दक्षिण के कई स्थानों का भ्रमण किया। तामिलनाड के मुख्य भंडार को देखा। वह तिरुपुर में था। दूसरे कई और भंडारों को भी जाकर देखा। राजाजी ने अपना आश्रम सेलम जिले में बना रखा था। वहाँ वह खादी का काम बहुत जोरों से चला रहे थे। वहाँ भी गया। इन सब जगहों में वहाँ के काम की परिपाटी और संगठन-विधि का पूरी तरह अध्ययन किया। जो कुछ नया और जानने योग्य वहाँ मिला उसको अपने सूबे में दाखिल करने का प्रयत्न भी किया। वहाँ का संगठन और हिसाब रखने का तरीका मुझे बहुत पसन्द आया। मैंने उनका अध्ययन कर लिया। उन दिनों सबसे अधिक खादी की उत्पत्ति तामिलनाड में होती थी। सबसे बढ़िया महीन खादी (कोकटी को छोड़कर) आन्ध्र देश में बनती थी। इसलिए मैंने सोचा कि तामिलनाड का संगठन देखने के बाद आन्ध्र भी जाना चाहिए। वहाँ के चर्खा-संघ के मंत्री श्री सीताराम शास्त्री का आग्रह भी था कि मैं चलूँ और खादी-सम्बन्धी भाषण भी करूँ।

लौटने के समय मैं आन्ध्र होते लौटा। मैं आन्ध्र के कई जिलों में गया। सभी जगहों में मैंने खादी-सम्बन्धी भाषण किया। मेरे भाषण वहाँ अँगरेजी में ही हुए। मैंने देखा कि मैं जिस शास्त्रीय रीति से खादी के सम्बन्ध में लोगों को समझाता उसका असर काफी अच्छा पड़ता—विशेषकर शिक्षितवर्ग पर, जो अक्सर खादी की उपयोगिता और सफलता के सम्बन्ध में बहुत शंका-सन्देह रखा करता था। वहाँ के लोगों का कहना था कि मेरी यात्रा से खादी-प्रचार में अच्छी सहायता मिली। जब मैं पटने लौट आया तो कुछ भाइयों का विचार हुआ कि जो कुछ मैंने अपने भाषणों में कहा है वह लेखबद्ध कर दिया जाय तो अच्छा होगा। इसलिए मैंने अपने भाषणों का सारांश लिख डाला। 'एकनामिक्स आफ खादी' (खादी का अर्थशास्त्र) के नाम से वही एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुआ। इसका हिन्दी-रूपान्तर भी 'खादी का अर्थशास्त्र' के नाम से प्रकाशित हुआ। इस तरह उस साल का बहुत समय खादी के काम में ही बीता।

६५—मेरी आसाम-यात्रा

कानपुर-काँग्रेस के समय आसाम के कुछ लोग आये थे जिनमें एक प्रमुख व्यक्ति श्री नवीनचन्द्र बारदोलाई थे। यह मेरे एक पूर्व-परिचित मित्र थे। इनके साथ उस समय से ही घनिष्ठता हो गयी थी जब हम दोनों कलकत्ता-हाइकोर्ट में वकालत किया करते थे। असहयोग-आन्दोलन में यह आरम्भ से ही आ गये थे और अपने प्रान्त के प्रमुख लोगों में से थे। इन लोगों की इच्छा थी कि काँग्रेस को आसाम में निमंत्रित

करें। इस सम्बन्ध में इन्होंने मेरी राय ली। मैंने इनको मना किया; क्योंकि गया-काँग्रेस के अनुभव ने मुझे बता दिया था कि काँग्रेस का आयोजन बहुत विस्तार ले चुका है और आसाम छोटा प्रान्त है। पहले तो काफी रुपये जमा करने में ही मुश्किल हो सकती है; क्योंकि आसाम केवल छोटा ही नहीं, गरीब सूबा भी है। दूसरे काँग्रेसी लोग सरकारी प्रान्त के केवल उसी हिस्से को आसाम कहते हैं जहाँ की भाषा असामिया है अर्थात् ब्रह्मपुत्र की घाटी। जो बँगला बोलनेवाला हिस्सा है, जिसे सुरमा घाटी कहते हैं, वह तो बंगाल के साथ है। इस तरह सूबा और भी छोटा हो गया है। कार्य-कर्त्ताओं की संख्या भी काफी नहीं है। तने पर भी उन लोगों का उत्साह बहुत था। उन्होंने मेरी बात नहीं मानी, काँग्रेस को आमंत्रित कर ही दिया।

उन लोगों की यह भी इच्छा थी कि काँग्रेस के पहले ही उस प्रान्त में खादी के काम का पुनः संगठन हो जाय। पहले कुछ काम हुआ था; पर वह योग्य कार्य्यकर्त्ता के अभाव से ठीक चला न था; उसे बन्द कर देना पड़ा था। उन्होंने इसके पुनः संगठन में मेरी सहायता माँगी। मैं इनकार न कर सका। वहाँ जाने का वचन दे दिया। कुछ दिनों के बाद वहाँ गया भी। आसाम के कई जिलों में, जहाँ खादी का काम अच्छी तरह चल सकता था, भ्रमण किया। इस यात्रा का अनुभव बहुत ही अच्छा रहा। खादी के लिए आसाम एक अत्यन्त उपयुक्त प्रान्त है; क्योंकि इसके लिए वहाँ जैसी सुविधाएँ हैं वैसी शायद ही किसी सूबे में हों। रेशम के कीड़े पालने, उनसे सूत निकालने और उस सूत को बुन लेने की प्रथा अभी तक आसाम में जारी है। कपड़ा बुनना वहाँ की स्त्रियाँ उसी तरह जानती हैं जिस तरह हमारे सूबे की स्त्रियाँ कुछ सीना-पिरोना। अच्छे घरों की लड़कियों की तो शादी ही नहीं हो सकती यदि वे अच्छी तरह बुनाई न जानती हों। वह बुनाई भी मामूली बुनाई नहीं, वे अपने करघों पर रंग-बिरंगे फूल भी बुन सकती हैं। निहायत खूबसूरत फूलदार किनारी के साथ साड़ियाँ भी बुन सकती हैं। प्रायः सभी घरों में करघे चला करते हैं। करघे भी बहुत सादा बाँस के ही बने होते हैं। बुनाई के अलावा वहाँ की स्त्रियाँ सूत कातना भी जानती हैं। मुझे वहाँ यह देखकर बहुत आश्चर्य और प्रसन्नता हुई कि वहाँ के खद्दर-भंडार में स्त्रियाँ तैयार कपड़ा लेकर आतीं और उससे रूई बदलकर ले जातीं। अथवा, इसी बात को हम इस तरह भी कह सकते हैं कि हम जैसे दरभंगा-जिले के भंडारों में रूई देकर सूत बदलते थे वैसे ही वहाँ के भंडारों में रूई देकर कपड़ा बदला जाता था। इसका कारण यही था कि वहाँ चर्खे और करघे का घर-घर प्रचार है। हम तो कुछ स्त्रियों से सूत कतवाते हैं। वह सूत फिर बुनकर को बुनने के लिए देते हैं और वह उसे बुनता है। वहाँ यह बीच का कदम गैर जरूरी हो गया है। उस प्रान्त के कुछ हिस्से में रूई भी पैदा होती है, जो बहुत अच्छी तो नहीं कही जा सकती, पर तो भी काम चलाने के लिए ठीक है। इस तरह उस सूबे में खादी-प्रचार के लिए बहुत अच्छा सुयोग मैंने पाया। मैंने चर्खा-संघ में आकर बहुत जोर दिया कि इस काम के लिए आसाम को कुछ रुपये दिये जायँ। मंत्रीजी यह नहीं चाहते थे, क्योंकि उनका पहला

अनुभव ठीक न था। आखिर उन्होंने और कौन्सिल ने मेरी बात मान ली। कुछ रुपये दिये गये। वहाँ का काम फिर संगठित रूप से चलने लगा।

इस यात्रा में मैंने एक बात देखी। नवगाँव-जिले के गाँवों में भ्रमण करते समय देखा कि वहाँ बहुत जमीन परती है, जो अभी तक आबाद नहीं की गयी है। जमीन पर बहुत अच्छी और हरी घास लगी हुई थी; क्योंकि वहाँ की जमीन में यों ही काफी नमी रहती है। कहीं-कहीं इन बड़ी परतियों में कुछ झोपड़े नजर आते थे, जिनमें थोड़े ही आदमी देखने में आये। अभी तक जमीन पर कोई फसल नहीं थी और न जोतने-बोने का कोई चिह्न ही देखने में आता था। पूछने पर मालूम हुआ कि इस तरह की गैर आबाद जमीन आसाम में कुछ है। वहाँ का कानून कुछ ऐसा था कि जो आदमी ऐसी गैरआबाद जमीन में आ करके बैठ जाय और उसको आबाद करना शुरू कर दे तो कुछ काल में उसपर उसको स्वत्व प्राप्त हो जाता था। वहाँ से नजदीक ही बंगाल का मैमनसिंह-जिला है, जिसकी आबादी बहुत है और जहाँ जमीन की कुछ कमी होने लगी है। इसलिए वहाँ से कुछ लोग आकर इन गैरआबाद टुकड़ों पर झोपड़े बनाकर रह जाते हैं। उन्हें वे आहिस्ता-आहिस्ता आबाद करने लगते हैं। इस तरह कुछ दिनों में जमीन पर अपना हक कायम कर लेते हैं। ये लोग प्रायः सभी मुसलमान हैं। इनसे वहाँ की गैरआबाद जमीन आबाद होती जा रही है। साथ ही, आगन्तुक मुसलमानों की संख्या सूबे के मुसलमानों की संख्या बढ़ाती जा रही है। पूछने पर यह भी मालूम हुआ कि कोई भी इस तरह से आकर वहाँ जमीन ले सकता है, चाहे वह किसी भी प्रान्त का हो। मैंने सोचा कि बिहार में, विशेषकर छपरा-जिले में, इतनी अधिक आबादी हो गयी है कि जमीन की कमी के कारण लोगों को लाखों की संख्या में प्रतिवर्ष प्रान्त के बाहर मजदूरी करने के लिए जाना पड़ता है। उनमें से न मालूम कितने हजार इसी आसाम में आते हैं। यहाँ कुछ महीनों तक रहकर मजदूरी करके कुछ कमा लेते हैं। फिर अपने घर कुछ महीनों के लिए चले जाते हैं। मेरी यात्रा में मेरे जिले के आदमी प्रायः सभी जगहों में मिल जाते थे। अपनी बोली और चाल-ढाल से वे बड़ी आसानी से पहचाने जाते थे। पूछने पर गाँव का नाम भी मालूम हो जाता था। मैंने सोचा कि जो लोग इस तरह यहाँ आकर कुछ महीनों के बाद ही घर चले जाते हैं वे यदि यहाँ स्थायी रूप से जमीन हासिल करें तो एक पंथ दो काज हो सकता है—छपरे की आबादी में कमी हो सकती है और ये लोग हर चार-पाँच महीने पर जो रेल-भाड़े में खर्च करते हैं वह बच जाय तथा इनको जमीन भी मिल जाय।

इस विषय में वहाँ के लोगों से बातें हुईं। उन्होंने इस बात को पसन्द किया, क्योंकि बिहारी मजदूरों से उनका परिचय था, उनको वे पसन्द करते थे। मैमनसिंह के आदमी उनके काम के नहीं होते। वे उन्हें इसलिए पसन्द नहीं करते थे कि मैमनसिंहवालों का व्यवहार वहाँ के स्थानीय लोगों के साथ अच्छा नहीं होता था। कुछ लोग तो मैमनसिंह के मुसलमानों की अपेक्षा बिहार के हिन्दुओं का वहाँ जाकर

बसना अपने लिए बेहतर समझते थे। कारण, हिन्दू-मुस्लिम झगड़े उन दिनों हुआ ही करते थे। वे चाहते थे कि वहाँ इस तरह आगन्तुक मुसलमानों की संख्या न बढ़े तो वहाँ के हिन्दुओं के हक में अच्छा होगा। बात भी ऐसी थी कि मुसलमानों की संख्या बंगाली आसाम में अधिक थी और यह गैरआबाद जमीन शुद्ध आसामी बोलनेवाले हिस्से में थी, जहाँ मुसलमानों की संख्या कम थी। वहाँ के हिन्दू डरते थे कि यहाँ यदि मैमनसिंह से मुसलमान इस तरह आकर बसते रहे तो एक दिन उस हिस्से में भी मुसलमानों की संख्या अधिक हो जायगी। वे खुद सब जमीन आबाद नहीं कर सकते थे। नियमानुसार कोई भी बाहर से आकर आबाद कर सकता था। ऐसी अवस्था में उनके लिए यही बेहतर था कि बिहार के हिन्दू ही आकर बसें। बिहार लौटने पर मैंने इस जमीन का और इसके मिलने के नियम का जिक्र कुछ भाइयों से किया। पर वहाँ कोई गया नहीं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, शायद दो-चार ही बिहारियों ने वहाँ जाकर जमीन ली हो।

मैंने इसका जिक्र अपने भाई साहब से भी किया। उन्होंने कई बरसों के बाद वहाँ जाकर जमीन देखी। गैरआबाद जमीन के सिवा उन्होंने आबाद जमीन लेने की बात भी सोची। स्वर्गीय बाबू शंभूशरण और बाबू अनुग्रहनारायणसिंह के साथ मिलकर एक बंगाली सज्जन ने भी प्रायः एक हजार एकड़ जमीन कई हजार रुपये पर मोल ली। सुना था कि जमीन अच्छी थी। नारंगी का बागीचा था। आबाद करने के लिए मोटर-ट्रैक्टर था। एक बँगला भी था। जमीन जंगल के बीच में थी। वहाँ जंगली जानवर, विशेषकर शेर और हाथी, आ जाया करते थे। तब भी जमीन आबाद करने का प्रबन्ध किया गया। बैल वगैरह रखे गये। पर वहाँ की आबहवा इतनी खराब थी कि जो कोई जाता, मलेरिया ज्वर से ग्रस्त हो जाता। शायद पुराने मालिक के बेचने का भी यही कारण था। भाई साहब कई बार वहाँ गये। अनुग्रह बाबू और शंभू बाबू भी गये। मैं कभी न गया। पर उन लोगों के जाने पर भी आबादी का सिलसिला ठीक जमता न था। कई बरसों के बाद भाई साहब वहाँ गये थे। वहीं से ज्वर लिये वापस आये। उसी बीमारी ने उनको मजबूर कर दिया, जिससे उनकी मृत्यु भी हो गयी। उसके पहले ही शंभू बाबू की मृत्यु हो चुकी थी। अब किसी के मन में उत्साह नहीं रह गया। हम लोगों ने जमीन को यों ही छोड़ दिया। मालगुजारी बाकी पड़ जाने से शायद वह नीलाम हो गयी होगी। इसमें हम लोगों का कई हजार रुपयों का नुकसान हुआ था। केवल बाबू महेन्द्रसिंह और श्री रामरक्ष ब्रह्मचारी वहाँ कुछ जमीन लेकर आबाद करा सके। वह जमीन आज तक उनके भाई या कोई दूसरे सवाँग रहकर आबाद कराते और कुछ हासिल कर लेते हैं। ये सब बातें उस एक साल की ही नहीं हैं। यह प्रायः सात-आठ बरसों की घटनाओं का संक्षिप्त वर्णन है। पर यहाँ एक ही स्थान पर दे देना ठीक मालूम पड़ा। अब सुना है कि वहाँ के उस कानून में कुछ परिवर्तन हुआ है। अब उतनी आसानी से बाहर के लोगों को जमीन नहीं मिल सकती। उसका अधिक हिस्सा शायद स्थानीय लोगों के लिए सुरक्षित रखने की व्यवस्था की गयी है।

६६—गोहाटी-काँग्रेस

गोहाटी में जो काँग्रेस का अधिवेशन हुआ उसके लिए वहाँ के लोगों ने बड़े उत्साह के साथ ब्रह्मपुत्र के किनारे ही काँग्रेस-नगर बनवाया था। उस स्थान और शिविर का दृश्य अत्यन्त सुन्दर था। खादी का काम बहुत आगे बढ़ निकला। वहाँ की प्रदर्शनी भी बहुत अच्छी हुई। प्रदर्शनी के सफल बनाने में चर्खा-संघ का ही मुख्य प्रयत्न हुआ करता था। इसलिए चर्खा-संघ में उसके प्रबन्धक अनुभव प्राप्त करते जा रहे थे। मुझे याद है कि उस प्रदर्शनी में चर्खा-संघ की बिहार-शाखा के कार्य-कर्त्ताओं ने बहुत काम किया था। इस बार काँग्रेस के सभापति थे मद्रास के श्री श्रीनिवास ऐयंगर। स्वागताध्यक्ष थे श्री तरुणराम फूकन और मंत्री श्री नवीनचन्द्र बारदोलाई। उन लोगों ने प्राणपण से सुप्रबन्ध की चेष्टा की थी। ठीक काँग्रेस के अधिवेशन के कुछ दिन पहले एक आततायी मुसलमान ने दिल्ली में स्वामी श्रद्धानन्दजी को उनके घर में घुसकर मार डाला था। इससे सारे देश के हिन्दुओं में बहुत क्षोभ उत्पन्न हुआ, जिसका असर गोहाटी में उपस्थित लोगों पर भी पड़े बिना न रह सका। सबसे बढ़कर हिन्दुओं के दिल दुखानेवाली बात यह हुई कि हत्या करनेवाले उस आदमी के मुकदमे की पेशी में मौलाना महम्मद अली-जैसा नेता भी गया। हिन्दुओं के दिल पर इससे यह असर पड़ा कि मौलाना साहब भी उसके साथ सहानुभूति रखते हैं और शायद इस हत्या को पसंद भी करते हों। स्वामीजी कई बरसों से शुद्धि और संगठन के काम में बहुत दिलचस्पी लेते आ रहे थे। इससे कट्टर मुसलमान उन पर क्रुद्ध थे। उनकी हत्या का यही कारण भी था। उन दिनों किसी न किसी धार्मिक कारण से इस प्रकार की कई हत्याएँ हिन्दुओं की हुईं। बलवा-फसाद तो हो ही रहे थे। इससे सारे देश का वायुमंडल बहुत बिगड़ गया था। जो सुन्दर समा १९२१ में देखने में आया था वह एकबारगी जाता रहा।

अधिवेशन में कोई विशेष महत्त्व की बात नहीं हुई। गांधीजी उन दिनों काँग्रेस में जाते तो थे, पर एक प्रकार से तटस्थ-से रहते थे; क्योंकि उन्होंने इस काम को स्वराज्य-पार्टी के हाथों में सौंप दिया था। एक घटना गोहाटी में हुई जो यहाँ लिख देना अनुचित न होगा। नाभा (पंजाब) के महाराज पदच्युत किये गये थे। उनके कुछ अनुयायी इससे बहुत रुष्ट थे। वे चाहते थे कि काँग्रेस इस सम्बन्ध में सरकार की निन्दा का प्रस्ताव करे और दूसरे प्रकार से पदच्युत महाराज की सहायता करे। महात्माजी की गैरहाजिरी में विषय-निर्वाचिनी समिति में एक प्रस्ताव स्वीकृत भी हो गया। पर महात्माजी को यह बात पसन्द नहीं थी; क्योंकि वह देशी रियासतों के झगड़े में काँग्रेस का पड़ना, रियासतों और काँग्रेस दोनों के लिए, हानिकर समझते थे। इसलिए उन्होंने विषय-निर्वाचिनी से इस पर फिर विचार करने का आग्रह किया। उन्होंने इस विषय पर कोई प्रस्ताव न होने दिया। इससे श्री हार्निमैन, जो बम्बई की ओर से प्रतिनिधि होकर काँग्रेस में आये थे, बहुत असन्तुष्ट हुए थे। उन्होंने

पुनर्विचार का बहुत विरोध किया था। उस समय देशी रियासतों के सम्बन्ध में मेरी कुछ भी जानकारी न थी। इस नीति को मैं ठीक-ठीक न समझ पाया था। पीछे, कई बरसों के बाद, काँग्रेस की नीति के सम्बन्ध में, काँग्रेसी लोगों में बड़ा मतभेद पैदा हुआ। कई बरसों तक, हर साल, यह एक विशेष विवादग्रस्त विषय बना रहा। इसका जिक्र फिर आगे आवेगा।

गोहाटी-काँग्रेस के समय बहुत पानी बरसा जिससे वहाँ के प्रबन्धकों और आगन्तुकों को कष्ट उठाना पड़ा था। पर इस विघ्न के पड़ने पर भी वहाँ का अधिवेशन सफलतापूर्वक हुआ। सब काम निर्धारित रीति से समाप्त हुए, रामगढ़-काँग्रेस की तरह सारा इन्तजाम ही तहस-नहस न हुआ। पर इससे खर्च बढ़ गया और आमदनी, जिसका बड़ा हिस्सा दर्शकों के टिकट से ही आता है, घट गयी। स्वागत-समिति को बहुत घाटा सहना पड़ा। उसको अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी से सहायता माँगनी पड़ी। सहायता दी गयी, पर पर्याप्त नहीं। श्री फूकन और श्री बारदोलाई को निजी तौर पर नुकसान उठाना पड़ा। यह झगड़ा बहुत दिनों तक चलता रहा। इधर हाल में वर्किंग कमिटी ने उसका बाकी हिसाब चुकाकर वहाँ के मामले का अन्त किया है। मैंने जिस बात से डरकर अपने मित्र श्री बारदोलाई को काँग्रेस के आमंत्रित करने से मना किया था वह बात होकर ही रही। प्रकृति के प्रकोप ने आमदनी घटाकर आर्थिक स्थिति को और भी जटिल बना दिया।

ऊपर कहा चुका है कि अहमदाबाद के अधिवेशन से ही प्रायः प्रतिवर्ष कोई न कोई इस विषय पर एक प्रस्ताव उपस्थित करता कि काँग्रेस का ध्येय केवल स्वराज्य न रखकर पूर्ण स्वतंत्रता बना दिया जाय और यह हर साल नामंजूर कर दिया जाता। गोहाटी के सभापति श्री ऐयंगर इसके समर्थक हो गये। इसमें अब जोर आने लगा। पर गोहाटी तक यह पास न हो सका था।

जब से काँग्रेसी लोग कौन्सिलों में गये, कुछ लोग उसी काम में लग गये; कुछ लोग खादी-प्रचार में लगे रहे और कुछ लोग काँग्रेस के संगठन का काम करते रहे। कौन्सिलों में जो काम होता उसका समाचार-पत्रों में खूब प्रचार होता। लोगों ने काम भी अच्छा किया। केन्द्रीय असेम्बली में पंडित मोतीलालजी ही नेता हुए। वहाँ उन्होंने और दलों के लोगों के साथ मिलकर कई बार सरकारी बजट को नामंजूर करा दिया। दूसरे विषयों पर भी उन्होंने सरकार के विरुद्ध प्रस्ताव स्वीकार कराये। श्री श्रीनिवास ऐयंगर भी वहाँ के सदस्य थे। कई बातों में पंडितजी से उनका मत-भेद हो जाया करता; पर अभी बात कुछ बिगड़ी नहीं थी। वहाँ पर सबसे विशिष्ट बात यह हुई कि श्री बिट्ठलभाई पंटेल सभापति चुने गये। उन्होंने अपनी विद्वत्ता और प्रतिभा का बहुत सुन्दर प्रमाण दिया। हर तरह से निरपेक्ष रहते हुए भी कई बार उन्होंने गवर्नमेण्ट को बड़ी मुश्किल में डाल दिया।

६७—हिन्दू-मुस्लिम समस्याएँ

गोहाटी-काँग्रेस के बाद श्री श्रीनिवास ऐयंगर ने दो बातों पर विशेष जोर दिया। इन्हीं के सम्बन्ध में उन्होंने काम भी किया। जैसा कहा जा चुका है, हिन्दू-मुस्लिम समस्या बहुत जटिल होती जा रही थी। बलवा-फसाद तो होते ही रहते थे। आपस में, काँग्रेसी लोगों में भी, अविश्वास की मात्रा बढ़ती जाती थी। उन्होंने इसका प्रयत्न किया कि यह मामला किसी तरह सुलझ जाय। इस झगड़े के दो पहलू हैं—एक धार्मिक और दूसरा राजनीतिक। साधारण जनता, चाहे हिन्दू हो या मुसलमान, धार्मिक पहलू से अधिक दिलचस्पी रखती है। शिक्षितवर्ग और धनीवर्ग के लोग, जो बाहर-भीतर की कुछ बातों से वाकिफ हैं, राजनीतिक पहलू में ज्यादा दिलचस्पी रखते हैं। दोनों का एक दूसरे पर असर पड़ता ही रहता है। और, शिक्षितवर्ग, जिसे राजनीतिकवर्ग भी कह सकते हैं, साधारण जनता की इस दिलचस्पी को भी अपने काम में लाता है। दोनों के दो प्रकार के प्रश्न होते हैं और उनके हल भी दो प्रकार के हैं।

हिन्दू गाय के लिए पूज्य भाव और श्रद्धा रखते हैं। गोवध के नाम से ही वे बहुत उत्तेजित हो जाते हैं। यह बात विशेषकर बिहार और युक्तप्रदेश में है। इसी गोवध के कारण न मालूम कितने बलवे हो चुके हैं। यह कोई नई बात भी नहीं है। मुसलमान बादशाहों ने भी महसूस किया था कि गोवध से हिन्दुओं के दिल को कितनी ठेस लगती है। उनमें जो उदार थे उन्होंने, हिन्दुओं को मर्माहत होने से बचाने के लिए, गोवध का निषेध भी कर दिया था। वह भावना हिन्दुओं में आज तक वर्तमान है। इस भावना से शिक्षित हिन्दू भी एक-दम बचे नहीं हैं। वे भी गोवध से उत्तेजित हो जाते हैं। उधर मुसलमान बकरीद के दिन कुर्बानी करना अपना फर्ज समझते हैं। गरीबों के लिए यह फर्ज गाय की कुर्बानी से ही अदा हो सकता है; क्योंकि उसमें कम खर्च पड़ता है। इसलिए उस दिन जहाँ-तहाँ गाय की कुर्बानी के कारण झगड़े हो जाया करते हैं। जहाँ मुसलमानों की आबादी ज्यादा है वहाँ तो कुर्बानी हो जाया करती है। पर जहाँ उनकी आबादी कम है वहाँ कुर्बानी प्रायः कभी नहीं होती। बहुत करके झगड़ा ऐसे स्थानों में होता है जहाँ मुसलमान नये तौर पर कुर्बानी करना चाहते हैं। हो सकता है, किसी गाँव में पहले कोई ऐसा मुसलमान न था, जो गाय की अथवा कोई भी कुर्बानी कभी कर सकता हो। अब उनमें से कोई कुछ पैसे कमाकर कुछ समृद्ध हो गया। उसकी इच्छा हुई कि वह भी अपने धर्म के अनुसार कुर्बानी करे। वहाँ के हिन्दू इस बात को बर्दाश्त न कर सके। बस झगड़ा हो गया।

बिहार की सरकार ने इस झगड़े को निपटाने के लिए एक फिहरिस्त बना रखी है कि किन-किन गाँवों में बराबर से कुर्बानी होती आयी है। यदि ऐसे किसी गाँव में कुर्बानी पर हिन्दू हस्तक्षेप करते हैं तो उनको दबा कर वहाँ कुर्बानी करवा देती

है। जहाँ मुसलमान नये सिरे से कुर्बानी करना चाहते हैं वहाँ उनको भी रोक देती है। यही नीति बहुत दिनों से बिहार-सरकार बर्तती आयी है। मुसलमान इससे सन्तुष्ट नहीं होते। वे कहते हैं कि एक तो यह फिहरिस्त ही ठीक नहीं है; क्योंकि कुर्बानी तो हमेशा छिपा करके ही की जाती है, खुले आम कभी नहीं होती; इसलिए इसका सबूत मुसलमानों की गवाही के सिवा दूसरा कुछ हो ही नहीं सकता—हिन्दू तथा सरकारी अफसर भी इस गवाही को जल्दी सच नहीं मानते; दूसरे उनका हक है कि वे अपने धर्म का पालन करें, इसलिए रवाज की कोई बात हो ही नहीं सकती; जहाँ रवाज न भी हो वहाँ भी वे जब चाहें तब कुर्बानी कर सकते हैं और उनको इसका हक होना चाहिए। यही झगड़े का घर हो जाता है। बकरीद के मौके पर हमेशा अन्देशा रहता है कि कहीं झगड़ा न हो जाय। सरकार भी बहुत चौकन्ना रहती है।

मुसलमानों की ओर से, मसजिद के सामने होकर बाजे-गाजे के साथ हिन्दुओं के जलूस निकालने का, विरोध किया जाता है। कहा जाता है कि मसजिद में नमाज पढ़नेवाले मुसलमानों के ध्यान में बाजे के कारण खलल पड़ता है, इसलिए वे बाजा नहीं बजने देना चाहते। इसलिए भी अक्सर हिन्दुओं के त्योहारों के दिन झगड़े हो जाया करते हैं। यह बात बिहार में उतनी नहीं थी जितनी कई दूसरे सूबों में। जब से आपस का वैमनस्य फैला, मुसलमानों की ओर से जहाँ-तहाँ इस पर भी जोर दिया जाने लगा। इसके सम्बन्ध में बिहार के हिन्दू कहते हैं कि गाय की कुर्बानी के मुकाबले में रखने के लिए मसजिद के सामने बाजे न बजने देने की बात मुसलमानों ने जबरदस्ती नये सिरे से उठाई है और यह केवल एक अड़ंगा खड़ा करने की बात है। जो हो, बिहार में भी कहीं-कहीं झगड़े होने लगे। कहीं-कहीं तो, जैसे पटना-शहर में, यह झगड़ा अभी तक नहीं होने पाया है; क्योंकि यहाँ के कुछ ऊपर के दर्जे के मुसलमानों ने इसे अपने जोर से रोक दिया और बाजा बजाने का विरोध होने ही न दिया।

बात तो यह है कि प्रतिदिन न मालूम कितनी ही गायें कसाईखानों में मारी जाती हैं। वे मारी जाती हैं या तो गोश्त खाने के लिए अथवा चमड़े इत्यादि बेचकर पैसे बनाने के लिए। विशेषकर जहाँ गोरों की फौजी छावनियाँ हैं अथवा कलकत्ता-जैसे शहर में जहाँ गोरों की अधिक आबादी है, वहाँ तो अच्छी-अच्छी गायें भी मारी जाती हैं। किन्तु इस पर हिन्दू विशेष ध्यान नहीं देते। प्रतिदिन के गोवध को वे सह लेते हैं; पर बकरीद के दिन धार्मिक प्रवृत्ति से की गयी कुर्बानी को वे नहीं बर्दाश्त करते। इसी तरह, बड़े-बड़े शहरों में बड़ी से बड़ी मसजिदों के चारों ओर ट्राम, मोटर, गाड़ी-छकड़े और दूसरे प्रकार की शोर मचानेवाली चीजों का शोर दिन-रात होता रहता है। मुहर्रम के दिनों में, मुसलमानों के ही जलूसों में, भयंकर शोर मचता है, बाजे बजते हैं। इनसे तो मुसलमान नहीं घबराते, मगर हिन्दुओं के किसी धार्मिक अथवा सामाजिक जलूस के बाजे को सहन नहीं

कर सकते। जो हो, यह एक बीहड़ मसला है। साधारण जनता इससे ही अधिक सम्बन्ध रखती है।

शिक्षित और राजनीतिक वर्ग के लोग सरकारी नौकरी तथा डिस्ट्रिक्ट बोर्ड और म्युनिसिपैलिटी एवं कौन्सिल की मेम्बरी इत्यादि में बहुत दिलचस्पी लेते हैं। यदि उनमें मुसलमानों की संख्या उनकी इच्छा के अनुसार न हुई तो मुसलमान बिगड़ जाते हैं; यदि हिन्दुओं की राय में मुसलमानों की संख्या उचित अनुपात से अधिक हो गयी तो हिन्दू बिगड़ जाते हैं। यहाँ जो थोड़ा-बहुत अधिकार हिन्दुस्तानियों को मिला है अथवा मिल सकता है उसके बँटवारे का प्रश्न है। जो लोग उस अधिकार को बर्तना चाहते हैं वे उसमें किसी तरह ठेस लगने से आवेश में आ जाते हैं।

श्री श्रीनिवास ऐयंगर की बहुत इच्छा थी कि कोई समझौता हो जाय। पर यह हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न जितना जटिल उत्तर-भारत में है उतना दक्षिण में नहीं है। वहाँ अधिक झगड़ा ब्राह्मण और अब्राह्मण तथा स्पृश्य और अस्पृश्य हिन्दुओं के बीच है। मुसलमानों की संख्या वहाँ कम है। जिस गोवध के कारण उत्तर-भारत में इतने अधिक दंगे हुआ करते हैं उसके लिए उधर उतने झगड़े नहीं होते। हाँ, उधर कुछ झगड़े बाजे के प्रश्न पर होते हैं और वह ईसाइयों के साथ भी। इसलिए इस समस्या की जटिलता और हिन्दुओं की भावनाओं का अन्दाजा दक्षिणी लोग ठीक नहीं आँक सकते। श्री श्रीनिवास ऐयंगर कुछ जल्दीबाज भी थे। जितनी तेजी से वह बोलते थे उतनी ही तेजी से अपनी राय भी कायम कर लेते थे। एक बार राय कायम कर लेने पर उससे जल्दी हटना नहीं चाहते थे। बुद्धि बहुत तीक्ष्ण थी, पर व्यवसायात्मिका नहीं थी। इसलिए जहाँ तक कानून के पुस्तकी ज्ञान का सम्बन्ध होता था वहाँ तक तो वह बहुतेरों को मात कर सकते थे; पर जहाँ कार्य्यकुशलता की बात आती वहाँ उनकी बुद्धि उतनी कारगर न होती। उन्होंने अपने सभापतित्व के समय में इस बात का प्रयत्न किया कि हिन्दू-मुस्लिम समझौता हो जाय। पर जिसको वह समझौता मानते थे उसे हिन्दू जनता तो जरूर, और काँग्रेसी हिन्दू भी शायद, स्वीकार न करते। इसलिए उनका यह सत्प्रयत्न सफल न हो सका।

६८—साइमन-कमीशन और मद्रास-काँग्रेस

१९२० में नया विधान बना था। उसमें एक नियम था कि दस बरसों पर पार्लेमेण्ट उस विधान के कार्य्यान्वित किये जाने की रीति पर और राजनीतिक परिस्थिति पर पुनर्विचार करेगी तथा आवश्यकतानुसार इसकी जाँच कराने के लिए किसी को नियुक्त करेगी। जब से यह विधान बना, काँग्रेस ने इसका विरोध ही किया। १९२० के चुनाव में कांग्रेसी लोग शरीक न हुए। उन्होंने, और उनके तथा खिलाफत-कमिटी के कहने से प्रायः सभी जानदार हिन्दुओं और मुसलमानों ने, इसका बहिष्कार ही किया था। यों तो कोई न कोई चुना जाकर उन जगहों को भर देता था; पर संसार यह जानता था और सरकार भी अन्दर-अन्दर मानती थी कि

जनता के सच्चे प्रतिनिधि उन धारा-सभाओं में नहीं आये थे; क्योंकि काँग्रेसी और खिलाफती लोगों ने अपने को केवल उमीदवारी ही से अलग न रखा था, बरन् मत देनेवालों को भी मना किया था कि मत देकर चुनाव में हिस्सा मत लो। इसका नतीजा यह हुआ था कि बहुत कम मतदाताओं ने मत दिया था। १९२३ के चुनाव में काँग्रेस ने इतना ही किया था, कि जो काँग्रेसी धारा-सभाओं में जाना चाहे वह जा सकता है, पर चुनाब में काँग्रेस भाग न लेगी। इसलिए, यद्यपि उस बार काँग्रेसी चुने गये और कुछ अधिक मतदाताओं ने चुनाव में भाग लिया, तो भी यह नहीं कहा जा सकता था कि वह चुनाव भी सारी जनता के प्रतिनिधि चुनवाने में सफल हुआ था। १९२६ के चुनाव में काँग्रेस ने भाग लिया और जनता ने भी खूब जोरों से मत दिया। इस चुनाव का नतीजा यह हुआ कि जहाँ तक चुनाव में सफलता मिल सकती थी, काँग्रेस को मिली; पर विधान ही ऐसा बना था कि जिससे काँग्रेस का और जनता के प्रतिनिधियों का बहुमत न हो सके। इसलिए, अधिक संख्या में चुने जाने पर भी, सरकारी और सरकार द्वारा नामजद मेम्बरों को मिलाकर जो थोड़े लोग चुने जा सकते थे, काँग्रेस के विरुद्ध बहुमत पा सके, पर वह भी सब जगहों में नहीं। जो लोग चुने गये वे भी, विशेषकर केन्द्रीय धारा-सभा में, पंडित मोतीलाल नेहरू के नेतृत्व में, सरकारी पक्ष को हमेशा हराते रहे। इन सब बातों से सरकार भी शायद सोचती रही कि इस असन्तोष को दूर करना चाहिए। इसलिए दस बरसों का इन्तजार न करके उसने १९२७ में ही एक कमीशन नियुक्त किया और घोषणा की कि वह कमीशन १९२८ के आरम्भ में भारत पहुँचकर जाँच का काम शुरू करेगा। इस कमीशन के सभापति सर जान साइमन थे। दूसरे सभी सदस्य अँगरेज थे। एक भी हिन्दुस्तानी उसमें नहीं था। इस घोषणा के प्रकाशित होते ही सारे देश में बहुत असन्तोष देखने में आया। काँग्रेसी लोगों का तो कहना ही क्या, जो लोग नरमदल के थे वे भी बहुत असन्तुष्ट थे। हिन्दू और मुसलमान सभी इस विषय में प्रायः एकमत हुए। ऐसा मालूम होने लगा कि फिर एक बार सभी मिलकर इसका विरोध करेंगे।

पटने में इस विषय की एक कान्फ्रेन्स हुई। सर अली इमाम सभापति हुए। सभी दल के लोग शरीक हुए। निश्चय किया गया कि सब लोग मिलकर इस कमीशन का बहिष्कार करें। इसके नेता सर अली इमाम हुए। मुझे याद है कि इस विषय में उनसे मेरी बातें हुई थीं। मैंने उनसे कहा था कि हम लोगों को यह देखकर बड़ी खुशी है कि उनके-ऐसे सरकार द्वारा प्रतिष्ठा-प्राप्त और नरम विचार के लोग भी इस कमीशन का विरोध करने पर तैयार हैं—जनता तो इस काम में उनका साथ देगी ही, यदि काँग्रेस तथा दूसरे लोग भी मिलकर काम करेंगे तो इसमें शक नहीं कि बहिष्कार पूरा हो सकेगा। किन्तु उन लोगों के विचार में बहिष्कार का अर्थ इतना ही था कि इस कमीशन के सामने आकर कोई अपनी राय न दे और न दूसरे किसी प्रकार से इसके काम में मदद पहुँचाये। पर हम बहिष्कार का अर्थ इससे अधिक लगाते थे। हम जनता को भी इस बहिष्कार में शरीक करना चाहते

थे। वह तभी हो सकता था जब बहिष्कार का रूप विरोधी प्रदर्शन का हो जाय। हमने उनसे कहा कि आप लोग कमीशन के सामने मत जायँ और न दूसरी तरह से उसकी कोई मदद करें; हम लोग प्रदर्शन द्वारा जनता के असंतोष को दिखला देंगे। सर अली इमाम जनता के रोष और प्रदर्शन से बहुत घबराते थे। यद्यपि इस चीज को उन्होंने बहुत पसन्द नहीं किया तथापि कमीशन से इतने असन्तुष्ट थे कि इस बात को मान लिया।

जो बात बिहार में थी वही सारे देश में थी। सभी दल के लोग कमीशन के सम्बन्ध में कहने लगे कि इसमें किसी एक भी हिन्दुस्तानी को स्थान न देकर ब्रिटिश सरकार ने भारतवासियों का बड़ा अपमान किया है; इसलिए वे इस कमीशन के साथ किसी प्रकार का सहयोग न करेंगे। यद्यपि ब्रिटिश सरकार ने कमीशन में किसी भारतीय को स्थान तो न दिया, पर इतना कह दिया कि कमीशन के सलाहकार की तरह से कुछ लोग उसके साथ रहेंगे और हर सूबे में इस प्रकार के सलाहकार नियुक्त किये जायँगे। हिन्दुस्तान में ऐसे लोगों की कमी नहीं है, जो ब्रिटिश सरकार का साथ देने को हमेशा तैयार रहते हैं, चाहे सरकार जो कुछ भी करे। इस मौके पर भी ऐसे लोग उसे मिल ही गये! पर यह एक सन्तोष का विषय है कि किसी भी राजनीतिक दल की ओर से कोई आदमी शरीक न हुआ।

कमीशन को १९२८ में आना था। उसके सामने पेश करने के लिए गवर्नमेण्ट मसाला तैयार करने लगी। दूसरे लोग उसके बहिष्कार की बात करने लगे। इसी बीच में मद्रास में होनेवाली काँग्रेस का समय आ पहुँचा। डाक्टर अनसारी सभापति चुने गये। महात्माजी काँग्रेस में गये। काँग्रेस का यह अधिवेशन एक प्रकार से महत्त्व रखता है। साइमन-कमीशन के आने की बात देश के सामने थी ही। काँग्रेस ने सोचा कि केवल विरोध करना ही काफी नहीं है। इसलिए उसने निश्चय किया कि एक ऐसी कमिटी मुकर्रर की जाय जो और सब दलों के लोगों के साथ मिलकर भारत के लिए एक विधान तैयार करे। यह विधान साइमन-कमीशन के सामने पेश करने के लिए नहीं था; पर यह सोचा गया कि इसके द्वारा हम अपने विचारों और माँगों को देश के सामने रख सकेंगे तथा सब दल मिलकर इसे मंजूर करने के लिए ब्रिटिश सरकार को मजबूर कर सकेंगे।

मद्रास-काँग्रेस में भी पूर्ण स्वतंत्रता-सम्बन्धी एक प्रस्ताव पेश हुआ। पंडित जवाहरलाल नेहरू कुछ दिनों तक योरप में रहकर हाल ही में वापस आये थे। वह इसके बड़े समर्थक थे। उन्होने ही इसे विषय-निर्वाचिनी समिति में जोर लगाकर पास कराया। मैंने इसका विरोध किया। मेरा विचार था कि हमको कोई ऐसा प्रस्ताव नहीं पास करना चाहिए जिसको हम कार्य्यान्वित करने के लिए तैयार न हों। उस समय मैं देश में कोई ऐसी तैयारी भी नहीं देखता था, जिसके बल पर यह भरोसा किया जाय कि हम इस ध्येय को प्राप्त कर सकेंगे। किन्तु यह प्रस्ताव बहुमत

से पास हो गया। मगर अभी यह एक प्रस्ताव के रूप में ही था। दो बरसों के बाद, लाहौर-कांग्रेस में, यह कांग्रेस के विधान में उसका ध्येय बना।

हिन्दू-मुस्लिम-एकता-सम्बन्धी एक प्रस्ताव भी, कांग्रेस के सामने पेश करने के लिए, विषय-निर्वाचिनी समिति ने स्वीकार किया। उसमें और-और बातों के अलावा गोवध के सम्बन्ध में यह कहा गया था कि मुसलमानों को इसका पूरा हक है और वे जहाँ चाहें आँख बचाकर गोवध कर सकते हैं। यही बात श्री ऐयंगर पहले भी कहा करते थे। अब यह बात कांग्रेस के प्रस्ताव-रूप में आयी। मैंने समझा कि चाहे इसका औचित्य जो हो, हिन्दू जनता इसको कदापि न मानेगी; यदि मुसलमान इस हक का इस्तेमाल करना शुरू करेंगे तो इसका नतीजा, बहुत बड़े पैमाने पर बलवा-फसाद के सिवा, दूसरा कुछ न होगा; यह किसी तरह से देश के लिए हितकर न होगा। गांधीजी विषय-निर्वाचिनी में नहीं आये थे। जब श्री ऐयंगर ने कांग्रेस के पहले ही यह बात चलाई थी तो मैंने गांधीजी को इसी आशय का पत्र लिखा था। इसलिए महात्माजी पहले से ही इस प्रश्न के दोनों पहलुओं को जानते थे। जब विषय-निर्वाचिनी ने इसे प्रस्ताव-रूप में स्वीकार कर लिया तो मैंने जाकर उनसे कहा। वह स्वयं उसकी दूसरी बैठक में आये। उनके कहने से इस पर पुनर्विचार किया गया। प्रस्ताव का रूप कुछ बदल कर ऐसा बनाया गया जो सबको स्वीकार हो जाय। पर मैं जानता हूँ कि कुछ मुसलमान भाइयों को यह बहुत बुरा लगा। आपस के मतभेद की जो खाई बन गयी थी वह और भी चौड़ी हो गयी!

६९—लंका की यात्रा

मेरे घर की स्त्रियों की इच्छा हुई कि मद्रास-कांग्रेस के समय उधर से ही वे तीर्थाटन भी करती आवें; क्योंकि रामेश्वरजी वहाँ से करीब है। मेरे साथ भाई साहब की धर्मपत्नी, मेरी स्त्री और कई अन्य मित्रों के घर की महिलाएँ मद्रास गयीं। जाने के समय हम लोग गोदावरी-स्नान के लिए राजमहेन्द्री में ठहर गये थे। कांग्रेस के अधिवेशन के बाद मदुरा, रामेश्वर आदि तीर्थों में और लोगों के साथ गये। रामेश्वरजी के दर्शन के बाद हम लोग लंका चले गये। घर के लोगों को वहीं छोड़ दिया। लंका जाने की एक सुविधा यह भी थी कि उन दिनों श्री रामोदारदासजी वहाँ लानिया के एक महाविद्यालय में बौद्ध-ग्रन्थों का अध्ययन कर रहे थे। उन्होंने, कई बरसों तक छपरे में कांग्रेस का काम करके और कई बार जेल-यात्रा करने के बाद, बौद्ध-ग्रन्थों के अध्ययन के लिए वहाँ जाने का निश्चय किया था। उनको वहाँ संस्कृत पढ़ाने तथा पाली में त्रिपिटकादि ग्रन्थों के अध्ययन का सुअवसर मिला। कुछ दिनों के बाद, बौद्धधर्म में दीक्षित होकर, वह श्री राहुल सांकृत्यायन के नाम से मशहूर हुए और भिक्षु हो गये। उस समय वह केवल अध्ययन कर रहे थे, बाजाब्ता भिक्षु नहीं बने थे।

जब हम लोग वहाँ गये, उन्होंने लंका के मुख्य-मुख्य स्थानों में हमें ले जाने का प्रबन्ध किया। हमने भाड़े पर एक लारी ली और कई दिनों तक वहाँ घूमते-फिरते

रहे। यह हम लोगों के लिए पहला ही अवसर था कि इस सुन्दर टापू में हम भ्रमण कर रहे थे। टापू की खूबसूरती और हरियाली ने हम लोगों को मुग्ध कर लिया। कंडी के सुन्दर मंदिर में जाकर हमने दर्शन किया। वहाँ से नूरएलिया के पहाड़ पर जाकर एक रात बितायी। वहाँ से सीताएलिया गये। कहा जाता है कि यहीं पर रावण ने श्री जानकीजी को कैद करके अशोकवाटिका में रखा था। वहाँ जाते समय एक विचित्र चीज हम लोगों ने देखी। सीताएलिया, नूरएलिया से, कुछ दूर है। नूरएलिया पहाड़ की चोटी है और सीताएलिया पहाड़ के नीचे है। इसके चारों ओर पहाड़ है। ऐसा मालूम होता है कि प्रकृति ने मानो एक कटोरा बना दिया है, जिसकी दीवारें पहाड़ की हैं और जिसके पेंदे में एक छोटा-सा झरना है; वहीं एक छोटा मंदिर-सा है जहाँ श्री जानकीजी कैद की गयी थीं। पहाड़ से उतरने में मोटर को कई बार चक्कर लगाना पड़ता है। उतरते समय हमने देखा कि कुछ दूर तक चारों तरफ फैला हुआ रक्ताशोक का जंगल है। पहाड़ काटकर जो सड़क बनी थी उसकी बगल में दीवार की तरह पहाड़ खड़ा था। उस दीवार में कई तरह की मिट्टी या पत्थर देखने में आते थे। उसमें एक तह, जो प्रायः दो-तीन फुट चौड़ी थी, ऐसी मिट्टी की थी जो बिलकुल राख-जैसी थी। हमने इस मिट्टी को खोदकर देखा। ऐसा मालूम होता था कि जैसे ऊपर-नीचे पथरीली मिट्टी की तह है और बीच में यह एक तह राख की है। अशोक के पत्ते और राख हम अपने साथ भी लाये थे। इनको देखकर रामायण में वर्णित अशोकवाटिका और हनुमानजी द्वारा लंका के जलाये जाने की बात याद आ गयी।

अनेक स्थानों को—जिनमें एक सुन्दर गुफा भी थी जिसमें बहुत प्राचीन, पर सुन्दर, चित्र बने थे—देखते हुए हम लोग अनुराधपुर में पहुँचे। यहाँ एक बहुत बड़ा स्तूप है। कहा जाता है कि अशोक के पुत्र महेन्द्र ने, यहीं पर आकर, गया से लायी हुई महाबोधि वृक्ष की एक शाखा लगायी थी। हम लोग वहाँ रात में नव बजे के करीब पहुँचे थे। पीपल के एक वृक्ष के पास बौद्धों की धार्मिक सभा हो रही थी। उसमें एक भिक्षु कुछ उपदेश कर रहे थे। दृश्य बहुत ही सुन्दर था। हृदय पर उसका बहुत असर पड़ा। हम उपदेश को समझ तो न सके, पर वहाँ बैठी हुई श्रोतामंडली बीच-बीच में जो 'साधु! साधु' कह उठती थी उसे हम समझ सके। लोगों ने बताया कि पीपल का वह वृक्ष वही है, जिसे महेन्द्र ने लाकर वहाँ लगाया था। यों तो बोधगया में भी जो महाबोधि-वृक्ष है वह भी उस समय का नहीं है, पर उसी स्थान पर उसी वृक्ष का वंशज है। उसी तरह अनुराधपुर का महाबोधि-वृक्ष भी महेन्द्र का ही लगाया हुआ नहीं है, उसका वंशज है जो उसी स्थान पर आज तक किसी न किसी तरह से कायम है। पर इससे भी अधिक चमत्कार और आश्चर्य की बात हमको यह सुनायी गयी कि वहाँ जो दीप जल रहा था वह भी महेन्द्र का जलाया हुआ है! उस समय से आज तक वह दीप कभी बुझा नहीं है। बौद्धों ने उसे बाईस-तेईस सौ बरसों से बराबर जलाये रखा है! यदि यह सच है तो शायद दुनिया में ऐसी कोई दूसरी अग्नि-शिखा न मिलेगी जो दो हजार बरसों से भी ज्यादा समय से बराबर जलती आ रही हो।

सीलोन की यात्रा समाप्त करके हम लोग रामेश्वरजी लौटे। वहाँ से परिवार के लोगों को लेकर, जिन तीर्थ-स्थानों में पहली बार न जा सके थे उनमें होते हुए, छपरे वापस आये। छपरे आकर हमने यह सुना कि हमारी गैरहाजिरी में ही भाई साहब ने फोते में नश्तर लगवा लिया था। कुछ थोड़ी चीनी उनके पेशाब में आती थी। इससे घाव भरने में कुछ दिक्कत होने लगी। बीच में एक समय तो ऐसा आ गया था कि सब लोग बहुत चिन्तित हो गये थे। हम लोग सफर में थे, इसलिए हम लोगों को तार द्वारा भी खबर नहीं दी जा सकती थी। पर ईश्वर की दया से, हमारे लौटने के पहले ही, चिन्ता की अवस्था बीत चुकी थी। अब वह अच्छे हो रहे थे। थोड़े दिनों में फिर बिलकुल चंगे हो गये।

७०—मेरी योरप-यात्रा

बाबू हरिजी के मुकदमे में डुमराँव के महाराज ने प्रिवी कौन्सिल में अपील कर दी थी। अब अपील की पेशी का समय नजदीक आ गया था। बाबू हरिजी चाहते थे कि मैं भी वहाँ के बैरिस्टरों की मदद के लिए विलायत जाऊँ। मैं पहले ही कह चुका हूँ कि उन्होंने असहयोग के आरम्भ के समय से ही मुझसे वचन ले लिया था कि उनके मुकदमे में मैं बराबर काम कर दूँगा। इसी वचन की पूर्ति में हाइकोर्ट की पेशी के समय भी मैंने काम किया था। अब विलायत जाने की बारी आई तो इनकार नहीं कर सकता था। और, कुछ यह भी लालच हुई कि इसी बहाने विदेश की यात्रा भी हो जायगी। इसलिए, अब हम वहाँ जाने की तैयारी करने लगे।

हमारा भतीजा जनार्दन, जो लोहा बनाने का काम सीखने वहाँ गया था, हाल में ही लौटा था। ताता-कम्पनी (जमशेदपुर) में उसे नौकरी भी मिल गयी थी। वहाँ के रहन-सहन के सम्बन्ध में उससे तथा दूसरे मित्रों से सलाह करके मैंने सर्दी के लिए गर्म कपड़े बनवाये। मैं बराबर केवल खादी ही पहना करता था। वहाँ जाकर भी इस नियम को भंग करना मैंने उचित न समझा। इसलिए कशमीरी ऊन के कपड़े ही खादी-भंडार द्वारा मँगाकर बनवाये। कपड़े की काटछाँट भी देशी रखी। अँगरेजी पोशाक न पहनने का ही निश्चय कर लिया। फलस्वरूप दो बातें हुईं। बहुत कम खर्च में काम के लायक काफी कपड़े तैयार हो गये। पोशाक चूँकि हिन्दुस्तानी थी, इसलिए उसमें कुछ भूल अथवा भद्दापन भी हो तो कोई विदेशी समझ नहीं सकता था। अँगरेजी पोशाक और रहन-सहन अख्तियार करने पर उन लोगों के फैशन और रीति-नीति के अनुसार ही चलना-फिरना, कपड़ा पहनना और खाना-पीना पड़ता है। अपने रहन-सहन कायम रखने से यह सब झंझट दूर हो जाती है। विशेषकर मुझ-जैसे आदमी के लिए यह झंझट कुछ कम नहीं है; क्योंकि मैंने कभी जीवन-भर में कपड़े और फैशन पर ध्यान ही नहीं दिया है। हमने कपड़े को शरीर गर्म रखने और लज्जा-निवारण का साधनमात्र समझा है। इसी नीति को बराबर बर्तता आया हूँ। ४५-५० की अवस्था में नये सिरे से विदेशी फैशन को स्वीकार करके उसके तह-पेच को समझना

और कपड़े पहनना तथा समय-समय पर उसे बदलते रहना मेरे लिए कम कठिन काम न होता। और, ऐसा करने से काफी खर्च भी बढ़ जाता। इसलिए, मैंने वहाँ भी अपनी ही चाल चलना बेहतर समझा। ऐसा ही प्रबन्ध भी किया।

बाबू हरिजी चाहते थे कि मुझे हर तरह से आराम रहे—इँगलैंड में भी, जहाँ तक हो सके, उनका काम करते हुए, आराम से ही रहूँ। इसलिए उन्होंने आग्रह किया कि मैं अपने साथ अपना नौकर भी ले जाऊँ और बराबर फर्स्ट-क्लास में ही सफर करूँ। मेरे सभी दोस्त, जिनको इँगलैंड का कुछ भी अनुभव था, इसको गैर-जरूरी समझते थे; पर उन्होंने नहीं माना। मैंने गोवर्धन को साथ ले लिया। मार्च के आरम्भ में ही, एक शुभ दिन को, जिसे उनके ज्योतिषी ने निश्चित कर दिया था, मैं घर से रवाना होकर बम्बई पहुँचा। वहाँ खादी-भंडार में कुछ और कपड़े तैयार करने को कह दिया। वहाँ से, महात्मा गांधीजी से विदा लेने के लिए, साबरमती चला गया। रवाना होने के दिन भाई साहब भी बम्बई पहुँच गये। कैसर-हिन्द जहाज में बम्बई से चला।

यह मेरी पहली विदेश-यात्रा थी। मैं यहाँ भी उन लोगों के संसर्ग में बहुत न पड़ा जो विदेशी ढंग से रहते और खाते-पीते हैं। जाने के पहले एक दिन श्री सच्चिदानन्द सिंह (अब डाक्टर) ने मुझे अपने यहाँ अँगरेजी ढंग से टेबुल पर खिलाया था। मैंने काँटा-चमचे का इस्तेमाल देख लिया था। इत्तिफाक से जहाज पर मेरे कमरे में एक पारसी सज्जन थे। वह विदेश में सैर करने के लिए ही जा रहे थे। उनसे तो जान-पहचान हो ही गयी, पर दूसरे कोई मुलाकाती भाई या बहन उस जहाज में नहीं थे। मेरी आदत भी कुछ ऐसी है कि मैं किसी से स्वतः मुलाकात या जान-पहचान करने में बहुत सकुचाता हूँ। इसलिए जहाज पर किसी भी देशी या विदेशी यात्री से एक-दो दिनों तक मुलाकात या बातचीत नहीं हुई। पर इतना मैं देखता था कि मेरी हिन्दुस्थानी पोशाक की ओर बहुतेरों की आँखें जाती थीं। मैं डेक पर अपनी कुर्सी रखकर कुछ पुस्तकें पढ़ता अथवा टहलता रहता। समुद्र बहुत शान्त था। इसलिए किसी किस्म की मतली, चक्कर वगैरह मुझे नहीं आया।

दो दिनों के बाद एक अँगरेज सज्जन, जो आइ० एम० एस० (इंडियन मेडिकल सर्विस) के पेन्शन पाये हुए अफसर थे, मेरे नजदीक आये। मुझसे वह बातें करने लगे। मेरे खद्दर के कपड़े और एकान्त में चुप बैठे रहने से उनका और उनकी स्त्री का ध्यान आकर्षित हुआ था। पेन्शन पाने के बाद वह किसी कमीशन के मेम्बर होकर फिर हिन्दुस्थान आये थे। अपना काम पूरा करके वह वापस जा रहे थे। दोनों प्राणी बहुत ही अच्छे मिजाज के थे। वे गांधीजी के सम्बन्ध में कुछ जानते थे। खद्दर के सम्बन्ध में भी अखबारों में कुछ पढ़ा था। उनकी इच्छा थी कि हिन्दुस्थान में गांधीजी को देखते, पर इसका सुअवसर न मिल सका। जब बातचीत से उनको मालूम हो गया कि गांधीजी के साथ मेरा कैसा सम्बन्ध है तो उनकी दिलचस्पी और भी बढ़ गयी। हमसे वे बराबर बातचीत किया करते। उनको यह जानकर कौतूहल हुआ कि मैं मांसाहारी

नहीं हूँ। वे स्वयं भी मांसाहारी न थे। उन्होंने मुझसे यह कहकर मुझे चकित कर दिया कि हिन्दुस्थान में शाकाहारी होकर रहना बहुत कठिन है; क्योंकि यहाँ शाकाहारी के उपयुक्त खाद्य पदार्थ बहुत कम मिलते हैं। उन्होंने मुझे बतलाया कि इँगलैंड और तमाम योरप में ऐसे बहुतेरे रेस्तराँ हैं जिनमें शाकाहारी भोजन मिल सकता है। वहाँ सब्जी बहुतायत से मिल सकती है—दूध और दूध से बने हुए बहुत तरह के खाद्य-पदार्थ मिल सकते हैं। पर वहाँ के लोग अंडे को भी शाकाहार में ही दाखिल करते हैं! शाकाहारी खूब अंडे खाते हैं। जो लोग पक्के शाकाहारी हैं वे दूध और दूध के बने पदार्थ भी नहीं खाते; क्योंकि वे दूध को भी जानवर के खून का एक परिवर्तित रूप ही मानते हैं। इसलिए, उन्होंने मुझे चेता दिया कि इँगलैंड में यदि मुझे किसी रेस्तराँ में खाना पड़े, तो खास तौर से मुझे कह देना होगा कि मुझे अंडे से भी परहेज है, तभी वह बिना अंडे के भोजन देंगे, अन्यथा प्रायः सभी चीजों में किसी न किसी रूप में अंडे का अंश रहेगा ही। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा कि बिना अंडे के बिस्कुट इत्यादि भी सब जगह नहीं मिलते; पर यदि कोई दूकानदार कहे कि बिस्कुट या खाने की अन्य वस्तु बिना अंडे के बनी है, तो मुझे उसकी बात मान लेनी चाहिए; क्योंकि उसका स्वार्थ सच बोलने में ही है। अंडा महँगा पड़ता है। ये सब बातें मेरे लिए नयी थीं। पर उस दम्पती की मुलाकात ने मेरे लिए इस प्रकार की बहुत-सी जानने लायक बातें बता दीं। प्रतिदिन के जीवन के काम में आनेवाले नुस्खे उन्होंने बता दिये। मैं अपने नियम्म के अनुसार वहाँ भी रह सका।

रास्ते में मुझे ऐसा मालूम हुआ कि जब तक जहाज स्वेज नहर में गुजरता है तब तक टामस-कुक-कम्पनी की ओर से ऐसा प्रबन्ध रहता है कि जो मुसाफिर चाहे, मोटर द्वारा जाकर 'कैरो' नगर और उससे थोड़ी दूर पर स्फिंक्स को देख आ सकता है। मैंने यह देख लेना अच्छा समझा। मेरे ही जैसे कुछ और मुसाफिर भी थे, जिन्होंने टामस-कुक के साथ वहाँ जाने का प्रबन्ध कर लिया। हम लोग बहुत सवेरे ही, करीब पाँच बजे, जहाज से उतरकर मोटर पर कैरो चले गये। कैरो में पहुँचने पर, मुँह-हाथ धोने और कुछ हल्का नाश्ता कर लेने के लिए, एक होटल में हम लोग ले जाये गये। उसके बाद कैरो का अजायबघर देखने गये। वहीं पिरामिडों की खुदाई से निकली हुई चीजें सुरक्षित रखी गयी हैं। यह बड़ा सुन्दर संग्रह है। प्राचीन मिस्र के कितने बड़े नामी और प्रतापी बादशाहों के शव (ममी), जो पिरामिडों से निकले हैं, वहाँ सुरक्षित हैं। अब देखने में वे काले पड़ गये हैं, पर मनुष्य का चेहरा और हाथ-पैर तो ज्यों के त्यों हैं। वे जिस महीन कपड़े में लपेटकर गाड़े गये थे वह कपड़ा भी अभी तक वैसे ही लिपटा हुआ है। यह कपड़ा बहुत ही बारीक हुआ करता था। सुना जाता है कि यह भारतवर्ष से ही जाया करता था। उन दिनों के वहाँ के निवासियों का विश्वास था कि आराम के सभी सामान यदि मुर्दे के साथ गाड़ दिये जायँ तो परलोक में भी उनसे वह आराम पा सकता है। इसी विश्वास के अनुसार, पिरामिडों के अन्दर, शव के साथ, सभी आवश्यक वस्तुएँ गाड़ी जाती थीं—पहनने के कपड़े और गहने, बैठने

के लिए चौकी इत्यादि, खाने के लिए अन्न, शृङ्गार के सामान, सवारी के लिए रथ और नाव भी। वे सब चीजें एक से एक अच्छी बनी हैं। उनसे जान पड़ता है कि उस समय भी लोग सोने का व्यवहार जानते थे।

सुना है कि इसी प्रकार की खुदाई से मोहन-जोदड़ो (सिन्ध) में जो गेहूँ निकला वह बो देने पर उग गया। जादूघर के संग्रह और विशेषकर प्रतापी राजाओं के शव देखकर मनुष्य के जीवन की अनित्यता साफ-साफ दीखने लगी। ऐसे दृश्य देखकर यह मालूम होने लगता है कि हम जो कुछ अपने बड़प्पन के मद में करते हैं, वह सब कितना तुच्छ और अस्थायी है। जिन बादशाहों के सम्बन्ध में कहा जाता है कि उन्होंने अपने जमाने में बहुत जुल्म किया था उनके शव उसी तरह आज भी पड़े हैं। जो विशेष करके वहाँ का इतिहास नहीं पढ़ता उसे उनके नामों तक की अब खबर नहीं है। मैंने कुछ चित्र खरीदे। यद्यपि अजायबघर का सफर बहुत अच्छा रहा तथापि मेरे दिल पर क्षणभंगुर जीवन की असारता का गहरा असर पड़ा। मैं वहाँ से उदास ही निकला।

उस म्युजियम को देखने के बाद हम लोगों को शहर की कुछ प्राचीन और प्रसिद्ध इमारतें और दूसरी मशहूर जगहें दिखलायी गयीं, जिनमें एक बड़ी और सुन्दर मस्जिद भी है। मिस्र में मुसलमान पूरब रुख मुँह करके नमाज पढ़ते हैं; क्योंकि वहाँ से काबा पूरब पड़ता है। यह हिन्दुस्थानी के लिए कुछ अजूबा-सा मालूम पड़ता है। वहाँ की मस्जिद भी इसी कारण से हिन्दुस्थान की मस्जिदों जैसी पूरब रुख की न होकर पश्चिम रुख की होती हैं। यह बड़ी मस्जिद भी वैसी ही थी। वहाँ की भाषा अरबी है, पर योरपीय भाषाओं में से अधिक प्रचार वहाँ फ्रेंच का है। लोग साफ मालूम पड़ते थे। पुलिसवाले तुर्की फेज पहने हुए थे। कैरो यद्यपि पुराना शहर है, तथापि जिस हिस्से को हमने देखा वह बहुत कुछ आज-कल के शहरों जैसा ही था।

दोपहर का भोजन करके हम लोग कुछ दूर तक मोटर पर पिरामिड देखने गये। एक स्थान पर पहुँचकर मोटर छोड़ देनी पड़ी। ऊँटों पर सवार होकर पिरामिडों तक जाना पड़ा। मेरे लिए ऊँट की सवारी बिलकुल नयी थी; क्योंकि मैं कभी हिन्दुस्थान में ऊँट पर न चढ़ा था। पर एक बार चढ़ जाने पर कोई विशेष बात न हुई। पिरामिडों को नजदीक जाकर देखा। ये बहुत ऊँची चौखूँटी इमारतें हैं। हमारे देश में ईंटो का पजावा जैसे बनता है वैसे ही ये पत्थरों के बहुत बड़े-बड़े चौरस किये हुए टुकड़ों से बने हैं। पजावे की तरह ही नीचे की चौड़ाई ज्यादा है जो ऊपर की ओर कम होती गयी है। ईंटों का पजावा तो छोटा होता है, ये बहुत बड़े और बहुत ऊँचे हैं। जिस परिमाण में ये ऊँचे और चौड़े हैं उसी परिमाण में इनमें लगी हुई पत्थर की ईंटें भी पजावे की ईंटों से लम्बाई-चौड़ाई और मोटाई में अधिक हैं। मेरा अनुमान है कि एक-एक ईंट शायद चार-पाँच हाथ लम्बी होगी। इसी के अनुसार उसकी चौड़ाई और मोटाई भी होगी। न मालूम कितने दिनों में एक-एक ईंट काटकर इतनी बड़ी इमारत तैयार हुई होगी। इसमें कितने गरीबो ने अपनी जिन्दगी का कितना

हिस्सा लगाया होगा ? यह सब किसी एक राजा के नाम को उसके मरने के बाद भी, कायम रखने के लिए किया गया था ! नाम तो अब केवल पुस्तकों में रह गया है ! ये इमारतें, जिनसे मनुष्य कोई लाभ नहीं उठा सकता, अपनी जगह पर आज भी, हजारों बरसों के बाद ज्यों की त्यों, खड़ी हैं। उनमें से अनेकों के अन्दर की खुदाई हुई है। उन्हीं में से निकले हुए सामान का संग्रह कैरो के अजायबघर में है। मुझे स्मरण है कि हाल में हम लोगों ने अखबारों में पढ़ा था कि कब्रें खोदनेवाले की मृत्यु हो गयी थी। जिस किसी ने यह प्रयत्न किया वह मर गया। खोदनेवाला मर तो गया; पर वहाँ की खुदाई से बहुत सामान निकला।

स्फिंक्स एक अजीब चीज है। मनुष्य का मुँह और शरीर जानवर का है। एक बहुत बड़ी मूर्ति उस रेगिस्तान में इसी शकल की बनी पड़ी है। सुनते हैं कि प्राचीन काल में इससे प्रश्न किये जाते थे और यह भविष्य की बातें बता देता था। पर यह जो कुछ कहता था, उसका समझना बहुत कठिन था। अब ये बातें तो नहीं हैं, पर यह मूर्ति यों ही खड़ी उस प्राचीन समय का स्मरण कराती रहती है।

यह सब देखकर हम लोग संध्या तक वापस आकर रेल पर सवार हुए। पोर्ट-सईद में प्रायः ११ बजे रात के करीब पहुँचे। वहाँ जहाज पहुँच गया था। हम सब अपने-अपने कमरे में जाकर सो रहे। खाना-पीना रास्ते में रेल में ही हो चुका था।

भूमध्यसागर में पहुँचने पर कुछ सर्दी लगने लगी। लाल समुद्र तो बहुत गर्म था—अरब-सागर से भी अधिक। भूमध्यसागर में हवा भी जोर से चलती थी, इस-लिए जहाज कुछ हिलता था। मुझे एक दिन कुछ मतली-सी आयी, पर अधिक नहीं। रास्ते में जो देखने को मिला, मैं सब कुछ देखता गया। इटली के नजदीक सिसिली टापू के पास होकर ही जहाज गुजरा। वहाँ का शहर कुछ दूर पर देखने में आया। पहाड़ तो साफ नजर आता था। कई दिनों के बाद हम लोग मार्सेल्स (फ्रान्स) पहुँच गये। रास्ते में कोई विशेष बात नहीं हुई। कभी-कभी कोई टापू नजर आ जाता था तो सब लोग उसे देखने लगते थे। समुद्र-यात्रा में चारों ओर पानी ही पानी दीखता है। इससे दिन-रात पानी देखते-देखते एक-दो दिनों के बाद ही जी ऊब जाता है। अगर कहीं कोई दूसरा गुजरता हुआ जहाज नजर आ गया या जमीन देखने में आ गयी, तो बहुत आनन्द होता है। सभी मुसाफिर उसे इस तरह देखने लगते हैं मानो उन्होंने कभी जमीन देखी ही नहीं है।

हम लोग मार्सेल्स में सवेरे ही उतरे। वहाँ एक होटल में ठहर गये। वहाँ भी कुक-कम्पनी की कृपा से शहर के सभी देखने योग्य स्थानों को देख लिया। टामस-कुक का प्रबन्ध बहुत अच्छा होता है। यात्रियों को उनका दुभाषिया मुख्य-मुख्य स्थान दिखला देता है। उनकी अपनी मोटर-गाड़ी रहती है। ऐसा अच्छा प्रबन्ध रखते हैं कि निश्चित समय के अन्दर सब कुछ आदमी देख लेता है। सवेरे जहाज से उतरते ही, रात में रवाना होनेवाली गाड़ी में, अपने लिए जगह मैंने ठीक करा ली थी।

दिन-भर घूम-घाम कर रात की गाड़ी से पेरिस के लिए रवाना हो गया। पेरिस में गाड़ी बदलकर कैले पहुँचा। वहाँ फिर जहाज पर चढ़कर संध्या होते-होते डोवर में उतर गया। डोवर से रेल पर चलकर रात के प्रायः ९ बजे लंदन पहुँच गया। वहाँ मैं मार्च के तीसरे सप्ताह में पहुँचा था, पर अभी तक काफी सर्दी थी। स्टेशन पर पहले से वहाँ पहुँचे हुए मित्र मिल गये। मैं सीधे उस मकान में चला गया जो पहले से किराये पर लिया गया था। वह गोल्डर्सग्रीन में था। हम लोग कुछ दिनों तक वहीं ठहरे रहे।

वहाँ पर सब प्रबन्ध पहले से ही था। श्री महावीरप्रसाद बैरिस्टर और श्री कुँवरबहादुर पहले से ही वहाँ ठहरे थे। इसलिए वहाँ घर-जैसा ही मालूम हुआ। फिर गोवर्धन के मेरे साथ आ जाने से खाना भी हिन्दुस्थानी मिलने लगा। जैसे यहाँ हम लोग भात-दाल रोटी-तरकारी खाते हैं वैसे ही वहाँ भी खाने लगे। मैं तो मुकदमे की पैरवी के लिए गया था। जिस रात मैं पहुँचा, लोगों से कुछ बातचीत करके सो गया। पहुँचते ही मालूम हो गया कि सवेरे उठकर बैरिस्टर के यहाँ जाना होगा; क्योंकि उसने आपस में बातचीत करने के लिए समय दिया है। इसलिए, लंदन पहुँचने के बारह घंटों के अन्दर ही मैं काम में जुत गया। और, जब तक मुकदमा खतम न हुआ, दिन-रात उसी के काम में लगा रहा।

७१—लन्दन में मेरा कार्यक्रम और मुकदमे की पैरवी

मेरा कार्य्यक्रम वहाँ यह था कि मैं अपनी आदत के मुताबिक बहुत सवेरे उठता। वहाँ लोग सवेरे बहुत देर तक सोये रहते हैं। अधिकतर रात की पहली पहर में ही जागकर काम करते हैं। मैं ऐसा कभी नहीं करता। वहाँ भी ऐसा न कर सका। जब सब लोग सोये ही रहते थे, मैं मुँह-हाथ धोकर और स्नान कर कपड़े पहन कमरे में बैठ जाता और मुकदमे के कागज पढ़ने लगता।

सब लोग सवेरे प्रायः नव साढ़े नव बजे तैयार होते। उस समय तक मैं प्रायः दो घण्टे काम कर चुका होता था। उसके बाद नाश्ता करके प्रायः दस बजे लाइब्रेरी में चला जाता। वहाँ कानून की पुस्तकें पढ़ने लगता। वहाँ के हमारे एटर्नी ने लाइब्रेरी में हमारे लिए सुविधा करा दी थी। इससे अँगरेजी कानून की हर तरह की पुस्तकें देखने को मिल जातीं। एक बजे दिन तक इस तरह काम करके मैं नजदीक के ही एक शाकाहारी लोगों के रेस्तराँ में चला जाता। वहाँ कुछ फल, रोटी-दूध इत्यादि खा लेता। कहने से सब कुछ बिना अंडे के वह बना देते। दो-एक दिनों में तो वहाँ के आदमियों ने मुझे पहचान लिया, इसलिए पहुँचने पर कुछ कहने की भी जरूरत नहीं पड़ती। फिर संध्या तक कोर्ट में काम करके प्रायः छः बजे वहाँ से वापस आता। आना-जाना रेल से होता, जो जमीन के भीतर से चलती है। घर पर संध्या का भोजन करके शाम को कुछ देर के लिए टहलने जाता और लौटकर कुछ काम करके सो जाता। किसी-किसी दिन बैरिस्टरों के साथ सलाह-बात होती। उसके अनुसार इस कार्यक्रम

में तबदीली हो जाती। इस तरह प्रायः दो महीने बीते। अब बाबू हरिजी भी पहुँच गये। इस बीच में मुझे कुछ दिनों के लिए हाइथ में जाकर रहना पड़ा था।

हमारी तरफ के सीनियर बैरिस्टरों में एक श्री लक्समूर थे, जो थोड़े ही दिनों के बाद वहाँ के हाइकोर्ट के जज हो गये। उनका घर था हाइथ के पास एक गाँव में। ईस्टर की छुट्टी में वह अपने घर गये। हमारी ओर से उनसे कहा गया कि यह मुकदमा बहुत पेचीदा है, यदि आप कहें तो कागज पढ़ने में आपकी सहायता करने के लिए हममें से कोई आपके साथ वहाँ जाय। पहले वह राजी नहीं होते थे, पर बहुत कहने-सुनने पर वह राजी हो गये। मैं हाइथ में ठहरा। वहाँ से उनका घर सात-आठ मील की दूरी पर था। रोज सवेरे नव बजे उनकी मोटर आकर मुझे ले जाती। साढ़े नव बजे से हम लोग काम करने बैठ जाते। बीच में एक घंटा दोपहर के भोजन के लिए और आधा घंटा चाय के लिए छोड़कर प्रायः साढ़े छः-सात बजे तक काम करते रहते। मैं फिर हाइथ उसी तरह चला आता। दोपहर का खाना उन्हीं के यहाँ खाता। उनकी पत्नी को मेरे शाकाहारी होने की बात मालूम हो गयी थी। उन्होंने उसके लिए प्रबन्ध कर लिया था। प्रायः पन्द्रह दिनों तक वहाँ रहा। काम के सिलसिले में उनसे बहुत घनिष्ठता हो गयी।

हमारे सबसे सीनियर बैरिस्टर श्री अपजौन थे। उनकी अवस्था उस समय पचहत्तर से अधिक हो गयी थी। अब भी वह काफी परिश्रम कर लेते थे। स्वास्थ्य उनका बहुत अच्छा था। मुकदमे के कागज प्रायः पन्द्रह हजार पृष्ठों में छपे थे। बातें भी बहुत पेचीदा थीं। कहीं-कहीं एक ही कागज पचीस-तीस पृष्ठों का होता, पर उसमें हमारे काम की केवल तीन-चार ही पंक्तियाँ मिलतीं। हम लोगों के पास पटने से ही पूरा-पूरा नोट तैयार था। हम समझते थे कि हम अगर बैरिस्टरों के साथ बैठें और ऐसे दस्तावेजों के आवश्यक भाग की ओर उनका ध्यान आकर्षित कर दें तो उनका समय बच जायगा। इसलिए ही हम चाहते थे कि हमारे साथ वे कागज पढ़ें। पहले कोई राजी नहीं होता था, पर मिस्टर लक्समूर राजी हो गये। मिस्टर अपजौन नहीं राजी हुए। इसके लिए अलग से फीस देने को कहा। यहाँ हिन्दुस्तान में ऐसा ही हुआ था। कागज पढ़ने के लिए जब हममें से किसी के साथ सीनियर लोग बैठते तो उसके लिए फी घंटा ८५) अलग फीस लेते। प्रायः १५००० पृष्ठ इस तरह ८५) घंटे के हिसाब से पढ़वाये गये थे। बाबू हरिजी चाहते थे कि जो खर्च पड़े, यही बात वहाँ भी की जाय। पर मिस्टर अपजौन, जिनको हमारी ओर से सबसे पहले बहस करनी थी, इस पर किसी तरह राजी न हुए। उनका कहना था कि जो फीस हमको मिली है वह केवल इजलास पर बैठने या खड़े होने के लिए ही नहीं है, कागज पढ़ना हमारा कर्त्तव्य है; क्योंकि इसके बिना वहाँ हमारा जाना बेकार होगा, इसलिए कागज पढ़ने के लिए अलग फीस मैं नहीं लूँगा और मैं अपना काम खुद कर लूँगा—हाँ, अगर कहीं किसी विषय पर नोट की जरूरत होगी तो माँगूँगा, तुम लोगों को कोई नोट देना हो तो दे देना, मैं उसे देख लूँगा; यहाँ का रवाज

कागज पढ़ने के लिए किसी दूसरे के साथ बैठने का नहीं है, जब कभी दूसरे लोगों के साथ राय-मशविरा करना होगा तो बुला लूँगा; उसकी उचित फीस—जो कनसलटेशन की होती है—लूँगा।

बाबू हरिजी कुछ घबराये; क्योंकि वह समझते थे कि इतना वयोवृद्ध इतने कागजों को खुद पूरी तरह शायद न पढ़ सकेगा और पढ़ते-पढ़ते घबरा जायगा; क्योंकि जैसा ऊपर कहा गया है, किसी बहुत लम्बे कागज में २५–३० पृष्ठ पढ़ने के बाद दो-चार पंक्तियाँ काम की मिलेंगी और हो सकता है कि वह उन पंक्तियों को लाँघकर आगे बढ़ जाय और यह न समझे कि यह कागज किसलिए दाखिल किया गया है। जब उनसे यह कहा गया कि आपका समय बहुत फजूल चीजों के पढ़ने में व्यर्थ लगेगा तो उन्होंने जवाब दिया कि मैं एक पंक्ति भी बिना पढ़े नहीं छोड़ूँगा—तुम समझते हो कि वही दो-चार पंक्तियाँ जो तुम बताओगे, जरूरी हैं; पर बहस मुझे करनी है, हो सकता है कि मैं अपनी बुद्धि और अनुभव से दो-चार पंक्तियाँ ऐसी दूसरी भी निकाल लूँ जिनसे हमारा काम निकले और जिनको तुम लोगों ने गैरजरूरी समझा है; इसलिए मैं अकेला ही सब पढ़ूँगा और तब जरूरत पड़ने पर कुछ पूछना होगा तो पूछूँगा।

इसका उत्तर कुछ नहीं था। बाबू हरिजी को चुप रह जाना पड़ा। पर वह शंकित ही रहे।

प्रिवी कौन्सिल का कायदा है कि दोनों पक्ष अपनी बहस का सारांश लिखकर दाखिल कर देते हैं। इसे केस पेश करना कहते हैं। केस बड़ी सावधानी से तैयार किया जाता है; क्योंकि उसके बाहर की बातों पर बहस नहीं हो सकती। एक पक्ष को दूसरे पक्ष का केस, अपना केस दाखिल करने के पहले, देखने को नहीं मिलता। इसलिए दोनों पक्षों को, विपक्षी के केस का उत्तर भी, अपने केस में, पहले से ही अन्दाज से दे देना पड़ता है। जब मिस्टर अपजौन ने हम लोगों का केस तैयार किया, हमने उसे देखा। हम सबको, विशेषकर बाबू हरिजी को, पूरा विश्वास हो गया कि उन्होंने सारी पेचीदगियों को अच्छी तरह समझ लिया है और सभी कागजों को पूरा-पूरा पढ़ लिया है। इससे हम लोगों को पूरा सन्तोष हो गया। कानूनदाँ लोगों के बर्ताव का यह बहुत ऊँचा आदर्श मेरे देखने में आया। मैं तो इस पर मुग्ध हो गया। अफसोस के साथ कहना पड़ता है, अपने देश में इतना ऊँचा आदर्श मैंने नहीं देखा था!!

मिस्टर अपजौन से मेरी जान-पहचान विचित्र तरीके से बढ़ गयी। मेरा हिन्दुस्तानी लिबास देखकर वह समझते थे कि मैं या तो बाबू हरिजी हूँ या उनका कोई सम्बन्धी, जो मुकदमे की पैरवी के लिए आया है! वह मुझे वकील नहीं जानते थे। एक दिन 'कन्सलटेशन' में उन्होंने कुछ प्रश्न किये। मैं पीछे बैठा था, मैंने उत्तर दे दिया। उन्होंने मेरी ओर देखा, पर कहा कुछ नहीं। पीछे हममें से एक आदमी से, जो उनके यहाँ वकील की हैसियत से जाया-आया करते थे, उन्होंने कहा कि हम

लोगों का मवक्किल तो बड़ा होशियार मालूम होता है, उसने मेरे प्रश्नों का अच्छा उत्तर दिया था। इस पर हमारे सहकर्मी ने मेरे बारे में बताया कि मैं मवक्किल नहीं, बल्कि एक वकील हूँ और अपनी वकालत छोड़ दी है। इससे उनका कुतूहल कुछ बढ़ गया। पीछे उन्होंने मुझसे बहुत काम लिया। अनेक प्रकार के नोट तैयार करने की फरमाइश की। मैं बराबर तैयार करके दे देता। जब मुकदमे की पेशी का समय आया तो उन्होंने मुझसे पूछा, क्या तुम इजलास पर हाजिर रहना चाहते हो? मेरे 'हाँ' कहने पर बोले, यह जरूरी नहीं है, तुम्हारा समय दूसरे तरीके से बेहतर उपयोग में आवेगा, मुझे बहुत विषयों पर नोट चाहिए, तुम घर पर रहकर तैयार करो। मैंने कहा, यदि मैं नोट तैयार करके दे दिया करूँ और घर पर रहना जरूरी न हो तो? उन्होंने कहा, नहीं, नोटों के तैयार करने में समय लगेगा, तुम हाजिर नहीं हो सकोगे; पर यदि तुम नोट में देरी न करो और इजलास पर भी हाजिर रह सको तो मुझे कुछ उज्र नहीं है; पर नोट में देरी मैं बर्दाश्त नहीं कर सकूँगा। यह बात मशहूर थी कि वह बहुत बदमिजाज हैं, अपने विरोधी और साथी बैरिस्टरों तथा जजों से भी उलझ जाया करते हैं। इसलिए मैं बहुत डरता था; पर मैंने देख लिया कि वह मेरे नोटों से सन्तुष्ट हो जाते थे। वह टेलिफोन कर देते थे कि मैं इजलास लगने के दस या पाँच मिनट पहले उनसे मिलूँ। वहाँ वह घर से ही उन विषयों को नोट करके लाते जिन पर मुझसे वह नोट लिखाना चाहते थे। मुझे वह उन नोटों को लिखवा देते। मैं उसके पहले के नोट देखकर आता और उनमें जो कुछ पूछना होता, पूछ लेता। यदि मैं पहले से कागज-पेन्सिल लेकर तैयार न रहता तो इस पर भी वह बिगड़ जाते। समय का इतना सदुपयोग करते कि एक मिनट भी बर्बाद न होने पाता।

मैंने एक बात और देखी। वह हमारे देश के, विशेषकर पटने और कलकत्ते के, वकीलों और बैरिस्टरों के लिए अनुकरणीय है। जब मैं वकालत करता था, मेरा अनुभव हुआ कि कोर्ट में जाने पर जब तक हम घर लौटकर नहीं आते तब तक का हमारा अधिकांश समय, जो अपने मुकदमे की पेशी में नहीं लगता, प्रायः बेकार बरबाद हो जाता है। बार-एसोसिएशन या पुस्तकालय में बैठकर हम लोग बहुत कम कागज अथवा पुस्तकें पढ़ते हैं। हम लोग अपने मुकदमे की बहस की तैयारी घर पर ही किया करते हैं। कोर्ट में जब मुकदमा पेश होता है और जब तक चलता रहता है तब तक, जिसका मुकदमा रहा उसका समय तो उपयोग में आया, पर जिन दूसरे लोगों की मुकदमे की पेशी नहीं हुई है वे केवल गपशप में सारा समय बिताते हैं। कहीं-कहीं शतरंज की बाजी भी जम जाती है। मेरा अपना अनुभव भी यही था कि वहाँ पर बैठकर कागज या पुस्तक पढ़ना बहुत मुश्किल है; क्योंकि इसके लिए वहाँ का वायुमंडल अनुकूल नहीं रहता। जहाँ सब लोग गपशप और हँसी-मजाक कर रहे हों वहाँ कोई कैसे पढ़ सकता है। इसलिए मुकदमों के कागज पढ़ने का सारा समय घर पर ही निकालना पड़ता है। मेरे पास काफी मुकदमे रहा करते थे। इसलिए मुझे

बराबर प्रायः ३–४ बजे तड़के ही उठकर तैयारी करनी पड़ती थी। वहाँ मैंने देखा कि बैरिस्टर अपना सारा काम चाहे लाइब्रेरी में या अपने चेम्बर में ही पूरा करते हैं। इजलास पर जजों के बैठने के कुछ पहले ही आ जाते हैं। फिर इजलास उठ जाने के बाद भी घंटा दो घंटा बैठ जाते हैं। बीच में जब मुकदमे की पेशी से छुट्टी मिलती है, काम करते हैं। कोई-कोई तो घर पर मुकदमे के कागज ले भी नहीं जाते। यहाँ तक कि घर में कानून की पुस्तकें भी नहीं रखते। उनका विचार है कि घर तो बस घर ही है—वहाँ बालबच्चों से मिलना, बातें करना, खाना-पीना, दिल बहलाना, अथवा जी चाहे तो इच्छा के अनुसार दूसरी पुस्तकें पढ़ना चाहिए; पेशे का काम तो दिन-भर में चाहे चेम्बर में चाहे इजलास पर ही करना चाहिए। इस प्रकार दिन का पूरा समय ठीक उपयोग में आता है तथा रात और सवेरे का समय अपना होता है, जिसे हम जिस तरह चाहें अपने उपयोग में ला सकते हैं।

वहाँ के बहुतेरे वकील-बैरिस्टर सनिवार और रविवार को लंदन से बाहर चले जाते हैं। मिस्टर अपजौन बिला नागा प्रत्येक शुक्रवार की संध्या को इजलास से उठकर सीधे स्टेशन जाते थे। वहाँ से रेल द्वारा लंदन से प्रायः ७० मील की दूरी पर अपने गाँव के घर में जाकर रहा करते थे। फिर रविवार की संध्या को लंदन चले आते थे। सप्ताह के अन्तिम दो दिनों को हमेशा गाँव की खुली हवा में ही बिताते थे। हम लोगों की इच्छा थी कि जब तक यह मुकदमा पेशी में रहे, वह लंदन में ही रहें। हम समझते थे कि सनीचर-इतवार को ही दूसरे पक्ष की बहसवाली और अपनी बातें उनसे कहने का मौका मिल सकेगा; क्योंकि और दिनों तो सारा समय इजलास पर ही लग जायगा। उनसे कहा गया कि आप सनीचर-इतवार को लंदन में ही रहें और उन दिनों के लिए भी वैसे ही फीस ले लें जैसे पेशी के दिन की लेते हैं। उन्होंने इसे मंजूर नहीं किया। फीस की लालच भी उन्हें अपने इस नियम से न हटा सकी। अन्त में बहुत जिद करने पर उन्होंने कहा कि सप्ताह के ये दो दिन यदि मैं गाँव की खुली हवा में न बिताऊँ तो सप्ताह के बाकी पाँच दिन मैं काम के लायक नहीं रहूँगा—क्या तुम समझते हो कि मैं यदि यह नियम न रखता तो आज इस उम्र में इतना काम कर सकता था? मवक्किल को समझा दो कि यहाँ रहने से मैं उनका काम बिगाड़ूँगा, बनाऊँगा नहीं, इसलिए वह जिद्द छोड़ दें। हम लोग भी उनकी बात समझ गये। यदि हमारे देश के लोग भी इस तरह समय का उपयोग करते और स्वास्थ्य का खयाल रखते, तो हमारी जिन्दगी कुछ लम्बी हो जाती और हम काम भी अधिक कर सकते।

हम लोगों का, खासकर हमारे बड़े-बड़े बैरिस्टरों का, खयाल था कि हमारा मुकदमा बहुत मजबूत है, हम जरूर जीतेंगे। मिस्टर अपजौन का कहना था कि हमको शायद बहुत जवाब देने की भी जरूरत नहीं पड़ेगी। मुकदमे की बहस २०-२२ दिनों [illegible] की ओर से चली। अभी शायद एक-डेढ़ महीने तक और उधर की

ही बहस चलती। इसी बीच में कचहरी प्रायः तीन महीनों के लिए बन्द होने जा रही थी। इसका नतीजा यह होता कि मुकदमे की पेशी फिर अक्टूबर में होती और शायद दिसम्बर तक चली जाती। उन दिनों सर्दी काफी पड़ेगी और हममें से बहुतेरे उसे सह न सकेंगे; खासकर मैं तो उस सर्दी को बर्दाश्त कर ही नहीं सकता था। बाबू हरिजी इससे बहुत घबराये। एक मौका मिला तो किसी दूसरे से बिना पूछे ही सुलह की बात तय कर ली। वह जानते थे कि वकील-बैरिस्टर सुलह करने की बात पसन्द नहीं करेंगे; क्योंकि वे तो मुकदमा जीतने में दृढ़ आशावान् थे। तब भी, खर्च बचाने और जाड़े की दिक्कतों से बचने के लिए, बहुत नुकसान उठाकर, उन्होंने सुलह कर ली। सब बातें तय कर लेने पर, लिखकर दाखिल करने के समय, उन्होंने ये बातें सबसे कहीं। दूसरे को अब कुछ कहना नहीं था। सुलहनामा पेश हो गया। मुकदमा अचानक एक दिन, जुलाई के अन्तिम सप्ताह में, समाप्त हो गया। हम सबको छुट्टी मिल गयी।

मिस्टर अपजौन मुकदमे की बातें छोड़ कभी दूसरी बातें नहीं करते थे। उनके साथ मेरा इतना काम पड़ा कि उन्होंने मेरे सम्बन्ध में कुछ जानने की इच्छा से श्री कुँवरबहादुर से कुछ बातें पूछीं। उनको यह मालूम हो गया कि अब वकालत छोड़कर मैं गांधीजी के साथ काम करता हूँ। इससे उनको आश्चर्य हुआ। एक दिन मुझसे पूछा भी। यह भी कहा कि गांधीजी उनके मवक्किल रहे हैं! जलियाँवालाबाग के हत्याकाण्ड के लिए जेनरल डायर पर मुकदमा चलाने के सम्बन्ध में उनसे राय ली गयी थी। उन्होंने राय दी भी थी। मैंने उनसे कहा कि गांधीजी डायर पर मुकदमा चलाने के विरुद्ध थे, हो सकता है कि पं० मोतीलालजी और देशबन्धु दास ने आपकी राय मँगवायी हो। इस पर उन्होंने कहा, मैंने समझा कि काँग्रेस की ओर से गांधी ने ही मेरी राय मँगवायी है। उस समय तक मैं खुद भी नहीं जानता था कि हत्याकाण्ड का मामला इस हद तक पहुँचा है और विलायत के बैरिस्टर से राय ली गयी है। मेरे सम्बन्ध में उन्होंने इतना ही कहा, तुमको वकालत नहीं छोड़नी चाहिए, इस सम्बन्ध में मुकदमा खतम होने पर एक दिन बातें करूँगा। लेकिन मुकदमा तो अचानक समाप्त हो गया और मुझे बहुत जल्दीबाजी में लंदन छोड़ देना पड़ा; इसलिए उनसे फिर बातें न हुईं।

७२—युद्धविरोधी सम्मेलन में

लंदन छोड़ने का एक विशेष कारण हुआ। जिस दिन मुकदमा समाप्त हुआ उसके दो ही दिनों के बाद, आस्ट्रिया के छोटे गाँव सन्तासवर्ग में, जो वियना से कुछ दूर पर है, एक अन्तरराष्ट्रीय युद्ध-विरोधी सम्मेलन होनेवाला था। मैं इस विषय में कुछ दिलचस्पी रखता था। मिस्टर फेनर ब्राकवे उसके सभापति होनेवाले थे। बिहार के ही श्री तारिणीप्रसादसिंह ने, जो इँगलैंड में बहुत दिनों से थे और जो उस सम्मेलन में जानेवाले थे, मुझसे कहा कि मैं भी चलूँ तो अच्छा होगा। इस तरह

के सम्मेलन की बात मैंने पहले से भी सुन रखी थी। उसमें जाने का पहले से ही इरादा कर रखा था। मुकदमा खतम हो जाने से बहुत अच्छा सुयोग मिल गया। इसलिए मैं वहाँ जाने को तुरंत राजी हो गया। हम लोग एक और पंजाबी मित्र के साथ रवाना हो गये। दूसरे दिन वहाँ पहुँच गये। रास्ते में कोई विशेष घटना न हुई। योरप के छोटे-छोटे देशों का केवल कुछ अन्दाज मिल गया। जब गाड़ी चार-पाँच घंटे चलकर ठहर जाती तब जान पड़ता कि अब दूसरे देश की सीमा पर हम पहुँच गये। वहाँ उस देश के कर्मचारी चुंगी के लिए हमारे सामान देखने आ जाते। हमारे पासपोर्ट (राही परवाना) को भी जाँचते। इस तरह आस्ट्रिया प्रायः २४ घंटों में हम पहुँचे। रास्ते में तीन-चार बार सामान दिखलाना पड़ा।

युद्ध-विरोधी सम्मेलन हुआ था एक गाँव में, जहाँ एक छोटी पहाड़ी पर पुराना गिरजाघर था। उसमें जर्मनी, आस्ट्रिया, फ्रान्स, इँगलैंड, प्लस्तीन, चेकोस्लोवेकिया, हालैंड इत्यादि अनेक देशों के प्रतिनिधि उपस्थित थे। प्रतिनिधि-संख्या बहुत बड़ी नहीं थी; किन्तु अपने-अपने स्थान पर सभी बहुत धुन से युद्ध-विरोधी प्रचार के काम में लगे थे। इनमें से बहुतेरों ने इसके लिए सजा भुगती थी, जेलखाने हो आये थे। जब उन लोगों को मेरे बारे में यह मालूम हुआ कि मैं गांधीजी के साथ काम करता हूँ तो उनका स्वभावतः मेरी ओर ध्यान आकर्षित हो गया। वे लोग मुझसे गांधीजी के कामों और कार्यशैली के सम्बन्ध में बहुत पूछताछ करते रहे। कान्फ्रेन्स में भी कुछ कहने का मुझसे आग्रह किया गया। मैंने महात्माजी के कार्य के सम्बन्ध में कुछ बातें बताईं। भारत में उन दिनों बारडोली का सत्याग्रह चल रहा था। उसकी कुछ-कुछ खबर हमको वहाँ मिली थी। मैंने विशेषकर चम्पारन और बारदोली के सत्याग्रह के सम्बन्ध में ही भाषण किया। मैंने यही दिखलाया कि किस तरह उनकी अहिंसा की नीति सार्वजनिक प्रश्नों के हल करने में काम में लायी जाती है और वह कहाँ तक सफल हुई है। हम लोग वहाँ दो-तीन दिन ठहरे। बहुत अच्छा समय बीता।

कान्फ्रेन्स की कार्रवाई—जर्मन, फ्रेञ्च, अँगरेजी और एसपरेण्टो—चार भाषाओं में होती थी। एक जर्मन युवक, जिसकी चर्चा पहले कर चुका हूँ, चारों भाषाओं का ऐसा अच्छा पंडित था कि चाहे किसी भी भाषा में भाषण हो वह शीघ्रलिपि (शार्ट-हैण्ड) से पूरा भाषण लिख लेता था और अपने नोट को सामने रखकर पूरा का पूरा भाषण बाकी तीन भाषाओं में उल्था करके सुना देता था।

कान्फ्रेन्स में युद्ध-विरोधी प्रस्ताव पास किये गये। यह निश्चय हुआ कि कान्फ्रेन्स के बाद, कुछ मुख्य स्थानों में, कान्फ्रेन्स के प्रतिनिधि जाकर युद्ध-विरोधी भाषण द्वारा प्रचार करें। वहाँ से कुछ दूर पर ग्राट्ज नामक शहर है। वहाँ डाक्टर स्टाण्डिनाथ अपनी धर्मपत्नी के साथ रहा करते थे। यह वहाँ के मेडिकल कालेज में शिक्षक थे। महात्माजी से इस दम्पती का पत्रव्यवहार हुआ करता था, यद्यपि ये लोग उस समय तक हिन्दुस्तान नहीं आये थे। मेरे योरप आने के समय महात्माजी ने मुझे इनके नाम एक पत्र दिया था और कहा था कि उधर जाना हो तो इनसे

मिल लेना। जब ग्राट्ज भी जाने की बात हुई तो मैंने उनको सूचना दे दी और गांधीजी का पत्र भी भेज दिया। कान्फ्रेन्स के मंत्री इँगलैंड के श्री रनहम ब्राउन थे। उनके साथ कई और प्रतिनिधि वियना और ग्राट्ज जाने के लिए नियुक्त किये गय। वियना में एक सभा हुई जिसमें वहाँ के एक प्रसिद्ध पादरी श्री उदा सभापति हुए। वहाँ की सभा में कुछ ऐसे लोग आये थे जो बीच-बीच में बहुत शोर मचाते रहे। मैं उनकी बात समझ नहीं सकता था; इसलिए यह नहीं कह सकता कि वह क्या बोलते या चाहते थे; पर इतना तो मालूम हुआ कि वे लोग विरोधी विचार के थे। उस सभा में इससे अधिक कोई घटना नहीं हुई।

दूसरे दिन हम लोग ग्राट्ज गये। वहाँ सन्ध्या को ५ बजे हम पहुँचे। सात बजे से सभा होनेवाली थी। स्टेशन पर डाक्टर स्टाण्डिनाथ अपनी स्त्री के साथ आये थे। उन्होंने मुझे अपने यहाँ ठहरने के लिए निमंत्रित किया और मैं उनके साथ चला गया। दूसरे साथी कहीं दूसरी जगह ठहरे, जिसका मुझे पता न था; हम समझते थे कि फिर दो घंटों के बाद तो मुलाकात होगी ही। डाक्टर स्टाण्डिनाथ के घर से थोड़ी ही दूर पर सभा-स्थल था। उनके घर पर हाथ-मुँह धो कुछ खाकर, उन दोनों के साथ मैं, सभा-स्थान के लिए, समय से कुछ पहले, रवाना हुआ। वहाँ पहुँचकर उस बड़े कमरे के अन्दर गया जहाँ सभा होनेवाली थी। इस तरह की सभा मैंने कभी देखी न थी। एक बड़ा हाल था जिसमें प्रायः चार-पाँच सौ आदमी बैठ सकते थे। छोटी-छोटी मेजें सारे कमरे में रखी थीं। प्रत्येक मेज के चार तरफ से पाँच-छः आदमी बैठे थे। प्रत्येक आदमी के सामने शराब का गिलास रखा था। प्रायः सभी सिगरेट या सिगार पी रहे थे। सारा कमरा धुएँ से भरा हुआ था। कमरे के अन्दर जाने के लिए एक तरफ दरवाजा था। कमरे के दूसरे छोर पर, दीवार के नजदीक, लकड़ी का एक चबूतरा (प्लाटफार्म) बना था, जिस पर पाँच-सात कुर्सियाँ रखी थीं और एक लम्बी-सी मेज भी। उस प्लाटफार्म के एक कोने के नजदीक एक छोटा-सा दरवाजा भी था, जिसका किवाड़ बन्द था। हम लोग कमरे के अन्दर घुसे। मेरी पोशाक से ही शायद कुछ लोग समझ गये कि मैं भी उन लोगों में से हूँ जो वहाँ भाषण करने आये हैं। कमरे में घुसते ही मुझसे एक आदमी ने पूछा कि मैं जर्मन में भाषण करूँगा या किसी दूसरी भाषा में। मैंने कह दिया कि मैं अँगरेजी जानता हूँ और जो कुछ कहना होगा, अँगरेजी में कहूँगा—यदि प्रबन्धकों ने भाषान्तर का कोई प्रबन्ध किया होगा तो मेरे भाषण का भाषान्तर कोई कर देगा।

हम ज्योंही कमरे के बीच तक पहुँचे, एक ओर शोर-गुल शुरू हुआ। मैं कुछ समझ न सका; पर उस दम्पती ने मुझसे कहा, विरोधी लोग यह शोर मचा रहे हैं। हम तीनों सीधे उस मंच की ओर चले गये। प्रोफेसर स्टाण्डिनाथ उस प्लाटफार्म के कोनेवाले दरवाजे की तरफ गये। उसे उन्होंने खोलना चाहा, पर वह बन्द था। इस बीच में कोई १०-१२ आदमी उछल कर मंच पर चले आये। वे घूसे-मुक्के से मेरे ऊपर प्रहार करने लगे। उन दोनों (दम्पती) ने बीच में पड़कर कुछ चोटें अपने

ऊपर ले लीं। इतने ही में आक्रमणकारियों में से कुछ ने कुर्सियों को पटक-पटक कर तोड़ डाला और उनके टूटे हिस्सों से हम पर प्रहार करना जारी रखा। बेचारे दम्पती घायल हो गये। उनके सिर से लहू बहने लगा। मैं भी घायल हो गया। मेरे सिर से भी लहू चूने लगा। हम लोग समझ ही न सके कि यह क्या हुआ और हम पर क्यों हमला किया गया। उस समय मेरे मन में अनायास यह खयाल आया कि अब यहाँ से नीचे उतर जाना चाहिए। हम प्लाटफार्म से कूदकर नीचे उतर गये। हमें पता न था कि नीचे बैठे हुए लोगों का क्या रुख है। जब तक हम पर हमला हो रहा था, कोई न उठा और न कोई कुछ बोला। हम जब नीचे उतर गये तब भी कोई कुछ न बोला। उनके बीच होकर हम दरवाजे की तरफ चले गये। केवल एक स्त्री हमारे साथ हो गयी और बाहर निकलने पर प्रोफेसर स्टाण्डिनाथ से कुछ बातें करती रही। हम लोग खून से तर हुए ही घर पहुँच गये। वहाँ प्रोफेसर ने पहले मेरे घाव को धोकर पट्टी बाँधी। उसके बाद अपनी स्त्री के और अपने घाव धोये। वे लोग अँगरेजी कम जानते थे। मुश्किल से वे अपने विचारों को बता सकते थे।

मैंने समझा कि जिन लोगों ने हमला किया था वे उस दल के थे जो युद्ध के पक्ष में हैं, इसलिए युद्ध-विरोधी प्रचार को वे रोकना चाहते थे। अपने साथियों की मुझे कुछ भी खबर न मिली। पीछे सुना कि वे लोग प्लाटफार्म के छोटे दरवाजे के नजदीक हमारे इन्तजार में बाहर खड़े थे। उनको पीछे मालूम हुआ कि भीतर यह घटना हो गयी। सभा तो हो ही न सकी, वे लोग भी चले गये। मैं दूसरे ही दिन सवेरे वहाँ से वियना के लिए रवाना हो गया। मुझे कुछ दूर तक पहुँचाने के लिए स्टाण्डिनाथ सपत्नीक साथ आये। पट्टी हम तीनों को बँधी हुई थी। रेल के यात्रियों ने हमारा हाल पूछा। जब डाक्टर स्टाण्डिनाथ ने सब बातें कह दीं तो एक स्त्री ने अपनी गठरी खोलकर कुछ खाने की चीजें मुझे दीं। पर वे मांस की बनी थीं, हम नहीं ले सके। धन्यवादपूर्वक डाक्टर ने उसे समझा दिया। मैंने देखा कि उस सुदूर विदेश में भी साधारण जनता किसी परदेसी के लिए वही भाव रखती है जो हम हिन्दुस्तान में कहीं भी देख सकते हैं। इस घटना की खबर समाचार-पत्रों में छपी। वहाँ के पत्रों ने इस पर टिप्पणी भी की। यहाँ हिन्दुस्तान तक खबर पहुँच गयी। महात्माजी को भी इधर-उधर से कुछ सुनने को मिला। मैंने तो उस समय किसी को न लिखा। पर डाक्टर स्टाण्डिनाथ ने महात्माजी को लिख भेजा। उन्होंने 'यंग इण्डिया' में पहले-पहल पूरा हाल छाप दिया।

७३—श्री रोमा रोलाँ से मुलाकात और युवक-सम्मेलन में

मैं वहाँ से सीधे स्विटजरलैण्ड गया। मेरी बहुत इच्छा थी कि श्री रोमा रोलाँ से जाकर मिलूँ। इसलिए मैं वहाँ गया जहाँ वह बराबर रहा करते हैं। पर वहाँ उनकी बहन से मुलाकात हुई तो मालूम हुआ कि वह गर्मी के कारण कार्टरीगी पहाड़ पर गये हैं। मैं वहाँ चला गया। रास्ता बहुत ही सुन्दर था। रेल ऊँचे पहाड़ पर आहिस्ता-

आहिस्ता चढ़ती गयी। वहाँ बर्फ से ढके पहाड़ थोड़ी दूरी पर नजर आ रहे थे। मैं एक होटल में ठहराया गया। श्री रोमा रोलाँ ने ही सब प्रबन्ध कर दिया था। दो दिनों तक वहाँ रहा। उनसे भेंट हुई। बातें भी हुईं। पर मुश्किल यह थी कि वह अँगरेजी नहीं बोल सकते थे और मैं फ्रेन्च नहीं समझता था! होटल में एक अँगरेजी जाननेवाला उन्होंने खोज निकाला। पर उसकी विद्या भी कुछ अन्दाज की ही थी। उनसे मिलकर मुझे जितना लाभ होना चाहिए था, न हो सका। उन्होंने ग्राट्ज की घटना का हाल पत्रों में पढ़ा था। मेरे पट्टी बँधे हुए सिर और हाथ को उन्होंने देखा। वहाँ से रवाना होकर, स्विटजरलैण्ड के कुछ और शहरों को देखते हुए, मैं लंदन के लिए चल पड़ा। मैंने बर्नवेल, न्युटाटेल, लोसान और जेनीवा शहरों को देखा। न्युटाटेल में एक छोटी, पर अचम्भा पैदा करनेवाली, घटना हुई। मैं वहाँ बाजार में घूम रहा था। एक दूकान में हाथ का बुना हुआ कुछ कपड़ा बिकता था। मैं वहाँ गया। एक लड़की बेचने का काम कर रही थी। वह अँगरेजी जानती थी। जब मैंने हाथ के बुने कपड़े की बात की और उसने मेरी पोशाक देखी तो समझ लिया कि मैं हिन्दुस्तान का रहनेवाला हूँ। मुझे यह जानकर बहुत आश्चर्य हुआ कि वह गांधीजी का केवल नाम ही नहीं जानती थी, बल्कि जो ग्रन्थ उनके सम्बन्ध में उसे मिले थे उन्हें पढ़ भी गयी थी। उसने मुझे म्युनिक की एक दूकान का पता दिया जहाँ हाथ के बुने कपड़े मिल सकते हैं। अपनी दूकान में रखे हुए पुराने स्विस चर्खे का नमूना भी दिखलाया। वह हमारे देश के पुत्तीवाले चर्खे के समान ही था, पर वह ऊँची कुर्सी या स्टूल पर बैठकर चलाया जा सकता है। मैंने वहाँ पहले-पहल समझा कि गांधीजी के सम्बन्ध में श्री रोमा रोलाँ की पुस्तक ने कितना प्रचार कर दिया है।

स्विटजरलैण्ड के शहरों को देखता हुआ मैं पेरिस पहुँचा। वहाँ भी एक या दो दिन ठहर शहर देखकर लंदन पहुँचा। लंदन में अपने मकान पर मैं संध्या समय ६-७ बजे पहुँचा। घर में पहुँचने पर सन्नाटा पाया, कोई नहीं था। पूछने से मालूम हुआ कि हमारी गैरहाजिरी में एक भयंकर दुर्घटना हो गयी है। श्री सत्यरंजनप्रसाद सिंह, जो हम लोगों के साथियों में थे, एक दिन कहीं से लौटते समय, ठीक अपने मकान के सामने ही, बस से उतरे और सड़क पार करने में मोटर से धक्का खाकर बेहोश गिर गये। उनकी अवस्था बहुत खराब थी। सभी लोग उस नर्सिंग होम (शुश्रूषागृह) में गये थे जहाँ उनकी चिकित्सा हो रही थी। मुँह-हाथ धोकर मैं भी तुरन्त वहाँ गया। चोट लगने के बाद से उनको होश कभी नहीं हुआ। जब मैं पहुँचा, वह बेहोश ही थे। हालत चिन्ताजनक थी। उसी रात उनकी मृत्यु हो गयी!

मेरी इच्छा थी कि मुकदमा खतम हो जाने पर मैं लंदन देखूँगा और अन्यत्र भी कुछ घूम-फिरकर हिन्दुस्थान लौटूँगा। पर इस दुर्घटना से सभी लोगों का चित्त बहुत उदास हो गया। हम सबकी इच्छा हो गयी कि जल्द से जल्द अब हिन्दुस्थान वापस चला जाय। अब वहाँ ठहरकर किसी चीज को देखने का जरा भी जी नहीं चाहता था। उनकी मृत्यु के बाद दो-तीन दिनों तक वहाँ मृत्यु-सम्बन्धी कोरोनर की

जाँच के लिए ठहरना पड़ा। उसने फैसला दिया कि दुर्घटना से मृत्यु हुई है, किसी का दोष नहीं है, और हमको शव दे दिया। उसको हम लोगों ने वहाँ के क्रिमेटोरियम में जलाया। मैं उसी रात एडिनबरा चला गया। वहाँ से वापस आकर हम सब लोग रवाना हो गये। लंदन में कुछ नहीं देख सका। यहाँ तक कि ब्रिटिश म्युजियम का भी दर्शनमात्र ही हुआ। उसके अन्दर जाकर कुछ देख न सका।

हम लोग लंदन से इस इरादा से रवाना हुए कि मार्सेल्स में 'मुलतान' जहाज पर सवार होंगे, जो अगस्त के अन्तिम सप्ताह में किसी दिन वहाँ से रवाना होनेवाला था। बीच में दस-बारह दिन मिल जाते थे। मैंने सोचा कि इन दस-बारह दिनों को योरप के देशों के देखने में लगाऊँगा। इन्हीं दिनों हालैण्ड में युवकों का एक अन्तरराष्ट्रीय सम्मेलन होनेवाला था। मैं वहाँ भी गया। उसी सम्मेलन में बंगाल के डाक्टर सन्याल से भेंट हुई। वह भी कुछ-कुछ युद्ध-विरोधी सम्मेलन ही था। उसमें भी कई देशों के युवक आये थे। एक विशेषता यह भी थी कि उसमें अमेरिका के बहुत प्रतिनिधि थे। पूर्वोक्त सन्ताग्सवर्ग के युद्ध-विरोधी सम्मेलन से यहाँ प्रतिनिधियों की संख्या बहुत अधिक थी; पर जितनी गम्भीरता और हार्दिक उत्साह वहाँ था, यहाँ मैंने नहीं देखा। यह सम्मेलन भी किसी शहर में न होकर एक गाँव में ही हुआ था। हम सब किसी मकान में न ठहर कर खीमे में ठहरे थे। प्रबन्ध बहुत सादा था। समय पर 'साइरेन' बजता था। सभी लोग अपने गिलास और तश्तरी लेकर एक बड़े खीमे में पहुँच जाते। वहाँ लकड़ियों के पटरे जोड़कर काम चलाऊ मेजें और बेंचें बनी थीं। वहीं खाना या नाश्ता मिल जाता। फिर साइरेन बजने पर सम्मेलन में सभी पहुँचते थे। तब वहाँ भाषण होते। मैंने देखा कि देश-देशान्तर के उन युवकों की पूरी दिलचस्पी सभी राष्ट्रीय और अन्तरराष्ट्रीय विषयों में है। वहाँ बड़े उत्साह के साथ राष्ट्रसंघ (League of Nations) जैसी संस्थाओं और उनकी कार्रवाइयों तथा उपयोगिता पर बहुत बहस हो रही थी। कुछ जर्मन भी उसमें शरीक थे। मैंने अनुमान किया कि उस देश में आपस में मतभेद है—दूसरे देशों के प्रतिनिधियों में भी वहाँ की समस्या-सम्बन्धी विचार-शैली में भेद है। इस सम्मेलन में भी मैंने भाषण किया।

७४—जर्मनी और इटली की सैर तथा स्वदेश में वापस

वहाँ से मैं बर्लिन गया। यहाँ पर अपने ठहरने और कार्यक्रम का कुछ वर्णन कर देना अच्छा होगा। मैंने एक यात्रा-क्रम बना लिया था जिसमें जर्मनी के तीन शहर रख लिये थे—बर्लिन, लीपजिग और म्युनिख। इटली में वेनिस और रोम तथा फ्रान्स के दक्खिन में नीस होते हुए मार्सेल्स पहुँचने का विचार था। समय इतना कम था कि इससे अधिक कहीं जा नहीं सकता था और इन शहरों में भी पूरा समय नहीं दे सकता था। मैं प्रायः रात की गाड़ी से रवाना होता। वहाँ की गाड़ियों में अधिक महसूल देने पर सोने के लिए जगह मिल जाती है। इसलिए मैं ऐसी गाड़ी चुन लेता जो रात को दस-ग्यारह बजे रवाना होती और लक्ष्य-स्थान पर सवेरे पहुँचती। सोने का

टिकट लेकर रात को आराम से गाड़ी में सोता। सवेरे गाड़ी में ही मुँह-हाथ धोकर उतरता। स्टेशन पर उस कमरे की तलाश कर लेता जहाँ मुसाफिरों के सामान हिफाजत के लिए रख लिये जाते हैं। प्राय: प्रत्येक स्टेशन पर टामस-कुक का प्रतिनिधि मिल ही जाता; केवल लीपजिग में वह नहीं मिला था।

बर्लिन स्टेशन पर उतरने पर पहले कोई परिचित आदमी नहीं मिला। पर जब मैं टैक्सीवाले से सिर्फ अपने इशारों के सहारे अँगरेजी होटल की तलाश करने के प्रयत्न में लगा था, टामस-कुक का आदमी नजर आ गया। वह मुझे एक होटल में ले गया। इत्तिफाक से बाबू हरिजी भी उसी होटल में पहुँचे। उनसे मुलाकात हो गयी। दो या तीन दिनों तक मैं वहाँ ठहरा। घूम-घूमकर बर्लिन देखा। वहाँ श्री बी० चट्टोपाध्याय से मुलाकात हुई। रूस से उनका कुछ सम्बन्ध था। कहते थे कि मैं यदि वहाँ जाना चाहूँ तो वह पासपोर्ट का प्रबन्ध कर सकेंगे। पर समय की कमी के कारण मैं यह लाभ न उठा सका। बर्लिन में मैं एक ऐसे रेस्तराँ में जाकर खाया करता था जहाँ शाकाहार मिल सकता था। उसी ने सारे योरप के बड़े-बड़े शहरों के शाकाहारवाले रेस्तराँ की फिहरिस्त दे दी। उसमें सबके नाम और पते छपे थे। स्टेशन पर उतर, उसी कागज को दिखला कर, मैं ऐसे रेस्तराँ तक पहुँच जाता और वहीं भोजन करता। कुछ दिक्कतें अंडे के कारण होतीं; पर मैंने एक-दो शब्द सीख लिये थे (जिनको अब भूल गया हूँ) जिनसे यह जता देता कि मुझे अंडे से भी परहेज है।

लीपजिग में केवल दिन-भर ठहरा। वहाँ टामस-कुक का प्रतिनिधि नहीं मिला। इसलिए वहाँ अपनी बुद्धि से ही काम लेना पड़ा। इँगलैंड जाने के पहले कई महीनों तक मैंने लुई कोहिनी की जल-चिकित्सा-पद्धति से कटि-स्नान (hip bath) किया था, जिससे कुछ लाभ भी हुआ था। उनकी पुस्तक भी अँगरेजी में पढ़ी थी। इसलिए मेरी अभिलाषा हुई कि स्वयं जाकर उनसे मिलूँ। इसी लिए मैंने अपने यात्रा-क्रम में लीपजिग को रखा था। स्टेशन से उतर कर सीधे उनके चिकित्सालय में गया। वहाँ सुना कि उनकी मृत्यु हो गयी है और वह भी विचित्र तरीके से। वह फल खाने के बड़े पक्षपाती थे। अवस्था काफी हो गयी थी, तो भी किसी पेड़ पर फल तोड़ने चढ़े और गिर गये। चोट गहरी लगी, मर गये। उनके लड़के थे, जो अँगरेजी नहीं के बराबर जानते थे। उनसे किसी प्रकार बातें हुईं। उन्होंने मेरे लिए स्नान-विधि और भोजनादि-सम्बन्धी नुस्खा लिखकर दिया। वहीं एक बार स्नान कराकर दिखला भी दिया। वह नुस्खा जर्मन भाषा में था। मैं उससे लाभ न उठा सका और वहीं पर वह खो भी गया!

खाने के समय मैं वहाँ एक रेस्तराँ में गया। वहाँ तो एक भी आदमी अँगरेजी जाननेवाला न था! मैं बड़ी मुश्किल से नौकर को कुछ बतलाने की कोशिश कर रहा था। एक स्त्री मुझसे कुछ दूर टेबुल पर खाने बैठी थी। उसने मेरी दिक्कत देखी। मेरे पास वह आ गयी। वह अँगरेजी खूब जानती थी। थी तो वह जर्मन, पर उसका पति अमेरिकन था, जो उस समय अमेरिका गया था। उसने मेरी पूरी मदद की। उस दिन

टामस-कुक के प्रतिनिधि का काम उसी ने कर दिया! घूम-फिरकर तमाम शहर भी दिखला दिया। संध्या को रेल में सवार करा दिया। इस प्रकार की सहृदयता अक्सर नहीं देखने में आती।

अपने यात्राक्रम के अनुसार मैं म्युनिख गया। वहाँ पर वह मशहूर सेलरहौस देखा, जिसमें अक्सर हिटलर के भाषण हुआ करते हैं। वहाँ के मशहूर म्युजियम को भी देखा, जिसमें वैज्ञानिक वस्तुओं का संग्रह है। वहाँ तलाश करते-करते उस दूकान तक भी पहुँचा जहाँ—न्युटाटेल में मुझसे कहा गया था—हाथ के बुने कपड़े मिलते हैं। पर ऐसा कोई कपड़ा मिला नहीं।

म्युनिख से मैं वेनिस गया। अजीब शहर है। समुद्र घर-घर में है। घर से निकलकर नाव पर ही बाहर जाया जाता है। नाव के सिवा वहाँ कोई दूसरी सवारी नहीं होती। पानी के बीच में चट्टान हैं, उन्हीं पर मकान बने हैं। जो मशहूर गिरजाघर है वहाँ कुछ खाली जगह है। वहाँ मैं संध्या समय टहलता रहा। रात के दस-ग्यारह बजे होटल में जाकर ठहरना चाहा; पर वहाँ इतने मच्छर थे कि मसहरी लगाने पर भी वहाँ ठहरना मुश्किल हो गया। इसलिए, गाड़ी के समय से पहले ही, स्टेशन चला आया।

रोम में दो दिनों तक ठहरा। नयी और पुरानी चीजें, टामस-कुक के प्रबन्ध में, खूब देखीं। इटली के दोनों शहरों में, फौज के बहुत-से आदमियों को, जहाँ-तहाँ आते-जाते देखा। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि फौज का वहाँ बहुत जोर है। मेरी यात्रा कुछ ऐसी रही कि यात्रियों द्वारा देखे जानेवाले स्थानों के सिवा मैं और कुछ न देख सका, न किसी से मिल सका। समय भी न था और इसका प्रबन्ध भी न था। पहले से यदि प्रबन्ध होता तो कुछ लोगों से मिलता। समय रहता तो वहाँ की परिस्थिति जानने का भी प्रयत्न करता। पर ऐसा न हो सका, जिसका अफसोस रहा, पर लाचारी थी।

अन्त में मार्सेल्स के लिए रवाना हुआ। रास्ते में नीस में उतरा। वहाँ भागलपुर-निवासी श्री दीपनारायण सिंह से भेंट हो गयी। चन्द घंटों तक उनका साथ रहा। वहाँ पास ही के मशहूर कैसिनो को भी जाकर देखा, जहाँ लोग जुआ खेलते हैं। इन सब चीजों के देखने में मेरा जी नहीं लगा। तुरंत मैं मार्सेल्स चला गया। दूसरे ही दिन जहाज पर सवार होना था। बाबू हरिजी से मुलाकात हो गयी। रात भर एक होटल में ठहरे। दूसरे दिन 'मुलतान' जहाज पर सवार हो गये। जहाज हिन्दुस्तान के लिए रवाना हो गया। इस बार हम लोग आठ-दस आदमी साथ थे, इसलिए जहाज में किसी किस्म की दिक्कत न हुई। मेरी तबीयत कुछ खराब हो गयी। एक-दो दिनों तक समुद्र की हवा लगते ही फिर दमा हो गया। पर वह जल्द ही अच्छा भी हो गया। हम लोग बम्बई में, सितम्बर के दूसरे सप्ताह में, उतर गये। जहाज पर कोई विशेष घटना न हुई। ढाका-युनिवर्सिटी के वाइस-चान्सलर सर फिलिफ हार्टोग उसी जहाज से लौट रहे थे। उनसे मुलाकात हो गयी। जहाज पर अक्सर उनसे बातें हुआ करती थीं।

७५—साइमन-कमीशन का पुनरागमन और देशभ्रमण

बम्बई में जहाज से उतरकर मैं सीधे अहमदाबाद चला गया। वहाँ एक-दो दिन ठहर कर फिर पटने लौटा। मेरी गैरहाजिरी में दो बहुत महत्त्वपूर्ण घटनाएँ देश में हो चुकी थीं—(१) बारदोली में जमीन पर 'कर' बढ़ाने के कारण सत्याग्रह, और (२) देश के निमित्त सभी दलवालों से मिलकर विधान तैयार करने के लिए नेहरू-कमिटी का संगठन। बारदोली का सत्याग्रह खूब सफल रहा। सरकार ने अपनी ओर से हर तरह से उसे दबाने का प्रयत्न किया। लोगों ने भी उत्साहपूर्वक दमन को बर्दाश्त किया। दमन झेलने में जनता को पूरी सफलता मिली। गांधीजी का आशीर्वाद और साहाय्य तो था ही, आन्दोलन के संचालन का सारा भार वास्तव में सरदार वल्लभभाई पटेल पर ही था। उन्होंने उसे बड़ी चतुरता, धीरता, निर्भीकता और परिश्रम के साथ चलाया था। सभी दल के लोगों ने उसे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आन्दोलन समझा था। सबने सहायता भी दी थी। सरदार ने गुजरात से बाहर के लोगों को आने से मना कर दिया था। इसलिए दूसरे प्रान्त के कार्यकर्त्ता बाहर से ही जो सहायता पहुँचा सकते थे, पहुँचाते रहे। वहाँ कोई गया नहीं। सारे देश के सामने सत्याग्रह का एक आदर्श नमूना आ गया। लोगों को यह मालूम हो गया कि संगठन और त्याग काफी हो तो अहिंसात्मक सत्याग्रह द्वारा जबरदस्त सरकार भी दबायी जा सकती है। जिस चीज की बाट लोग १९२१ से ही जोह रहे थे उसे एक तालुके में सरदार ने प्रत्यक्ष दिखा दिया। अब इसके बाद लोग यही सोचने लगे कि सारे देश को बारदोली कैसे बनाया जाय। इस सत्याग्रह ने देश में नयी जान डाल दी। जो सत्याग्रह आगे १९३० में हुआ, उसके लिए जमीन भी तैयार कर दी।

मद्रास-काँग्रेस में ही एक कमिटी नियुक्त हुई थी। उसको यह काम सपुर्द किया गया था कि सभी दलों के नेताओं से मिलकर वह एक योजना तैयार करे। साइमन-कमीशन का बहिष्कार तो सबने किया था, पर वह अपना काम करता ही जा रहा था। सोचा गया कि जब तक अपनी ओर से तैयार करके कोई योजना संसार के सामने नहीं रखी जायगी तब तक यही समझा जायगा कि हम लोग केवल नुक्ताचीनी कर सकते हैं, कोई रचनात्मक काम नहीं कर सकते। इसलिए इस कमिटी को सब दलों के लोगों से सहायता मिली। पंडित मोतीलाल नेहरू इसके संयोजक थे, इसी लिए इसका नाम नेहरू-कमिटी पड़ा। इस कमिटी ने योजना तैयार कर ली थी। सब दलों के प्रतिनिधियों ने, कुछ बातों को छोड़कर, अधिकांश बातों को स्वीकार भी कर लिया था। अब इस योजना को काँग्रेस के सालाना जलसे के समय एक सर्व-दल-सम्मेलन में बाजाब्ता मंजूर करा लेना था। काँग्रेस से भी इसे स्वीकृत करा लेना रह गया था। दिसम्बर में काँग्रेस का अधिवेशन कलकत्ते में होनेवाला था। पंडित मोतीलाल नेहरू सभापति चुने गये। नेहरू-कमिटी की रिपोर्ट पर सारे देश में चर्चा हो रही थी। सब विचारशील लोग इसके बारे में अपने-अपने विचार प्रकट करते जा रहे

थे। यह योजना औपनिवेशिक स्वराज्य को भारत का ध्येय मानकर ही बनायी गयी थी। इसलिए, वे काँग्रेसी जो पूर्ण स्वराज्य के पक्षपाती थे, इससे सन्तुष्ट नहीं थे। इनमें मुख्य थे श्री जवाहरलाल नेहरू, श्री सुभाषचन्द्र बोस और श्री श्रीनिवास ऐयंगर।

स्वदेश में मेरे वापस आने के कुछ दिन बाद, सर्दी शुरू होते ही, साइमन-कमीशन फिर हिन्दुस्तान वापस आ गया। जिन सूबों में वह अब तक नहीं जा सका था उनमें जाने लगा। पंजाब में, उसके बहिष्कार और विरोध-प्रदर्शन में, लाला लाजपतराय जी शरीक हुए थे। पुलिस ने प्रदर्शकों पर लाठियाँ चलाई थीं। पूज्य लालाजी को पुलिस की लाठियों से बहुत चोट लगी थी। वह बीमार पड़ गये। फिर अच्छे भी न हुए। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उनकी मृत्यु, उन लाठियों की करारी चोट के फल-स्वरूप, कुछ दिनों में ही हो गयी। जब कमीशन युक्त-प्रान्त में पहुँचा, वहाँ भी प्रदर्शकों पर पुलिस ने लाठी चलाई। पंडित जवाहरलाल नेहरू को भी चोट लगी थी। इस तरह यह कमीशन पुलिस की लाठियों के साथ देश का भ्रमण कर रहा था! अब पटने में उसके आने के दिन मुकर्रर हो गये!

मेरी गैरहाजिरी में बिहार में भी दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई थीं। 'सर्चलाइट' अखबार पर हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर कुर्टने टिरल ने अदालत की मानहानि का मुकदमा चलाया था। पटना-हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर डासन मिलर उसी साल पेन्शन लेकर चले गये। वह एक अत्यन्त शान्त-प्रकृति, पर स्वतंत्र विचार के, जज थे। यद्यपि वह मुकदमों को ठीक समझने में थोड़ा समय लेते थे; पर उनके फैसले बहुत अच्छे हुआ करते थे। सभी लोग उनसे सन्तुष्ट थे। उनके जाने पर इँगलैंड से नये चीफ जस्टिस आये, जो लोगों से मिलने-जुलने में तो बहुत अच्छे थे; पर मिजाज के एकबग्गा थे और अक्सर फैसलों में बहक जाया करते थे। इनके एक फैसले पर 'सर्च-लाइट' ने कड़ी टीका की थी। इसी के लिए उस पर मुकदमा चला था। इस मुकदमे का महत्त्व इतना अधिक हो गया कि प्रयाग से श्री मोतीलाल नेहरू और सर तेजबहादुर सप्रू तथा कलकत्ते से श्री शरत्चन्द्र बोस बहस करने आये। कुछ दिनों तक पटने में बड़ी चहल-पहल रही। मैंने सुना कि बहुत ही सुन्दर और जोशीली बहसें हुईं। अन्त में 'सर्चलाइट' को कुछ सजा हुई। इससे शिक्षित जनता में, विशेषकर वकीलों में, काफी खलबली हुई थी।

दूसरी घटना गया-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड से सम्बन्ध रखती थी। वहाँ श्री अनुग्रह-नारायण सिंह चेयरमैन थे। पहले कहा जा चुका है कि प्रान्तीय कौन्सिल के चुनाव में सर गणेशदत्त सिंह का, जो १९२१ से ही मंत्री होते चले आते थे और जो मंत्री की हैसियत से सभी म्युनिसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों की देखभाल करते आ रहे थे, काँग्रेस ने विरोध किया था। विरोध की गम्भीरता देखकर वह चार जगहों से उमीदवार थे। सभी जगहों में काँग्रेस के उमीदवार उनका विरोध कर रहे थे। एक जगह, गया में, एक दूसरे सज्जन के कारण, जो अपने को काँग्रेस का हमदर्द बताते थे,

उमीदवार नहीं खड़ा किया गया था। अन्त में, उसी जगह से, उक्त सज्जन की उमीदवारी हटवा कर, सर गणेशदत्त चुने गये थे।

इस चुनाव की एक और घटना लिख देता हूँ। बेगूसराय के इलाके से भी सर गणेशदत्त उमीदवार थे। वहाँ भूमिहार-ब्राह्मणों की, जिस जाति के सर गणेशदत्त भी हैं, बहुत अच्छी आबादी है। वह उसी उमीद पर वहाँ से खड़े हुए थे। किन्तु काँग्रेसी उमीदवार भी भूमिहार-ब्राह्मण ही थे। फिर भी सर गणेशदत्त की ख्याति अपनी जाति में कई कारणों से बहुत थी। मैं चुनाव के सिलसिले में वहाँ गया। एक बड़ी सभा हुई। उसमें सर गणेशदत्त के मददगार भी आये। उन्होंने मुझसे प्रश्न किया, सर गणेशदत्त के विरोध में काँग्रेस क्यों उमीदवार खड़ा कर रही है? उन्होंने सर गणेशदत्त की सभी बातें कहीं, जिनमें मुख्य यह थी कि वह जब से मंत्री बने हैं तब से उन्होंने अपने वेतन का थोड़ा ही अंश अपने खर्च के लिए लिया है, अधिकांश रुपये परोपकार के लिए दान कर दिये हैं। बात सच थी। उन्होंने कई लाख रुपयों का ट्रस्ट कायम करके एक बहुत अच्छा आदर्श पेश किया था, जिसके लिए हम सब उनके बड़े प्रेमी और प्रशंसक थे। पर यह सब होते हुए भी वह काँग्रेस के कार्यक्रम से सहमत नहीं थे और केवल इसी कारण से उनका विरोध करना पड़ा था। मैंने सभा में यही कहा कि काँग्रेस देश-भर की संस्था है, यदि सर गणेशदत्त उसके नियंत्रण में काम करना स्वीकार कर लें तो काँग्रेसी उमीदवार हटा लिये जायँगे; पर इतनी बड़ी संस्था किसी व्यक्ति को मनमानी करने के लिए छोड़ना नहीं चाहती। मैंने उनके सहायकों से भी कहा कि मैं एक दिन और ठहरूँगा, इस बीच वे लोग उन्हें बुला लावें, अथवा उनका पत्र या तार मँगवा लें, जिसमें वे मेरी शर्त मंजूर करा लें, तो मैं काँग्रेसी उमीदवार हटा लूँगा। सभा में अधिकांश लोग उनकी जाति के ही थे, जिन पर उनको पूरा भरोसा था। मेरी बात को उन सब लोगों ने बहुत पसन्द किया। मैं वहाँ ठहर भी गया; पर उनके आदमी फिर नहीं लौटे। मैंने देखा कि वहाँ की जनता पूरी तरह काँग्रेस के पक्ष में हो गयी। इसी के बाद सर गणेशदत्त ने गया में उन महाशय को हटाकर किसी तरह अपने निर्विरोध चुने जाने का प्रबन्ध कर लिया।

यह बात तो बीत चुकी थी; पर उनके हृदय में काँग्रेस के प्रति बहुत रंज था, जिसको वह जब तक सार्वजनिक काम करते रहे, कभी भूले नहीं। गया-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड में उनको अपने उन्हीं मित्र को चेयरमैन बनाना था जिन्होंने अपनी उमीदवारी हटाकर उनको मंत्री बनने का मौका दिया था। इसलिए उन्होंने कई उपायों से वहाँ के चेयरमैन श्री अनुग्रहनारायण सिंह को हटा दिया—यहाँ तक कि उनको मेम्बर होने के हक से भी वंचित कर दिया। जब मैं इँगलैंड से लौटा तो यह षड्यंत्र देखकर मुझे बहुत रंज हुआ। हमारे सभी काँग्रेसी मित्र बहुत ही क्षुब्ध थे। हम लोगों के दिल में यह भी शक था कि उन दिनों देश में साइमन-कमीशन भ्रमण कर रहा था और उसके सामने यह बात भी आनेवाली थी कि जो थोड़े-बहुत अधिकार दिये गये थे उनका प्रयोग भी हिन्दुस्थानियों ने कहाँ तक ईमानदारी और सफलता से किया है। बिहार के

थे। यह योजना औपनिवेशिक स्वराज्य को भारत का ध्येय मानकर ही बनायी गयी थी। इसलिए, वे काँग्रेसी जो पूर्ण स्वराज्य के पक्षपाती थे, इससे सन्तुष्ट नहीं थे। इनमें मुख्य थे श्री जवाहरलाल नेहरू, श्री सुभाषचन्द्र बोस और श्री श्रीनिवास ऐयंगर।

स्वदेश में मेरे वापस आने के कुछ दिन बाद, सर्दी शुरू होते ही, साइमन-कमीशन फिर हिन्दुस्तान वापस आ गया। जिन सूबों में वह अब तक नहीं जा सका था उनमें जाने लगा। पंजाब में, उसके बहिष्कार और विरोध-प्रदर्शन में, लाला लाजपतराय जी शरीक हुए थे। पुलिस ने प्रदर्शकों पर लाठियाँ चलाई थीं। पूज्य लालाजी को पुलिस की लाठियों से बहुत चोट लगी थी। वह बीमार पड़ गये। फिर अच्छे भी न हुए। ऐसा अनुमान किया जाता है कि उनकी मृत्यु, उन लाठियों की करारी चोट के फल-स्वरूप, कुछ दिनों में ही हो गयी। जब कमीशन युक्त-प्रान्त में पहुँचा, वहाँ भी प्रदर्शकों पर पुलिस ने लाठी चलाई। पंडित जवाहरलाल नेहरू को भी चोट लगी थी। इस तरह यह कमीशन पुलिस की लाठियों के साथ देश का भ्रमण कर रहा था! अब पटने में उसके आने के दिन मुकर्रर हो गये!

मेरी गैरहाजिरी में बिहार में भी दो महत्त्वपूर्ण घटनाएँ हुई थीं। 'सर्चलाइट' अखबार पर हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर कुर्टने टिरल ने अदालत की मानहानि का मुकदमा चलाया था। पटना-हाइकोर्ट के चीफ जस्टिस सर डासन मिलर उसी साल पेन्शन लेकर चले गये। वह एक अत्यन्त शान्त-प्रकृति, पर स्वतंत्र विचार के, जज थे। यद्यपि वह मुकदमों को ठीक समझने में थोड़ा समय लेते थे; पर उनके फैसले बहुत अच्छे हुआ करते थे। सभी लोग उनसे सन्तुष्ट थे। उनके जाने पर इँगलैंड से नये चीफ जस्टिस आये, जो लोगों से मिलने-जुलने में तो बहुत अच्छे थे; पर मिजाज के एकबग्गा थे और अक्सर फैसलों में बहक जाया करते थे। इनके एक फैसले पर 'सर्च-लाइट' ने कड़ी टीका की थी। इसी के लिए उस पर मुकदमा चला था। इस मुकदमे का महत्त्व इतना अधिक हो गया कि प्रयाग से श्री मोतीलाल नेहरू और सर तेजबहादुर सप्रू तथा कलकत्ते से श्री शरत्‌चन्द्र बोस बहस करने आये। कुछ दिनों तक पटने में बड़ी चहल-पहल रही। मैंने सुना कि बहुत ही सुन्दर और जोशीली बहसें हुईं। अन्त में 'सर्चलाइट' को कुछ सजा हुई। इससे शिक्षित जनता में, विशेषकर वकीलों में, काफी खलबली हुई थी।

दूसरी घटना गया-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड से सम्बन्ध रखती थी। वहाँ श्री अनुग्रह-नारायण सिंह चेयरमैन थे। पहले कहा जा चुका है कि प्रान्तीय कौन्सिल के चुनाव में सर गणेशदत्त सिंह का, जो १९२१ से ही मंत्री होते चले आते थे और जो मंत्री की हैसियत से सभी म्युनिसिपैलिटियों और डिस्ट्रिक्ट-बोर्डों की देखभाल करते आ रहे थे, काँग्रेस ने विरोध किया था। विरोध की गम्भीरता देखकर वह चार जगहों से उम्मीदवार थे। सभी जगहों में काँग्रेस के उमीदवार उनका विरोध कर रहे थे। एक जगह,

उमीदवार नहीं खड़ा किया गया था। अन्त में, उसी जगह से, उक्त सज्जन की उमीदवारी हटवा कर, सर गणेशदत्त चुने गये थे।

इस चुनाव की एक और घटना लिख देता हूँ। बेगूसराय के इलाके से भी सर गणेशदत्त उमीदवार थे। वहाँ भूमिहार-ब्राह्मणों की, जिस जाति के सर गणेशदत्त भी हैं, बहुत अच्छी आबादी है। वह उसी उमीद पर वहाँ से खड़े हुए थे। किन्तु काँग्रेसी उमीदवार भी भूमिहार-ब्राह्मण ही थे। फिर भी सर गणेशदत्त की ख्याति अपनी जाति में कई कारणों से बहुत थी। मैं चुनाव के सिलसिले में वहाँ गया। एक बड़ी सभा हुई। उसमें सर गणेशदत्त के मददगार भी आये। उन्होंने मुझसे प्रश्न किया, सर गणेशदत्त के विरोध में काँग्रेस क्यों उमीदवार खड़ा कर रही है? उन्होंने सर गणेशदत्त की सभी बातें कहीं, जिनमें मुख्य यह थी कि वह जब से मंत्री बने हैं तब से उन्होंने अपने वेतन का थोड़ा ही अंश अपने खर्च के लिए लिया है, अधिकांश रुपये परोपकार के लिए दान कर दिये हैं। बात सच थी। उन्होंने कई लाख रुपयों का ट्रस्ट कायम करके एक बहुत अच्छा आदर्श पेश किया था, जिसके लिए हम सब उनके बड़े प्रेमी और प्रशंसक थे। पर यह सब होते हुए भी वह काँग्रेस के कार्यक्रम से सहमत नहीं थे और केवल इसी कारण से उनका विरोध करना पड़ा था। मैंने सभा में यही कहा कि काँग्रेस देश-भर की संस्था है, यदि सर गणेशदत्त उसके नियंत्रण में काम करना स्वीकार कर लें तो काँग्रेसी उमीदवार हटा लिये जायँगे; पर इतनी बड़ी संस्था किसी व्यक्ति को मनमानी करने के लिए छोड़ना नहीं चाहती। मैंने उनके सहायकों से भी कहा कि मैं एक दिन और ठहरूँगा, इस बीच वे लोग उन्हें बुला लावें, अथवा उनका पत्र या तार मँगवा लें, जिसमें वे मेरी शर्तें मंजूर करा लें, तो मैं काँग्रेसी उमीदवार हटा लूँगा। सभा में अधिकांश लोग उनकी जाति के ही थे, जिन पर उनको पूरा भरोसा था। मेरी बात को उन सब लोगों ने बहुत पसन्द किया। मैं वहाँ ठहर भी गया; पर उनके आदमी फिर नहीं लौटे। मैंने देखा कि वहाँ की जनता पूरी तरह काँग्रेस के पक्ष में हो गयी। इसी के बाद सर गणेशदत्त ने गया में उन महाशय को हटाकर किसी तरह अपने निर्विरोध चुने जाने का प्रबन्ध कर लिया।

यह बात तो बीत चुकी थी; पर उनके हृदय में काँग्रेस के प्रति बहुत रंज था, जिसको वह जब तक सार्वजनिक काम करते रहे, कभी भूले नहीं। गया-डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड में उनको अपने उन्हीं मित्र को चेयरमैन बनाना था जिन्होंने अपनी उमीदवारी हटाकर उनको मंत्री बनने का मौका दिया था। इसलिए उन्होंने कई उपायों से वहाँ के चेयरमैन श्री अनुग्रहनारायण सिंह को हटा दिया—यहाँ तक कि उनको मेम्बर होने के हक से भी वंचित कर दिया। जब मैं इँगलैंड से लौटा तो यह षड्यंत्र देखकर मुझे बहुत रंज हुआ। हमारे सभी काँग्रेसी मित्र बहुत ही क्षुब्ध थे। हम लोगों के दिल में यह भी शक था कि उन दिनों देश में साइमन-कमीशन भ्रमण कर रहा था और उसके सामने यह बात भी आनेवाली थी कि जो थोड़े-बहुत अधिकार दिये गये थे उनका प्रयोग भी हिन्दुस्थानियों ने कहाँ तक ईमानदारी और सफलता से किया है। बिहार के

सबसे ज्यादा आमदनीवाले डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड को इस प्रकार अयोग्य साबित करने का प्रयत्न, हम समझते थे, विशेषकर इसलिए भी किया गया है कि साइमन-कमीशन के सामने गवर्नमेण्ट इसको भी हमारी अयोग्यता के दृष्टान्त-स्वरूप पेश कर सके। इसलिए, सारे सूबे में काफी आन्दोलन हुआ। गया में सभा हुई। मैं भी वहाँ गया। उसमें मेरा एक बहुत ही कड़ा भाषण हुआ, जैसा पहले कभी शायद ही हुआ हो। जो-जो अभियोग जिला-बोर्ड पर लगाये गये थे, उनकी जाँच काँग्रेस की ओर से हमने कराई। सब आरोपों को हमने निर्मूल पाया। तब प्रान्तीय कान्फ्रेन्स का अधिवेशन करने का विचार हुआ। वह पटने में ही हुआ। उसके सभापति अनुग्रह बाबू बनाये गये। स्वागताध्यक्ष श्री सच्चिदानन्द सिंहजी हुए। इस कान्फ्रेन्स की तिथि साइमन-कमीशन के पटने पहुँचने के एक या दो दिन पहले रक्खी गयी थी। सोचा गया था कि जो लोग कान्फ्रेन्स में आवेंगे वे कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन करने में भी शरीक हो सकेंगे। कान्फ्रेन्स सफलता-पूर्वक समाप्त हो गयी। उसके दूसरे दिन सवेरे ही साइमन-कमीशन स्पेशल ट्रेन से आनेवाला था।

हमने सुना कि स्पेशल ट्रेन पटना-जंकशन के विशेष प्लाटफार्म पर, जिस पर प्रिन्स आफ वेल्स उतारे गये थे, लगायी जायगी। वह ठीक हार्डिंज-पार्क के सामने पड़ता है। वहाँ, हार्डिंज-पार्क के सामने, लकड़ियों के मजबूत बल्ले गाड़कर, जनता की भीड़ को आगे बढ़ने से रोकने के लिए, प्रतिबन्ध लगाया जा रहा था। हमने पंजाब और युक्तप्रान्त में लाला लाजपतराय तथा पंडित जवाहरलाल नेहरू जैसे नेताओं पर लाठी बरसाने की बात जान ली थी। इससे हमें कुछ आश्चर्य नहीं हुआ। हम समझते थे कि प्रदर्शन के समय कुछ खून-खराबा होगा। परन्तु जनता में उत्साह बहुत था, जिसका कुछ नमूना हम प्रान्तीय सम्मेलन में देख चुके थे।

उसी दिन संध्या को श्री सच्चिदानन्द सिंह ने मुझे अपने यहाँ बुलाया। मैंने वहाँ पहुँचकर देखा कि पुलिस के इन्सपेक्टर-जेनरल मिस्टर स्वेन वहाँ उपस्थित हैं। उन्होंने मुझसे कहा कि उन्हीं के कहने से श्री सिंह ने मुझे वहाँ बुलाया है और वह मुझसे साइमन-कमीशन के सम्बन्ध में बातें करना चाहते हैं। उन्होंने कहा कि वह नहीं चाहते कि जैसी दुर्घटनाएँ पंजाब और युक्तप्रान्त में हुई हैं वैसी बिहार में भी हों, इसमें हम दोनों की बदनामी है। उन्होंने यह भी कहा कि कोई ऐसा रास्ता अगर निकल सके जिससे पुलिस और प्रदर्शकों में मुठभेड़ न हो तो अच्छा होगा। मैंने कहा, जनता तो निरस्त्र है ही, वह बिलकुल अहिंसात्मक रहेगी, जो कुछ होगा आपकी ओर से ही होगा। उन्होंने विश्वास दिलाया, वह ऐसा नहीं होने देंगे; परन्तु भय इस बात का प्रकट किया कि बहुत भीड़ जमा हो जाने पर कहीं किसी दल को किसी आदमी ने कुछ बेतुकी बात कह दी अथवा बदतमीजी कर दी तो उसका असर सारी जनता पर पड़ जाता है—उसे कोई रोक नहीं सकता; इसलिए भीड़ इकट्ठी होने में ही खतरा है। मैंने साफ-साफ कह दिया कि यह तो नहीं रुक सकता। उनके पूछने

डरते कम करके कही; क्योंकि उस दिसम्बर के जाड़े में सवेरे साढ़े छः बजे गाड़ी पहुँचती थी, मुझे भय था कि शहर के लोग उस समय बड़ी संख्या में जमा न हो सकेंगे। अन्त में उन्होंने कहा कि भीड़ अगर आवेगी ही तो क्या कोई ऐसा उपाय नहीं हो सकता कि दोनों दलों के आदमी एक साथ न हों, अलग-अलग रहें। मैंने इसे खुशी से स्वीकार कर लिया और कह दिया कि सड़क के एक ओर स्वागत करनेवाले रहें और दूसरी ओर विरोधी लोग। इसको उन्होंने बहुत पसन्द किया और मैंने भी—विशेषकर इस कारण से कि इस तरह यह बात भी साफ हो जायगी कि स्वागत करने-वाले कितने कम और विरोधी कितने ज्यादा हैं। बात तय हो गयी। मैंने कह दिया कि हमारा कोई आदमी काठ के बने बाँध के बाहर नहीं जायगा—हम शहर की ओर सड़क से उत्तर और दूसरे पक्ष के लोग सड़क से दक्खिन, रेलवे लाइन के पास, रहेंगे।

दूसरे दिन प्रायः तीन बजे रात को ही हम लोग उठे। सारे शहर में प्रभात-फेरी लगने लगी। भीड़ स्टेशन की तरफ उमड़ चली। छः बजते-बजते प्रायः २५-३० हजार लोगों की भीड़ हम लोगों के अहाते में आ गयी। उधर तो कुछ लोग मोटर पर सवार होकर आये, कुछ लारियाँ शहर में लोगों को जुटाकर लाने के लिए घूमती रहीं; पर शायद ही डेढ़ दो सौ आदमी उधर के अहाते में होंगे, जिनमें अधिकांश सरकारी नौकर और उनके चपरासी वगैरह थे! ऐसा भी देखा गया कि कुछ लोग उनकी लारी पर चढ़कर आये और उस अहाते में गये, पर जब उनको यह मालूम हुआ कि वह स्वागत करनेवालों का दल है और विरोधी दल सड़क के उस पार है, तो वहाँ से सीधे निकलकर इधर चले आये! मैं वहाँ अपने आदमियों के सामने, जिनको लकड़ी के कठघरे से दो हाथ अलग ही रखा था, टहल रहा था। वहाँ मिस्टर स्वेन से मुलाकात हुई। उन्होंने इस इन्तजाम पर सन्तोष प्रकट किया और बधाई दी। मैंने उनसे पूछा कि मेरा दस हजार आदमियों के आने का वादा पूरा हुआ या नहीं। उन्होंने कहा, उससे कहीं अधिक आदमी हैं! जब मैंने उनकी इस राय को—कि दोनों पक्ष के लोग दो तरफ रहें—मान लेने का कारण बताया, तो वह बहुत हँसे। इस तरह, बहुत ही खूबी और शान्ति के साथ प्रदर्शन हुआ। काला झंडा दिखलाने और 'साइमन-गो-बैक' के नारे के सिवा दूसरा कुछ नहीं हुआ।

इस प्रदर्शन में सूबे-भर के काँग्रेसी लोग बड़ी संख्या में शरीक हुए थे। जब वे अपने-अपने स्थान को गये तो इस उत्साहपूर्ण प्रदर्शन की कथा साथ लेते गये। इससे सारे सूबे में उत्साह उमड़ उठा। कुछ दिनों तक तो जहाँ-तहाँ सड़कों पर, यों ही बिना समझे, छोटे-छोटे बच्चे भी 'साइमन-गो-बैक' चिल्लाया करते! इन और इस प्रकार के कारणों से देश में नयी जागृति के लक्षण दीखने लगे थे। ऐसा मालूम होने लगा कि १९२१ के दिन फिर लौटेंगे। इसी बीच कलकत्ते में काँग्रेस का अधिवेशन और सर्वदल-सम्मेलन होने के दिन आ गये। सर्वदल-सम्मेलन के सभापति

७६—कलकत्ता-काँग्रेस और सर्वदल-सम्मेलन

मैं सर्वदल-सम्मेलन में शरीक तो हुआ; पर पहले से सभी बातों को जानता नहीं था, इसलिए कुछ विशेष वहाँ करता न था। एक रात, मुझे स्मरण हैं, हिन्दू-मुस्लिम समस्या के कुछ प्रश्नों पर बातें होने लगीं। यह पूरा सम्मेलन नहीं था, कुछ मुख्य-मुख्य लोग इसमें थे। वहाँ मिस्टर जिन्ना ने, जहाँ तक मुझे याद है, दो बातों पर बहुत जोर दिया। वह चाहते थे कि केन्द्रीय असम्बली में मुसलमानों के लिए एक तिहाई जगहें सुरक्षित रहनी चाहिए और सूबों को उन सभी विषयों पर अधिकार मिलना चाहिए जो केन्द्रीय गवर्नमेण्ट को साफ तौर पर विधान में दे दिये गये हों। मुझे याद है कि इन बातों पर बहुत रात तक बहस चलती रही। पर लोगों ने इसे स्वीकार नहीं किया। विरोधियों में सबसे जबरदस्त श्री जयकर मालूम होते थे। उनके साथ हिन्दू-सभावाले लोग थे, पर बोलनेवाले वही एक थे। अन्त में यह बात तय न हो पायी। सम्मेलन ने यह नीति रक्खी थी कि जिस विषय पर सबकी राय न हो उसके सम्बन्ध में नोट कर लिया जाय कि इस विषय में किसकी क्या राय है। खुले सम्मेलन में मौलाना महम्मद अली ने भी कुछ संशोधन पेश किये, जिनको लोगों ने बहुमत से नामंजूर कर दिया। सम्मेलन ने उपरोक्त तरीके से अपना काम तो समाप्त किया; पर यह जाहिर हो गया कि मुसलमानों के साथ बात नहीं पटी। इसी का नतीजा हुआ कि इस सम्मेलन के समाप्त होते ही मुसलमानों का भी एक सर्वदल-सम्मेलन हुआ, जिसमें अनेकानेक काँग्रेसी मुसलमान भी जा मिले। उनमें मुख्य अली बन्धु-द्वय, मौलवी महम्मद शफी प्रभृति थे। यहाँ से साफ-साफ मुसलमानों का एक प्रभावशाली दल काँग्रेस से अलग हो गया। इस प्रकार, जिस समस्या के हल के लिए यह सम्मेलन हुआ था वह अधिक जटिल हो गयी, जिसका बुरा नतीजा आगे और देखने में आया। मिस्टर जिन्ना ने इसके बाद ही मुसलमानों की ओर से अपनी चौदह माँगें पेश कीं, जिनकी मंजूरी को उन्होंने किसी भी समझौते के लिए अनिवार्य बतलाया।

उधर काँग्रेस में नेहरू-रिपोर्ट को लेकर स्वराज्य की परिभाषा के सम्बन्ध में बहुत मतभेद था। पहले कहा जा चुका है कि पं० जवाहरलाल, सुभाष बाबू, श्री ऐयंगर प्रभृति पूर्ण स्वराज्य को ही काँग्रेस का ध्येय स्वीकार कराना चाहते थे। दूसरे लोग केवल 'स्वराज्य' शब्द से ही सन्तुष्ट थे और सोचते थे कि यह शब्द हमें इस बात के लिए पूरा मौका देता है कि जब समय आयेगा तब हम निश्चय कर सकेंगे कि हम औपनिवेशिक स्वराज्य से सन्तुष्ट रहेंगे अथवा पूर्ण स्वतंत्रता ही लेंगे। नेहरू-रिपोर्ट औपनिवेशिक स्वराज्य को ही ध्येय मानकर तैयार की गयी थी। दूसरा कुछ हो भी नहीं सकता था; क्योंकि उसके तैयार करने में नरम दल के लोगों का—विशेषकर सर तेजबहादुर सप्रू प्रभृति का—पूरा हाथ था। यदि वह न मानी जाती

पाती। इसलिए, यदि काँग्रेस उस मौलिक भित्ति को ही अपने प्रस्ताव से बदल देती, तो नेहरू-रिपोर्ट उस हद तक भी सर्वमान्य होती जिस हद तक उसे सर्व-दल-सम्मेलन ने स्वीकृत किया था। काँग्रेस की विषय-निर्धारिणी समिति में इस विषय पर बहुत बहस हुई। महात्माजी का विचार था कि नेहरू-रिपोर्ट मंजूर की जाय। पर गांधीजी हमेशा अपने विचार के विरोधियों के साथ राय कर लेने के लिए तैयार रहते हैं। अंत में उन्होंने पूर्ण स्वराज्य के समर्थकों के साथ, जिनके मुखियों के नाम मैं ऊपर दे चुका हूँ, यह समझौता कर लिया कि एक बरस तक काँग्रेस का ध्येय जैसा है वैसा ही रहे—यदि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इस वर्ष के भीतर नेहरू-रिपोर्ट को मान लेती है और हिन्दुस्थान को औपनिवेशिक स्वराज्य दे देती है तो ठीक, नहीं तो एक बरस के बाद काँग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता को ही अपना ध्येय मान लेगी और उसी के लिए काम करेगी, अर्थात् एक बरस के भीतर मिल जाय तो हम औपनिवेशिक स्वराज्य से ही सन्तुष्ट होंगे, नहीं तो फिर औपनिवेशिक स्वराज्य की बात ही न रहेगी, काँग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता पर ही अड़ी रहेगी। यह तय हो जाने पर हम सबने समझा कि अब मामला तय हो जायगा। पर दूसरे दिन सुभाष बाबू की ओर से मालूम हुआ कि वह इस समझौते को नहीं मानते। इससे महात्माजी को बहुत दुःख हुआ; क्योंकि पूर्व-रात्रि में सुभाष बाबू ने उसे मान लिया था। मालूम होता है कि उनके साथियों और अनुयायियों ने इसे पसन्द नहीं किया, इसलिए वह फिर मुकर गये। पंडित जवाहरलाल और श्री श्रीनिवास ऐयंगर, चाहे वे पसन्द न भी करते हों, समझौते पर अड़े रहे। महात्माजी ने इस बात की कड़ी आलोचना भी की थी। अन्त में महात्माजी ने उस समझौते के प्रस्ताव को पेश किया और वह स्वीकृत हो गया।

इस काँग्रेस की विषय-निर्वाचिनी में और विषयों पर भी मतभेद रहा। ऐसा मालूम होता था कि कुछ लोग गांधीजी की नीति से सन्तुष्ट नहीं हैं—जैसे कुछ कम्युनिस्ट लोग, जिनमें मुख्य थे श्री निम्बकर और श्री मोगलेकर, जो अखिल भारतीय कमिटी में बहुत बोला करते थे। इस काँग्रेस में एक विशेष घटना यह हुई कि कलकत्ते के मजदूरों का एक बहुत बड़ा दल, प्रदर्शन करने के लिए जलूस बनाकर, काँग्रेस-नगर तक पहुँचा। वह काँग्रेस-पंडाल में जाना चाहता था। कुछ लोगों का अनुमान था कि उनका इरादा पहले से ही पंडाल में जाकर बैठने का था, ताकि अधिवेशन के समय वे वहाँ से हटें नहीं और इस तरह सब काम तितर-बितर कर दें। पर शायद ऐसी उनकी इच्छा नहीं थी; क्योंकि महात्माजी ने आकर उनसे कुछ कहा और वे लौटकर चले गये। इस काँग्रेस की स्वागत-समिति से बिहार के लोगों का कुछ मतभेद, प्रबन्ध के सम्बन्ध में, हो गया। बिहार के सभी प्रतिनिधियों ने काँग्रेस में जाने से इनकार कर दिया। सुभाष बाबू को यह खबर मिली। वह स्वयं आये। उन्होंने शिकायत को दूर कर देने का वचन दिया। तब लोग काँग्रेस के अधिवेशन में शरीक हुए।

कलकत्ता-काँग्रेस का अधिवेशन एक प्रकार से बड़े महत्त्व का हुआ। पूर्ण स्वतंत्रता

कि औपनिवेशिक स्वराज्य से काँग्रेस एक बरस के बाद कदापि सन्तुष्ट न होगी। हो सकता है कि काँग्रेस में बहुत लोग ऐसे भी हों जो समझते हों कि यह प्रस्ताव मान तो लिया गया; पर एक बरस के बाद फिर देखा जायगा। किन्तु गांधीजी काँग्रेस के प्रस्तावों को बहुत महत्त्व देते हैं—विशेषकर उस हालत में जब उनमें कोई वादा या प्रतिज्ञा की गयी हो। इसलिए, उन्होंने तो मान लिया कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को १९२९ के ३१ दिसम्बर के पहले ही कुछ करके तय कर लेना चाहिए, नहीं तो अगले अधिवेशन में काँग्रेस को पूर्ण स्वराज्य अपना ध्येय बना लेना ही पड़ेगा।

मैं इस विषय में दुविधा में था। ब्रिटिश विधान का मैं पक्षपाती था। मैं मानता था कि उपनिवेशों को अपने कारबार चलाने की पूरी स्वतंत्रता है। इसलिए, यदि हमको भी वह स्वतंत्रता मिल जाय तो हमारे लिए वही काफी समझना चाहिए। पूर्ण स्वतंत्रता तो गौरव का विषय अवश्य है; पर अन्त में दुनिया की जातियों और देशों के बीच किसी न किसी प्रकार का ऐसा समझौता जरूर करना पड़ेगा जिससे वे एक दूसरे के साथ बँधी रहें। यदि ऐसा न हुआ तो लड़ाइयाँ होती रहेंगी। ब्रिटिश साम्राज्य दुनिया के कई देशों के लोगों का उस प्रकार का एक संगठन है ही, उसमें शरीक रहने में हमारी कोई हानि नहीं है, बल्कि कई बातों की सुविधा ही है। इसके अलावा हम अभी इतने संगठित भी नहीं हैं कि हम ब्रिटिश सरकार को मजबूर करके पूर्ण स्वतंत्रता ले सकें। इन्हीं कारणों से मैंने मद्रास-काँग्रेस में पूर्ण-स्वराज्य-सम्बन्धी प्रस्ताव का विरोध किया था। मुझे कभी-कभी ठेस भी लगा करती थी, जिससे ऊबकर मैं कभी-कभी पूर्ण-स्वराज्य की बात भी किया करता था। पर वह ठेस ब्रिटिश साम्राज्य के उपनिवेशों का हिन्दुस्थानियों के साथ व्यवहार से लगा करती थी—विशेषत: दक्षिण अफ्रिका में हिन्दुस्थानियों के साथ जो व्यवहार हुआ करता था उससे मैं इतना घबराता था कि कभी-कभी तो मैं यह भी सोचता कि ऐसे साम्राज्य के साथ सम्बन्ध रखने से ही हमको क्या लाभ, जिसके किसी भी भाग में हमारे देशी भाइयों के साथ ऐसा बुरा व्यवहार हो सकता है। फिर मैं सोचता कि जब तक हमको वही अधिकार और स्थान प्राप्त नहीं है जो उन उपनिवेशों को है तभी तक ऐसा होता है, जब हमको भी वैसा ही मिल जायगा तब ऐसी बात न हो सकेगी। इस प्रकार से मैं अपने दिल को सन्तोष भी दिया करता था!

इसी तरह की उधेड़-बुन मेरे दिल में हुआ करती थी। मैं इसी खयाल से, विशेषकर उपनिवेशों के विधान और अधिकारों के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करने के लिए, प्रोफेसर कीथ के ग्रन्थों को पढ़ा करता। १९२६ में जो इम्पीरियल कान्फ्रेन्स के निश्चय हुए उन्हें भी मैंने देखा था। सब बातों पर सोच-विचार करने के बाद, बावजूद उन ठेसों के, मैं उस समय तक औपनिवेशिक स्वराज्य से ही सन्तुष्ट था और पूर्ण स्वराज्य को काँग्रेस का ध्येय मानना अपने रास्ते की कठिनाइयाँ बढ़ा लेना समझता था। मैं उस समय पं० जवाहरलाल के इस कथन को ठीक नहीं

निवेशिक स्वराज्य तो अँगरेजों ने अपनी जाति और अपने देश के लोगों को ही दिया, जिनके साथ उनके हजारों प्रकार के सांस्कृतिक और सामाजिक तथा धार्मिक सम्बन्ध थे; परन्तु हमारे साथ तो उनका उस तरह का एक भी सम्बन्ध नहीं है; ऐसी अवस्था में न तो वे हमें दे सकेंगे और न हम उसे लेकर सन्तुष्ट हो सकेंगे। मेरे दिल पर स्वर्गीय गोखले की वह बात इस प्रकार जम गयी थी कि मैं सहसा उसको अभी हटा नहीं सकता था। जब १९१० में उन्होंने मुझे सर्वेण्ट्स् आफ इण्डिया सोसाइटी में शरीक होने के लिए कहा था तभी उन्होंने यह भी कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य का जो चित्र हम अपने सामने रखते हैं वह तो यह है कि जितने लोग इसके अन्दर हैं सभी बराबरी का दर्जा पायेंगे और सभी मिलकर इसका प्रबन्ध करेंगे, इसलिए जब वह समय आ जायगा तब साम्राज्य रह ही नहीं जायगा और अगर रहा भी तो अपनी बहुल संख्या के कारण भारतीय इसको अपना साम्राज्य बना लेंगे। मैं यही सोचता था कि सचमुच हमको भी यदि वही स्थान और अधिकार मिल जायँगे, जो इँगलैंड और दूसरे उपनिवेशों को मिले हैं, तो वास्तव में हमें इससे अधिक की आवश्यकता न होगी। जो हो, कलकत्ते में काँग्रेस ने निश्चय कर लिया कि १९२९ के अन्दर ही औपनिवेशिक स्वराज्य होना चाहिए।

७७—मेरे लिए एक दुःखद घटना

ऊपर मैं कह चुका हूँ कि देश में नयी जागृति के चिह्न दीखने लगे थे। कलकत्ते से लौट कर गांधीजी ने भी काँग्रेस के काम में बहुत अधिक मनोयोग देना शुरू किया। १९२९ के अन्दर और भी घटनाएँ हुईं, जिनके फलस्वरूप जागृति बहुत बढ़ गयी। गांधीजी का विचार हमेशा यह था कि हमारे देश की गरीबी के कारणों में एक मुख्य कारण यह है कि इस देश से कपड़े का व्यवसाय अँगरेजों ने उठा लिया है, जिसका फल यह हुआ है कि चर्खे-कर्घे बन्द हो गये और करोड़ों गरीबों की रोजी का जरिया उनके हाथों से छिन गया। इसलिए, वह चर्खे को फिर जिलाना चाहते थे। खादी-सम्बन्धी सारी प्रवृत्ति इसी कारण प्रेरित की जा रही थी। वह चाहते थे कि भारत में एक सूत भी विदेशी न आवे। वह इस वस्त्र-व्यवसाय को जगाना चाहते थे जिसमें फिर गरीबों की वह रोजी लौट आवे। इसके लिए वह हर तरह के विदेशी कपड़ों का भारत में आना बन्द करना चाहते थे, केवल इँगलैंड के ही कपड़े का नहीं। दूसरे लोग विदेशी कपड़े के बहिष्कार का अर्थ अक्सर अँगरेजी कपड़े का ही बहिष्कार मान लिया करते थे। उन लोगों की इसमें विशेष दिलचस्पी नहीं थी कि भारत में यह व्यापार गाँव-गाँव में फिर से जारी हो जाय। वे इतने से ही सन्तुष्ट हो जाते कि सिर्फ अँगरेजी कपड़ा न आवे। वे यह मानते थे कि केवल अँगरेजों के साथ हमारा झगड़ा है, इसलिए उनके ही देश के सामान का हम बहिष्कार करें और इस तरह उन पर जोर डालें तथा अपनी माँग मानने के लिए उन्हें मजबूर करें। गांधीजी इस

काँग्रेस के बाद स्वदेशी की लहर एक बार और चली। गांधीजी ने उसे केवल ब्रिटिश-माल-बहिष्कार का रूप न देकर विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार का रूप दे दिया। वह केवल बहिष्कार से ही सन्तुष्ट न थे। उसके साथ-साथ वह चर्खा-प्रचार भी उतना ही आवश्यक समझते थे। चर्खा-प्रचार का काम तो चर्खा-संघ कर रहा था। विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार के लिए एक कमिटी बनायी गयी, जो इसके लिए बहुत जोरों से प्रचार करने लगी। १९२९ का साल इसी काम में लगा। जो कुछ भी जागृति हुई, उससे इसको लाभ पहुँचा और इसका असर उस जागृति पर पड़ा।

गांधीजी ने कई जगहों पर विदेशी वस्त्रों को जलवाया, जिससे जनता में अधिक उत्साह बढ़ने लगा। कलकत्ते में वह एक दिन के लिए आये। बरमा जा रहे थे, रास्ते में ठहर गये। वहाँ पर लोगों ने सार्वजनिक सभा की। उसमें विदेशी वस्त्र जलाने का भी प्रबन्ध किया। विदेशी वस्त्र जलाये गये। पर पुलिस ने इसके पहले ही किसी भी स्क्वायर में इस तरह की कार्रवाई करने की मनाही कर दी थी। सभा हो गई। कपड़े जला भी दिये गये। हम सब वहाँ से चले भी आये। तब पुलिस ने आकर आग बुझा दी! जो लोग वहाँ रह गये थे उन्हें तितर-बितर कर दिया। दूसरे दिन महात्माजी पर मुकदमा चला जिसकी सुनवाई प्रेसिडेन्सी मजिस्ट्रेट के सामने हुई। गांधीजी तो कुछ बोलना नहीं चाहते थे, पर वकीलों ने बहुत बहस की कि यह कार्रवाई गैरकानूनी थी और जिस कानून के आधार पर यह मुकदमा जारी हुआ था वह लागू नहीं था। पर मिस्टर रौक्सबरा ने, जो अब कलकत्ता-हाइकोर्ट के जज हैं, फैसला खिलाफ दिया। गांधीजी पर एक रुपया उदूल-हुक्मी के लिए जुर्माना किया! गांधीजी रंगून चले गये थे। वहाँ से उनके लौटने के बाद ही इसका निपटारा हुआ।

इसी समय, कलकत्ते में गांधीजी के रहते-रहते, एक और बात हुई, जिसके साथ मेरा निजी सम्बन्ध था। घटना दुःखद है; पर संक्षेप में लिख देना आवश्यक जान पड़ता है। १९२१ में ही खादी-प्रचार का काम आरंभ किया गया था। हमारे सूबे में श्री रामविनोद सिंह ने बहुत उत्साह और योग्यता के साथ इसको शुरू किया था। पहले बतला चुका हूँ कि उनकी सफलता और कार्य्य-कुशलता से प्रभावित होकर उन्हें तिलक-स्वराज्य-फंड से पचीस हजार ऋण दिया गया था, जिससे उन्होंने खादी के काम को बहुत आगे बढ़ाया था। यह भी लिख चुका हूँ कि अपने साथियों से उनका मतभेद हो गया; क्योंकि उनके विचार से इस संस्था को रामविनोद बाबू ने अब अपनी निजी सम्पत्ति बना ली थी। ऋण के लिए सिफारिश करनेवाले आचार्य कृपालानी भी इसी निश्चय पर पहुँच गये थे। वह भी जोर लगा रहे थे कि चर्खा-संघ उनसे रुपये वापस ले ले। बिहार-शाखा का एजेण्ट होने के कारण यह भार मेरे सिर पर आ जाता था। चर्खा-संघ के प्रान्तीय मंत्री श्री लक्ष्मीनारायण ने, चर्खा-संघ के निश्चय के अनुसार, रुपयों का हिसाब माँगा। हिसाब में उनके और रामविनोद बाबू के बीच मतभेद हो गया। बात गांधीजी तक पहुँची। उन्होंने आज्ञा

सतीश बाबू ने कलकत्ते में ही जाँच की। लक्ष्मी बाबू वगैरह वहीं सब कागज-पत्र लेकर गये थे। मैं भी था। मैं इस जाँच में शरीक नहीं हुआ था; पर उनकी रिपोर्ट से मुझे दुःख हुआ। रुपये तो कम या बेश जो कुछ बाकी हों, श्री रामविनोद सिंह से बिहार-चर्खा-संघ को ही पाना था। पर उन्होंने रिपोर्ट में बिहार-शाखा की अयोग्यता की शिकायत की। हिसाब भी जैसा रामविनोद बाबू कहते थे वैसा ही स्वीकार किया। मैंने उसे देखा तो मुझे बहुत बुरा लगा—इसलिए ही नहीं कि बिहार-शाखा के विरुद्ध फैसला था, बल्कि इसलिए कि उन्होंने अपने अधिकार की सीमा से बाहर जाकर बिहार-शाखा को अकुशल और अव्यावहारिक ठहराया था। मैंने महात्माजी से कहा कि मैं इस फैसले से बहुत असन्तुष्ट हूँ, आपको स्वयं हिसाब देखना-समझना होगा; क्योंकि एक ओर सार्वजनिक संस्था है जिसके संचालन का काम कई त्यागी और सच्चे सेवक बहुत उत्साह और परिश्रम के साथ कर रहे हैं तथा दूसरी ओर एक कार्य्यकर्त्ता हैं जो व्यवहार-कुशल हैं और जिन्होंने खादी-प्रचार का बहुत काम भी किया है, पर जिनके विरुद्ध शिकायत है कि वह सार्वजनिक संस्था के धन द्वारा बनी-बनायी संस्था को अपनी निजी सम्पत्ति मान बैठे हैं—इसमें भी कोई हर्ज नहीं, क्योंकि उन्होंने परिश्रम और समय लगाया है, पर चर्खा-संघ के रुपये तो ठीक वापस मिल जाने चाहिए।

बरमा से गांधीजी के लौटने पर, कलकत्ते में, जब सब बातें उनके सामने पेश की गईं तब उन्होंने सब कुछ स्वयं देखने का वचन दिया। बात बहुत दिनों तक चलती रही। हिसाब की जाँच के लिए महात्माजी ने श्री नारायणदास गांधी को तैनात किया। अन्त में, जो हिसाब चर्खा-संघ की ओर से पेश किया गया था उसे ही श्री नारायणदास ने ठीक समझा। गांधीजी ने रामविनोद बाबू से कहा कि इसमें यदि भूल है तो हमको समझाओ। इसके लिए दिन भी नियत किया गया। पर बात आगे बढ़ी नहीं, वहीं की वहीं रह गयी। हाँ, गांधीजी ने समझ लिया कि हमने जो बात कही थी वही ठीक है।

इस घटना को मैं दुःखद इसलिए मानता हूँ कि इसके चलते रामविनोद बाबू और श्री सतीशचन्द्रदास गुप्त के सम्बन्ध में यहाँ कुछ लिखना पड़ा। इससे भी अधिक दुःख मुझे उस समय की सारी बातों से हुआ था। सार्वजनिक जीवन में हमें इस तरह अनेक बार ऐसे काम करने पड़ते हैं जिनको हम व्यक्तिगत हसियत से करना पसन्द नहीं करते, पर जिन्हें कर्त्तव्य के अनुरोध से तो अप्रिय होने पर भी करना ही पड़ता है। श्री रामविनोद सिंह को मैं उस समय से जानता हूँ जब वह भागलपुर-कालेज में पढ़ते थे और प्रथम जर्मन-युद्ध के समय नजरबन्द किये गये थे। उस समय की मुलाकात, गांधीजी के चम्पारन आने पर, अधिक गहरी हो गयी। असहयोग-आन्दोलन में, विशेषकर खादी को लेकर, उनसे मेरा सम्पर्क ही नहीं बढ़ा, बल्कि उनकी कार्य्यकुशलता में मेरा विश्वास भी और बढ़ गया। ऐसे व्यक्ति के सम्बन्ध

में जो श्रद्धा और प्रेम है, वह मैं कहना नहीं चाहता। उनकी कार्य-क्षमता और उनका त्याग अतुलनीय है। उनकी भी कृपा मेरे ऊपर रहती है। इसलिए यह दुर्घटना स्वभावतः मेरे लिए बहुत दुःखद हुई थी।

७८—राजबन्दियों का वर्गीकरण

१९२९ में एक बहुत मशहूर षडयंत्र का मुकदमा, 'लाहौर-कौन्सपिरेसी केस' के नाम से, लाहौर में चला। इसके अभियुक्त थे सरदार भगतसिंह। मुकदमा बहुत दिनों तक चला। मुजरिम लोगों ने जेल के अन्दर, असुविधाओं के विरुद्ध, अनशन कर दिया। अनशन कई दिनों तक चला। अनशन करनेवालों में से एक नवयुवक श्री यतीन्द्रनाथ दास, साठ दिनों के बाद, शहीद हो गये। इस मुकदमे की खबरें अखबारों में छपा करतीं। अनशन की खबरें भी लोग पढ़ा करते। सारे देश में काफी सनसनी थी। जब श्री यतीन्द्रनाथ की मृत्यु हो गयी, यह सनसनी और भी ज्यादा बढ़ गयी। उनके शव को गवर्नमेण्ट ने उनके मित्रों को दे दिया। वह रेल पर बड़े सम्मान के साथ लाहौर से कलकत्ते लाया गया। जिन शहरों से होकर वह गाड़ी आयी उनके स्टेशनों पर बड़ी भीड़ लगी। लोगों ने शव पर पुष्प-हार चढ़ाये तथा दूसरे प्रकार से भी उसकी प्रतिष्ठा की। जो जागृति कुछ पहले से ही हो रही थी वह और भी अधिक हो गयी। सारे देश में बड़ा उत्साह उमड़ आया। श्री यतीन्द्रनाथ की मृत्यु का एक फल यह भी हुआ कि गवर्नमेण्ट ने कैदियों का—उनके रहन-सहन, शिक्षा इत्यादि के हिसाब से—तीन भागों में वर्गीकरण कर दिया। यह तुरंत तो न हो पाया, पर जब १९३० में सत्याग्रह हुआ तो सत्याग्रही कैदी भी तीन वर्गों में बाँटे गये। थोड़े लोगों को ए० क्लास मिला, उनसे कुछ अधिक को बी० क्लास और बहुत बड़ी संख्या सी० क्लास में ही रक्खी गयी। गवर्नमेण्ट ने इस बात को मंजूर नहीं किया कि राजनीतिक कैदियों का एक अलग वर्ग या क्लास होना चाहिए। यह प्रश्न अभी तक ज्यों का त्यों है।

जिस तरह का वर्गीकरण गवर्नमेण्ट ने किया वह हमारे लिए हानिकारक है। यह सच है कि जो आदमी अपने घर पर बहुत आराम से रहता आया है वह जेल में भी उसी तरह से रखा जाय, वही भोजन उसे दिया जाय, वही कपड़े उसे पहनाये जायँ, जो मजदूरी करनेवाले गरीबों को मिलते हैं, तो उसकी सजा उसके लिए कहीं अधिक कष्टकर हो जाती है। और, यदि कानून की मन्शा जुर्म के लिए सबको समान दण्ड देना है तो इस तरह उसकी सजा यही अधिक हो जाती है। यही कहकर तीन विभागों में कैदी बाँटे गये। परंतु, जो लोग एक साथ काम कर रहे हैं और एक ही काम में लगे हुए हैं वे जेल के भीतर जाने पर यदि एक दूसरे से अलग कर दिये जायँ—इधर कुछ को सोने के लिए चारपाई मिले, भोजन में थोड़ा दूध-घी भी रहे, चिट्ठी लिखने और मुलाकात करने की सुविधाएँ भी अधिक हों,

बर्तन में बनने के कारण अधिक पानीवाली काली दाल, नाममात्र की तरकारी, पहनने के लिए छोटा जाँघिया, अधबँहिया कुर्ता, तथा उनके साथ जेल के अधिकारियों का बर्ताव भी उन कैदियों के समान ही हो जो चोरी इत्यादि के लिए जेल में बन्द हों, तो उन अधिकांशों के मन में असन्तोष पैदा होना स्वाभाविक है। मालूम नहीं, गवर्नमेण्ट ने किस नियत से इस प्रकार का वर्गीकरण किया है।

राजनीतिक कैदियों का एक ही वर्ग हो, जो सुविधा ए० अथवा बी० वर्ग को मिलती है उससे उन्हें कम भी मिले; पर बर्ताव सबके साथ समान हो—इसके लिए की गई आज तक की सभी कोशिशें निष्फल हुई हैं। गवर्नमेंट अपनी सुविधा के लिए राजनीतिक कैदियों को एक प्रकार से अलग करती है; पर यह कहने पर कि वे अलग समझे जायँ और उनके साथ भिन्न व्यवहार हो, हमेशा यह कह दिया जाता है कि गवर्नमेंट राजनीतिक तथा अन्य कैदियों में कोई फर्क नहीं समझती। बिहार-प्रान्त में, १९३० के आन्दोलन में, १२ से १४ हजार तक, सत्याग्रह के कारण राजनीतिक कैदी हुए। पर इनमें २० से अधिक को ए० क्लास नहीं मिला। बी० क्लासवालों की संख्या तीन से चार सौ तक होगी, इससे अधिक नहीं। बाकी सबके सब सी० क्लास में रक्खे गये। वर्गीकरण भी जिला-मजिस्ट्रेट या किसी दूसरे अधिकारी की इच्छा के अनुसार ही हुआ करता था। सेठ जमनालाल बजाज का लड़का सी० क्लास में रक्खा गया। एक ही घर का एक भाई ए० या बी० में रक्खा गया और दूसरा सी० में। इस तरह की गड़बड़ी बहुत रही। इसके अलावा, बिहार में सी० क्लासवालों की एक बड़ी—यानी चार-पाँच हजार की—जमायत पटना-कैम्प-जेल में रक्खी गयी। यह जेलखाना खुले मैदान में, जहाँ कोई वृक्ष नहीं, टिन की दीवारों और छप्परों का बना था। बरसात में, जमीन नीची होने के कारण, नीचे के फर्श में नमी या सील हो जाती थी। गरमी में टिन के दीवार-छप्पर तप जाते थे। मारे गरमी के लोग परेशान हो छटपटा जाते थे। सर्दी में टिन बाहर की सर्दी को रोक नहीं सकता था। कभी-कभी तो हवा की नमी टिन में लगकर पानी हो जाती और बिना बरसात के ही वर्षा होने लगती। कैदियों के कष्टों का कुछ ठिकाना न था। इन सबका नतीजा यह हुआ कि सी० क्लासवालों में बहुत असन्तोष पैदा हुआ। असन्तोष का कुछ हिस्सा उनके प्रति भी था जिनको ए० या बी० क्लास मिला था। मनुष्य में मामूली तौर पर डाह की कुछ मात्रा होती ही है। कुछ लोग इसके शिकार हो ही गये, यद्यपि इस वर्गीकरण में ए० बी० क्लासवालों का कोई दोष नहीं था।

हाँ, ऐसा भी कहीं-कहीं हुआ होगा कि कोशिश-पैरवी कराकर लोगों ने ए० या बी० क्लास लिया हो, यद्यपि ऐसे लोगों की संख्या थोड़ी ही होगी। ऐसा भी किसी ने नहीं किया कि वह अपना ए० या बी० क्लास छोड़ दे और दरखास्त देकर सी० क्लास करा ले। कहीं-कहीं कुछ ए० या बी० क्लासवालों ने अपना खाना छोड़कर कुछ दिनों तक सी० क्लास का भोजन लिया; पर यह बहुत दिन तक नहीं चला। इसमें कोई

बढ़ा; पर ऐसा न समझना चाहिए कि यह मनमुटाव बहुत बड़े पैमाने पर हुआ। सी० क्लासवालों में अधिक से अधिक संख्या ऐसे लोगों की ही रही जिनमें इतनी उदारता थी कि उन्होंने खुद समझा और दूसरों को भी समझाया कि वर्गीकरण में हम लोगों का हाथ नहीं है—जो जेलखाने भेजता है वह जिसे जहाँ भेजता है, जिसे जिस तरह रखना चाहता है, उसे वहाँ जाना पड़ता है और वैसे रहना पड़ता है। एक ही कसूर के लिए अगर एक आदमी को तीन महीनों की और दूसरे साथी को तीन साल की कैद मिलती है, तो जिस तरह इसके लिए तीन महीनेवाले की शिकायत नहीं की जा सकती, उसी तरह ए० बी० क्लासवाले की शिकायत भी बेजा है। यह सब होते हुए भी, कुछ लोगों के दिल में तो वर्गीकरण के कारण दूसरों के प्रति अश्रद्धा हो ही गयी।

गांधीजी का विचार हमेशा रहा है कि हमें कैदी कैदी में फर्क नहीं करना चाहिए; यदि सब राजनीतिक कैदी अपना अलग वर्ग बना लेंगे तो दूसरे गरीब जो जेल में आते हैं, चाहे उनका जो भी कसूर हो, उसी हालत में पड़े रह जायँगे जिसमें वे अब तक रहे हैं; इसलिए हमको यदि आन्दोलन करना हो तो इसलिए करें कि सभी कैदियों की हालत में सुधार हो। ठीक इसी नीति के अनुसार गांधीजी तीसरे दर्जे के डब्बे में चलते हैं और चाहते हैं कि दूसरे बड़े लोग भी चलें तो रेल के तीसरे दर्जे की हालत सुधर जाय। पर काँग्रेस के अन्दर भी सभी लोग इस मत के नहीं हैं। इसलिए अभी तक कुछ ऐसा नहीं हो पाया। जब मैं पहले जेल में गया तो मेरा विचार होता था कि इस मामले का निपटारा बाहर से अधिक सुगमता-पूर्वक हो सकेगा, मैं कैदियों द्वारा आन्दोलन कराना पसन्द नहीं करता था। पर अब मेरा विश्वास हो गया है कि इस सम्बन्ध में जो कुछ करें, कैदी ही कर सकते हैं—बाहर के लोग विशेष कुछ नहीं कर सकते। हाँ, यदि समझदार लोगों के हाथों में अधिकार आ जाय तो वे शायद कुछ कर सकें। अब तक अनुभव भी यही बतलाता है कि कैदियों की हालत में जो कुछ थोड़ा-बहुत सुधार हुआ है वह कैदियों के आन्दोलन के कारण ही हुआ है। जो थोड़ी सुविधाएँ लोगों को मिली हैं, वह भी श्री यतीन्द्र दास के प्राणत्याग का ही फल है।

७९—जमशेदपुर के मजदूरों की हड़ताल

बिहार में जमशेदपुर एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। वहाँ हिन्दुस्थान का ही नहीं, सारे एशिया का सबसे बड़ा लोहे का कारखाना है, जो संसार के बड़े कारखानों में भी शायद दूसरा या तीसरा स्थान रखता है। उसके साथ अनेक दूसरे कारखाने भी हैं, जो उसके मुकाबले में तो छोटे हैं; पर यदि वह न होता तो बड़े ही समझे जाते। जाहिर है कि ऐसे शहर में मजदूरों का प्रश्न एक अत्यन्त महत्त्व का प्रश्न होता है। इस सूबे में मजदूरों का संगठन एक विशेष महत्त्व रखता है; क्योंकि यहाँ कोयले की खानें भी सभी सूबों से ज्यादा हैं। ऊख के कारखाने भी, युक्तप्रान्त छोड़कर, इसी सूबे में सबसे अधिक हैं। सब सूबों से अधिक चीनी यहीं बनती है।

नहीं था कि मैं इसके महत्त्व को नहीं समझता था, बल्कि कारण यह था कि मेरे हाथ में दूसरा काम इतना ज्यादा था कि इसे हाथ में लेने की मेरी हिम्मत न पड़ती थी। कोई दूसरा भी इसे हाथ में लेना नहीं चाहता था। इसका नतीजा यह हुआ कि हम इस मामले में बहुत पीछे पड़ गये। जमशेदपुर, झरिया इत्यादि स्थानों में, स्थानीय लोगों ने अथवा अन्यत्र से आकर बाहर के लोगों ने, कुछ किया। पर वह हमको सन्तोषप्रद नहीं प्रतीत होता था। मैं १९२१ से ही जब-तब जमशेदपुर जाया करता था। काँग्रेस का प्रचार-कार्य करके चला आता। उसी तरह झरिया के साथ भी मेरा वैसा ही सम्बन्ध था। मजदूरों के संगठन को मैंने कभी अपने हाथ में नहीं लिया। जमशेदपुर में एक संघ बना था, जिसके सभापति दीनबंधु एण्डरूज हुए थे। गांधीजी वहाँ गये थे। ताता-कम्पनी के डाइरेक्टर स्वर्गीय आर० जी० टाटा आये थे। मैं भी गांधीजी के साथ था। मजदूर-संघ को श्री टाटा ने मान लिया। वह कुछ काम करता चला आया। श्री एण्डरूज वहाँ रहते नहीं थे, कभी-कभी आ जाया करते थे। इसलिए, यद्यपि उनकी सहानुभूति से लाभ तो होता तथापि संगठन उतना मजबूत नहीं हुआ जितना होना चाहिए।

मजदूरों की शिकायतों के कारण १९२८ में वहाँ हड़ताल हुई। हड़ताल कुछ दिनों तक चली। श्री सुभाषचन्द्र बोस कलकत्ते से आये। मजदूर-संघ के वह सभापति हुए। अन्त में उन्होंने ताता-कम्पनी के साथ समझौता किया। पर इस समय वहाँ मजदूरों के संगठन में एक दूसरे सज्जन दिलचस्पी लेने लग गये थे। उन्होंने इस समझौते को मञ्जूर नहीं किया। कुछ मजदूरों को लेकर उन्होंने अलग संघ कायम कर लिया। श्री सुभाषचन्द्र के विरुद्ध उनकी ओर से बुरी तरह का प्रचार होने लगा। पर बात तो तय हो गयी थी और सब मजदूर अब एक मत के नहीं थे, इसलिए कम्पनी को और कुछ करना नहीं पड़ा। यह सब मेरी गैरहाजिरी में हुआ था। वहाँ मजदूरों में दो दल हो गये थे। उनकी संस्थाएँ भी दो थीं। इन दोनों में आपस का मनोमालिन्य भी काफी था।

इसी समय वहाँ एक दूसरी कम्पनी के कारखाने में, जिसका नाम टिन-प्लेट-कम्पनी है, हड़ताल हुई। वहाँ के लोगों ने भी श्री सुभाषचन्द्र बोस की मदद माँगी। वह आये। हड़ताल चली। पर कम्पनी के मालिकों ने बहुत कड़ा रुख अख्तियार किया। वे किसी तरह से मजदूरों की सुनने को तैयार नहीं होते थे। सुभाष बाबू ने मुझे भी खबर देकर बुलवाया। इस हड़ताल में दिलचस्पी लेने के लिए मुझसे कहा। प्रोफेसर अब्दुल बारी वहाँ सुभाष बाबू की मदद कर रहे थे। मैंने भी, अपने सूबे में होने के कारण और मजदूरों की माँगों को न्याययुक्त समझकर, इस हड़ताल का समर्थन किया। इसके बाद उसके चलाने का प्रायः सारा भार प्रो० अब्दुल बारी और मेरे ऊपर आ गया। मैं कई बार वहाँ गया। हड़ताल प्रायः ८-१० महीनों तक चलती रही। मैंने गवर्नमेंट से इस बात की सिफारिश की कि वह यह मामला, 'ट्रेड्स डिस्प्यूट ऐक्ट'

गवर्नमेण्ट के मेम्बर से मैंने भेंट की। उन्होंने यही कहा कि गवर्नमेण्ट इस हड़ताल को गलत और अकारण समझती है; क्योंकि जमशेदपुर के मजदूरों के नेता श्री होमी भी इसके विरुद्ध हैं। यह वही सज्जन थे जिन्होंने ताता-कम्पनी में सुभाष बाबू का विरोध करके दूसरी संस्था कायम कर ली थी। इस समय गवर्नमेण्ट को इनकी राय इसलिए ठीक जँची कि वह कुछ करना नहीं चाहती थी और कम्पनी की मदद करना पसन्द करती थी। जो हो, हजार कोशिश पर भी कम्पनी टस से मस न हुई। आठ-दस महीनों तक चलकर हड़ताल समाप्त हो गयी। पर बहुतेरे मजदूर, जिन्होंने काम छोड़ दिया था, अपने काम पर वापस नहीं गये। अथवा, जो जाना भी चाहते थे उन्हें कम्पनी ने उनकी जगह पर वापस नहीं लिया।

८०—एक घरेलू घटना और सरकारी घोषणा का अर्थ

१९२९ का मेरा अधिक समय विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार में लगा, जिसका रचनात्मक रूप खादी की उत्पत्ति होता है। इसके अलावा जमशेदपुर के मामले ने भी कुछ समय लिया। खादी के काम की देखभाल के लिए मैं मधुबनी में, जहाँ अब चर्खा-संघ का मुख्य केन्द्र और प्रान्तीय दफ्तर हो गया था, कुछ दिनों ठहरा रहा। काम को आगे बढ़ाने के सम्बन्ध में कार्यकर्त्ताओं से परामर्श किया। वहीं मुझे तार मिला कि मेरे भतीजा जनार्दन के एक पुत्र पैदा हुआ है। स्वभावत: भाई साहब को खुशी हुई और हम सब खुश थे। पुरानी रीति के अनुसार भाई साहब ने मित्रों के अनुरोध से इस खुशी में कुछ खर्च भी कर दिया। नाच-तमाशे के दिन तो नहीं थे; क्योंकि उन्होंने व्रत ले लिया था कि शादी-ब्याह में भी नाच वगैरह नहीं करायँगे। इसलिए, इस मौके पर भी नाच वगैरह तो नहीं हुए; परन्तु पूजा-पाठ हुआ। अपने नौकरों और सरोकारियों को कपड़े वगैरह उन्होंने खूब बाँटे। मैं भी उत्सव में छपरे गया। सब लोग बहुत खुशियाँ मना रहे थे। यहाँ यह सब इसलिए लिखना पड़ा कि इसका अन्त बहुत दु:खद हुआ।

बच्चा बहुत सुन्दर और होनहार निकला। हम दोनों भाई उसे बहुत प्यार करते थे; क्योंकि उन दिनों घर में वही एक लड़का था। १९२९ के दिसम्बर में बीमार पड़कर मैं दिसम्बर और जनवरी में अपने गाँव जीरादेई में कुछ दिनों तक रहा। बच्चा वहीं था। उसको खेलाने और उसके साथ खेलने का सुअवसर मिला। कलकत्ते के श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी भी प्राय: एक महीने तक मेरे साथ वहीं ठहरे थे। रोज-रोज के लाड़-प्यार से लड़के के साथ बहुत स्नेह हो गया। वह जैसे-जैसे बढ़ता गया, स्नेह भी घना होता गया। पर जब वह पाँच साल से कुछ अधिक का हुआ तो भाई साहब की मृत्यु के दो महीने बाद वह भी पटने में टाइफाइड से पीड़ित होकर जाता रहा! मैं पटने में ही था। यथासाध्य डाक्टरों ने भी उसे बचाने की चेष्टा की, पर वह सब निष्फल हुई। अब भी जब उसकी स्मृति आ जाती है, चित्त विह्वल हो जाता है. मैं

के पुत्र हुआ तो मैंने सख्ती से रोक दिया कि इसके जन्म के कारण किसी प्रकार का उत्सव न मनाया जाय। मैंने आज तक अपने दिल में बैठे हुए इस कारण को कभी किसी से कहा नहीं, आज ही पहले-पहल इसे यहाँ लिख रहा हूँ।

अस्तु। इस समय हिन्दुस्थान के बड़े लाट लार्ड अर्विन थे। वह छुट्टी लेकर कुछ दिनों के लिए इँगलैंड गये। वहाँ पर हिन्दुस्थान की परिस्थिति के सम्बन्ध में उन्होंने बातें कीं। इस समय वहाँ भी मजदूर-दल का मंत्रिमंडल बना था। श्री रामजे मैकडोनल्ड प्रधान मंत्री और श्री वेजवुडबेन भारत-मंत्री थे। लार्ड अर्विन ने वहाँ से लौटकर ब्रिटिश सरकार की ओर से एक घोषणा की। उसमें उन्होंने यह कहा कि जो घोषणाएँ ब्रिटिश-सरकार की ओर से हो चुकी हैं उनमें भारत के लिए औपनिवेशिक स्वराज्य निहित है। शायद उन्होंने यह भी कहा कि इस विषय पर विचार करने के लिए एक गोलमेज कान्फ्रेन्स लंदन में की जायगी। यह घोषणा यहाँ की परिस्थिति देखकर की गयी थी। साइमन-कमीशन का बहिष्कार भारत के सभी दलों ने किया था। उसके विरुद्ध प्रदर्शनों में लोगों पर लाठियाँ चली थीं। देश के कई मान्य लोग भी घायल हुए थे। सारे देश में हलचल थी। उसमें लाहौर-षड्यंत्र के अभियुक्तों की भूख-हड़ताल ने और भी जान डाल दी थी। विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार का प्रचार जोर पकड़ता जा रहा था। कलकत्ता-काँग्रेस ने प्रस्ताव स्वीकृत कर लिया था कि १९२९ के भीतर यदि औपनिवेशिक स्वराज्य न मिला तो काँग्रेस पूर्ण स्वतंत्रता को अपना ध्येय बना लेगी।

गवर्नमेण्ट ने शायद सोचा था कि यह घोषणा इस अशान्ति को शान्त करने में सफल होगी। घोषणा के अर्थ के सम्बन्ध में पत्रों में कुछ वाद-विवाद होने लगा। नरम दलवाले कुछ सन्तुष्ट मालूम पड़ने लगे। पर यदि उसकी अच्छी तरह छानबीन की जाती तो सरकार की सभी घोषणाओं की तरह उसके भी कई अर्थ निकल सकते थे और गवर्नमेण्ट अपनी सुविधा के अनुसार जब जैसा चाहती उसका अर्थ वैसा निकाल सकती थी। काँग्रेस के लोगों ने उसे कलकत्ता-काँग्रेस की माँग की पूर्ति करनेवाली घोषणा नहीं समझा। इसका खुलासा पीछे हुआ तो मालूम हो गया कि काँग्रेस का सन्देह बिलकुल ठीक था और दूसरों ने अपनी इच्छा के अनुसार अर्थ निकाला था जो शब्दों से नहीं निकल सकता था।

ठीक लाहौर-काँग्रेस के पहले गांधीजी और पंडित मोतीलाल नेहरू लार्ड अर्विन से मिले। उन्होंने वायसराय से इसका अर्थ पूछा तो मालूम हुआ कि जो उन लोगों ने समझा था वही ठीक था, दूसरों ने मनमाना अर्थ निकाला था! अभी औपनिवेशिक स्वराज्य दूर था! जो उसे आया हुआ समझे हुए थे उन्होंने श्री वेजवुडबेन के उस भाषण को, जिसमें उन्होंने कहा था कि औपनिवेशिक स्वराज्य तो वास्तव में काम कर रहा है (Dominion Status in action), वाक्चातुरी न समझ कर शाब्दिक अर्थ लगाने में भूल की थी। यह हमारे लिए इस बात की एक चेतावनी निकली

मनमाना अर्थ नहीं निकालना चाहिए। इस चेतावनी के लिए हमें उनका अनुगृहीत होना चाहिए!

८१—मेरी बरमा-यात्रा

जब हम लोग बाबू हरिजी का मुकदमा समाप्त करके इँगलैंड से लौट रहे थे, बाबू हरिजी ने ख्वाहिश जाहिर की थी कि मैं एक बार बरमा जाऊँ और जियावाडी में जो कुछ उन्होंने किया है उसे देखूँ। मेरी भी इच्छा थी कि उनकी उस कीर्ति को भी देखूँ और बरमा-प्रान्त में भ्रमण भी करूँ। यह ख्वाहिश १९२८ में पूरी न हुई। १९२९ में बाबू हरिजी खुद बरमा गये। मैंने भी सोचा कि वहाँ जाने का यह अच्छा मौका है। इसी बीच एक और बात सामने आ गयी। जिस तरह दीवान जयप्रकाशलाल (बाबू हरिजी के स्वर्गवासी पिता) ने बरमा में, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के प्रोत्साहन से, जमीन ली थी उसी तरह एक अँगरेज नीलवर मिस्टर मिलन ने भी बरमा में बहुत जमीन ली थी। शाहाबाद जिले में वह नील का काम किया करते थे। उन्होंने भी बिहार से खासकर शाहाबाद से, किसानों को ले जाकर, बाबू हरिजी की तरह ही, अपनी जमीन पर बसाया था। कुछ और लोगों ने भी वहाँ जमीन ली थी; पर वे उसका ठीक प्रबन्ध न कर सके; अन्त में जमीन उन्होंने छोड़ दी या वह जब्त हो गयी। पर इन दो बड़े जमीन्दारों ने वहाँ बहुत बड़ी जमीन्दारी हासिल कर ली। बहुत परिश्रम और अध्यवसाय से, काफी रुपये खर्च करके, ऐसे जंगलों को—जहाँ हाथी और शेर बसते थे—काट-काटकर, जमीन साफ करके इन लोगों ने बिहारियों को बसाया था। वहाँ धान, ईख और दूसरी फसलें भी पैदा होती थीं। मिस्टर मिलन के रैयतों में कुछ अशान्ति-सी व्याप रही थी। रैयतों ने यहाँ पत्र भेजा था कि मैं जाकर उनकी मदद करूँ। शायद उन्होंने सुना था कि मैंने गांधीजी के साथ चम्पारन में काम किया था, इसलिए मेरी सेवा पर उनका कुछ विश्वास हो गया था। बस, इस दूसरे सुयोग को पाकर मैंने वहाँ जाने का निश्चय कर लिया। श्री मथुराप्रसादजी के साथ नवम्बर में वहाँ गया। मिस्टर मिलन की जमीन्दारी का नाम था 'चौतगा' और बाबू हरिजी की जमीन्दारी का 'जियावाडी'। मैं इन दोनों जगहों में गया। रंगून में भी कुछ दिन ठहरा। कुल मिलाकर शायद पन्द्रह दिन वहाँ रहा। और कहीं नहीं जा सका। इसलिए मंडले वगैरह कुछ न देख सका।

स्टीमर का सफर मामूली था। समुद्र शान्त था। जहाज में आराम था। हम लोग मजे में पहुँच गये। कुछ दूर से ही रंगून के बौद्ध मन्दिरों के सुनहले कँगूरे और गुम्बद नजर आये। नजदीक पहुँचते-पहुँचते उनका बड़ा अंश दीखने लगा। रंगून के लोगों ने अच्छी खातिरदारी की। एक सार्वजनिक सभा में मुझे मानपत्र दिया गया। मैंने उसके उत्तर में कहा कि हिन्दुस्थान और बरमा का पुराना सम्बन्ध आज के सम्बन्ध से भिन्न प्रकार का था। भारत ने भी अपना साम्राज्य दूसरे देशों में स्थापित किया

पर स्थापित नहीं था। वह धार्मिक साम्राज्य था। भारत का सम्बन्ध दूसरों के साथ एक रेशमी डोरी से गुँथे मणियों का-सा था, जो एक दूसरे के साथ रहते तो हैं, पर एक दूसरे पर हुकूमत नहीं करते। आज भी जब संसार में होता हुआ खून-खराबा देखता हूँ तो मुझे मालूम होता है कि भारतवर्ष की वह धार्मिक एक-सूत्रता, जो सेना के बल से नहीं वरन् धर्म और चरित्र द्वारा ही स्थापित की गयी थी, आज के साम्राज्य से कहीं अधिक स्थायी और प्राणिमात्र के लिए कहीं अधिक लाभदायक साबित हुई है। भारतवर्ष से, विशेषकर अपने जन्मस्थान बिहार से, बौद्ध धर्म एकबारगी उठ गया है, तब भी आज उसे संसार के अधिक से अधिक मनुष्य मानते हैं। वे लोग आज भी उस धर्म के प्रवर्त्तक के साथ सम्बन्ध रखनेवाले स्थानों को तीर्थस्थान मानते हैं। बुद्धदेव ने जहाँ जन्म लिया, जहाँ उन्होंने सिद्धि प्राप्त की, जहाँ अपना धर्मचक्र चलाया, वे सभी स्थान आज भारत में दुनिया के बौद्धों के लिए पुण्यतीर्थ बने हुए हैं। उन्हीं तीर्थों के कारण संसार के बौद्ध, हमारी आज की पतित अवस्था में भी, हमें आदर की दृष्टि से देखते हैं। किसी राजनीतिक साम्राज्य को यह सौभाग्य न प्राप्त हुआ है और न होगा। बरमा में जाकर मेरे हृदय के अन्दर ये सब भाव स्वतः प्रकट हो गये।

वहाँ चौतगा के रैयतों से मैं मिला। मालिक तो वहाँ नहीं थे, विलायत में थे; पर उनके कर्मचारी और उनके पुत्र वहाँ थे। उनसे रैयतों की शिकायतों के सम्बन्ध में बातें हुईं। रंगढंग से मालूम हुआ कि बातें तय हो जायँगी। पर अन्त में विलायत से कुछ तार आ गया। हाथ में आयी हुई सफलता भी निकल गयी! पर मुझे विश्वास है कि वहाँ के लोगों की हालत बहुत-कुछ सुधर गयी, यद्यपि सब बातें हमारे सामने तय न पा सकीं।

जियावाडी में भी रैयतों की कुछ शिकायतें थीं। पर बाबू हरिजी की कार्य-कुशलता और व्यवहार-पटुता के कारण वे उस समय तक उग्र रूप नहीं धारण कर पायी थीं। हम लोगों को उनके सम्बन्ध में कुछ करना नहीं पड़ा। कुछ दिन ठहरकर वहाँ का हालचाल देखा। वहाँ के गाँवों में जाने पर ऐसा नहीं मालूम होता था कि हम बिहार से बाहर आये हैं। वही भोजपुरी बोली, वही कपड़े, वही रहन-सहन, उसी तरह के मकान और वैसी ही खेती-बारी। मैंने मुकदमे के समय कागजों को पढ़ा था। उनको पढ़ने से ही बाबू हरिजी की कार्य-दक्षता और प्रबन्ध-शक्ति का मैं कायल हो गया था। अब उस एक समय के, अर्थात् ३० बरस पहले के, जंगल को लहलहाते हुए गाँवों के रूप में देखकर और भी श्रद्धा हो गयी। आज उनमें हजारों बिहारी रहते और खेती करके सुख से जीवन बिताते हैं तथा बाबू हरिजी को भी लाखों रुपयों की सालाना आमदनी दे देते हैं। हमारे सामने उन्होंने रैयतों की एक सभा भी की जिसमें खैरखाहों को मुरेठा बाँटा और दूसरे प्रकार से भी आदर दिया। बिहार-विद्यापीठ के लिए भी कुछ रुपये वहाँ मिले। रंगून के व्यापारियों ने भी दिये जिन्हें लेकर मैं वापस आया।

रंगून में भी बिहारियों की खासी आबादी है। मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ

वह कहीं नौकरी करता था। मेरे आने की खबर सुनकर वह मुझसे मिलने आया। वहाँ गुजराती और मारवाड़ी व्यापारी काफी हैं। पर गाँवों में ज्यादातर मद्रास के रहनेवाले चेट्टी लोग हैं जो अधिक रुपये लगाने या कर्ज देने का काम करते हैं। आन्ध्र के भी बहुत लोग हैं, पर वे भी बिहारियों की तरह नौकरी या मजदूरी करते हैं। उसी समय आन्ध्र के श्री नागेश्वरराव पंतलू भी वहाँ गये थे। रंगून में हम दोनों को भोज दिया गया, जिसमें वहाँ के बहुतेरे मशहूर बरमी और हिन्दुस्थानी शरीक हुए। मेयर वहाँ के एक मुसलमान सज्जन थे। श्री अब्बास तय्यबजी के सुपुत्र तय्यबजी रैयतों के काम में बहुत दिलचस्पी लिया करते थे। ये सब लोग भोज में शरीक थे। एक अँगरेज सज्जन भी, जो पीछे वहाँ की कौन्सिल के स्पीकर या सभापति हुए, उस भोज में थे।

मुझे यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सभी लोग जमीन पर बैठकर भोजन करते गये। अँगरेज महाशय भी हम लोगों के साथ ही उसी तरह बैठे। बिहार में ऐसा कोई भोज मैंने नहीं देखा था। गांधीजी के आश्रम के सिवा और कहीं भी, उस समय तक, मैंने इस तरह सब लोगों को हिन्दुस्थानी तरीके से जमीन पर बैठकर खाते नहीं देखा था। यह हमारी कमजोरी है कि हम यदि किसी विदेशी को खिलाते हैं या दूसरे प्रकार से उसका आदर करते हैं, तो वह जैसे खाता-पीता या रहता है उसी की हम नकल करते हैं। वह स्वयं तो अपने घर में वैसे रहता ही है और वही भोजन उसी तरीके से किया ही करता है, फिर हमने अपने यहाँ के भोज में उसे अपनी विशेषता क्या दिखाई? विदेशियों में जो सहृदय होंगे और इस देश के सम्बन्ध में कुछ जानने की इच्छा रखते होंगे, वे शायद दिल में चाहते भी होंगे कि हिन्दुस्थानियों के घर में वे अपने ही घर की नकल न देखकर हिन्दुस्थान का भी कुछ देख सकें। पर हम न मालूम क्यों भद्दी नकल पसन्द करते हैं और अपनी रीति-नीति को छुपाने की चीज मान लेते हैं! जो हो, मुझे रंगून में यह देखकर बड़ा आनन्द हुआ। रंगून से मैं जहाज पर कलकत्ते के लिए रवाना हो गया।

८२—लाहौर-काँग्रेस और मौलाना मजहरुल हक की मृत्यु

जहाज पर ही दमा का दौरा बहुत जोरों से शुरू हो गया। हालत इतनी खराब हो गयी कि जहाज के डाक्टर को सुई देने की जरूरत पड़ गयी। कलकत्ते में जहाज से उतरकर मैं अपने मित्र श्री योगेन्द्रनारायण मजुमदार बैरिस्टर के घर जाकर ठहर गया। तीन-चार दिनों के बाद मुँगेर में बिहार प्रान्तीय राजनीतिक कान्फ्रेन्स होनेवाली थी। मैं उसका सभापति चुना गया था। मैंने सोचा कि कलकत्ते में दो-तीन दिनों तक आराम करूँगा और भला-चंगा होकर मुँगेर जाऊँगा। अब तक मैंने हकीम और वैद्य की दवा के सिवा एलोपैथिक एलाज कराया था। मेरे मित्र का विचार हुआ और मैंने भी पसन्द किया कि एक बार होमियोपैथिक को भी आजमाया जाय। एक बूढ़े डाक्टर को जिन पर उनका बहुत विश्वास था, उन्होंने बुलवाया। डाक्टर ने सब बातें देख-

उनका इलाज कराऊँ और जब तक उनका इलाज होता रहे तब तक दूसरा इलाज न करूँ—हो सकता है, उनके इलाज से पहले बीमारी बढ़ जाय; यदि ऐसा हो तो मुझे डरना न चाहिए, यह शुभ लक्षण होगा। मैंने उनकी ये सब बातें मान लीं। उन्होंने एक खूराक दवा दी और कहा कि अब दो महीनों तक दूसरी दवा नहीं लेनी होगी। मैंने वह खूराक वहीं खा ली; दो महीनों के लिए दवा से छुट्टी मिल गई !

मैं वहीं बैठकर प्रान्तीय सम्मेलन के लिए भाषण भी लिख रहा था। तीसरे या चौथे दिन, रात की गाड़ी से, मैं मुंगेर के लिए रवाना हुआ। गाड़ी में भीड़ बहुत थी। रात-भर बैठे रहना पड़ा। शायद हवा भी लगी। नतीजा यह हुआ कि मुंगेर पहुँचते-पहुँचते तबीयत बहुत खराब हो गयी। मैं सम्मेलन में शरीक न हो सका। मेरा भाषण किसी ने पढ़ सुनाया। दिसम्बर का आरम्भ था। थोड़े ही दिनों के बाद लाहौर में काँग्रेस होनेवाली थी। पंडित जवाहरलाल नेहरू मनोनीत सभापति थे। देश के सामने औपनिवेशिक और पूर्ण स्वराज्य की बहस चल रही थी। मैंने मुंगेर के अपने भाषण में औपनिवेशिक स्वराज्य का ही समर्थन किया था। मैं तो वहाँ इतना सख्त बीमार हुआ कि मैं उस सम्मेलन के निश्चयों को भी न जान सका। पर पीछे मालूम हुआ कि मैं प्रान्तीय काँग्रेस-कमिटी का सभापति चुना गया।

वादा के अनुसार मैंने कोई दवा नहीं खायी। मैंने समझा कि यह उभड़ी हुई बीमारी डाक्टर के कहने के अनुसार ही है—उसकी दवा की प्रतिक्रियामात्र है और जल्द ही अच्छा हो जाऊँगा। पर ऐसा हुआ नहीं। मुंगेर से किसी तरह भाई साहब मुझे पटने लाये। यहाँ भी खाँसी और ज्वर का प्रकोप रहा। यहाँ के डाक्टर बनर्जी बराबर देखते रहे। डाक्टर फणि मुखर्जी ने एक्सरे में फेफड़े की जाँच की। उस जाँच से वह और डाक्टर बनर्जी कुछ चिन्तित हुए। वे लोग मुझे देखते तो थे; पर मैं किसी की दवा नहीं खाता था। कलकत्ते के होमियोपैथिक डाक्टर के पास रोज टेलीफोन किया जाता। उत्तर मिलता कि कुछ घबराने की बात नहीं है और न दवा की जरूरत है। एक दिन पटने के डाक्टर लोग अधिक चिन्तित हो गये। उन्होंने स्पष्ट कहा कि दूसरे दिन तक यदि हालत न सुधरी तो चिन्ताजनक हो जायगी और वे मुझे दूरवर्ती डाक्टर के आशीर्वाद के भरोसे बिना इलाज के नहीं छोड़ेंगे।

कलकत्ते खबर दी गयी। डाक्टर पटने बुलाये गये। उन्होंने एक दवा देने को कहा, जो पीछे मालूम हुआ कि केवल पानी था। उनके आ जाने से यहाँ के डाक्टरों ने जवाबदेही से अपने को बरी समझा। वह यहाँ दो दिन ठहरे, पर दवा कोई नहीं दी। इन्हीं दिनों बीमारी स्वयं कम होने लगी। चार-पाँच दिनों में ज्वर के साथ ही खाँसी जाती रही। एक्सरे से फिर परीक्षा की गयी। फेफड़ा बिलकुल साफ निकला !

मैं जीरादेई चला गया। जो मित्र लाहौर-काँग्रेस में जानेवाले थे, चले गये। मैं न जा सका। जैसा कह चुका हूँ, श्री सतीशचन्द्र मुखर्जी के साथ प्रायः एक महीना घर पर रहा। उनसे बातें करता, अखबारों में काँग्रेस का हाल पढ़ता और एक छोटी-

मैंने उसे सतीश बाबू को दिखलाया। उन्होंने बड़ी प्रशंसा की। कहा कि वह उसे बनारस लौटने पर एक बार अच्छी तरह पढ़ेंगे और कुछ आवश्यक संशोधन भी बतावेंगे, तब छापने लायक होगा। उसे वह लेते गये। उसके बाद ही १९३० का सत्याग्रह छिड़ गया। मैं उसमें इस तरह बझ गया कि फिर उसकी ओर ध्यान ही न गया। न मालूम उस लेख का क्या हुआ!

लाहौर-काँग्रेस बड़ी धूमधाम से समाप्त हुई। वहाँ जाने के पहले ही गांधीजी और पंडित मोतीलाल नेहरू ने दिल्ली में वायसराय से मुलाकात की थी। वहाँ स्पष्ट हो गया था कि उनकी घोषणा काँग्रेस की माँग पूरी नहीं करती। इसलिए एक प्रकार से निश्चय-सा ही हो गया था कि वहाँ काँग्रेस का ध्येय बदला जायगा। वह बदल भी दिया गया। अब पूर्ण स्वतंत्रता ध्येय हो गया जिसे अब तक हम प्राप्त नहीं कर पाये हैं और जिसके लिए हमें अभी बहुत परिश्रम और त्याग करने की जरूरत है।

उधर लाहौर-काँग्रेस हो रही थी, इधर अपने गाँव में ठहरे हुए मजहरुल हक साहब का देहावसान हो गया। पटने से जाकर हक साहब छपरा जिले में, ओदर के नजदीक फरीदपुर में, रहा करते थे। वहाँ उनकी कुछ जमीन्दारी थी। एक बहुत बड़ा आम का बाग उन्होंने लगाया था। उसी बाग में एक छोटा-सा बँगला था जिसमें वह रहा करते थे। पास की ही नदी 'दाहा' की बाढ़ में अपने बड़े पुत्र के अचानक डूबकर मर जाने के बाद से वह बहुत उदास हो गये थे। आध्यात्मिक विषय (spiritualism) पर बहुत पुस्तकें पढ़ा करते थे। इस विषय पर उनके पास एक खासा पुस्तकालय हो गया था। कभी-कभी मैं वहाँ जाया करता था। वह मुझे भी उस विषय का अध्ययन करने को कहा करते थे। मैंने कुछ पुस्तकें पढ़ीं भी। पर बहुत दौड़-धूप करते रहने से मुझे पढ़ने का समय नहीं मिलता था। वहीं पर, चन्द दिनों की बीमारी के बाद ही, उनकी मृत्यु हो गयी। उनका यह गाँव मेरे गाँव से प्रायः पाँच मील की दूरी पर है। खबर पाते ही मैं वहाँ गया और उनकी बेगम साहबा से भेंट कर समवेदना प्रकट की।

उनकी मृत्यु से हम सबको बड़ा दुःख हुआ। हममें से कुछ का विचार था और देश के कई सूबों ने भी इच्छा प्रकट की थी कि वह काँग्रेस के सभापति बनाये जायँ; पर उन्होंने स्वयं इस विचार को प्रोत्साहन नहीं दिया, बल्कि लोगों को मना कर दिया कि ऐसी बात न चलाओ। वह एक प्रकार से संसार से विरक्त हो गये थे और एक फकीर का ही जीवन बिता रहे थे। उनके चले जाने से हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य और समझौते का बहुत बड़ा स्तम्भ टूट गया। इस विषय में हम निराधार हो गये। सुना कि पटने में सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें उनके नाम पर कोई स्मारक स्थापित करने का निश्चय किया गया। पर वह आज तक, १५ बरसों के बाद भी, प्रस्ताव के ही रूप में पड़ा है! स्मारक अभी तक नहीं बना! मेरा विचार रहा है कि एक राष्ट्रीयभवन (National Hall कौमी हाल) बने जो उनका स्मारक हो। पर

है। उसके साथ के दो छोटे मकान भी बन गये हैं। बड़े हॉल के लिए नक्शा भी तैयार हो गया है। पर अभी हॉल की नींव तक नहीं पड़ी है। देखें, ईश्वर इसे कब पूरा करता है।

८३—स्वतन्त्रता-दिवस और नमक-सत्याग्रह

लाहौर-काँग्रेस ने पूर्ण स्वराज्य की प्राप्ति को काँग्रेस का ध्येय बना दिया था। साथ ही, उसने इसके लिए सत्याग्रह करने का आदेश भी दिया था। प्रायः पिछले दो बरसों से जो नयी जागृति दीख रही थी उसी का यह फल था। काँग्रेस के अधिवेशन के थोड़े ही दिनों के बाद वर्किंग कमिटी ने सारे देश को आदेश दिया कि तारीख २६ जनवरी को स्वतंत्रता-दिवस मनाया जाय। उस दिन उस साल रविवार था। एक सुन्दर ओजस्वी वक्तव्य निकाला गया, जिसमें देश की स्थिति और स्वराज्य-प्राप्ति की प्रतिज्ञा थी। आदेश था कि सभी जगहों में बड़ी-बड़ी सभाएँ करके उपस्थित लोगों से वही घोषणा दुहरवायी जाय; भिन्न-भिन्न प्रान्त के लोग अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषा में भाषान्तर करा लें और ऐसा प्रबन्ध करें कि जनता उसे समझकर दुहरावे; कोई दूसरा भाषण उस अवसर पर न किया जाय, केवल घोषणा ही दुहरायी जाय; ये सभाएँ सेपहर के समय हों, सवेरे जहाँ हो सके वहाँ राष्ट्रीय झण्डे का अभिवादन किया जाय; यही कार्यक्रम सारे देश में मनाया जाय।

मैं उस समय तक घर पर ही आराम कर रहा था। उसी दिन पहले-पहल घर से बाहर निकलने का निश्चय किया। आस-पास की कई जगहों से लोगों का आग्रह हुआ कि मैं वहाँ सभा में चलूँ। यदि सभाएँ एक ही समय पर न होने को होतीं तो मैं दिन-भर में कई सभाओं में शामिल हो सकता; पर ऐसा नहीं करना था। इसलिए मैं मोटर पर गया। आध घंटे आगे-पीछे दो जगहों की सभाओं में शरीक होने का विचार किया—एक तो गाँव में होनेवाली थी, दूसरी 'सीवान' शहर में। गाँव की सभा करके जब सीवान जा रहा था, मोटर बिगड़ गयी! मालूम हुआ कि सीवान न पहुँच सकूँगा। पर कृपा करके पुलिसवालों ने अपनी गाड़ी पर स्थान दे दिया। मैं ठीक समय पर सीवान पहुँच गया। वहाँ भी एक बड़ी सभा में एकत्र हुई एकचित्त जनता से उस प्रतिज्ञापत्र को दुहरवा सका।

इस समय देश में जागृति बहुत देखने में आयी। प्रायः सभी शहरों और बहुतेरे गाँवों में स्वतंत्रता-दिवस का कार्यक्रम पूरा किया गया। इन शुभ चिह्नों से मालूम पड़ता था मानों देश कोई बड़ा कदम उठाने जा रहा है। सभी जगहों में सत्याग्रह की चर्चा हो रही थी। बारदोली में सत्याग्रह की विजय हाल ही हो चुकी थी। वह लोगों के दिल को बहुत उत्साहित कर रही थी। लोग इस बात की उत्सुकतापूर्वक प्रतीक्षा कर रहे थे कि कब, कहाँ और किस तरह सत्याग्रह का आरम्भ किया जायगा। गांधीजी के लेख लोगों में नयी जान फूँक रहे थे।

वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उसमें उन्होंने सत्याग्रह आरम्भ करने की बात कही। इस विषय पर बहुत बातचीत होती रही कि देश अभी तैयार है या नहीं। बहुतेरे लोगों का विचार था कि अभी कुछ और तैयारी कर लेनी चाहिए। पर महात्माजी तथा जवाहरलालजी बहुत ही उत्सुक थे। इस बात पर भी बहुत बहस होती रही कि कौन-सा कानून तोड़ा जाय। महात्माजी का दृढ़ विचार था कि आरम्भ तो नमक-कानून से ही किया जाय। उनका कहना था कि इस कानून के कारण नमक पर 'कर' लगता है—गरीबों को जो नमक मुफ्त मिल सकता है, अथवा बहुत कम दाम में मिल सकता है, वह महँगा मिलता है—बहुत-से गरीब इस कारण से उतना नमक नहीं खा सकते जितना उनके स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है—नमक हमारे खाद्य पदार्थों में एक अत्यन्त आवश्यक वस्तु है, यह समुद्र के किनारे जमा करने से ही मुफ्त में मिल सकता है, दूसरी जगहों में भी मिट्टी से बनाया जा सकता है, जहाँ नमक का पहाड़ है वहाँ भी लोग खोद कर बिना दाम के निकाल सकते हैं, पर गवर्नमेण्ट केवल 'कर' प्राप्त करने के लिए इसके जमा करने पर प्रतिबन्ध लगाती है, ईश्वर ने जल और वायु की ही तरह नमक भी मुफ्त बाँटने का प्रबन्ध किया है मगर सरकार लेने नहीं देती। इसलिए गांधीजी का विचार था कि इससे खराब दूसरा 'कर' नहीं हो सकता, इसके विरुद्ध सत्याग्रह करने की बात गरीब भी आसानी से समझ लेंगे, संसार के लोग भी मान लेंगे कि यह न्याय है।

महात्माजी का हमेशा यही तरीका रहा है कि एक छोटी चीज को लेकर उससे बड़ा नतीजा निकालना चाहते हैं। उनका खयाल था, यदि एक अन्यायपूर्ण 'कर' का हम इस तरह प्रतिरोध कर सकेंगे तो दूसरे सभी करों का नियंत्रण हम कर सकेंगे। इसी तरह जब उन्होंने पंजाब के हत्याकांड और खिलाफत के लिए न्याय पर जोर दिया था तब वह यही समझते थे कि हममें यदि इनके लिए इन्साफ पा लेने की शक्ति आ जायगी, तो वही शक्ति हमें और-और गैरइन्साफों को भी हटाने की शक्ति दे देगी। इसी तरह, नमक-कानून तोड़कर, हम सब प्रकार से अपनी इच्छा के अनुसार सरकार से काम करा लेने की शक्ति प्राप्त कर लेंगे।

ये बातें हम लोग ठीक समझ नहीं पाते थे। हमारे सामने कई दिक्कतें थीं। हममें से बहुतेरे यह नहीं समझ पाते थे कि सरकार पर जोर डाले बिना हम उसे मजबूर कैसे कर सकेंगे। साथ ही, इससे भी अधिक अड़चन इस बात की मालूम होती थी कि नमक का कानून हम तोड़ेंगे तो कैसे। जो समुद्र के किनारे रहते हैं वे तो वहाँ किनारे पर सरकारी आज्ञा के विरुद्ध नमक जमा करके अथवा नमकीन पानी गर्म करके कानून भंग कर सकते हैं। परन्तु भारत की अधिकांश जनता जो समुद्र के किनारे नहीं रहती, कैसे कानून तोड़ेगी? हाँ, बहुत जगहों में, खासकर बिहार और युक्तप्रान्त में, मिट्टी से नमक बनाया जाया करता था। एक जाति 'नोनिया' होती है जो यही काम किया करती थी। अब जब से विदेशी या देशी नमक सभी जगहों

ही बन्द हो गया है। वहाँ पर यदि सरकारी आज्ञा के विरुद्ध नमक बनाया जाय तो कानून-भंग हो सकता था। पर क्या इस तरह नमक बनाने में साधारण लोगों का उत्साह होगा? क्या पढ़े-लिखे लोग इसमें दिलचस्पी लेंगे? केवल 'नोनिया' ही इस काम को सफलता-पूर्वक कर सकते हैं। पर वे गरीब और अशिक्षित हैं। उनसे इसकी आशा करना ठीक नहीं जँचता। उनको प्रोत्साहन देकर कानून तोड़वाना भी न्याययुक्त नहीं मालूम होता। ये सब बातें गांधीजी से कही गयीं। पर उनका निश्चय अटल रहा कि नमक-कानून ही तोड़ना चाहिए, इसमें जनता उत्साह से भाग लेगी, यही चीज सारे देश में चल सकेगी।

मुझे भी इस कार्यक्रम की सफलता में काफी सन्देह था। मैंने उनसे कहा कि बिहार में चौकीदारी-टिकस एक ऐसा 'कर' है जो सभी लोगों को देना पड़ता है। उससे गरीब बहुत असन्तुष्ट हैं। उसकी वसूली में भी गरीबों पर काफी सख्ती की जाती है। बाकी 'कर' के लिए उनके बर्तन-बासन भी जब्त होकर नीलाम कर दिये जाते हैं। मैंने कहा कि बिहार में इस टैक्स के बन्द करने में ज्यादा आसानी होगी। जनता बहुत जल्द और खुशी से इसका देना बन्द कर देगी। बिहार के लिए चौकीदारी टैक्स बन्द करने की ही आज्ञा दी जाय। महात्माजी ने कहा, यदि तुम इससे काम शुरू करोगे तो बहुत जल्द हार जाओगे, पहले नमक-कानून तोड़कर ही कार्यारम्भ करो, पीछे यदि लोगों में काफी उत्साह आ जायगा तो टिकसबन्दी का विचार करना। मैंने बात सुन तो ली, पर मन में बैठी नहीं। मैं सोचता था कि इस सीधे रास्ते को छोड़कर नमक-कानून के फेर में पड़ना क्यों जरूरी है। पर गांधीजी के इन विषयों के अनुभव का मैं कायल था। मेरा विश्वास हो गया था कि वह बहुत दूर तक देख लेते हैं जहाँ तक हम नहीं देख सकते। इसलिए, कुछ दिनों से, मैंने अपना यह तरीका बना लिया था कि अपने विचार उनके सामने रख दूँ, यदि वह मान लें तो ठीक, नहीं तो उनकी राय के मुताबिक काम करना ही ठीक है। अन्त में, मेरा अनुभव बताता था, उन्हीं की राय ठीक निकलती थी। मैंने इस अवसर पर भी निश्चय कर लिया कि बिहार में भी नमक-कानून ही तोड़ा जायगा, यद्यपि मैं अभी तक इस बात को पूरी तरह समझ नहीं पाया।

८४—गांधीजी की डाण्डी-यात्रा और बिहार में नेहरूजी का दौरा

वर्किंग कमिटी की बैठक के बाद गांधीजी ने अपने लिए एक तिथि मुकर्रर कर दी। उसी दिन वह आश्रम से निकल पड़ेंगे। प्राय: एक महीना तक पैदल चलकर, सूरत-जिले के 'डाण्डी' नामक गाँव में, समुद्र के किनारे पहुँचेंगे। वहीं वह पहले-पहल नमक-कानून खुद तोड़ेंगे। इस निश्चय को मंजूर कराने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक साबरमती में की गयी। यह बैठक तो हुई; पर उस समय तक महात्माजी डाण्डी-यात्रा के लिए निकल चुके थे। इसलिए वर्किंग कमिटी के निश्चय को ही अखिल

डाण्डी-यात्रा के पहले, जो एक प्रकार से सत्याग्रह का आरम्भ था, गांधीजी ने अपने नियम के अनुसार एक पत्र बड़े लाट को लिख भेजा। उसमें उन्होंने सभी बातें बता दीं। सत्याग्रह के आरम्भ की बात भी लिख दी। यह पत्र उन्होंने एक अँगरेज सज्जन के हाथ भेजा। उनका नाम मिस्टर रेनल्ड्स था। उस समय वह साबरमती में रहते थे। किन्तु, जैसा सोचा गया था, कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं आया। यात्रा आरम्भ करते समय उन्होंने काँग्रेस-कमिटियों और काँग्रेसी लोगों को मना कर दिया कि जब तक मैं आदेश न दूँ, तब तक कोई सत्याग्रह न करे—यदि सरकारी आज्ञाएँ बुरी भी लगें, तो भी उन्हें मानना ही चाहिए।

इरादा था कि तारीख ६ अप्रैल तक वह डाण्डी पहुँच जायँगे और उसी दिन स्वयं सबसे पहले सत्याग्रह करेंगे। सत्याग्रह-आश्रम के ८० या ८१ आदमियों को उन्होंने यात्रा में अपने साथ लिया। क्रम यह था कि सवेरे कुछ दूर तक जाना होता था। दोपहर को किसी निश्चित स्थान में स्नान, भोजन और विश्राम किया जाता था। फिर सेपहर को कुछ दूर जाया जाता। संध्या को कहीं डेरा पड़ जाता। वहीं रात का विश्राम होता। फिर दूसरे दिन सवेरे वही क्रम शुरू होता। यह यात्रा प्रायः एक महीने की हुई। बीच में बहुतेरे गाँव और कुछ शहर भी मिले। प्रायः १५० मील की यात्रा थी। प्रायः १२–१३ मील रोज चलना पड़ा था। जिस दिन गांधीजी साबरमती से निकले उस दिन आश्रम पर रात-भर बहुत भीड़ लगी रही। सवेरे हजारों आदमियों के जयजयकार के बीच होकर गांधीजी और उनके साथी निकले। उन लोगों के पास अपनी-अपनी झोली में उनके आवश्यक सामान थे। बड़ा ही उत्साह था। देखने से मालूम होता था मानों सारा अहमदाबाद और वहाँ का इलाका उमड़ आया है।

गांधीजी ने यह भी घोषणा कर दी कि स्वराज्य के बिना वह अब फिर साबरमती आश्रम में नहीं लौटेंगे। यात्रा का पूरा विवरण समाचारपत्रों में छपता रहा। इसका असर सारे देश पर जादू के ऐसा पड़ता रहा। सभी जगह लोग बहुत आतुर होकर ६ अप्रैल की बाट जोह रहे थे। लोग चाहते थे कि हमको भी सत्याग्रह का सुअवसर मिले। काँग्रेस के लोग बैठे नहीं थे। वे भी बड़े जोरों से चारों ओर प्रचार के काम में लगे थे। गांधीजी जैसे-जैसे बढ़ते गये, देश का उत्साह भी बढ़ता ही गया। सरदार बल्लभभाई, यात्रा का आरम्भ होने के पहले ही, गिरफ्तार कर लिये गये थे। इसलिए वह यात्रा में अथवा उसके बाद आरम्भ होनेवाले सत्याग्रह में शरीक नहीं हुए।

इसी बीच में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक अहमदाबाद में हुई। वहाँ से पंडित मोतीलाल, पं० जवाहरलाल प्रभृति के साथ हम लोग जम्बूसर तक गये। वहीं गांधीजी से मुलाकात हुई। हम लोग भी उनके साथ कुछ दूर तक गये। फिर अपने अपने स्थान को लौट आये। मैंने बिहार में आकर सब जगह के लोगों को आदेश

जवाहरलालजी से, चार-पाँच दिनों के लिए बिहार में दौरा करने का, आग्रह किया। वह प्रसन्नतापूर्वक राजी हो गये। हमारी इच्छा थी कि जो थोड़ा समय मिलता है उसमें अधिक से अधिक स्थानो में सभाएँ हो जायँ और अधिक से अधिक लोगों को उनके ओजस्वी भाषण सुनने का सुअवसर मिल जाय। इसलिए पहले से कार्यक्रम बना दिया गया। जहाँ-जहाँ सभा होनेवाली थी, ठीक समय पर लोगों को इकट्ठे होकर इन्तजार करने को कहा गया। मुझे याद नहीं है कि वह कहाँ-कहाँ और किन जिलों में गये, पर कार्यक्रम मैंने ऐसा बनाया कि सभाओं में उनका कम से कम समय लगे। तीन मोटरें साथ थीं। पहली मोटर में कुछ ऐसे लोग थे जो आगे जाकर सभा में राष्ट्रीय गान वगैरह गाकर शान्ति करा देते। जब सब लोग अपने-अपने स्थान पर बैठ जाते, मैं दूसरी मोटर से पहुँच जाता। जब तक पंडित जवाहरलालजी तीसरी मोटर से नहीं पहुँच जाते, तब तक मुझे जो कुछ कहना होता सो कह देता। मेरे पहुँचने पर पहली गाड़ी आगे बढ़ जाती। पंडितजी के पहुँचने पर मैं दूसरी गाड़ी पर अगली सभा के लिए रवाना हो जाता। इस प्रकार किसी को किसी दूसरे के भाषण के लिए इन्तजार न करना पड़ता। वह समय भी नष्ट न होता जो सभा में पहुँचकर लोगों को शान्त करने और उनके उत्साह को सँभालने में लगता है; क्योंकि यह काम तो पहले ही हो चुकता। पंडितजी की यह यात्रा बहुत सफल रही। इससे सारे सूबे में, जहाँ पंडितजी नहीं भी जा सके, पूरा उत्साह उमड़ आया।

८५—बिहार में नमक-सत्याग्रह

नेहरूजी की यात्रा का अन्तिम दिन था। वह प्रयाग चले जानेवाले थे। मुझे जहाँ तक याद है, यह अन्तिम सभा छपरा-जिले के महाराजगंज कस्बे में संध्या के समय हुई थी। वहीं पर तार द्वारा या समाचारपत्रों से पता मिला कि ६ अप्रैल से सब लोग अपने-अपने स्थान पर सत्याग्रह का आरम्भ कर सकते हैं, गांधीजी का यही आदेश है। इस सूचना ने एक प्रकार से हमारे कार्यक्रम को गड़बड़ा दिया। हमने अभी निश्चय नहीं किया था कि कौन कहाँ से सत्याग्रह आरम्भ करेगा। सभी जगहों में रातोरात खबर दे दी गयी। चम्पारन के लोगों ने पहले से सोच रखा था कि विपिन बाबू मोतीहारी से पैदल चलकर, सात-आठ दिनों की यात्रा के बाद, जोगापट्टी के पास पहुँच सत्याग्रह आरम्भ करेंगे। उन्होंने ६ अप्रैल को ही यात्रा आरम्भ कर दी। मुजफ्फरपुर-जिले में भी ऐसा ही हुआ। दो-चार दिनों के अन्दर ही सभी जगहों में नमक-कानून टूटने लगा। जिस दिन विपिन बाबू ने नमक बनाया, मैं वहाँ पहुँच गया। पर मेरे पहुँचने के पहले ही वह गिरफ्तार कर लिये गये थे। वहीं एक बगीचे में मजिस्ट्रेट ने कचहरी लगा दी और चटपट मुकदमा देखकर उनको सजा भी दे दी। मैं रास्ते में मोटर से उन स्थानों को देखता गया जहाँ-जहाँ सत्याग्रही यात्री लोग ठहरे थे। जिले का प्रायः एक आधा हिस्सा, लम्बाई में, इस यात्रा में पड़ गया था।

लोगों ने लगाया था। अभूतपूर्व उत्साह का प्रदर्शन था! जहाँ कानून तोड़ा गया था वहाँ के लोगों के उत्साह का तो ठिकाना न था।

मजिस्ट्रेट एक ऐसे सज्जन थे, जिन्होंने १९२१ में पटना-कालेज से असहयोग करके कुछ दिनों तक हमारे राष्ट्रीय महाविद्यालय में निवास किया था। अपने घरवालों के जोर देने पर वह फिर वापस चले गये थे। पढ़ने में वह तेज थे। पुनः कालेज की परीक्षा पास कर शीघ्र ही डिप्टीमजिस्ट्रेट हो गये। ८–१० बरसों की नौकरी के बाद इस दर्जे पर पहुँचे थे। मैंने देखा कि मुकदमे की सुनवाई के समय जब तक इजलास लगा रहा, उन्होंने एक बार भी सिर न उठाया। सिर नीचा किये ही जो कुछ लिखना था लिखा और उसी तरह हुकुम भी सुना दिया। वहाँ से विपिन बाबू को मोटर पर मोतीहारी-जेल ले आये।

मैं भी अपनी गाड़ी पर मोतीहारी तक आकर पटने के लिए या किसी अन्य स्थान के लिए रवाना हो गया। उधर गांधीजी ने नमक जमा किया, पर सरकार ने उनको पकड़ा नहीं। सारे देश में अनगिनत स्थानों पर लोग नमक बनाने लगे। गिरफ्तारियाँ होने लगीं। अपने लिए मैंने यह कार्यक्रम बना लिया कि सभी जिलों में दौरा करके सत्याग्रहियों को उत्साहित करूँ। एक-दो दिनों के भीतर सारे जिले में दौड़ जाता। जहाँ-जहाँ नमक बना होता अथवा बनने की तैयारियाँ होतीं, सत्याग्रहियों से जाकर मिल लेता। जहाँ तक हो सकता, सार्वजनिक सभाएँ भी कर लेता।

मैं दो-चार दिनों के अन्दर ही, आधी रात को पहुँचनेवाले स्टीमर से, पटना पहुँचा। वहाँ गंगा-घाट पर ही लोगों ने कहा कि पटना-शहर में उस दिन सत्याग्रह आरम्भ किया गया है। उसका रूप यह था कि कुछ सत्याग्रही बाकरगंज मुहल्ले से निकलकर झंडा लिये शहर में जा रहे थे जहाँ वे नमक बनानेवाले थे। जब वे सुलतानगंज थाने के सामने पहुँचे तो पुलिस ने उन्हें रोक लिया। अभी तक उनका कसूर इतना ही था कि वे झंडा लेकर, पाँच-सात आदमियों का जलूस बनाकर, सड़क से जा रहे थे। वे गिरफ्तार भी नहीं किये गये थे; पर पुलिस के सिपाहियों ने कतार बाँध कर उनका रास्ता रोक लिया था। वे दिन-भर वहीं खड़े रहे। रात को भी वहीं सड़क पर ही सो गये थे।

मैं सीधे उस स्थान पर गया। देखा कि सिपाही सड़क रोके खड़े और सत्याग्रही खुशी से बीच सड़क पर सोये हैं। उनके सोने के लिए मुहल्ले के लोगों ने बिस्तरे भी दे दिये थे, समय पर उनको भोजन भी करा दिया था। मेरे जाने पर वे उठे। मुझसे बहुत प्रेमपूर्वक मिले। रात को तो कुछ होनेवाला न था, मैं सदाकत-आश्रम चला गया। दूसरे दिन खूब सवेरे ही फिर उस स्थान पर पहुँचा। मैं तो सारे सूबे का चक्कर लगाया करता था और आश्रम में बैठे-बैठे श्री व्रजकिशोर बाबू सभी जगहों में आवश्यकतानुसार आदेश तथा सहायता भेजा करते थे। इस बार अभी तक काँग्रेस

था। इसलिए यह काम वहाँ से चलता रहा। गिरफ्तारियाँ भी उन्हीं लोगों की होतीं जो नमक बनाते, और सबकी नहीं।

दूसरे दिन सवेरे वहाँ पुलिस की भीड़ बहुत थी। घुड़सवार भी आ गये थे। सुना कि डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट और पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट भी थाने में मौजूद हैं। इधर जनता की भीड़ भी बढ़ने लगी। मैंने समझा कि सत्याग्रही या तो गिरफ्तार कर लिये जायँगे या मारपीट कर छोड़ दिये जायँगे। मुझसे एक आदमी ने आकर कहा कि डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट मुझे थाने पर बुलाते हैं। मैं वहाँ गया। उन्होंने मुझसे कहा कि सत्याग्रहियों को मैं हटा लूँ, नहीं तो उनको कार्रवाई करनी पड़ेगी। मैंने कहा, आप उन्हें गिरफ्तार कर सकते हैं। उन्होंने कहा कि वह भीड़ को भी हटावेंगे और ऐसा करने में उनको सख्त कार्रवाई करनी पड़ सकती है। मैंने स्वयंसेवकों को हटाने से इनकार कर दिया। इस पर उन्होंने मुझसे कहा कि इसकी जवाबदेही मेरे ऊपर रहेगी और वह मुनासिब कार्रवाई करेंगे। मैंने समझा कि हो सकता है, वह लाठी या गोली भी चलवावें। मैंने बेहतर समझा कि और साथियों से सलाह कर लूँ। यह मैंने उनसे कहा। उन्होंने कहा कि इसके लिए वह आध घंटे का समय देंगे। जब मैं चलने लगा तो उन्होंने अपनी घड़ी निकाली और कहा कि मैं अपनी घड़ी उनकी घड़ी से मिला लूँ। यह मुझे बुरा मालूम हुआ। मैंने कह दिया कि मैं इसकी जरूरत नहीं समझता। वह अपनी घड़ी देखते रहे। मैंने यह भी कह दिया, यदि आध घंटे के भीतर मैं उनके सन्तोष के योग्य उत्तर न दूँ तो वह जो मुनासिब समझें करें। मैं सीधे मोटर पर सदाकत-आश्रम गया। सबकी राय हुई कि हम कुछ नहीं कर सकते, मजिस्ट्रेट जो चाहें करें। मैंने तुरन्त टेलीफोन द्वारा सुलतानगंज थाने में यही उत्तर दे दिया। फिर यह समझकर कि अब वहाँ कुछ न कुछ होगा, मैं जल्दी से मोटर पर वहाँ के लिए रवाना हुआ।

रास्ते में, बाकरगंज में, उधर से मजिस्ट्रेट को मोटर पर लौटते देखा। उन्होंने भी मुझे देखा। मुसकुराते हुए वह आगे बढ़ गये। मैंने समझा कि वहाँ कुछ कार्रवाई करके वह लौट रहे हैं। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि उन्होंने पहले सत्याग्रहियों को चले जाने की आज्ञा दी, जब वे नहीं हटे तो कुछ दूरी पर खड़े घुड़सवारों को घोड़े दौड़ाने की आज्ञा दे दी। जब घोड़े चले तो लड़के सड़क पर लेट गये। इस तरह रास्ते को उन्होंने रोक लिया। घोड़े वहाँ तक दौड़ते आये, पर उनके पास पहुँचकर रुक गये। तब वे लड़के उठा-उठाकर एक मोटर-लारी में रख दिये गये। इस प्रकार गिरफ्तार कर वे हटा दिये गये।

अब, हमने निश्चय कर लिया कि सत्याग्रही पाँच-पाँच का जलूस बनाकर

दिया। दिन-रात गिरफ्तारी का इन्तजार न करके समय मुकर्रर कर दिया गया। दिन-रात में चार या पाँच जत्थे नियत समय पर जाते। वे शुरू में तो गिरफ्तार कर लिये जाते, पर पीछे जब दर्शकों की बहुत भीड़ जुटने लगी तो घुड़सवार घोड़े दौड़ाते और लोगों को डंडों से पीटते। सत्याग्रही तो इस धक्कमधुक्की में कभी गिरफ्तार होते, कभी नहीं भी होते; पर जनता पर खूब मार पड़ती। यह विशेषकर सुबह और सेपहर के समय, जब जत्था जाता तभी, हुआ करता। मैं भी समय पर पहुँच जाया करता और जनता की भीड़ में रहकर सब देखा करता। शायद पुलिसवाले मुझे पहचानते थे, इसलिए मुझे कभी चोट न लगी। पर प्रोफेसर अब्दुल बारी को बहुत चोट लगी थी।

यह सिलसिला कई दिनों तक चलता रहा। रोज भीड़ बढ़ती गयी। मोर्चे का स्थान सुल्तानगंज थाने से पश्चिम की ओर हटता-हटता पटना-कालेज के सामने तक आ गया। हमारे आदमी और साधारण जन भी बराबर शान्ति बनाये रखते। जो मारपीट होती, पुलिस की ओर से ही। एक दिन का जिक्र है, मिस्टर सैयद हसन इमाम की बीबी ने कहीं से आते समय पुलिस को मारपीट करते देखा। कई आदमियों के सिर फूट गये थे। इसका उनके दिल पर बहुत असर हुआ। उन्होंने जाकर हसन इमाम साहब से कहा कि बहुत खूनखराबा होने की सम्भावना है। उस समय तक मुझे मालूम नहीं था कि हसन इमाम साहब इस बात में कुछ दिलचस्पी ले रहे हैं। इस सम्बन्ध में मैं उनसे मिला न था और न उनसे कुछ बातें करने का मुझे मौका ही मिला था। अपनी बीबी की बात सुनकर उन्होंने मुझे तुरन्त टेलीफोन से बुलाया। मैंने सब बातें ब्योरे से कह सुनायीं। वह बहुत भावुक सज्जन थे। सब बातें सुनकर उनको भी क्रोध हो आया। वह आवेश में आ गये। उन्होंने कहा कि वह पूरी मदद करेंगे। यह उत्साह उनका बढ़ता गया। यह मैं फिर आगे बताऊँगा।

इसी बीच ईस्टर की छुट्टी आ गयी। मैं इस सत्याग्रह को धार्मिक युद्ध समझता था। मैंने सोचा कि यह यदि धार्मिक चीज है तो इसके द्वारा किसी को अपने धर्म-पालन में बाधा न पहुँचनी चाहिए। मैंने डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को एक पत्र लिख दिया कि पुलिस-कर्मचारियों में कुछ क्रिस्तान भी हैं जो ईस्टर में कुछ धार्मिक क्रिया करते होंगे, इसलिए सोमवार को जत्था नहीं जायगा, फिर मंगलवार से नियमानुकूल जत्थे जाया करेंगे। शुक्रवार को भी दोपहर के समय जाने के लिए जो जत्था मुकर्रर था उसको मैंने रोक दिया; क्योंकि घुड़सवारों में अधिक मुसलमान ही थे। मैंने यह पत्र सच्चे दिल से लिखा था। डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट ने पत्र पढ़ने पर टेलीफोन द्वारा मुझसे पूछा कि मैंने जो लिखा है वह क्या सचमुच धार्मिक खयाल से ही लिखा है। मैंने कह दिया कि वास्तव में सच्चे दिल से ही लिखा है। इस पर उन्होंने कहा कि मैं उनसे मिलूँ, वह विचार करेंगे कि यह झगड़ा किस तरह सुलझ सकता है।

दूसरे ही दिन, सोमवार था, मैं गया। बहुत देर तक बातें हुईं। मैंने कह

दें, उसे रोकें नहीं, सारा झगड़ा मिट जायगा। जब जत्था नमक बनाकर कानून तोड़े, गिरफ्तार किया जाय; कानूनन जो सजा हो, दी जाय। उन्होंने दूसरी सड़क से जलूस ले जाने की बात कही। मैं इस पर राजी न हुआ। बात इतने ही तक होकर रह गयी। दूसरे दिन सवेरे जो जत्था गया वह गिरफ्तार कर लिया गया। गिरफ्तारी के बाद भीड़ खुद हट गयी। मारपीट की नौबत ही नहीं आयी। यह भी देखा गया कि पुलिस की संख्या बहुत कम है, घुड़सवार तो हैं ही नहीं। पुलिस के असिस्टेंट सुपरिण्टेण्डेण्ट ने गिरफ्तारी की। सत्याग्रही तुरन्त कचहरी में पेश किये गये। मुकदमा चल ही रहा था कि दूसरे जत्थे के आने का समय हो गया। वह जत्था सीधे रास्ते से चला गया। किसी ने उसको नहीं रोका। हम लोग कचहरी में ही थे कि यह खबर मिली। उन सत्याग्रहियों को भी कचहरी उठने तक की कैद की सजा हुई। हुक्म सुनाकर हाकिम उठ गये। हम सब सत्याग्रहियों के साथ ही वह भी वहाँ से निकले। अब साफ हो गया कि जत्थे को पुलिस नहीं रोकेगी। संध्या को भी जत्था गया। पर कोई रोक-टोक नहीं हुई। इसके बाद जत्था भेजना बन्द कर दिया गया। पर नमक बनाने का काम जारी रहा, इसलिए लोग गिरफ्तार होते रहे। पटना-शहर में भी गिरफ्तारियाँ होती रहीं।

८६—नमक-सत्याग्रह के बाद का कार्यक्रम

उधर गांधीजी कुछ दिनों के बाद गिरफ्तार हो गये। धरासना में, जहाँ नमक का सरकारी गोला है, सत्याग्रही धावा बोलने लगे। वहाँ बाहर मैदान में ही नमक बहुत जमा किया पड़ा रहता है। स्वयंसेवक उसे लूटने तो जाते नहीं थे, पर सरकारी आज्ञा के विरुद्ध उस स्थान पर पहुँचना चाहते थे। इसलिए वहाँ वे खूब लाठियों से पीटे जाते। पहले गांधीजी, उसके बाद श्री अब्बास तैयबजी और श्रीमती सरोजिनी नायडू उन स्वयंसेवकों का नेतृत्व करते रहे। वे एक पर एक गिरफ्तार होते गये। वहाँ स्वयंसेवकों के बेरहमी से पीटे जाने, लाठियों की चोट से बेहोश होने, बेहोशी की हालत में घसीटकर झाड़ियों में छोड़ दिये जाने और वहाँ से काँग्रेसी खाटों पर उठा ले जाकर काँग्रेसी अस्पताल में पहुँचाये जाने की रोमांचकारी खबरें छपती रहीं। इनसे उत्साह बढ़ता ही जाता था, घटता न था। यह जानते हुए भी कि बहुत जोरों से मार खाना है, वहाँ सैकड़ों आदमी रोज जाते। यह बात जब तक बरसात शुरू न हो गयी और वहाँ जाना-आना असम्भव-सा न हो गया तब तक बराबर जारी रही।

बिहार-सूबे में समुद्र-तट तो था नहीं। पर सभी जगहों पर कुछ न कुछ नमकीन मिट्टी मिल जाती, उसे जमा करके उसका पानी चुला लेते और उसे हाँड़ी में गर्म करके सुखा देते, कुछ नमक-जैसी चीज निकल आती। मैंने खुद कहीं नमक नहीं बनाया, पर जहाँ जाता वहाँ के बने हुए नमक को सभाओं में बेचता या नीलाम करता। उससे

'कर' दिये नमक बेचना वैसा ही जुर्म है जैसा नमक बनाना। पर मैं बहुत दिनों तक गिरफ्तार नहीं हुआ।

पंडित जवाहरलालजी की गिरफ्तारी शुरू में ही हो गयी। उनके स्थान पर पंडित मोतीलालजी काम करने लगे। वह भी प्रायः जून के अन्त तक गिरफ्तार नहीं किये गये। मुझे भी वर्किंग कमिटी का मेम्बर बना लिया था। इस बीच में जब तब प्रयाग में वर्किंग कमिटी की बैठक भी होती। वहाँ से आवश्यकतानुसार आदेश निकलते। जिस प्रकार की मदद लोग माँगते, दी जाती। सारे देश में गवर्नमेण्ट की दमन-नीति जोरों से चल रही थी। गिरफ्तारियाँ जितनी हो सकती थीं उतनी गवर्नमेण्ट न करती। उसने यह नीति ठहरा ली कि कुछ ही कानून तोड़नेवाले गिरफ्तार किये जायँ, अधिकांश मारपीट कर ही छोड़ दिये जायँ। इसलिए, जहाँ कहीं लोग जमा होकर नमक बनाते, पुलिसवाले पहुँचते—हाँड़ी और चूल्हा तोड़-फोड़ डालते, जो लोग वहाँ रहते उनमें से एक-दो को गिरफ्तार करते और दूसरों को लाठियों से पीटकर चले जाते। इससे नमक बनना बन्द न होता, फिर नयी हाँड़ी पहुँच जाती, नया चूल्हा बन जाता और नमक बनानेवालों की तायदाद ज्यों की त्यों बनी रहती। गाँववाले यह काम लुक-छुपकर तो करते नहीं थे, क्योंकि खुलेआम करने की आज्ञा थी। मैं बराबर दिन-रात दौरा कर रहा था। सभी जगहों में देखता कि लोग गाँव के किसी मुख्य स्थान में, केले के थम्भ वगैरह गाड़कर, झंडे और बन्दनवार लगाकर, घिरी जगह बना लेते। वहीं चूल्हा और मिट्टी से पानी चुलाने के लिए छोटी कोठी बना लेते। गाँव के सभी लोग जानते कि कहाँ नमक बनता है। किसी आगन्तुक व्यक्ति अथवा पुलिस को नमक बनाने की जगह का अनायास ही पता लग जाता।

ऊपर कह चुका हूँ कि मुझे कुछ दिनों तक गवर्नमेण्ट ने गिरफ्तार नहीं किया। यह भी कह चुका हूँ कि सत्याग्रह आरम्भ होने के पहले मुझे नमक-सत्याग्रह की सफलता में सन्देह था। पर तब भी मैंने इसके लिए पूरा प्रयत्न किया। जैसे-जैसे गांधीजी अपनी यात्रा में डाँडी की ओर आगे बढ़ते जाते थे, देश में उत्साह उमड़ता जाता था। यह सब देखकर मेरा विश्वास भी दृढ़ होता गया कि इसमें पूरी सफलता होगी। तब मैं और भी जोर लगाता गया। पंडित मोतीलालजी का भी कुछ ऐसा ही हाल था। उन्होंने भी, प्रयाग के अपने आनन्द-भवन में ही, जैसे प्रयोगशाला में कोई प्रयोग होता है वैसे ही, फिल्टर कागज के जरिये मिट्टी से नमक निकाला। उन्होंने उसे बहुत गर्व के साथ हम लोगों को दिखलाया। हम लोगों को भी इसका गर्व रहा। उनकी आज्ञा और सम्मति से, बिहार की स्थिति की ओर ध्यान रखते हुए, मैंने यह कार्यक्रम बनाया कि बिहार में जून तक नमक बनाया जाय—अर्थात् इसी पर अधिक जोर रहे; उसके बाद विदेशी वस्त्र-बहिष्कार पर जोर लगाया जाय, साथ ही मद्य-निषेध भी चले; बरसात में नमक नहीं बन सकता, इसलिए जून के बाद विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार और मद्यनिषेध के लिए पहरे वगैरह का काम चालू किया जाय; बरसात समाप्त होने

इस कार्यक्रम का यह अर्थ नहीं था कि जब नमक बन रहा हो तब विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार का काम होवे ही नहीं। अर्थ केवल इतना ही था कि उस समय एक चीज पर जोर देकर जनता का ध्यान उसी पर ज्यादा खींचा जाय और उसमें पूरी सफलता प्राप्त की जाय। इस प्रकार, एक काम पर जोर देने से वह अधिक तेजी से चलता।

मुझे खबर मिली थी कि आरम्भ में गवर्नमेण्ट का विचार मुझे गिरफ्तार करने का नहीं था। मैं तो गवर्नमेण्ट के विचार की परवा न करके काम करता ही जाता था। कुछ दिनों के बाद पता चला कि जिला-मजिस्ट्रेटों को प्रान्तीय सरकार की अनुमति मिल गयी है—अगर वे चाहें तो मुझे गिरफ्तार कर सकते हैं। मेरा कार्यक्रम ऐसा रहता कि मैं किसी जिले में चला जाता, एक मोटर मँगनी की या भाड़े की ले लेता, सवेरे पाँच-छः बजे स्नानादि से निवृत्त होकर एक तरफ निकल जाता, दिन भर बारह-पन्द्रह जगहों में छोटी-मोटी सभाएँ करता, रास्ते में जहाँ-जहाँ नमक बनता होता उसका मुलाहजा करता, रात में १०-११ बजे दौरे से लौटता। इस तरह हर जिले के काफी बड़े हिस्से का दौरा कर लेता। दो या तीन दिनों में एक जिले का दौरा समाप्त करके दूसरे जिले में निकल जाता। मैंने देखा, गाँवों में इस बात की स्पर्धा होती कि उनके अधिक आदमी गिरफ्तार हों। जहाँ नमक नहीं बना रहता वहाँ के लोग, जब तक नमक वहाँ नहीं बनता, लज्जित रहते। मैं लोगों को विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार, मद्यनिषेध और नमक बनाने की बात समझाता। अक्सर लोग चौकीदारी टिकस और लगान देना बन्द करने की बात पूछते। उनसे कह देता कि यह चालू कार्यक्रम पूरा हो जाने पर उसकी आज्ञा निकलेगी। तब तक लोग उसके लिए तैयारी करें। लोग इसे समझ जाते।

८७—विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार और मद्यनिषेध

शहरों का कार्यक्रम, नमक के अलावा, अधिकतर वस्त्र-बहिष्कार और मद्य-निषेध का होता। प्रयाग में वर्किंग कमिटी की बैठक के समय यह मालूम हो गया कि देश की कई जगहों में विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार का काम भी जोरों से चल रहा ह। यह काम बिहार में भी शुरू हो गया। व्यापारियों और जनता दोनों में बड़ा उत्साह था। इसलिए यह बहुत आसानी से आगे बढ़ने लगा। जिस तरह गाँव-गाँव में नमक बनाने की होड़-सी लग गयी उसी तरह बड़े-बड़े शहरों में यह होड़ लग गयी कि वहाँ की दूकानों और आढ़तों में जितना भी विदेशी कपड़ा हो उसकी बिक्री बन्द कर दी जाय। महात्माजी ने लिखा था कि इन पर तथा मद्य की दूकानों पर पहरे का काम अधिकतर स्त्रियों के ही हाथ में रहे और वे इसे पूरा करने का भार अपना समझ लें। इसलिए कहीं-कहीं स्त्रियाँ दूकानों पर पहरा देने लगीं। किसी ने कहीं पर एक तरीका

रख देते और लिखकर वादा कर देते कि जब तक काँग्रेस का हुक्म न होगा उस गाँठ को फिर नहीं खोलेंगे। व्यापारी अक्सर आपस में ही कमिटी बना लेते जिस पर काँग्रेस की देख-रेख रहती अथवा जिसमें काँग्रेस के प्रतिनिधि भी रहते। वे इस कमिटी पर सारे विदेशी वस्त्र के इस प्रकार बँधवा देने और बिक्री न होने देने का भार डाल देते। यदि कोई व्यापारी वादा-खिलाफी करता तो उसे वह कमिटी जुर्माने का दण्ड भी देती और इस तरह उन पर पूरा शासन रहता। जो व्यापारी राजी न होता उसकी दूकान पर पहरा (पिकेटिङ्ग) बैठाया जाता और उसकी बिक्री बन्द हो जाती।

आज भी यह याद करके बहुत प्रसन्नता होती है कि बिहार के प्रायः सभी शहरों के और बहुतेरे गाँवों के छोटे-छोटे व्यापारियों ने भी अपने सभी विदेशी कपड़ों को गाँठों में बाँधकर काँग्रेस की मुहर लगवाकर अलग रख छोड़ा। सारे सूबे में पहरे का काम थोड़ा ही करना पड़ा और वह बहुत सफलता-पूर्वक हुआ। पहरा शुरू करते ही गाँठों का बँधना शुरू हो जाता और दो-चार दिनों में ही काम पूरा हो जाता। यह दृश्य मैंने प्रायः सभी जगहों में देखा। विचार तो था कि आधा जून बीत जाने के बाद इस कार्यक्रम पर जोर दिया जायगा; पर मेरा खयाल है कि जून का अन्त होते-होते यह काम भी सारे सूबे में पूरा हो गया था। जो काम होता था उसमें देखादेखी का बड़ा प्रभाव होता था। यदि खबर मिल गयी कि किसी एक शहर के व्यापारियों न गाँठ बाँधना शुरू कर दिया तो दूसरे शहर के व्यापारी इस पर विचार करने लगते और वहाँ के काँग्रेसी भी उन पर जोर डालने लगते, बस वहाँ भी काम शुरू हो जाता और जल्द ही समाप्त भी। पंडित मोतीलालजी से कानपुर, दिल्ली, पंजाब इत्यादि के बड़े-बड़े व्यापारी मिलते और उनसे बातें करके उन केन्द्रों में किस तरह यह काम पूरा कराया जाय और इसमें भारतीय मिलवालों से किस तरह मदद ली जाय, इस पर विचार करते। प्रतिज्ञा-पत्र का मसविदा तैयार कराकर सर्वत्र भेज दिया गया था। जनता और व्यापारी अपनी-अपनी प्रतिज्ञा पर दस्तखत करते।

किसी-किसी सूबे में मद्य-निषेध पर अधिक जोर दिया गया। वहाँ इसी को लेकर सरकारी दमन चला। लोगों को कैद और गोलियों तक का शिकार बनना पड़ा। ऐसी रोमांचकारी घटना सीमाप्रान्त में हुई। बहुत-से पठान गोलियों के शिकार हुए। सारे देश में सनसनी फैल गयी। श्री बिट्ठलभाई पटेल ने, जो असेम्बली के प्रथम निर्वाचित सभापति (स्पीकर) थे, अपने पद से इस्तीफा दे दिया। वह सीमाप्रान्त के गोलीकाण्ड की जाँच में जा लगे। उनकी रिपोर्ट को गवर्नमेण्ट ने जब्त कर लिया। उसका बहुत प्रचार न हो सका। पर जितनी कुछ खबर छपती थी उसी का असर सारे देश में बिजली की तरह बहुत तेजी से काम करता। जब सभी जगहों पर एक से एक उत्साह-वर्धक कार्रवाइयाँ हो रही हों तब यह चुनना फर्ज हो जाता है कि किस-किसका जिक्र किया जाय। मुझे इस बात का अफसोस है कि अभी तक देशव्यापी सत्याग्रह

बिहार पर्दा-प्रधान प्रदेश है। जब मैं इँगलैंड में था, यहाँ पर्दा हटाने का एक विशेष प्रयत्न आरम्भ हुआ था। दरभंगा-जिले के युवक श्री रामनन्दन मिश्र अपने घर के लोगों की इच्छा के विरुद्ध अपनी स्त्री को पर्दे से बाहर ले आये। उसे वह साबरमती आश्रम में भी कुछ दिनों के लिए ले गये। महात्माजी ने श्री मगनलाल गांधी की पुत्री श्री राधा को उनकी शिक्षा और पर्दा-निवारण के काम के लिए बिहार भेजा। श्री मगनलालजी यहाँ का काम और अपनी पुत्री को देखने आये। वह अचानक बीमार पड़ गये और पटने में उनकी मृत्यु हो गयी। इसका असर विचित्र पड़ा। पर्दा-निवारण का काम जोरों से आरम्भ हुआ। इसके लिए एक प्रान्तीय सम्मेलन हुआ, जिसमें अगुआ श्री व्रजकिशोरप्रसाद भी हुए। काम चलता रहा। जो काम गया-काँग्रेस के समय छोटे पैमाने पर आरम्भ हुआ था वह बढ़ता ही गया।

जब १९३० का सत्याग्रह आरम्भ हुआ और गांधीजी ने मद्यनिषेध तथा विदेशी-वस्त्र-बहिष्कार को खासकर स्त्रियों का काम बताया, तो स्त्रियों में उत्साह की लहर बढ़ चली। शहरों में जहाँ-जहाँ दूकानों पर पहरे का काम होता, स्त्रियाँ ही करतीं। दूकान पर उनके खड़ी हो जाते ही कोई खरीदार उस तरफ झाँकने की हिम्मत न करता। दूकानदार भी सहम जाते और उनके साथ भद्रता-पूर्वक व्यवहार करते। पटने में इस प्रकार का पहरा दो-चार दिनों के लिए कुछ दूकानों पर बिठाना पड़ा था। इसमें मुख्य काम करनेवाली श्रीमती विन्ध्यवासिनीदेवी थीं। ऐसी -ऐसी स्त्रियाँ भी इसमें शरीक हुईं जो कभी घर के बाहर न निकली होंगी। सवेरे ही ८-९ बजे तक काँग्रेसी कार्यकर्ता उनको अपने-अपने घरों से बुला लाकर नियत दूकान पर बिठा जाते। फिर समय हो जाने पर उन्हें उनके घरों पर पहुँचा भी देते। एक दिन का जिक्र है, एक किसी घर की नववधू आ गयी। स्वयंसेवक उसे घर वापस पहुँचा देना भूल गया। रात हो गयी। उसे कोई ले जाने नहीं आया। एक दूसरी काम करनेवाली स्त्री के पति अपनी पत्नी को अपने घर ले जाने के लिए आये, तो उन्होंने इस लड़की को एक दूकान पर खड़ी देखा। पूछने पर मालूम हुआ कि उसे घर ले जाने के लिए कोई नहीं आया है, इसलिए वह अभी तक वहाँ खड़ी है। उन्होंने उसे अपनी मोटर पर चढ़ा लिया और चाहा कि उसके घर पहुँचा दें। पर वह अपना घर भी नहीं पहचान सकती थी, क्योंकि घर से बाहर कभी निकली न थी। शहर के सभी घरों को प्रायः एक तरह का देखकर अपना ही बता देती। हमारे यहाँ रवाज है कि स्त्रियाँ अपने पति का नाम नहीं लेतीं। इसलिए वह अपने पति का नाम भी नहीं बता सकती थी जिससे उसके घर का पता चले। वह शायद कैथी लिपि में अपना नाम लिख लेती रही हो, इससे ज्यादा पढ़ी-लिखी भी न थी। वह मोटरवाले सज्जन कैथी नहीं जानते थे कि उसके पति का नाम उससे लिखवाकर घर का पता लगा लें। कुछ देर तक यहाँ-वहाँ मोटर दौड़ाते रहे। फिर उसके पति का नाम उससे लिखवाकर किसी से पढ़वाया। तब घर का पता लगा। इस तरह उसे उसके घर

कि स्त्रियों में कितना उत्साह था और किस तरह अशिक्षिता स्त्रियाँ भी इस काम में आ लगी थीं।.

८८—बिहार में बीहपुर का सत्याग्रह

एक बार मैं प्रयाग गया था। वहाँ वर्किंग कमिटी की बैठक थी। वहाँ से पटने वापस आया तो सुना कि भागलपुर-जिले के 'बीहपुर' गाँव में नये ढंग का सत्याग्रह शुरू हो गया है। इसकी कुछ खबर प्रयाग में ही मिल गयी थी। पटने में कुछ अधिक बातें मालूम हुईं। तब मैंने तुरन्त वहाँ जाने का निश्चय किया। 'बीहपुर', गंगा के उत्तर, भागलपुर से थोड़ी ही दूर है। बी० एन० डब्लू० (अब ओ० टी०) रेलवे का छोटा-सा जंकशन है, जहाँ से भागलपुर-घाट की गाड़ी जाती है। यहाँ का सारा इलाका बरसात में जलमग्न हो जाता है। ऐसे दियारों में जैसा देखा जाता है, यहाँ के लोग बड़े बहादुर और लठधर हैं। यहाँ काँग्रेस के लिए लोगों में बहुत उत्साह था।

१९२९ में ही एक बार मैं बहुत आग्रह से यहाँ बुलाया गया था। लोग मुझे आसपास के गाँव में भी ले गये थे। बहुत उत्साह और प्रेम के साथ वहाँ के लोगों ने मेरा स्वागत किया था। वहाँ से कुछ दूर गौरीपुर गाँव है जहाँ मैं गया था। लौटने के समय बहुत जोर से पानी बरसने लगा। बीच में एक नदी पार करनी पड़ती थी। हाथी की सवारी थी। नदी पार करके हाथी पर हम लोग खूब भींग गये। जब बीहपुर में सभा-स्थल पर पहुँचे तो देखा कि बहुत बड़ी भीड़ जमा है—यद्यपि खूब पानी बरस रहा है तथापि एक आदमी भी हटता नहीं है। मुझे भी उसी बरसते पानी में खड़ा होकर भाषण करना पड़ा। इस तरह वहाँ के उत्साह का नमूना मैंने कुछ पहले ही देख लिया था। वहाँ का कुछ इतिहास भी मैंने सुन लिया था। उसमें से एक बात यहाँ लिखता हूँ। वहाँ एक अँगरेज की जमीन्दारी थी। रैयतों से एक जमीन की खातिर बहुत दिनों से झगड़ा चला आता था। कचहरियों में बहुत मामले-मुकदमे चले थे। गोरे साहब ने जमीन की रक्षा के लिए कुछ गोरखों को नौकर रखकर रखवारी का काम उन्हें सपुर्द किया था। सुना जाता है कि बरसात के दिनों में एक रात को उस इलाके के लोगों ने सभी गोरखों को, जिनकी संख्या बीस-पचीस थी, मारकर बढ़ी हुई गंगा में फेंक दिया। पता भी न लगा कि किसने मारा और उनके शव क्या हुए।

अब तो वहाँ आश्रम के लिए सुन्दर पक्का मकान बन गया है, जो रेल के यात्रियों को रेल पर से ही देख पड़ता है।

स्टेशन के दक्खिन पाँच-सात दूकानों का एक छोटा-सा बाजार है। इन्हीं में से एक दूकान में गाँजा बिका करता था। काँग्रेसी स्वयंसेवकों ने गाँजे की दूकान पर पहरा बैठाया। पुलिस ने एक दिन कार्य्यकर्त्ताओं को आश्रम से मार-पीटकर निकाल दिया। आश्रम को भी दखल कर लिया। रूई-सूत-खादी इत्यादि को इधर-उधर फेंक-फाँक दिया। जब आस-पास के लोगों को मालूम हुआ कि पुलिस ने इस तरह आश्रम पर कब्जा कर लिया है तो उन्होंने आश्रम को दखल करना चाहा। इसके लिए पहले चार-पाँच आदमियों का जत्था हाथ में झंडा लिये वहाँ गया। जाहिर है कि जहाँ पुलिस का जत्था हथियारबन्द बैठा था वहाँ चार-पाँच आदमी खाली हाथ जाकर जबरदस्ती दखल नहीं कर सकते थे। यह सिर्फ सत्याग्रह का एक जरिया था। पुलिस भी इसे वैसा ही समझती थी। वह उन लोगों को, जो जत्था बनाकर जाते थे, गिरफ्तार कर लेती थी। यह काम प्रतिदिन एक बार, तीसरे पहर चार-पाँच बजे के करीब, होता।

इस बात की खबर चारों ओर फैली। जैसे पटने में तमाशा देखने के लिए भीड़ जमा हो जाया करती थी वैसे ही वहाँ भी जत्थे के जाने के समय भीड़ लग जाया करती। कभी-कभी पुलिस जत्थे को गिरफ्तार न करके उनको मारपीट कर छोड़ देती। प्रतिदिन दर्शकों की भीड़ बढ़ती गयी। जब पटने में मुझे सविस्तर समाचार मिला तो मैं कुछ मित्रों के साथ भागलपुर गया। वहाँ से दूसरे दिन दोपहर को बीहपुर पहुँचा। उस दिन हम लोगों के जाने की खबर फैल गयी। इसलिए भीड़ बहुत बड़ी जमा हो गयी। दिन में तीन बजे के करीब सब लोग एक बगीचे में जमा हुए। मैंने उनको समझाया कि चाहे जो हो, अपनी ओर शान्ति रखनी चाहिए, किसी तरह कोई आदमी कोई हिंसात्मक कार्य्य न करे। जत्थे का समय हो जाने पर सब लोग सड़क पर और उसके इधर-उधर खड़े हो गये। कुछ लोग उस छोटे-से बाजार में भी जमा हो गये। हम लोग भी जहाँ-तहाँ खड़े थे। मैं बाजार के सामने एक ऐसे स्थान पर था जहाँ से वह स्थान नजर आता था जहाँ पुलिस के आदमी खड़े थे और जहाँ तक जत्था जा सकता था। वहाँ पहुँचने पर जत्था चाहे पीटा जाता, चाहे गिरफ्तार कर लिया जाता। भीड़ प्रायः १५-२० हजार आदमियों की थी।

सत्याग्रहियों का जत्था निकला और सड़क होकर उस स्थान तक पहुँचा जहाँ पुलिस खड़ी थी। वह सहूलियत के साथ गिरफ्तार कर लिया गया, मार-पीट नहीं हुई। हम लोगों ने समझा, उस दिन का काम समाप्त हुआ, अब सब लोग चले जायँगे। जनता अब तितर-बितर होना ही चाहती थी कि आश्रम के अन्दर से पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट कुछ लट्ठधारी सिपाहियों के साथ निकले। सड़क पर खड़ी जनता पर लाठियाँ बरसाने का उन्होंने हुक्म दिया। सड़क वहाँ पर ऊँची है, आश्रम और बाजार दोनों ही नीची जमीन में हैं। पुलिसवाले बेतहाशा लाठियाँ चलाते, भीड़ को चीरते, स्टेशन तक आ गये। न मालूम कितने आदमियों को लाठियाँ लगीं; पर कोई कुछ

न बोला। वहाँ से पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट के साथ वे लोग बाजार में पहुँच गये जहाँ मैं खड़ा था। कुछ दूर पर, एक दूकान के ओसारे से, सुपरिण्टेण्डेण्ट ने चारों ओर निगाह दौड़ायी। वहाँ से चिल्लाते हुए कहा कि मारो सालों को। पुलिस उसी तरह लोगों पर बेतहाशा लाठियाँ चलाते आगे बढ़ी। मुझ पर चार-पाँच लाठियाँ पड़ीं। एक युवक स्वयंसेवक ने बीच में पड़कर कुछ लाठियों के जोर को अपने ऊपर झेल लिया। इसलिए, यद्यपि मुझे भी चोट लगी तथापि उतनी न लगी जितनी लग सकती थी। मुझसे कुछ दूर पर श्री बलदेवसहाय और श्री मुरलीमनोहरप्रसाद थे। उनको भी कुछ चोट लगी। कुछ दूर पर प्रोफेसर अब्दुल बारी भी थे। उनको बहुत चोट लगी। वह गिर गये। उनका सारा बदन लहू-लुहान हो गया।

इस प्रकार मारते-पीटते पुलिस का जत्था सुपरिण्टेण्डेण्ट के पीछे-पीछे फिर आश्रम में चला गया। भीड़ तो लाठी चलने के पहले से ही छँट चली थी। लोग जहाँ-तहाँ चले गये। हम लोग जो भागलपुर से आये थे, वहीं ठहरे रहे; क्योंकि हमारी गाड़ी ७-८ बजे रात को वहाँ से छूटती थी। भीड़ के छँटने और पुलिसवालों के चले जाने पर उस बाजार में रहनेवाले एक डाक्टर आये। वह हम लोगों के घावों को धोकर पट्टी बाँधने लगे। हम लोग वहीं बाजार के सामने खुले मैदान में घास पर पड़े थे। इसी बीच पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट, सिपाहियों और पुलिस-इन्सपेक्टर के साथ, फिर उधर आता नजर आया। हम लोगों ने सोचा, शायद फिर हम पर लाठियों का वार हो; पर वैसा हुआ नहीं। वे लोग कुछ दूर अलग ही ठहर गये। इन्सपेक्टर ने भागलपुर के प्रसिद्ध वकील और कांग्रेसकर्मी श्री पटल बाबू को, जो हम लोगों के साथ आये थे, गिरफ्तार कर लिया। वे लोग उनको साथ लेकर वापस चले गये। हम लोग रात की गाड़ी से भागलपुर पहुँचे। वहाँ बड़ी सनसनी फैल गयी। मैं भी एक-दो दिन ठहर गया।

भागलपुर, बिहार-भर में, विदेशी कपड़े की आढ़तों का, सबसे बड़ा केन्द्र है। और-और जगहों में प्रायः व्यापारियों ने विदेशी कपड़े की गाँठें बाँधकर मुहरबन्द रख छोड़ी थीं, पर अभी तक भागलपुर में ऐसा नहीं हुआ था। उक्त घटना के बाद वहाँ भी स्त्रियों ने दूकानों पर पहरा देना आरम्भ किया। मेरे पास दूकानदार आकर कहने लगे कि वे गाँठ बाँधकर मुहर लगवा देने के लिए तैयार हैं। उन्होंने आपस की कमिटी भी बना ली। दो-चार दिनों के अन्दर वहाँ भी सब विदेशी वस्त्र, बिक्री के बाजार से उठाकर, गाँठों के अन्दर मुहरबन्द करके, रख दिये गये। बीहपुर की घटना का तत्काल फल यह हुआ कि यह काम बिना परिश्रम के वहाँ हो गया।

हम लोगों के साथ असेम्बली के दो सदस्य, श्री अनन्तप्रसाद और श्री कमलेश्वरी-

ही लोग जहाँ-तहाँ चले गये होते, और हम लोगों पर किया गया प्रहार तो और भी बिना कारण था। इसलिए, उन्होंने अपने इस्तीफे भेज दिये। आज ठीक स्मरण नहीं है; पर शायद कुछ दूसरे लोगों ने भी, जब इस घटना का हाल सुना तो, इस्तीफे भेज दिये।

सबसे विचित्र एक दूसरी बात हुई। पुलिसवालों में दो दल हो गये। कुछ तो ऐसे थे जो सुपरिण्टेण्डेण्ट के हुक्म को ठीक मानते और खूब लाठियाँ फटकारते थे। पर कुछ ऐसे भी थे जो लाठी के प्रहार को गलत समझते थे और होशियारी से हाथ बचा देते थे। हम लोगों पर जो लाठियाँ पड़ीं वे एक ही दल की थीं, दूसरे की नहीं। सुपरिण्टेण्डेण्ट आगे-आगे चल रहा था और ये लोग उसके पीछे-पीछे चारों ओर लाठियाँ हरहराते जाते थे। जब लाठी की चोट से अब्दुल बारी प्रायः वहीं बेहोश होकर गिर गये, तब भी एक सिपाही ने उन पर फिर लाठी उठाई। वह अचेत गिरे हुए बारी साहब पर लाठी मारना ही चाहता था कि एक दूसरे सिपाही ने उसकी लाठी को अपनी लाठी पर रोक लिया। एक तीसरे सिपाही ने तो बारी साहब को मारनेवाले उस सिपाही को ही लाठी मार दी। दोनों दल इस प्रकार आपस में लड़ते-झगड़ते आगे निकल गये और अब्दुल बारी उस भारी चोट से बच गये। यह बात खुद अब्दुल बारी ने हम लोगों से कही।

हम लोग जब भागलपुर में ठहरे थे तो प्रायः गंगा-स्नान करने जाते थे। वहाँ दूसरे दिन कुछ आदमियों से घाट पर भेंट हो गयी। वे भी स्नान करने आये थे। उन्होंने यह सारा किस्सा कह सुनाया और इसके बाद की घटना भी कह दी। वे पुलिस के उस दूसरे गोल के थे, जिसने अब्दुल बारी पर दूसरा वार रोका था। उन्होंने कहा—"जब हमने देखा कि हमारा वह साथी, जिसको हमने लाठी मारने से रोका था और जिस पर हमने खुद लाठी का वार कर दिया था, सुपरिण्टेण्डेण्ट के पास जाकर नालिश करेगा तो हम जल्द दौड़कर उससे आगे पहुँच गये और जाकर पहले हमने ही नालिश कर दी कि दूसरे दल के सिपाहियों को लाठी चलाना नहीं आता, भीड़ पर लाठी चलाने के बदले वे अपने लोगों पर ही लाठियाँ झाड़ देते हैं, इसीलिए कुछ पुलिसवाले भी लाठी के शिकार बन गये हैं; यह सब हम कह ही रहे थे कि दूसरे दलवाले भी पहुँच गये, उन्होंने सुपरिण्टेण्डेण्ट से नालिश की कि इन्हीं लोगों ने उन पर लाठियाँ मारी हैं।" पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट ने दोनों दलों के बयान सुनकर वहाँ कुछ न किया, उन्हें सीधे भागलपुर की पुलिस-लाइन में भेज दिया।

एक और विचित्र घटना हुई। पुलिस के इन्सपेक्टर छपरा-जिले के रहनेवाले थे। वह मेरे स्कूल के साथी थे। हम दोनों चार बरसों तक एक साथ पढ़े थे। एक साथ ही एण्ट्रेन्स भी पास किया था। उसके बाद मैं कलकत्ते पढ़ने चला गया। वह पुलिस की नौकरी में चले गये। तब से हम दोनों की मुलाकात नहीं हुई थी। पर यह मैं जानता था कि वह पुलिस में हैं। अब वह कुछ बूढ़े-से भी हो गये थे। उनके केश

मुझे प्रणाम किया। मैंने उन्हें पहचाना नहीं; पर उन्होंने मुझे पहचान लिया था। पीछे दरियाफ्त करने पर उनका नाम मालूम हुआ। मैंने खादी-भंडार के एक कार्य्य-कर्त्ता रामविलास शर्मा को बीहपुर भेजा कि वहाँ के पुलिस-अफसर से कहकर खादी-सूत-चर्खे इत्यादि जो इधर-उधर फेंके पड़े थे उन्हें एकत्र करके लावें और भागलपुर-भंडार में जमा करा दें। रामविलास बहुत बोलक्कड़ और शोख मिजाज के हैं। उन्होंने सुन लिया था कि इन्सपेक्टर मेरे साथी हैं। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने देखा कि वही महाशय वहाँ के इन्चार्ज हैं। उनसे जाकर वह मिले। कुछ बातें करने पर पता लग गया कि इन्सपेक्टर साहब उस दिन की घटना से कुछ लज्जित-से हैं। इस पर शर्मा ने मेरा हवाला देकर उनसे कहा कि मैं उनका साथी हूँ और उस दिन उनके प्रणाम करने पर भी उन्हें ठीक न पहचान सकने का मुझे बहुत अफसोस है। वह जैसे-जैसे उनसे ये बातें करते जा रहे थे, उनके चेहरे का रंग बदलता जा रहा था। उन्होंने शर्मा से कहा, इन सब बातों की चर्चा मत कीजिए। इतना कह दूसरी ओर उन्होंने मुँह फेर लिया। रामविलास ने मौका देखकर कुछ और बातें छेड़ दीं। फिर मेरा जिक्र करते हुए कहना शुरू कर दिया कि मुझे इस बात का बहुत अफसोस रहा कि इतने दिनों के बाद देखादेखी हुई तो पुराने साथी से कुछ बातें भी न हो सकीं। इस पर फिर उन्होंने रामविलास को आगे बातें करने से रोका। रामविलास ने देखा कि उनकी आँखें डबडबा गयी थीं।

मैं जानता हूँ कि इस प्रकार की घटनाएँ अनेक स्थानों में हुईं। एक दूसरे पुलिस-अफसर का भी यही हाल हुआ। उन्होंने रात को मुझसे मुलाकात की। आँसू बहाते हुए मेरे पैर पकड़ लिये। कहा कि उस जिले में उनके रहते-रहते ऐसी घटना हुई कि मैं लाठी से पीटा गया और वह कुछ भी न कर सके! यहाँ पर यह भी लिख दूँ कि १९३३ की जनवरी में जब दुबारा सत्याग्रह के समय मैं पटना-जेल से हजारीबाग-जेल में पहुँचाया गया, तो हजारीबाग-रोड-स्टेशन से हजारीबाग तक जो पुलिस-इन्सपेक्टर मुझे पहुँचाने गये थे वह यही इन्सपेक्टर थे। पर वह रात का समय था। जाड़े के कपड़ों में वह भी खूब छुपे थे और मैं तो था ही। लारी की अगली सीट पर वह बिना कुछ बोले बैठ गये। हम लोग पीछे बैठे और खूब सवेरे ही जेल के दरवाजे पर पहुँच गये। हम लोगों के उतरते-उतरते ही वह कहीं हट गये। रास्ते में वह कहीं एक शब्द नहीं बोले थे जिससे मैं पहचान सकूँ। जेल के फाटक पर भी देखा नहीं। पीछे जेलर ने हमसे उनका नाम कहा। यह भी कहा कि रास्ते-भर वह किसी तरह अपनी पहचान बचाते आये हैं। जेलर भी छपरे के रहनेवाले थे। वह हम लोगों के एक दूसरे साथी के छोटे भाई थे। इस कारण हम उन्हें लड़कपन से ही जानते थे।

बीहपुर में लाठी-प्रहार के बाद भी जत्था वैसे ही प्रतिदिन जाता रहा। वह गिरफ्तार होता या पीटा जाता। जब तक गांधी-अर्विन-समझौता न हुआ और कांग्रेस

से पीटे जाने लगे। एक स्वयंसेवक आज तक हम लोगों के पास सहायता के लिए आया करता है। उसको बहुत पीटा था। अन्त में साइकिल का पम्प उसके कान में लगाकर इस तरह हवा भर दी थी कि उसके कान की झिल्ली फट गयी। वह अभी तक उसकी तकलीफ सह रहा है।

१९३२ में जब सत्याग्रह फिर आरम्भ हुआ तब गवर्नमेण्ट ने बीहपुर के आश्रम को जब्त नहीं किया—यद्यपि समझौते के जमाने में बहुत कोशिश करने पर भी इसे छोड़ने पर राजी नहीं हुई थी। जमीन के मालिक ने आश्रम की जमीन काँग्रेस को लिख दी थी। हम लोगों का उस पर पूरा कानूनी हक था। पर सरकारी कर्म-चारियों ने किसी दूसरे आदमी को खड़ा करके जमीन लिखवा लेने का प्रयत्न किया था। जब हमने नालिश करने की धमकी दी तब वह आश्रम हमें वापस मिला। जिस समय पुलिस ने आश्रम पर कब्जा किया था, जब्ती का कोई हुक्म नहीं निकला था। पीछे भी कभी बाजाब्ता जब्ती नहीं हुई थी। तो भी वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। किसी से लिखवाकर उस पर बिलकुल झूठा दावा कर रहे थे। वहीं हमको साफ मालूम हो गया कि सरकारी कर्मचारी अपना पक्ष-समर्थन करने-कराने के लिए चाहे जो कुछ भी कर सकते हैं! इसके लिए मुझे उस समय के चीफ सेक्रेटरी मिस्टर हैलेट (अब युक्तप्रान्त के लाट सर मौरिस हैलेट) से और बिहार के लाट से भी, समझौते के जमाने में, भेंट करनी पड़ी थी।

८९—मेरी गिरफ्तारी : छपरा-जेल में

पटना लौटने पर मुझे मालूम हुआ कि अब मेरी गिरफ्तारी के लिए गवर्नमेण्ट का हुक्म हो गया है। मैंने पूर्ववत् अपना दौरा जारी रखा। कई जिलों में घूम आया, पर कहीं गिरफ्तार न किया गया। पीछे मालूम हुआ कि मैं एक जिले से दूसरे जिले में बहुत जल्दी घूमकर चला जाता हूँ। इसलिए जिला-मजिस्ट्रेट मुझे गिरफ्तार करके एक बला अपने ऊपर नहीं लेना चाहते। इस तरह मैं बचता चला गया। इसी बीच में एक दिन श्री बिट्ठलभाई पटेल पटने में आये। वह हाल ही में केन्द्रीय असम्बली के सभापति-पद को छोड़ चुके थे। इससे लोगों में उनके प्रति श्रद्धा और भी बढ़ गयी थी। पटने में एक सार्वजनिक सभा की गयी। मिस्टर हसन इमाम उसमें खादी का जाँघिया और अधबँहियाँ पहन कर आये। वहीं खबर मिली कि उसी दिन सवेरे पंडित मोतीलालजी गिरफ्तार कर लिये गये। मैंने समझ लिया, अब मेरी गिरफ्तारी में भी देर न होगी। मैंने चलते समय मिस्टर हसन इमाम साहब से मुलाकात की। उन्होंने बहुत उत्साहपूर्वक आश्वासन दिया। कहा, बच्चू, तुम्हारे गिरफ्तार हो जाने से काम रुकेगा नहीं। मैं उसी सभा के बाद, श्री बिट्ठलभाई पटेल को बिहार से बिदा करके, खुद छपरा-जिले के दौरे पर चला गया।

वहाँ भी तीन दिनों का कार्य्यक्रम था। जिले के पश्चिमी भाग से प्रारम्भ

कि स्त्रियों में कितना उत्साह था और किस तरह अशिक्षिता स्त्रियाँ भी इस काम में आ लगी थीं।.

८८—बिहार में बीहपुर का सत्याग्रह

एक बार मैं प्रयाग गया था। वहाँ वर्किंग कमिटी की बैठक थी। वहाँ से पटने वापस आया तो सुना कि भागलपुर-जिले के 'बीहपुर' गाँव में नये ढंग का सत्याग्रह शुरू हो गया है। इसकी कुछ खबर प्रयाग में ही मिल गयी थी। पटने में कुछ अधिक बातें मालूम हुईं। तब मैंने तुरन्त वहाँ जाने का निश्चय किया। 'बीहपुर', गंगा के उत्तर, भागलपुर से थोड़ी ही दूर है। बी० एन० डब्लू० (अब ओ० टी०) रेलवे का छोटा-सा जंकशन है, जहाँ से भागलपुर-घाट की गाड़ी जाती है। यहाँ का सारा इलाका बरसात में जलमग्न हो जाता है। ऐसे दियारों में जैसा देखा जाता है, यहाँ के लोग बड़े बहादुर और लठधर हैं। यहाँ काँग्रेस के लिए लोगों में बहुत उत्साह था।

१९२९ में ही एक बार मैं बहुत आग्रह से यहाँ बुलाया गया था। लोग मुझे आसपास के गाँव में भी ले गये थे। बहुत उत्साह और प्रेम के साथ वहाँ के लोगों ने मेरा स्वागत किया था। वहाँ से कुछ दूर गौरीपुर गाँव है जहाँ मैं गया था। लौटने के समय बहुत जोर से पानी बरसने लगा। बीच में एक नदी पार करनी पड़ती थी। हाथी की सवारी थी। नदी पार करके हाथी पर हम लोग खूब भींग गये। जब बीहपुर में सभा-स्थल पर पहुँचे तो देखा कि बहुत बड़ी भीड़ जमा है—यद्यपि खूब पानी बरस रहा है तथापि एक आदमी भी हटता नहीं है। मुझे भी उसी बरसते पानी में खड़ा होकर भाषण करना पड़ा। इस तरह वहाँ के उत्साह का नमूना मैंने कुछ पहले ही देख लिया था। वहाँ का कुछ इतिहास भी मैंने सुन लिया था। उसमें से एक बात यहाँ लिखता हूँ। वहाँ एक अँगरेज की जमीन्दारी थी। रैयतों से एक जमीन की खातिर बहुत दिनों से झगड़ा चला आता था। कचहरियों में बहुत मामले-मुकदमे चले थे। गोरे साहब ने जमीन की रक्षा के लिए कुछ गोरखों को नौकर रखकर रखवारी का काम उन्हें सपुर्द किया था। सुना जाता है कि बरसात के दिनों में एक रात को उस इलाके के लोगों ने सभी गोरखों को, जिनकी संख्या बीस-पचीस थी, मारकर बढ़ी हुई गंगा में फेंक दिया। पता भी न लगा कि किसने मारा और उनके शव क्या हुए।

ऐसे स्थान की जनता में सत्याग्रह के लिए उत्साह होना कोई आश्चर्य की बात नहीं थी; पर वे अहिंसात्मक रह सकेंगे, इसी का डर था, और आश्चर्य भी। वहाँ पर एक नये ढंग का सत्याग्रह, गाँजे की एक दूकान के सम्बन्ध में, आरम्भ हो गया। रेलवे-प्लाटफार्म के पास ही पश्चिम तरफ कुछ जमीन है जिसमें काँग्रेस का आश्रम बना हुआ था। वहाँ एक छोटी कोठरी थी, जिसमें खादी-भंडार था, जहाँ सूत खरीद कर रखा जाता था, बेचने के लिए रुई तथा कपड़े रखे जाते थे। दूसरी कोठरियों में काँग्रेस के कार्य्यकर्त्ता और स्वयंसेवक रहा करते थे। उन दिनों ये मकान झोपडे जैसे थे।

अब तो वहाँ आश्रम के लिए सुन्दर पक्का मकान बन गया है, जो रेल के यात्रियों को रेल पर से ही देख पड़ता है।

स्टेशन के दक्खिन पाँच-सात दूकानों का एक छोटा-सा बाजार है। इन्हीं में से एक दूकान में गाँजा बिका करता था। काँग्रेसी स्वयंसेवकों ने गाँजे की दूकान पर पहरा बैठाया। पुलिस ने एक दिन कार्य्यकर्त्ताओं को आश्रम से मार-पीटकर निकाल दिया। आश्रम को भी दखल कर लिया। रूई-सूत-खादी इत्यादि को इधर-उधर फेंक-फाँक दिया। जब आस-पास के लोगों को मालूम हुआ कि पुलिस ने इस तरह आश्रम पर कब्जा कर लिया है तो उन्होंने आश्रम को दखल करना चाहा। इसके लिए पहले चार-पाँच आदमियों का जत्था हाथ में झंडा लिये वहाँ गया। जाहिर है कि जहाँ पुलिस का जत्था हथियारबन्द बैठा था वहाँ चार-पाँच आदमी खाली हाथ जाकर जबरदस्ती दखल नहीं कर सकते थे। यह सिर्फ सत्याग्रह का एक जरिया था। पुलिस भी इसे वैसा ही समझती थी। वह उन लोगों को, जो जत्था बनाकर जाते थे, गिरफ्तार कर लेती थी। यह काम प्रतिदिन एक बार, तीसरे पहर चार-पाँच बजे के करीब, होता।

इस बात की खबर चारों ओर फैली। जैसे पटने में तमाशा देखने के लिए भीड़ जमा हो जाया करती थी वैसे ही वहाँ भी जत्थे के जाने के समय भीड़ लग जाया करती। कभी-कभी पुलिस जत्थे को गिरफ्तार न करके उनको मारपीट कर छोड़ देती। प्रतिदिन दर्शकों की भीड़ बढ़ती गयी। जब पटने में मुझे सविस्तर समाचार मिला तो मैं कुछ मित्रों के साथ भागलपुर गया। वहाँ से दूसरे दिन दोपहर को बीहपुर पहुँचा। उस दिन हम लोगों के जाने की खबर फैल गयी। इसलिए भीड़ बहुत बड़ी जमा हो गयी। दिन में तीन बजे के करीब सब लोग एक बगीचे में जमा हुए। मैंने उनको समझाया कि चाहे जो हो, अपनी ओर शान्ति रखनी चाहिए, किसी तरह कोई आदमी कोई हिंसात्मक कार्य्य न करे। जत्थे का समय हो जाने पर सब लोग सड़क पर और उसके इधर-उधर खड़े हो गये। कुछ लोग उस छोटे-से बाजार में भी जमा हो गये। हम लोग भी जहाँ-तहाँ खड़े थे। मैं बाजार के सामने एक ऐसे स्थान पर था जहाँ से वह स्थान नजर आता था जहाँ पुलिस के आदमी खड़े थे और जहाँ तक जत्था जा सकता था। वहाँ पहुँचने पर जत्था चाहे पीटा जाता, चाहे गिरफ्तार कर लिया जाता। भीड़ प्रायः १५-२० हजार आदमियों की थी।

सत्याग्रहियों का जत्था निकला और सड़क होकर उस स्थान तक पहुँचा जहाँ पुलिस खड़ी थी। वह सहूलियत के साथ गिरफ्तार कर लिया गया, मार-पीट नहीं हुई। हम लोगों ने समझा, उस दिन का काम समाप्त हुआ, अब सब लोग चले जायँगे। जनता अब तितर-बितर होना ही चाहती थी कि आश्रम के अन्दर से पुलिस के सुपरिण्टेण्डेण्ट कुछ लट्ठधारी सिपाहियों के साथ निकले। सड़क पर खड़ी जनता पर लाठियाँ बरसाने का उन्होंने हुक्म दिया। सड़क वहाँ पर ऊँची है, आश्रम और बाजार दोनों ही नीची जमीन में हैं। पुलिसवाले बेतहाशा लाठियाँ चलाते, भीड़ को चीरते, स्टेशन तक आ गये। न मालूम कितने आदमियों को लाठियाँ लगीं; पर कोई कुछ

मुझे प्रणाम किया। मैंने उन्हें पहचाना नहीं; पर उन्होंने मुझे पहचान लिया था। पीछे दरियाफ्त करने पर उनका नाम मालूम हुआ। मैंने खादी-भंडार के एक कार्य्य-कर्त्ता रामविलास शर्मा को बीहपुर भेजा कि वहाँ के पुलिस-अफसर से कहकर खादी-सूत-चर्खे इत्यादि जो इधर-उधर फेंके पड़े थे उन्हें एकत्र करके लावें और भागलपुर-भंडार में जमा करा दें। रामविलास बहुत बोलक्कड़ और शोख मिजाज के हैं। उन्होंने सुन लिया था कि इन्सपेक्टर मेरे साथी हैं। वहाँ पहुँचने पर उन्होंने देखा कि वही महाशय वहाँ के इन्चार्ज हैं। उनसे जाकर वह मिले। कुछ बातें करने पर पता लग गया कि इन्सपेक्टर साहब उस दिन की घटना से कुछ लज्जित-से हैं। इस पर शर्मा ने मेरा हवाला देकर उनसे कहा कि मैं उनका साथी हूँ और उस दिन उनके प्रणाम करने पर भी उन्हें ठीक न पहचान सकने का मुझे बहुत अफसोस है। वह जैसे-जैसे उनसे ये बातें करते जा रहे थे, उनके चेहरे का रंग बदलता जा रहा था। उन्होंने शर्मा से कहा, इन सब बातों की चर्चा मत कीजिए। इतना कह दूसरी ओर उन्होंने मुँह फेर लिया। रामविलास ने मौका देखकर कुछ और बातें छेड़ दीं। फिर मेरा जिक्र करते हुए कहना शुरू कर दिया कि मुझे इस बात का बहुत अफसोस रहा कि इतने दिनों के बाद देखादेखी हुई तो पुराने साथी से कुछ बातें भी न हो सकीं। इस पर फिर उन्होंने रामविलास को आगे बातें करने से रोका। रामविलास ने देखा कि उनकी आँखें डबडबा गयी थीं।

मैं जानता हूँ कि इस प्रकार की घटनाएँ अनेक स्थानों में हुईं। एक दूसरे पुलिस-अफसर का भी यही हाल हुआ। उन्होंने रात को मुझसे मुलाकात की। आँसू बहाते हुए मेरे पैर पकड़ लिये। कहा कि उस जिले में उनके रहते-रहते ऐसी घटना हुई कि मैं लाठी से पीटा गया और वह कुछ भी न कर सके! यहाँ पर यह भी लिख दूँ कि १९३३ की जनवरी में जब दुबारा सत्याग्रह के समय मैं पटना-जेल से हजारीबाग-जेल में पहुँचाया गया, तो हजारीबाग-रोड-स्टेशन से हजारीबाग तक जो पुलिस-इन्सपेक्टर मुझे पहुँचाने गये थे वह यही इन्सपेक्टर थे। पर वह रात का समय था। जाड़े के कपड़ों में वह भी खूब छुपे थे और मैं तो था ही। लारी की अगली सीट पर वह बिना कुछ बोले बैठ गये। हम लोग पीछे बैठे और खूब सवेरे ही जेल के दरवाजे पर पहुँच गये। हम लोगों के उतरते-उतरते ही वह कहीं हट गये। रास्ते में वह कहीं एक शब्द नहीं बोले थे जिससे मैं पहचान सकूँ। जेल के फाटक पर भी देखा नहीं। पीछे जेलर ने हमसे उनका नाम कहा। यह भी कहा कि रास्ते-भर वह किसी तरह अपनी पहचान बचाते आये हैं। जेलर भी छपरे के रहनेवाले थे। वह हम लोगों के एक दूसरे साथी के छोटे भाई थे। इस कारण हम उन्हें लड़कपन से ही जानते थे।

बीहपुर में लाठी-प्रहार के बाद भी जत्था वैसे ही प्रतिदिन जाता रहा। वह गिरफ्तार होता या पीटा जाता। जब तक गांधी-अर्विन-समझौता न हुआ और काँग्रेस ने सत्याग्रह बन्द न किया, यह क्रम बराबर जारी रहा। पीछे जत्थावाले बहुत बेरहमी

से पीटे जाने लगे। एक स्वयंसेवक आज तक हम लोगों के पास सहायता के लिए आया करता है। उसको बहुत पीटा था। अन्त में साइकिल का पम्प उसके कान में लगाकर इस तरह हवा भर दी थी कि उसके कान की झिल्ली फट गयी। वह अभी तक उसकी तकलीफ सह रहा है।

१९३२ में जब सत्याग्रह फिर आरम्भ हुआ तब गवर्नमेण्ट ने बीहपुर के आश्रम को जब्त नहीं किया—यद्यपि समझौते के जमाने में बहुत कोशिश करने पर भी इसे छोड़ने पर राजी नहीं हुई थी। जमीन के मालिक ने आश्रम की जमीन काँग्रेस को लिख दी थी। हम लोगों का उस पर पूरा कानूनी हक था। पर सरकारी कर्म-चारियों ने किसी दूसरे आदमी को खड़ा करके जमीन लिखवा लेने का प्रयत्न किया था। जब हमने नालिश करने की धमकी दी तब वह आश्रम हमें वापस मिला। जिस समय पुलिस ने आश्रम पर कब्जा किया था, जब्ती का कोई हुक्म नहीं निकला था। पीछे भी कभी बाजाब्ता जब्ती नहीं हुई थी। तो भी वे उसे छोड़ना नहीं चाहते थे। किसी से लिखवाकर उस पर बिलकुल झूठा दावा कर रहे थे। वहीं हमको साफ मालूम हो गया कि सरकारी कर्मचारी अपना पक्ष-समर्थन करने-कराने के लिए चाहे जो कुछ भी कर सकते हैं! इसके लिए मुझे उस समय के चीफ सेक्रेटरी मिस्टर हैलेट (अब युक्तप्रान्त के लाट सर मौरिस हैलेट) से और बिहार के लाट से भी, समझौते के जमाने में, भेंट करनी पड़ी थी।

८९—मेरी गिरफ़्तारी : छपरा-जेल में

पटना लौटने पर मुझे मालूम हुआ कि अब मेरी गिरफ्तारी के लिए गवर्नमेण्ट का हुक्म हो गया है। मैंने पूर्ववत् अपना दौरा जारी रखा। कई जिलों में घूम आया, पर कहीं गिरफ्तार न किया गया। पीछे मालूम हुआ कि मैं एक जिले से दूसरे जिले में बहुत जल्दी घूमकर चला जाता हूँ। इसलिए जिला-मजिस्ट्रेट मुझे गिरफ्तार करके एक बला अपने ऊपर नहीं लेना चाहते। इस तरह मैं बचता चला गया। इसी बीच में एक दिन श्री बिट्ठलभाई पटेल पटने में आये। वह हाल ही में केन्द्रीय असम्बली के सभापति-पद को छोड़ चुके थे। इससे लोगों में उनके प्रति श्रद्धा और भी बढ़ गयी थी। पटने में एक सार्वजनिक सभा की गयी। मिस्टर हसन इमाम उसमें खादी का जाँघिया और अधबँहियाँ पहन कर आये। वहीं खबर मिली कि उसी दिन सवेरे पंडित मोतीलालजी गिरफ्तार कर लिये गये। मैंने समझ लिया, अब मेरी गिरफ्तारी में भी देर न होगी। मैंने चलते समय मिस्टर हसन इमाम साहब से मुलाकात की। उन्होंने बहुत उत्साहपूर्वक आश्वासन दिया। कहा, बच्चू, तुम्हारे गिरफ्तार हो जाने से काम रुकेगा नहीं। मैं उसी सभा के बाद, श्री बिट्ठलभाई पटेल को बिहार से बिदा करके, खुद छपरा-जिले के दौरे पर चला गया।

वहाँ भी तीन दिनों का कार्य्यक्रम था। जिले के पश्चिमी भाग से प्रारम्भ करके तीसरे दिन पूर्वी भाग समाप्त कर पटने पहुँच जाना था। पहली रात जीरादेई

में और दूसरी छपरे में बितानी थी। तीसरी रात को पटने पहुँचना था। दो दिन बीत चले थे। दूसरे दिन शाम का कार्य्यक्रम पूरा करते बहुत रात हो गयी। संध्या के बदले रात १२ बजे छपरा पहुँचा। बिहार-बंक में पहुँचने पर मालूम हुआ कि भाई कहीं गये हैं—छपरे में नहीं हैं और पुलिसवाले प्रायः १०-११ बजे तक मेरे इन्तजार में बंक में ठहरे रहे हैं। मैं समझ गया कि गिरफ्तारी के लिए खोज कर रहे होंगे। मैं भोजन करके सो गया। सवेरे उठकर स्नानादि से निवृत्त हो, करीब ८॥ बजे, मोटर पर गड़खा के लिए रवाना हुआ। वहीं पर पहली सभा होनेवाली थी। पुलिसवालों को मालूम ही था। इसलिए वे लोग गड़खा में जाकर मेरा इन्तजार करने लगे। एक दल उस रास्ते पर ठहरा रहा जिधर से मैं गड़खा पहुँचनेवाला था। मैं अभी छपरा-शहर के बाहर भी नहीं गया था कि गड़खा की ओर से एक मोटर पर पुलिसवाले लौटते मौना मुहल्ले में ही मिल गये। उन्होंने इशारा करके मेरी गाड़ी को रुकवाया। मुझसे कहा कि मेरी खोज में वे पहले दिन से घूम रहे हैं। मैं उनके साथ उनकी गाड़ी पर हो लिया। उन्होंने कहा कि बंक में यदि किसी से मिल लेना हो अथवा कुछ ले लेना हो तो उधर से चल सकते हैं। मैं बंक में गया। वहाँ घर के लोगों से भेंट कर ली। कुछ खा भी लिया। एक-आध घंटे के भीतर ही तैयार होकर उनकी गाड़ी पर फिर सवार हो गया। अभी तक इस बात की खबर शहर में पहुँची भी न थी कि मैं सीधे जेल ले जाया गया।

जेल का यह मेरा पहला अनुभव था। एक बार मैं छपरा-जेल में कुछ मित्रों से मिलने गया था। पर इससे ज्यादा उसके या किसी भी जेल के सम्बन्ध में नहीं जानता था। जेल में उस समय प्रायः ३००-४०० सत्याग्रही कैदी थे। उनको मालूम हो गया कि मैं फाटक के अन्दर पहुँच गया। वे जयजयकार करते फाटक के पास पहुँच गये। जेलर कुछ घबरा गये। उन्होंने अन्दर का फाटक नहीं खोला। इस पर लोग और भी शोर करने लगे। मैंने जेलर से कहा कि मुझे अन्दर ले चलें, सब शान्त हो जायँगे। उन्होंने कहा कि जब तक ये लोग फाटक के नजदीक रहेंगे, फाटक खोलने का नियम नहीं है; इसलिए ये लोग जब चले जायँ तभी वह मुझे अन्दर ले जायँगे। मैं सत्याग्रहियों से कुछ कह भी नहीं सकता था; क्योंकि छोटे सूराख से कहाँ तक बातें हो सकती थीं। मैं जानता था कि यह उत्साह केवल स्वागत के लिए है, मेरे अन्दर जाते ही और भेंट होते ही सब शान्त हो जायँगे। पर जेलर इस बात को नहीं समझ सकते थे। कुछ देर के बाद फाटक खोलकर वह मुझे अन्दर ले गये। सभी लोग इतना ही चाहते थे। सब मेरे साथ हो लिये और मुझे जहाँ रहना था वहाँ तक पहुँचाकर अपने-अपने स्थान को चले गये। इसी बीच में बाहर से जयजयकार की आवाज आने लगी। वहाँ की जेल में एक दोमहला मकान है। उस पर भी कुछ लोग रहते थे। उन्होंने देखा कि एक बड़ी भीड़ जेल की तरफ जयजय-कार करती आ रही है। वह भीड़ बाहर सड़क पर थी। जेलर और भी घबरा गये थे। उन्होंने जेल के वार्डरों को फाटक पर से बन्दूक छोड़ने का हुक्म दिया। आवाज

हम लोगों ने सुनी और समझा कि शायद कहीं गोली तो नहीं चली। पर बात ऐसी नहीं थी। जेल एक तरह से बीच शहर में है, चारों ओर सड़क है। लोगों ने केवल जेल के इर्द-गिर्द जलूस घुमाकर और नारे लगाकर काम समाप्त किया। पर जेलर अपनी घबराहट में खामखाह बन्दूक छुड़वाने लगे। खैरियत थी कि खाली फायर किया जाता था। सुना कि पीछे जब डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट को इसकी खबर मिली तो उन्होंने जेलर को डाँटा कि यह बड़ी भूल थी—यदि जनता बन्दूक छूटते देखकर बिगड़ जाती तो वह झूठे फायर से उसे कैसे रोक सकते, खासकर जब उन्होंने पुलिस या मजिस्ट्रेट को भी खबर नहीं दी थी।

मेरा पहला अनुभव विचित्र रहा; क्योंकि पीछे जब औरों के अनुभव से मैंने अपने अनुभव को मिलाया तो मालूम हुआ कि औरों को ऐसा अनुभव नहीं हुआ था। उस समय तक छपरे में कैदियों के वर्गीकरण का कोई इन्तजाम नहीं था। मेरे सम्बन्ध में कोई खास हुक्म भी न था। इसलिए मैं लोहे के तसले में जो कुछ वहाँ मिलता वही खाता। घर से लोगों ने खाना भेजा; पर मैंने मना कर दिया और उसे नहीं खाया। जेलर का कहना था कि मैं जब तक हाजती (undertrial) हूँ तब तक घर का खाना खा सकता हूँ, पर फाटक पर जाकर खाना होगा! मैं तो यों ही इनकार करता, इस शर्त ने और भी मजबूर कर दिया। दूसरे दिन भाई साहब छपरा पहुँचे। मुकदमे की पेशी के समय, जो जेल में ही हुई, आकर मिले। जेलर कायदा बर्तने में इतने सख्त थे कि मेरे घर से कुछ आम आये तो उन्हें भी फाटक पर आकर ही खाने के लिए संवाद भेजा। मैंने इनकार कर दिया। आम भी वापस कर देने को कह दिया। तब तक आम लानेवाला आदमी वापस चला गया था। फिर उन्होंने खुद आकर कहा, तो मेरे कारण पूछने पर कहने लगे कि जेल में एक कैदी दूसरे कैदी को अपना खाना नहीं दे सकता, इसलिए उसे बाहर की चीज भी हम अन्दर खाने नहीं देते। पीछे मालूम हुआ कि यह उनका मनगढ़न्त नियम था, किसी दूसरी जेल में ऐसा नहीं हुआ।

जिन मजिस्ट्रेट के सामने मेरा मुकदमा पेश हुआ, उनकी मेरी पहले से मुलाकात थी। मेरे वकालत के दिनों में वह मेरे मवक्किल रह चुके थे। उनके निजी मुकदमे में मैं काम कर चुका था। इत्तफाक की बात, १९३३ में जब मैं पटने में गिरफ्तार हुआ, वह पटने के सब-डिवीजनल अफसर थे। उस बार भी उनको ही मेरी सजा सुनानी पड़ी। मुकदमे में कुछ कहना-सुनना तो था नहीं, कोई दफा लगाकर मुझे छः महीने कैद की सजा उन्होंने दे दी।

मुझे कुछ भी मालूम न था कि मुझे वहीं रखेंगे या कहीं अन्यत्र ले जायँगे। पर इतना मैं जानता था कि सूबे के प्रमुख लोग हजारीबाग-जेल में रखे गये हैं। जेलर ने भी कुछ नहीं कहा कि मैं वहीं रहूँगा या हजारीबाग भेजा जाऊँगा। इस तरह पाँच-छः दिन बीत गये। एक दिन संध्या को भोजन करके मैं अपने वार्ड के छोटे आँगन में, एक कुर्ता पहने और एक अँगोछा हाथ में लिये, घूम रहा था। जेलर

ने आकर कहा कि डिपटी साहब फाटक पर आये हैं, मुझसे मिलना चाहते हैं। उन दिनों वहाँ के पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट छुट्टी पर गये थे, एक डिप्टी-मजिस्ट्रेट उनकी जगह काम कर रहे थे। मैंने समझा, वही आये होंगे। मैं गया। फाटक खुला। जैसे ही मैं अन्दर घुसा, डिपटी साहब दूसरी ओर मुँह फेरकर बाहरवाले दरवाज़े की तरफ चलते बने! मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। वार्डर ने मुझे अन्दर लेकर भीतर का दरवाजा बन्द करके दौड़कर बाहर का दरवाजा खोला। उसके खुलते ही एक दूसरे सज्जन अन्दर आ गये जो मिस्टर खाँ डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट थे। उन्होंने कहा कि मुझे तुरंत चलना है। मैंने पूछा कि सामान अन्दर है, जाकर ले आऊँ। उन्होंने कहा कि उसकी मैं परवा न करूँ, वह सब आ जायगा। जेल का एक नियम यह भी था कि पहने हुए कपड़ों और बिस्तर के सिवा दूसरा कुछ अन्दर नहीं जाने देते थे। इसलिए थोड़े कपड़े फाटक पर ही थे। मैंने टोपी निकाल ली और उसे पहनकर डिस्ट्रिक्ट-मजिस्ट्रेट की मोटर पर बैठ गया। उसके चारों ओर पर्दे लगे हुए थे।

मजिस्ट्रेट ने ड्राइवर से कहा कि पच्छिम ले जाओ। मेरे पूछने पर कि कहाँ जाना है, उन्होंने कहा कि पीछे बताऊँगा। जेल से छपरा-जंकशन स्टेशन पश्चिम पड़ता है। पर जब स्टेशन के सामने मोटर पहुँची तो उधर मोड़ने के बदले उन्होंने सीधे पश्चिम जाने को कहा। कुछ देर में हम लोग शहर के बिलकुल बाहर पहुँच गये। तब उन्होंने पर्दा गिरा दिया। मुझसे माफी माँगते हुए कहने लगे कि उनको अफसोस है कि इस तरह की कार्रवाई उन्हें करनी पड़ती है, मुझे हजारीबाग जाना होगा, पर रास्ता मामूली रास्ता नहीं है; मुझे वह 'माँझी' स्टेशन पर—जो छपरा-बनारस-लाइन में सरयू-तट पर एक छोटा स्टेशन है—बनारस की गाड़ी में सवार करायेंगे, वहाँ से मैं बनारस के रास्ते मुगलसराय ले जाया जाऊँगा जहाँ से ग्राण्ड-कौर्ड-लाइन द्वारा सोनईस्ट-बैंक स्टेशन तक ले जाकर उतार लिया जाऊँगा, फिर वहाँ से मोटर पर हजारीबाग पहुँचाया जाऊँगा; मेरे लिए रेलवे-पुलिस के एसिस्टैण्ट सुप-रिण्टेण्डेण्ट अपना सैलून लेकर आ रहे हैं, कोई तकलीफ न होगी।

खैर, हम लोग माँझी स्टेशन पर जल्द ही पहुँच गये। थोड़ी देर में डिप्टी साहब भी मेरे सामान के साथ पहुँच गये। गाड़ी भी आ गई। मैं सैलून में सवार हो गया। पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट ने मुझसे इतना ही कहा कि मैं लोगों को अपना परिचय न दूँ। मैंने कहा कि मैं खुद थोड़े ही किसी को अपना परिचय देता चलूँगा; पर यदि कोई मुझे पहचान ही ले तो मैं क्या करूँगा। इस पर वह हँसे और मजे में हम दोनों साथ चले। रात का समय था। हमारा डब्बा गाड़ी के आखिरी डब्बे के पीछे जोड़ा गया; इससे वहाँ तक कोई मुसाफिर भी नहीं पहुँचता था। कुछ रात रहते ही हम बनारस पहुँच गये। वहाँ से मोटर पर मुगलसराय पहुँचे। वह रिफ्रेशमेण्ट रूम में मुझे कुछ खिलाने के लिए ले गये; पर मैं अभी तैयार नहीं था। कुछ देर तक वहाँ बैठा। इतने में गाड़ी आ गयी। इस बीच में शायद दो-चार आदमियों ने मुझे पहचाना हो। खाने के लिए उन्होंने आम खरीद लिये। गाड़ी खुलने पर मैंने मुँह-हाथ धो

स्नानादि से निवृत्त होकर नाश्ता कर लिया। सोनईस्ट-बैंक स्टेशन पर गया-जिले के पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट मिले। उन्होंने मुझे एक मोटर पर सवार कराकर, हजारीबाग के लिए, एक इन्सपेक्टर के साथ, रवाना किया। वहाँ मैं एक बजे दिन के कुछ पहले पहुँच गया। मित्रों के साथ वहाँ रखा गया। इस लम्बी-चौड़ी यात्रा की बातें जब मित्रों ने सुनीं तो बहुत चकित हुए। मिस्टर खाँ ने छपरे में ही पूछने पर इस तरह ले जाने का कारण बताया था—गवर्नमेण्ट नहीं चाहती कि छपरा, सोनपुर, पटना और गया स्टेशनों पर लोगों की भीड़ जमे और प्रदर्शन हो, इसलिए यह रास्ता सोचकर निकाला गया है। साथ के इन्सपेक्टर ने भी कहा कि रास्ते में कहीं भी मोटर न ठहराने का हुक्म है और औरंगाबाद (गया) में जहाँ क़स्बे के बीच होकर सड़क जाती है वहाँ मोटर को तेज ले जाने का हुक्म है। ऐसा उन्होंने किया भी।

छपरा-जेल से मेरे निकल आने पर जब जेलर मेरा सामान लाने अन्दर गये तो लोगों को मालूम हो गया कि मैं वहाँ से हटा दिया गया। वहाँ के लोगों में बड़ी उत्तेजना फैली। कुछ लोगों ने कोठे पर से चिल्लाना शुरू कर दिया कि मुझे किसी अज्ञात स्थान में ले गये। शहर के किसी आदमी ने दौड़कर बिहार-बंक में पहुँच भाई को खबर दे दी। वह अपनी मोटर पर तुरंत छपरा-स्टेशन पहुँचे। वहाँ उन्हें मालूम हुआ कि मैं किसी गाड़ी में नहीं सवार कराया गया हूँ। उन्होंने समझा कि शायद किसी आगे के स्टेशन पर सवार करायेंगे। पर उन्हें यह क्या पता कि सोनपुर की ओर न जाकर मुझे बनारस की ओर ले गये हैं। वह सोनपुर तक मोटर से पहुँचे। जब वहाँ भी मुझे न पाया तो निराश होकर फिर छपरे लौट गये। बाद जब मालूम हुआ कि मैं हजारीबाग पहुँच गया तो वह आकर मुझसे मिले।

थे। दूसरे वार्ड में जो मित्र रहते थे वे भी जेलर से इजाजत लेकर जब-तब हम लोगों से मिलते रहते थे या हम ही उनके वार्ड में जाकर उसी तरह मिलते थे। किसी बात की तकलीफ नहीं थी। पुस्तकों के सम्बन्ध में कुछ रुकावट थी। कोई पुस्तक, पुलिस अथवा मजिस्ट्रेट के 'पास' किये बिना, हम लोगों को नहीं मिलती थी! पास करनेवाले सज्जन कुछ बहुत पढ़े-लिखे नहीं मालूम होते थे। जिस पुस्तक के नाम में किसी तरह 'पालिटिक्स' या 'पोलिटिकल' शब्द आ जाय उसे वे हरगिज नहीं पास करते। जिसमें ये शब्द न आवें उस पुस्तक को, चाहे उनके दृष्टिकोण से वह कितनी भी खराब पुस्तक क्यों न हो, वे पास कर देते। उदाहरणार्थ, वहाँ की एक मजाक की बात सुन लीजिए।

किसी ने 'इकनामिक्स' की एक पाठ्य पुस्तक, जो कालेजों में पढ़ाई जाती थी, मँगायी। उसका नाम था Text Book of Political Economy; उसे उन्होंने नामंजूर कर दिया चूँकि नाम में 'पोलिटिकल' शब्द था! पर A. B. C. of Communium और Theory of Leisure class के पास करने में वे नहीं हिचके! पहली पुस्तक को न मालूम क्या समझ कर पास किया, पर दूसरी के सम्बन्ध में हम लोगों का अनुमान हुआ कि उन्होंने समझा होगा, इसमें ऐसे लोगों के मन-बहलाव की बातें होंगी जिनके पास बहुत अवकाश का समय रहता है!

मैंने जेल में सोचा कि गांधीजी के लेख अधिकतर उनके साप्ताहिकों की फाइलों में ही पड़े हैं। यद्यपि मद्रास के प्रकाशक श्री गणेशन ने उनको इकट्ठा करके पुस्तकाकार में प्रकाशित किया है और उसके लिए मैंने एक लम्बी भूमिका भी लिखी है, तो भी मेरा विचार हुआ कि यदि एक-एक विषय के सभी लेखों का अलग-अलग संग्रह छापा जाय और आरम्भ की छोटी-सी भूमिका में उन लेखों का संक्षिप्त अर्थ दे दिया जाय, जिससे पाठक उस विषय पर उनके विचारों को थोड़े शब्दों में जान लें और तब उनका विस्तार-पूर्वक उनके अपने शब्दों में एक जगह अध्ययन करें, तो अच्छा होगा। इसलिए, मैंने उन लेखों को कई विभागों में बाँटा। जैसे अहिंसा, स्वराज्य, सत्याग्रह, शिक्षा, खादी इत्यादि। फिर प्रत्येक विषय पर छोटा लेख लिखा जिसमें उनके विचारों का सारांश था। लेखों को चुन लिया। कुछ मित्रों ने अलग-अलग उनकी नकल भी तैयार कर दी। मेरी भूमिका भी पूरी हो गयी। इसी समय मैं छूट गया।

बाहर आने पर समय न मिला कि उसे फिर एक बार देखकर छपवाऊँ। गांधीजी से भेंट होने पर उनसे पूछा कि ऐसा करना क्या वह पसन्द करेंगे। उन्होंने अपनी अनुमति दे दी। यह भी कहा कि कुछ दिन पहले किसी ने गुजराती में ऐसा ही संग्रह छापा भी है। कुछ और मित्रों ने भी इसे पसन्द किया। विशेषकर पुरुलिया के श्री निवारणचन्द्र दास गुप्त ने इसे बहुत पसन्द किया था। उन्होंने भूमिका में कुछ सुधार भी बतलाये थे, जिनको मैंने मान लिया था। १९३१ में यह चीज प्रेस में न जा सकी। जब १९३२ में फिर हम लोग गिरफ्तार हो गये तो सदाकत-आश्रम भी जब्त हो गया। बस फिर वह लिखी हुई चीज मुझे नहीं मिली। न मालूम कहाँ रखी गयी और किस तरह गायब हो गयी!

जेल के अंदर चर्खा चलाने और उद्योग-धन्धे के अलावा धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी हुआ करता था। छपरे के पं० भरत मिश्रजी भी साथ थे। उनसे श्री वाल्मीकीय रामायण की कथा और पं० विष्णुदत्त शुक्ल से दुर्गा सप्तशती की कथा सुनी। स्वयं पहले-पहल मुख्य उपनिषदों को आद्योपांत पढ़ गया।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, हजारीबाग-जेल में सूबे के प्रायः सभी जिलों के प्रमुख काँग्रेसी लोग भेजे गये थे। मैं बराबर सूबे में बहुत दौरा किया करता था। अधिकतर काँग्रेस-कार्यकर्त्ताओं को जानता था। पर जेल में जितने दिनों तक एक साथ रहने का मौका मिला उतना कभी बाहर नहीं मिला था। वहीं स्वामी भवानीदयाल के साथ बहुत दिनों तक रहकर एक दूसरे को जानने-पहचानने का मौका मिला। वह स्मृति सदैव एक मीठी स्मृति बनी रहेगी। मुजफ्फरपुर-जिले के ठाकुर नवाबसिंह एक पुराने विचार के वयोवृद्ध सज्जन थे—अथवा यों कहें कि अँगरेजी शिक्षा से अनभिज्ञ, तो बेहतर होगा। गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन ने गाँवों में बहुतेरों को प्रभावित किया था। बिहार में विशेषकर गाँवों के लोगों पर ही अधिक प्रभाव पड़ा था। इसके विपरीत पास के ही सूबा युक्तप्रान्त में अधिक प्रभाव शहरों पर पड़ा था। चम्पारन में गांधीजी के काम से देहात के लोग परिचित हो गये थे। इसलिए किसानों में, जो अधिकतर गाँवों में ही रहते हैं, उनका बहुत प्रभाव था। उसी प्रभाव में पड़कर ठाकुर नवाबसिंह इस आन्दोलन में शुरू से ही आ गये थे। आये भी तो अकेले नहीं। उनके लड़के, भतीजा, पोता सबके सब साथ आये। सीतामढ़ी-सबडिवीजन में जो कुछ होना हो, जो कुछ करना हो, ठाकुर नवाबसिंह पर उसका भार पड़ता। वही नेतृत्व करते। आधुनिक रीति से शिक्षित न होकर भी वह इतने समझदार थे कि सब बातों को जल्द समझ लेते। काँग्रेस की आज्ञा को पूरा करने और कराने में यथासाध्य खूब चेष्टा करते। वह भी अपने पुत्र के साथ उसी जेल में थे। उनको भी अधिक जानने का सुअवसर मुझे वहीं मिला। उन्होंने अपने जीवन के अन्त तक अपना विचार दृढ़ रक्खा। १९४२ के अगस्त में, गांधीजी और दूसरों की गिरफ्तारी के बाद, जो हलचल शुरू हुई उसमें भी वह उसी उत्साह, निर्भीकता और दृढ़ विश्वास के साथ शरीक हुए जिसके साथ वह शुरू में आन्दोलन में आये थे। सीतामढ़ी नैपाल के निकट है। वह पुलिस की धाँधली से बचकर काम करने के लिए नैपाल की तराई में चले गये। वहीं से काँग्रेस का काम करते रहे। वहीं बीमार पड़े और हमने जेल में सुना कि उनका देहावसान हो गया।

स्वामी सहजानन्द भी जेल में थे। बहुतेरे लोग उनसे गीता पढ़ते थे। मेरी भी इच्छा थी, पर समयाभाव से यह पूरी न हुई। पर सबसे अधिक मेरी घनिष्ठता श्री निवारणचन्द्र दास गुप्त से बढ़ गयी। वह एक साधु प्रकृति के पुरुष थे। उन्होंने गांधीजी के असहयोग-आन्दोलन को केवल एक राजनीतिक आन्दोलन ही न मानकर धार्मिक उत्थान का एक साधन भी माना था। उनके साथ हम लोगों ने पतञ्जलि के योग-सूत्र का अध्ययन किया। वहीं उनकी विद्वत्ता और गम्भीर गवेषणा-शक्ति का पता

चला। यह भी मालूम हुआ कि उन्होंने किस तरह अपने जीवन को उन शास्त्रीय नियमों के अनुसार ढालने का प्रयत्न किया है। कुछ दिनों के बाद क्षयरोगग्रस्त होकर वह एक ऐसा स्थान खाली छोड़ गये जिसकी अभी तक पूर्ति नहीं हुई है।

जेल में कुछ बातों में आपस की सुखद प्रतिद्वन्द्विता भी हुई। कुछ लोगों ने 'बन्दी' या 'कैदी' नाम का एक हस्तलिखित मासिक पत्र निकाला। दूसरों ने 'कारागार' नाम का दूसरा मासिक निकाला, जिसमें यह लिखा कि कैदी या बन्दी तो आते-जाते रहते हैं, बदलते रहते हैं; पर कारागार तो स्थायी रूप से चलता ही रहता है! इन पत्रों में राष्ट्रीय आन्दोलन-सम्बन्धी लेख लिखे जाते थे। एक विशेषांक में सभी जिलों के प्रमुख कार्यकर्त्ताओं से, अपने-अपने ज़िले में आन्दोलन की प्रगति पर, लेख लिखवाये गये। मेरा खयाल है कि उससे बहुत-कुछ ऐसा मसाला मिलता जिससे आन्दोलन का इतिहास लिखा जा सकता। याद नहीं, वह विशेषांक कहाँ है। इन पत्रिकाओं के मुख्य प्रबन्धक और लेखकों में सर्वश्री स्वामी भवानीदयाल, गंगया के बाबू मथुराप्रसाद सिंह, रामवृक्ष बेनीपुरी और उत्साही युवक महामायाप्रसाद थे। एक-दो अंकों में कुछ चित्र भी थे जिनके बनाने वा बनवाने का श्रेय गिद्धौर के कुमार कालिकाप्रसाद सिंह को था।

इस जेल-यात्रा में हमको जेल की बातों का विशेष ज्ञान या अनुभव नहीं हुआ; क्योंकि एक तो अपने ही लोग इतने थे कि दूसरों की ओर ख्याल अधिक गया ही नहीं; दूसरे मामूली कैदियों से मिलने का बहुत मौका भी न मिला। हम लोगों के काम कर देने के लिए जो कैदी मिलते थे, अथवा जब मैं कारखाने में नेवार या कपड़ा बुनने जाया करता तो वहाँ जो कैदी काम करते थे, बस उनसे ही मुलाकात होती थी, दूसरों से नहीं। पर इनमें ही जो मिले उनमें बहुतेरे अच्छे भी मालूम पड़े। किसी न किसी कारण से वे जेल चले आये थे। पर उनमें मामूली तौर पर कोई ऐसी बात नहीं नजर आती थी जिसके लिए उन्हें लम्बी सजा का मिलना उचित मालूम हो। इस सम्बन्ध में पीछे अनुभव प्राप्त हुए, जिनका जिक्र किसी दूसरे अवसर पर किया जायगा।

हम लोगों को शुरू में कोई अखबार नहीं मिलता था, जिसकी जरूरत सभी बहुत महसूस करते थे। पर जेल एक ऐसी जगह है जहाँ प्रबन्ध करने पर सब कुछ मिल सकता है! इस विशेष प्रबन्ध के लिए लोगों ने एक विशेष शब्द खोज निकाला। उसे 'तिकड़म' कहते हैं। कुछ लोग 'तिकड़म' से कभी-कभी कोई न कोई अखबार मँगा ही लेते थे। उसे पढ़कर छपी खबरों को दूसरों तक पहुँचा देते थे। कुछ दिनों के बाद एक सज्जन सबकी राय से कहीं से अखबार प्राप्त कर पढ़ लेते और सबको खबर सुना देते। जब खबर सुनाने का समय आता, सभी लोग उत्सुकतापूर्वक उनकी बाट जोहते। उनकी स्मरणशक्ति और कहने का ढंग भी ऐसा था कि सब लोग बहुत प्रसन्न हो जाते। गवर्नमेण्ट ने कुछ दिनों के बाद अखबार देना मंजूर किया। पर जैसा उसका सब काम हुआ करता है, दिखाने के लिए तो कहा गया कि अखबार दिये जाते हैं; पर हम लोगों को मिलता था सप्ताह में एक ही अखबार एक ही बार,

और वह भी 'स्टेट्स्मैन' का साप्ताहिक संस्करण! वह विदेशों के लिए छपा करता था! उसमें विशेषकर ऐसे विचार रहा करते थे, जिनके जानने की उत्सुकता हम लोगों में शायद ही किसी को होगी। खबरें उसमें केवल ऐसी होतीं जिनमें विदेशी पाठकों की ही अधिक दिलचस्पी हो सकती थी और जो एक सप्ताह पुरानी भी होतीं। भारत में रहनेवालों को, विशेषकर सत्याग्रहियों को, उन खबरों से कोई लाभ नहीं। चाहे विधान के रूप में हो, चाहे किसी दूसरे प्रकार के सुधार के रूप में हो, ब्रिटिश सरकार जो सहूलियतें देने की घोषणा करती है, उनकी अधिकतर यही हालत हुआ करती है! कहने के लिए एक चीज दी तो गयी, पर जिसमें कोई सार नहीं, असली तत्त्व नहीं। इन्हीं चीजों से जेल का समय कटता था।

९१—गोल-मेज-कान्फ्रेन्स और पं० मोतीलाल नेहरू की मृत्यु

उन्हीं दिनों, मेरे हजारीबाग पहुँचने के कुछ ही दिनों बाद, लंदन में होनेवाली गोलमेज-कान्फ्रेन्स की बात छिड़ी। सबसे पहले पंडित मोतीलालजी से हुई मुलाकात की बात मिस्टर स्लोकोम्ब ने प्रकाशित की। उसके बाद सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर बीच-बचाव करने लगे। उनके ही बीच-बचाव से पंडित मोतीलाल, पंडित जवाहरलाल और डाक्टर महमूद से—जो नैनी-जेल से पूना ले जाये गये जहाँ महात्मा गांधी और वर्किंग कमिटी के कुछ दूसरे मेम्बर थे—बातें हुईं। पर पटरी नहीं बैठी और मामला टूट गया। मैंने अपने लोगों में, जो हजारीबाग-जेल में थे, एक बात देखी। जब समाचारपत्रों में समझौते की कोई खबर छपती तो उसे वे बहुत उत्सुकता से पढ़ते और सभी बातों पर आपस में बहुत बहस करते। ऐसा मालूम होता कि उनमें से बहुतेरे समझौते के लिए उत्सुक हैं। हाँ, कुछ लोग अवश्य ऐसे थे जो इस बात पर डटे रहते थे कि जब तक स्वराज्य-सम्बन्धी सन्तोषजनक बात न तय पावे, समझौता नहीं होना चाहिए। पर दूसरे ऐसे लोग भी थे जो समझते थे कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स में कुछ न कुछ सन्तोषजनक बात हो जायगी, इसलिए इस समय यहाँ अधिक झगड़ा न उठाकर वहाँ जाना स्वीकार कर लेना चाहिए। जब समझौता न हो सका तो ऐसे लोगों को वह जरूर नापसन्द हुआ।

दिसम्बर में जेल से छूटकर मैं सीधे बम्बई गया; क्योंकि उस समय बम्बई ही एक प्रकार से आन्दोलन का केन्द्र हो रहा था। वहाँ आजाद-मैदान में सभाएँ होतीं और लाठियों द्वारा भंग की जातीं, बहुतेरे घायल होते। सब लोगों की सेवा-शुश्रूषा का प्रबन्ध काँग्रेस-अस्पताल में था। वहाँ का रूई-बाजार बहुत दिनों तक बन्द रहा। दूसरे प्रकार से वहाँ की जनता आन्दोलन में खूब भाग ले रही थी। वहाँ जाकर मैं सब लोगों से मिला। सरदार बल्लभभाई से भी भेंट हुई।

बिहार में चौकीदारी-टिकस बन्द करने का कार्यक्रम चल रहा था। गवर्नमेण्ट सख्ती से उसे दबा रही थी। जिससे दो-चार आने का भी पावना रहता उसका बहुत माल बरबाद कर दिया जाता। जहाँ किसी गाँव के लोगों ने टिकस बन्द किया, गाँव

ही लूट लिया जाता। मैंने एक गाँव के सम्बन्ध में जानकारी हासिल की जो हम लोगों की ही जमीन्दारी में था। वहाँ पुलिस ने जाकर एक आदमी को गोली से मार डाला था और दूसरों को खूब पीटा था। एक दूसरे गाँव में मैंने खुद जाकर देखा था; वहाँ घर में घुसकर गल्ला रखने की कोठियाँ तोड़ डाली गयी थीं, सभी बासन-बर्त्तन चूर कर दिये गये थे, यहाँ तक कि चारपाइयों की बुनावट काट दी गयी थी, मकान के लकड़ी के खम्भे भी काट दिये गये थे। एक गाँव की यह कैफियत थी कि पुलिस के चले जाने के बाद वहाँ गाँव में न एक घड़ा था और न एक रस्सी, जिससे लोग कुएँ से पानी निकाल कर प्यास बुझा सकें। इस तरह की बातें अनेक गाँवों में हुई थीं। हमारी गैरहाजिरी में अनेक जगहों में गोली भी चली थी। दमन बहुत जोरों से चल रहा था। पीछे जब गवर्नमेण्ट ने यह देखा कि केवल जेल जाने से लोग नहीं डरते तो जुर्माना करना शुरू किया। जुर्माने की अच्छी-अच्छी रकमों की वसूली में घर-वालों के साथ ज्यादतियाँ की जातीं, एक के बदले दस का माल बर्बाद किया जाता। हाइकोर्ट में किसी ने अपील कर दी तो एक ऐसा फैसला हो गया कि हिन्दू के संयुक्त परिवार में एक आदमी के कसूर के लिए सारे परिवार का संयुक्त धन नीलाम या जब्त नहीं किया जा सकता। इससे कुछ रुकावट पड़ी, तो भी जुर्माना और चौकीदारी-टिकस न देने के कारण जो लूटपाट होती उससे लोगों में आतंक-सा फैलता दीख पड़ा। किन्तु इतने पर भी आन्दोलन चल ही रहा था, कहीं भी रुका नहीं था।

प्रायः इसी समय पंडित मोतीलालजी रिहा हो गये। उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। मैं प्रयाग जाकर उनसे मिला। वह इलाज के लिए कलकत्ता गये। कुछ दिनों तक वहाँ ठहर कर प्रयाग वापस आये। उन्होंने आन्दोलन-संचालन का भार अपने ऊपर ले लिया था, यद्यपि वह अस्वस्थ थे। मैं उनकी आज्ञा के अनुसार काम करता। इस समय काँग्रेस की वर्किंग कमिटी को गवर्नमेण्ट ने गैरकानूनी करार दे दिया था। इसी तरह प्रान्तीय तथा दूसरी बहुतेरी कमिटियाँ भी गैरकानूनी हो गयी थीं। इसलिए वर्किंग कमिटी की बाजाब्ता बैठक गैरकानूनी थी, पर बेजाब्ता तौर पर हम लोग बैठक कर सकते थे। उधर इँगलैंड में गोलमेज-कान्फ्रेन्स का काम प्रायः समाप्त हो चुका था। कुछ काम आगे न बढ़ा। प्रधान मंत्री मैकडोनल्ड ने एक भाषण देकर उसे स्थगित किया—उसमें गोल-गोल बातें थीं! उन लोगों की इच्छा जान पड़ी कि काँग्रेस को कान्फ्रेन्स में शरीक करने का एक और प्रयत्न किया जायगा। इस भाषण के कुछ पहले ही पंडितजी की राय से वर्किंग कमिटी के वे मेम्बर प्रयाग बुलाये गये जो बाहर थे। सबके पास पत्र भेज दिये गये। इसकी सूचना अखबारों में नहीं दी जा सकती थी और दी भी नहीं गयी थी। लाहौर में पुलिस ने एक सदस्य की तलाशी ली। उनके पास वह पत्र मिल गया। यह बात अखबारों में छप गयी। हम लोगों ने देख लिया। तब तक मिस्टर मैकडोनल्ड का भाषण पत्रों में आ गया। हम लोग सोच रहे थे कि यह बैठक यदि हुई तो सब लोग एक साथ ही गिरफ्तार कर लिये जायँगे, जैसा पहले वर्किंग कमिटी के साथ हो चुका था। पंडितजी ने आज्ञा दी कि

अखबारों में छपवा दो कि श्री मैकडोनल्ड के भाषण पर विचार करने के लिए वर्किंग कमिटी की बैठक अमुक तिथि पर प्रयाग में होगी। उधर मालवीयजी भी अस्वस्थ अवस्था में इसी समय छूटे। वह भी निमंत्रित किये गये।

वह दिन आ गया। वर्किंग कमिटी के जो मेम्बर आ सकते थे, प्रयाग में आ गये। हम सब समझते थे कि गैरकानूनी बैठक में सब लोग गिरफ्तार हो जायँगे, पर पंडितजी कहते थे कि जब हम मिस्टर मैकडोनल्ड के भाषण पर विचार करने की घोषणा कर चुके हैं तब वे गिरफ्तार नहीं करेंगे। ऐसा ही हुआ भी। उस दिन तीसरे पहर से रात को देर तक बातचीत होती रही। एक निश्चय तक हम लोग पहुँचे जिसमें हमने मिस्टर मैकडोनल्ड के भाषण को ना-काफी समझा और उसे ना-मंजूर किया। पंडितजी अपनी अस्वस्थता की हालत में भी बराबर काम करते रहे, हम लोगों के हजार कहने पर भी नहीं माना। प्रस्ताव तैयार हो गया। पंडितजी का विचार हुआ कि उसे तुरन्त प्रेस में दे देना चाहिए; क्योंकि ऐसा न करने से लोगों में यह जानकर ढिलाई आ जायगी कि कुछ सुलह होने जा रही है। मैंने कहा कि इसे एक बार और देखकर सवेरे प्रेस में दिया जाय। पंडितजी ने इस बात को मान लिया। वर्किंग कमिटी की खबर इँगलैंड पहुँच गयी थी। वहाँ से श्री श्रीनिवास शास्त्री, सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर का तार उसी रात हम लोगों के सो जाने के बाद पंडितजी को मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था कि वे हिन्दुस्थान लौट रहे हैं और जब तक उनसे वर्किंग कमिटी की मुलाकात न हो ले तब तक वह कोई आखिरी फैसला न करे। दूसरे दिन सवेरे जब मैं पंडितजी से मिला, उन्होंने तार दिखलाया और कहा कि अब उस प्रस्ताव को अखबारों में मत दो, केवल इतना ही दे दो कि वर्किंग कमिटी तार पहुँचने के पहले ही फैसले पर पहुँच गयी थी, पर तार पाकर उसका प्रकाशन स्थगित रखती है। मैं इस समय प्रयाग में प्रायः बराबर स्वराज्य-भवन में ही रहा करता था।

इन सब बातों का नतीजा यह हुआ कि गवर्नमेण्ट ने वर्किंग कमिटी के सभी मौजूदा और भूतपूर्व मेम्बरों को छोड़ दिया। जब से सत्याग्रह शुरू हुआ था, वर्किंग कमिटी के मेम्बर की गिरफ्तारी पर उसके स्थान में कोई स्थानापन्न मेम्बर बना दिया जाता था। इस तरह आरम्भ के और स्थानापन्न मेम्बरों की संख्या खाली हो गयी थी। सबके सब छोड़े गये। छूटते ही गांधीजी प्रयाग पहुँच गये। सब लोग बुलाये गये। वहाँ बातें शुरू हुईं। पंडितजी का स्वास्थ्य दिन-दिन बिगड़ता गया। जवाहरलालजी इसी कारण मीयाद पूरी होने के पहले ही छोड़ दिये गये थे। जब मैं सोचता हूँ कि उस बीमारी की हालत में भी पंडितजी बराबर काम करते रहे और बार-बार रोकने पर भी नहीं मानते थे—विशेषतः उस रात को जब वर्किंग कमिटी की बैठक देर तक होती रही और प्रस्ताव बनाने-सुधारने में उन्होंने कितना परिश्रम किया—तो मैं यह समझ जाता हूँ कि पंडितजी की बीमारी यद्यपि मामूली बीमारी नहीं थी और उनकी अवस्था भी काफी हो गयी थी तथापि उन्हें यदि इतना अधिक परिश्रम न करना पड़ता तो शायद उनकी बीमारी बढ़ती नहीं तथा देश को उनकी बुद्धिमत्ता एवं

ही लूट लिया जाता। मैंने एक गाँव के सम्बन्ध में जानकारी हासिल की जो हम लोगों की ही जमीन्दारी में था। वहाँ पुलिस ने जाकर एक आदमी को गोली से मार डाला था और दूसरों को खूब पीटा था। एक दूसरे गाँव में मैंने खुद जाकर देखा था; वहाँ घर में घुसकर गल्ला रखने की कोठियाँ तोड़ डाली गयी थीं, सभी बासन-बर्त्तन चूर कर दिये गये थे, यहाँ तक कि चारपाइयों की बुनावट काट दी गयी थी, मकान के लकड़ी के खम्भे भी काट दिये गये थे। एक गाँव की यह कैफियत थी कि पुलिस के चले जाने के बाद वहाँ गाँव में न एक घड़ा था और न एक रस्सी, जिससे लोग कुएँ से पानी निकाल कर प्यास बुझा सकें। इस तरह की बातें अनेक गाँवों में हुई थीं। हमारी गैरहाजिरी में अनेक जगहों में गोली भी चली थी। दमन बहुत जोरों से चल रहा था। पीछे जब गवर्नमेण्ट ने यह देखा कि केवल जेल जाने से लोग नहीं डरते तो जुर्माना करना शुरू किया। जुर्माने की अच्छी-अच्छी रकमों की वसूली में घर-वालों के साथ ज्यादतियाँ की जातीं, एक के बदले दस का माल बर्बाद किया जाता। हाइकोर्ट में किसी ने अपील कर दी तो एक ऐसा फैसला हो गया कि हिन्दू के संयुक्त परिवार में एक आदमी के कसूर के लिए सारे परिवार का संयुक्त धन नीलाम या जब्त नहीं किया जा सकता। इससे कुछ रुकावट पड़ी, तो भी जुर्माना और चौकीदारी-टिकस न देने के कारण जो लूटपाट होती उससे लोगों में आतंक-सा फैलता दीख पड़ा। किन्तु इतने पर भी आन्दोलन चल ही रहा था, कहीं भी रुका नहीं था।

प्रायः इसी समय पंडित मोतीलालजी रिहा हो गये। उनका स्वास्थ्य बहुत बिगड़ गया था। मैं प्रयाग जाकर उनसे मिला। वह इलाज के लिए कलकत्ता गये। कुछ दिनों तक वहाँ ठहर कर प्रयाग वापस आये। उन्होंने आन्दोलन-संचालन का भार अपने ऊपर ले लिया था, यद्यपि वह अस्वस्थ थे। मैं उनकी आज्ञा के अनुसार काम करता। इस समय काँग्रेस की वर्किंग कमिटी को गवर्नमेण्ट ने गैरकानूनी करार दे दिया था। इसी तरह प्रान्तीय तथा दूसरी बहुतेरी कमिटियाँ भी गैरकानूनी हो गयी थीं। इसलिए वर्किंग कमिटी की बाजाब्ता बैठक गैरकानूनी थी, पर बेजाब्ता तौर पर हम लोग बैठक कर सकते थे। उधर इँगलैंड में गोलमेज-कान्फ्रेन्स का काम प्रायः समाप्त हो चुका था। कुछ काम आगे न बढ़ा। प्रधान मंत्री मैकडोनल्ड ने एक भाषण देकर उसे स्थगित किया——उसमें गोल-गोल बातें थीं! उन लोगों की इच्छा जान पड़ी कि काँग्रेस को कान्फ्रेन्स में शरीक करने का एक और प्रयत्न किया जायगा। इस भाषण के कुछ पहले ही पंडितजी की राय से वर्किंग कमिटी के वे मेम्बर प्रयाग बुलाये गये जो बाहर थे। सबके पास पत्र भेज दिये गये। इसकी सूचना अखबारों में नहीं दी जा सकती थी और दी भी नहीं गयी थी। लाहौर में पुलिस ने एक सदस्य की तलाशी ली। उनके पास वह पत्र मिल गया। यह बात अखबारों में छप गयी। हम लोगों ने देख लिया। तब तक मिस्टर मैकडोनल्ड का भाषण पत्रों में आ गया। हम लोग सोच रहे थे कि यह बैठक यदि हुई तो सब लोग एक साथ ही गिरफ्तार कर लिये जायँगे, जैसा पहले वर्किंग कमिटी के साथ हो चुका था। पंडितजी ने आज्ञा दी कि

अखबारों में छपवा दो कि श्री मैकडोनल्ड के भाषण पर विचार करने के लिए वर्किंग कमिटी की बैठक अमुक तिथि पर प्रयाग में होगी। उधर मालवीयजी भी अस्वस्थ अवस्था में इसी समय छूटे। वह भी निमंत्रित किये गये।

वह दिन आ गया। वर्किंग कमिटी के जो मेम्बर आ सकते थे, प्रयाग में आ गये। हम सब समझते थे कि गैरकानूनी बैठक में सब लोग गिरफ्तार हो जायँगे, पर पंडितजी कहते थे कि जब हम मिस्टर मैकडोनल्ड के भाषण पर विचार करने की घोषणा कर चुके हैं तब वे गिरफ्तार नहीं करेंगे। ऐसा ही हुआ भी। उस दिन तीसरे पहर से रात को देर तक बातचीत होती रही। एक निश्चय तक हम लोग पहुँचे जिसमें हमने मिस्टर मैकडोनल्ड के भाषण को ना-काफी समझा और उसे ना-मंजूर किया। पंडितजी अपनी अस्वस्थता की हालत में भी बराबर काम करते रहे, हम लोगों के हजार कहने पर भी नहीं माना। प्रस्ताव तैयार हो गया। पंडितजी का विचार हुआ कि उसे तुरन्त प्रेस में दे देना चाहिए; क्योंकि ऐसा न करने से लोगों में यह जानकर ढिलाई आ जायगी कि कुछ सुलह होने जा रही है। मैंने कहा कि इसे एक बार और देखकर सवेरे प्रेस में दिया जाय। पंडितजी ने इस बात को मान लिया। वर्किंग कमिटी की खबर इँगलैंड पहुँच गयी थी। वहाँ से श्री श्रीनिवास शास्त्री, सर तेजबहादुर सप्रू और श्री जयकर का तार उसी रात हम लोगों के सो जाने के बाद पंडितजी को मिला, जिसमें उन्होंने लिखा था कि वे हिन्दुस्थान लौट रहे हैं और जब तक उनसे वर्किंग कमिटी की मुलाकात न हो ले तब तक वह कोई आखिरी फैसला न करे। दूसरे दिन सवेरे जब मैं पंडितजी से मिला, उन्होंने तार दिखलाया और कहा कि अब उस प्रस्ताव को अखबारों में मत दो, केवल इतना ही दे दो कि वर्किंग कमिटी तार पहुँचने के पहले ही फैसले पर पहुँच गयी थी, पर तार पाकर उसका प्रकाशन स्थगित रखती है। मैं इस समय प्रयाग में प्रायः बराबर स्वराज्य-भवन में ही रहा करता था।

इन सब बातों का नतीजा यह हुआ कि गवर्नमेण्ट ने वर्किंग कमिटी के सभी मौजूदा और भूतपूर्व मेम्बरों को छोड़ दिया। जब से सत्याग्रह शुरू हुआ था, वर्किंग कमिटी के मेम्बर की गिरफ्तारी पर उसके स्थान में कोई स्थानापन्न मेम्बर बना दिया जाता था। इस तरह आरम्भ के और स्थानापन्न मेम्बरों की संख्या खाली हो गयी थी। सबके सब छोड़े गये। छूटते ही गांधीजी प्रयाग पहुँच गये। सब लोग बुलाये गये। वहाँ बातें शुरू हुईं। पंडितजी का स्वास्थ्य दिन-दिन बिगड़ता गया। जवाहरलालजी इसी कारण मीयाद पूरी होने के पहले ही छोड़ दिये गये थे। जब मैं सोचता हूँ कि उस बीमारी की हालत में भी पंडितजी बराबर काम करते रहे और बार-बार रोकने पर भी नहीं मानते थे—विशेषतः उस रात को जब वर्किंग कमिटी की बैठक देर तक होती रही और प्रस्ताव बनाने-सुधारने में उन्होंने कितना परिश्रम किया—तो मैं यह समझ जाता हूँ कि पंडितजी की बीमारी यद्यपि मामूली बीमारी नहीं थी और उनकी अवस्था भी काफी हो गयी थी तथापि उन्हें यदि इतना अधिक परिश्रम न करना पड़ता तो शायद उनकी बीमारी बढ़ती नहीं तथा देश को उनकी बुद्धिमत्ता एवं

दृढ़ता से और भी कुछ दिनों तक लाभ उठाने का सुअवसर मिलता। उनके इन अन्तिम दिनों में उनके साथ रहने का सौभाग्य मैं अपने लिए बड़े महत्त्व का समझता हूँ। उसी समय उनकी धीरता-गम्भीरता, मेधाशक्ति और देश-प्रेम का पूरा परिचय मुझे मिला। वह एक क्षण भी देश में चलते हुए आन्दोलन, उसकी प्रगति तथा देश के भविष्य की बात छोड़कर कुछ दूसरा सोचते नहीं थे। अपने स्वास्थ्य की कुछ भी परवा न कर देशोद्धार की चिन्ता में लगे रहते।

कलकत्ते के कविराज श्री श्यामादास वाचस्पति आये, परिश्रम करने से मना करते रहे, पर पंडितजी कहाँ माननेवाले थे! अन्त में उनकी हालत खराब हो गयी। एक दिन, चिकित्सा के लिए उनको लखनऊ ले जाने का निश्चय हुआ। पंडित जवाहरलाल आ चुके थे। वह उनको लेकर वहाँ गये। पंडितजी इतने खुश-मिजाज थे कि उस समय भी वह मजाक से नहीं बाज आये। चेहरे पर कुछ सूजन आ गयी थी। जब मैं उनके चलने के समय प्रणाम करने गया तो हँसते हुए उन्होंने वहाँ उपस्थित लोगों से कहा—मेरा चेहरा देखो, मैं Beauty Competition (सौन्दर्य-प्रतियोगिता) में Compete (स्पर्द्धा) करने जा रहा हूँ। सब लोग जबरदस्ती मुस्कराये; पर सबके दिल में आशंका थी कि शायद अब फिर उनके दर्शन न होंगे! वैसा ही हुआ भी। लखनऊ जाते ही उनका शरीरान्त हो गया। मैं अभी उनको लखनऊ के लिए रवाना करके पटने पहुँचा ही था कि यह दुःखद समाचार आ गया। मैं उलटे पाँव फिर प्रयाग गया; पर मेरे पहुँचने के पहले ही उनके शव का दाहकर्म किया जा चुका था।

इस समय पंडितजी की मृत्यु से सारे देश में हाहाकार मच गया, शोक उमड़ आया। देश-भर में न मालूम कितनी शोक-सभाएँ हुईं। प्रयाग की सार्वजनिक शोक-सभा में मैं भी शरीक हुआ और मैंने भी कुछ शब्द कहे थे। पर देश जो क्षति अनुभव कर रहा था वह शब्दों से व्यक्त नहीं की जा सकती थी। उनके अभाव का अनुभव इस कारण और भी खलता और सालता था कि ठीक उसी समय वर्किंग कमिटी के लोग देश की परिस्थिति पर विचार कर रहे थे, गवर्नमेण्ट से कुछ बातचीत चल रही थी या चलनेवाली थी; ऐसे ऐन मौके पर पंडितजी की दूरदर्शिता और नीतिनिपुणता से देश वंचित हो गया।

९२—गांधी-अर्विन-समझौता

विलायत से लौटे हुए गोलमेज-सभा के सदस्यों की मुलाकात वर्किंग कमिटी से हुई। वहाँ का सब हाल उन्होंने बताया। और सब चीजों के अलावा महात्माजी इस पर बहुत जोर दे रहे थे कि गवर्नमेण्ट को इस बात पर राजी होना चाहिए कि आन्दोलन के दबाने में उसके कर्मचारियों ने जो ज्यादतियाँ की हैं उनके सम्बन्ध में एक निष्पक्ष अदालत जाँच करे। पर लार्ड अर्विन इस बात को सुनना भी नहीं चाहते थे। प्रयाग में ऐसा मालूम पड़ा कि बातें आगे बढ़ेंगी ही नहीं, यहीं पर मामला समाप्त हो जायगा।

महात्माजी भी अपनी बात पर डटे रहे। वायसराय से उनकी भेंट की बात चली; पर जब तक गांधीजी अपनी बात पर अड़े रहते, यह होनेवाली न थी। अन्त में एक दिन महात्माजी ने अपनी ओर से वायसराय के पास पत्र लिखा और उनसे मिलने की इच्छा प्रकट करते हुए समय माँगा। इसी से मुलाकात का रास्ता खुल गया। दिल्ली में दोनों की मुलाकात हो गयी। हम लोग वर्किंग कमिटी के मेम्बर भी वहाँ बुलाये गये। मैं भी जाकर डाक्टर अनसारी के मकान पर ठहरा जहाँ दूसरे लोग भी ठहरे थे। महात्माजी की मुलाकात लगभग बीस दिनों तक रोजाना होती रही। कभी-कभी तो महात्माजी दिन-दिन-भर वायसराय के यहाँ रह जाते, कभी-कभी बहुत रात बीतने पर वापस आते। जिस दिन वहीं रह जाते, मीरा बहन उनका भोजन ले जातीं। वहाँ से वापस आने पर महात्माजी हम सबको इकट्ठा करके वहाँ की बातचीत का सारांश कह हम लोगों की राय ले लेते। जिस दिन रात में देर करके आते और हम लोग सो गये रहते, तो भी सब उसी समय फिर उठकर उनसे सभी बातें सुन लेते।

गुजरात में किसानों की बहुत जमीन आन्दोलन में जब्त कर ली गयी थी; सरदार बल्लभभाई पटेल इस पर अड़े थे कि वह सब वापस होनी चाहिए, उधर बम्बई की सरकार इस बात को मानती न थी। अन्त में, इस विषय की जाँच होगी, इसी पर बात तय हुई। नमक के लिए ही सत्याग्रह आरम्भ हुआ था। महात्माजी इस पर बहुत जोर दे रहे थे कि इस सम्बन्ध में गरीबों को काफी सुविधा मिलनी चाहिए। पंडित जवाहरलालजी सारी बातचीत से असन्तुष्ट थे। उनको डर था कि इस प्रकार के समझौते से देश पीछे हट जायगा। औरों का विचार था कि सन्तोषजनक समझौता यदि हो सके तो अच्छा होगा, बुरा नहीं। महात्माजी रोज सवेरे टहलने जाया करते थे, मैं भी साथ जाया करता। एक दिन मैंने कहा कि ऐसा उपाय कीजिए कि समझौता हो जाय, पर समझौता ऐसा हो जिससे हमारी हार न जान पड़े, जीत ही जान पड़े। महात्माजी हँसे और बोले कि समझौते से हार-जीत थोड़े ही मालूम होगी—यदि जीत है तो, चाहे समझौता जो भी हो, जीत है और लोग ऐसा ही अनुभव करेंगे; यदि हार हुई है तो, चाहे ऊपर से हम कुछ भी कहें, हम हारे ही हैं और लोग भी ऐसा ही समझेंगे। अन्त में जो समझौते की शर्तें कलमबन्द की गयीं उन पर कई दिनों तक बहुत छानबीन के साथ विचार होता रहा। महात्माजी को उधर लार्ड अर्विन के साथ उसके प्रत्येक शब्द पर विचार करना पड़ता और इधर हम लोगों के साथ भी।

लार्ड अर्विन और महात्माजी, दोनों ही, बहुत ही सहिष्णुता और धीरज के साथ, समझौते के मसविदे को अन्तिम रूप दे चुके थे। जब हम लोगों से बातें हुईं तो एक वाक्य उसमें ऐसा था कि महात्माजी उसमें असत्य की गंध देखने लगे। लार्ड अर्विन के साथ बातें करने के समय उनको उन शब्दों का वह अर्थ नहीं सूझा था। जब हम लोगों से बातें होने लगीं तो हममें से किसी ने उस वाक्य का यह नया अर्थ लगाकर कुछ चर्चा की। सुनते ही महात्माजी के कान खड़े हो गये। उन्होंने ग़ौर से

फिर पढ़ा और कहा कि यह अर्थ भी हो सकता है; पर यदि यह अर्थ है तो वाक्य असत्य है। इस बीच में लार्ड अर्विन ने विलायत से समझौते की उसी रूप में मंजूरी मँगा ली। जब महात्माजी ने जाकर यह बात उनसे कही तो लार्ड अर्विन भी मुश्किल में पड़ गये। महात्माजी किसी तरह उस रूप में उसको स्वीकार नहीं कर सकते थे; क्योंकि उसमें असत्य की गंध थी। अन्त में लार्ड अर्विन ने उस वाक्य को बदल दिया और महात्माजी ने इस संशोधित रूप में उसे स्वीकार कर लिया। बात तय हो गयी। मैं तो समझौते से खुश था। पंडित जवाहरलालजी को छोड़कर प्रायः सभी सदस्य खुश थे। पंडितजी बहुत दुखी थे। महात्माजी ने उनको बहुत समझाया, पर उनको सन्तोष न हुआ।

अब तक सत्याग्रह स्थगित नहीं किया गया था। समझौते की बातचीत चल रही थी और सत्याग्रह भी जारी था। स्वभावतः बातचीत चलने के कारण सत्याग्रह की प्रगति धीमी पड़ गयी थी; पर इस बीच भी कई स्थानों में गम्भीर घटनाएँ हो गयीं। महात्माजी ने वाइसराय को उनसे अवगत कर दिया। वायसराय ने उनके सम्बन्ध में पूछ-ताछ करने का वचन भी दे दिया। समझौते पर हस्ताक्षर होते ही वर्किंग कमिटी ने सभी सूबों को आदेश दे दिया कि सत्याग्रह स्थगित कर दिया जाय। गवर्नमेण्ट ने भी काँग्रेस-कमिटियों पर से प्रतिबन्ध उठा लिया।

उन्हीं दिनों मेरे छोटे लड़के धन्नू की शादी की बातचीत चल रही थी। उसके लिए दिन भी मुकर्रर हो गया था। भाई ने वह दिन यह सोचकर मुकर्रर किया था कि उसके पहले ही लार्ड अर्विन से होनेवाली बातचीत समाप्त हो जायगी और मैं शादी में शरीक हो सकूँगा। पर बात बढ़ती गयी। ऐसा मालूम होने लगा कि उस दिन तक कुछ तय न हो सकेगा। मैंने खबर दे दी कि यदि बात समाप्त हो जायगी तो मैं आ जाऊँगा, पर यदि न हुई तो मेरे लिए इन्तजार न करके नियत दिन पर शादी कर दी जाय। किन्तु शादी के ठीक दो दिन पहले समझौते पर हस्ताक्षर हो गया। मैं उसी दिन जीरादेई के लिए रवाना हो गया। बरात की रवानगी से करीब पन्द्रह घंटे पहले जीरादेई पहुँच गया। समझौते की शर्तों में सत्याग्रहियों की रिहाई की बात भी थी। इसलिए, मैंने कुछ मित्रों को, जो हजारीबाग-जेल में थे, आमंत्रित कर दिया था; पर कोई पहुँच न सका। मैं किसी तरह बरात में शरीक हो सका।

मेरा विचार है कि लार्ड अर्विन ने समझौता सच्चे दिल से किया। वह चाहते थे कि जो बातें तय पा चुकी हैं वे ठीक-ठीक बर्ती जायँ और पूरी की जायँ। समझौते को सिविल-सर्विस के लोग पसन्द नहीं करते थे। उनके ही बाधा डालने के कारण इसके तय होने में इतना समय लगा था। लार्ड अर्विन ने हिन्दुस्थान में और लेबर गवर्नमेण्ट ने इँगलैंड से इस पर जोर डालकर समझौता कराया। हम आशा करते थे कि एक बार बात तय हो जाने पर सब काम ठीक चलेगा और हम लोग चैन से रचनात्मक काम कर सकेंगे। पर दुर्भाग्यवश लार्ड अर्विन का समय पूरा हो गया था। वह शीघ्र ही, एक-डेढ़ महीने के बाद ही, चले जानेवाले थे। उनकी जगह पर लार्ड

विलिंगडन वायसराय होकर आये। वह बम्बई और मद्रास के गवर्नर रह चुके थे। हिन्दुस्थान से उनका बहुत पहले का परिचय था। सिविल सर्विस की गतिविधि से भी वह खूब परिचित थे। उन्होंने आकर सिविल सर्विस का ही साथ दिया! उनके हिन्दुस्थान पहुँचते ही हवा का रुख बदल गया। चूँकि समझौता हो चुका था, उसे खुलेआम तो वह तोड़ना नहीं चाहते थे; पर उसकी शर्तों के पूरी करने में हर तरह आनाकानी होने लगी।

हम यह मानते हैं कि यह समझौता बड़े महत्त्व का था। पहली बात तो यह थी कि यह पहला ही अवसर था जब ब्रिटिश गवर्नमेण्ट भारतीय जनता की किसी प्रतिनिधि संस्था से बातचीत और समझौता करने पर तैयार हुई थी। दूसरी बात यह थी कि नमक के सम्बन्ध में गरीबों को बहुत-सी सहूलियतें मिल गयीं। तीसरी बात यह थी कि काँग्रेस को गोलमेज-कान्फ्रेन्स में जाकर विधान-रचना में हाथ बँटाना था। विधान में जो संरक्षण और बचाव की शर्तें अँगरेजों के बचाव और संरक्षण के लिए रक्खी जानेवाली थीं वे अब इस दृष्टि से देखी जानेवाली थीं कि वे भारत के लिए भी हितकर हैं या नहीं और वे तभी मानी जानेवाली हों जब जनता के लिए हितकर हों। चौथी बात यह थी कि सारे भारत के लिए एक केन्द्रीय सरकार को काँग्रेस ने स्वीकार कर लिया था, पर प्रान्तों को अपना प्रबन्ध करने की स्वतन्त्रता होनेवाली थी और इस केन्द्रीकरण में देशी रजवाड़े भी शरीक होनेवाले थे। इस तरह कई बातों का चित्र—धुँधला ही सही—सामने आ गया था। इसलिए, मैं तो इसका पक्षपाती था और इससे सन्तुष्ट भी। अफसोस यही रहा कि ब्रिटिश सरकार की ओर से यह भी, पहले की अनेकानेक घोषणाओं और प्रतिज्ञाओं की तरह, पूरा नहीं किया गया!

९३—करांची-काँग्रेस

दिल्ली में समझौता हो जाने के बाद काँग्रेस का अधिवेशन करना पक्का हो गया। यह निश्चय हुआ कि अधिवेशन मार्च के अन्दर ही कराची में होगा। समय बहुत कम था। पर कराची के कार्य्यकर्त्ताओं ने प्रबन्ध करना स्वीकार कर लिया। लाहौर में बहुत सर्दी के कारण निश्चय हुआ था कि अधिवेशन दिसम्बर में न होकर फरवरी या मार्च में हुआ करेगा। इसलिए जो अधिवेशन मामूली तौर पर लाहौर-काँग्रेस तक दिसम्बर में हुआ करता था उसका इस साल मार्च में होना नियमानुकूल ही था। संयोग से समझौता हो जाने के कारण जो अड़चन रास्ते में थी वह भी हट गयी। सरदार बल्लभभाई सभापति चुने गये।

लाहौर-षड्यन्त्र के मुकदमा का जिक्र ऊपर आ चुका है। उसकी सुनवाई बहुत दिनों तक चली। उसका अन्तिम फैसला अब हुआ। सरदार भगतसिंह को, उनके कुछ साथियों के साथ, फाँसी की सजा मिली। दूसरों को लम्बी-लम्बी कैद अथवा कालापानी की सजा मिली। अनशन के कारण श्री यतीन्द्रनाथ दास की मृत्यु से देश में हलचल मच ही गयी थी। अब इस घटना से और भी खलबली मची। विशेषकर

युवक ही इस मुकदमे में अभियुक्त थे। मुकदमे की खबरें बहुत दिनों तक अखबारों में छपती रहीं; क्योंकि मुकदमा बहुत दिनों तक चलता रहा। इससे बहुत लोग इसमें दिलचस्पी लेने लग गये थे। सरदार भगतसिंह ने बड़ी बहादुरी के साथ मुकदमे में भाग लिया था, जिसका असर भी लोगों पर बहुत पड़ा था। इसलिए फाँसी की सजा से सारे देश में रोष छा गया। महात्माजी ने लार्ड अर्विन से कहा कि फाँसी की सजा को बदलकर कैद या कालापानी की सजा कर दें। लार्ड अर्विन के जाने का समय भी बहुत निकट था; वह महात्माजी की बात न मान सके; उन्होंने तो समझौता ही अपने संगी-साथी अफसरों की राय के खिलाफ किया था, अब यह एक और काम उनकी राय के खिलाफ न कर सके। मामला बहुत दिनों तक यों ही टँगा रहा। लोगों को उमीद होने लगी थी कि शायद फाँसी से वे बच जायँ।

अन्त में लार्ड अर्विन ने गांधीजी से अपनी असमर्थता प्रकट की; पर यह कहा कि यदि वह चाहें तो काँग्रेस के बाद तक वह फाँसी रोक देंगे। शायद उनका मतलब था कि फाँसी से क्षुब्ध होकर काँग्रेस शायद समझौते को नामंजूर कर दे अथवा काँग्रेस के समय गांधीजी से काँग्रेस में जानेवाले रुष्ट हो जायँ। वह इसे बचाना चाहते थे। पर गांधीजी ने इसे मंजूर नहीं किया। उन्होंने कह दिया कि फाँसी से उनको रिहा नहीं कर सकते तो अच्छा यही होगा कि जो कुछ करना हो, काँग्रेस के पहले ही कर दिया जाय; क्योंकि ऐसा न करने से देश और काँग्रेस के साथ धोखा होगा। ऐसा ही हुआ। काँग्रेस के ठीक पहले फाँसी हो गयी। यह खबर पत्रों में छपी। उसके साथ यह खबर भी छपी कि शव के साथ भी बे-उनबानी की गयी। इससे लोगों में बहुत क्षोभ पैदा हुआ। युवक लोग गांधीजी से भी असन्तुष्ट हुए। वे लोग यह नहीं समझ सकते थे कि गांधीजी से जो कुछ हो सका, उन्होंने किया और यदि वह सरदार भगतसिंह को न बचा सके तो इसमें उनका दोष नहीं था। कराची के रास्ते में गांधीजी के सामने विरोध प्रदर्शन किया गया। कहीं तो लोग कपड़े के काले फूल, अपना शोक और गुस्सा दिखलाने के लिए, गांधीजी को देने के लिए ले आये। उन्होंने उन फूलों को स्वीकार किया और जरा भी अपनी ओर से क्रोध अथवा घबराहट के चिह्न नहीं दिखलाये।

कराची-काँग्रेस में भी बराबर इसी प्रकार की सनसनी रही। इसका यह अर्थ नहीं था कि लोग गांधीजी के प्रति अनादर का भाव रखते हों। जब सुबह-शाम खुले मैदान में वह प्रार्थना करते, वहाँ जनता की बड़ी भारी भीड़ इकट्ठी हो जाती। उनके दर्शनों के लिए वैसी ही भीड़ हुआ करती जैसी कहीं भी हुआ करती थी। पर लोगों के दिल को जो चोट पहुँची थी उसके प्रदर्शन का यह एक रास्ता मिल गया, जिससे लोग अपनी मनोव्यथा व्यक्त कर सके। इस मनोव्यथा का एक विशेष कारण था। सरदार भगतसिंह और उनके साथियों की बहादुरी के लिए तो दर्द था ही, उनके विरुद्ध यह भी अभियोग था कि उन्होंने उस अँगरेज अफसर को मारा था, जिसके सम्बन्ध में समझा जाता था कि उसी ने साइमन-कमीशन के विरुद्ध प्रदर्शन में लाला

लाजपतराय पर लाठी चलायी थी, जिससे अन्त में उनकी मृत्यु हो गयी थी। जो हो, कराची का अधिवेशन बड़े मार्के का हुआ।

लाहौर में ही निश्चय हुआ था कि जब काँग्रेस फरवरी-मार्च में होगी तो वह संध्या के समय हो सकेगी और इसलिए पंडाल पर छाजन की जरूरत न होगी। इस तरह खुले मैदान में आसमान के नीचे काँग्रेस का यह पहला अधिवेशन था। संध्या से आरम्भ होकर रात को देर तक बैठक होती। दिन में विषय-निर्वाचिनी की बैठक सायेदार पंडाल में होती। इससे पंडाल बनाने का खर्च बच गया, पर उसके बदले में रोशनी का प्रबन्ध काफी करना पड़ा। दृश्य बहुत सुन्दर था। उस समय बिलकुल नया होने के कारण बहुत हृदयग्राही भी था। उत्साह का तो कोई ठिकाना न था। सत्याग्रह के बाद पहला अधिवेशन था। लोग इस बात को नहीं भूल सकते थे कि सत्याग्रह के फल-स्वरूप ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने काँग्रेस के साथ सुलह की है। बहुतेरे ऐसे लोग थे जो सत्याग्रह में कैद हुए थे और उस सुलहनामे के कारण समय से पहले ही छूटे थे। यद्यपि अभी बहुतेरे नहीं छोड़े गये थे और जिनके छूटने के सम्बन्ध में लिखा-पढ़ी चल रही थी अथवा किसी कारण जिनको सरकार सुलहनामे की शर्तों के अन्दर छोड़ने योग्य नहीं समझ रही थी। तो भी समझौते के कारण मुक्त सत्याग्रहियों की खासी संख्या वहाँ पहुँच गयी थी। लाहौर-षड्यन्त्र के अभियुक्तों की फाँसी और सजा का भी असर पड़ा ही था। इन सबका नतीजा वहाँ की बहस और बातचीत में झलक जाता था।

कराची में दो मुख्य प्रस्ताव हुए। एक प्रस्ताव तो समझौता-सम्बन्धी था, जिसमें समझौता मंजूर किया गया। इस पर बहस काफी हुई। समय भी इसमें बहुत लगा। दूसरा प्रस्ताव बड़े महत्त्व का था। उसमें स्वराज्य-प्राप्त भारत के लिए कार्य्य-क्रम का खाका बताया गया था। इसने एक प्रकार से भारतीयों के मौलिक अधिकारों को, जिनमें आर्थिक स्वतन्त्रता की भी कुछ बात आ गयी है, पहले-पहल काँग्रेस के मंच से घोषित किया। नेहरू-रिपोर्ट में कुछ बातें इस प्रकार की थीं; पर जितना स्पष्ट और विस्तृत यह खाका था, विशेषकर आर्थिक विषयों को लेकर, उतना नेहरू-रिपोर्ट में नहीं था। इस प्रस्ताव के श्रीगणेश का श्रेय पंडित जवाहरलाल नेहरू को ही है। महात्माजी ने और सरदार बल्लभभाई ने उनकी ही राय मानकर इसे स्वीकार किया। यह एकबारगी नया विषय था जिस पर बहुत विचार-विमर्श नहीं हुआ था। विषय-निर्वाचिनी के समक्ष भी, जल्दी में और अधिवेशन की समाप्ति के समय ही, पेश हुआ। वहाँ लोगों को इसकी शिकायत हुई कि इतने बड़े निश्चय पर पहुँचने के पहले प्रतिनिधियों को सोचने-विचारने का पूरा समय नहीं दिया गया। इसलिए प्रस्ताव को काँग्रेस ने स्वीकार तो कर लिया; पर उसके साथ एक बात जोड़ दी। वह बात यह थी कि इस प्रस्ताव पर सभी प्रान्तीय कमिटियाँ अपने विचार प्रकट करें और एक उप-समिति उन पर विचार करके अखिल भारतीय कमिटी में उचित संशोधन पेश करे तथा अखिल भारतीय कमिटी इसे उचित संशोधन के साथ अन्तिम स्वीकृति दे।

कराची-काँग्रेस में यह भी तय हुआ कि गवर्नमेण्ट यदि बुलायेगी तो गोलमेज-कान्फ्रेन्स में काँग्रेस के प्रतिनिधि भी शामिल होंगे। उस समय यह नहीं निश्चय हुआ कि कितने प्रतिनिधि होंगे और इस सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट से हमारी क्या माँग होगी। काँग्रेस का पूर्ण-स्वतन्त्रता-सम्बन्धी प्रस्ताव पास हो ही गया था और आगे के लिए विधान कैसा हो, इसका भी थोड़ा स्पष्टीकरण समझौते में तथा कराची के प्रस्तावों द्वारा हो गया था। सोचा गया था कि और जो कुछ होगा उसके मुतल्लिक वर्किंग कमिटी तथा अखिल भारतीय-कमिटी आदेश देगी। बातचीत चलने पर महात्माजी की राय वर्किंग कमिटी में हुई कि अगर जाना पड़ा तो काँग्रेस अपना प्रतिनिधि केवल उनको ही भेजे। वहाँ हाथ गिनकर कुछ होनेवाला नहीं है। यदि वे लोग बात माननेवाले होंगे तो एक आदमी काफी होगा। यदि न माननेवाले होंगे तो भारी भीड़ भी उनको मजबूर न कर सकेगी।

९४—तिरंगे झण्डे का राष्ट्रीय रूप

कराची से लौटने पर मेरा बहुत समय उन सत्याग्रहियों के मुक्त कराने के लिए पत्र-व्यवहार में लगा जो अब तक जेलों में बन्द थे। इसी तरह अपने-अपने सूबे में सभी लोगों को बहुत लिखा-पढ़ी करनी पड़ी। समझौते की शर्तों में हमको तो केवल सत्याग्रह बन्द कर देना था। उसे हमने एक घोषणा निकाल कर और सभी मातहत कमिटियों को आदेश भेजकर पूरा कर दिया। पर सरकार को तो बहुत बातें करनी थीं। लार्ड अर्विन के चले जाने के बाद उसमें बहुत आनाकानी हुई। महात्माजी तथा काँग्रेस के अध्यक्ष सरदार बल्लभभाई पटेल अखिल भारतीय विषयों पर भारत-सरकार के साथ पत्र-व्यवहार करते रहे। स्थानीय प्रश्नों पर प्रान्तीय कमिटी के लोग प्रान्तीय सरकारों से लिखापढ़ी और बातचीत करते रहे। महात्माजी को इस सम्बन्ध में सरकारी कर्मचारियों से भेंट भी करनी पड़ी। मुझे भी अपने सूबे में चीफ सेक्रेटरी मिस्टर हैलेट और प्रान्तीय गवर्नर सर स्टिफेन्सन से भेंट करनी पड़ी थी। बहुत बातों में सफलता भी मिली। पर इसमें इतना समय लगा और इतनी झंझट हुई कि जी ऊब गया। वहाँ हमने समझा कि जिसको हम स्पष्ट और निश्चित समझते थे वह किस तरह अस्पष्ट और अनिश्चित कर दिया जाता था। आज इसके उदाहरण याद नहीं हैं; पर उस समय के समाचार-पत्रों के देखने से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो जायगी। उत्साह की केवल एक ही बात थी; वह यह कि पटना-कैम्प-जेल या दूसरी जेलों से दल के दल बन्दी छूटकर सदाकत-आश्रम में आते और एक रात या कुछ समय ठहरकर भोजन आदि करके नेताओं की जय मनाते हुए अपने-अपने घरों को चले जाते थे। घर जाने का रेलभाड़ा वगैरह तो उन्हें सरकार से मिल जाता था, मगर कुछ मदद प्रान्तीय कोष से भी मुझे देनी पड़ी। स्वराज्य के देशभक्त सैनिकों की यह लहर चित्त के उद्वेग को कुछ-कुछ शान्त करती रही।

कुछ दिनों के बाद बम्बई में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। उस समय एक

महत्त्व का प्रश्न यह भी था कि हिन्दू-मुस्लिम प्रश्न पर काँग्रेस का क्या रुख होगा। कलकत्ता-काँग्रेस के बाद ही बहुतेरे मुसलमान काँग्रेस से अलग हो गये थे। वे मुसलमानों की अलग संस्था कायम करके अपनी माँगें पेश कर रहे थे। मिस्टर जिन्ना की चौदह माँगें मशहूर हो चुकी थीं। गवर्नमेण्ट द्वारा की जानेवाली गोलमेज-कान्फ्रेन्स में शरीक होने के पहले हमें अपने विचार तो साफ कर लेने चाहिए। इस विषय पर उस अधिवेशन में विचार हुआ। मैं बम्बई पहुँचकर बीमार पड़ गया। इसलिए, यद्यपि मैं जिस कमरे में था उसके पास के ही कमरे में बैठक हो रही थी तथापि, मैं शरीक न हो सका। वहाँ पर यह निश्चय किया गया कि काँग्रेस मुसलमानों तथा दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के साथ वैसा ही समझौता कर सकती है जो राष्ट्रीय भावना का विरोधी न हो—हाँ, यदि और सब जातियाँ किसी समझौते को मान लें तो काँग्रेस भी उसे स्वीकार कर लेगी। समझौते के मुख्य सिद्धान्तों की गणना भी संक्षेप में उसमें दे दी गयी थी। इसे वर्किंग कमिटी के मुसलमान मेम्बरों ने स्वीकार ही नहीं किया था। उनके ही जोर से वर्किंग कमिटी ने उसे तैयार किया और माना था। वे चाहते थे कि जब दूसरे लोगों ने बहुत बातें कही हैं तो काँग्रेस को भी अपना विचार स्पष्ट कर देना चाहिए ताकि देश के लोगों को वे बातें मालूम हो जायँ और काँग्रेस-प्रतिनिधि को जहाँ मौका मिले वहाँ उन्हें अधिकार-पूर्वक कह सकें तथा पेश कर सकें।

अखिल भारतीय कमिटी की एक महत्त्वपूर्ण बैठक हुई, जिसमें मौलिक अधिकारों-वाले कराची के प्रस्ताव पर विचार किया गया। सब-कमिटी ने अपना काम पूरा किया था, सभी प्रान्तीय कमिटियों की सम्मति प्राप्त करके अपनी रिपोर्ट तैयार की थी। कोई विशेष महत्त्वपूर्ण संशोधन नहीं हुआ। कुछ मामूली बातें जोड़-घटाकर मौलिक अधिकार उस अधिवेशन में स्वीकृत हो गये।

उस समय एक और झगड़ा चल रहा था। राष्ट्रीय तिरंगा झंडा कभी बाजाब्ता मंजूर नहीं हुआ था; पर १९२१ से ही यह प्रचलित हो गया था। इसमें तीन रंग के कपड़े होते थे। सबसे नीचे लाल, उसके ऊपर हरा और सबके ऊपर सफेद; बीच में चर्खे का चित्र होता। गांधीजी ने और दूसरे लोगों ने तीन रंगों का अर्थ बता दिया था जिसे सब लोगों ने मान लिया था। लाल रंग हिन्दुओं का सूचक था और उनकी संख्या सबसे अधिक होने के कारण सबके आधार-स्वरूप वही सबसे नीचे था। उसके बाद मुसलमानों की संख्या है, इसलिए लाल के ऊपर उसका हरा रंग आता था। सफेद रंग में और सभी लोग सम्मिलित थे; उनकी संख्या हिन्दू और मुसलमान से कम होने के कारण वह सबसे ऊपर रखा गया था। हम अहिंसात्मक तरीकों के द्वारा ही स्वराज्य-प्राप्ति करना चाहते थे, इसलिए बीच में उसका चिह्न चर्खा दिया गया था। इससे सिक्खों को असन्तोष था। वे कहते थे कि उनके लिए एक अलग रंग होना चाहिए और झंडे में उसको भी स्थान मिलना चाहिए। उन लोगों ने भी राष्ट्रीय आन्दोलन में काफी भाग लिया था। एक जीती-जागती अल्पसंख्यक जाति उनकी है। यद्यपि हिन्दू-महासभा उनको भी हिन्दू ही समझती है और ऐतिहासिक विचार से भी

वे हिन्दू-जाति की ही एक उपजाति हैं, तथापि वे अपने को पृथक् करना चाहते थे। इस विषय पर विचार करने के लिए एक सब-कमिटी बनायी गयी। उसने अपनी रिपोर्ट पेश की और झंडे के रूप में परिवर्तन कर दिया। उसी की रिपोर्ट अखिल भारतीय कमिटी ने मंजूर कर ली। झंडा तिरंगा ही था; पर उसके रंगों में और उनके स्थान में परिवर्तन हो गया। लाल रंग उठा दिया गया, उसके स्थान पर सुनहला केसरिया रंग कर दिया गया। सबसे नीचे हरा रंग, उसके बाद सफेद रंग और सबसे ऊपर केसरिया रहा। सफेद कपड़े पर चर्खे का चित्र। सबसे महत्त्व की बात यह हुई कि रंगों में जो जातिगत अर्थ लगा दिया गया था वह हटा दिया गया। अब कोई रंग किसी जाति-विशेष का द्योतक न रहा। इस पर सिख भी राजी हो गये। उनका रंग केसरिया है। यद्यपि वह झंडे की खूबसूरती के लिए लिया गया था तथापि उनके लिए वह सन्तोषप्रद हुआ। देखने में भी नया राष्ट्रीय झंडा अधिक सुन्दर था। इसलिए, इस प्रस्ताव से देश को केवल एक अधिक सुन्दर राष्ट्रीय झंडा ही नहीं मिला; बल्कि रंगों के जाति-विशेष-द्योतक होने से जो एक झगड़ा खड़ा हो गया था वह समाप्त हो गया और सारे देश के सामने काँग्रेस ने बाजाब्ता अपने प्रस्ताव द्वारा झंडा उपस्थित कर दिया।

मैं इस वर्ष बिहार के कई जिलों में दौरे पर गया। लोगों को रचनात्मक काम में लगाने के विचार से ही यह दौरा किया गया था और इसमें कुछ सफलता भी मिली। एक अनुभव यहाँ लिख देना अच्छा मालूम होता है। जब मैं १९२१ में संथाल-परगना में गया था तो वहाँ इतना दमन हुआ था कि मुझे कहीं ठहरने की जगह मिलने में दिक्कत होती थी। वहाँ के पाकुर कस्बे की घटना का जिक्र पहले कर चुका हूँ। इस बार मैं जिले के अंदर दूर-दूर गाँवों तक गया। बड़ा स्वागत-सत्कार हुआ। पाकुर में रात के नव बजे रेल से उतरा। वहाँ स्टेशन पर लोगों ने दीवाली मनायी थी। रोशनी के मारे चारों ओर जगमग हो रहा था। बहुत धूमधाम के साथ शहर तक जलूस निकला। वहाँ के बड़े जमीन्दारों के यहाँ मैं ठहराया गया। मैंने उनकी ही मोटर पर सारे जिले का दौरा किया। उन्होंने कहा भी कि यह १९२१ की कुछ मार्जना है।

९५—गोलमेज-सभा में गांधीजी

गोलमेज-कान्फ्रेन्स के दिन नजदीक आ गये। पर अभी तक समझौते की सभी बातें पूरी नहीं हुई थीं। विशेषकर एक बात थी जिस पर सरदार पटेल का बहुत जोर था। गुजरात के गाँवों में जो जमीन जब्त वा नीलाम कर ली गयी थी उसके सम्बन्ध में अभी तक जाँच का काम आरम्भ नहीं हुआ था। बड़ी कठिनाई सरकार की ओर से पेश की जा रही थी। महात्माजी पत्र-व्यवहार करते-करते ऊब गये थे। इँगलैंड से जोर था कि महात्माजी को जरूर वहाँ किसी न किसी तरह जाना ही चाहिए। महात्माजी को सिमला भी समझौते के सम्बन्ध में जाना पड़ा। मालूम होता

था कि इस बार भी काँग्रेस गोलमेज-कान्फ्रेन्स में शरीक न हो सकेगी। अंत में सभी बातें मान ली गयीं। देर इतनी हो चुकी थी कि यदि महात्माजी उस सप्ताह के जहाज से रवाना न होते तो वहाँ पहुँचने में बहुत देर हो जाती। इसलिए महात्माजी को सिमले से ही सीधे बम्बई जाकर जहाज पकड़ना पड़ा। जहाज को भी उनके लिए कुछ देर तक इन्तजार करना पड़ा था। विशेष प्रबन्ध द्वारा बड़ी मुश्किल से वह सिमले से बम्बई पहुँचाये गये।

गुजरात में जाँच शुरू हुई। सरदार ने मुझे वहाँ बुलवा भेजा। मैं गया। बारदोली में जाँच हो रही थी। श्री भूलाभाई देसाई जनता की ओर से वकालत कर रहे थे। सरकार की ओर से थे उस जिले के सरकारी वकील। मैं भी जाँच-कचहरी में कभी-कभी जाता। कई हफ्तों तक जाँच चलती रही। अंत में कुछ सरकारी कागज पेश करने की बात आयी, जो पेश नहीं किये गये और हाकिम ने भी इसे मान लिया। श्री भूलाभाई ने उसे इनसाफ का खातमा समझा और जाँच में भाग लेने से इनकार कर दिया। इसके बाद एकतरफा सरकार के पक्ष की रिपोर्ट हो गयी। मैं वहाँ गया था इस खयाल से कि सरदार को उनके काम में कुछ मदद दूँ। पर उनको मेरी मदद की जरूरत ही न पड़ी। वहाँ के ही काम करनेवाले काफी रहे। हाँ, काँग्रेस-प्रेसिडेण्ट की हैसियत से उनके पास जो पत्र आते अथवा प्रश्न पूछे जाते उनके सम्बन्ध में बातचीत हुआ करती। मैं प्रायः दो हफ्ते तक रहकर वापस चला आया। वहाँ रहते-रहते मैंने बिहार के पत्रों में कुछ लेख लिखे थे जिनमें गांधीजी की चम्पारन-यात्रा-सम्बन्धी कुछ बातें थीं।

महात्माजी इँगलैंड पहुँचे। पर उनके वहाँ पहुँचते-पहुँचते वहाँ का मंत्रिमंडल बदल गया। अब वेजवुडबेन के स्थान पर सर सेमुयल होर भारत-मंत्री हुए। पर मिस्टर मैकडोनल्ड अपने दल—लेवरपार्टी—के अधिकांश लोगों से अलग होकर प्रधान-मंत्री बने रहे। यद्यपि नाम के लिए तो यह सब दलों का मंत्रिमंडल था तथापि वास्तव में यह कान्सर्वेटिव (अनुदार) दल का ही मंत्रिमंडल बना। इसलिए वहाँ से जो थोड़ी-बहुत उदारता की आशा की जा सकती थी उसका रास्ता भी बन्द हो गया। गांधीजी ने काँग्रेस की माँग पेश की। उनकी बहुत आवभगत और खातिरदारी भी हुई। पर हिन्दुस्तान के लिए कुछ भी संतोषजनक विधान न बन सका। पं० मालवीयजी और श्रीमती सरोजिनी नायडू भी वहाँ आमंत्रित होकर गये थे। काँग्रेस की ओर से केवल महात्माजी ही थे और उसकी ओर से वही बोलते थे। जैसा बराबर होता आया है, दूसरे लोग सरकार के नामज़द थे। चुन-चुनकर ऐसी जमायत जुटायी गयी थी जो कभी एकमत शायद हो ही नहीं सकती थी। महात्माजी ने बहुत प्रयत्न किया कि एक ही काँग्रेसी मुसलमान सही, मगर बुलाया जरूर जाय। पर गवर्नमेण्ट इस पर राज़ी न हुई। शायद दूसरे मुसलमान मेम्बरों ने इसका विरोध किया था। वहाँ इस बात का भी प्रयत्न हुआ कि आपस के झगड़े तय हो जायँ, पर वह न हो सका। वहाँ शायद हो भी नहीं सकता था।

एकता तो हुई नहीं, इसके बदले में अँगरेज, मुसलमान और हरिजनों में एक प्रकार का समझौता हुआ। जब आपस में बातें तय न हो सकीं तो मिस्टर मैक-डोनल्ड ने साम्प्रदायिक मसले पर अपना फैसला दिया जिसके द्वारा मुसलमानों की प्रायः सभी माँगें पूरी कर दी गयीं। इससे हिन्दुओं और सिखों में बड़ा क्षोभ उत्पन्न हुआ। इसमें हरिजनों के लिए भी अलग चुनाव की व्यवस्था थी। महात्माजी ने इसका बहुत विरोध किया था। उन्होंने अपने एक भाषण में यहाँ तक कह दिया था कि हरिजनों के लिए यदि अलग निर्वाचन-क्षेत्र कायम किये गये और उनको सवर्ण हिन्दुओं के चुनने में अथवा सवर्ण हिन्दुओं को उनके चुनने में भाग लेने का अधिकार न मिला, तो इस प्रकार की अलग निर्वाचन-विधि का वह तीव्र विरोध करेंगे तथा अपनी जान तक दे देने के लिए तैयार रहेंगे। ब्रिटिश सरकार को कुछ करना तो था नहीं, इस-लिए आपस की फूट को बहाना बना लिया। यहाँ के जो लोग गये थे, इस बात को समझ गये। उन्होंने आपस में राय करके आगाखाँ को अपना नेता बनाकर एक संयुक्त विधान तैयार कर पेश किया। पर उनकी भी एक न सुनी गयी। तब, जैसा ब्रिटिश चाहते थे वैसे ही विधान की योजना बनाने का उन्होंने आपस में निश्चय कर लिया।

यहाँ हिन्दुस्थान में भी हालत दिन-दिन बदलती-बिगड़ती जा रही थी। हम समझ गये कि गवर्नमेण्ट कोई न कोई बहाना खोज रही है जिसकी आड़ में समझौते को खतम करके वह काँग्रेस से बदला लेना चाहती है। सिविल-सर्विसवालों की राय तो ऐसी बराबर से ही थी। लार्ड विलिंगडन की भी यही राय थी। इसलिए अब किसी उपयुक्त अवसर का ही इन्तजार था। प्रायः दो बरसों से सभी चीजों का दाम घटता गया था—विशेषकर गल्ले का। इस वजह से किसानों को रुपये मिलने में बहुत कठिनाई हो रही थी। वे लगान अदा नहीं कर सकते थे, क्योंकि इतना पैदा ही नहीं होता था जिसे बेचकर वे लगान अदा कर सकते और अपना दूसरा जरूरी काम कर सकते। खासकर युक्तप्रान्त की परिस्थिति बहुत नाजुक हो चली थी। १९३० के सत्याग्रह के समय से ही किसानों की हालत खराब हो रही थी और वहाँ बहुतेरे किसान काँग्रेस से आशा रखते थे कि उनको सहूलियत दिलवाने में काँग्रेस समर्थ होगी। कहीं-कहीं, विशेषकर इलाहाबाद-जिले में, लगानबन्दी का आन्दोलन भी चला था। सुलहनामे के बाद अब लगानबन्दी को रोकना था; क्योंकि हमें हर प्रकार के सत्याग्रह को रोक देना था। पर वहाँ की स्थिति राजनीतिक ही नहीं थी, किसानों की आर्थिक स्थिति इतनी खराब थी कि वे यदि लगान अदा करना चाहते भी तो कर नहीं सकते थे। काँग्रेस सत्याग्रह तो बन्द कर देती, पर उनकी इस आर्थिक असमर्थता को दूर करके उनसे लगान दिलवा देना उसके या किसी के बूते की बात नहीं थी। यदि वह लगान देने को न कहे तो समझा जाता कि समझौते को वह पूरा नहीं कर रही है। इसलिए वहाँ आवश्यक हो गया कि राजनीतिक और आर्थिक परिस्थिति को बिलगाकर, लगानबन्दी का आन्दोलन—जो सत्याग्रह का अंग था—न चलाकर, किसानों की आर्थिक स्थिति के अनुसार, उनके लिए सहूलियत प्राप्त करने का

प्रयत्न किया जाय। ऐसा ही किया गया, पर गवर्नमेण्ट कब इस बात को माननेवाली थी!

उधर जमीन्दार भी अपनी रकम वसूल किये बिना सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। गवर्नमेण्ट ने लगान में कुछ माफी दी, पर वह इतनी कम थी कि उससे बहुत सहूलियत नहीं मिली। इसके अलावा किसानों ने जो थोड़ा-बहुत अदाकारी का प्रयत्न किया और कुछ दिया, उसका असर उनके लिए अच्छा न हुआ; क्योंकि जो बाकी रह गया उसी के लिए उनके खेत की जब्ती हो गयी और अपनी जमीन से वंचित कर दिये गये। पहले का बकाया ज्यों का त्यों पड़ा ही रहा। इस बात की बहुत कोशिश की गयी कि कुछ और माफी कराकर, लगान घटाकर, उनकी मदद हो। पर पहले तो गवर्नमेण्ट कुछ करने पर राजी नहीं होती और अगर राजी भी होती तो वह इतना कम होता कि उससे किसानों के लिए कोई सुविधा नहीं मिलती। पंडित जवाहरलाल, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन और उस समय के प्रान्तीय कार्यों के अधिकारी सभापति स्वर्गीय श्री तसद्दुक अहमद शेरवानी ने बहुत प्रयत्न किया कि कुछ हो जाय, पर वे नाकामयाब रहे। कामयाब हों तो कैसे हों? गवर्नमेण्ट कुछ और ही सोच रही थी। वह अगर कुछ करना भी चाहती थी तो उसे काँग्रेस के आग्रह से नहीं करना था; क्योंकि ऐसा होने से काँग्रेस का प्रभाव किसानों में बढ़ जाता। इसलिए हर तरह से हारकर वहाँ की प्रान्तीय कमिटी ने निश्चय किया कि वह किसानों को परामर्श दे कि वे अपनी असमर्थता के कारण लगान न दें। यह एक प्रकार से लगानबन्दी का आन्दोलन समझ लिया गया। अखिल भारतीय वर्किंग कमिटी की अनुमति के बिना वह ऐसा नहीं कर सकती थी। इसलिए उसने अनुमति माँगी।

उधर बंगाल में भी विकट परिस्थिति हो गयी। वहाँ की प्रान्तीय गवर्नमेण्ट हमेशा क्रान्तिकारी दल से आतंकित रहा करती थी और यों ही बहुतेरे युवकों को जेलों में बन्द रखती आ रही थी। गांधी-अर्विन-समझौते में सत्याग्रही बन्दियों के छूटने की ही बात हुई थी और उनके ही छूटने में बहुत कठिनाई पड़ रही थी। गवर्नमेण्ट की ओर से तरह-तरह के बहाने निकाले जा रहे थे। क्रान्तिकारी लोगों का तो कहना ही क्या था। इससे वहाँ लोग बहुत क्षुब्ध थे। इसी बीच में हिजली-कैम्प-जेल में, जहाँ क्रान्तिकारी नजरबन्द और कैदी थे, एक घटना भी हो गयी, जिसमें जेल के अन्दर गोली चली और कुछ बन्दी घायल हुए और शायद एकाध मारे भी गये। इससे और भी खलबली मची। चटगाँव में किसी पुलिस-कर्मचारी को एक क्रान्तिकारी ने मार डाला। इसमें कोई हिन्दू-मुस्लिम बात नहीं थी; क्योंकि क्रान्तिकारियों ने कितने ही हिन्दू-पुलिस-अफसरों को भी मार डाला है। वे किसी भी सरकारी कर्मचारी को उसकी जाति अथवा धर्म के कारण नहीं मारते, बल्कि जिसको देश-द्रोही समझते हैं उसी को मारते हैं, चाहे वह किसी भी जाति व धर्म का हो। पर वहाँ उसको हिन्दू-मुस्लिम झगड़े का रूप दे दिया गया और वहाँ के हिन्दुओं के साथ बहुत ज्यादतियाँ की गयीं जिनमें अँगरेजों और अर्ध-गोरों का भी पूरा हाथ था।

इन सब बातों से बंगाल में बड़ी खलबली थी। गवर्नमेण्ट भी नये आर्डिनेन्स निकालने में हिचक रही थी। बंगाल-प्रान्तीय राजनीतिक सम्मेलन, ब्रह्मपुर (मुर्शिदाबाद) में, वयोवृद्ध प्रसिद्ध काँग्रेसी नेता श्री हरदयाल नाग के सभापतित्व में हुआ। सरदार पटेल ने श्री अणे और मुझको काँग्रेस की ओर से वहाँ भेजा। हम लोगों ने सम्मेलन में शिरकत की और मैंने बंगाल में भाषण भी किया। इसी प्रकार सीमाप्रान्त की हालत भी कुछ अच्छी नहीं थी। वहाँ भी दमन चल रहा था। इस तरह जैसे-जैसे गोलमेज-कान्फ्रेंस का काम समाप्त होने पर आ रहा था वैसे-वैसे यहाँ की परिस्थिति और भी कठिन होती जा रही थी। हम समझ रहे थे कि अब मामला फिर बिखरेगा और झगड़ा फिर होगा।

जब वर्किंग कमिटी के सामने युक्तप्रान्त की दर्खास्त पर विचार होने लगा तो हम लोगों ने अपनी बड़ी जवाबदेही महसूस की। अभी तक गांधीजी लौटे नहीं थे। उनकी गैरहाजिरी में लगानबन्दी आरम्भ करना हमारे लिए कहाँ तक उचित होगा और यदि उचित भी हो तो हम कहाँ तक उसे चला सकेंगे---इत्यादि, हर पहलू से कई दिनों तक हम लोग विचार करते रहे। मेरे मन में सन्देह था कि वहाँ की जनता उस दमन को बर्दाश्त कर सकेगी वा नहीं जो लगानबन्दी के कारण अवश्य होगा। बिहार में चौकीदारी-टिकस एक मामूली टिकस है, जो किसी पर भी १२) सालाना से अधिक नहीं हो सकता है तथा मामूली तरह से गरीबों पर छः या बारह आना सालाना होता है---मामूली किसानों पर एक-डेढ़ रुपया अथवा इससे कुछ ज्यादा, हैसियत के मुताबिक, हुआ करता है। इसके बन्द करने पर जितनी ज्यादतियाँ हुई थीं, मैंने अपनी आँखों गाँवों में जा-जाकर देखी थीं। अभी एक बरस भी नहीं बीता था कि यह सब देखने को मिला था। इससे मैं बहुत डरता था कि लगान बन्द करने की बात बड़ी गंभीर हुआ करती है। जमीन्दार का लगान बन्द होने से वह सरकारी मालगुजारी नहीं दे सकेगा। इसलिए सरकारी आमदनी का एक बहुत बड़ा अंश रुक जायगा और सरकार को भी अपना काम चलाने में अड़चन पड़ेगी। इसलिए इसके बन्द किये जाने पर सरकार की ओर से भी बड़ी सख्ती होगी। मैंने इन्हीं कारणों से बार-बार इस बात को पूछा कि जनता कहाँ तक दमन बर्दाश्त करने के लिए तैयार होगी। इसका कोई उत्तर निश्चयात्मक रूप से तो दिया नहीं जा सकता था; पर वहाँ के भाइयों ने इस बात का आश्वासन दिया कि जनता बहुत हद तक मुसीबत बर्दाश्त करने के लिए तैयार है।

सरदार पटेल का विचार था कि जब वहाँ की प्रान्तीय कमिटी और प्रमुख लोग वहाँ की परिस्थिति ऐसी समझते हैं कि इसके सिवा दूसरा कोई चारा नहीं, और इसके कारण जो दमन होगा उसे भी बर्दाश्त करने के लिए जनता को तैयार मानते हैं, तो हम लोग अखिल भारतीय वर्किंग कमिटी के मेम्बर किस तरह अनुमति देने में आनाकानी कर सकते हैं। अंत में बहुत सोच-विचार कर, बहुत प्रतिबन्धों के साथ, अनुमति दी गयी। वह भी, अभी तुरंत लगानबन्दी करने की नहीं, तैयारी करने की।

सरकार तो इसी की ताक में बैठी थी। उसने तुरंत ही कार्रवाई शुरू कर दी। असल बात तो यह थी कि गल्ले की कीमत इतनी गिर गयी थी कि लगान अदा करना ही असंभव था। इस बात को कुछ दिनों के बाद वहाँ के गवर्नर हेली साहब ने खुले तौर पर स्वीकार भी किया। उन्होंने यहाँ तक कह डाला कि जब तक इस विषम लगान-कानून का मौलिक सुधार न होगा, समाज का सारा संगठन डावाँडोल रहेगा। पर उस समय काँग्रेस को दबाना ही मंजूर था; दूसरी कार्रवाई शुरू कर दी गयी।

९६—सरकार का भयंकर दमन-चक्र

गोलमेज-कान्फ्रेन्स का काम समाप्त होते ही गांधीजी निराश होकर, हिन्दुस्थान के लिए रवाना हो गये। उनके भारत पहुँचने के दिन बम्बई में वर्किंग कमिटी की बैठक रखी गयी। सब लोग अपने-अपने सूबे से बम्बई के लिए रवाना हुए। बंगाल में दमन-चक्र चल ही रहा था। इसी बीच सीमा-प्रान्त में भी खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ, डाक्टर खाँ साहब और दूसरे नेता एकाएक गिरफ्तार कर लिये गये। वे अपने सूबे से बाहर नजरबन्द करके जहाँ-तहाँ भेज दिये गये। युक्तप्रान्त में श्री पुरुषोतम-दास टंडन और शेरवानी साहब भी गिरफ्तार हो गये। हम जिस गाड़ी से जा रहे थे उसी से पंडित जवाहरलालजी भी बम्बई जा रहे थे। डाकगाड़ी, प्रयाग से थोड़ी ही दूर पर, एक छोटे स्टेशन पर ठहर गयी। वहाँ पहले से मोटर लेकर पुलिसवाले पहुँचे थे। पंडितजी वहीं गिरफ्तार कर लिये गये। हम लोग सीधे बम्बई चले गये।

बम्बई में महात्माजी के स्वागत की बड़ी तैयारी थी। जिन रास्तों से उनको जाना था उनके सब मकान जन-समूह से खचाखच भरे थे। सड़कें भी लोगों से भरी थीं। इस तरह की भीड़ शायद ही किसी दूसरे अवसर पर किसी को देखने के लिए इकट्ठी हुई हो। निश्चित स्थान पर पहुँचते ही गांधीजी से सभी बातें कही गयीं। वह भी समझ गये कि गवर्नमेण्ट अब दमन खुले तौर पर करना चाहती है। वर्किंग कमिटी की बाजाब्ता बैठक हुई। तत्कालीन परिस्थिति-सम्बन्धी एक लम्बा प्रस्ताव स्वीकार किया गया। गांधीजी ने वायसराय को तार दिया जिसमें प्रस्ताव का सारांश बताया और उनसे मुलाकात की अनुमति माँगी। यह सब हो जाने पर हम सब अपने-अपने स्थान के लिए रवाना हुए।

जब मैं रवाना होते समय महात्माजी से अन्तिम बिदाई लेने गया तो देखा कि मिस्टर बेन्थल उनसे बातें कर रहे हैं। वह भी गोलमेज-कान्फ्रेन्स में हिन्दुस्थान के अँगरेजों के प्रतिनिधि होकर गये थे। वहाँ पर उन्होंने मुसलमानों और अँगरेजों का गठबन्धन कराने की बहुत-सी कार्रवाइयाँ की थीं। हम लोग तो समझ गये थे कि अब कुछ होनेवाला नहीं है—बहुत शीघ्र दमन होगा और काँग्रेस को मजबूर होकर फिर सत्याग्रह करना पड़ेगा। हम लोगों में से किसी की इच्छा नहीं थी कि

सत्याग्रह आरम्भ किया जाय—न इसके लिए तैयारी थी और न मानसिक तत्परता ही। हाँ, हमारे मान्य साथियों को गवर्नमेण्ट ने अकारण गिरफ्तार कर लिया था; उनके सम्बन्ध में पहले वायसराय से बातचीत करना जरूरी था। और, जब ऐसी ही मजबूरी हो तो कुछ करना भी लाजिम था। पर गांधीजी के हिन्दुस्थान लौटने के पहले से ही यहाँ की गवर्नमेण्ट ने सब तैयारियाँ कर ली थीं। उसकी ओर से वार भी हो चुका था। उसकी तैयारियों की कुछ खबर हम लोगों को पहले से ही इधर-उधर से मिल गयी थी। यहाँ तक कि डाक्टर अनसारी को इसका भी पता चल गया था कि किस प्रकार के आर्डिनेन्स जारी किये जायँगे। उन्होंने ये बातें आपस के लोगों को बता दी थीं। अब तो बात और स्पष्ट हो गयी थी।

बम्बई से चलकर मैंने सोचा कि अब तो बिहार में भी दमन होगा ही, इसलिए अपने लोगों से एक बार मिल लेना अच्छा होगा। इटारसी जंकशन से मैंने कई तार भेजे, जिनमें बिहार-प्रान्तीय वर्किंग कमिटी की बैठक पटने में करने की बात के अलावा उसके मेम्बरों के लिए निमंत्रण भी थे। जब दूसरे दिन सवेरे पटने पहुँचा तो मालूम हुआ कि वहाँ तार पहुँचा ही नहीं है! तारों को गवर्नमेण्ट ने रोक लिया था! तब भी कुछ लोग पटने में पहुँच ही गये। वहाँ वर्किंग कमिटी की बैठक भी हमने कर ली। उसी रात को महात्माजी की गिरफ्तारी हो गयी थी। उनके साथ सरदार बल्लभ-भाई तथा दूसरे कई प्रमुख काँग्रेसी नेता गिरफ्तार कर लिये गये थे। यह सब हम अखबारों में देख चुके थे और समझ गये थे कि अब हम लोगों की गिरफ्तारी भी शीघ्र ही हो जायगी। इसलिए पटने में पहुँचते ही हमने वर्किंग कमिटी का काम कर लिया। सब लोगों के लिए आदेश तैयार करके उसे छपवाने का भी प्रबन्ध कर दिया। यह सब काम पूरा करके हम जब तक तैयार हुए तब तक पुलिस के आने की सूचना मिली। वह अभी सदाकत-आश्रम तक पहुँची नहीं थी, पर आ ही रही थी। हम भी गिरफ्तार होने का इन्तजार करने लगे। श्री रामदयालु बाबू, प्रोफेसर अब्दुल बारी तथा दो-एक और सदस्य काम खतम करके चले जा चुके थे। तिरहुत के कुछ सदस्य दोपहर के स्टीमर से दीघाघाट तक आये थे, मगर जेल से बाहर रहकर काँग्रेस का काम करते रहने के खयाल से उधर ही रह गये।

पुलिस सुपरिण्टेण्डेण्ट कई सशस्त्र सिपाहियों के साथ आ धमके! आश्रम को उन्होंने घेर लिया। हम दो-चार आदमी जो बैठे थे उनसे वे पूछने लगे कि क्या हम वर्किंग कमिटी की बैठक कर रहे हैं। हमने स्पष्ट कह दिया कि वह काम पूरा हो चुका और बहुतेरे सदस्य जहाँ-तहाँ चले गये। उन्होंने सरकारी विज्ञप्ति दिखलाई, जिसके द्वारा काँग्रेस-कमिटी और उसकी सभी शाखाएँ गैर कानूनी करार दी गयी थीं। पुलिस ने पहले तो टेलीफोन अपने कब्जे में किया। फिर राष्ट्रीय झण्डे के स्थान पर अपना—ब्रिटिश सरकार का—झण्डा लगा दिया। तब वहाँ की तलाशी शुरू की। तलाशी में कोई खास चीज तो मिली नहीं, पर उसमें कई घंटे लग गये। हम सब गिरफ्तार कर लिये गये; पर अभी वहीं रहे। प्रायः दिन के एक-दो बजे से रात

के आठ बजे तक हम सब वहीं रहे। आश्रम और विद्यापीठ की सभी इमारतें जब्त कर ली गयीं। विद्यापीठ के जितने विद्यार्थी और शिक्षक वहाँ थे, सबको चले जाने की आज्ञा हुई। सर्वश्री व्रजकिशोरप्रसाद, मथुराप्रसाद, कृष्णवल्लभ सहाय, जगतनारायण बी० एस-सी० और मैं तथा प्रजापति मिश्र भी गिरफ्तार कर लिये गये। रात में नव बजे हम लोग बाँकीपुर-जेल पहुँचाये गये। पुलिस की लारी में अपना सामान लेकर हम सब सवार हुए। पुलिस-सुपरिण्टेण्डेण्ट भी साथ ही जेल में पहुँचे। अपना-अपना बिस्तर, बक्स वगैरह सब सामान हम लोगों को स्वयं उतारना और ढोना पड़ा। सुपरिण्टेण्डेण्ट की यही आज्ञा थी !

रात को एक गन्दे 'वार्ड' में, जो खाली रखा गया था, हम लोग बन्द कर दिये गये। बिछाने को कुछ कम्बल मिले। खाने के लिए बाजार से पूरी मँगा दी गयी। वहाँ पेशाब की इतनी बदबू थी कि हम रात-भर चैन से सो न सके। बाजार की पूरी भी कुछ वैसी ही थी जो रुचि से खाते न बनी। दूसरे दिन सवेरे अँगरेज सिविल सर्जन, जो जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट थे, आये। उन्होंने कहा कि यदि हम चाहें तो अपना भोजन बाहर से मँगवा सकते हैं। हम लोगों ने कह दिया कि जो कुछ जेल से मिलेगा वही हम लोग खायँगे। वही लोहे का तसला और वही खाना मिला जो सब कैदियों को मिलता है। हम लोगों ने उसे ही खाया। दो दिनों के बाद गवर्नमेण्ट का हुक्म आया कि हम लोग 'अपर डिवीजन' (ऊँचे दर्जे) के कैदी समझे जायँ। तब से कुछ अलग खाना मिलने लगा। दूसरे दिन से ही हम एक दूसरे वार्ड में ले जाकर रखे गये। जेल में ही हम लोगों पर मुकदमा चलाया गया। व्रजकिशोर बाबू को ५ महीने और बाकी सबको छः महीनों की सजा मिली। चन्द दिनों के बाद हम सब हजारीबाग-जेल भेज दिये गये। वहीं हमने अपनी मीयाद पूरी की।

हम लोग तो गिरफ्तार हो गये, इसलिए बाहर के आन्दोलन में कुछ भी भाग न ले सके; पर बाहर के लोगों ने बहुत काम किया। लार्ड विलिंगडन ने डींग मारी कि दो सप्ताहों में वह सारा मामला ख़तम कर देंगे, पर यह आन्दोलन भी प्रायः दो बरसों तक चलता रहा। उस समय तो लोगों में बहुत ही उत्साह था। न मालूम कहाँ से नये नेता निकल आये, जिन्होंने अपने-अपने ढंग के कार्यक्रम भी बना लिये और कानून-भंग का काम जोरों से चलने लगा। कानून तोड़ने में विशेष कठिनाई भी न थी। सरकार की ओर सभी जगहों में सभा, जलूस इत्यादि की मनाही थी। इस हुक्म का विरोध होने लगा, सभाएँ होने लगीं, जलूस निकलने लगे। सभाओं और जलूसों पर लाठियाँ चलतीं—कहीं-कहीं गोलियाँ भी चलतीं; पर वे होते ही रहे। सभी काँग्रेस-कमिटियों के मकानों और आश्रमों को सरकार ने जब्त कर लिया था। उन पर लोग धावा करते, और जैसे बीहपुर (भागलपुर) के आश्रम पर पिछले सत्याग्रह में बराबर धावे होते ही रहे वैसे ही अनेक आश्रमों पर धावे होने लगे। सदाकत-आश्रम पर भी रोज-रोज धावे होते रहे और लोग गिरफ्तार भी होते रहे। यहाँ के झंडे

पर खास हमला होता रहता। 'यूनियन जैक' लगे हुए लग्गे को लोगों ने आखिर झुका कर ही छोड़ा।

यह वार गवर्नमेण्ट ने ४ जनवरी को आरम्भ किया था। थोड़े ही दिनों बाद २६ जनवरी को स्वतन्त्रता-दिवस मनाने का निश्चय लोगों ने कर लिया। उस दिन कई जगहों में गोलियाँ चलीं। मोतीहारी में वहाँ की जिला-कमिटी के मकान के सामने-वाले मैदान में बड़ी सभा हुई, जिसमें गाँवों से भी बहुत लोग आये थे। वहाँ पर गोली चली और कई आदमी मारे गये, पर लोग हटे नहीं। आज भी उस स्थान पर शहीदों के नाम पर चबूतरा बना हुआ है। अन्त में गोली चलाना बन्द कर जब पुलिसवाले चले गये, तब भी जनता वहाँ डटी रही। रात को वहीं रहकर लोगों ने उसी स्थान पर लिट्टी लगाकर खाया। दूसरे दिन जहाँ-तहाँ गाँववाले चले गये। मुँगेर-जिले के तारापुर और बेगूसराय में भी बहुत लोग गोलियों के शिकार हुए। एक विद्यार्थी ने गोली खाकर मरते दम ये शब्द कहे—"मैं स्वराज्य के लिए मर रहा हूँ, लोकमान्य तिलक के निकट पहुँचकर सन्देश कहूँगा।" इस तरह की बहादुरी अनेकानेक जगहों के लोगों ने बिहार में दिखलायीं। फिर १९३० की तरह सूबे भर के सभी जेलखाने भर गये और पटना-कैम्पजेल भी। १९३० से इस बार यही फर्क था कि जेलों में अधिक सख्ती हो गयी। 'अपर डिवीजन' में बहुत थोड़े लोग रखे गये। बिहार में ऐसे लोग यों तो पहले भी कम ही थे; पर इस बार उनकी संख्या और भी कम हो गयी। गवर्नमेण्ट जितनी जल्दी और तेजी से आन्दोलन बन्द करना चाहती थी, न कर सकी, वह चलता ही रहा। हम लोग हजारीबाग में उसी तरह दिन बिताने लगे। नयी बात यह हुई कि इस बार हम लोगों को कारखाने में जाने की इजाजत नहीं मिली; क्योंकि समझा जाता था कि वहाँ मामूली कैदियों से हमारी मुलाकात होगी और हम उनको बिगाड़ या बहका देंगे। इसलिए हम इस बार उस तरह का कुछ काम नहीं कर सके; पर सूत अधिक काता गया। धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी खूब हुआ—कुरान-शरीफ, बौद्धधर्म के ग्रन्थ, बायबिल आदि भी पढ़े गये।

इस बार की जेल-यात्रा में एक अद्भुत घटना हुई। श्री महामायाप्रसाद एक बहुत स्वस्थ युवक थे। वह बहुत कसरत वगैरह किया करते थे। हम लोगों के भोजन की देख-रेख उन्हीं के जिम्मे थी। एक दिन एप्रिल में, जब गर्मी काफी हो गयी थी, वह चौके से दोपहर को आये। तबीयत कुछ सुस्त हो गयी थी। सबने समझा कि कोई मामूली-सी बात होगी। दूसरे दिन से आहिस्ता-आहिस्ता उनकी बोली बन्द होने लगी। दिन में वह इस तरह बन्द हो गयी कि अ-आ ऊँ-ऊँ भी नहीं कर सकते थे! जो कुछ कहना होता, लिखकर बताते। बातें सुनते-समझते थे, पर बोल नहीं सकते थे। वहाँ के डाक्टरों और सिविल सर्जन ने देख-भाल की, पर कुछ कर न सके। उनकी मीयाद भी पूरी हो चली थी। इसलिए वह छोड़ दिये गये। कलकत्ते में वह इलाज कराने गये। वहाँ के डाक्टरों और वैद्यों की हजार कोशिश के बाद भी उनकी आवाज न खुली। सभी लोग कहते थे कि आवाज की नली में कोई कसर नहीं है, पर

तो भी आवाज निकलती नहीं। यही कैफियत प्रायः दो बरसों तक रही। जब १९३४ में डाक्टर अनसारी योरप गये, वह भी उनके साथ गये। वहाँ वियना (आस्ट्रिया) में एक विशेषज्ञ ने इलाज किया, जिससे एक-दो हफ्तों के अन्दर ही आवाज कुछ-कुछ निकलने लगी। कुछ दिनों बाद पूरा स्वस्थ होकर वह स्वदेश वापस आ गये। अब उनकी आवाज पूर्ववत् हो गयी है। बड़ी-बड़ी सभाओं में भी वह भाषण करते हैं और उनकी आवाज सब लोगों तक पहुँच जाती है।

इस प्रकार सब तरफ कानून-भंग चल ही रहा था कि एक विचित्र बात काँग्रेस के अधिवेशन के सम्बन्ध में हुई। ऊपर कह चुका हूँ कि इस बार सरकार ने गिरफ्तारियाँ ४ जनवरी को ही आरम्भ कर दी थीं। काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मार्च में होनेवाला था। उत्कल (उड़ीसा) के लोगों ने काँग्रेस को आमंत्रित किया था। वे तैयारियाँ भी कर रहे थे। जब एकाएक वार शुरू हो गया तो वहाँ के लोग भी गिरफ्तार हो गये। बिहार और उड़ीसा एक ही (सम्मिलित) प्रान्त थे। इसलिए वहाँ के भी प्रमुख काँग्रेसी लोग, जो अपर-डिवीजन में थे, हजारीबाग ही आ गये और हम सब साथ ही थे। उड़ीसा में अधिवेशन होने की बात तो अब थी नहीं; पर जो लोग बाहर थे उन्होंने सोचा कि अधिवेशन मार्च में कहीं न कहीं अवश्य होना चाहिए। गवर्नमेण्ट तुली हुई थी कि अधिवेशन वह किसी तरह न होने देगी। लोगों ने निश्चय किया कि अधिवेशन दिल्ली में होगा। उसके लिए दिन भी नियत करके घोषित कर दिया गया। पंडित मदनमोहन मालवीयजी का सभापतित्व भी घोषित हो गया। बहुतेरे लोग भिन्न-भिन्न सूबों से, किसी न किसी तरह, नियत दिन के पहले ही, दिल्ली पहुँचकर जहाँ-तहाँ ठहर गये। लोगों ने इस बात की भी घोषणा कर दी कि नियत तिथि पर, १० बजे दिन को, घंटाघर के सामने, चाँदनी चौक में अधिवेशन होगा। मालवीयजी दिल्ली के लिए रवाना हुए। वह सीधे रेल से दिल्ली तक नहीं गये, कहीं रास्ते से मोटर पर हो लिये। गाजियाबाद और दिल्ली के बीच में वह गिरफ्तार कर लिये गये। इसकी भी सूचना लोगों को मिल गयी। ठीक अधिवेशन के दिन भीतर-भीतर यह खबर उड़ा दी गयी कि चाँदनी चौक में अधिवेशन न होकर कहीं नयी दिल्ली में होगा। यह खबर इस तरह फैलायी गयी कि पुलिस को इसी पर विश्वास हो गया। इसलिए उस दिन पुलिस की तैयारी चाँदनी चौक में न होकर उस दूसरे स्थान में रही। ठीक समय पर बाहर से आये हुए प्रतिनिधि, जो घंटाघर के पास की गलियों में जहाँ-तहाँ थे, चारों ओर से निकल आये। वे घंटाघर के सामने बीच सड़क पर ही जमा हो गये। काँग्रेस के नियमानुसार मनोनीत सभापति की गैरहाजिरी में अहमदाबाद के एक मिल-मालिक सेठ रणछोड़दास सभापति चुने गये। उनका छोटा-सा भाषण हुआ। एक समयानुकूल प्रस्ताव बाजाब्ता पेश हुआ और सबने मंजूर किया। यह हो ही रहा था कि पुलिस को इसकी खबर मिल गयी। घुड़सवार और दूसरे जत्थे, जो लारियों पर सवार थे, वहाँ पहुँच गये और उपस्थित लोगों को लाठियों द्वारा तितर-बितर कर दिया। पर इसके पहले ही सारी कार्रवाई खतम हो चुकी थी। यह खबर

पर खास हमला होता रहता। 'युनियन जैक' लगे हुए लग्गे को लोगों ने आखिर झुका कर ही छोड़ा।

यह वार गवर्नमेण्ट ने ४ जनवरी को आरम्भ किया था। थोड़े ही दिनों बाद २६ जनवरी को स्वतन्त्रता-दिवस मनाने का निश्चय लोगों ने कर लिया। उस दिन कई जगहों में गोलियाँ चलीं। मोतीहारी में वहाँ की जिला-कमिटी के मकान के सामने-वाले मैदान में बड़ी सभा हुई, जिसमें गाँवों से भी बहुत लोग आये थे। वहाँ पर गोली चली और कई आदमी मारे गये, पर लोग हटे नहीं। आज भी उस स्थान पर शहीदों के नाम पर चबूतरा बना हुआ है। अन्त में गोली चलाना बन्द कर जब पुलिसवाले चले गये, तब भी जनता वहाँ डटी रही। रात को वहीं रहकर लोगों ने उसी स्थान पर लिट्टी लगाकर खाया। दूसरे दिन जहाँ-तहाँ गाँववाले चले गये। मुँगेर-जिले के तारापुर और बेगूसराय में भी बहुत लोग गोलियों के शिकार हुए। एक विद्यार्थी ने गोली खाकर मरते दम ये शब्द कहे—"मैं स्वराज्य के लिए मर रहा हूँ, लोकमान्य तिलक के निकट पहुँचकर सन्देश कहूँगा।" इस तरह की बहादुरी अनेकानेक जगहों के लोगों ने बिहार में दिखलायीं। फिर १९३० की तरह सूबे भर के सभी जेलखाने भर गये और पटना-कैम्पजेल भी। १९३० से इस बार यही फर्क था कि जेलों में अधिक सख्ती हो गयी। 'अपर डिवीजन' में बहुत थोड़े लोग रखे गये। बिहार में ऐसे लोग यों तो पहले भी कम ही थे; पर इस बार उनकी संख्या और भी कम हो गयी। गवर्नमेण्ट जितनी जल्दी और तेजी से आन्दोलन बन्द करना चाहती थी, न कर सकी, वह चलता ही रहा। हम लोग हजारीबाग में उसी तरह दिन बिताने लगे। नयी बात यह हुई कि इस बार हम लोगों को कारखाने में जाने की इजाजत नहीं मिली; क्योंकि समझा जाता था कि वहाँ मामूली कैदियों से हमारी मुलाकात होगी और हम उनको बिगाड़ या बहका देंगे। इसलिए हम इस बार उस तरह का कुछ काम नहीं कर सके; पर सूत अधिक काता गया। धार्मिक ग्रन्थों का अध्ययन भी खूब हुआ—कुरान-शरीफ, बौद्धधर्म के ग्रन्थ, बायबिल आदि भी पढ़े गये।

इस बार की जेल-यात्रा में एक अद्भुत घटना हुई। श्री महामायाप्रसाद एक बहुत स्वस्थ युवक थे। वह बहुत कसरत वगैरह किया करते थे। हम लोगों के भोजन की देख-रेख उन्हीं के जिम्मे थी। एक दिन एप्रिल में, जब गर्मी काफी हो गयी थी, वह चौके से दोपहर को आये। तबीयत कुछ सुस्त हो गयी थी। सबने समझा कि कोई मामूली-सी बात होगी। दूसरे दिन से आहिस्ता-आहिस्ता उनकी बोली बन्द होने लगी। दिन में वह इस तरह बन्द हो गयी कि अ-आ ऊँ-ऊँ भी नहीं कर सकते थे! जो कुछ कहना होता, लिखकर बताते। बातें सुनते-समझते थे, पर बोल नहीं सकते थे। वहाँ के डाक्टरों और सिविल सर्जन ने देख-भाल की, पर कुछ कर न सके। उनकी मीयाद भी पूरी हो चली थी। इसलिए वह छोड़ दिये गये। कलकत्ते में वह इलाज कराने गये। वहाँ के डाक्टरों और वैद्यों की हजार कोशिश के बाद भी उनकी आवाज न खुली। सभी लोग कहते थे कि आवाज की नली में कोई कसर नहीं है, पर

तो भी आवाज निकलती नहीं। यही कैफियत प्रायः दो बरसों तक रही। जब १९३४ में डाक्टर अनसारी योरप गये, वह भी उनके साथ गये। वहाँ वियना (आस्ट्रिया) में एक विशेषज्ञ ने इलाज किया, जिससे एक-दो हफ्तों के अन्दर ही आवाज कुछ-कुछ निकलने लगी। कुछ दिनों बाद पूरा स्वस्थ होकर वह स्वदेश वापस आ गये। अब उनकी आवाज पूर्ववत् हो गयी है। बड़ी-बड़ी सभाओं में भी वह भाषण करते हैं और उनकी आवाज सब लोगों तक पहुँच जाती है।

इस प्रकार सब तरफ कानून-भंग चल ही रहा था कि एक विचित्र बात काँग्रेस के अधिवेशन के सम्बन्ध में हुई। ऊपर कह चुका हूँ कि इस बार सरकार ने गिरफ्तारियाँ ४ जनवरी को ही आरम्भ कर दी थीं। काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मार्च में होनेवाला था। उत्कल (उड़ीसा) के लोगों ने काँग्रेस को आमंत्रित किया था। वे तैयारियाँ भी कर रहे थे। जब एकाएक वार शुरू हो गया तो वहाँ के लोग भी गिरफ्तार हो गये। बिहार और उड़ीसा एक ही (सम्मिलित) प्रान्त थे। इसलिए वहाँ के भी प्रमुख काँग्रेसी लोग, जो अपर-डिवीजन में थे, हजारीबाग ही आ गये और हम सब साथ ही थे। उड़ीसा में अधिवेशन होने की बात तो अब थी नहीं; पर जो लोग बाहर थे उन्होने सोचा कि अधिवेशन मार्च में कहीं न कहीं अवश्य होना चाहिए। गवर्नमेण्ट तुली हुई थी कि अधिवेशन वह किसी तरह न होने देगी। लोगों ने निश्चय किया कि अधिवेशन दिल्ली में होगा। उसके लिए दिन भी नियत करके घोषित कर दिया गया। पंडित मदनमोहन मालवीयजी का सभापतित्व भी घोषित हो गया। बहुतेरे लोग भिन्न-भिन्न सूबों से, किसी न किसी तरह, नियत दिन के पहले ही, दिल्ली पहुँचकर जहाँ-तहाँ ठहर गये। लोगों ने इस बात की भी घोषणा कर दी कि नियत तिथि पर, १० बजे दिन को, घंटाघर के सामने, चाँदनी चौक में अधिवेशन होगा। मालवीयजी दिल्ली के लिए रवाना हुए। वह सीधे रेल से दिल्ली तक नहीं गये, कहीं रास्ते से मोटर पर हो लिये। गाजियाबाद और दिल्ली के बीच में वह गिरफ्तार कर लिये गये। इसकी भी सूचना लोगों को मिल गयी। ठीक अधिवेशन के दिन भीतर-भीतर यह खबर उड़ा दी गयी कि चाँदनी चौक में अधिवेशन न होकर कहीं नयी दिल्ली में होगा। यह खबर इस तरह फैलायी गयी कि पुलिस को इसी पर विश्वास हो गया। इसलिए उस दिन पुलिस की तैयारी चाँदनी चौक में न होकर उस दूसरे स्थान में रही। ठीक समय पर बाहर से आये हुए प्रतिनिधि, जो घंटाघर के पास की गलियों में जहाँ-तहाँ थे, चारों ओर से निकल आये। वे घंटाघर के सामने बीच सड़क पर ही जमा हो गये। काँग्रेस के नियमानुसार मनोनीत सभापति की गैरहाजिरी में अहमदाबाद के एक मिल-मालिक सेठ रणछोड़दास सभापति चुने गये। उनका छोटा-सा भाषण हुआ। एक समयानुकूल प्रस्ताव बाजाब्ता पेश हुआ और सबने मंजूर किया। यह हो ही रहा था कि पुलिस को इसकी खबर मिल गयी। घुड़सवार और दूसरे जत्थे, जो लारियों पर सवार थे, वहाँ पहुँच गये और उपस्थित लोगों को लाठियों द्वारा तितर-बितर कर दिया। पर इसके पहले ही सारी कार्रवाई खतम हो चुकी थी। यह खबर

अखबारों में छपी। लोगों का इससे बड़ा मनोविनोद रहा। इत्तफाक से सेठ रणछोड़-दास गिरफ्तार भी न हुए। मालूम नहीं कि सचमुच उस नाम के सेठ सभापति हुए थे या यों ही उनका नाम घोषित कर दिया गया। पर इतना ठीक है कि यह अधिवेशन काँग्रेस के बाजाब्ता अधिवेशनों में नहीं गिना गया। दूसरे अधिवेशनों के सभापतियों की तरह इसके सभापति को अखिल भारतीय कमिटी की आजीवन सदस्यता नहीं मिली !

इस बार देश ने काँग्रेस का पूरा साथ दिया। गवर्नमेण्ट ने पिछली बार ही देख लिया था कि धन की मार बहुत जबरदस्त होती है। इसलिए इस बार बड़ी-बड़ी रकमों के जुर्माने हुए। काँग्रेस की सारी सम्पत्ति जब्त कर ली गयी। काँग्रेस का मकान तो कहीं था ही नहीं, बैंकों में जो कुछ काँग्रेस के हिसाब में जमा मिला वह भी जब्त हुआ। पर काँग्रेस का बहुत-कुछ गवर्नमेण्ट को मिला नहीं। गवर्नमेण्ट तथा दूसरे लोगों का भारी भ्रम है कि काँग्रेस के पास बहुत रुपये हैं और वह रुपयों के बल से काम करा लेती है। १९२१ में एक बार काँग्रेस ने बड़ी रकम जमा की थी। वह राष्ट्रीय शिक्षा और खादी में बहुत-कुछ खर्च हुआ। इसके अलावा काँग्रेस के संगठन में भी खर्च हुआ। उसके बाद सभी प्रान्तों की कमिटियाँ अपनी जरूरत के अनुसार खर्च जमा कर लिया करती हैं। वह रकम बहुत बड़ी नहीं होती। यदि काँग्रेस के सामने कोई काम आ जाता है तो वह उसके लिए तत्काल पैसे जमा कर लेती है। पर काँग्रेस की किसी भी कमिटी के पास बहुत रुपये नहीं जमा रहते। हाँ, जहाँ-तहाँ छोटे मकान काँग्रेस के हो गये हैं। वे भी स्थानीय लोगों से तत्काल ही जमा किये हुए पैसों से बनाये गये हैं। पर इतना ठीक है कि जब जैसी जरूरत होती है, जनता से पैसे मिल जाते हैं। जहाँ काँग्रेस का संगठन अच्छा है—कार्य्यकर्त्ताओं के प्रति लोगों में श्रद्धा और विश्वास है—लोगों के पास पैसे हैं, वहाँ अधिक पैसे मिल जाते हैं; पर जहाँ इनमें किसी बात में कमी है वहाँ कम मिलते हैं।

गांधीजी का विश्वास है और इसी नीति पर वह चलते हैं कि सार्वजनिक संस्था को अपने खर्च के लिए धन इकट्ठा करके जमा नहीं रखना चाहिए; आवश्यकता-नुसार पैसे जमा करके काम चला लेना चाहिए, इससे वह संस्था निरंकुश नहीं हो सकती; क्योंकि यदि उसने काम ठीक नहीं किया तो वह अपनी लोकप्रियता खो बैठेगी और पैसे नहीं मिलेंगे; इस तरह उस संस्था को अपने जीवन के लिए जनता पर निर्भर रहना पड़ता है और वह अपने कर्तव्य को ठीक निबाहने पर ही जीवित रह सकती है। मेरे अनुभव ने इस बात को अक्षरशः सत्य साबित पाया है। हमारा प्रान्त एक गरीब सूबा है। बड़े-बड़े जमीन्दारों से काँग्रेस का सम्बन्ध नहीं के बराबर रहा है। पर जब कभी जरूरत पड़ी है, मध्यम वर्ग के लोगों ने आवश्यकतानुसार हमें धन दिया है। मैं मानता हूँ कि धन-संग्रह में हमारी शक्ति और हमारा समय बहुत व्यय होता है और यदि इस चिन्ता से हम मुक्त रहते तो शायद काम अधिक कर सकते। काम करनेवाले बहुत रहे हैं—अच्छे समझदार और काँग्रेस के सच्चे अनुयायी; पर रुपयों की कमी के कारण उनको हम आश्रमों में रहने तक के लिए भी खर्च नहीं दे सकते हैं,

उनके बाल-बच्चों और घरवालों के लिए कौन कहे! बहुतेरे तो इस मजबूरी से दुःख के साथ कभी-कभी अपनी रोटी की फिक्र में काँग्रेस के काम से अलग भी हुए हैं। यह सब होते हुए भी, मैं समझता हूँ कि धनाभाव से हमारा काम कभी रुका नहीं है। एक प्रकार से हमारी गरीबी हमारा सहायक भी रही है। गरीब सूबे की प्रान्तीय कमिटी वहाँ के जन-साधारण का प्रतिनिधित्व गरीब रहकर ही कर सकती है। इसलिए मैं यह भी मानता हूँ कि हम अपने सूबे के ठीक प्रतिनिधि रहे हैं।

यहाँ मैं एक आवश्यक—पर अप्रस्तुत—विषय की आलोचना में बहक गया! जो हो, हमारे सूबे में गवर्नमेण्ट को काँग्रेस के हिसाब में अधिक धन नहीं मिला। पर हमारे मकान सभी जब्त रहे। जब वे हमें वापस मिले, बहुतेरों की हालत रद्दी हो गयी थी।

गवर्नमेण्ट ने इस बार काँग्रेस या उसके किसी कार्य्यकर्त्ता को आर्थिक या किसी तरह की मदद देना जुर्म बना दिया था। कई नये आर्डिनेन्स बन गये थे जो मामूली तौर पर लड़ाई के दिनों में ही और मुल्कों में बना करते हैं। इसलिए हमारे बाहर रह जाने-वाले कार्य्यकर्त्ताओं को बहुत जगहों में किराये पर भी मकान नहीं मिलते थे। सवारी भी जल्दी न मिलती। बहुत आतंक फैलाने का प्रयत्न किया गया। पर काम रुका नहीं; क्योंकि जनता बराबर मदद करती रही। और, कुछ लोग ऐसे थे जो अखिल भारतीय कमिटी के दफ्तर को अपने हाथ में रखकर सारे देश में समय-समय पर आदेश पहुँचाते तथा सभी जगहों की कार्रवाई की खबर लेते रहे।

इस तरह, यद्यपि काँग्रेस गैर-कानूनी संस्था हो गयी, जिसके न घर थे, न दफ्तर, न पैसे, न सदस्य और न पदाधिकारी, तो भी जैसे किसी गुप्त स्थान से भूर में पानी निकलता ही रहता है वैसे ही काँग्रेस का कार्य्यक्रम भी कहीं गुप्त स्थान से निकल ही आता और उसको पूरा करनेवाले भी यथास्थान और यथासमय मिल ही जाते। लार्ड विलिंगडन की वह मदपूर्ण धमकी कि काँग्रेस दो हफ्तों में समाप्त कर दी जायगी, पूरी नहीं हुई। हजारीबाग-जेल के अन्दर इतनी कड़ाई थी कि खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ और डाक्टर खाँ साहब उसी जेल में थे, पर हम लोगों से उनकी एक बार भी मुलाकात न हुई।

९७—हरिजनों के लिए गांधीजी का अनशन

छः महीनों की सजा काटकर मैं हजारीबाग से रिहा हो गया। कुछ घंटों के लिए मुझे हजारीबाग शहर में ठहरना था। उसी समय मुझे जोरों से जाड़ा-बुखार आ गया। मुझे कुछ ठहर जाना पड़ा। जब कुछ स्वस्थ होकर मैं पटने आया तब भी बीमार ही था और कमजोरी तो बेहद थी। मैंने कुछ अच्छा होकर बाहर की परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त किया। अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी के कार्य्यकर्त्ताओं से मेरी मुलाकात हुई। सूबे में भी जो बाहर थे उनसे भेंट हुई। मुझसे जो कुछ हो सका, मैंने मदद भी की; पर काम चलाने का भार मैंने अपने ऊपर नहीं लिया, जो लोग चला

रहे थे उन्हीं पर रहने दिया। अखिल भारतीय कमिटी के काम में ही मैंने अधिक दिलचस्पी ली और समय दिया। मैं काशी में पंडित मालवीयजी से जाकर मिला और वहाँ कई दिनों तक ठहरा रहा। फिर बम्बई भी गया और कलकत्ते भी। सभी जगहों में कार्यकर्त्ताओं से मिला और यथासाध्य रुपये जमा करने में उनकी कुछ मदद की। अभी तक पूरा स्वस्थ नहीं हो पाया था, पर ऐसा बीमार भी न था कि काम रुक जाय।

मैं मानता था कि मुझे बाहर नहीं रहना चाहिए और सोच भी रहा था कि कोई उपयुक्त अवसर मिले तो फिर जेल-यात्रा करूँ। इतने ही में एक दिन अखबारों में महात्माजी के अनशन की बात पढ़ी। हम जब से बम्बई में गांधीजी से मिलकर अलग हुए थे, उनकी कोई खबर हमको नहीं मिली थी। पर गवर्नमेण्ट के साथ उनका कुछ दिनों से पत्र-व्यवहार चल रहा था। पहले कह चुका हूँ कि गोलमेज-कान्फ्रेन्स में उन्होंने अस्पृश्य-वर्ग के लिए अलग चुनाव-क्षेत्रों का प्राणपण से तीव्र विरोध किया था। मिस्टर मैकडोनल्ड ने अपने फैसले में अलग क्षेत्र कायम करने की बातँ कह दी थी। महात्माजी ने अपने उसी भाषण की याद दिलाते हुए कहा था कि गवर्नमेण्ट इस फैसले को नहीं बदलेगी तो वह आमरण अनशन करेंगे इसलिए गवर्नमेण्ट के न मानने पर उन्होंने अनशन आरम्भ कर दिया। सरकार ने सारा पत्र-व्यवहार प्रकाशित कर दिया और उसके प्रकाशित होते ही देश-भर में बड़ी सनसनी पैदा हो गयी।

महात्माजी यरवदा-जेल में थे। वहीं अनशन आरम्भ हुआ। मैं खबर पाते ही बम्बई पहुँचा। पूज्य मालवीयजी भी पहुँचे। श्री राजगोपालाचारी भाग्यवश बाहर थे, वह भी आ गये। और लोग भी जो बाहर थे, बम्बई पहुँच गये। महात्माजी के अनशन को छुड़ाने की कोशिश होने लगी। पर महात्माजी अपनी प्रतिज्ञा से कब डिगनेवाले थे। मिस्टर मैकडोनल्ड के फैसले में एक बात यह भी थी कि वह फैसला तब तक कायम रहेगा जब तक उन जातियों के लोग, जिनका फैसले से सम्बन्ध था, आपस के समझौते से उसके स्थान पर कोई दूसरी बात तय न कर लें। स्वभावतः इस ओर लोगों का ध्यान गया। अब भी इस बात की कोशिश होने लगी कि अस्पृश्य-वर्ग के लोगों को ही राजी करके अलग निर्वाचन-क्षेत्र छुड़वाये जायँ। बम्बई में डाक्टर अम्बेदकर रहते थे। सरकार ने उनको ही अस्पृश्यों का नेता बनाकर गोलमेज-कान्फ्रेन्स में भेजा था। उनसे बातें होने लगीं। एक-दो दिन बीत गये, पर कोई बात तब तक तय न हो सकती जब तक गांधीजी से भी राय न ले ली जाय। इस बीच में अस्पृश्य-वर्ग की जनता में भी हलचल मच गयी; क्योंकि अस्पृश्यता-निवारण में गांधीजी ने बहुत काम किया था। उस वर्ग के लोग देखने लगे कि इनकी मृत्यु यदि इसी कारण हो जायगी तो उनके लिए यह एक अमिट कलंक हो जायगा।

गांधीजी ने जिस कारण से अलग क्षेत्र का विरोध किया था वह कारण भी कुछ लोग अवश्य समझते थे। गांधीजी का कहना था कि अस्पृश्य-वर्गवाले हिन्दू हैं; पर किसी कारण से समाज में ऐसी रूढ़ि हो गयी है कि हिन्दू-जाति के इतर वर्ग उनको आज अस्पृश्य समझने लगे हैं। वह खुद इस अस्पृश्यता को हिन्दू-धर्म और हिन्दू-समाज

का कलंक मानते थे, और इसे हटा देना चाहते थे। यों तो जो अस्पृश्य, ईसाई या मुसलमान हो जाता है और इस प्रकार हिन्दू-समाज तथा हिन्दू-धर्म से अलग हो जाता है, वह उनसे बिल्कुल कट जाता है और यद्यपि वहाँ भी कुछ हद तक अस्पृश्यता रह ही जाती है तथापि वह हिन्दुओं के लिए अस्पृश्य नहीं रह जाता। इसलिए यह प्रश्न उनके सम्बन्ध में ही होता था जो हिन्दू रह जाते हैं। गांधीजी समझते थे कि राजनीतिक चुनाव के लिए भी यदि अलग क्षेत्र हो जायँगे तो यह एक नया अछूतपन हो जायगा और जहाँ अछूतपन न दूर करने का प्रयत्न किया जा रहा है तथा जहाँ इसके दूसरे रूप हट रहे हैं वहाँ यह उसका एक नया कारण एवं रूप हो जायगा। अछूतों के शिक्षित नेतावर्ग यह मानते थे कि जब सब अधिकार चुनाव के ही बल पर अवलम्बित होंगे तो उनको भी अपने संख्या-बल का लाभ मिलना चाहिए और वह तभी पूरी तरह मिल सकेगा जब उनके लिए अलग चुनाव-क्षेत्र हो जायँगे। इसलिए गोलमेज-कान्फ्रेन्स में डाक्टर अम्बेदकर ने इस पर ज़ोर दिया था।

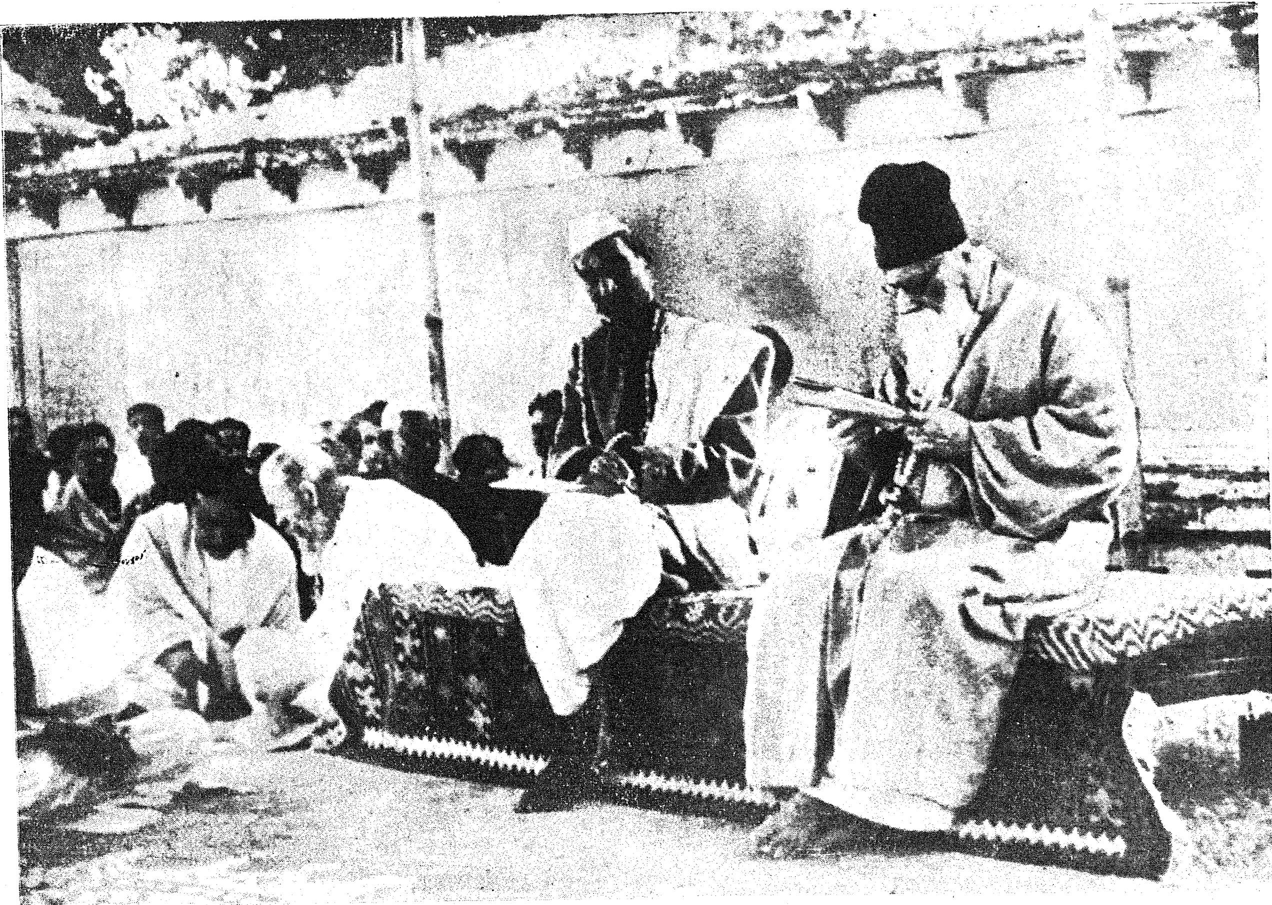
बम्बई और पूना के बीच में कुछ लोग दौड़-धूप करने लगे, पर यह बहुत असुविधाजनक था। इसलिए सब लोग, जिनको इसमें कुछ करना था, पूना ही चले गये। डाक्टर अम्बेदकर और उनके कुछ साथी भी पूना गये। वहाँ दो-तीन दिनों तक बातें चलीं। महात्माजी से भी जेल में भेंट करने की अनुमति मिल गयी थी। वहाँ फाटक के नजदीक ही एक छोटे-से वार्ड में गांधीजी से मुलाकात हुआ करती, जहाँ एक आम के गाँछ के नीचे उनकी चारपाई रहती। श्री राजगोपालाचारी, पंडित मालवीयजी, श्री ठक्कर बप्पा, सेठ घनश्यामदास बिड़ला, सर पुरुषोत्तमदास ठाकुरदास प्रभृति ने बहुत काम किया। डाक्टर अम्बेदकर, डाक्टर सोलंकी प्रभृति भी अपनी ओर से बराबर बातचीत में शामिल रहे। जैसे-जैसे दिन बीतते जाते, मैं घबराता था; क्योंकि बातचीत में गांधीजी को पूरा परिश्रम पड़ता और मैं डरता था कि वह इतने परिश्रम के साथ बहुत देर तक अनशन बर्दाश्त नहीं कर सकेंगे। जब-जब बातें होतीं, मैं भी शरीक होता; पर अपनी आदत के मुताबिक बातें बहुत कम करता। गांधीजी ने एक दिन संध्या को डा० अम्बेदकर से बहुत बातें कीं और उनसे जोरदार अपील भी की। बातें तय हो गयीं। मुख्य शर्तें यह थीं कि अलग निर्वाचन-क्षेत्र नहीं होंगे, उनके बदले में चुनाव का तरीका यह होगा कि निर्धारित संख्या में अस्पृश्य वर्ग के लिए जगहें सुरक्षित रहेंगी, चुनाव के समय अस्पृश्य मतदाताओं को अधिकार होगा कि प्रत्येक स्थान के लिए चार उम्मीदवार मनोनीत कर दें; यदि चार से अधिक उम्मीदवार हों तो केवल उनके ही वोट से चार ही चुन लिये जायँ और इन चार की ही उम्मीदवारी कायम रहे; चारों नामों पर वोट लिये जायँ और वोट सवर्ण तथा अस्पृश्य सभी हिन्दू दें और जो सबसे अधिक वोट पावें वे ही चुने जायँ, यह दस बरसों तक रहेगा और उसके बाद इस पर फिर विचार किया जायगा। मिस्टर मैकडोनल्ड के फैसले में अस्पृश्यों को जितनी जगहें मिली थीं उनकी संख्या बहुत बढ़ा दी गयी। वह उनकी जनसंख्या के

अनुपात से बढ़ायी गयी। ये बातें तय हो गयीं और प्रधान मन्त्री मैकडोनल्ड के पास तार भेज दिया गया। उन्होंने इसे मंजूर कर लिया और अपने फैसले को इस हद तक बदल दिया।

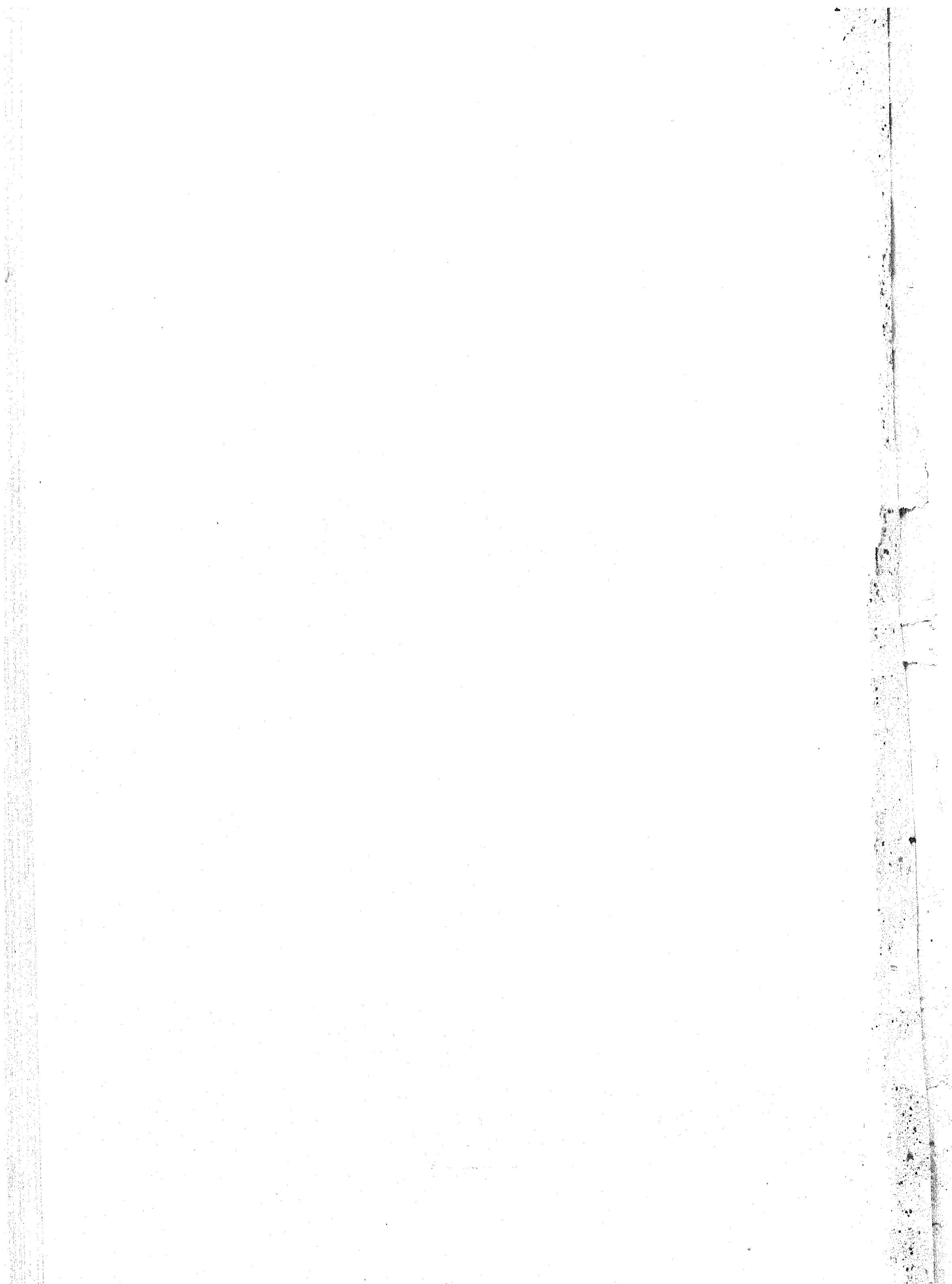
इतना हो जाने पर गांधीजी के अनशन का कोई कारण नहीं रह गया। उसे उन्होंने समाप्त कर दिया। इस समझौते से हम लोगों को बड़ी प्रसन्नता हुई। राजाजी और डाक्टर अम्बेदकर ने अपने कलम आपस में अदल-बदल कर लिये। यह राजाजी की इच्छा से हुआ; क्योंकि वह बहुत ही खुश थे। विलायत से उत्तर आने में अधिक विलम्ब नहीं हुआ, शायद चौबीस घंटों के अन्दर ही मंजूरी आ गयी। पर ये चौबीस घंटे भी हम लोगों को बहुत जब्र गुजर रहे थे। उस दिन सवेरे से ही हम सब परेशान थे। होते-हवाते दोपहर का समय हो गया। मालूम हुआ कि उत्तर आ गया है और जल्द ही जेल में पहुँचनेवाला है। उसी दिन विश्वकवि रवीन्द्रनाथ पूना पहुँचे। वह रवाना हुए थे गांधीजी को देखने के लिए। उस समय तक समझौते की खबर उनको नहीं थी। पूना पहुँचने पर उन्हें इसकी खबर मिली। वह ठीक उसी समय जेल में पहुँचे जब समझौते की मंजूरी की खबर वहाँ पहुँची और गांधीजी के अनशन छोड़ने का समय आ गया। बड़ा ही शुभ मुहूर्त्त था वह। प्रार्थना की गयी। गुरुदेव ने एक सुन्दर गान गाया और आशीर्वाद दिये। इसके उपरान्त गांधीजी ने नारंगी का रस पीकर उपवास समाप्त किया। सारे देश में खुशियाँ मनायी गयीं। अछूतोद्धार की जबरदस्त लहर चल पड़ी।

९८—अछूतोद्धार का प्रयत्न

कुछ राजनीतिक प्रश्नों पर समझौता हो जाने से ही गांधीजी सन्तुष्ट होनेवाले नहीं थे। उनके हृदय में तो अस्पृश्यता को जला देने के लिए एक आग धधक रही थी। वह आग केवल चुनाव में एक क्षेत्र अथवा अस्पृश्यों को कुछ सुरक्षित जगहें मिल जाने से कैसे बुझ सकती थी? वे सब सवाल उस समय तक उठते ही रहेंगे जब तक उनके साथ अछूतपन का व्यवहार होता रहेगा और हिन्दू-जाति उनको मनुष्य की श्रेणी से एक प्रकार अलग ही समझती रहेगी। इसलिए वह यह भी चाहते थे कि इसे निर्मूल कर देने का भी उपाय किया जाय। वहाँ से बम्बई में आकर एक अच्छी सभा हुई जिसमें हिन्दुओं की ओर से इस बात की प्रतिज्ञा की गयी कि वे अछूतपन को दूर करा देने का पूरा प्रयत्न करेंगे। इस काम को चलाने तथा दूसरे प्रकार से अछूतों की सेवा करने के लिए एक संस्था कायम की गयी। गांधीजी ने उस समय तक 'अछूत' शब्द के बदले में 'हरिजन' शब्द का व्यवहार आरम्भ कर दिया था। इसलिए उस संस्था का नाम 'हरिजन-सेवक-संघ' रखा गया। उसके सभापति हुए सेठ घनश्यामदास बिड़ला और मन्त्री श्री अमृतलाल ठक्कर, जिनको लोग प्रेम से 'ठक्कर बप्पा'* कहा करते हैं। वह संस्था अभी तक अच्छी तरह काम कर रही है। सारे देश में उसकी शाखाएँ कायम हो गयी हैं। ठक्कर बप्पा के पैरों में मानो चक्र है! वह अपनी वृद्धावस्था में भी सारे



दीनबंधु एंड्रूज, देशरत्न राजेन्द्र बाबू और गुरुदेव



देश का दौरा करते हुए सभी जगहों में हरिजनों की सुविधा तथा शिक्षा का प्रबन्ध करके हर प्रकार की सेवा करते रहते हैं।

उस समय यह भी विचार हुआ कि अछूतपन दूर करने का एक स्पष्ट तरीका, जिसे सभी समझ और अपनी आँखों देख सकते हैं, यह है कि मंदिरों में जहाँ उनका प्रवेश-निषेध है वहाँ उनका प्रवेश कराया जाय; मंदिरों को उनके लिए भी वैसे ही खुलवाया जाय जैसे वे दूसरे हिन्दुओं के लिए खुले हैं। इसी तरह सार्वजनिक कूँओं में उन्हें जल भरने का भी अधिकार होना चाहिए। जहाँ दूसरे हिन्दू जा सकते हैं, बैठ सकते हैं, वहाँ जाने-बैठने आदि का अधिकार और सहूलियत उन्हें भी मिलनी चाहिए। गांधीजी के उपवास के समय ही बहुत जगहों में हिन्दुओं ने मन्दिरों के दरवाजे उनके लिए खुलवाने शुरू किये और उनके दूसरे स्वत्व भी बहुत जगहों में स्वीकार किये गये। पर इतने बड़े देश के लिए ऐसे स्थानों की संख्या अभी बहुत कम थी। इस उत्साह का एक नतीजा यह हुआ कि बम्बई की सभा के बाद बहुत जगहों में इस सम्बन्ध के सम्मेलन होने लगे जिनमें अस्पृश्यता-निवारण के प्रस्ताव स्वीकृत होते—मन्दिर खुलवाये जाते इत्यादि। इस प्रकार का एक सम्मेलन बिहार में, छपरे में, थोड़े ही दिनों के बाद, हुआ जिसमें काशी के सुप्रसिद्ध विद्वान् डाक्टर भगवानदास ने सभापति का आसन सुशोभित किया। बहुत उत्साह देखने में आया और जनता की ओर से हरिजनों के प्रति बहुत प्रेम तथा क्रियात्मक सहानुभूति प्रदर्शित की गयी।

बम्बई में ही राजाजी ने मुझसे अनुरोध किया कि मैं उनके साथ मद्रास जाऊँ। अछूतपन का कट्टरपन और भयंकर रूप सबसे अधिक उसी इलाके में देखा जाता है। मालाबार में तो अछूतपन यहाँ तक है कि कुछ जातियाँ उस सड़क पर नहीं चलने पातीं जिस पर सवर्ण हिन्दू चलते हैं! जहाँ उन जातियों के लोग सड़क पर चलने पाते हैं वहाँ भी उनको पुकारते जाना पड़ता है जिसमें दूसरे अनजान से कहीं उनके नजदीक न पहुँच जायँ! कुँआ और तालाब में पानी भरने की तो बात ही नहीं हो सकती। इसके अलावा दक्षिण में बहुत बड़े-बड़े मन्दिर हैं। कुछ तो ऐसे हैं जहाँ हिन्दुस्थान के हर कोने से यात्री जाया करते हैं। इन मन्दिरों का नियंत्रण पंचायत द्वारा होता है। पंच कहीं-कहीं जनता द्वारा चुने जाते हैं और कहीं-कहीं गवर्नमेण्ट द्वारा मनोनीत होते हैं। यदि उन लोगों में प्रचार हो और वे मन्दिरों को खोल दें तो बहुत बड़ी बात हो जायगी। मैं राजाजी के साथ वहाँ गया। मदुरा और श्रीरंगम् के मन्दिर खुलवाने का बहुत प्रयत्न किया गया। वहाँ के पुजारियों और संचालकों से बहुत बातें हुईं। कुछ सहानुभूति भी दिखलाते थे। हम लोग कई दिनों तक यह प्रयत्न इन दोनों स्थानों में करते रहे। सार्वजनिक सभाएँ की गयीं। पंडितों से भी बहुत बातें होती रहीं। पर इन बड़े मन्दिरों के खुलवाने में हम लोग समर्थ नहीं हुए। कुछ दूसरे मन्दिर, जिनका उतना अखिल भारतीय महत्त्व नहीं था, खोले गये। इससे इतना तो अवश्य जान पड़ा कि काम यद्यपि कठिन है तथापि असम्भव नहीं है। जिन लोगों को हम बहुत कट्टर

समझते थे वे भी बात सुनने और बात करने के लिए तैयार थे। हम वहाँ से निराश होकर नहीं, बल्कि बहुत आशा लेकर उत्तर की ओर आये।

हमारे प्रयत्न का फल तुरन्त तो नहीं मिला; पर कई बरसों के बाद मालाबार में, जहाँ सबसे ज्यादा कट्टरपना था, त्रावंकोर के महाराज ने वहाँ के सबसे प्रसिद्ध श्री पद्मनाभजी के मन्दिर को खोल दिया; सारे राज्य में राज्य के सभी मन्दिर खोल दिये गये। मद्रास में भी कानून बनाकर राजाजी ने, जब वह प्रधान मंत्री थे, मदुरा के मन्दिर को खुलवा दिया। उसी समय यह बात भी चल पड़ी कि कानून बनाकर मन्दिर खुलवाये जायँ। कानून का क्या रूप हो और उसमें कैसी शर्तें रहें, इस पर विद्वान् लोग विचार करने लगे, जिसका फल पीछे देखने में आया। सबसे बड़ी विचित्र बात दक्षिण में यह देखने में आयी कि वहाँ के अब्राह्मण सवर्ण हिन्दुओं की अपेक्षा वहाँ के ब्राह्मण ही इस सुधार के लिए अधिक तैयार पाये गये। वहाँ से लौटते समय मैं आन्ध्र-प्रदेश के कतिपय स्थानों में ठहरता हुआ आया। वहाँ भी वैसी सुधार की लहर देखने में आयी। वहाँ भी मैं कई जगह मन्दिर खोलने के उद्योग में शरीक हुआ।

उत्तर-भारत में भी इसी तरह लहर दौड़ गयी। अनेकानेक स्थानों में सभाएँ होने लगीं, मन्दिर खुलने लगे और दूसरे प्रकार से भी अछूतपन दूर करने के प्रमाण क्रियात्मक रूप में दिये जाने लगे। गांधीजी जेल से ही इस विषय पर बयान देते थे। गवर्नमेण्ट ने इस बात की इजाजत दे दी थी कि अछूतोद्धार-सम्बन्धी उनके बयान समाचार-पत्रों में छपने के लिए भेजे जा सकते हैं। इस अधिकार का उन्होंने बहुत तत्परता से उपयोग किया और उनके बहुत से लेख प्रकाशित होने लगे। कुछ दिनों के बाद उन्होंने महसूस किया कि इस तरह पत्रों में बयान छपना काफी नहीं है, इसके लिए एक अपना पत्र निकलना चाहिए। 'यंग इण्डिया' उनका बन्द हो चुका था। इसलिए हरिजनों की सेवा के लिए अँगरेजी में 'हरिजन' और भारतीय भाषाओं में 'हरिजन-बन्धु' तथा 'हरिजन-सेवक' के नाम से साप्ताहिक-पत्रों का जन्म हुआ, जो कई बरसों तक चले। पर इसी बीच में और भी बहुत-सी बातें हुईं जिनका जिक्र पहले आना चाहिए।

एक तरफ इस तरह हरिजन-सेवा और अस्पृश्यता-निवारण के लिए अभूतपूर्व उत्साह पैदा हुआ, दूसरी ओर अनपेक्षित दिशाओं से विरोध के कुछ चिह्न भी देखने में आये। एक तो सबसे आश्चर्य की बात यह हुई कि इस सारे प्रयत्न को कुछ हरिजन लोग नापसन्द करते थे। उनका कहना था कि यह एक ढोंगमात्र है जो उनकी राजनीतिक जागृति में बाधक होगा, उनको राजनीतिक और आर्थिक स्वतंत्रता प्राप्त हो जायगी तो अछूतपन स्वयं दूर हो जायगा; जब तक वह नहीं होती तब तक सवर्णों द्वारा इस प्रकार के प्रयत्न उनको फिर गफलत की नींद में सुला देंगे जिससे वे औरों की अपेक्षा दुनिया की होड़ में पीछे रह जायँगे। इसलिए वे चाहते थे कि उनमें जो असन्तोष है वह और भी बढ़े और उसी से जागृति पैदा होगी। उनकी ओर से 'हरिजन' नाम का भी विरोध किया गया। वे इस प्रश्न को धार्मिक और सामाजिक नहीं समझते थे, इसे केवल आर्थिक और राजनीतिक दृष्टिकोण से ही देखते थे। हरिजन-

सेवक-संघ और गांधीजी के प्रयत्नों का उद्देश्य उनकी राजनीतिक और आर्थिक उन्नति में बाधा डालना तो था ही नहीं—सच तो यह कि पूना के समझौते से उनको प्रान्तीय और केन्द्रीय व्यवस्थापिका सभाओं में इतनी जगहें मिल गयी थीं जितनी मि० मैकडोनल्ड ने भी नहीं दी थीं। और किसी प्रकार का वास्तविक विरोध था भी नहीं, पर उनके दिल में सन्देह था और उसका कोई उपाय न था। जब काम जोरों से चलने लगा तो बहुतेरों का सन्देह कुछ हद तक दूर हुआ; पर उसने इतनी गहरी जड़ पकड़ ली थी कि पीछे वह फिर स्पष्ट हो गया। उनमें जो शिक्षित थे और देश-विदेश की बातें समझ सकते थे, वे यह भी देखते थे कि जो शासन-विधान बननेवाला है उसमें वोट देनेवालों को अधिकार मिलेगा, और इसलिए अपनी संख्या पर ध्यान रखकर उससे पूरा लाभ उठाना चाहते थे। इसकी कोई शिकायत भी नहीं कर सकता था, पर इसके लिए अछूतपन दूर करने के प्रयत्न को ढोंग समझना बिलकुल गलत था। सवर्ण हिन्दुओं में भी कुछ ऐसे जरूर थे जो उनके इस रुख से बहुत असन्तुष्ट हो गये और समझने लगे कि राजनीतिक अधिकार से व्यक्तिगत लाभ उठाने के लिए कुछ पढ़े-लिखे लोगों का ही यह विरोध है। जो हो, विरोध का रूप क्रियात्मक नहीं हुआ, केवल मन्तव्यों और बयानों द्वारा ही जहाँ-तहाँ प्रकाशित होता रहा।

दूसरी बाधा काँग्रेसी लोगों में से भी कुछ की ओर से पड़ने लगी। यह तो जाहिर है कि जिस समय गांधीजी ने अनशन आरंभ किया, सत्याग्रह चल रहा था, गवर्नमेण्ट जोरों से दमन कर रही थी। उन लोगों का कहना था कि ऐसे समय में महात्माजी ने इस झगड़े को खड़ा करके जनता का ध्यान सत्याग्रह की ओर से खींचकर एक सामाजिक प्रश्न पर केन्द्रित कर दिया—देश के लिए यह समय ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ लड़ने का था, न कि हिन्दू-समाज की हजारों बरस की बुराई को दूर करने का। वे लोग समझते थे कि इस तरह यह सत्याग्रह कमजोर कर दिया गया, काँग्रेस के कुछ कार्यकर्त्ता अछूतोद्धार के काम में लग गये; कुछ तो बाजाब्ता हरिजन-सेवक-संघ के पदाधिकारी बनकर अपना सारा समय उसी में देने लग गये। यद्यपि यह बात ठीक थी कि ध्यान उस ओर खिंच गया और कुछ काम करनेवाले भी हरिजन-सेवा में लग गये, तथापि यह विचारणीय है कि जो लोग सत्याग्रह का काम छोड़कर इसमें आ सके थे, उनमें थोड़े ही ऐसे थे जो सत्याग्रह का काम करने के लिए तैयार थे—किसी न किसी कारण से उनमें से बहुतेरे अब उस काम से अलग होना ही चाहते थे, और वे यदि इस काम में लगे भी तो इससे सत्याग्रह-सम्बन्धी काम उन्होंने छोड़ा नहीं; यदि यह काम न होता तो भी वे सत्याग्रह छोड़नेवाले ही थे! यह भी एक बात है कि हरिजन-सेवक-संघ में काम करनेवालों में ऐसे लोगों की बहुत बड़ी संख्या थी जो काँग्रेस और सत्याग्रह में नहीं काम करते थे। इसके सबसे बड़े और उत्कृष्ट उदाहरण तो उस संघ के सभापति सेठ घनश्यामदास बिड़ला और मंत्री श्री ठक्कर बप्पा ही हैं।

जो हो, काँग्रेसी दल में इस प्रकार का असन्तोष पैदा हुआ। जो लोग इस

विचार के थे वे यह नहीं देख पाते थे कि हमारे देश में विदेशी राज्य का मुख्य और मूल कारण हमारी कमजोरियाँ हैं जो हमारे समाज में अथवा व्यक्तिगत रूप से हममें घर कर गयी हैं। गांधीजी ने आरंभ से ही, इन कमजोरियों को दूर करने के लिए ही, रचनात्मक काम पर इतना जोर दिया है। हम जैसे-जैसे आगे बढ़ते हैं, इन कमजोरियों को महसूस करते हैं और देखते हैं कि इनकी वजह से हमारी गाड़ी कदम-कदम पर रुक जाती है। यदि इस कमजोरी को हम दूर कर सकें—करोड़ों भाइयों और बहनों को इनका शिकार होने से बचा सकें, तो यह बहुत बड़ी सेवा होगी। इससे स्वराज्य भी, यदि वह सच्चा है और सबके लिए एक तरह होनेवाला है, नजदीक आ जाता है। मैं तो हमेशा रचनात्मक कार्य्यक्रम का कायल रहा हूँ और यथासाध्य अपनी ओर से प्रयत्न भी करता रहा हूँ; पर यह बात काँग्रेस के सभी लोगों की नहीं है। दो विचार-धाराओं का विरोध और टक्कर है। कौन कह सकता है कि कौन-सा विचार ठीक है। हम इतना ही कह सकते हैं कि हम अपने विचार को दृढ़ता और विश्वास के साथ ठीक मानते हैं। हम यह भी समझते हैं कि ऐसा न मानने से ही हमारी बाधाओं को दूर करने का उतना जबरदस्त प्रयत्न नहीं किया जाता जितना किया जाना चाहिए और इसीलिए वे दूर नहीं हो रही हैं।

इन अनपेक्षित विरोधों के अलावा कट्टर सनातनी लोगों का विरोध तो था ही। उसका प्रदर्शन कुछ दिनों के बाद देखने में आया जब गांधीजी दौरे पर निकले। कई जगहों में उन पर हमले किये गये। पूना में ही, जहाँ इस सारे आन्दोलन के उग्र रूप का जन्म हुआ था, सार्वजनिक सभा में जाते समय गांधीजी पर बम फेंका गया। बिहार-जैसे गांधी-भक्त और श्रद्धालु सूबे में भी गांधीजी की मोटर पर लाठियों के प्रहार हुए। यह काण्ड देवघर-वैद्यनाथ-धाम में हुआ था, जहाँ मोटर के 'हूड' के कारण ही बापू चोट से बचे, मोटर की छत तो लाठियों से चूर ही हो गयी। आज, इतने दिनों के बाद, जब सारी बातों पर मैं विचार करता हूँ तो मुझे मालूम पड़ता है कि जो हुआ और किया गया, सब ठीक ही था। इस कुप्रथा के दूर होने में सफलता भी काफी मिली है, यद्यपि अभी हम यह नहीं कह सकते कि इसमें हम पूरे सफल हुए हैं। वास्तव में अभी बहुत सफर करना रह गया है। पर जब हम यह याद करते हैं कि हजारों बरसों की रूढ़ि—जो हमारी नस-नस में समा गयी है, जिसका हमारे धर्म के साथ एक प्रकार का अविच्छिन्न सम्बन्ध-सा जुट गया है—कितनी जबरदस्त है, तो जो प्रगति इसमें अब तक हुई है वह कम नहीं जान पड़ती। कुछ और धक्के लगेंगे और यह पुरानी दीवार गिर जायगी। काम करनेवालों को विश्वास और दृढ़ता के साथ काम करते रहने की जरूरत है।

९९—प्रयाग का एकता-सम्मेलन

दिल्ली में नव-स्थापित हरिजन-सेवक-संघ की बैठक हुई। यद्यपि मैं उसकी कार्य्य-कारिणी का सदस्य नहीं था, तथापि बुलाया गया। मैं दिल्ली गया। दुर्भाग्य-

वश मुझे ज्वर हो गया। दमे का दौरा भी शुरू हो गया। मुझे वहाँ कई दिनों तक ठहर जाना पड़ा। उन दिनों दिल्ली में श्री ठक्कर बप्पा बिड़ला-मिल्स में, सब्जी मंडी में, ठहरा करते थे। मैं भी वहीं ठहरा था; पर जब तबीयत कुछ ज्यादा खराब मालूम पड़ी तो श्री घनश्यामदास बिड़ला ने मुझे नयी दिल्ली के बिड़ला-हाउस में, जहाँ वह खुद रहते हैं, बुला लिया। कलकत्ते में जो होमियोपैथी इलाज मैंने शुरू किया था, अभी तक उसे ही यथासाध्य जारी रखता आया था। इसलिए वहाँ भी होमियोपैथी इलाज ही कराया। डाक्टर युद्धवीरसिंहजी अच्छे होमियोपैथ डाक्टर हैं और काँग्रेसी भी हैं। उन्हीं की दवा हुई थी। फायदा भी हुआ। अभी कुछ अच्छा हो ही रहा था कि खबर मिली, इलाहाबाद में युनिटी-कान्फ्रेन्स (एकता-सम्मेलन) होने जा रहा है। उसमें शरीक होने के लिए मैं भी बुलाया गया। मैं दिल्ली से सीधे प्रयाग चला आया।

इस सम्मेलन में मुख्य-मुख्य हिन्दू, मुसलमान, सिख और ईसाई नेता शरीक हुए थे। काँग्रेसी लोग तो अधिकतर जेल में ही थे। पर जो बाहर थे वे बुलाये गये थे। मौलाना शौकत अली और मौलाना जफर अली भी शुरू में ही आ गये। कुछ दिनों के बाद मौलाना शौकत अली किसी काम से चले गये। पर दूसरे लोग बराबर भाग लेते रहे। मि० मैकडोनल्ड का फैसला तो निकल ही चुका था। उसमें प्राय: सभी माँगें, जो मुसलमानों की ओर से पेश की गयी थीं, मान ली गयी थीं। एक चीज यह रह गयी थी कि केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा में मुसलमानों की संख्या एक-तिहाई होनी चाहिए और सिन्ध को एक अलग सूबा बना देना चाहिए। इन विषयों पर अभी फैसला नहीं हुआ था। कान्फ्रेन्स का काम बहुत लम्बा बढ़ गया। प्राय: तीन हफ्तों तक हम लोग प्रतिदिन सवेरे से दोपहर तक बैठते थे और फिर सेपहर से रात के प्रायः ८-९ बजे तक बैठा करते थे। बैठकें डा० कैलाशनाथ काटजू के निवास-स्थान पर, उनके मकान के बड़े हाल में, हुआ करती थीं। आपस में हर बात पर बहुत बहस होती। जो कुछ मुसलमानों की ओर से कहा जाता अथवा जो कुछ उन्हें मैकडोनल्ड-फैसले से मिला था, सबकी माँग सिखों की ओर से होती! यदि मुसलमानों को वायसराय की कौन्सिल में जरूर जगह मिलनी चाहिए तो सिखों को भी अवश्य ही! यदि मुसलमानों के लिए अलग निर्वाचन-क्षेत्र हैं तो सिखों के लिए भी जरूर चाहिए! इस तरह सभी बातों पर बहुत जोरदार बहस होती। सिखों और मुसलमानों में बारीकी और उलझन ढूँढ़ निकालने की होड़-सी लग गयी थी। पर लोगों के मिजाज में गर्मी या तुर्शी नहीं होती थी। इतने दिनों की गरमागरम बहस में दो-तीन ही ऐसे मौके आये जब किसी ने कुछ आवेश में आकर कोई कड़ी बात कह दी अथवा वहाँ से उठकर चले जाने की तैयारी दिखलाई। मालवीयजी के धैर्य्य की सीमा नहीं थी। दूसरे लोग तो बहस से थक जाते थे, चाहते थे कि कुछ भी तय हो जाय अथवा जिस बात पर एक-मत न हो उसे छोड़कर अन्य बातों पर विचार किया जाय; पर मालवीयजी छोड़ते ही नहीं थे। आखिर बहुत-सी बातों पर एकमत

हो भी गया। पर इस बात पर एकमत नहीं हो सका कि केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा में मुसलमानों के लिए एक-तिहाई जगहें सुरक्षित रहनी चाहिए। इसमें हिन्दुओं की ओर से सब में तीस जगहें देने की बात कही गयी। कई दिनों तक बातें करने के बाद सब में एकतीस वा बत्तीस तक जगहें देने की रजामन्दी जाहिर की गयी, पर ३३⅓ तक अभी नहीं पहुँचे थे। उसी तरह सिन्ध के अलग सूबा बनाने के बारे में भी एक-मत नहीं हो सका था। पर मालूम होता था कि इसमें रजामन्दी शायद हो भी जाय।

अन्त में राय ठहरी कि जो दो-तीन बातें इस तरह की अनिश्चित रह गयी हैं उनके सम्बन्ध में एक सप्ताह के बाद कलकत्ते में फिर सब लोग मिलें और वहीं अन्तिम निर्णय किया जाय। मैकडोनल्ड-फैसले में यह बात थी कि वह फैसला रद कर दिया जायगा यदि हिन्दू, मुसलमान और दूसरे लोग आपस में मिलकर कोई दूसरा समझौता कर लेंगे। इसी शर्त के कारण अस्पृश्य लोगों के अलग निर्वाचन-क्षेत्र को, पूना का समझौता हो जाने पर, मि० मैकडोनल्ड ने हटा दिया। यह सम्मेलन इसी आशा से किया गया था कि आपस का समझौता यदि हो जायगा तो जो कटुता मैकडोनल्ड-फैसले से पैदा हुई थी वह दूर हो जायगी। पर हम लोग अभी ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के हथकंडों को नहीं समझ पाये थे। जब बहुत बातों में एक-मत हो गया और ऐसा मालूम हुआ कि अब केवल केन्द्रीय व्यवस्थापक सभा की जगहों की बात ही रह गयी है और वह भी शायद कलकत्ते में तय हो जायगी, ठीक उसी समय ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इँगलैंड से एक विज्ञप्ति निकाल दी। हम लोग कलकत्ते जा रहे थे और रास्ते में रेल पर ही यह विज्ञप्ति देखने को मिली। इसमें केन्द्रीय असेम्बली में एक-तिहाई जगह की माँग मंजूर कर ली गयी थी! जिस चीज पर हम इतनी बहस कर चुके थे तथा जिस पर एक बार और विचार करने के लिए हम कलकत्ते जा रहे थे, वह सरकार ने ठीक इसी अवसर पर दे दी! हम समझ गये कि अब इस सम्मेलन का काम समाप्त हो गया! ब्रिटिश गवर्नमेण्ट मैकडोनल्ड-फैसले को किसी तरह बदलना नहीं चाहती है। उसके कायम रहने से ही आपस के झगड़े कायम रहेंगे। वह अगर हमारे समझौते के कारण रद कर दिया गया और उसके स्थान पर हमारा आपस का समझौता रह गया, जिसे सभी मानने के लिए नैतिक रूप से भी बाध्य होंगे, तो फिर ब्रिटिश राज्य को तीतर-बटेरों-जैसी लड़ाई कराने और देखने का मौका नहीं मिलेगा, और न बिल्लियों की लड़ाई में बन्दर को दोनों के हिस्से खाते रहने का ही सुअवसर प्राप्त होगा। इसलिए, यह अवसर उस फैसले की एक कमी की पूर्ति के लिए ठीक उपयुक्त समझा गया और वह तुरन्त घोषित कर दिया गया। सम्मेलन समाप्त हो गया!! हम कलकत्ते में मिले, पर इस मिलने में कुछ तथ्य नहीं था।

सम्मेलन का इतना अच्छा असर सारे देश पर पड़ा था कि सभी लोग आशा लगाये हुए थे कि अब मामला तय होकर ही रहेगा। इसकी खबर पाकर अलवर के महाराज प्रयाग आ गये थे। उनकी तथा पं० मालवीयजी की इच्छा थी कि सम्मेलन

के अन्तिम अधिवेशन में, जो खुलेआम सभा के रूप में होगा, वह भी बोलें। वह सभा हुई भी जिसमें बताया गया कि सब बातें तय हो गयी हैं और जो दो-एक बात रह गयी है वह भी तय हो जानेवाली है। महाराज का भी अच्छा भाषण हुआ। पीछे जो उनके साथ व्यवहार हुआ उससे मालूम हो गया कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट से वह जितना असन्तुष्ट थे उससे भी अधिक ब्रिटिश गवर्नमेण्ट उनसे असन्तुष्ट थी। थोड़े ही दिनों के बाद वह गद्दी से उतारे गये। कुछ दिनों के बाद उन्होंने इँगलैंड में आत्महत्या कर ली।

उस सभा तक हम लोग यही समझ रहे थे कि इस सम्मेलन के द्वारा हम एकता कायम कर लेंगे। मुझे इस सम्मेलन में एक बात से तो आशा हुई, मैंने देखा कि बहुत बातों में एकमत हो गया। पर बहस से मैं भी कभी-कभी ऊब जाता था, यद्यपि मैं बहस में बहुत कम योग देता था। कभी-कभी तो मैं ऐसा अनुभव करता था कि छोटी बातों को लेकर हम आपस में जल्दी एकमत नहीं हो सकते थे। ३२ और ३३$\frac{1}{3}$ में बहुत थोड़ा ही फर्क है, पर हम इसको भी न सुलझा सके! इसके लिए सम्मेलन को स्थगित करना पड़ा, जिसका नतीजा यह हुआ कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने लकड़ी मार दी और इस गिरह का सुलझना असंभव-सा हो गया।

१००—मेरी दुबारा गिरफ्तारी और बिहार की युनाइटेड पार्टी

कलकत्ते मैं गया एकता-सम्मेलन के काम से; पर वहाँ कुछ ठहर जाना पड़ा। मैंने वहाँ आन्दोलन के लिए भी कुछ काम कर लिया। उन दिनों रुपये की जरूरत थी। इस जरूरत को पूरा करने में मैंने कुछ हाथ बटा लिया। लोगों में आन्दोलन के प्रति उत्साह और श्रद्धा थी, पर लोग बहुत डर गये थे। इसलिए कोई धनी आदमी खुल्लम-खुल्ला मदद करने को तैयार नहीं था। पर चुपचाप पैसे देनेवाले बहुत थे। मैं इसका एक बहुत ही अच्छा उदाहरण यहाँ बता देना ठीक समझता हूँ। जब मैं बनारस में ठहरा हुआ था, एक दिन कहीं जाते समय, सड़क पर एक पुराने परिचित मित्र से मुलाकात हो गयी, जो गांधीजी के यहाँ आया-जाया करते थे। उन्हें देखकर मुझे कुछ आश्चर्य हुआ। वहाँ उन्होंने मुझसे इतना ही जान लिया कि मैं बाबू शिवप्रसाद गुप्त के यहाँ ठहरा हूँ। वह आकर मुझसे मिले। उन्होंने कहा—सुना है कि आन्दोलन में रुपयों की जरूरत है और यह जरूरत मद्रास तथा बिहार में विशेष महसूस हो रही है। मैंने कहा, रुपयों की जरूरत तो है ही। रुपये वह साथ लाये थे। आज मुझे ठीक स्मरण नहीं है, पर अखिल भारतीय काम के लिए आठ या दस हजार के नोट मेरे हाथों में उन्होंने रख दिये। मैं बहुत कृतज्ञ हुआ और उनकी इच्छा के अनुसार रुपयों को जहाँ-तहाँ भिजवा दिया। इसी तरह लोगों की मदद कलकत्ते में भी मिली। कलकत्ते से मैं पटने वापस आ गया।

मुझे जेल से निकले प्रायः छः महीने बीत चुके थे। दिन बीतते देर नहीं लगती। इसी बीच मैं दो बार बीमार पड़ा, गांधीजी के उपवास और पूना के सम-

झौते के समय वहाँ हाजिर रहा, हरिजन-सेवक-संघ-सम्बन्धी यात्राएँ और सभाएँ कीं, प्रयाग के एकता-सम्मेलन के लम्बे अधिवेशन में काम करना और फिर कलकत्ते में उसी के लिए आना पड़ा। यह सब करता हुआ भी मैं बराबर महसूस किया करता था कि मुझे बाहर नहीं रहना चाहिए। मैं ही काँग्रेस का सभापति अथवा डिक्टेटर समझा जाता था और उस समय की प्रचलित पद्धति के अनुसार अपनी जगह पर किसी को मनोनीत करना था। प्रयाग में एकता-सम्मेलन समाप्त होने के समय ही मैंने सोच लिया था कि अब मैं कलकत्ते से लौटकर ही जेल-यात्रा कर दूँगा। वहाँ पर राजाजी और श्री अणे भी थे। उनसे मैंने सलाह ली और राजाजी को मनोनीत करना चाहा। पर उन्होंने अभी कुछ देर तक हरिजन-सेवा का काम और करने की इच्छा प्रकट की। आपस की राय के बाद मैंने श्री अणे को मनोनीत कर दिया। मेरी गिरफ्तारी के बाद वही डिक्टेटर हुए।

कलकत्ते से लौटकर मैं पटने में उपयुक्त दिन की इन्तजारी कर रहा था। बड़े दिन की छुट्टियाँ आ गयी थीं। मैंने सोच लिया था कि ४ जनवरी (१९३३) को मैं किसी तरह गिरफ्तार हो जाऊँगा। ४ जनवरी को ही १९३२ में गवर्नमेण्ट ने गांधीजी को गिरफ्तार करके दमन शुरू किया था। उसकी यादगार में इस वर्ष भी सभी जगहों में एक विज्ञप्ति काँग्रेस की ओर से पढ़ी जानेवाली थी। इसी बीच में एक दिन श्री कृपालानी, जो बाहर थे, मुझसे मिलने आये। वह कुछ रुपयों के बन्दोबस्त के लिए ही आये थे। जो कुछ कलकत्ते में हुआ था, मैंने उनको बतला दिया। किसी मित्र के नाम से, जो मुझे याद नहीं है, उनको एक पत्र भी दे दिया। वह उस पत्र को लेकर जा रहे थे। पटना-स्टेशन पर वह गिरफ्तार कर लिये गये। गिरफ्तारी होते ही उन्होंने पत्र को फाड़कर फेंक दिया। पर पुलिस ने टुकड़ों को एकत्र कर साट करके पूरा पत्र फिर तैयार कर लिया। उन पर मुकदमा चला। वह बाँकीपुर-जेल के अन्दर ही पेश हुआ। मैं भी पेशी में मुकदमा देखने गया। मुकदमा समाप्त होने पर मैं बाहर निकला। अपनी सवारी पर ज्यों ही सवार होना चाहता था कि पुलिस अफसर ने आकर मुझे खबर दी कि मुझे भी यहाँ रह जाना चाहिए! मैं तुरंत फिर फाटक के अन्दर दाखिल हुआ। कृपालानीजी और बाबू मथुराप्रसाद पहले ही से वहाँ आ गये थे—मथुरा बाबू ४ जनवरी की घोषणा पढ़ने के लिए! मैं भी उनका साथी हो गया। एक-दो दिनों के बाद मुझ पर भी मुकदमा चला। मथुरा बाबू को १८ महीने, कृपालानीजी को छः महीने और मुझे १५ महीनों की सजा हुई। मुझे आश्चर्य्य हुआ कि मुझे १५ महीने क्यों मिले, जब मथुरा बाबू को अठारह महीने दिये गये। मैंने मजाक में मजिस्ट्रेट से पूछा भी। यह वही पूर्व-परिचित मजिस्ट्रेट थे जिन्होंने मुझे छपरे में सजा दी थी और जो मेरी वकालत के समय के मेरे पुराने मवक्किल भी थे। खैर, चन्द दिनों के बाद हम लोग हजारीबाग पहुँचा दिये गये।

हजारीबाग में फिर उसी तरह पढ़ने और चर्खा चलाने में समय बीतने लगा। खाँ साहब दोनों भाई अभी तक वहीं थे। कुछ दिनों के बाद अखबारों से पता चला

कि गांधीजी को हरिजनों के सम्बन्ध में लिखने की जो सुविधा मिली थी वह बन्द कर दी गयी, इसलिए उन्होंने अनशन कर दिया, अन्त में सरकार को सुविधा देनी पड़ी और उनको छोड़ देना भी पड़ा। बाहर निकलकर उन्होंने देश की परिस्थिति देखी। उन्होंने हरिजनों के प्रति सवर्ण हिन्दुओं की ओर से प्रायश्चित्त और उनके कर्तव्यों को जताने के लिए २१ दिनों का उपवास किया। इससे हम लोग बहुत चिन्तित हुए। वहाँ प्रतिदिन हम लोग प्रार्थना करते। यों तो संध्या के समय, ठीक कोठरी बन्द होने के पहले, सामूहिक प्रार्थना हम लोग बराबर करते ही थे; पर इस उपवास के दिनों में और भी अधिक प्रार्थना होती। कोई गीता-पाठ करता, कोई रामायण की आवृत्ति करता, कोई केवल फल खाकर रहता। अपनी रुचि और शक्ति के अनुसार बहुतेरों ने कुछ न कुछ आत्मशुद्धि के लिए वहाँ किया। जिस दिन यह २१ दिनों का व्रत निर्विघ्न समाप्त हुआ, उस दिन हम लोगों ने इकट्ठे होकर विशेष प्रार्थना की और ईश्वर को धन्यवाद दिया।

इस उपवास के असर से अच्छे हो जाने के बाद गांधीजी ने ऐसे कांग्रेसियों की सभा की, जो बाहर थे। उसमें देश की परिस्थिति पर बहुत विचार-विमर्श हुआ। उस समय पं० जवाहरलालजी भी बाहर आ गये थे। हम लोगों को पूरा पता तो नहीं चला; क्योंकि उन दिनों अखबार भी हमें नहीं मिलते थे—केवल 'स्टेट्समैन' का विदेशों के लिए प्रकाशित साप्ताहिक संस्करण ही मिला करता था। पर कोई न कोई बाहर से नया गिरफ्तार होकर आ ही जाता था और उससे कुछ न कुछ पता लग जाता था। हम लोगों ने चाहे 'स्टेट्समैन' में पढ़ा अथवा किसी ने बाहर से वहाँ पहुँचकर कहा कि सत्याग्रह का रूप व्यक्तिगत कर दिया गया है। सभी सूबों में फिर से कुछ जागृति हुई। कुछ लोग व्यक्तिगत रूप से फिर जेलों में गये। इसमें बिहार ने अच्छा उत्साह दिखलाया। यहाँ छः-सात सौ से अधिक लोग गिरफ्तार हुए। पर हम लोगों को ऐसा भी मालूम होने लगा कि लोगों में कुछ सुस्ती आ गयी है। जनता ने इस सत्याग्रह में भी पूरा उत्साह दिखलाया था और यह सुस्ती आरंभ के प्रायः अठारह महीनों के बाद देखने में आयी। मेरा अपना खयाल था कि इसके कारणों में एक कारण यह भी था कि काम करनेवाले कुछ छुपकर काम करने लगे। सत्याग्रह में जनता की श्रद्धा तभी तक बनी रहती है जब तक काम करनेवाले, विशेषकर मुख्य काम करनेवाले, हिम्मत से अपने ऊपर गवर्नमेण्ट की मार झेलते रहते हैं अथवा झेलने के लिए तैयार रहते हैं। जब मुख्य काम करनेवाले, आन्दोलन को चलाने के लिए अपनी हाजिरी जरूरी समझ, बाहर रह जाते हैं—कुछ सरकारी दमन से बचने या भागने के लिए नहीं, तब भी लोगों की कुछ धारणा जरूर हो जाती है कि यह अपने को बचा रहे हैं। इससे जनता में त्याग का उत्साह कम होने लगता है।

जब गवर्नमेण्ट ने बहुत सख्ती के साथ दमन करके कांग्रेस के लिए न मकान रहने दिया, न पैसे और न खुले तौर पर काम करनेवाले; तब कुछ लोगों ने संगठन

को बनाये रखने के लिए छुप करके ही काम करना शुरू कर दिया। उन्होंने काम भी किया और काँग्रेस के संगठन को टूटने भी नहीं दिया। प्रायः सभी प्रान्तों की प्रान्तीय कमिटियाँ काम करती रहीं और उसी तरह जिलों में भी कमिटियों के प्रतिनिधि काम करते रहे। यह शृंखला टूट नहीं सकी। अखिल भारतीय कमिटी के आदेश और मन्तव्य सभी प्रान्तों में पहुँचते रहे और उनके अनुसार थोड़ा-बहुत काम भी होता रहा। पर साधारण जनता में, जिनमें से नये कार्यकर्त्ता और सत्याग्रही मिलते, उत्साह कम होने लगा। छुपकर काम करने का असर अन्ततः अच्छा नहीं हुआ। सत्याग्रह की लड़ाई इस सम्बन्ध में अन्य लड़ाइयों से विभिन्नता रखती है। इसमें नेताओं को ही आगे रण में कूदना पड़ता है—अपने को ही उन्हें सबसे पहले आग में झोंकना पड़ता है। आजकल की शस्त्र की लड़ाई में जनरल आगे नहीं जाता—बहुत करके तो वह लड़ाई के मैदान में भी नहीं जाता—वह पीछे से ही सेना का संचालन करता है। सेना भी यह आशा रखती है कि जनरल पीछे रहकर अपने को सुरक्षित रखता हुआ सेना का संचालन करेगा। इसलिए उसके पीछे रहने से भी सेना पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ता। पर सत्याग्रह में सेना भी आशा रखती है कि सरदार ही सबसे आगे जूझेगा। इसलिए इसमें उसके पीछे पड़ने से सेना में स्वाभाविक असन्तोष और कमजोरी आ जाती है। ऐसा ही १९३३ में भी हुआ।

जब मैं बाहर था, १९३२ में एक बात इस सूबे में हुई। गोलमेज-कान्फ्रेन्स वगैरह की कार्रवाइयों से इतना निश्चित जान पड़ता था कि कुछ न कुछ शासन-विधान में सुधार तो होगा ही और चाहे वह सुधार काँग्रेस को सन्तुष्ट करे या न करे, नये चुनाव तो होंगे ही, जिनमें जनता को भाग लेना पड़ेगा। बिहार ही क्या, सारे देश में किसानों की ही बड़ी संख्या है। उनके हाथों में बहुत वोट होंगे। काँग्रेस का उनमें पूरा प्रभाव था। इसका प्रदर्शन १९२३ और १९२६ के चुनावों में हो चुका था। १९३० और १९३२-३३ के सत्याग्रह के बाद वह प्रभाव बढ़ा ही था, घटा नहीं था। यह समझ करके बिहार के गवर्नर ने बिहार के जमीन्दारों को किसानों में संगठन करने के लिए प्रोत्साहन दिया था। जाहिर था कि किसानों का झगड़ा अभी जमीन्दारों के साथ ही हुआ करता था। इसलिए उन्होंने एक नयी पार्टी बनायी जिसमें किसानों को भी मिलाने का प्रयत्न किया गया। पार्टी का नाम 'युनाइटेड पार्टी' पड़ा। उन लोगों की इच्छा थी कि जब तक काँग्रेसवाले लड़ रहे हैं, हम लगान-कानून में कुछ ऐसी तब्दीली करेंगे जिससे किसानों को कुछ सहूलियत मिल जाय और इस तरह उनको मिला लेंगे—जब नया चुनाव आवेगा और काँग्रेस उसमें भाग लेगी, तो यह युनाइटेड पार्टी इतनी मजबूत हो गयी रहेगी और किसान इसका इतना साथ देते रहेंगे कि काँग्रेस मुकाबला नहीं कर सकेगी।

इस पार्टी के नियम कुछ बुरे नहीं थे, यद्यपि काँग्रेस की निगाह में वे काफी नहीं थे। इसने भी अपना उद्देश्य (औपनिवेशिक स्वराज्य) मान लिया और जिस तरह के प्रस्ताव लिबरल फेडरेशन में हुआ करते हैं उस तरह के कुछ प्रस्ताव भी किये।

बिहार में काँग्रेस के अलावा कोई दल नहीं था; एक तरफ था सरकार या उसके मददगारों का दल और दूसरी तरफ काँग्रेस या सरकार से लड़नेवालों का दल; लिबरल जैसे बीच के विचार रखनेवाला कोई दल नहीं था। इस पार्टी के लोगों से मेरी भेंट और बातचीत भी हुई थी। मैंने समझ लिया था कि यह प्रयत्न काँग्रेस का प्रतिद्वन्द्वी दल खड़ा करने के लिए किया जा रहा है और इसमें गवर्नर का भी इशारा है। तो भी मेरे मन में एक क्षण के लिए भी यह सन्देह न हुआ कि यह दल काँग्रेस का मुकाबला कर सकेगा। काँग्रेस का प्रभाव उसकी सेवा और त्याग के कारण है। इस पार्टी में वह बात नहीं हो सकेगी। मैं यह भी समझता था कि जो पार्टी चुनावों में जगह लेने को ही मुख्य उद्देश्य मानकर बनायी जा रही है उसमें आपस के झगड़े हुए बिना भी न रहेंगे, क्योंकि पार्टी के अन्दर उमीदवारों की संख्या जगहों से कई-गुना अधिक हो जायगी। इसके अलावा आपस की प्रतिद्वन्द्विता भी होती रहेगी। इसलिए मुझे इसका डर नहीं था कि यह पार्टी काँग्रेस का मुकाबला कर सकेगी। मैंने यह भी समझा कि यदि एक ऐसी बीचवाली पार्टी हो जाय तो कुछ बुरा भी न होगा; क्योंकि जब कभी गवर्नमेण्ट से लड़ाई करने में काँग्रेस बझ जाती है तो रचनात्मक काम करनेवाला भी कोई नहीं रह जाता। शायद इस पार्टी से मौके पर देश की कुछ सेवा हो सकेगी। मैंने यह भी सोचा कि यदि यह किसानों को अपनी ओर से कुछ सहूलियत दे भी देगी तो उससे किसानों को लाभ ही पहुँचेगा—फिर जब काँग्रेस के साथ इसका मुकाबला होगा तो किसान केवल काँग्रेस का ही साथ देंगे और स्वराज्य की बात को नहीं भूलेंगे। इसलिए मैं इस पार्टी के संगठन से बिलकुल निश्चिन्त था। इसके मुख्य काम करनेवालों से बातें हुई तो मैंने अपने विचार भी कह दिये। उन्होंने इच्छा प्रकट की कि मैं इस सम्बन्ध में एक वक्तव्य प्रकाशित कर दूँ। मैं राजी हो गया। एक छोटा वक्तव्य मैंने पत्रों में दे दिया। उसमें इतना ही लिखा कि यह पार्टी यदि अपने प्रकाशित उद्देश्यों के अनुसार काम करती रहेगी तो मैं आशा रखता हूँ कि इससे देश का भला ही होगा, बुरा नहीं।

इस वक्तव्य की खबर हजारीबाग में मित्रों को मिल गयी थी। कुछ लोग इससे असन्तुष्ट हुए। वहाँ मेरे पहुँचने पर इस सम्बन्ध में बातें हुई। मैंने अपने विचार बता दिये। पर शायद वे सन्तुष्ट न हुए। हम लोग वहीं थे जब इस पार्टी की ओर से लगान-कानून में कुछ संशोधन की बात चल पड़ी। मैं तो यह सब जानता ही था और जान करके भी निश्चिन्त था। पर कुछ मित्र इससे और घबराये। वे सोचने लगे, इस तरह पार्टी अपना प्रभाव किसानों में जमा लेगी। उनका विचार हुआ कि इसका विरोध होना आवश्यक है। काँग्रेस तो जेल में थी और गैर-कानूनी संस्था भी बना दी गयी थी; इसलिए किसान-सभा ही विरोध कर सकती थी। शायद पहले की ही सभा थी जो काँग्रेस के जोर के कारण कुछ विशेष काम नहीं कर रही थी। उसे कुछ लोग पुनः जीवित करने का प्रयत्न कर रहे थे। वहाँ से उन लोगों को प्रोत्साहन के सन्देश भेजे गये। स्वामी सहजानन्दजी से विशेष अनुरोध किया गया

कि वह किसान-सभा का संगठन करके लगान-कानून के सुधार के प्रस्ताव का विरोध करावें। मैं इसको गैर-जरूरी समझता था। कारण ऊपर बता चुका हूँ। पर मैं इसका विरोध नहीं कर सकता था। मैं चुप रहा। व्रजकिशोर बाबू भी किसान-सभा-जैसी एक दूसरी संस्था की जरूरत नहीं समझते थे। पर उन्होंने बाहर रहकर भी और मैंने भीतर से इसका विरोध नहीं किया। इस तरह किसान-सभा का जबरदस्त संगठन हम लोगों की गैर-हाजिरी में ही होने लगा। लगान-कानून-सुधार का विरोध सख्ती से होने लगा। पहले के कुछ किसान-सभा के प्रमुख कार्य्यकर्त्ता इस किसान-सभा का विरोध और सुधार का समर्थन जोरों से करने लगे। यह बात एक-डेढ़ बरस तक चलती रही। जेल से हम लोगों के छूटने तक यह तय नहीं हुई थी।

१०१—मेरी बहुत सख्त बीमारी

मैं १९३३ की जुलाई के पहले सप्ताह में बीमार पड़ गया। कुछ खाँसी शुरू हो गयी। शायद अचानक ठंढ लग जाने से ही ऐसा हुआ। पहले तो हमने समझा कि यह मामूली खाँसी है, जल्द आराम हो जायगी। पर यह कम न होकर दिन-दिन बढ़ती गयी। दमा भी जोर पकड़ गया। एक बार तो इतने जोर से उठा कि प्रायः दो दिनों तक मैं बहुत परेशान रहा। उसके बाद सुई दी गयी। दम कुछ कम हुआ और तब कुछ खाने के लिए मैं बैठा। जैसे ही चमच में लेकर दूध और रोटी का टुकड़ा मुँह में दिया कि फिर दम बहुत जोरों से शुरू हो गया और साँस इस तरह घुटने लगा कि मानों प्राणान्त हो जायगा। मैं बेहोश-सा हो गया। जेल-डाक्टर ने आकर कुछ सुँघाया, तब होश हुआ। उसके बाद बहुत जोर मल (आँव) पड़ गया। दिन में चौबीस-पच्चीस बार दस्त होने लगा। कमजोरी बहुत बढ़ गयी। शरीर बहुत दुर्बल हो गया। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट ने गवर्नमेण्ट को लिखा, यह पटना-अस्पताल में दवा के लिए भेजे जायँ। पहले इस पर कुछ खयाल नहीं किया गया। भाई साहब को खबर मिली। वह घबराकर वहाँ पहुँचे। मेरी हालत देखकर बहुत चिन्तित हुए। राँची गये। कुछ मित्रों से मिले। अन्त में गवर्नमेण्ट का हुक्म मुझे पटने भेजने के लिए हुआ। यह हुआ सितम्बर के पहले सप्ताह में, बीमारी शुरू होने के दो महीने बाद! हुक्म यह था कि मैं पटना-जेल भेजा जाऊँ और पटना-अस्पताल में बीमारी की जाँच की जाय। मुझे जब हुक्म बताया गया तो मैंने कहा कि पटना-अस्पताल में यदि नहीं जाना है—पटना-जेल में ही जाना है, तो बेहतर है कि यहीं रहूँ। पर मुझको बताया गया कि यही कायदा है लिखने का, इसका अर्थ यह है कि मैं अस्पताल में भेजा जा रहा हूँ।

दूसरे दिन सवेरे किसी तरह मुझे पटने ले आये। भाई भी साथ ही आये। यहाँ पहले जेल में लाकर वहाँ से फिर तुरन्त ही अस्पताल ले गये। अस्पताल में मैं उन मकानों में से एक में रखा गया जिनमें रोगी भाड़े देकर रहते हैं और जिनमें थोड़ी जगह घर के बाल-बच्चों के रहने की भी होती है। मेरी भौजाई, पत्नी और

नौकर भी साथ रहने लगे। डाक्टर बनर्जी ने मेरे पहुँचते ही जाँच की। हालत खराब देख तुरन्त अपनी चिकित्सा आरम्भ कर दी। डाक्टर रघुनाथशरण तथा दूसरे डाक्टर भी जो पहले से मुझे जानते थे, आया-जाया करते थे। पुलिस का पहरा रहता था; पर किसी के आने-जाने की मनाही न थी। कई दिनों तक तो हालत खराब रही; पर आहिस्ता-आहिस्ता सुधरने लगी। मल और ज्वर कुछ सँभाल में आये। खाँसी भी कुछ कम हुई। अभी बीमारी गयी नहीं थी, उसका उग्र रूप कुछ कम हुआ था। बीमारी को दूर करने के लिए दवा अब शुरू हो रही थी कि एक दिन सेपहर को ३-४ बजे अचानक खबर मिली—गवर्नमेण्ट का हुक्म आया है कि मैं तुरन्त बाँकीपुर-जेल भेज दिया जाऊँ। शायद किसी ने गवर्नमेण्ट के पास कुछ खबर दे दी थी या चुगली कर दी थी कि मेरे पास बहुत लोग मिलने आते हैं और मैं वहाँ खाट पर पड़ आन्दोलन चला रहा हूँ। बात बिलकुल झूठी थी। मुझसे लोग मिलने आते थे जरूर—और वह बीमारी के कारण स्वाभाविक था; पर मैंने किसी से आन्दोलन के सम्बन्ध में कुछ भी नहीं कहा था।

जो हो, अस्पताल से तुरन्त मैं बाँकीपुर-जेल पहुँचाया गया। डाक्टर बनर्जी साहब खबर पाते ही आये। उनको बहुत अफसोस हुआ; क्योंकि वह बीमारी का इलाज अब शुरू कर रहे थे, अब तक तो उग्र कारणों को ही कम कर पाये थे। वहाँ जो दवा इत्यादि वह दे रहे थे उसे लिखकर उन्होंने एक रिपोर्ट भी साथ कर दी। जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट मेजर स्ट्रिक्लैण्ड से, जो जिले के सिविल सर्जन भी थे, उनकी बातें भी हुईं। सुपरिण्टेण्डेण्ट ने उनके ही इलाज को जारी रखने का इरादा बतला दिया। जेल में वही दवा जारी रही। मैं कुछ अच्छा तो हो ही गया था। जेल में भी सुधार जारी रहा। अब सर्दी के दिन आ रहे थे, जब मेरी तबीयत अक्सर खराब हुआ करती है। एक दिन अचानक फिर बड़े जोर का दमा शुरू हो गया। दो दिनों में हालत बहुत खराब हो गयी। सिविल सर्जन ने बहुत प्रयत्न किया, पर कुछ सफल न हुए। हालत देखकर वह भी कुछ घबराये। उन्होंने फिर गवर्नमेण्ट के पास लिखा या टेलीफोन किया; डाक्टर बनर्जी को भी मुझे देखने के लिए लाये। डाक्टर बनर्जी ने कुछ दवा दी। उस रात को मैं कुछ सो सका, पर बहुत सुधार नहीं हुआ। अन्त में सिविल सर्जन ने फिर गवर्नमेण्ट से बातें करके मुझे जेल से अस्पताल भेजने का प्रबन्ध किया। जब उन्होंने मुझसे यह कहा कि गवर्नमेण्ट का हुक्म मुझे अस्पताल भेजने का आ गया, तो मैंने कहा कि इस तरह जेल से अस्पताल और फिर अस्पताल से जेल आना-जाना मैं नहीं बर्दाश्त कर सकता—जो होना होगा, यहीं होगा। इस पर उन्होंने आश्वासन दिया कि इस बार जब तक डाक्टर लोग मुझे आराम करके वापस न करेंगे तब तक मैं अस्पताल में ही रखा जाऊँगा।

बात यह थी कि पहली बार के हुक्म में केवल जाँच के लिए ही अस्पताल ले जाने की बात थी; पर वहाँ डाक्टरों ने दवा करना शुरू कर दिया था, इससे गवर्नमेण्ट ने उनसे कैफियत माँगी थी! पर जेल के इन्सपेक्टर-जेनरल, सिविल सर्जन

और अस्पताल के डाक्टर, सबने जवाब दिया था कि इलाज से अलग जाँच के कोई मानी नहीं है और हालत इतनी खराब थी कि दवा देना आवश्यक था। इस बात की रिपोर्ट डाक्टरी भाषा में गवर्नमेण्ट को दी भी गयी थी। इससे गवर्नमेण्ट का मुँह बन्द हुआ, पर तुरन्त मुझे वापस भेज देने का हुक्म निकाल दिया गया। जब जेल में दुबारा बीमारी बहुत बढ़ गयी तो सबने मिलकर साफ हुक्म कराया कि आराम होने तक मैं वहीं रखा जाऊँ। सिविल सर्जन का इशारा इसी की तरफ था जब उन्होंने कहा कि मुझे आराम होने तक वहीं रहना होगा।

मैं अस्पताल में बहुत बुरी हालत में पहुँचाया गया। इस बार सख्ती भी काफी थी। हुक्म था कि घर की दो स्त्रियाँ साथ रह सकती हैं और काम के लिए एक या दो नौकर, कोई दूसरा मिलने के लिए नहीं आ सकता, हफ्ते में एक बार घर के लोगों से मुलाकात हो सकती है—वह भी पुलिस और जेल के कर्मचारी की हाजिरी में। मुझे इससे कोई खास तकलीफ नहीं थी, क्योंकि मैं पहले भी किसी से आन्दोलन की बातें नहीं किया करता था, और अभी तो इतना बीमार था कि चारपाई से उठकर कुर्सी पर भी नहीं बैठ सकता था। इस बार की बीमारी पहले से भी बहुत कड़ी थी। हजार कोशिश करने पर भी उसमें कमी नहीं आती थी। कभी-कभी तो ऐसा मौका आया कि सुई पर सुई देनी पड़ी। साँस का फूलना चार-पाँच घंटों के लिए कुछ कम हो जाता, फिर ज्यों का त्यों, बस फिर सुई दी जाती। नवम्बर-दिसम्बर बहुत खराब गुजरे। यद्यपि मैं बहुत बीमार पड़ा करता हूँ तथापि इतनी सख्त बीमारी कभी हुई नहीं। दिसम्बर में अस्पताल के डाक्टरों ने गवर्नमेण्ट को लिखा कि हालत खराब है और बीमारी कब्जे में नहीं आती है, रात को इतनी परेशानी रहती है कि मेडिकल कालेज के दो विद्यार्थी बारी-बारी से जागकर देखभाल करते हैं। पर गवर्नमेण्ट का काम जल्दी तो होता नहीं। अन्त में हुक्म हुआ कि मेडिकल बोर्ड मेरी जाँच करे। इस बोर्ड में वही डाक्टर बनर्जी थे, वही सिविल सर्जन थे और एक तीसरे थे मेडिकल कालेज के प्रिन्सिपल। मेरा अनुभव था कि दिसम्बर के अन्त से हर साल बीमारी का जोर कुछ कम हो जाया करता है। इस साल भी वैसा ही हुआ। जब मेडिकल बोर्ड १९३४ की जनवरी के पहले सप्ताह में जाँच करने आया, बीमारी में कमी आ गयी थी। सब हालत और प्रतिदिन की रिपोर्ट देखकर बोर्ड ने मुझे छोड़ देने की सिफारिश की। मुझसे यह कहा नहीं गया। एक साल से अधिक जेल में हो चुका था—१५ महीनों की सजा थी। शायद डेढ़ दो महीने मीयाद के बाकी रह गये थे। रिपोर्ट पर गवर्नमेण्ट ने १९३४ की १५ जनवरी को विचार किया—मुझे छोड़ देने का निश्चय किया। मैं उस दिन भोजन करके चारपाई पर लेटा हुआ था। एक आदमी ने आकर नौकर से खबर दी कि सर गणेशदत्तसिंह ने सँदेशा भेजा है—गवर्नमेण्ट ने आज निश्चय किया है कि मैं छोड़ दिया जाऊँ और अब एक-आध दिन में यह हुक्म जेल की मार्फत पहुँच जायगा। नौकर ने मेरी भौजाई और पत्नी से यह कहा—फिर उन्होंने मुझे खबर दी।

१०२—बिहार का प्रलयंकर भूकम्प

अस्पताल में चारपाई पर लेटे-लेटे मैं सोच रहा था—जब बीमारी का बहुत जोर था, जिस वक्त अब-तब की नौबत थी, उस वक्त तो गवर्नमेण्ट ने कुछ किया ही नहीं; अब जब कुछ अच्छा हो गया हूँ, स्वास्थ्य में दिन-दिन उन्नति होने की सम्भावना और आशा है तथा मीयाद भी प्रायः पूरी हो चली है, तब यह मुफ्त का अहसान मुझ पर क्यों लादा जा रहा है! बीमारी की सख्ती के दिनों में तो घर के किसी आदमी से, भाई से भी, हफ्ते में एक ही बार पुलिस के सामने मुलाकात हो सकती थी! सख्ती इतनी थी कि एक बार मेरी भौजाई चली गयीं और मेरे भतीजे की स्त्री दो-चार दिनों के लिए सेवा करने आयी, उसका एक चार साल का बच्चा था जो उससे कहीं अलग नहीं रह सकता था; इस पर भी उज्र हुआ कि हुक्म दो आदमी के रहने का है, यह तीसरा बच्चा साथ नहीं रह सकता! उसे चला जाना पड़ा! अब क्यों यह मुफ्त का अहसान लिया जाय?

मैं इसी उधेड़-बुन में लगा चारपाई पर करवटें बदल रहा था कि चारपाई हिलती हुई जान पड़ी। फिर मकान के दरवाजे और जँगले हिलने लगे। मुझे आभास हुआ कि मैं बीमारी के कारण इतना कमजोर हो गया हूँ और इतनी देर से सोच-विचार में लगा रहा हूँ, इसलिए मेरे दिमाग में चक्कर आ गया है। मैं यह सोच ही रहा था कि मेरी भौजाई ने दूसरे कमरे से चिल्लाकर कहा कि धरती डोल रही है। मैं तुरन्त समझ गया। कहा कि सब निकल भागो। तुरन्त चारपाई से उतरकर बाहर निकल गया। सामने के मैदान में जाकर खड़ा हो गया। धरती इतने जोरों से डोल रही थी कि खड़ा रहना कठिन था। साथ ही साथ भयानक गड़गड़ाहट थी, सैकड़ों रेलगाड़ियों के एक साथ चलने के बराबर आवाज हो रही थी। कुछ दूसरे बीमार, जो आस-पास के मकानों में थे और जो चल सकते थे, मेरे नजदीक ही आकर खड़े हो गये। मैदान में बहुत-सी गायें चर रही थीं, वे पूँछ उठाकर इधर-उधर दौड़ने लगीं। एक बार सब मिलकर जहाँ हम लोग खड़े थे वहाँ इस तरह दौड़ी आयीं कि जान पड़ा, हम लोगों पर हमला कर रही हैं! पर ऐसा कुछ न करके हम लोगों के पास दौड़ती आकर खड़ी हो गयीं, मानों उन्होंने उस स्थान को निरापद समझा अथवा हम लोगों को अपना हितैषी मानकर हमारे पास रहना ही अच्छा समझा। इतने में ही, कुछ दूर पर, नर्सों के रहने का बड़ा दोमंजिला मकान धड़ाम से गिर पड़ा। पर गड़गड़ाहट इतनी थी कि मकान गिरने की आवाज कम ही सुनाई दी, केवल धूल-गर्द को जोरों से उड़ते देखकर ही हमने समझा कि वह मकान गिरा है। अस्पताल के कुछ हिस्से जहाँ-तहाँ गिरे, पर सौभाग्यवश कोई मरा नहीं और न कोई घायल ही हुआ। कुछ देर में शान्ति हुई।

मैंने करीब ४॥ मिनट तक भूकम्प जारी रहने का अन्दाजा लगाया था। पीछे सूबे के भिन्न स्थानों से खबरें आयीं तो जान पड़ा कि ४॥ मिनट से ७

मिनट तक भूकम्प का जारी रहना देखा गया था। सब लोग जहाँ-तहाँ से डरे-घबराये निकलने लगे। अब घर के अन्दर जाने की किसी की हिम्मत नहीं होती थी। मैं जब से अस्पताल आया था, यह पहला ही अवसर था कि कमरे के बाहर निकला था और पहला ही अवसर था जो दूसरे लोगों से बातें हुईं। बातें और क्या हो सकती थीं, भूकम्प के बारे में ही थीं। मित्र लोग शहर से दौड़कर देखने आये कि मेरी क्या हालत है। आहिस्ता-आहिस्ता खबर आने लगी कि शहर में बहुत मकान गिरे हैं। कुछ लोग अस्पताल में घायल लाये भी गये। हम लोगों की चारपाई बाहर मैदान में ही निकाल दी गयी थी। वहीं संध्या तक हम पड़े रहे। जनवरी का जाड़ा था। हवा जोरों से चल रही थी। कड़ाके की सर्दी पड़ रही थी। मेरे सामने प्रश्न हुआ कि रात को क्या किया जाय। मकान के अन्दर जाकर लोगों ने देखा तो कई जगह दीवार फट गयी थी, पर कोई हिस्सा गिरा नहीं था। मैंने सोचा कि रात में बाहर रहने से तो सर्दी के कारण मेरी अवश्य ही बीमारी बढ़ जायगी और मैं बच न सकूँगा, यदि फिर रात में भूकम्प आया तो फिर निकल आवेंगे। हिम्मत करके मैं मकान के अन्दर चला गया। देखादेखी कुछ और मरीज गये, पर सब नहीं। पास में बच्चों का वार्ड था, उसका एक हिस्सा गिर गया था, दीवारें कुछ कमजोर हो गयी थीं; इसलिए अस्पतालवालों ने सबकी चारपाइयाँ मैदान में ही रखवा दीं और उसी सर्दी में वे रात काटने लगे। रात को एक बजे भूकम्प का एक धक्का और आया। यह भी जबरदस्त था; क्योंकि चारपाई इतनी हिली कि मैं जाग उठा। सब फिर बाहर निकल आये। पर यह उतनी देर तक न रहा जितनी देर दिन का भूकम्प रहा था। किसी तरह रात कटी। हम लोगों को बाहर की खबर उस दिन कुछ न मिली। शहर की थोड़ी खबर मिली जिससे मालूम हुआ कि शहर की काफी बर्बादी हुई है।

दूसरे दिन सवेरे १० बजे डाक्टर बनर्जी मुझे देखने आये। मैं उनसे बातें करते-करते बरामदे से नीचे उतर ही रहा था कि एक झोंका और आया। हम दोनों बाहर निकल गये। उनसे पहले-पहल मालूम हुआ कि मुँगेर की हालत खराब है, यद्यपि कुछ भी साफ खबर नहीं मिली है। वह मुँगेर के ही रहनेवाले हैं, अतः बहुत चिन्तित थे। उन्होंने यह भी कहा कि गवर्नमेण्ट की आज्ञा हुई है कि जितने डाक्टर मिल सकें, तैयार रखे जायँ कि जहाँ जाने का हुक्म मिले, तुरन्त चले जायँ और अस्पताल में भी घायलों के लिए जगह तथा दूसरे प्रबन्ध ठीक रखे जायँ। अब कुछ पता चला कि यह भूकम्प कुछ दूर तक करामात दिखला गया है। यह भी सुनने में आया कि सरकारी सेक्रेटेरियट का एक हिस्सा गिर गया है, सब काम तितर-बितर है, इसी हल्ले में मेरी रिहाई का हुक्म भी न आ सका। मैं दो दिनों के बाद छोड़ा गया। उस दिन सिविल सर्जन ने आकर मुझसे चार बजे सेपहर को कहा कि मैं छोड़ दिया गया और मैं जो चाहूँ कर सकता हूँ। पुलिस का पहरा हटा लिया गया। कुछ लोगों की धारणा है कि भूकम्प के कारण गवर्नमेण्ट ने मुझे छोड़ दिया। जैसा ऊपर बताया गया है, मुझे बीमारी के कारण छोड़ने का निश्चय भूकम्प के चन्द घंटे पहले ही हो

चुका था और उसकी सूचना भी मुझे मिल गयी थी। भूकम्प से रिहाई में दो दिनों की देर हो गयी; क्योंकि सब मामला ही गड़बड़ में पड़ गया। जब उत्तर बिहार की शोचनीय दशा का पता दो दिनों के बाद कुछ लगने लगा तो गवर्नमेण्ट ने उधर के रहनेवाले कुछ सत्याग्रहियों को छोड़ दिया। उन लोगों को मालूम हो गया कि मैं भी मुक्त हूँ। मैं सोच ही रहा था कि भूकम्प-पीड़ित लोगों की सहायता के लिए कुछ न कुछ करना होगा, तब तक वे लोग आ गये। उनको मैंने तिरहुत के जिलों में भेजा। कुछ रुपये उधार लेकर उनके लिए कम्बल खरीदवाये, उन लोगों के पास ओढ़ने को कुछ नहीं था, वे सब गरमी में गिरफ्तार हुए थे और चलने के वक्त वही गरमी की धोती और कुर्ता वापस लिये थे। कुछ खर्च के साथ किसी तरह चम्पारन, मुजफ्फरपुर, दरभंगा और सारन की खबर लेने के लिए उनको भेजा। रेल, तार, सब बन्द थे। इसका भी पता न था कि वे किस तरह जा सकेंगे। उन्होंने हिम्मत करके नाव पर और पैदल जाकर पता लगाना शुरू किया।

मैंने मदद के लिए रुपयों की फिक्र की और एक अपील निकालने का विचार किया। कई दिन बीत चुके थे, अभी तक कुछ भी ठीक खबर नहीं मिली थी। पर जो थोड़ी-बहुत खबर मिली थी वह बहुत भयानक थी। डाक्टरों ने मुझे अस्पताल में ही रोक रखा था। मैं बहुत कमजोर था, पर न मालूम इस समय कहाँ से उत्साह और शक्ति आयी। मैंने जिद्द करके काम शुरू कर ही दिया, पर अस्पताल में से ही। हजारीबाग से मथुरा बाबू और सत्यनारायण बाबू छूटकर अस्पताल में मेरे पास आ गये। कुछ मित्र अस्पताल में ही मिले और राय ठहरी कि एक अपील निकाली जाय तथा रिलीफ-कमिटी के नाम से एक कमिटी बना ली जाय। हमने तय कर लिया कि यह कमिटी केवल काँग्रेसी लोगों की ही न होकर सभी दलों के लोगों की होगी। हम बराबर, जब कभी कोई संकट आया, इस तरह का काम करते आये थे। इसलिए इस बार भी वही करना था, पर अभी यह नहीं मालूम था कि यह कितना बड़ा काम होगा। अब तक भी क्षति की पूरी खबर नहीं मिली थी। गवर्नर ने भी एक सार्वजनिक सभा करने की सोची। मिस्टर सैयद अब्दुल अजीज, जो उन दिनों एक मिनिस्टर थे, मुझसे अस्पताल में ही मिले। उन्होंने कहा कि अलग अपील न करके गवर्नमेण्ट के साथ मिलकर काम करना ही अच्छा होगा। शफी दाऊदी साहब भी मिले और उनकी भी यही राय हुई। उन्होंने यह भी कहा कि अपील से आये रुपयों के अलावा गवर्नमेण्ट अपने रुपये भी खर्च करेगी, और हम लोगों की अपील में बहुत मिलने की आशा नहीं की जा सकती है, क्योंकि सत्याग्रह के कारण काँग्रेस का संगठन तितर-बितर हो गया है तथा काम करनेवाले भी बहुतेरे जेलों में हैं। मैंने उन दोनों सज्जनों से कह दिया कि इस मामले में गवर्नमेण्ट जो कुछ भी करेगी उससे हम लोगों का विरोध तो होगा ही नहीं; पर कुछ ऐसे लोग भी होंगे जो गवर्नमेण्ट को पैसे न देकर यह चाहेंगे कि गैर-सरकारी संस्था भी काम करे; हम लोग हर संकट के समय कुछ इस तरह का करते आये हैं; इसलिए जनता भी कुछ हमसे आशा रखेगी; गवर्नमेण्ट से हमारा

मुकाबला नहीं है; जो लोग हमको देंगे उसी का अच्छा से अच्छा इस्तेमाल करके हम चुप हो जायँगे और गवर्नमेण्ट हमसे अगर कुछ काम लेना चाहेगी तो उसके करने में भी हम नहीं हिचकेंगे। ऐसा कहकर मैंने कुछ मित्रों से बातें कीं तो उन्होंने मेरी राय पसन्द की।

एक दिन एक छोटी सभा हुई जिसमें बिहार-सेण्ट्रल-रिलीफ-कमिटी के नाम से एक संस्था स्थापित की गयी। मैं उसका प्रधान बनाया गया और उसी के नाम मैंने अपील निकाली। उसके बाद गवर्नमेण्ट की ओर से सार्वजनिक सभा हुई। उसमें मैं भी शरीक हुआ। उन्होंने भी अपील निकाली। मेरी अपील पर चारों ओर से रुपये और सामान आने लगे। अखबारों में अब ध्वंस का विवरण भी छपने लगा। उसको पढ़-पढ़कर सारे देश में और विदेशों में भी बिहार के प्रति बहुत सहानुभूति उत्पन्न हो गयी। पंडित जवाहरलाल पटने आये। तिरहुत और मुँगेर में जाकर, जहाँ ध्वंस सबसे अधिक हुआ था, उन्होंने अपनी आँखों हाल देखा। मुँगेर में तो उन्होंने गिरे मकानों का मलबा खोदकर मुर्दे निकालने में भी मदद की और एक तरह से सबके लिए नमूना पेश किया। बंगाल से संकट-त्राण-समिति की ओर से श्री सतीशचन्द्र गुप्त रुपये और माल-असबाब लेकर चले आये। मैंने गांधीजी को भी तार द्वारा सूचना भेजी। वह उन दिनों बहुत दूर मद्रास-प्रान्त में कहीं हरिजन-यात्रा में घूम रहे थे। तार पाते ही उन्होंने भी अपील निकाली, और स्वयं पैसे जमा करने लगे। कमिटी की ओर से सभी जिलों में मुख्य कार्य्यकर्त्ता नियुक्त किये गये और उनकी मातहती में अनेकानेक काम करनेवाले काम करने लगे। हिन्दुस्थान के सभी प्रान्तों से रुपये आने लगे—कपड़ा, चावल, दूसरे खाद्य पदार्थ, बर्तन, कम्बल, दवा इत्यादि पहुँचने लगे। सब चीजों की जरूरत थी। पटने से हम आवश्यकतानुसार सबको पीड़ित जिलों में भेजने लगे। दो-चार दिनों के अन्दर ही काम बहुत बढ़ गया। हमारे साथी बहुतेरे जेलों में थे। गवर्नमेण्ट ने प्रायः सबको—जो तिरहुत, भागलपुर और पटना कमिश्नरियों के रहनेवाले थे—धीरे-धीरे छोड़ दिया। वे लोग भी आकर काम में जुट गये।

पंडित जवाहरलालजी ने एक दिन पटने में ठहरकर केन्द्रीय दफ्तर के संगठन और दूसरी बातों में अपनी सलाह से मदद की। वह दो बार इस सूबे में आये और जी-जान से काम में मन लगाने लगे थे; पर खेद है कि इसके बाद ही वह गिरफ्तार कर फिर जेल में बन्द कर दिये गये। इसलिए हमको उनके नेतृत्व का अधिक लाभ न मिल सका। सेठ बल्लभभाई पटेल भी जेल में ही थे। उन्होंने गुजरात में, वहाँ की प्रलयकारी बाढ़ के समय, लोक-सेवा का जो प्रबन्ध किया था उसके अनुभव का भी हमको लाभ नहीं मिला। पर महात्माजी, सेठ जमनालाल बजाज तथा सरदार के सहकारी श्री लक्ष्मीदास पुरुषोत्तम प्रभृति आ गये। युक्तप्रान्त से आचार्य्य नरेन्द्रदेव और श्री श्रीप्रकाशजी पहुँच गये। सब बाहर के आये भाइयों और बहनों के नाम गिनाना मुश्किल है। यदि किसी का नाम छूट जाय तो हमारे लिए शर्म की बात होगी। पर कुछ नाम ऐसे हैं, जिनका उल्लेख न करना अत्यन्त कृतघ्नता होगी। इनमें

श्री जे० सी० कुमारप्पा हैं। यह हिसाब-जाँच का काम किया करते थे, विलायत से इसकी शिक्षा प्राप्त कर बम्बई में बड़ी-बड़ी कम्पनियों के हिसाब जाँचा करते थे, गांधीजी के साथ आ जाने पर वह काम छोड़कर गुजरात-विद्यापीठ में काम कर रहे थे; जब काँग्रेस ने एक ऐसी कमिटी बनायी जिसके जिम्मे भारतवर्ष पर लादे हुए कर्ज की जाँच करने का भार दिया तो यह भी उसके सदस्य बनाये गये; महात्माजी ने इनको हिसाब की देखरेख के लिए यहाँ भेज दिया। इतना कहना अत्युक्ति नहीं है कि यदि यह न आ गये होते और सारे हिसाब का एक अच्छा संगठन न कर दिये होते तो हम मुश्किल में पड़ते। हमारे काम करनेवालों की संख्या प्रायः २००० से भी अधिक होगी। वे १२ जिलों में बँटे हुए थे। उनमें थोड़े ही ऐसे थे जो हिसाब कुछ भी जानते हों। काम भी बहुत प्रकार के थे और सबका हिसाब अलग-अलग रखना पड़ता था। यह काम इतना फैला हुआ था कि उसका सँभालना बहुत ही कठिन था। पर इनके बताये तरीके से हिसाब रखने पर सब काम ठीक हुआ।

मैंने शुरू में ही बिहार-बंक को कमिटी का खजांची बना दिया था। रुपये कमिटी के पास और सीधे बंक के पास आते थे। एक दिन में २००-३०० मनीआर्डर पहुँचते थे। सैकड़ों पार्सल रोज आते और उनमें हर तरह की चीजें आतीं। सबका हिसाब अलग-अलग रखा जाता। केन्द्रों में पहुँचकर जब रुपयों अथवा चीजों का खर्च होता तो उसका भी हिसाब केन्द्रीय दफ्तर के निरीक्षण में ही रखा जाता। कुछ दिनों के बाद जब हमने पहली रिपोर्ट निकाली और उसके साथ पैसे तथा सामान देनेवालों की नामावली छापी तो वह प्रायः ४०० पन्ने की पुस्तक हो गयी। हमने जनता से अपील की कि यदि किन्हीं दाता का नाम उसमें न छपा हो तो वह मुझे सूचना दें। हर्ष का विषय है कि यद्यपि कई हजार दाताओं ने सीधे हमारे पास या बंक के पास पैसे और सामान भेजे थे तथापि मेरे पास थोड़े ही, शायद १०-१२ ही, पत्र आये जिनमें शिकायत थी कि उनके नाम नहीं छपे हैं। जब जाँच की गयी तो उनके नाम भी छपे मिले, केवल गलती यह हुई थी कि किसी दूसरे सूबे या शहर के नीचे उनके नाम छप गये थे। इसी से सबको सन्तोष हो गया कि हिसाब का काम बहुत पक्का रहा। इस पर मैंने इसलिए यहाँ इतना जोर दिया कि सार्वजनिक काम में रुपये-पैसों के मामले में सफाई निहायत जरूरी है। काम करनेवाले ठीक और उचित तरीके से पब्लिक के दिये रुपये खर्च करें भी और हिसाब ठीक न रखें तो बदनामी हो जाती है। अक्सर बदनामी बे-बुनियाद होती है, क्योंकि खर्च तो ठीक हुआ रहता है, पर हिसाब के ज्ञान के अभाव के कारण अथवा काम करनेवालों की सुस्ती या आलस के कारण हिसाब ठीक न रहने से बदनामी हो जाती है। जब आशा से अधिक लोगों में उत्साह दीखा और रुपये बरसने लगे तो मुझे यही चिन्ता थी कि लोगों का विश्वास कहीं झूठा न पड़े। पर ईश्वर की दया से, और खासकर कुमारप्पा जी और उनके अधीन काम करनेवाले सैकड़ों कार्य्यकर्त्ताओं की चतुरता एवं मुस्तैदी से, काम भली भाँति पूरा हो सका। हम कह सकते हैं कि लोगों के दिये हुए रुपये और

सामान का अच्छा से अच्छा उपयोग हुआ। वास्तव में जैसा सद्व्यय होना चाहिए था, वैसा ही हुआ।

१०३—बिहार-सेंट्रल-रिलीफ-कमिटी की सेवाएँ

मैं कैद से मुक्त होने के बाद भी १० दिनों तक अस्पताल में रहा। पर अब बाहर भी आया-जाया करता। डाक्टर बनर्जी से डरता था कि कहीं काम करने से रोक न दें; पर दिन-दिन ताकत बढ़ती गयी। काम की भीड़ इतनी थी कि सवेरे चार बजे उठ जाता और चारपाई पर से ही लिखने का काम शुरू कर देता। पत्रों की भरमार थी। उनका उत्तर देना, पत्रों में आयी हुई खबरों के सारांश को फिर नयी अ ील के रूप में भेजकर लोगों को यहाँ की दुर्दशा की सूचना देना तथा अपने केन्द्रों से आये हुए पत्रों के उत्तर देना, यह कुछ कम काम नहीं था। मिस्टर अजीज ने अपना एक छोटा मकान दफ्तर के लिए दिया, पर शीघ्र ही काम इतना बढ़ गया कि वहाँ जगह ना-काफी हो गयी। तब हमने एक दूसरा बड़ा मकान भाड़े पर लिया। दफ्तर के कई विभाग कर दिये गये। सबके चार्ज में एक-एक प्रमुख कार्य्यकर्त्ता रखा गया। शुरू में श्री जयप्रकाशजी ही दफ्तर के चार्ज में रहे। पीछे जब अनुग्रह बाबू छूटकर चले आये और काम भी बहुत बढ़ गया तो उन्होंने उसे सँभाला। जो कमिटी हमने बनाई उसमें सभी दलों और सूबों के लोगों को, जिन्होंने मदद पहुँचायी थी, सदस्य बना लिया।

थोड़े ही दिनों के बाद गांधीजी आये। उनके आने के पहले मैंने सोचा कि मैं उसके पूर्व ही एक बार उन स्थानों को जाकर देख आऊँ जहाँ सबसे अधिक नुकसान हुआ है। यह प्रायः भूकम्प के एक महीने बाद हुआ। अब तक मैं दफ्तर में रहकर काम करता था, कुछ तो कमजोरी के कारण और कुछ काम की भीड़ से। अब सहायक लोग आ गये, काम बँट गया और उन लोगों ने उसे सँभाल लिया तो मैं बाहर निकला। मैं जहाँ-जहाँ गया वहाँ की हालत देखकर रिपोर्ट भेजता गया जो छोटी पुस्तिका के रूप में छप भी गयी। अपने कार्यकर्त्ताओं, दाताओं और सहानुभूति दिखलानेवालों को सब बातों से आगाह रखने के लिए हमने एक 'बुलेटिन' निकालना शुरू कर दिया जो कुछ दिनों तक नियमित रूप से निकला, पीछे अनावश्यक समझकर बन्द कर दिया गया।

जिन्होंने कमिटी के पास रुपये और सामान भेजे अथवा स्वयं आकर उसके संगठन में योगदान किया उनके अलावा बहुतेरी दूसरी संस्थाएँ निजी तौर से काम करने आयीं। इन सबका हमारी कमिटी के साथ सहयोग था। हम प्रयत्न करते कि हम सबके काम में विरोध न हो और न एक ही काम दो संस्थाओं द्वारा दुबारा किया जाय। इससे यह फायदा हुआ कि सार्वजनिक धन, चाहे वह कमिटी के पास आया हो या किसी दूसरी संस्था के पास, अच्छे व्यवहार में ही आया। ऐसी संस्थाएँ तो बहुत थीं जिनकी पूरी सूची प्रकाशित रिपोर्ट में मिलेगी। पर सबके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए यहाँ मुख्य के ही नाम दे सकता हूँ। वे थीं मारवाड़ी रिलीफ सोसाइटी,

मेमन रिलीफ सोसाइटी और श्रीरामकृष्ण-मिशन। बाबा गुरुदत्तसिंहजी के दल ने भी अच्छा काम किया। रेडक्रास और इंडियन मेडिकल ऐसोसिएशन ने भी मदद की। श्री सतीशचन्द्र दास गुप्त की मार्फत बंगाल की संकट-त्राण-कमिटी ने भी दवा, सवारी आदि की अच्छी सहायता की।

एक ओर गवर्नमेण्ट की अपील थी और दूसरी ओर बिहार-सेण्ट्रल-रिलीफ-कमिटी की। कुछ दिनों तक तो जनता का और दान देनेवालों का इतना उत्साह रहा कि दोनों के फण्ड प्रायः बराबरी में चलते रहे। हम भी रोजाना की आमदनी प्रकाशित करते और गवर्नमेण्ट भी करती। महात्माजी जब आ गये और सेठ जमनालाल बजाज अपने साथियों के साथ बिहार में बैठ गये तो मेरे सिर से बोझ कुछ हल्का हो गया। लोगों को राहत पहुँचाने में कठिनाइयाँ बहुत थीं। पहले तो रेल-लाइनें टूट गयी थीं। माल रेल पर नहीं जा सकता था। रास्तों के पुल टूट गये थे। इसलिए बैलगाड़ी और मोटर-लारी पर भी ले जाना आसान नहीं था। रहने के लिए बहुत जगहों में मकान नहीं मिलता था। बहुत जगहों में पानी का कष्ट था। हमको रिलीफ-कमिटी की ओर से कई मोटर-लारी खरीदनी पड़ी। आहिस्ता-आहिस्ता सड़कें कुछ सुधरीं। पुल तो नहीं बने, पर उनके पास से होकर, जहाँ कोई बड़ी नदी नहीं थी, दूसरा रास्ता निकल गया। नदियों में नाव से भी काम लिया जाने लगा। रिलीफ-कमिटी के झोपड़े सभी जगहों में बन गये। कार्य्यकर्त्ताओं के संगठन में श्री कृपालानी, श्री हार्डीकर और श्रीमती सोफिया सोमजी ने बड़ा काम किया। काम करनेवालों की देख-रेख भी कुछ सहज नहीं थी। कार्य्यकर्त्ताओं के लिए हमें सैकड़ों साइकिलें देनी पड़ीं। उनके रहने के लिए झोपड़े बनाने तथा खाने का प्रबन्ध करना पड़ा। पर यह जानकर आश्चर्य होगा कि अपने कार्य्यकर्त्ताओं के खाने का खर्च दो आने रोज से अधिक हम नहीं देते थे। वे उसी में जो कुछ हो सकता, खाकर काम करते। उतना ही उनके लिए काफी था। महात्माजी भी उन जिलों में गये जहाँ बहुत क्षति हुई थी। उनका जाना दो दृष्टियों से आवश्यक था। एक तो क्षति को वह खुद देख लें और जहाँ इतनी और इतने प्रकार की क्षति हुई है वहाँ किसकी पूर्त्ति करने का हम प्रयत्न करें, यह निश्चय करने में हमारी सहायता करें। दूसरी बात यह भी थी कि उनके जाने से लोगों की हिम्मत बढ़ती और विपत्ति में ढाढ़स होता। इसलिए सभी जगहों से इस बात पर बहुत जोर दिया गया कि महात्माजी सभी जगहों में जायँ। यह तो सम्भव नहीं था, पर तो भी बहुत जगहों में वह गये। उन अभूतपूर्व हृदय-विदारक दृश्यों को उन्होंने देखा जो भूकम्प ने उपस्थित कर दिये थे।

हमारे सामने दो प्रकार के प्रश्न थे। भूकम्प के कारण लोगों के घर गिर गये, जो कुछ घर में था बर्बाद हो गया। खाने को अन्न नहीं, पहनने को कपड़े नहीं। अन्न मिले भी तो उसे पकाने के लिए बर्तन नहीं। रहने को घर नहीं। कुएँ भस गये। तालावों में बालू भर गयी। इसलिए पीने को पानी नहीं। यह सब ऐसी माँगें थीं जिनका तुरंत होना आवश्यक था। इसलिए महात्माजी के आने के पहले ही भोजन,

कपड़ा, बर्तन आदि जहाँ तक हो सका हमने लोगों को बाँटा। उससे भी पहले जहाँ तक हो सका, मकानों का मलबा हटाने का प्रयत्न किया गया, ताकि उसके नीचे दबे लोग निकाले जायँ। इस काम में रिलीफ-कमिटी बहुत कुछ नहीं कर सकी। यह काम जो कुछ हुआ, स्थानीय लोगों ने ही किया; क्योंकि रिलीफ-कमिटी के संगठित होते और कार्य-कर्त्ताओं के पहुँचते-पहुँचते जो मलबे के नीचे दबे थे वे या तो निकाल लिये गये थे या मर चुके थे; पर जो बच गये थे उनको तत्काल मदद देने के काम में रिलीफ-कमिटी ने पूरा हाथ बँटाया। महात्माजी के पहुँचते-पहुँचते यह काम भी बहुत-कुछ हो चुका था यद्यपि अभी एकबारगी खतम नहीं हुआ था। अब जो कुछ रह गया था वह कुछ अधिक स्थायी काम था। इसमें दो-तीन प्रकार के काम मुख्य थे और हमको निश्चय करना था कि हम कौन काम करें।

ऊपर कहा जा चुका है कि लाखों लाख मकान गिर गये थे। मकान बनवाने में लोगों की सहायता करना एक बहुत बड़ा काम था। इसी तरह लाखों लाख कुँएँ बालू से भर गये थे। बहुतेरे ऐसे गाँव थे जहाँ कुँओं में पानी था ही नहीं। यहाँ तक कि कहीं-कहीं गहरे गड्ढे इस तरह भर गये थे कि वहाँ यह पता नहीं चलता था कि यहाँ कभी गड्ढा रहा है। कहीं-कहीं छोटी-मोटी नदियों का पेट बालू से बिलकुल भर गया था। पानी का घोर कष्ट था। यह किसी एक गाँव या इलाके की बात नहीं है। गंगा के उत्तर प्रायः सभी जिलों में, सैकड़ों मील की लम्बाई और प्रायः ४०-५० मील की चौड़ाई में, थोड़ी या बहुत एक ही हालत थी। पानी किस तरह पहुँचाया जाय, यह बड़ा बीहड़ प्रश्न था। तीसरा प्रश्न जो हमको बहुत परेशान कर रहा था, वह खेतों में बालू का आ जाना था। खेतों में पानी के फौवारे निकले और पानी के साथ-साथ बालू भी निकली। वह इतनी अधिक निकली कि खेत बालू से पट गये। जब पानी सूखा तो मालूम होने लगा कि सारा इलाका बालुकामय मरुभूमि हो गया! यदि यह बालू यों ही छोड़ दी गयी तो यहाँ अब फिर कोई फसल न होगी, ऐसा भय होने लगा। इसलिए यह बालू किसी तरह साफ की जा सकती है या नहीं, यह विचारणीय था। हमने खुद देखा कि कहीं-कहीं बालू पाँच-छः फुट गहरी पड़ गयी थी। एक जगह थोड़ी जमीन में बालू साफ करने का प्रयोग करके देखा तो उसमें इतना ज्यादा खर्च पड़ा कि वह असम्भव जान पड़ने लगा।

एक और तात्कालिक प्रश्न ईख के कारण उठ खड़ा हुआ। उत्तर-बिहार में चीनी के बहुत कारखाने हैं। लोग ईख की खेती करते हैं और उन कारखानों के हाथ ईख बेंच देते हैं। इससे उनको पैसे मिल जाते हैं। भूकम्प ने प्रायः सभी कारखानों को बेकार कर दिया। वे सब रुक गये। करोड़ों की ईख खेतो में खड़ी थी। अब वह बेकार होने लगी। हमने यह सोचा कि पुराने कोल्हू फिर चालू किये जायँ जिससे कुछ भी तो ईख का गुड़ बन जाय और किसानों को कुछ भी तो बच जाय। गवर्नमेण्ट ने भी इसको पसन्द किया। दोनों संस्थाओं की ओर से कोल्हू बाँटे गये। पर कोल्ह मिलने में भी कठिनाई थी, क्योंकि वे इतनी अधिक संख्या में तैयार नहीं

थे। उनके लिए बाजार ही नहीं था, इसलिए उनका बनना एक प्रकार से रुक गया था। तो भी कई हजार कोल्हू हमने और गवर्नमेण्ट ने बाँटे और कुछ ईख इस तरह बचायी गयी। पर भाग्यवश कुछ दिनों के बाद बहुतेरी मिलों की मरम्मत हो सकी और उन्होंने अपना काम शुरू कर दिया। इस तरह, जितनी क्षति हो सकती थी, उतनी नहीं हुई।

इनके अलावा छोटे-मोटे और भी बहुत-से प्रश्न थे। इन पर विचार कर तात्कालिक सहायता का काम समाप्त करके आगे के लिए निश्चय करना था। इसलिए कमिटी की एक बैठक पटने में की गयी। इसमें सभी सूबों के प्रमुख लोग, जो इसके सदस्य थे, आये। इसने प्रस्ताव किया कि गवर्नमेण्ट के काम में हम हर तरह से सहयोग देने को तैयार हैं। अपने काम के लिए इसने एक कार्य-कारिणी बना दी। मामूली नियम भी बना दिये। इतनी बड़ी कमिटी का बारबार इकट्ठा होना मुश्किल था। इसलिए कार्य-कारिणी पर ही काम का सारा भार आ पड़ा। वह बराबर मिला करती और सब बातों पर निश्चय किया करती। महात्माजी की राय हुई और हम सब लोग इससे सहमत हुए कि बालू हटाने का काम हमारे लिए असम्भव है, इसलिए उसमें हम हाथ न लगावें; मकान बनवाने के काम में हम सहायता दे सकते हैं, पर उससे भी अधिक आवश्यक और उपयोगी काम पानी पहुँचाने का था; इसमें व्यक्तिगत मदद का भी मौका रहेगा, इसलिए विशेष व्यक्ति के साथ पक्षपात करने का मौका कम आयेगा तथा हमारा काम भी अधिक स्वच्छ होगा; इसलिए हम पहले कुँआ और तालाब बनवायें जिनसे मनुष्य और पशु के लिए पानी की सुविधा हो।

परन्तु यह काम भी इतना बड़ा था कि हमारे सब पैसे खर्च हो जाते तब भी इसका थोड़ा अंश भी पूरा न होता। फिर भी पहले इसी पर जोर देने का निश्चय हुआ। इसमें भी प्रश्न उठा कि हम 'ट्यूब वेल' बनवायें अथवा पक्के कुँए। 'ट्यूब वेल' बहुत जल्द तैयार हो सकते थे और यह काम ठीकेदारों के द्वारा आसानी से हो सकता था। हमने कुछ बनवाये भी। पर हमने देखा कि इनसे काम नहीं चलेगा। एक तो यह कि एक ट्यूब वेल से एक घड़ा पानी निकालने में एक आदमी का जितना समय लग जाता है उतने ही समय में कुँए से चार-पाँच आदमी एक साथ ही चार-पाँच घड़े पानी निकाल सकते हैं। दूसरे इनकी मरम्मत का प्रश्न भी विकट था। बिगड़ने पर गाँवों के लोग इनकी मरम्मत कैसे करायेंगे। उसके लिए हमको बड़ा 'स्टाक' रखना पड़ेगा। फिर कुछ दिनों के बाद यह बेकार हो जायगा। यह भी देखा गया कि कहीं-कहीं ट्यूब वेल और कुँओं में बराबर ही खर्च पड़ता था। इसलिए हमने कुँआ बनवाने का ही निश्चय किया। सभी जगहों पर कार्यकर्त्ता लोगों ने गाँववालों के सहयोग से कुँआ बनवाना आरम्भ कर दिया। हम चाहते थे कि बरसात के पहले ही अधिक से अधिक कुँएँ बन जायँ। इनके अलावा पुराने कुँओं की मरम्मत भी जरूरी थी। बालू निकालकर उनको साफ कर देने से ही बहुत जगहों में काम चल

जाता था। इन सबमें गाँवों के लोग अपने शरीर से मदद कर सकते थे। उसी तरह पुराने तालाबों को साफ करा देने से मवेशियों के लिए पानी का प्रबन्ध हो जाता था। हमने कई हजार नये कुँए बनवाये और अनेक पुराने कुँओं की मरम्मत-सफाई भी करायी। कई तालाब खुदवाये या बिगड़े हुए तालाबों की मरम्मत करायी। यह सब काम अप्रेल से जुलाई के पहले ही समाप्त हो गया, क्योंकि उसके बाद दूसरा ही प्रश्न आ खड़ा हुआ और हम उसमें लग गये।

पानी पहुँचाने का निश्चय बहुत ही ठीक रहा, क्योंकि उससे हम एक स्थायी काम कर सके। एक कुँआ या तालाब से बहुत लोगों को लाभ पहुँचा सके। यह गांधीजी की दूरदर्शिता का ही फल था कि इतना स्थायी काम हो सका। नहीं तो सब रुपये चाहे मकानों की मरम्मत में या बालू साफ कराने में लग जाते। तब भी फल इतना व्यापक न होता। पक्षपात के—गलत चाहे सही—अभियोग से भी हमारी संस्था न बच सकती।

१०४—भूकम्प के बाद बाढ़ की समस्या

इस काम में हम लगे ही हुए थे कि दूसरा प्रश्न आ खड़ा हुआ। सभी जगहों में नदी-नाले भर गये थे। अतः भय था कि गंगा, सरयू, गंडक-जैसी बड़ी-बड़ी नदियों का पेट भी बालू से कुछ भर गया होगा। जमीन की सतह ऊँची-नीची हो गयी थी। इन सब कारणों से आशंका हो रही थी कि बरसात के दिनों में बाढ़ के कारण नई विपत्ति आ सकती है। हमको उसके लिए तैयारी करनी पड़ी। गवर्नमेण्ट ने भी अपनी तैयारी की। हमको बहुतेरी नावें बनवाकर या खरीदकर उन स्थानों में रखनी पड़ीं जहाँ बाढ़ का अधिक भय था।

भूकम्प के बाद गरीबों के लिए, जो मजदूरी किया करते हैं, काम की कमी न रही। किसी न किसी तरह का काम उनको मिलता रहा। पर इस बात का भय था कि बरसात में उन्हें काम नहीं मिलेगा। दो-चार दिनों तक विपत्ति-काल में गरीबों को खाना दे देना अच्छा है; पर बिना काम कराये उनको खैरात खिलाना उन्हें निकम्मा और आलसी बनाना है। इसलिए हमने शुरू से ही यही नीति रखी थी कि यथा-साध्य बिना काम कराये मुफ्त न खिलाया जाय। जनता को मजदूरों की जरूरत थी ही। सभी लोग, जो काम करा सकते थे, अपने गिरे-पड़े मकानों को साफ या मरम्मत कराते। बहुतेरे तो नये मकान में भी हाथ लगा देते। खेती का काम भी था ही। रिलीफ-कमिटी ने जो हजारों कुँए बनवाये और मरम्मत कराये तथा हजारों तालाब-पोखरे खुदवाये या साफ कराये उनमें भी बहुतेरे मजदूर काम करते रहे। कई जगहों पर हमने नयी सड़कें बनवा दीं या पुरानी बिगड़ी सड़कों की मरम्मत करा दी। इस तरह हजारों मील सड़कें सारे सूबे में हमने बनवा डालीं या मरम्मत करा दीं। पानी के नाले भठ गये थे। यदि वे बरसात के पहले साफ न कर दिये जाते तो पानी का निकास ही नहीं होता। बरसात में गाँवों की हालत

दर्दनाक हो जाती। इसलिए इस तरह के नालों को भी हमने बहुत जगहों में साफ कराया।

मुजफ्फरपुर-जिले में, सीतामढ़ी जाने के रास्ते पर, भरथुआ का एक मशहूर चँवर है। भूकम्प के पहले से ही वहाँ की हालत कुछ ऐसी खराब हो गयी थी कि बागमती नदी का पानी हमेशा वहाँ जमा रहता था। जो पहले हरी-भरी जमीन थी, जहाँ बहुत अन्न पैदा हुआ करता था, वहाँ की सारी जमीन इस तरह जलमग्न रहने लगी थी कि कुछ भी पैदा न होता। वह जल भी इतना बुरा था कि वहाँ के बड़े-बड़े गाँछ-वृक्ष भी सूख गये थे। बड़े-बड़े बगीचे यों सूखे खड़े पड़े थे कि देखकर आश्चर्य होता था। इस तरह का दृश्य मैंने कोसी नदी के किनारे कुछ गाँवों में देखा है, जहाँ उसी तरह बड़े-बड़े पेड़ बिना पत्ते के सूखे खड़े हैं। गांधीजी सफर में वहाँ गये थे और वहाँ की हालत देखकर दुःखी हुए थे। वहाँ के कार्यकर्त्ताओं ने इस पर बहुत जोर दिया कि कुछ उपाय होना चाहिए। दरियाफ्त करने से मालूम हुआ कि पहले एक नाला या नहर थी जिससे वहाँ का पानी निकल जाया करता था। बागमती ने अपना पुराना घाट छोड़ दिया और यह नाला भर गया। उसी का यह फल था कि वहाँ पानी जम गया, जो निकल नहीं सकता था। यदि वह नाला किसी तरह फिर खोल दिया जाय तो वहाँ सैकड़ों वर्ग-मील फिर हरा-भरा हो जाय।

हम लोगों ने निश्चय किया कि गवर्नमेण्ट यदि इसका प्रबन्ध करने को तैयार न हो तो रिलीफ-कमिटी द्वारा यह काम करा दिया जायगा। हमारे अन्दाज से खर्च प्रायः ५० हजार का था। गवर्नमेण्ट से लिखा-पढ़ी हुई। उस नहर के खुदवाने का भार ले लिया। इस तरह की छोटी-मोटी नहरें हमने और कई जगहों में खुदवाकर बहुत-सी बर्बाद हो रही जमीन हरी-भरी बनवा दी। जहाँ गरीब स्त्रियाँ दूसरा काम नहीं कर सकती थीं, चर्खे के द्वारा उनको काम दिया गया। इस तरह रिलीफ-कमिटी ने सूत और खादी का काम भी कई जगहों में जारी किया। पीछे जब कमिटी का काम समेटा गया तो यह खादी का सारा काम बिहार-चर्खा-संघ के जिम्मे कर दिया गया। मकान इतने बनवाने थे कि लोगों को मकान बनाने के सामान की बहुत जरूरत थी। ईंट, खपड़ा, रस्सी, बाँस, लकड़ी और लोहे के सामान इत्यादि की बड़ी माँग थी। हमने बहुत जगहों में कमिटी की ओर से दूकानें खोल दीं, जहाँ लागत-मात्र दाम पर चीजें दी जातीं। पर इससे भी अधिक हमने यह किया कि ईंट, लकड़ी, सिमेंट इत्यादि के व्यापारियों के साथ बात-चीत करके लागत दाम पर अथवा बहुत कम मुनाफे पर सामान बेचने का प्रबन्ध कराया। जो हमारे पुर्जे ले जाते उनको उस नियत दाम पर सामान मिल जाता। कमिटी की ओर से उनको कुछ कमीशन दिया जाता था—कहीं बिना इसके भी काम चल जाता। इस तरह जो हमने कमिटी की ओर से सीधे तौर पर मदद की उसके अलावा इन सब चीजों के दाम के नियंत्रण में बहुत बड़ा भाग लेकर मुनासिब कीमत पर लोगों को सामान मुहैया कराया।

इस बात का भी पूरा अन्देशा था कि बरसात के महीनों में चावल की कमी

सूबे के बहुत भागों में होगी। देखने में आया कि चावल का दाम कुछ चढ़ता जा रहा है। हमने बरमा-प्रान्त से बहुत चावल खरीदकर उन सभी स्थानों में, जहाँ अभाव का भय था, चावल की रिलीफ-दूकानें खोल दीं। इसका नतीजा यह हुआ कि चावल का दाम नहीं चढ़ा और लोगों को मुनासिब दाम पर चावल मिलता रहा। रिलीफ-कमिटी के रुपये भी चावल बिक जाने पर वापस आ गये। मलेरिया और हैजे के प्रकोप का भय अलग था। कहीं-कहीं यह हुआ भी। इसके लिए कमिटी के डाक्टरी विभाग ने अपनी शाखाएँ बहुत जगहों में खोल दीं और उनसे लोगों को बहुत लाभ पहुँचा। बाढ़ के दिनों में बहुत मुश्किल से लोगों की मदद की जा सकी। कमिटी और गवर्नमेण्ट की सलाह से नावें उन स्थानों में रखी गयी थीं जहाँ बाढ़ का भय था। इन नावों के द्वारा बाढ़-पीड़ितों को मदद पहुँचाने में बहुत सहूलियत हुई।

इसके अलावा हमने बहुत-से लोगों को मकान मरम्मत करने या बनवाने के लिए नगद रुपये भी दिये। कमिटी ने निश्चय कर लिया था कि जो लोग भूकम्प के पहले अच्छे धनी-मानी थे अथवा जिनके बड़े मकान थे अथवा जो बड़ा मकान बनवाना चाहते थे, उनकी मदद करने में कमिटी असमर्थ है; क्योंकि उसके पास इतने पैसे नहीं थे। वह तो गरीब और मझोले दर्जे के लोगों की ही मदद कर सकती थी। इसलिए उसने निश्चय किया कि किसी एक व्यक्ति को २५०) से अधिक नगद मदद नहीं दी जायगी। इसके अलावा रिलीफ-दर पर ईंट, बाँस, लकड़ी, सिमेण्ट इत्यादि चीजें दी जा सकती हैं। गवर्नमेण्ट ज्यादा रकम की मदद देती थी। हमने उस वर्ग के लोगों की मदद का भार गवर्नमेण्ट पर ही छोड़ दिया। इस तरह पाठकों को कुछ अन्दाज मिल गया होगा कि सहायता कितने प्रकार की देनी पड़ी और कितने प्रकार के काम कमिटी को करने पड़े। उसकी रिपोर्ट समय-समय पर छपती गयी। वह लोगों में, विशेषकर दान-दाताओं में, वितरित की गयी।

एक बहुत महत्त्वपूर्ण अनुभव का उल्लेख आवश्यक है। जब महात्मा गांधी भूकम्प-पीड़ित क्षेत्रों में घूम रहे थे, उनके साथ इँगलैंड की दो महिलाएँ बहुत जगहों में गयीं। एक थीं कुमारी मुरियल लेस्टर जिनके अतिथि महात्माजी गोलमेज-कान्फ्रेन्स के समय रह चुके थे। दूसरी थीं वहाँ की, भारत से सहानुभूति रखनेवाली, एक सार्वजनिक काम करनेवाली कुमारी अगेथा हरिसन। यों तो और भी बहुत-से विदेशियों ने भूकम्प की क्षति देखी थी। सबने अपने-अपने मित्रों को लिखा था। दीनबन्धु एण्डरूज तो सभी जगहों में, जहाँ विपत्ति पड़ती थी, जाया ही करते थे; बिहार में भी आये थे। उन्होंने एक पुस्तक लिखकर इँगलैंड और अमेरिका में छपवायी थी। इन सब कामों से वहाँ के लोगों में भी बिहार के प्रति सहानुभूति पैदा हुई थी। गवर्नमेण्ट की अपील भी वहाँ पहुँची थी। उस पर लोगों ने पैसे की भी मदद की थी।

योरप में एक संस्था है जिसके सदस्य युद्ध के विरोधी हैं। पर वे मानते हैं कि सेना में जिस प्रकार का नियंत्रण होता है और लोगों को अपना सर्वस्व अर्थात् जान तक देने का जो अवसर मिलता है उससे बहुतेरे युवक उस तरफ आकर्षित होते हैं; पर

यदि इस उत्साह और त्याग-शक्ति को नर-संहार में न लगाकर जन-सेवा में लगाया जाय तो बहुत बड़ा काम हो जाय। इसलिए, इस संस्था के सदस्य, अपने को सैनिक की भाँति नियंत्रण में रखते हुए, जहाँ कोई विपत्ति आती है वहाँ जाकर, जनता की सेवा करते हैं। इसमें वे जाति वा देश का विचार नहीं करते। योरप में पिछले बड़े युद्ध के बाद कई जगहों में, जहाँ बहुत विध्वंस हुआ था, उन्होंने जाकर सेवा की थी। इसी तरह कई जगहों में पीड़ित जनता की सेवा करने का अनुभव उनको था। उनके नेता थे स्विटज़रलैण्ड के पियर सेरेसोल। यह इन्जीनियर थे। बड़े ऊँचे खानदान के थे। इनके घर के लोग अपने देश के शासन-विभाग के उच्चपदों को—विशेषकर सेना में—सुशोभित कर चुके थे। इनके पिता शायद वहाँ के प्रजातंत्र के प्रधान रह चुके थे। इन्होंने युद्ध-विरोधी सिद्धान्त के कारण वह सब छोड़ दिया था और फौजी शिक्षा से इनकार करने के कारण सजा भी भोगी थी। बिहार में यह कुछ साथियों को लेकर सेवा के लिए आये।

हम लोगों ने देखा था कि कई जगहें इतनी बरबाद हो गयी थीं कि वहाँ के लोगों को वहाँ से हटाना ही ठीक था। हमने बहुत कोशिश की कि लोग स्थान छोड़-कर कहीं दूर जा बसना पसन्द करें। इसके लिए दूसरे स्थानों में जमीन्दारों से बात-चीत करके जमीन बन्दोबस्त कराने का यत्न भी हम कर रहे थे; पर कहीं कोई अपने घर को छोड़कर दूर जानेवाला नहीं मिला। इसलिए किसी बड़े पैमाने पर स्थानान्तर अथवा स्थान-परिवर्तन का कार्यक्रम असंभव समझकर हमने छोड़ दिया। पर मुजफ्फर-पुर-जिले में कुछ गाँवों के लोग बाढ़ से इतने पीड़ित थे कि गाँव छोड़कर थोड़ी दूर अलग बस जाने पर राजी हो गये। हमने सोचा कि इसमें मकान बनाने इत्यादि में हम उनकी मदद करें। गवर्नमेण्ट भी इस बात पर राजी हो गयी कि रिलीफ-कमिटी और गवर्नमेण्ट दोनों मिलकर इसमें खर्च करें। काम का भार एक स्थानीय कमिटी को सुपुर्द किया गया। डाक्टर सेरेसोल ने इस काम का भार लिया। हमने रिलीफ-कमिटी की ओर से उनको ही उस कमिटी का सदस्य बना दिया और उनकी मदद के लिए अपने कार्य्यकर्त्ता श्री फणीन्द्रमोहन दत्त को दे दिया।

वहाँ पर कई नये गाँव बसाये गये। इसमें एक साल से अधिक समय लगा। डाक्टर सेरेसोल वहाँ बराबर रहे। बीच में एक बार योरप गये भी, तो फिर कुछ दिनों के बाद वापस आकर काम में जुट गये। उनके साथ योरप के कई देशों के चार-पाँच साथी थे। उन्होंने अपने शरीर से भी बहुत परिश्रम किया। डाक्टर सेरेसोल की अवस्था साठ से अधिक थी। बहुत लम्बे-तगड़े थे। यहाँ की गर्मी से परेशान हो जाते थे, तो भी उस गाँव में ही रहते थे। वहाँ भोजन का कष्ट था, आराम का वहाँ कोई सामान न था जिसके वह आदी थे। तब भी दिन-रात दौड़-धूप करते रहते। उन्हें परिश्रम करते देखकर दूसरों को भी उत्साह हो जाता था। जो गाँव बसाये गये उनमें मुख्य गाँव का नाम शांतिपुर रखा गया। यह सुन्दर सम्पन्न गाँव आज भी आबाद है और एक नमूने की बस्ती है।

भूकम्प और बाढ़ के कारण कई जगहों में मलेरिया का बड़ा प्रकोप हो गया। रिलीफ-कमिटी की ओर से कई जगहों में, मलेरिया से लोगों को बचाने के लिए, विशेष प्रबन्ध करने पड़े। इनमें मुख्य है रामपुरहरि और मनुसमारा का इलाका—मुजफ्फरपुर-जिले में, पंडौल और मधुबनी का इलाका दरभंगा-जिले में तथा सुपौल का इलाका भागलपुर-जिले में। यह इतना बड़ा काम हो सका कार्य्यकर्त्ताओं के उत्साह और त्याग से ही। उनकी जितनी प्रशंसा की जाय, थोड़ी है। अगर मुशाहरा देकर सभी कार्य्य-कर्त्ता रखने पड़ते तो रिलीफ-कमिटी का बहुत रुपया सिर्फ काम करनेवालों पर ही खर्च हो जाता। हम आरम्भ से ही इस बात पर बहुत ध्यान रखते थे कि असहायों को मदद देने में ही हमारा अधिक से अधिक खर्च हो और मदद पहुँचाने के काम में कम से कम खर्च हो। ऊपर कहा गया है कि सेवकों को मोटा से मोटा भोजन हम देते थे जिसका लागत खर्च दो आने रोज के लगभग पड़ता था। काम प्रायः डेढ़ साल चलता रहा। इसलिए दफ्तर में कुछ लोग ऐसे अवश्य रखे गये जिनको कुछ निर्वाह-व्यय भी देना पड़ता; पर वह भी हम किफायत से किफायत दर से देते। इसके अलावा दफ्तर के लिए मकान, सामान इत्यादि का खर्च भी करना पड़ता था। माल ढोने के लिए और कार्य्यकर्त्ताओं तथा निरीक्षकों को कम से कम समय में अपने स्थानों पर पहुँचाने के लिए हमें लारियाँ और सवारियाँ भी खरीदनी पड़ी थीं। यह सब खर्च संस्था के नाम से लिखा जाता। हमेशा हम इस बात पर ध्यान रखते कि संस्था-खर्च और सहायता-खर्च का अनुपात जहाँ तक कम रह सके, रहे। हम अपनी रिपोर्टों में इसका भी बराबर जिक्र करते। शुरू में जब लोगों को अन्न-वस्त्रादि पहुँचाना था तब केन्द्र से इनको ढोकर सहायता की जगह पर ले जाने और बाँटने का खर्च ज्यादा पड़ा। यह स्वाभाविक था। जब कुँआ, पोखरा, तालाब, सड़क, पुल, नहर इत्यादि में हाथ लगाया गया तो संस्था-खर्च कम हो गया। जब मकान के लिए रुपये बाँटने का समय आया तो यह खर्च और भी कम हो गया।

यहाँ एक छोटी घटना का उल्लेख आवश्यक जान पड़ता है। गवर्नमेण्ट ने अपने सिविल-सर्विस के एक सुयोग्य अफसर मि० ब्रेट को रिलीफ-कमिश्नर बनाया था। रिलीफ के सारे काम का भार उन्हीं पर था। उन्होंने रिलीफ-सम्बन्धी एक रिपोर्ट लिखी, जिसमें उन्होंने बिहार-सेण्ट्रल-रिलीफ-कमिटी का भी जिक्र किया और उसके खर्च का सारांश भी उस रिपोर्ट में दिया। वहाँ उन्होंने लिख दिया कि रिलीफ-कमिटी का संस्था-खर्च ज्यादा पड़ा। वह रिपोर्ट लिखकर, अपना काम खतम करके, छुट्टी पर इँगलैंड चले गये। यह रिपोर्ट उनके चले जाने के बाद छपी। हमने देखा कि यह संस्था-खर्च का हिसाब बिलकुल गलत है। हमने गवर्न्मेण्ट को लिखा कि हमारे जाँचे और छपे हिसाब में संस्था-खर्च तो उतना नहीं है, गवर्नमेण्ट के आँकड़े गलत हैं। हमने जानना चाहा कि वे आँकड़े कहाँ से कैसे निकले हैं। मि० ब्रेट की गैरहाजिरी में उत्तर मिला कि आँकड़े मि० ब्रेट ने तैयार किये थे और गवर्न-मेण्ट को मालूम नहीं कि वह कैसे उन आँकड़ों तक पहुँचे थे। ऐसी अवस्था में उचित

होता कि गवर्नमेण्ट अपनी भूल स्वीकार कर लेती; पर ऐसा भी नहीं किया गया और गवर्नमेण्ट की रिपोर्ट में वे गलत अंक आज भी पड़े हैं!

जब रिलीफ का काम खतम हो गया तो जो रुपये बचे थे वे एक ट्रस्ट के जिम्मे कर दिये गये। जब कभी इस तरह की विपत्ति बिहार में आवेगी तब वे खर्च होंगे। सौभाग्यवश कोई बड़ी विपत्ति तबसे नहीं आयी है। जहाँ-तहाँ छोटी-मोटी बाढ़ आयी तो थोड़ी-बहुत सहायता की जरूरत पड़ी। वह सहायता उसी में दी गयी है। ट्रस्टियों ने रुपयों को खाली न रखकर, महात्माजी की सलाह से, अधिकांश चर्खा-संघ को कर्ज दे रखा है। चर्खा-संघ कुछ ब्याज देता है और चर्खा-द्वारा रुपये गरीबों की सेवा में लगे भी हैं। इस तरह एक पंथ दो काज हो रहा है। ट्रस्टी थे सरदार बल्लभभाई पटेल, सेठ जमनालाल बजाज और मैं। सेठजी के स्वर्गवास के बाद अब दो ही रह गये हैं।

१०५—सत्याग्रह स्थगित

रिलीफ-कमिटी के काम से जब महात्माजी ध्वस्त जगहों का दौरा कर रहे थे, एक घटना हुई जिसका असर यहाँ की राजनीति पर बहुत पड़ा। ऊपर कहा जा चुका है कि १९३३ के मध्य भाग में ही सत्याग्रह-आन्दोलन में सुस्ती आ गयी थी। व्यक्तिगत सत्याग्रह से कुछ जागृति देखने में आयी, पर वह भी धीरे-धीरे जाती रही। जिस समय भूकम्प हुआ, गांधीजी दक्षिण-भारत में हरिजन-सम्बन्धी दौरा कर रहे थे। वहाँ से ही वह बिहार आये थे। अब तक नये सुधारों की बात इँगलैंड में कुछ आगे बढ़ चुकी थी। दूसरी गोलमेज-कान्फ्रेन्स के बाद कुछ और कार्रवाई हुई और एक श्वेत पत्र (White Paper) निकला जिसमें वे सिद्धान्त निश्चित किये हुए थे जिनके अनुसार नया विधान बननेवाला था। लोग समझते थे कि शीघ्र ही श्वेत पत्र के अनुसार कानून बन जायगा और नया विधान काम में आने लगेगा। कुछ लोग सोच रहे थे कि यह नया विधान चाहे कितना भी खराब क्यों न हो और चाहे उसके अनुसार काम करना हम स्वीकार करें या न करें, काँग्रेस को चुनाव में भाग लेना चाहिए। इस बात की चर्चा चारों ओर चलने लगी और काँग्रेसी लोगों में भी यह बात चली। डाक्टर अनसारी, डाक्टर विधानचन्द्र राय और श्री भूलाभाई देसाई ने यह बात काँग्रे-सियों में चलाई। मैं तो रिलीफ के काम में ही व्यस्त था। इसलिए मुझे तो इस ओर ध्यान देने का अवकाश नहीं था। महात्माजी शायद कुछ न कुछ सोचते रहे होंगे।

उत्तर-बिहार के सफर में एक दिन भागलपुर-जिले के 'सहरसा' नामक गाँव में हम लोग ठहरे। दूसरे दिन सोमवार था, महात्माजी का मौन-दिन। महात्माजी मौन में कुछ लिखते रहे। मैं यों भी कभी उनका समय व्यर्थ नहीं लेता, उस दिन तो वह लिख रहे थे। इसलिए दिन-भर मैं उनसे कुछ बातें न कर सका। संध्या ४-५ बजे के करीब उन्होंने मेरे हाथ में एक कागज दिया और लिखकर कह दिया कि इसको पढ़ कर अपनी सम्मति दो। मैं उसको पढ़ गया। उसमें सत्याग्रह बन्द कर

देने की बात थी और चुनाव-सम्बन्धी संकेत था। उन्होंने उसमें यह बताया था कि कुछ उनके विश्वासी लोगों ने, जो जेल से निकले हैं, ऐसी बातें कही हैं जिनसे उनको इस नतीजे पर पहुँचना पड़ा है। देश में व्याप्त सुस्ती के अलावा मेरे सूबे में भूकम्प के बाद से दूसरा ही वातावरण हो गया था। यहाँ सत्याग्रह तो हो ही नहीं रहा था, बल्कि हम लोगों के प्रायः सभी साथी जेलों से मुक्त कर दिये गये थे और रिलीफ के काम में उनका अगर पूरा सहयोग नहीं था तो किसी प्रकार का विरोध भी नहीं था। अगर पूरे सहयोग में किसी प्रकार की कमी थी तो वह हमारे कारण से नहीं थी, गवर्नमेंट ही पूरा सहयोग नहीं चाहती थी और हमारे सभी कामों को सन्देह की दृष्टि से देखती थी। इसलिए आन्दोलन को, जो बहुत-कुछ स्वयं बन्द हो चुका था, बाजाब्ता बन्द कर देने की बात मुझे खटकी नहीं। और बातें भी ऐसी नहीं थीं जिनसे कुछ चोट लगे। इसलिए ध्यान से पढ़ने के बाद मैंने उस वक्तव्य के साथ अपनी सहमति प्रकट कर दी। तुरंत उसकी नकल की गयी और महात्माजी का विचार हुआ कि उसे अखबारों में भेजा जाय। वहाँ से तो तार भी नहीं जा सकता था। इसलिए मैं किसी को उसके साथ पटने भेजने का प्रबन्ध कर रहा था कि इतने में एक आदमी पटने से आ गया।

पटने में डाक्टर अनसारी का तार आया था। उसी को लेकर एक आदमी को वहाँ के लोगों ने भेज दिया था। पटने में लोगों ने समझा था कि सहरसा में तार नहीं मिल सकेगा। उस तार में डाक्टर अनसारी के पटने आने की बात थी। वह इन्हीं विषयों पर महात्माजी से बातें करने आ रहे हैं। उनके साथ डाक्टर विधानचन्द्र राय और श्री भूलाभाई देसाई भी आवेंगे। यह तार पाकर महात्माजी ने अपने वक्तव्य को अखबारों में भेजने से रोक दिया और पटने जाने का निश्चय किया। डाक्टर अनसारी के पहुँचने के समय हम लोग पटने पहुँच गये। डाक्टर अनसारी प्रभृति से महात्माजी की बातें हुई और उसके बाद वह वक्तव्य अखबारों में भेज दिया गया। इस वक्तव्य के निर्णय से बहुतेरे काँग्रेसी सन्तुष्ट थे; पर जो कारण बताया गया था उसे वे पसन्द नहीं करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि अब प्रमुख काँग्रेसियों का इकट्ठा होकर इस विषय पर विचार करना आवश्यक हो गया। महात्माजी का बिहार का दौरा अभी पूरा नहीं हुआ था। छोटानागपुर जाना बाकी था; उधर भूकम्प से नुकसान नहीं हुआ था; पर गांधीजी ने हरिजन-सम्बन्धी काम से उधर का भी दौरा करना पसन्द किया। वह उधर चले गये। सलाह-मशविरे के लिए प्रमुख काँग्रेसियों को राँची में बुलाया गया। यह कोई बाजाब्ता बैठक नहीं थी, लोगों की राय जानने के लिए ही बुलाहट हुई थी। वहाँ मैं भी गया। सभी सूबों से बहुतेरे लोग आये। दो-तीन दिनों तक बातचीत हुई। निश्चय हुआ कि पटने में अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी की बाजाब्ता बैठक की जाय। इस बीच में महात्माजी और जगहों का दौरा कर लेंगे। मई (१९३४) के महीने में पटने में यह बैठक हुई।

देने की बात थी और चुनाव-सम्बन्धी संकेत था। उन्होंने उसमें यह बताया था कि कुछ उनके विश्वासी लोगों ने, जो जेल से निकले हैं, ऐसी बातें कही हैं जिनसे उनको इस नतीजे पर पहुँचना पड़ा है। देश में व्याप्त सुस्ती के अलावा मेरे सूबे में भूकम्प के बाद से दूसरा ही वातावरण हो गया था। यहाँ सत्याग्रह तो हो ही नहीं रहा था, बल्कि हम लोगों के प्रायः सभी साथी जेलों से मुक्त कर दिये गये थे और रिलीफ के काम में उनका अगर पूरा सहयोग नहीं था तो किसी प्रकार का विरोध भी नहीं था। अगर पूरे सहयोग में किसी प्रकार की कमी थी तो वह हमारे कारण से नहीं थी, गवर्नमेंट ही पूरा सहयोग नहीं चाहती थी और हमारे सभी कामों को सन्देह की दृष्टि से देखती थी। इसलिए आन्दोलन को, जो बहुत-कुछ स्वयं बन्द हो चुका था, बाजाब्ता बन्द कर देने की बात मुझे खटकी नहीं। और बातें भी ऐसी नहीं थीं जिनसे कुछ चोट लगे। इसलिए ध्यान से पढ़ने के बाद मैंने उस वक्तव्य के साथ अपनी सहमति प्रकट कर दी। तुरंत उसकी नकल की गयी और महात्माजी का विचार हुआ कि उसे अखबारों में भेजा जाय। वहाँ से तो तार भी नहीं जा सकता था। इसलिए मैं किसी को उसके साथ पटने भेजने का प्रबन्ध कर रहा था कि इतने में एक आदमी पटने से आ गया।

पटने में डाक्टर अनसारी का तार आया था। उसी को लेकर एक आदमी को वहाँ के लोगों ने भेज दिया था। पटने में लोगों ने समझा था कि सहरसा में तार नहीं मिल सकेगा। उस तार में डाक्टर अनसारी के पटने आने की बात थी। वह इन्हीं विषयों पर महात्माजी से बातें करने आ रहे हैं। उनके साथ डाक्टर विधानचन्द्र राय और श्री भूलाभाई देसाई भी आवेंगे। यह तार पाकर महात्माजी ने अपने वक्तव्य को अखबारों में भेजने से रोक दिया और पटने जाने का निश्चय किया। डाक्टर अनसारी के पहुँचने के समय हम लोग पटने पहुँच गये। डाक्टर अनसारी प्रभृति से महात्माजी की बातें हुईं और उसके बाद वह वक्तव्य अखबारों में भेज दिया गया। इस वक्तव्य के निर्णय से बहुतेरे काँग्रेसी सन्तुष्ट थे; पर जो कारण बताया गया था उसे वे पसन्द नहीं करते थे। इसका नतीजा यह हुआ कि अब प्रमुख काँग्रेसियों का इकट्ठा होकर इस विषय पर विचार करना आवश्यक हो गया। महात्माजी का बिहार का दौरा अभी पूरा नहीं हुआ था। छोटानागपुर जाना बाकी था; उधर भूकम्प से नुकसान नहीं हुआ था; पर गांधीजी ने हरिजन-सम्बन्धी काम से उधर का भी दौरा करना पसन्द किया। वह उधर चले गये। सलाह-मशविरे के लिए प्रमुख काँग्रेसियों को राँची में बुलाया गया। यह कोई बाजाब्ता बैठक नहीं थी, लोगों की राय जानने के लिए ही बुलाहट हुई थी। वहाँ मैं भी गया। सभी सूबों से बहुतेरे लोग आये। दो-तीन दिनों तक बातचीत हुई। निश्चय हुआ कि पटने में अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी की बाजाब्ता बैठक की जाय। इस बीच में महात्माजी और जगहों का दौरा कर लेंगे। मई (१९३४) के महीने में पटने में यह बैठक हुई।

इस बैठक की विशेषता यह थी कि अब तक सभी काँग्रेस-कमिटियाँ गैर-कानूनी थीं। उनमें से किसी की भी बैठक गैर-कानूनी होती। पर गवर्नमेण्ट ने भी रंगढंग समझ लिया था। उसकी ओर से किसी तरह की रोक-टोक नहीं हुई। श्रीमती राधिकासिंह-हाल में बैठक हुई और संध्या समय उसी के मैदान में। दो प्रकार के लोग थे। जो प्रस्ताव वर्किंग-कमिटी की ओर से पेश किया गया उसमें सत्याग्रह स्थगित करने का आदेश था, केवल गांधीजी को सत्याग्रह करने का अधिकार दिया गया था। कौन्सिल के चुनाव में भाग लेने की भी बात थी। साथ ही, महात्माजी के वक्तव्य का समर्थन था। कुछ लोग तो प्रस्ताव के साथ सहमत थे। कुछ लोगों ने उसका बहुत तीव्र विरोध किया। विरोध उस निश्चय के साथ तो था ही, महात्माजी के वक्तव्य में जो कारण बताया गया था उसके साथ भी था। कुछ लोग, जो सत्याग्रह बन्द करने के विरोधी नहीं भी थे, कौन्सिल-चुनाव में भाग लेने के विरुद्ध थे। बहुत गरमा-गरम बहस के बाद प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। इस विरोध में अधिक भाग उन लोगों का था जिन्होंने 'काँग्रेस-सोशलिस्ट-पार्टी' बनायी। पटने में ही, इसी अवसर पर, सोशलिस्ट लोगों ने अपनी एक अलग कान्फ्रेन्स की। उन्होंने अपनी पार्टी, काँग्रेस के अन्दर रहकर ही, संगठित की। इसके मुख्य कार्य्यकर्त्ता और नेता आचार्य श्री नरेन्द्रदेव और श्री जयप्रकाशनारायण थे। अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी में विरोधियों में मुख्य आचार्य नरेन्द्रदेव ही थे।

जो हो, अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी ने सत्याग्रह स्थगित कर दिया। इसके बाद अब गवर्नमेण्ट के लिए भी रास्ता खुल गया। उसने कुछ दिनों के बाद काँग्रेस-कमिटी पर से गैर-कानूनी होने का हुक्म उठा लिया। कुछ दिनों में वर्किंग-कमिटी की बैठक हुई। उसने आदेश दिया कि काँग्रेस का पुनः संगठन जल्द से जल्द कर लिया जाय और सभी कमिटियाँ बाजाब्ता काम करना शुरू कर दें। इस बार दोनों पक्ष ने अपने-अपने मन्तव्य स्वतंत्र रूप से प्रकाशित कर दिये थे। इसलिए किसी पर किसी का दावा या बन्धन नहीं था। गांधी-अर्विन-समझौते के बाद उसकी शर्तों को पूरा कराने में बड़ी कठिनाई हुई थी। इस बार वह सब बखेड़ा नहीं था। कुछ दिनों के बाद गवर्नमेण्ट ने एक-एक करके सभी आश्रमों और काँग्रेस-भवनों को वापस कर दिया। वे जिस अवस्था में थे उसी दशा में उन्हें हमको ले लेना था और फिर मरम्मत वगैरह का सारा काम हमको स्वयं करना था। इसलिए, इस बार लिखा-पढ़ी में न समय लगाना पड़ा और न सिर खपाना पड़ा। वर्धा में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई जिसमें एक कौटुम्बिक विपत्ति के कारण मैं नहीं जा सका। इन दिनों सेठ जमना-लाल बजाज स्थानापन्न सभापति बनाये गये और वही काँग्रेस का संचालन करने लगे। निश्चय हुआ कि काँग्रेस का विशेष अधिवेशन किया जाय। यही अधिवेशन अक्टूबर में बम्बई में हुआ। सभी सत्याग्रही अभी तक छूटे नहीं थे। सरदार वल्लभभाई, पंडित जवाहरलाल प्रभृति अभी तक जेल में ही थे। सरदार तो बम्बई-काँग्रेस के पहले ही निकल आये; पर पंडित जवाहरलालजी बम्बई-काँग्रेस के बहुत बाद तक जेल में ही रहे।

१०६—भाई की मृत्यु और ऋण-संकट

इधर मेरे घर में बड़ी विपत्ति आ गयी। मैं, इसी कारण से, पटना में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक हो जाने के बाद वर्धा में होनेवाली र्वाकिंग कमिटी में, शरीक न हो सका। अखिल भारतीय कमिटी की बैठक समाप्त होने के बाद बहुत जल्द ही यह विपत्ति आयी।

रिलीफ के काम में भाई ने भी बहुत परिश्रम किया था। छपरे में ही उनको अधिक काम करना पड़ा था। प्रान्तीय काम में भी उन्होंने अच्छा भाग लिया था। मैंने ऊपर एक जगह लिखा है कि उन्होंने आसाम में कुछ जमीन ली थी। कभी-कभी वहाँ जाया करते थे। अभी तक उसका कोई समुचित प्रबन्ध न हो सका था। वह मई के महीने में वहाँ एक बार गये। वहाँ से लौटकर आये तो उनको ज्वर हो गया। वह जगह बहुत मलेरिया-ग्रस्त थी। उनको मलेरिया ने वहीं पकड़ा जिसका असर यहाँ घर लौटने पर मालूम हुआ। पर उससे वह अच्छे हो गये। मैं एक दिन छपरे गया तो उनको अच्छा पाया, पर देखा कि वह बंक का काम करने लगे हैं। उस समय वह बहुत कमजोर थे। मैंने मना किया, कहा कि अभी कुछ और आराम कर लें, शक्ति हो जाने पर ही काम करें। यह सब कहकर मैं पटने चला आया। मेरे पटना लौटने के दो-चार दिनों के अन्दर ही एक दिन दोपहर को छपरे से तार आया कि उनकी तबीयत खराब है, डाक्टर रघुनाथशरण को मैं भेज दूँ अथवा साथ लेकर आऊँ। तार पढ़कर मेरी चिन्ता बढ़ गयी। यह तार छपरे के सिविल सर्जन डाक्टर राजेश्वर-प्रसाद की राय से दिया गया था।

जब तक डाक्टर शरण से मिलकर छपरा जाने का निश्चय हो रहा था तब तक दोपहर का स्टीमर, जो गंगा-पार जाता है, निकल गया। हम लोगों ने रात तक ठहरना मुनासिब नहीं समझा। मोटर पर डाक्टर शरण के साथ मैं रवाना हो गया। नाव से मोटर को गंगा-पार करके हम लोग आगे चले। भूकम्प के कारण सड़कें तो यों ही खराब हो गयी थीं, रेल बन्द हो जाने से जो बहुत बैलगाड़ियाँ और लारियाँ चली थीं उससे सड़कों की हालत और भी रद्दी हो गयी थी। हम लोग प्रायः दस बजे रात को छपरे पहुँचे। वहाँ के सभी डाक्टर बहुत चाव और प्रेम से चिकित्सा कर रहे थे। डाक्टर राजेश्वरप्रसाद तो दिन-रात वहीं रहते थे। जब उन्होंने हालत काबू के बाहर देखी तभी तार दिया था। ज्वर के अलावा इस समय 'किडनी' की हालत खराब हो गयी थी। इसलिए पेशाब और खून का जाँचना अत्यन्त आवश्यक था। उनको पहले कुछ चीनी की शिकायत थी और उसकी चिकित्सा भी करायी गयी थी जिससे वह कुछ सँभल गयी थी; पर कमजोरी की हालत में शायद उसने भी जोर कर दिया था।

रात को ही पेशाब इत्यादि लेकर आदमी पटने भेजा गया। डाक्टरों ने बहुत परिश्रम किया, पर दिन-दिन बीमारी बढ़ती गयी। पटने से वैद्यराज पंडित ब्रजबिहारी

चौबेजी को भी बुलाया। उन्होंने भी कुछ उपचार किया, पर किसी का कुछ असर न हुआ। अन्त में डाक्टरों की राय हुई कि शायद एक 'किडनी' निकालने से कुछ लाभ हो। डाक्टर राजेश्वरप्रसाद अच्छे सर्जन हैं, पर वह यह जवाबदेही अकेले लेना नहीं चाहते थे। डाक्टर बनर्जी के बुलाने का प्रयत्न किया गया, पर वह मेडिकल कालेज बन्द होने के कारण पटने में नहीं थे। मुँगेर में डाक्टर बटुकदेवप्रसाद वर्मा सिविल सर्जन थे। वह भी अच्छे सर्जन हैं। वह बुलाये गये, पर उनके हाथ में कोई दूसरा मरीज था, जिसको तुरन्त छोड़कर वह कहीं बाहर जा नहीं सकते थे। लखनऊ में तार दिया कि वहाँ के नामी सर्जन डाक्टर भाटिया बुलाये जायँ, पर वह भी न आ सके। कलकत्ते तार दिया तो वहाँ के मित्रों ने नामी सर्जन डाक्टर पंचानन चटर्जी को भेजा। पटने के कर्नल एलेक्जेण्डर को भी बुलाया। सबने देखकर वही कहा कि कमजोरी इतनी है कि छुरी लगाना ठीक न होगा। हार मानकर नश्तर की बात छोड़ दी गयी। इसके दो दिनों के अन्दर ही उनका स्वर्गवास हो गया!

हमने तार देकर जमशेदपुर से जनार्दन और उनके स्त्री-बच्चे को बुला लिया था। लखनऊ से दामाद और लड़की भी आ गयी। शिकारपुर की बबुनी मृत्यु होने पर पहुँची। पटने से साथ ही साथ भाई मथुराप्रसादजी आये थे। पूज्य ब्रजकिशोर बाबू भी आ गये। इस तरह सभी इष्ट-मित्रों के बीच, बाल-बच्चों से घिरे हुए, उन्होंने शरीर-त्याग किया। हम सब राम-नाम ले रहे थे और गीता-पाठ कर रहे थे। हम सबके लिए तो आफत का पहाड़ टूट पड़ा। हमने घर से कभी सम्बन्ध रखा ही न था। सब कुछ वही करते थे। जब मैं वकालत कर रहा था और रुपये कमा रहा था तब भी वही मेरी देखभाल करते थे। जब मैं असहयोग करके फक्कड़ बन गया तब भी वही मेरी देखभाल करते थे। मेरी स्त्री और लड़के भी उनके ही साथ बराबर रहे थे। मैं जब कभी जाता था तो उनसे मिल आता था। उन्होंने घर की स्त्रियों को कभी एक दूसरे से अलग न होने दिया, लड़कों में किसी प्रकार का भेदभाव नहीं किया। लड़के भी उनको ही पिता जानते और मानते थे। यह विपत्ति अचानक आ पड़ी। वह भी ऐसे समय आयी जब मैं दूसरे काम में व्यस्त था।

हम लोग जल्द ही दाह-क्रिया के लिए सरयूजी चले गये, जो उन दिनों छपरा-शहर से कुछ दूर पर थीं। दाह-क्रिया करते देर हो गयी। दूसरे दिन सवेरे, घर के सब लोगों के साथ, मोटर पर हम जीरादेई चले गये। वहीं घर पर श्राद्धादि क्रिया की गयी। भाई सारे सूबे में विख्यात थे। वह सार्वजनिक सेवा में बहुत समय लगाते थे। इसके अलावा छपरे में और दूसरी जगहों में भी लोगों की सेवा-सहायता किया करते थे। किसी के घर में यज्ञ हो, वह प्रबन्ध में मदद करते। किसी प्रकार का सभा-सम्मेलन कहीं हो, वह प्रबन्ध में जुट जाते थे। व्यक्तिगत व्यवहार लोगों के साथ इतना अच्छा रखते थे कि किसी को कोई जरूरत हो तो उसको पूरा करने में हिचकते नहीं थे। इसलिए उनकी मृत्यु की खबर जब छपी तो सारे सूबे से बहुत मित्रों के सहानुभूति-सूचक तार और पत्र आने लगे। इन सबसे मुझे बड़ा ढाढ़स

हुआ। महात्माजी के सान्त्वना-सूचक शब्दों का असर तो पड़े बिना रह ही नहीं सकता था।

यह सब होते हुए भी मेरे लिए यह बहुत ही कठिन और दुःख का समय हुआ। मैं कह चुका हूँ कि घर के कारबार से मेरा कुछ सरोकार नहीं रहा करता था। सब कुछ भाई ही देखा करते थे। यहाँ तक कि जब मैं रुपये पैदा किया करता था तब भी मेरे निजी आराम और जरूरत की चीजों का खयाल वही किया करते थे। जब पटने आते, नौकर से पूछते कि मेरे कपड़े तो ठीक हैं न, मेरी धोतियाँ अच्छी हैं या पुरानी हो गयी हैं, मेरे पास कुर्ते कितने हैं, मैं नाश्ता क्या करता हूँ––इत्यादि। और, जरूरत के मुताबिक उस नौकर को, चाहे मेरे क्लर्क मौलवी शराफत हुसैन को, जिनको हम सब 'मुंशीजी' कहा करते थे, हिदायत दे जाते। मैं भी, जो कुछ खर्च के बाद बच जाता सब उनके ही हवाले कर देता। घर पर थोड़ी जमीन्दारी थी जिससे ४००) से ५००) तक मासिक बचत होगी। पिताजी, जमीन्दारी के काम से अलग ही रहते थे, इससे कुछ बदइन्तजामी हो गयी थी, जिसके कारण इतनी आमदनी होते हुए भी कभी-कभी कष्ट हो जाया करता। मैं पहले ही लिख चुका हूँ कि जब भाई प्रयाग में बी० ए० में पढ़ रहे थे तब परीक्षा के समय उन्होंने युनिवर्सिटी-फीस के लिए रुपये माँग भेजे; इतनी रकम कोई बड़ी चीज नहीं थी; पर इन्तजाम का सारा भार दीवान पर था, दीवान जल्दी न दे सके तो पिताजी ने कर्ज लेकर रुपये भिजवाये। यह तो एक साधारण उदाहरण है। रुपये की दिक्कत हमेशा रहा करती।

मैं छपरे में जब पढ़ता था, वहाँ नगद रुपयों की बहुत कम जरूरत होती। दो मोदियों से बात पक्की हो गयी थी। मैं पुर्जा लिख देता, वे जरूरत की चीजें दे देते। सब पुर्जे लेकर वे जीरादेई जाते और रुपये वहीं से पाते। केवल स्कूल-फीस और पुस्तक अथवा कपड़ा खरीदने के लिए नगद रुपये की जरूरत होती। जब कोई घर से जमीन्दारी के मुकदमे की पैरवी के लिए आता तो उससे मैं ले लेता। इसके लिए एक आदमी, जिनका नाम किन्नू राय था, नियुक्त थे। वह हमेशा छपरा आते-जाते रहते। इसलिए मुझे कभी कोई तकलीफ नहीं हुई। पर यह बात भाई के साथ नहीं थी। उनको पटने या प्रयाग में खर्च के लिए हर महीने नगद रुपये चाहिए था। इसके लिए उनको बहुत कष्ट झेलना पड़ा था। इस बात को वह भूले नहीं थे। इसलिए, पिताजी के देहान्त के बाद, जब उन्होंने जमीन्दारी का इन्तजाम सँभाला तो मेरे पास खर्च भेजने का बहुत अच्छा प्रबन्ध कर दिया; बल्कि सच तो यह है कि पिताजी के जीवन-काल में ही, जब वह प्रयाग से बी० ए० पास करके आ गये, जमीन्दारी का काम देखने लगे। प्रबन्ध उन्होंने अच्छा कर दिया।

पिताजी के मरने के समय थोड़ा कर्ज था। उनकी मृत्यु के बाद एक भतीजी की शादी हुई, उसमें भी कुछ कर्ज हो गया। इस तरह कई हजार का कर्ज था। पर इतनी जमीन्दारी के लिए यह कर्ज कुछ इतना बड़ा न था कि अदा ही न हो सके, विशेषकर अगर कुछ बाहर की नगदी आमदनी हो जाय। भाई साहब बिहार-बंक की

छपरा-शाखा के मैनेजर थे। पर उनको इतना वेतन नहीं मिलता था कि वहाँ का सब खर्च चलाकर वह कुछ बचा सकें। मैं कुछ कमाता था जरूर; पर खर्च भी काफी करता था। इसलिए यह कर्ज अदा न हो सका। एक और लड़की की शादी आ गयी। उसमें भी खर्च पड़ा। चाची मर गयीं। उनके श्राद्ध में खर्च पड़ा। पर इन सबसे कर्ज बढ़ा नहीं; बल्कि आमदनी कुछ बढ़ गयी; क्योंकि १२००) की सालाना आमदनी जो चाची को तीर्थाटन के लिए मिली हुई थी, अब बचने लगी। तो भी किसी तरह बोझ हल्का न हुआ। पर सब लोग बड़े आराम से रहते। ऊपरी ठाठ-बाट बहुत अच्छा था। नाम और यश अच्छा फैला। भाई साहब बहुत ही उदार थे। खर्च काफी किया करते थे, किसी व्यसन या शौकीनी में नहीं; पर तरह-तरह के दूसरे खर्च थे। इसलिए अच्छा प्रबन्ध होने पर भी पहले का कर्ज अदा न हो सका। वह आशा लगाये थे कि मैं इतने पैसे कमा लूँगा कि कर्ज आसानी से अदा हो जायगा। जब मैंने वकालत छोड़ने का निश्चय कर लिया तो उनकी सब आशाओं पर पानी फिर गया। पर कभी उन्होंने एक शब्द भी मुझसे कहा नहीं।

वह जानते थे कि सार्वजनिक सेवा की ओर मेरी अभिरुचि उनके ही प्रोत्साहन से हुई थी। जहाँ तक हो सका, वह बराबर इसमें मेरी मदद ही करते थे। कभी असन्तोष प्रकट न करते। मुझे इस तरह के काम से रोकने का खयाल भी अपने मन में न आने देते। इसलिए, अपनी सब सांसारिक आशाओं पर पानी फिरते देखकर भी वह खुश ही रहे और हमेशा मुझे खुश रखने के प्रयत्न में ही लगे रहे। उन्होंने यह सोचा कि बंक की नौकरी से आमदनी ज्यादा नहीं हो सकती। ज्यादा मुशाहरावाली दूसरी नौकरी चाहते तो मिल जाती; क्योंकि चुस्त मैनेजर होने की उनकी काफी ख्याति थी। पर जिस बंक के स्थापित होने में उन्होंने मदद की थी उसको किसी तरह छोड़ना नहीं चाहते थे। इसके अलावा उसमें सुविधा भी थी। वह नौकर की तरह नहीं, मालिक की तरह काम करते। उतना परिश्रम शायद ही कोई नौकर (मैनेजर) किसी बंक का करता हो। साथ ही, वह प्रायः रविवार को जीरादेई चले जाते और घर का कारबार देख आते। सार्वजनिक कामों में भी वह बहुत समय लगाते। बंक के अधिकारियों की ओर से इसमें कभी रुकावट नहीं डाली जाती। उन्होंने इन्हीं कारणों से बंक से अलग होना तो गैरमुनासिब समझा, पर सोचा कि किसी दूसरे उपाय से कुछ आमदनी बढ़ाई जाय। इसलिए उन्होंने चावल की एक मिल खोली।

मैं तो काँग्रेस के काम में व्यस्त था, मिल का काम बहुत आगे बढ़ जाने पर मुझे इसका पता लगा। भाई के हाथ में बंक का काम, कोआपरेटिव-सोसाइटियों का काम और दूसरे-दूसरे इतने अधिक काम थे कि वह इस मिल की देख-रेख में खुद समय न दे सके। उन्होंने दूसरों पर भरोसा किया। दूसरे लोग, चाहे अनुभव के अभाव से, चाहे सुस्ती से, चाहे और किसी कारण से, ठीक प्रबन्ध न कर सके। मिल में रुपयों की कमी हो गयी। धान का मौसम बीतता जाता था। यदि उस समय धान न खरीदा गया तो मुनाफा न होगा। पर आशा की जाती थी कि यदि किसी से रुपये

लेकर लगा दिये जायँ तो मौसम बीतने पर चावल बिक जाने से रुपये वापस आ जायँगे और महाजन को अदा कर दिये जायँगे। बाजार की हालत ऐसी समझी जाती थी कि लागत रुपयों के ब्याज देने के बाद भी अच्छा मुनाफा रहेगा। उन्होंने ऐसा ही समझा और मुझसे कहा कि सेठ जमनालालजी से एक 'सीजन' के लिए कुछ रुपये ला दो। सेठजी ने इस बात को मंजूर कर लिया। रुपये आ गये। मिल खूब जोरों से चलने लगी। तैयार होने के पहले ही चावल बिक जाता। खरीदारों की भीड़ लगी रहती। सब समझते थे कि खूब मुनाफा होगा। मिल के संचालक महाशय ने दाम लगाने में ही भूल कर दी थी। लागत से कम दर पर ही चावल बिक रहा था। ऐसी अवस्था में खरीदारों का टूट पड़ना कोई आश्चर्य नहीं था। जितना ज्यादा चावल बनता और बिकता, घाटे की रकम उतनी ही बढ़ती गयी। सेठजी के रुपये आ जाने से मैंने भी थोड़ी दिलचस्पी ली। एक दिन मिल में गया। वहाँ ठहर कर हिसाब देखा। मालूम हुआ कि लागत से कम पर ही चावल बिक रहा है। मैनेजर मेरी बात मानते नहीं। अन्त में भाई साहब को भी समय लगाना पड़ा। उन्होंने भी हिसाब लगाकर देखा और समझ लिया कि बहुत नुकसान हो चुका है। नतीजा यह हुआ कि सेठजी का रुपया समय पर नहीं दिया जा सका। आहिस्ता-आहिस्ता कुछ-कुछ अदा हुआ, पर बहुत ज्यादा बाकी रह गया।

जब ऐसी अवस्था मालूम पड़ी तो हम दोनों बहुत शर्मिन्दा हुए, पर कुछ कर नहीं सकते थे। तकाजा होता रहा, पर रुपये अदा न हो सके। सेठजी के एक मारवाड़ी मित्र श्री बैजनाथ केडिया बिहार में कहीं थोड़ी जमीन लेकर खेती करना चाहते थे। एक बार सेठजी और केडियाजी दोनों जीरादेई आये। मेरी जमीन्दारी में ७०-८० बीघे जमीन ऐसी है जो अपने जोत में रहती है। उसमें धान, गेहूँ, ऊख इत्यादि सब प्रकार की फसलें पैदा हो सकती हैं। मेरे मकान से प्रायः एक मील के अन्दर ही वह जमीन है। सेठजी के और दूसरे कर्ज मिलकर ६०-६५ हजार होते थे। वह इस पर राजी हो गये कि यह जमीन और मकान उनको हम बेच दें तो वह सबका सब कर्ज चुकता कर देंगे। मकान पक्का है, भड़कदार है; बना तो था दादा के समय में, पर भाई साहब ने उसमें कई हजार लगाकर उसे बढ़ाया था और कुछ हिस्से को दो-महला बनाया था। यदि मकान और जीरात की जमीन हम उस समय बेच देते और कर्ज से मुक्त हो जाते तो हर तरह अच्छा होता। इसके बाद भी कम से कम ५००) मासिक की आमदनी जमीन्दारी से बेदाग बच जाती। हाँ, घर कहीं अन्यत्र बनाना पड़ता। पर इस समय घर के लोग अधिक छपरा रहा करते थे। छोटा घर कहीं अपनी जमीन्दारी में बना लेना मुश्किल नहीं था। मैंने इस राय को पसन्द किया और इस पर जोर दिया कि कर्ज अदा करने का इससे बेहतर रास्ता इस समय नहीं हो सकेगा। इसलिए इसे तय कर देना चाहिए।

सेठ लोगों से बातचीत हुई। वे तो राजी थे ही। सेठ जमनालाल बजाज ने भी बहुत जोर दिया कि यह बोझ हटा देना चाहिए, नहीं तो आगे चलकर यह गला दबा

देगा। भाई साहब बाप-दादा के बनाये और हम सबके जन्म-स्थान पुराने मकान को बेचने से बहुत हिचके; पर मजबूरन कुछ-कुछ राजी भी हुए। पीछे घर की स्त्रियों और कुछ मित्रों की राय से, जिनमें बाबू मथुराप्रसाद भी थे, प्रभावित होकर वह मकान और खेत बेचने पर राजी नहीं हुए। मामला खत्म हो गया। पैतृक मकान और जीरात के खेत तो नहीं बिके; पर थोड़े ही दिनों में दूसरे महाजनों का इतना जोर हुआ कि काफी जमीन्दारी बेचनी पड़ी।

चावल-कल के घाटे से तो दबे थे ही, उन्होंने कुछ दूसरा व्यापार करना चाहा! छपरे में बिजली का कारखाना खोलने का प्रबन्ध किया। १९३० में, जब मैं जेल में था, यह बात तय हुई। रुपये अपने पास तो थे नहीं, छपरा-इलेक्ट्रिक-सप्लाई-कम्पनी कायम की गयी। गवर्नमेण्ट ने लाइसेन्स उनको ही दिया, कम्पनी को नहीं। इसलिए बिजली-कल उन्होंने ही बनवायी। रुपये कर्ज के थे। कुछ बंक से लेकर कम्पनी ने दिया। कुछ 'शेयर' बेचकर और कुछ उन्होंने अपनी जवाबदेही पर कर्ज लेकर रुपये लगाये। पहले का और अबका कर्ज मिलकर बहुत हो गया था। मरने के एक-दो साल पहले ही उनको प्रायः २,२००) सालाना आमदनी की जमीन्दारी बेच देनी पड़ी। तो भी अभी सब कर्ज अदा न हुआ। सेठ जमनालालजी के रुपये तो बाकी रह ही गये। दूसरे भी कई जगहों के रुपये बाकी थे। मुझे सेठजी के सिवा दूसरों के कर्ज की खबर नहीं थी। जब जमीन्दारी बिकी तो मैंने सोचा था कि अब बोझ हल्का हो गया होगा। पर यह कहाँ होनेवाला था। कुछ तो खर्च के कारण और कुछ इस तरह के व्यापार के कारण कर्ज बढ़ता ही गया। कभी-कभी वह कहा करते थे कि बिजली के हिस्से अगर बिक जायँ और जो रुपये लगाये गये हैं वे उतर आवें तो बोझ हल्का हो सकता है। पर यह भी उन्होंने आशावादी होने के कारण ही कहा था। कुछ हिस्से बेचने का प्रयत्न भी किया गया, पर चूँकि बिजली-कल पर कम्पनी का स्वत्व ही नहीं था, हिस्सा बिकने में कठिनाई हुई। इस तरह अपने ऊपर कर्ज का भारी बोझ बढ़ता गया। ब्याज भी बढ़ता गया और अदाकारी का कोई सामान नजर नहीं आता था। लड़के लोगों में मेरा भतीजा इँगलैंड से लोहा बनाने का काम सीखकर आया और ताता कम्पनी में उसे जगह मिल गयी थी। वहाँ उसको ३००-३५०) के लगभग मिलता था; पर वहाँ का खर्च और घर के लोगो के वहाँ रह जाने का खर्च इतना अधिक होता कि वह बहुत बचा नहीं सकता। शायद भाई साहब जिस तरह मुझसे कभी कुछ नहीं माँगते और न मुझे आर्थिक चिन्ता में कभी डालना चाहते, उसी तरह उससे भी कभी कुछ न चाहते और न कहते। उनकी मृत्यु हो जाने के बाद हमको इसका पता लगा कि हम कितने गहरे पानी में उतर गये हैं। लोगों का उन पर इतना विश्वास था कि बिना किसी लिखा-पढ़ी के लोगों ने हजारों-हजार का कर्ज उन्हें दे दिया था। अगर वह जीते रहते तो और भी न मालूम कितने हजार उनको लोगों से मिल जाते।

उनके मरने के बाद जब मुझे यह सब देखने की नौबत आयी तो पहले तो

मुझे यही नहीं मालूम था कि किसको कितना देना है और किससे कितना पाना है। मैं छपरे में ठहर गया। उनके एक विश्वासी बंक के नौकर थे जो उनके निजी लेन-देन की भी पूरी खबर रखते थे। उन्होंने मुझे कुछ बताया और पीछे महाजन लोग एक-एक करके खुद मेरे पास आये और कहने लगे। जब मुझे पूरा पता चल गया कि कितना देना है तो मैं बहुत परेशान हो गया; क्योंकि सब कुछ बेच देने पर भी सबका कर्ज अदा होना कठिन था। हाँ, यदि अच्छी कीमत आ जाय तो किसी तरह शायद सब अदा हो सके। पर अब जमीन्दारी की अच्छी कीमत देता कौन है और वह भी जब जल्दी में बेचना हो! इतने कर्ज का भार सिर पर रखना मेरे लिए असह्य था। मैं चाहता था कि किसी तरह लोग जमीन्दारी ले लेते और हमको मुक्त कर देते तो बड़ी कृपा होती। पर सभी महाजन जमीन्दारी लेना नहीं चाहते थे। मैंने सबसे कहा कि मैं कोई न कोई प्रबन्ध करके एक साल में रुपये अदा करने का प्रयत्न करूँगा और जो जमीन्दारी लेना चाहें उनको तो तत्काल ही लिख देने को तैयार हूँ। लोगों का भाई साहब पर इतना विश्वास था—उनके साथ इतना प्रेम था और मुझ पर भी विश्वास था कि सभी बिना हिचक के मेरी बात मान गये। मैं चाहता था कि अब सब काम छोड़-छाड़कर जमीन्दारी बेचने के प्रबन्ध में लग जाऊँ और इस बोझ को हटाकर फिर सार्वजनिक काम में आ लगूँ।

१०७—ऋणमुक्ति और बम्बई-काँग्रेस

इतने ही में बम्बई में होनेवाली काँग्रेस का समय नजदीक आने लगा और सभापति के लिए मेरा नाम आया। कराची-काँग्रेस के बाद उड़ीसा में होनेवाली काँग्रेस के सभापतित्व के लिए भी मेरा नाम आया था और एक प्रकार से मैं चुना भी गया था। पर सत्याग्रह छिड़ जाने के कारण वह काँग्रेस हुई ही नहीं। जब फिर बाजाब्ता काँग्रेस होने लगी तो स्वाभाविक रीति से मेरा ही नाम लोगों को जँचने लगा। इसके अलावा भूकम्प-संकट-निवारण के काम से सारे देश में मेरे प्रति बहुत प्रेम और विश्वास बढ़ गया था। गांधीजी भी चाहते थे कि मैं ही सभापति होऊँ।

भाई की मृत्यु के आघात से मैं घायल था ही। उस पर कर्ज के बोझ का पता लगते ही मैं और भी कातर हो गया था। मैंने ऐसी अवस्था में काँग्रेस के सभापतित्व का बोझ लेना अनुचित और असम्भव समझा। महात्माजी की ओर से श्री महादेव-भाई देसाई ने लिखा कि भूकम्प-सम्बन्धी काम से सन्तुष्ट होकर देश मेरे प्रति विश्वास और श्रद्धा दिखलाना चाहता है, मुझे इस भार को लेना उचित है, कर्ज के सम्बन्ध में सेठ जमनालालजी से कुछ बातें हुई हैं, वह देखेंगे। शायद वहाँ यह समझा गया था कि उनका ही अधिक कर्ज है तो वह कोई उपाय सोचकर कोई प्रबन्ध कर देंगे।

सेठजी एक बार मेरे घर के लोगों से मिलने जीरादेई आये। घर के लोगों के साथ भी उनका बहुत प्रेम हो गया था। मेरी भौजाई, मेरी स्त्री और दो पतोहुएँ बहुत दिनों तक साबरमती-आश्रम में रही थीं। वहीं उनसे सबकी मुलाकात हो गयी

थी। इसलिए भाई के मरने पर पुछार करने वह आये थे। घर का सब हाल और कर्ज का भी कुछ हाल सुना था। उनका खयाल था कि सब जमीन्दारी यदि ठीक कीमत पर बिक जाय तो सब कर्ज अदा हो सकेगा, पर जमीन्दारी की लालच एकदम छोड़नी पड़ेगी। मैं इस पर राजी था ही। इसलिए महात्माजी ने उनका हवाला दिया और कर्ज की चिन्ता उन पर छोड़कर काँग्रेस का भार उठाने को कहा। यहाँ महाजनों ने भी एक साल का समय दे ही दिया था। मैंने सभापतित्व का गुरुतर भार स्वीकार कर लिया। सेठजी ने अपने मुनीम को भेज दिया कि सब महाजनों से हिसाब कर लें जिससे इसका पूरा पता लग जाय कि कितना देन है और उनसे बातचीत भी करके यह पता लगावें कि उनमें से कौन जमीन्दारी लेने पर राजी हैं।

पर मेरी विपत्ति का अभी अन्त नहीं था। मेरे भतीजा जनार्दन का एक बच्चा था। करीब छः बरस का हो चुका था। जैसा पहले भी लिख चुका हूँ, उसे सभी बहुत प्यार करते थे। मेरी भी बहुत मुहब्बत थी। उसको ज्वर हो गया। उसके सिर में कभी-कभी दर्द हुआ करता था। भाई साहब की मृत्यु के समय वह अपनी माँ के साथ जमशेदपुर से आया था। इलाज कराने के लिए मैं उसे पटने ले आया। यहाँ उसे टाइफायड हो गया। १८-२० दिनों तक बीमार रहकर वह भी चल बसा। इसकी चोट हमको बहुत लगी। भाई साहब तो चले ही गये थे, अब यह होनहार बच्चा भी चला गया। इन सब कारणों से मैं बहुत व्यथित था। पर काँग्रेस का सभापतित्व स्वीकार कर लिया था, एक तरह से अच्छा ही हुआ, उसमें जी लग गया और अब घर की चिन्ता करने का समय ही नहीं रह गया। काँग्रेस के सभापतित्व की बात कहने के पहले घर की बात पूरी कर देना अच्छा होगा, यद्यपि यह अध्याय सभापतित्व के बाद भी कुछ दिनों तक चलता रहा।

जब कर्ज का सब हिसाब देख लिया गया और सेठजी को रिपोर्ट दी गयी तो इस बात का प्रयत्न किया गया कि जो राजी हों उनको जमीन्दारी दे दी जाय। कुछ महाजन राजी हुए। उनके हाथ जमीन्दारी बेच दी गयी। महाजन लोगों में प्रायः सभी, एक को छोड़कर, बहुत अच्छी तरह पेश आये। एक महाशय ने कसकर सूद-ब्याज लिये—एक पैसा भी, जैसा सभी महाजन फारखती के समय किया करते हैं, छोड़ा नहीं। और सबों ने, भाई साहब की मृत्यु के बाद से अदाकारी के दिन तक, जो उसके सात-आठ महीने बाद हुई, ब्याज नहीं लिया। किसी-किसी ने और भी कुछ छोड़ दिया। जमीन्दारी वगैरह का अधिकांश बेच डालने पर भी, कुछ महाजनों के—जो जमीन्दारी लेना नहीं चाहते थे—और सेठजी के रुपये बाकी रह गये। मैंने बाकी सारी जमीन्दारी सेठजी के नाम में जरपेशगी लिख दी और उन्होंने दूसरे महाजनों के नगद रुपये अदा करा दिये। सब रुपये उस समय वह अपने पास से नहीं दे सकते थे, तो उन्होंने सेठ घनश्यामदास बिड़ला से कुछ दिलवाये और कुछ खुद दिये। इस तरह सारा का सारा कर्ज अदा हो गया। पर एक धूर जमीन भी अपनी जमीन्दारी की नहीं रह गयी। सेठजी को बिहार में जमीन्दारी तो लेनी नहीं थी। उस समय उन्होंने उसे

इसलिए लिखवा लिया कि आहिस्ता-आहिस्ता जमीन्दारी बेचकर उनके रुपये अदा कर दिये जायँगे। यही विचार घनश्यामदासजी का भी था। इस तरह मैं कर्ज के बोझ से मुक्त हो गया।

हाँ, ज़मीन्दारी बेचकर सेठों के रुपये अदा करने थे। जब तक अदा न हो, सूद देना था। अब जमीन्दारी में से एक पैसा भी हम घर-खर्च में नहीं ले सकते थे। जीरात की जमीन भी जरपेशगी में थी। पर सबकी आबादी वगैरह हम लोगों को ही कराना था और उन लोगों को सूद सालाना अदा करते जाना था। जमीन्दारी का ठेका उन्होंने मेरे छोटे लड़के धन्नू के नाम से लिख दिया था। इस तरह, यद्यपि कानूनी तौर पर जरपेशगीदार सेठजी हुए, तथापि जमीन्दारी और जीरात हमारे ही कब्जे में रही। उनको सिर्फ सालाना सूद मिलना था और जैसे-जैसे हो सके असल रुपये भी पाने थे। लड़के लोग कुछ न कुछ पैदा कर रहे थे, इसलिए जमीन्दारी पर भोजन के लिए भरोसा करने की जरूरत नहीं थी। मैंने इस बात की कोशिश की कि बची हुई जमीन्दारी बिके, पर अब जमीन्दारी की कीमत और भी घटती गयी। काँग्रेस-मिनिस्ट्री ने लगान घटाकर आमदनी भी कम कर दी। अब जमीन्दारी की न वह कीमत रही और न वह इज्जत। इसलिए जमीन्दारी अभी तक बिकी नहीं है। पर मैं केवल उसे बेचने के ही भरोसे बैठा न रहा। चम्पारन में कुछ जमीन मैंने वकालत के जमाने में ही ली थी। वहाँ पास में ही चीनी-कल बन जाने से ऊख से कुछ पैसे मिलने लगे। जीरादेई के पास की जीरात में भी ऊख से कुछ पैदा होने लगा। कुछ जनार्दन की कमाई से, कुछ धन्नू के ऊख के ठेके की बचत से, कुछ घर के पुराने कीमती शाल-दुशाले बेचकर, हमने सूद और असल अदा करना शुरू कर दिया। यानी जो कुछ आता और बचता, सब इसी काम में लगा दिया जाता। इस तरह अब तक उस कर्ज की अच्छी रकम अदा हो चुकी है। पर अब भी कुछ रकम बाकी है। सूद हमेशा अदा होता गया है। अब ऐसी हालत है कि मैं आशा करता हूँ, असल भी कुछ दिनों में इसी तरह से, जमीन्दारी बिना बेचे ही, अदा हो जायगा। वे दिन मेरे लिए बहुत ही अन्धकारमय थे जब अपने ऊपर इतने कर्ज का भार मैंने पाया। सेठ जमनालालजी की चतुरता और उदारता ने रास्ता निकाला और घनश्यामदासजी की सहायता लेकर उन्होंने मेरे सिर के बोझ को हल्का कर दिया। जमीन तो नहीं बची, पर इज्जत बच गयी, ईमान बच गया, सब महाजनों का जो हम पर विश्वास था वह भी बच गया—साथ ही, देश के महत्त्वपूर्ण काम का भार उठाने की शक्ति भी बच गई।

भाई साहब गये। जमनालालजी ने उनका स्थान ले लिया। मैं पहले-जैसा ही निठल्ला बना रहा। उनके प्रति शब्दों द्वारा कृतज्ञता नहीं प्रकट की जा सकती। साथ ही, मैं अपने भतीजे जनार्दन और दोनों लड़के मृत्युञ्जय तथा धनञ्जय को भी हृदय से आशीर्वाद देता हूँ कि ऋणसंकट के इस कठिन समय में वे भी अधीर नहीं हुए। घर का सब कुछ खुशी-खुशी हँसते-हँसते उन्होंने दे डाला। एक प्रकार

पर दस्तख़त करना ही हुआ। उन्होंने न कभी शिकायत की और न मुँह बनाया। अब वे अपना कमाते-खाते हैं। जो बोझ अभी रह गया है उसको भी हटाने की चिन्ता में वे हैं। इस हिम्मत और सब्र के लिए उनको भी बधाई है। ईश्वर उनका भला करेगा। अभी ही अच्छे दिन लौटते दीखने लगे हैं।

बम्बई-काँग्रेस के दिन निकट आ गये। १९३१ के मार्च के बाद काँग्रेस का बाजाब्ता अधिवेशन यहीं होनेवाला था। इस बीच में दूसरी बार का सत्याग्रह हो चुका था। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने सुधार-सम्बन्धी अपनी नीति श्वेत पत्र के रूप में प्रकाशित कर दी थी। विलायत में नया विधान उसी के अनुसार बन रहा था। काँग्रेस गैर-कानूनी संस्था अब नहीं थी। वह इन विषयों पर अपनी राय देनेवाली थी। साथ ही, १९३४ के नवम्बर में ही—अर्थात् काँग्रेस-अधिवेशन के चन्द हफ्तों के अन्दर ही, केन्द्रीय असेम्बली के सदस्यों का चुनाव होनेवाला था। इस सम्बन्ध में भी काँग्रेस को अन्तिम फैसला देना था। भावी-विधान-सम्बन्धी नीति भी निर्धारित करनी थी। इसलिए अधिवेशन का महत्त्व काफी था। मैंने परिपाटी के अनुसार अपना भाषण लिखा। पर वह अभी पूरा न हो पाया था। मैंने सोचा था कि कुछ पहले ही वर्धा चला जाऊँगा और वहाँ एकान्त में बैठकर उसे समाप्त करूँगा। वहाँ गांधीजी से भी बातें कर लेने का मौका मिलेगा। पर जो भाषण मैंने लिखा था उसमें प्रस्तावित विधान की काफी आलोचना थी। मैंने उसे डाक्टर सच्चिदानन्दसिंह को दिखलाया कि कहीं किसी अंश में, अज्ञान अथवा असावधानी के कारण, मैंने कुछ भूल तो नहीं की है। उन्होंने उसे देखा और मुझे विश्वास दिलाया कि आलोचना ठीक है और कोई भूल नहीं है। मैं पटने से जमशेदपुर गया। वहीं से वर्धा जानेवाला था। पर वहाँ मुझे ज्वर दमा का दौरा हो गया। वहीं ठहर जाना पड़ा। अच्छा होकर वर्धा गया। वहाँ की अच्छी आब-हवा में जल्द ही अच्छा हो गया। भाषण भी वहीं समाप्त कर सका।

१०८—बम्बई में काँग्रेस की तैयारी और कार्यवाही

बम्बईवालों को काँग्रेस-अधिवेशन के प्रबन्ध के लिए कम समय मिला था। पर उन्होंने बहुत ही अच्छा और विशाल आयोजन कर लिया था। जैसे रिलीफ-कमिटी के रुपये जमा करने के समय लोगों में उत्साह हो गया था वैसे ही इस अधि-वेशन के लिए भी काफी उत्साह हो गया था। लोग समझते थे कि यह दिखला देना चाहिए कि काँग्रेस मरी नहीं है। उन्होंने एक काँग्रेस-नगर बसाया था। वहीं समुद्र के किनारे, खुले मैदान में, अधिवेशन के लिए, आसमान के नीचे, विराट् पंडाल बनाया जिसमें प्रायः एक लाख आदमी बैठ सकते थे। खादी-प्रदर्शनी का भी वैसा ही सुन्दर और विस्तृत प्रबन्ध किया। सभापति के स्वागत के लिए विशेष प्रबन्ध था। 'कल्याण' स्टेशन पर ही मैं नागपुर-मेल से उतार लिया गया। वहाँ मुँह-हाथ धोकर नाश्ता-पानी करके मैं तैयार हो गया। कल्याण में ही कई संस्थाओं की ओर से मुझे मानपत्र दिये गये। वहाँ से मैं घर के लोगों और कुछ मित्रों के साथ स्पेशल ट्रेन पर गया।

कल्याण-स्टेशन पर ही श्री दीपनारायणसिंह उतर पड़े और मेरे साथ हो लिये। उनकी कृपा मुझ पर बहुत दिनों से थी। मुझे सभापति होते देखकर उनकी खुशी का ठिकाना न था। खासकर इसीलिए वह वहीं उतरकर मेरे साथ हो गये।

बहुत धूम-धाम से मैं बम्बई पहुँचा। जहाँ-जहाँ रास्ते में गाड़ी ठहरी, स्वागत का हजूम रहा। फूल-मालाओं से डब्बा भर गया। रंग-बिरंगी चीजें लोगों ने भेंट कीं। बम्बई-स्टेशन पर इतनी भीड़ थी कि मुझे उतारकर सवारी तक ले जाना कठिन था। लोगों ने चार घोड़ों की गाड़ी पर चढ़ाकर मुझे जलूस में ले जाने का प्रबन्ध किया था। मैं कमजोर था। पर लोगों की इच्छा और स्वागतकारिणी के निश्चय तथा प्रबन्ध के प्रतिकूल कुछ भी करना असम्भव था। इसलिए श्रीमती सरोजिनी नायडू, श्री नरीमन और अपनी स्त्री के साथ मैं गाड़ी पर सवार होकर ज़लूस में चला। उस दिन तक बहुत लोग यह नहीं जानते थे कि मेरी स्त्री हैं; क्योंकि वह कभी मेरे साथ सभा इत्यादि में नहीं जाया करती थीं। उस दिन भी, यदि श्रीमती नायडू उनको न ले लेतीं तो वह शायद और लोगों के साथ सीधे निवासस्थान पर चली जातीं।

जलूस बहुत लम्बा था। शहर की तैयारी भी अनोखी थी। लोगों की भीड़ भी वैसी ही थी। तमाम दूकानें सजायी गयी थीं। जगह-जगह लोगों ने सुन्दर मेहराबें बनवायी थीं। बाजार में जहाँ जिस चीज की मुख्यता थी वहाँ उसी चीज की प्रधानता सजावट और मेहराब में नजर आती। जहाँ कलों की दूकानें थीं वहाँ की सजावट कलों से ही की गयी थी। रूई-बाजार की मेहराब रूई की गाँठों की थी। मैंने सुना कि उस मेहराब में, जो बहुत ही विशाल थी, लाख रुपये से अधिक की गाँठें लगी थीं। रास्ते-भर में अनगिनत स्थानों पर लोगों ने फूल, माला, आरती इत्यादि से स्वागत किये। न मालूम कितनी ही चीजें भेंट देते गये। गाड़ी इन चीजों से बिलकुल भर गयी थी। इस जलूस और स्वागत के सम्बन्ध में लोगों का कहना था कि इस तरह का स्वागत किसी का कभी बम्बई में उसके पहले नहीं हुआ था; १९१८ में हसन इमाम साहब का भी बहुत स्वागत हुआ था, जब वह विशेष काँग्रेस के सभापति बने थे; पर इस बार की तैयारी उससे भी कहीं ज्यादा थी, क्योंकि १९१८ के मुकाबले जनता में जागृति अब कहीं अधिक थी। जलूस में प्रायः तीन घण्टे से अधिक लगे। अन्त में काँग्रेस-भवन होता हुआ मैं निवास-स्थान पर, जो काँग्रेस-नगर में ही था, पहुँचाया गया। बहुत ही थक गया था, पर बीमार नहीं पड़ा।

दूसरे दिन से अखिल भारतीय कमिटी और विषय-निर्वाचिनी समिति की बैठक होनेवाली थी। महात्माजी तथा दूसरे नेता भी पहुँच गये। विषय-समिति की बैठक में बहस बहुत गरमागरम होती रही। कई बातें ऐसी हो गयी थीं जिनसे ऐसा होना स्वाभाविक था। काँग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले गांधीजी ने एक वक्तव्य निकाला था। उन्होंने उसमें यह कहा था कि वह काँग्रेस से अलग हो जायँगे और उसकी जो कुछ सेवा-सहायता होगी वह काँग्रेस के बाहर रहकर ही करेंगे। साथ ही, उन्होंने यह भी कहा था कि काँग्रेस के विधान में हेर-फेर करना आवश्यक है जिसमें वह और भी

अधिक चुस्त और जनता का प्रतिनिधित्व करनेवाली संस्था हो जाय। महात्माजी के इस विचार से देश में एक प्रकार की खलबली-सी हो गयी थी। यद्यपि महात्माजी ने इस बात का पूरा आश्वासन दिया था कि बाहर से भी वह काँग्रेस की पूरी सहायता कर सकेंगे और उनके इस प्रकार हटने से काँग्रेस में कमजोरी न आकर उसकी शक्ति बढ़ेगी, तथापि लोगों को इस आश्वासन से संतोष नहीं होता था। मैंने अपने भाषण में महात्माजी के इस निश्चय का भी समर्थन किया था। पर अखिल भारतीय कमिटी के लोगों में इससे बड़ा असंतोष था।

मैं सोचता था कि महात्माजी का यह निश्चय काँग्रेस को कमजोर करने अथवा उसकी किसी तरह बुराई करने के लिए तो किया नहीं गया था; हम जब चाहेंगे उनसे सलाह-मशविरा कर सकेंगे और सभी महत्त्वपूर्ण बातों में उनका पथ-प्रदर्शन हमेशा हमें मिला करेगा; पर उनके हट जाने से एक बात अवश्य होगी––सभी निश्चयों का भार उनको ही सोच-समझकर लेना होगा, जो लोग रह जायँगे। जब से महात्माजी काँग्रेस में आ गये हैं, उनके व्यक्तित्व के सामने दूसरे लोग कुछ फीके पड़ जाते हैं। दूसरे लोग कुछ ऐसे-वैसे नहीं हैं। हमारे नेताओं में काफी योग्यता, दूरदर्शिता और त्याग है। वे सभी प्रश्नों पर हर पहलू से विचार कर सकते हैं। देश के भले के लिए वे समुचित निश्चयों पर पहुँच सकते हैं। पर गांधीजी के नेतृत्व में हममें से कुछ उन पर इतना ज्यादा भरोसा करते हैं कि वह जो कुछ कह देते हैं उसे हम मान लेते हैं। हम अपनी बुद्धि और विचार-शक्ति को काम में लाने की जरूरत नहीं समझते। तो भी मैं मानता हूँ कि जो निश्चय गांधीजी के नेतृत्व में काँग्रेस ने किये हैं, बिना समझे-बूझे नहीं किये हैं। महात्माजी समझते थे कि वह अलग होकर सोचने-विचारने का भार सब लोगों पर डाल देंगे। और, जो यह देखने में आता है कि जो कुछ होता है उनके कहने से होता है, यह भावना दूर हो जायगी।

मैंने इन बातों से सहमत होकर ही उनके निश्चय का समर्थन किया था। पर दूसरे लोग इस बात पर इस दृष्टि से विचार नहीं कर रहे थे। कुछ तो घबराते थे कि महात्माजी के हट जाने का अर्थ उनका काँग्रेस से बिलकुल अलग हो जाना है और अब उनकी सलाह-सम्मति भी नहीं मिलेगी। कुछ यह मानते थे कि उनके हट जाने से काँग्रेस पर जनता का उतना विश्वास नहीं रह जायगा जितना आज है, इसलिए काँग्रेस कमजोर हो जायगी। कुछ शायद यह भी समझते थे कि काँग्रेस के भीतर भिन्न-भिन्न विचारवाले लोगों के आ जाने से गांधीजी रुष्ट होकर हट जा रहे हैं, उनको किसी न किसी तरह जरूर रखना ही चाहिए। इन कारणों से विषय-निर्वाचिनी में इस विषय पर बहुत बहस हुई। वहाँ गांधीजी से अनुरोध किया गया कि वह अपने विचार बदल दें और जिस तरह नेतृत्व करते आये हैं, करते रहें। पर वह अपने निश्चय पर डटे रहे। वह इसी बात पर जोर देते रहे कि उनके हटने से काँग्रेस का कुछ नुकसान नहीं होगा। साथ ही, पूछे जाने पर सलाह-मशविरा देते रहने का आश्वासन भी देते जाते थे और काँग्रेस के विधान में संशोधन की बात भी करते जाते थे।

अन्त में, जब यह स्पष्ट हो गया कि वह अपने निश्चय से किसी तरह डिगनेवाले नहीं हैं तब और चर्चा चलने लगी।

विधान के संशोधन में भी काफी बहस रही। एक सब-कमिटी बनायी गयी जिसने संशोधन का मसविदा तैयार किया। उसमें विशेष हाथ गांधीजी का और नई बनी हुई सोशलिस्ट पार्टी का ही रहा। एक और विवादग्रस्त विषय था जिसका सम्बन्ध प्रस्तावित भारतीय विधान के साथ था। ऊपर कहा जा चुका है कि गोल-मेज-कान्फ्रेन्स के समय प्रधान मंत्री मैकडोनल्ड ने साम्प्रदायिक निर्णय दिया था, जिसके एक अंश के विरुद्ध गांधीजी को अनशन करना पड़ा था और जो हरिजनों के साथ पूना में समझौता करके बदलवाया गया था। उस निर्णय में और भी ऐसी बातें थीं जिनको कोई भी राष्ट्रीय भावना का आदमी स्वीकार नहीं कर सकता था। पर उसमें एक शर्त लगा दी गयी थी। वह यह थी कि यदि वे सभी लोग, जिनका सम्बन्ध उससे था अथवा जिनके स्वत्व पर उसका असर पड़ता था, आपस में मिलकर समझौता कर लें और इस समझौते के द्वारा उसे बदलना चाहें तो वह बदल दिया जायगा। इसी शर्त के अनुसार उसका वह हिस्सा, जिसका सम्बन्ध हरिजनों के साथ था—उनके साथ समझौता करके, बदलवा दिया गया था। काँग्रेस की वर्किंग कमिटी ने उस निर्णय को अन्यायपूर्ण मानते हुए भी निश्चय किया था कि वह उसे न तो मंजूर करती है और न उसका विरोध ही करती है।

वर्किंग कमिटी के इस निर्णय का अर्थ यह नहीं था कि वह उसका समर्थन करती है अथवा उसे न्याय-संगत समझती है। उसने उसकी निन्दा कड़े शब्दों में की थी। इसलिए कोई यह नहीं कह सकता था कि वह किसी तरह उसका समर्थन करती है। पर, वह उसका विरोध नहीं करना चाहती थी; क्योंकि विरोध का अर्थ होता था दूसरों के साथ खुल्लमखुल्ला झगड़ा, और यह विरोध अनावश्यक भी था। कमिटी ने तो सारे विधान को ही नामंजूर कर दिया था। इसलिए विधान का यह अंश भी सबके साथ ही नामंजूर हो गया था। अलग से नामंजूर करने का अर्थ यह भी होता था कि हम परोक्ष रूप में और अंशों को मान लेते हैं, तभी तो एक अंश को विशेष करके नामंजूर करते हैं। साथ ही, विधान का यही अंश ऐसा था जिसको बदलने का अधिकार हमारे हाथ में था; दूसरे किसी अंश के बदलने की शक्ति हमको विधान द्वारा नहीं मिली थी। इन्हीं विचारों से प्रेरित हो वर्किंग कमिटी ने अपना निश्चय प्रकट किया था, जिसका सारांश यह था कि कमिटी सारे विधान को नामंजूर करती है और सारे विधान के साथ-साथ यह अंश भी गिर जायगा। और, यद्यपि वह इसे राष्ट्रीयता की दृष्टि से घातक समझती है तथापि उपरोक्त कारणों से वह इसे न स्वीकार करती है और न इसका विरोध करती है। इस विषय पर पं० मदनमोहन मालवीयजी और श्री अणे के साथ बहुत बातें हुई थीं। पर न वे गांधीजी को समझा सके और न गांधीजी उनको समझा सके! काँग्रेस की विषय-निर्वाचिनी में इस विषय पर भी काफी बहस रही। पर यह स्पष्ट

था कि वर्किंग कमिटी की राय से ही कांग्रेस सहमत है। कई दिनों तक गरमागरम बहस के बाद प्रस्ताव तैयार हुए और कांग्रेस के आम जल्से का समय आ गया।

मैं यद्यपि बहुत कमजोर हो गया था तथापि उस समय न मालूम कहाँ से शक्ति आ गयी और सब काम ठीक से अंजाम देता गया। सोशलिस्ट-दल के लोग संगठित रूप से बहस में भाग ले रहे थे। उनमें अच्छे विद्वान् और बोलनेवाले थे। वे सभी बातों में अपने स्वतंत्र विचार रखते थे। मेरे सामने अक्सर नियम के प्रश्न आते रहे। मैं कभी किसी असम्बली या कौन्सिल का मेम्बर नहीं था। काँग्रेस की नियमावली में ऐसे विषयों पर नियम नहीं हैं। वहाँ जब इस प्रकार के प्रश्न उठते हैं तो उनका निपटारा अँगरेजी पारलेमेण्ट और सभा-सोसाइटियों के नियमानुसार किया जाता है। यहाँ की असम्बली और कौन्सिल के नियम भी उसी आधार पर बने हैं। देश की सभा-समितियों के नियमों के भी वे ही आधार हैं। उन नियमों से मेरा कोई विशेष परिचय नहीं था। इस मौके पर बहुतेरे प्रश्न उठाये गये जिनका निर्णय मुझे वहीं तत्काल देना पड़ा। मैंने अपनी बुद्धि से, जो मुझे ठीक मालूम हुआ, निर्णय दिया। पीछे मुझे यह जानकर संतोष हुआ कि मेरे निर्णय नियमानुकूल होते गये।

मैंने काँग्रेस के अधिवेशन में अपना पूरा भाषण नहीं पढ़ा। गांधीजी की राय से हमने सोच लिया था कि कांग्रेस का अधिवेशन निर्धारित समय के भीतर ही समाप्त करना चाहिए। स्पष्ट था कि जिस तरह के विवाद-ग्रस्त प्रश्न आनेवाले थे उनका निपटारा, यदि समय न बचाया जाता तो, नहीं हो सकता था। मैंने अनुभव से यह भी देखा है कि सभापति के छपे भाषण का वहाँ पढ़ा जाना लोग बहुत पसन्द भी नहीं करते—उसे ध्यान देकर सुनते भी नहीं; क्योंकि छपी प्रति उनके हाथों में होती है और उसे वे अपने सुबीते से पढ़ लेते हैं। बेलगाँव-काँग्रेस में गांधीजी ने अपने भाषण को अधिवेशन के पहले ही बँटवा दिया था और कह दिया था कि प्रतिनिधि-गण उसे पढ़कर अधिवेशन में आवें। मैंने भी, इन विचारों से, भाषण पढ़ने में काँग्रेस का समय नहीं लिया। कुछ अंश पढ़ दिया। उसके बाद मुख्य प्रस्ताव पर बहस छिड़ गई। वह भारतीय विधान-सम्बन्धी प्रस्ताव था। उसमें वर्किंग कमिटी के तत्सम्बन्धी निश्चय का समर्थन था। पं० मालवीयजी ने उसके संशोधनार्थ प्रस्ताव दिया और बहुत जोरदार भाषण भी किया। दूसरे दिन भी उस पर बहुत जोरों से बहस चली।

अन्त में, जब उस पर राय लेने का समय आया, पं० मालवीयजी उस पर फिर कुछ बोलना चाहते थे। नियमानुसार उनको कुछ कहने का अधिकार नहीं था; पर उन्होंने खाहिश जाहिर की। मेरे लिए बड़ी कठिन समस्या खड़ी हो गयी। यदि उनके व्यक्तित्व के कारण मैं नियम-भंग करूँ तो फिर दूसरे के लिए भी वैसा ही करना पड़ेगा। मैंने निश्चय कर लिया कि उनको मैं इसकी इजाजत नहीं दूँगा। बहुत नम्रता-पूर्वक मैंने उनको नियम का हवाला देकर अपनी मजबूरी जाहिर कर दी। उनको जो कुछ कहना था उसका सारांश काँग्रेस को स्वयं कह देने का वचन भी दिया। मैंने ये सब बातें काँग्रेस से भी कह दीं। वहाँ काँग्रेस में जबरदस्त जोरदार लाउड-

स्पीकर लगे थे। वहाँ जो कुछ हो रहा था, महात्मा गांधी अपनी झोपड़ी में बैठे-बैठे सुन रहे थे। उन्होंने वह बात भी सुनी। उन्होंने दूसरे दिन मुझसे हँसते-हँसते कहा भी कि तुमने मालवीयजी को बोलने से रोक दिया! मुझे इस बात का दुःख हुआ कि ऐसे पूज्य व्यक्ति की बात मैं नहीं मान सका; पर वहाँ मैं राजेन्द्र नहीं था, काँग्रेस के सभापति की हैसियत से बैठा था, और दोनों में बहुत बड़ा अन्तर है। सम्मति लेने पर बहुत बड़ा बहुमत वर्किंग कमिटी के पक्ष में निकला। पर कुछ लोग, जो उसके विरोधी थे, आपे से बाहर हो गये। दो-चार आदमियों ने जूते दिखलाये जो तेज रोशनी में साफ मुझे दीख पड़े!

काँग्रेस के दूसरे प्रस्तावों पर बहुत बहस नहीं हुई। काँग्रेस-नियमावलीवाला प्रस्ताव तो एक प्रकार से सबकी राय से बिना बहुत बहस के ही मंजूर हो गया, क्योंकि उस पर बाहर ही बहुत बहस हो चुकी थी। यह प्रस्ताव बड़े महत्त्व का था। अब तक काँग्रेस के प्रतिनिधियों की संख्या प्रदेश की आबादी के हिसाब से होती थी। इसका फल यह होता था कि चाहे किसी प्रदेश में काँग्रेस का काम कुछ होता हो वा न होता हो, चाहे वहाँ काँग्रेस-कमिटियाँ काम करती हों या न करती हों, पर वहाँ की आबादी के अनुसार प्रतिनिधियों और अखिल भारतीय कमिटी के सदस्यों की संख्या पक्की रहती थी। दूसरे प्रान्त, अधिक काम करके भी, अपनी संख्या से अधिक सदस्य नहीं भेज सकते थे। बम्बई के विधान में प्रतिनिधियों की संख्या काँग्रेस-सदस्यों की संख्या के अनुपात में बना दी गयी। यह नियम बन गया कि प्रत्येक प्रतिनिधि के लिए कम के कम नियमित संख्या में सदस्य अवश्य होने चाहिए। जहाँ उतने सदस्य न हों वहाँ प्रतिनिधि चुनने का अधिकार न रहे। बम्बई में ५०० सदस्यों पर एक प्रतिनिधि चुनने का अधिकार दिया गया। यह संख्या पीछे बदल दी गयी है। साथ ही, यह भी खयाल था कि 'सभी प्रान्तों के प्रतिनिधित्व की संख्या वहाँ की आबादी के हिसाब से भी रहे। इससे यह हुआ कि यदि सारे सूबे में जितने प्रतिनिधि आबादी के हिसाब से होते थे उतने ५०० सदस्य नहीं हुए तो सूबे के प्रतिनिधियों की संख्या कम हो जायगी। यदि प्रत्येक प्रतिनिधि पर ५०० से अधिक सदस्य हो गये तो प्रत्येक प्रतिनिधि के चुनाव के लिए ५०० से अधिक सदस्यों के क्षेत्र बनाये जायँगे। इस तरह सदस्य बनाने पर जोर डाला गया। साथ ही, आबादी का भी खयाल रखा गया।

दूसरा महत्त्व का प्रश्न यह था कि अल्पसंख्यक मतवालों का प्रतिनिधित्व कैसे हो। यदि सीधे तौर पर सम्मति ली जाती है तो उनका एक आदमी भी नहीं चुना जा सकता, पर उनके मतवाले सूबों को यदि इकट्ठा किया जाय तो कुछ आदमी उनके चले आते हैं। सोशलिस्ट लोगों ने, जिनकी संख्या कम थी, परिवर्तनीय सम्मति द्वारा आनुपातिक प्रतिनिधित्व (Proportional representation by single transferable vote) पर जोर डाला। काँग्रेस के प्रतिनिधियों के चुनाव के लिए तो यह सम्भव नहीं था, पर अखिल भारतीय कमिटी के सदस्यों के चुनाव के लिए

यह विधान मंजूर कर लिया गया। विधान में जो परिवर्तन किये गये उनको कार्य्यान्वित करने पर उनमें कई त्रुटियाँ जाहिर हुईं। उसके बाद से कई बार परिवर्तन करना पड़ा है, पर नियमों का जो आधार वहाँ बना वह अभी तक अपने स्थान पर है। हाँ, आनुपातिक प्रतिनिधित्व के सम्बन्ध में बहुत मतभेद रहा है; पर अब बहुत लोग इस बात को मानने लगे हैं कि बहुत थोड़े लोगों के हाथ में चुनाव का अधिकार रहने से यह बहुत बुरा परिणाम भी पैदा करता है। काँग्रेस के नियमानुसार आठ प्रतिनिधि पर अखिल भारतीय कमिटी का एक मेम्बर होता है—अर्थात् यदि आठ आदमी मिल जायँ तो एक आदमी को चुन सकते हैं। चुनावों में देखा गया है कि आठ आदमियों को किसी ऐसे व्यक्ति के लिए जुटा लेना कठिन नहीं ह जो अपन को चुनवाने पर उतारू हो जाय। जो इस प्रकार अपने को चुनवाने के काम में दिलचस्पी नहीं लेता, अथवा जिसके मित्र उसे चुनवा देने में दिलचस्पी नहीं लेते, वह चाहे कितना भी अच्छा काम करनेवाला क्यों न हो, नहीं चुना जाता। इससे छोटे-छोटे दलों की वृद्धि होती है, अच्छे-अच्छे लोग नहीं चुने जाते और दलबन्दी करनेवाले चुन लिये जाते हैं। इसलिए, अब, बहुतेरे लोग, इतने दिनों के अनुभव के बाद, समझ गये हैं कि यह हमारे काम की चीज नहीं है। पर यह अभी तक नियम में है। वहाँ बम्बई-अधिवेशन के समय यह समझा जाता था कि इसके विरोध का एक ही अर्थ हो सकता है—वह है सोशलिस्टों को अखिल भारतीय कमिटी में घुसने न देने का इरादा। जो हो, वहाँ तो यह स्वीकृत हो गया।

काँग्रेस का अधिवेशन, निर्धारित समय पर, रात बारह बजे के करीब, तीसरे दिन समाप्त हो गया। मैंने काम पूरा कर दिया। लोग बड़े उत्साह के साथ अपने-अपने स्थान को गये। जाते ही केन्द्रीय असेम्बली के मेम्बरों के चुनाव लड़ने थे। काँग्रेस के उत्साह से वहीं स्पष्ट हो गया कि काँग्रेस की जीत इन चुनावों में होगी।

मैं काँग्रेस का काम समाप्त करके अपने निवास-स्थान पर गया और रात दो बजे से दमा का दौरा शुरू हो गया। दूसरे दिन कोई दूसरा विशेष काम नहीं था, वर्किंग कमिटी बना लेना था। यह भार मेरे ही ऊपर था। मैंने कुछ तो वहीं निश्चय कर लिया और कुछ पीछे। नाम अखबारों में दे दिये गये। सबसे महत्त्व का प्रश्न मंत्री का चुनाव था। मैं ऐसे आदमी को चाहता था जो अपना पूरा समय इसी काम में दे सके और जिसका मत मेरे साथ सभी बातों में मिलता हो। मैंने बहुत सोचने के बाद आचार्य कृपालानी को नियुक्त किया।

बंगाल से मैं एक आदमी को वर्किंग कमिटी में लेना चाहता था। पर कुछ ऐसा संयोग पड़ा कि मैं किसी को न ले सका। इससे वहाँ के मित्र मुझसे बहुत रुष्ट हो गये। मुझे बहुत गालियाँ भी खानी पड़ीं। मेरा बंगाल के साथ पुराना परिचय और घनिष्ठ सम्बन्ध था। मैं बंगाल के महत्त्व को भली भाँति जानता हूँ। बंगालियों में मेरे कई घनिष्ठ मित्र भी हैं। पर वहाँ कुछ ऐसा संयोग हुआ कि बात नहीं बनी। इसका मुझे पूरा अफसोस रहा। वहाँ दो दल थे और किसी एक को वर्किंग कमिटी

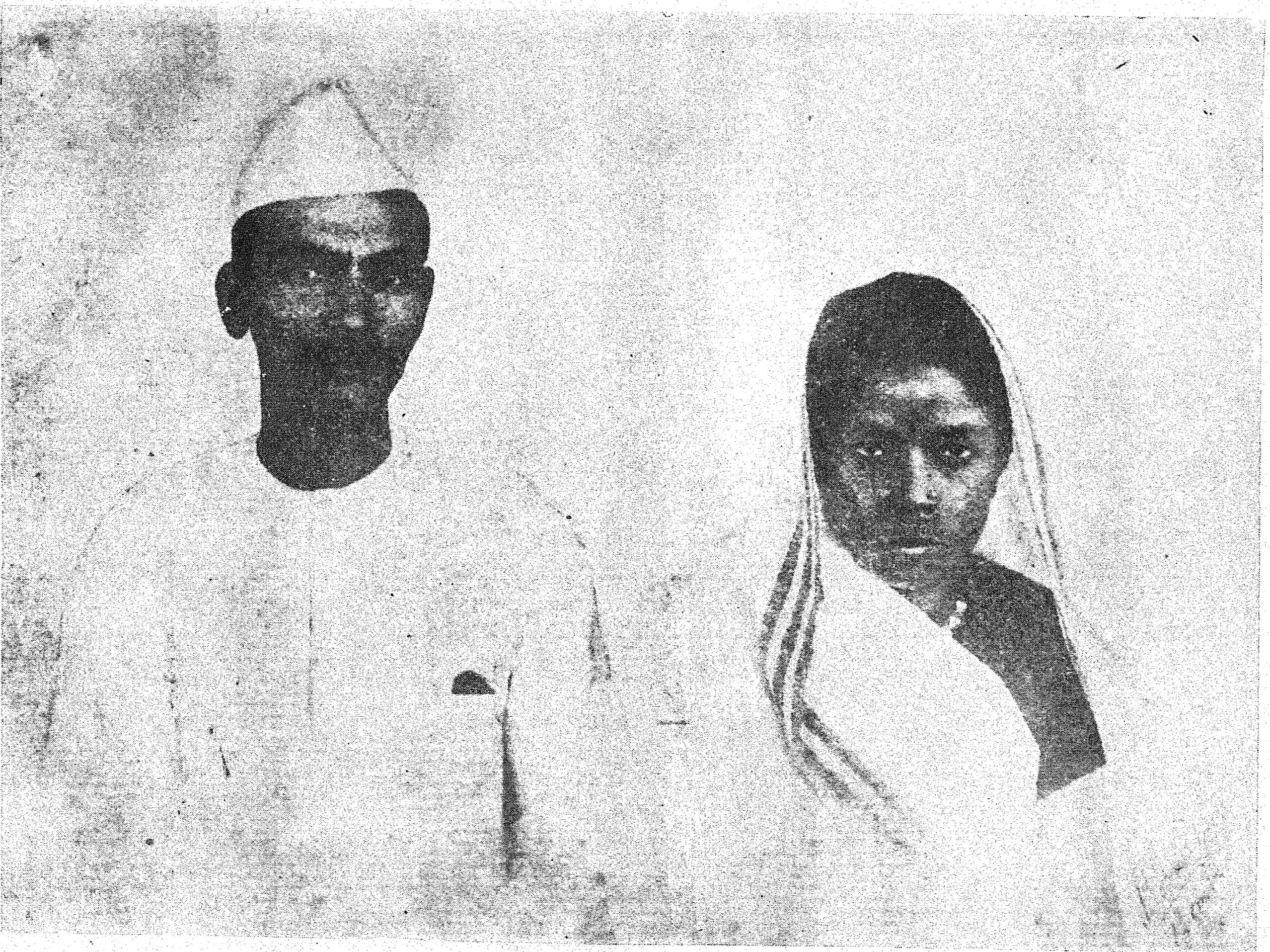
में लेना दूसरे को दुश्मन बनाना था। दो के लिए जगह थी नहीं। यदि होती भी तो वहाँ का झगड़ा वर्किंग कमिटी में आ जाने का भय था। इसलिए अपने ऊपर बदनामी लेकर भी मैंने वर्किंग कमिटी को इस झगड़े से सुरक्षित रखा।

मैंने बम्बई में ही सोच लिया था कि जब गांधीजी के कथनानुसार हमने उनको काँग्रेस के प्रतिदिन के काम से मुक्त कर दिया है और महत्त्व के प्रश्नों पर ही उनसे राय लेना ठीक है, तो मैं उनको अधिक कष्ट नहीं दूँगा और प्रत्येक वर्किंग कमिटी तथा अखिल भारतीय कमिटी में उनको आने का कष्ट नहीं दूँगा। हाँ, जो महत्त्व की बातें होंगी उनके सम्बन्ध में उनसे मिलकर बातें कर लिया करूँगा। मैंने अपने सभापतित्व-काल में इसी नीति से काम लिया भी; गांधीजी को कमिटियों में आने का कष्ट नहीं दिया। मैं वर्धा बराबर जाता-आता रहा और वहीं उनसे राय ले लिया करता।

१०९—केन्द्रीय असम्बली का चुनाव-संघर्ष

बम्बई से मैं पटने आया। पहला काम जो काँग्रेस को करना था वह केन्द्रीय असम्बली के लिए अपने उमीदवारों को खड़ा करना और उनको चुनवाना। गवर्नमेण्ट समझती थी कि १९३०–१९३४ के सत्याग्रह के कारण उसने काँग्रेस को इतना दबा दिया है कि वह अब फिर उठ न सकेगी। लार्ड विलिंगडन ने १९३२ के आरम्भ में, जब राउण्ड-टेबुल से लौटने के बाद फिर सत्याग्रह पर गांधीजी और वर्किंग कमिटी को मजबूर किया गया था, कहा था कि दो-चार हफ्तों में आन्दोलन दबा दिया जायगा। उन्होंने इसका पूरा प्रयत्न भी किया था। पर दो-चार हफ्तों के बदले दो बरसों तक आन्दोलन चलता रहा और शुरू में तो बहुत जोरों से चला था। तो भी अभी कोई ऐसा मौका नहीं आया था जहाँ काँग्रेस की लोकप्रियता का पूरा परिचय मिल जाता। भूकम्प की सहायता और बम्बई के अधिवेशन से कुछ-कुछ पता चला था; पर अब भी सब लोगों को और विशेषकर गवर्नमेण्ट के लोगों को इस बात का विश्वास नहीं था कि काँग्रेस सारे देश में लोकप्रिय संस्था है। इस चुनाव में एक प्रकार से इस बात की जाँच होनेवाली थी कि काँग्रेस कहाँ तक जनता का प्रतिनिधित्व करती है। हम भी इस चुनाव को इसी कारण बहुत महत्त्व देते थे।

मद्रास-प्रान्त में १९२० से ही वहाँ की जस्टिस-पार्टी की मिनिस्ट्री चल रही थी। उसने अपनी शक्ति बढ़ाने और अपने को सुसंगठित करने में कोई बात उठा नहीं रखी थी। उसमें योग्य लोगों की भी कमी नहीं थी। उस दल में ब्राह्मणेतर प्रायः सभी जाति के लोग शरीक होते थे। इसलिए इसमें भी कोई शक नहीं था कि साधारण जनता के ब्राह्मणेतर सभी लोगों की तरफ से वह बोला करती थी। उसने एक प्रकार से ब्राह्मण-अब्राह्मण का इतना झगड़ा खड़ा कर दिया था—लोगों में इतना प्रचार किया था कि मालूम होता था, वहाँ काँग्रेस का अर्थ ब्राह्मण समझा जाता है, इसलिए वह काँग्रेस को ही अपना परम विरोधी संस्था मानती थी। गवर्नमेण्ट



राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू अपनी धर्मपत्नी के साथ (बम्बई काँग्रेस, अक्टूबर १९३४)

में लेना दूसरे को दुश्मन बनाना था। दो के लिए जगह थी नहीं। यदि होती भी तो वहाँ का झगड़ा वर्किंग कमिटी में आ जाने का भय था। इसलिए अपने ऊपर बदनामी लेकर भी मैंने वर्किंग कमिटी को इस झगड़े से सुरक्षित रखा।

मैंने बम्बई में ही सोच लिया था कि जब गांधीजी के कथनानुसार हमने उनको काँग्रेस के प्रतिदिन के काम से मुक्त कर दिया है और महत्त्व के प्रश्नों पर ही उनसे राय लेना ठीक है, तो मैं उनको अधिक कष्ट नहीं दूँगा और प्रत्येक वर्किंग कमिटी तथा अखिल भारतीय कमिटी में उनको आने का कष्ट नहीं दूँगा। हाँ, जो महत्त्व की बातें होंगी उनके सम्बन्ध में उनसे मिलकर बातें कर लिया करूँगा। मैंने अपने सभापतित्व-काल में इसी नीति से काम लिया भी; गांधीजी को कमिटियों में आने का कष्ट नहीं दिया। मैं वर्धा बराबर जाता-आता रहा और वहीं उनसे राय ले लिया करता।

१०९—केन्द्रीय असम्बली का चुनाव-संघर्ष

बम्बई से मैं पटने आया। पहला काम जो काँग्रेस को करना था वह केन्द्रीय असम्बली के लिए अपने उमीदवारों को खड़ा करना और उनको चुनवाना। गवर्नमेण्ट समझती थी कि १९३०–१९३४ के सत्याग्रह के कारण उसने काँग्रेस को इतना दबा दिया है कि वह अब फिर उठ न सकेगी। लार्ड विलिंगडन ने १९३२ के आरम्भ में, जब राउण्ड-टेबुल से लौटने के बाद फिर सत्याग्रह पर गांधीजी और वर्किंग कमिटी को मजबूर किया गया था, कहा था कि दो-चार हफ्तों में आन्दोलन दबा दिया जायगा। उन्होंने इसका पूरा प्रयत्न भी किया था। पर दो-चार हफ्तों के बदले दो बरसों तक आन्दोलन चलता रहा और शुरू में तो बहुत जोरों से चला था। तो भी अभी कोई ऐसा मौका नहीं आया था जहाँ काँग्रेस की लोकप्रियता का पूरा परिचय मिल जाता। भूकम्प की सहायता और बम्बई के अधिवेशन से कुछ-कुछ पता चला था; पर अब भी सब लोगों को और विशेषकर गवर्नमेण्ट के लोगों को इस बात का विश्वास नहीं था कि काँग्रेस सारे देश में लोकप्रिय संस्था है। इस चुनाव में एक प्रकार से इस बात की जाँच होनेवाली थी कि काँग्रेस कहाँ तक जनता का प्रतिनिधित्व करती है। हम भी इस चुनाव को इसी कारण बहुत महत्त्व देते थे।

मद्रास-प्रान्त में १९२० से ही वहाँ की जस्टिस-पार्टी की मिनिस्ट्री चल रही थी। उसने अपनी शक्ति बढ़ाने और अपने को सुसंगठित करने में कोई बात उठा नहीं रखी थी। उसमें योग्य लोगों की भी कमी नहीं थी। उस दल में ब्राह्मणेतर प्रायः सभी जाति के लोग शरीक होते थे। इसलिए इसमें भी कोई शक नहीं था कि साधारण जनता के ब्राह्मणेतर सभी लोगों की तरफ से वह बोला करती थी। उसने एक प्रकार से ब्राह्मण-अब्राह्मण का इतना झगड़ा खड़ा कर दिया था—लोगों में इतना प्रचार किया था कि मालूम होता था, वहाँ काँग्रेस का अर्थ ब्राह्मण समझा जाता है, इसलिए वह काँग्रेस को ही अपना परम विरोधी संस्था मानती थी। गवर्नमेण्ट

का भी उस पर पूरा भरोसा था, क्योंकि वहाँ के जमीन्दार और दूसरे धनी वर्ग तथा साधारण जनता का बहुत बड़ा बहुसंख्यक अंश उन्हीं जातियों का था जो उसमें शरीक समझी जाती थीं और जो ब्राह्मणेतर थीं।

चुनाव तो सारे हिन्दुस्थान में होनेवाला था। सभी सूबों में एक दिन चुनाव के लिए नहीं रखा गया था। यह जरूर सोचा गया था कि एक जगह के चुनाव का असर दूसरी जगहों पर जरूर पड़ेगा। ऐसा प्रबन्ध तो सम्भव नहीं था कि एक ही सूबे में, अलग-अलग जिलों में चुनावों में समय का इतना अन्तर हो कि एक का नतीजा मालूम होने पर दूसरी जगह में चुनाव हो। पर सारे देश के लिए यह सम्भव था और ऐसा ही इन्तजाम अधिकारियों ने किया भी। चूँकि वे मद्रास पर सबसे अधिक भरोसा रखते थे, उन्होंने सबसे पहले मद्रास-प्रान्त में चुनाव रखा, उसके बाद ही और प्रान्तों में। चुनाव में सभी जगहों में काँग्रेस ने अपने उमीदवार खड़े किये और सभी जगहों में विरोधी लोग भी खड़े हुए। वे ऐसे ही लोग थे जिनकी या तो सरकार के साथ अच्छी बनती थी अथवा जो किसी विशेष दल की ओर से खड़े हुए थे। पर जस्टिस-पार्टी के सिवा दूसरी कोई ऐसी जबरदस्त संस्था नहीं थी जिसकी ओर से काँग्रेस का विरोध करने के लिए उमीदवार खड़े किये गये हों।

मैं तो बम्बई से बीमार ही लौटा और हसब-मामूल दिसम्बर तक बीमार ही पड़ा रहा। इसी बीच सारा चुनाव हो गया। मैं उसमें कोई विशेष भाग न ले सका। पर दूसरों ने, विशेषकर सरदार बल्लभभाई पटेल ने, बहुत सिरतोड़ परिश्रम किया। वह बिहार में भी दौरे पर आये। दूसरे कई सूबों में भी गये। मैं बिहार में ही दो-चार जगहों में जा सका, ज्यादा कुछ नहीं कर सका। मद्रास में चुनाव का नतीजा सबसे पहले मालूम होने लगा; क्योंकि वहीं सबसे पहले चुनाव हुआ। वह नतीजा सरकारी हलकों में बहुत ही अचम्भा उत्पन्न करनेवाला हुआ। वहाँ केवल इतना ही न हुआ कि सभी जगहों में काँग्रेसी चुने गये, बल्कि सभी काँग्रेसी बहुत बड़े बहुमत से चुने गये। जो ऐसी जगहें थीं, जिनके सम्बन्ध में जस्टिस-पार्टीवालों को कोई सन्देह नहीं हो सकता था और जिनको जीतना हम भी मुश्किल समझते थे, वहाँ भी काँग्रेस की भारी जीत हुई। उदाहरणार्थ, दो जगहें ऐसी मानी जाती थीं। एक जगह थी वह जिसमें श्री सत्यमूर्त्ति चुने गये। इनके विरोधी एक अत्यन्त योग्य और जस्टिस-पार्टी के नामी मुख्य आदमी सर रामस्वामी मुडेलियर थे। दूसरी जगह वहाँ के व्यापारियों के प्रतिनिधि की थी। वहाँ से काँग्रेस के विरोध में खड़े हुए थे श्री (अबसर) षण्मुखम् चेट्टी और काँग्रेस की ओर से श्री वेंकटाचलम् चेट्टी। श्री षण्मुखम् चेट्टी पहले पंडित मोतीलालजी के साथ काँग्रेस की ओर से चुने जाकर केन्द्रीय असम्बली के मेम्बर रह चुके थे और काँग्रेस-सदस्यों में भी उनकी योग्यता को लोग मानते थे। उन्होने काम भी अच्छा किया था। पर सत्याग्रह के समय वह काँग्रेस से अलग हो गये थे। अब इस चुनाव में उन्होंने काँग्रेस का विरोध किया। वह चेट्टी जाति के थे। चेट्टी लोग ही मद्रास-प्रान्त में व्यापार का काम अधिक करते हैं। वह

अब्राह्मण भी थे। जस्टिस-पार्टी ने उनको अपनी ओर से उमीदवार बना लिया था। फिर क्या था! सफलता के सभी कारण उनके साथ मौजूद थे। इसके अलावा, कहा जाता था कि लार्ड विलिंगडन उनको बहुत मानते थे। पर उन्होंने भी बड़ी गहरी हार खाई।

जैसे ही मद्रास के नतीजे अखबारों में निकलने लगे, विशेषकर काँग्रेस के पक्ष के मतों की संख्या, देश में उत्साह बढ़ता गया। सभी सूबों में काँग्रेस की बड़ी जीत हुई। बिहार में भी वैसी ही हुई। यहाँ एक बड़े मार्के की बात यह हुई कि एक बहुत ही बड़े सेठ से मुकाबला हो गया। वह थे सेठ रामकृष्ण डालमिया। इनकी सहानुभूति काँग्रेस के साथ रहा करती थी। पहले जब-तब पैसे से सहायता भी किया करते थे। इस चुनाव में इन्होंने खड़ा होने का निश्चय कर लिया। पीछे मुझसे कहा कि काँग्रेसी उमीदवार श्री अनुग्रहनारायणसिंह हटा लिये जायँ। यह सम्भव नहीं था, क्योंकि काँग्रेस की नीति थी कि यथा-साध्य सभी जगहों पर उमीदवार खड़े किये जायँ। श्री डालमिया काँग्रेस के अनुशासन के अन्दर आना भी नहीं चाहते थे। पर उनके साथ हम सबकी व्यक्तिगत सद्भावना बनी रही। उन्होंने बहुत खर्च किया, पर वह भी करारे ढंग से हारे।

एक तरफ तो इस तरह की सफलता हुई जिससे सभी लोगों को बहुत आनन्द हुआ, दूसरी तरफ एक ऐसी बात भी इस चुनाव में हुई जो बहुत दुःखद थी। पहले कहा जा चुका है कि बम्बई-काँग्रेस के पूर्व से ही प्रधान मंत्री मैकडोनल्ड के साम्प्रदायिक निर्णय के कारण काँग्रेसी लोगों में मतभेद हो गया था और बम्बई-काँग्रेस में पंडित मालवीयजी ने उस प्रस्ताव का विरोध किया था जिसमें काँग्रेस का नव-विधान-सम्बन्धी मत प्रकट किया गया था——उनका संशोधन-प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से नामंजूर किया गया था। उस विचार के लोगों ने अपनी ओर से उमीदवार खड़े किये। बिहार में भी श्री जगतनारायणलाल खड़े हुए। बंगाल में तो प्रायः सभी जगहों के लिए उमीदवार खड़े किये गये। और सूबों में भी कुछ लोग खड़े हुए। ये लोग यों तो और सब बातों में काँग्रेस से सहमत थे, पर एक इसी विषय पर ये काँग्रेस से अलग थे। काँग्रेस ने श्री अणे के विरुद्ध कोई उमीदवार नहीं खड़ा किया और वह निर्विरोध चुने गये; पर और जगहों में दो प्रकार के काँग्रेसियों में मुठभेड़ हो गयी। बिहार में तो काँग्रेस से कोई नहीं जीता, पर बंगाल में प्रायः सभी जगहों में काँग्रेस को हार खानी पड़ी और उस दल के लोगों की जीत हुई। इसका विशेष कारण यह था कि श्री मैकडोनल्ड के निर्णय से बंगाल के सवर्ण हिन्दुओं की सबसे अधिक हानि हुई थी। वहाँ मुसलमानों की संख्या प्रायः ५५-५६ और हिन्दुओं की ४४ प्रतिशत के लगभग होती है। अल्प-संख्यक होने के कारण हिन्दुओं को वहाँ कुछ सुविधा मिलनी चाहिए थी। पर उस निर्णय के अनुसार दस प्रतिशत स्थान योरोपियनों को मिल गये और बाकी ९० के बँटवारे में ५१ मुसलमानों को और ३९ प्रतिशत हिन्दुओं को मिले, अर्थात् अपनी संख्या के अनुपात से भी उनको कम जगहें धारा-सभाओं में मिलीं। इसके

बाद जब अछूतों से, महात्माजी के उपवास के बाद पूना में, समझौता हुआ तो हरिजनों के लिए सुरक्षित स्थानों की संख्या भी बहुत बढ़ गयी जो हिन्दुओं के स्थानों में से ही हो सकती थी। इसलिए वहाँ सवर्ण हिन्दुओं में बहुत असन्तोष था। वे चाहते थे कि इस निर्णय का जबरदस्त विरोध किया जाय। इसमें काँग्रेसी और गैरकाँग्रेसी सभी हिन्दू शरीक थे। इसलिए वहाँ के चुनाव में काँग्रेस की हार हुई और इस नये दल की जीत हुई, जिसमें काँग्रेसी लोग ही चुने गये जो और बातों में काँग्रेस का ही साथ देनेवाले थे। नवम्बर के अन्त तक सारे देश में चुनाव हो गया और काँग्रेस की बहुत बड़ी जीत हुई। काँग्रेस ने अब नीति भी निर्धारित कर दी थी। उसी के अनुसार केन्द्रीय असम्बली में काम होनेवाला था।

११०—श्री जिन्ना से समझौते की बातचीत और देश भर का दौरा

यद्यपि चुनाव में काँग्रेस की जीत हुई थी और दूसरे प्रकार से भी मालूम पड़ता था कि काँग्रेस जीवित है, तथापि हम यह आवश्यक समझते थे कि उसका संगठन मजबूत बना दिया जाय, क्योंकि चार बरसों की लड़ाई में, जब काँग्रेस-कमिटियाँ गैरकानूनी संस्था करार दे दी गयी थीं, काँग्रेस का संगठन तितर-बितर हो गया था। उसको एक बार पुनर्जीवित और सुसंगठित करना आवश्यक था। इसलिए एक बार सभी जगहों का दौरा करना आवश्यक जान पड़ा। प्रान्तीय कमिटियों की ओर से इस बात का तकाजा भी हुआ कि मैं सभापति की हैसियत से दौरा करूँ। जाड़ों में तो मेरे लिए यह सम्भव नहीं था, पर मैंने सोचा कि जाड़ा कम होते ही मैं बाजाब्ता सिलसिलेवार दौरा शुरू करूँगा—इस बीच में, अपने स्वास्थ्य को ध्यान में रखते हुए, अगर हो सका तो जहाँ-तहाँ जाऊँगा।

दिल्ली में असम्बली का काम जनवरी में शुरू होनेवाला था। वहीं वर्किंग कमिटी की बैठक भी की गयी। वहाँ महात्माजी भी इत्तफाक से आ गये थे। वहाँ के लोगों की इच्छा भी थी कि काँग्रेस के सभापति का दौरा वहीं से शुरू किया जाय। इसलिए जब मैं वहाँ पहुँचा तो वहाँ के लोगों ने भी बड़ी शान से स्वागत किया। बम्बई ने स्वागत का एक खासा नमूना कायम कर दिया था। दिल्ली में भी उसी प्रकार का स्वागत बहुत बड़े जलूस में किया गया। शहर के लोगों ने बहुत उत्साह दिखलाया। मैं अभी तक कमजोर ही था, इसलिए स्वागत की भीड़ बर्दाश्त करना कुछ आसान नहीं था; पर मैंने उसे किसी तरह सँभाल लिया।

मैं जलूस के कुछ बाद ही महात्माजी से मिला। उनको सब खबर मिल चुकी थी। उन्होंने एक मार्के की बात कही जिसका जिक्र शायद मैंने स्वतंत्र रूप से ऊपर किया है। उन्होंने कहा कि अन्त में हमको मजबूरन सत्याग्रह बन्द करना पड़ा था, क्योंकि जनता का उसमें उत्साह नहीं रह गया था और लोग कुछ दब-से गये थे; पर काँग्रेस के प्रति उनका प्रेम कम नहीं हुआ था, लोग चाहते थे कि कोई मौका मिले तो उसे दिखलावें; इसीलिए इस प्रकार के स्वागत में इतना उत्साह देखने में

आता है, जैसा तुमने बम्बई में देखा अथवा दिल्ली में देख रहे हो—ऐसा ही स्वागत जहाँ जाओगे लोग करेंगे।

मैं इस प्रकार के भीड़-भड़क्के से बहुत घबराता हूँ। विशेषकर स्वागत और जलूस से तो बहुत डरता हूँ। पर मैंने इसे उस पद की खातिर बर्दाश्त करना मंजूर कर लिया। महात्माजी ने मेरी इस राय को पसन्द किया कि मैं सभी सूबों में दौरा करूँ। मैंने यह काँग्रेस के संगठन के विचार से जरूरी समझा। मैंने देखा कि जहाँ १९३२–३३ में बहुत जगहों में लोग काँग्रेसी कार्य्यकर्त्ताओं को अपने यहाँ ठहराने से भी हिचकते थे वहाँ १९३५ में काँग्रेस के अध्यक्ष का इतने जोर-शोर से स्वागत करने पर तैयार थे। सभी जगहों से इस दौरे के सम्बन्ध में मेरे साथ पत्र-व्यवहार होने लगा। तिथियाँ सोची जाने लगीं। इस यात्रा को शुरू करने के पहले अपने साथ निजी काम के लिए श्री चक्रधरशरण को रख लिया। वह मुजफ्फरपुर-जिले के बेलसंड थाने के अन्तर्गत परतापुर गाँव के रहनेवाले हैं। १९२० से ही वह काँग्रेस का काम करते आये हैं। भूकम्प के समय मुजफ्फरपुर में उन्होंने अच्छा काम किया था। रिलीफ में भी बड़े उत्साह और ईमानदारी से काम किया था।

पर इस यात्रा को शुरू करने के पहले एक दूसरा प्रश्न था जिसका हल आवश्यक था। श्री मैकडोनल्ड ने साम्प्रदायिक निर्णय देकर मुसलमानों को बहुत खुश कर दिया था; पर हिन्दू उनसे बहुत क्षुब्ध थे। सभी समझदार लोग मानते थे कि यदि कोई समझौता हो जाय तो वह सबसे अच्छा होगा। इसके लिए डाक्टर अनसारी बहुत ही उत्सुक थे। उन्होंने श्री जिन्ना से लिखापढ़ी शुरू की थी। दिल्ली में वर्किंग कमिटी के सामने उन्होंने यह बात पेश की। वर्किंग कमिटी ने कहा कि यदि कोई रास्ता निकल सके तो उसे जरूर ढूँढ़ निकालना चाहिए। इसी बीच श्री जिन्ना भी दिल्ली पहुँच गये। एक दिन डाक्टर अनसारी के मकान पर वर्किंग कमिटी के मेम्बरों से उनकी मुलाकात और कुछ बातचीत हुई। पर वह बातचीत ऐसी नहीं थी कि इतने लोग एक साथ ठीक तरह से कर सकें और वह इतनी जल्द तय हो जाय। अन्त में श्री जिन्ना की राय हुई कि वह और काँग्रेस के अध्यक्ष ही बातें करें, अगर कुछ रास्ता निकल आवे तो अपनी-अपनी संस्था से उसकी मंजूरी करा लेवें। डाक्टर अनसारी के घर पर पहले दिन जो बातें जिस ढंग से हुईं उनसे और उस ढंग से मुझे कुछ विशेष आशा नहीं मालूम हुई, तो भी यह बात ऐसी थी कि इसमें अपनी ओर से किसी तरह की कोताही नहीं की जा सकती थी, इसलिए मैं इसमें दिलोजान से पड़ गया। मुझे इस बात का शक था कि मैं इस तरह के काम के लिए कहाँ तक योग्य हूँ। पर मुझे डाक्टर अनसारी और सरदार बल्लभभाई पटेल की पूरी मदद थी। महात्माजी का आशीर्वाद भी था। इससे मैं समझता था कि कोई भूल न होने पावेगी। बातचीत बहुत लम्बी चली। मुझे कई हफ्तों तक दिल्ली में रह जाना पड़ा। श्री जिन्ना और मैंने खुलासगी और सफाई से बातें कीं। जहाँ तक मैं समझ सका, हम दोनों का एक दूसरे के प्रति भाव भी अच्छा ही रहा। मैं बात-

राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू अपनी धर्मपत्नी के साथ (बम्बई कांग्रेस, अक्टूबर १९३०)

चीत के बाद जो कुछ बातें हुईं रहतीं उनका खुलासा उसी दिन लिख लिया करता। उस समय के वे लिखे हुए नोट आज भी कहीं मौजूद मिलेंगे। मंत्री श्री कृपालानी भी प्रायः बराबर दिल्ली में ही रहे। उनसे तथा डाक्टर अनसारी से सभी बातें मैं बता दिया करता। श्रीमती सरोजिनी नायडू भी बहुत करके दिल्ली में रहीं। उनको भी सब बातें मालूम हो जातीं। महात्माजी तथा सरदार को भी मैं पत्रों द्वारा सब बातों से आगाह रखता। सब बातों को यहाँ विस्तार से देना अनावश्यक है।

अन्त में बात खत्म करनी पड़ी। समझौता नहीं हो सका। इसका मुझे बहुत अफसोस रहा; क्योंकि मैं समझता था कि हम जिन शर्तों पर समझौता करना चाहते थे और जिन पर हमने श्री जिना को राजी कर लिया था वे शर्तें देश के लिए हितकर होतीं। इससे भी अधिक अफसोस इसलिए हुआ कि जिस कारण समझौता न हो सका वह ऐसी बात थी जिसका कोई विशेष महत्त्व नहीं था—उसको न मानना अथवा उस पर जिद्द करना, मेरे खयाल से, दोनों ही बेकार थे।

मैंने बातचीत शुरू करने के पहले ही यह साफ कर लिया था कि मैं केवल काँग्रेस की ओर से बातें कर रहा हूँ; मुझे किसी दूसरे दल की ओर से बातें करने का अधिकार भी नहीं है और मैं दूसरों की जवाबदेही ले भी नहीं सकता—हाँ, हम जो कुछ तय करेंगे वह काँग्रेस से हम मंजूर करा लेंगे; उसी तरह श्री जिन्ना से भी हम यही आशा रखेंगे कि वह भी मुस्लिम लीग से समझौते को मंजूर करा देंगे। उन्होंने यह मंजूर किया था। वह देख चुके थे कि अभी हाल में ही हमने काँग्रेस में साम्प्रदायिक निर्णय के सम्बन्ध में अपना न्यारा रुख रखा था और उसके लिए हमको पं० मालवीयजी-जैसे मान्य एवं धुरन्धर नेता का भी विरोध करना पड़ा था। वह यह भी देख चुके थे कि हम एक सूबा छोड़कर प्रायः सभी सूबों में चुनाव में भी जीते हैं। इसलिए वह इस पर राजी थे। मैंने यह भी साफ कह दिया था कि यदि वह मुसलमानों के लिए अलग चुनाव-क्षेत्रों को कायम रखने पर तुले होंगे तो बात-चीत की कोई गुंजाइश नहीं है; क्योंकि हम अलग चुनाव को राष्ट्रीयता की दृष्टि से इतना घातक मानते हैं कि यदि वह रह जाय तो किसी समझौते से कोई काम न होगा। इसलिए बातचीत इसी आधार पर शुरू होगी कि वह अलग निर्वाचन-क्षेत्र छोड़ने पर तैयार हो जायँ। इस पर उनकी ओर से यह प्रश्न हुआ कि यह चीज मुसलमानों को मिल चुकी है और वे इसे कुछ दिनों से काम में लाते रहे हैं; इसके बदले में उनको जब तक कुछ निश्चित रूप से न मिले तब तक उनको मनाना और राजी करना संभव न होगा।

मैंने उनके लिए उतने ही सुरक्षित स्थान मान लिये जितने उनको साम्प्रदायिक निर्णय से मिले थे। हम दोनों ने इन दो बातों को मान करके ही आगे बात चलाई थी। उनकी ओर से यह माँग हुई कि चुनाव-क्षेत्रों में, जहाँ मुसलमान मत-दाताओं की संख्या उनकी आबादी के अनुपात से कम हो, मताधिकार के लिए आवश्यक गुण (qualification) को कम करके भी मुसलमान मत-दाताओं की संख्या उनकी

आबादी के अनुपात के अनुसार बना दी जाय। वह कहते थे कि मुसलमान गरीब हैं और बहुत जगहों में उनमें शिक्षा भी कम है, इसलिए जहाँ टैक्स देना ही मताधिकार की पहचान होगी वहाँ बहुतेरे मुसलमान छँट जायँगे और मतदाताओं में उनकी संख्या आबादी के अनुपात से बहुत कम हो जायगी; इसलिए यह होना आवश्यक है। पंजाब के सम्बन्ध में जो कुछ भी आँकड़े मिल सके, मैंने उनका खूब अच्छी तरह से अध्ययन किया। मुझे जहाँ तक पता चला, उनमें मतदाताओं की संख्या आबादी के अनुपात से कई जगहों में कुछ कम होती थी, पर यह बहुत बड़ा फर्क नहीं था—शायद दो प्रतिशत या इससे भी कम ही का फर्क था। जब हिन्दू और मुसलमान दोनों का संयुक्त चुनाव-क्षेत्र होनेवाला था तो मुसलमानों की यह माँग कि मतदाताओं में उनकी संख्या आबादी के अनुपात में हो, मुझे न्याययुक्त मालूम पड़ी और मैंने इसे मान लिया—विशेषकर जब काँग्रेस ने यह निश्चय कर लिया था कि चुनाव का मताधिकार सभी बालिग लोगों को दिया जाय तो यह माँग मान लेने में मुझे कोई आपत्ति नहीं मालूम हुई। पर जब सिखों और हिन्दुओं से मैंने बातें कीं तो सिखों ने इसका जबरदस्त विरोध किया। पंजाब के हिन्दुओं से बातें होने पर उनमें से कतिपय मुख्य व्यक्तियों ने इसे मान लिया; पर बंगाल के हिन्दू इसे किसी तरह मानने पर तैयार न हुए। जो लोग बंगाल से केन्द्रीय असम्बली में चुनकर गये थे उनसे मेरी पहले बातें हुईं। उन्होंने सब बातें सुन-समझकर समझौते को पसन्द किया, पर वे बंगाल के और लोगों की राय लेना आवश्यक समझते थे।

पंडित मालवीयजी से बातें हुईं तो उन्होंने सिखों और बंगाल के हिन्दुओं का हवाला देकर कहा कि जब तक वे न मानेंगे तब तक वह कुछ नहीं कर सकते। मैंने बंगाल के आँकड़े बहुत खोजे; पर मुझे गवर्नमेण्ट की किसी रिपोर्ट अथवा पुस्तक से कुछ भी पता न चल सका कि वहाँ की वस्तु-स्थिति इस सम्बन्ध में क्या होगी। इसलिए, जिस तरह मैं पंजाब के हिन्दुओं के सामने आँकड़े रखकर बहस कर सका उस तरह बंगाल के हिन्दुओं के साथ नहीं। तब मैंने भी जिन्ना से बहस की कि वह इस माँग पर न अड़ें; क्योंकि इसमें कोई तत्त्व की बात नहीं है। जहाँ मुसलमानों का बहुत बड़ा बहुमत है वहाँ सैकड़े एक या दो की कमी से चुनाव के नतीजों पर कोई विशेष प्रभाव या फर्क नहीं पड़ेगा। पर वह इस पर राजी नहीं होते थे। काँग्रेस की ओर से मैं उसे मान लेने पर भी राजी था। पर उन्होंने इस पर जोर दिया कि पंडित मालवीयजी की अनुमति भी आवश्यक है; क्योंकि समझौता अगर हुआ भी और पंडित मालवीयजी के नेतृत्व में साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध आन्दोलन होता ही रहा तो मुसलमानों को इस समझौते से कोई लाभ न होगा।

उधर उन्हीं दिनों दिल्ली में साम्प्रदायिक-निर्णय-विरोधी एक सम्मेलन हुआ जिसमें बंगाल के कुछ लोग आये। उन्होंने इसका पूरा विरोध किया। मैं पंडित मालवीयजी को किसी तरह राजी न कर सका। अन्त में उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि जितनी जगहें मुसलमानों को मिली हैं, विशेषकर बंगाल और केन्द्र में, उन्हें भी घटाना

राष्ट्रपति राजेन्द्र बाबू अपनी धर्मपत्नी के साथ (बम्बई कांग्रेस, अक्टूबर १९३४)

चाहिए और जब तक वे घटायी न जायँगी तब तक वह राजी नहीं हो सकते। उधर श्री जिन्ना भी इस बात पर तुल गये कि जब तक पंडित मालवीयजी का हस्ताक्षर नहीं होगा तब तक वह राजी नहीं होंगे। अपनी ओर से वह यह कहते थे कि मुसलमान नेताओं की मंजूरी वह दे सकेंगे। इस प्रकार, यद्यपि यह बातचीत कांग्रेस की ओर से मैंने शुरू की थी—और कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग के अध्यक्षों के बीच ही यह चली थी—तथापि अन्त में यह इसलिए टूट गई कि श्री जिन्ना केवल कांग्रेस के साथ समझौते पर राजी नहीं हुए और हिन्दू-सभा की अनुमति जरूरी समझने लगे।

इधर तो बात दूसरी हो गई है। अब वह चाहते हैं कि कांग्रेस, मुस्लिम लीग को, मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था मान ले और स्वयं हिन्दुओं की ओर से समझौता करने पर राजी हो जाय! कांग्रेस न उस समय केवल हिन्दुओं की संस्था थी और न आज है। वह हमेशा से राष्ट्रीय संस्था रही है जिसमें सब जातियों और सब धर्मों के लोगों के लिए स्थान है और रहेगा। उसकी नीति भी वैसी ही राष्ट्रीय नीति है और रहेगी। उस दिन समझौता नहीं हुआ। यह दुःख की बात है, क्योंकि उसके बाद परिस्थिति बराबर बिगड़ती ही गई है, और आज तो वायुमंडल भी विषाक्त है।

जब तक यह बातचीत चलती रही, मैं दिल्ली में ही रहा। पर बीच-बीच में जहाँ-तहाँ एक-दो दिनों के लिए चला जाता। मैं इलाहाबाद और आगरा इन्हीं दिनों में हो आया। मार्च से बाजाब्ता सिलसिलेवार दौरा करने का निश्चय किया। मैंने सबसे पहले पंजाब जाने का ही निश्चय किया। मार्च में वहाँ गया। सबसे पहले मैं जालंधर में उतारा गया। वहाँ से कुछ दूर पर खादी का मुख्य केन्द्र आदमपुर में है। मैं वहाँ गया और वहाँ का काम देखा। जालंधर से लाहौर गया। वहाँ से दूसरे स्थानों में जाने का कार्यक्रम बना था। लाहौर में मेरे रेल से उतरने पर हसब-मामूल बड़ा जलूस निकाला गया। कुछ दूर जलूस जाने के बाद ही बहुत जोरों से पानी बरसने लगा। मैं खूब भींग गया। पर जलूस समाप्त करके ही मुझे फुर्सत दी गयी। जलूस समाप्त होते कुछ रात हो गई। मैं लोक-सेवक-समिति (Servants of People Society) के लाजपतराय-भवन में भोजन करने के लिए गया। भोजनोपरान्त डाक्टर सत्यपाल के घर पर ठहरने के लिए गया। पानी में भींगना और उसके बाद रात की सर्दी लग जाना मुझसे बर्दाश्त न हो सका। दूसरे दिन सवेरे ही खाँसी-दमा शुरू हो गया। मैंने उमीद की कि मेरे स्वास्थ्य के लिए अच्छे दिन आ गये और यह व्यतिक्रम दो-एक दिनों में ठीक हो जायगा। पर वैसा न हो सका, मैं बीमार पड़ गया। नतीजा यह हुआ कि मुझे सारे कार्यक्रम को बदल देना पड़ा। लाहौर में मैं कई दिनों तक पड़ा रहा। पानी भी कुछ न कुछ कई दिनों तक बरसता रहा। मेरे अच्छा होते-होते वह सारा समय, जो मैंने पंजाब-भ्रमण के लिए दिया था, समाप्त हो गया। पंजाब का दौरा स्थगित करके मैं सीधे बिहार वापस आ गया।

यह दुःख की बात है कि पंजाब-जैसे सूबे में कांग्रेसी लोगों में आपस का मतभेद बहुत है। यह उस समय भी बहुत जोर पर था। मुझे कुछ हद तक इसका

आबादी के अनुपात के अनुसार बना दी जाय। वह कहते थे कि मुसलमान गरीब हैं और बहुत जगहों में उनमें शिक्षा भी कम है, इसलिए जहाँ टैक्स देना ही मताधिकार की पहचान होगी वहाँ बहुतेरे मुसलमान छँट जायँगे और मतदाताओं में उनकी संख्या आबादी के अनुपात से बहुत कम हो जायगी; इसलिए यह होना आवश्यक है। पंजाब के सम्बन्ध में जो कुछ भी आँकड़े मिल सके, मैंने उनका खूब अच्छी तरह से अध्ययन किया। मुझे जहाँ तक पता चला, उनमें मतदाताओं की संख्या आबादी के अनुपात से कई जगहों में कुछ कम होती थी, पर यह बहुत बड़ा फर्क नहीं था—शायद दो प्रतिशत या इससे भी कम ही का फर्क था। जब हिन्दू और मुसलमान दोनों का संयुक्त चुनाव-क्षेत्र होनेवाला था तो मुसलमानों की यह माँग कि मतदाताओं में उनकी संख्या आबादी के अनुपात में हो, मुझे न्याययुक्त मालूम पड़ी और मैंने इसे मान लिया—विशेषकर जब काँग्रेस ने यह निश्चय कर लिया था कि चुनाव का मताधिकार सभी बालिग लोगों को दिया जाय तो यह माँग मान लेने में मुझे कोई आपत्ति नहीं मालूम हुई। पर जब सिखों और हिन्दुओं से मैंने बातें कीं तो सिखों ने इसका जबरदस्त विरोध किया। पंजाब के हिन्दुओं से बातें होने पर उनमें से कतिपय मुख्य व्यक्तियों ने इसे मान लिया; पर बंगाल के हिन्दू इसे किसी तरह मानने पर तैयार न हुए। जो लोग बंगाल से केन्द्रीय असम्बली में चुनकर गये थे उनसे मेरी पहले बातें हुईं। उन्होंने सब बातें सुन-समझकर समझौते को पसन्द किया, पर वे बंगाल के और लोगों की राय लेना आवश्यक समझते थे।

पंडित मालवीयजी से बातें हुईं तो उन्होंने सिखों और बंगाल के हिन्दुओं का हवाला देकर कहा कि जब तक वे न मानेंगे तब तक वह कुछ नहीं कर सकते। मैंने बंगाल के आँकड़े बहुत खोजे; पर मुझे गवर्नमेण्ट की किसी रिपोर्ट अथवा पुस्तक से कुछ भी पता न चल सका कि वहाँ की वस्तु-स्थिति इस सम्बन्ध में क्या होगी। इसलिए, जिस तरह मैं पंजाब के हिन्दुओं के सामने आँकड़े रखकर बहस कर सका उस तरह बंगाल के हिन्दुओं के साथ नहीं। तब मैंने भी जिन्ना से बहस की कि वह इस माँग पर न अड़ें; क्योंकि इसमें कोई तत्त्व की बात नहीं है। जहाँ मुसलमानों का बहुत बड़ा बहुमत है वहाँ सैकड़े एक या दो की कमी से चुनाव के नतीजों पर कोई विशेष प्रभाव या फर्क नहीं पड़ेगा। पर वह इस पर राजी नहीं होते थे। काँग्रेस की ओर से मैं उसे मान लेने पर भी राजी था। पर उन्होंने इस पर जोर दिया कि पंडित मालवीयजी की अनुमति भी आवश्यक है; क्योंकि समझौता अगर हुआ भी और पंडित मालवीयजी के नेतृत्व में साम्प्रदायिक निर्णय के विरुद्ध आन्दोलन होता ही रहा तो मुसलमानों को इस समझौते से कोई लाभ न होगा।

उधर उन्हीं दिनों दिल्ली में साम्प्रदायिक-निर्णय-विरोधी एक सम्मेलन हुआ जिसमें बंगाल के कुछ लोग आये। उन्होंने इसका पूरा विरोध किया। मैं पंडित मालवीयजी को किसी तरह राजी न कर सका। अन्त में उन्होंने इस बात पर भी जोर दिया कि जितनी जगहें मुसलमानों को मिली हैं, विशेषकर बंगाल और केन्द्र में, उन्हें भी घटाना

चाहिए और जब तक वे घटायी न जायँगी तब तक वह राजी नहीं हो सकते। उधर श्री जिन्ना भी इस बात पर तुल गये कि जब तक पंडित मालवीयजी का हस्ताक्षर नहीं होगा तब तक वह राजी नहीं होंगे। अपनी ओर से वह यह कहते थे कि मुसलमान नेताओं की मंजूरी वह दे सकेंगे। इस प्रकार, यद्यपि यह बातचीत काँग्रेस की ओर से मैंने शुरू की थी—और काँग्रेस तथा मुस्लिम लीग के अध्यक्षों के बीच ही यह चली थी—तथापि अन्त में यह इसलिए टूट गई कि श्री जिन्ना केवल काँग्रेस के साथ समझौते पर राजी नहीं हुए और हिन्दू-सभा की अनुमति जरूरी समझने लगे।

इधर तो बात दूसरी हो गई है। अब वह चाहते हैं कि काँग्रेस, मुस्लिम लीग को, मुसलमानों की एकमात्र प्रतिनिधि-संस्था मान ले और स्वयं हिन्दुओं की ओर से समझौता करने पर राजी हो जाय! काँग्रेस न उस समय केवल हिन्दुओं की संस्था थी और न आज है। वह हमेशा से राष्ट्रीय संस्था रही है जिसमें सब जातियों और सब धर्मों के लोगों के लिए स्थान है और रहेगा। उसकी नीति भी वैसी ही राष्ट्रीय नीति है और रहेगी। उस दिन समझौता नहीं हुआ। यह दुःख की बात है, क्योंकि उसके बाद परिस्थिति बराबर बिगड़ती ही गई है, और आज तो वायुमंडल भी विषाक्त है।

जब तक यह बातचीत चलती रही, मैं दिल्ली में ही रहा। पर बीच-बीच में जहाँ-तहाँ एक-दो दिनों के लिए चला जाता। मैं इलाहाबाद और आगरा इन्हीं दिनों में हो आया। मार्च से बाजाब्ता सिलसिलेवार दौरा करने का निश्चय किया। मैंने सबसे पहले पंजाब जाने का ही निश्चय किया। मार्च में वहाँ गया। सबसे पहले मैं जालंधर में उतारा गया। वहाँ से कुछ दूर पर खादी का मुख्य केन्द्र आदमपुर में है। मैं वहाँ गया और वहाँ का काम देखा। जालंधर से लाहौर गया। वहाँ से दूसरे स्थानों में जाने का कार्यक्रम बना था। लाहौर में मेरे रेल से उतरने पर हसब-मामूल बड़ा जलूस निकाला गया। कुछ दूर जलूस जाने के बाद ही बहुत जोरों से पानी बरसने लगा। मैं खूब भींग गया। पर जलूस समाप्त करके ही मुझे फुर्सत दी गयी। जलूस समाप्त होते कुछ रात हो गई। मैं लोक-सेवक-समिति (Servants of People Society) के लाजपतराय-भवन में भोजन करने के लिए गया। भोजनोपरान्त डाक्टर सत्यपाल के घर पर ठहरने के लिए गया। पानी में भींगना और उसके बाद रात की सर्दी लग जाना मुझसे बर्दाश्त न हो सका। दूसरे दिन सवेरे ही खाँसी-दमा शुरू हो गया। मैंने उमीद की कि मेरे स्वास्थ्य के लिए अच्छे दिन आ गये और यह व्यतिक्रम दो-एक दिनों में ठीक हो जायगा। पर वैसा न हो सका, मैं बीमार पड़ गया। नतीजा यह हुआ कि मुझे सारे कार्यक्रम को बदल देना पड़ा। लाहौर में मैं कई दिनों तक पड़ा रहा। पानी भी कुछ न कुछ कई दिनों तक बरसता रहा। मेरे अच्छा होते-होते वह सारा समय, जो मैंने पंजाब-भ्रमण के लिए दिया था, समाप्त हो गया। पंजाब का दौरा स्थगित करके मैं सीधे बिहार वापस आ गया।

यह दुःख की बात है कि पंजाब-जैसे सूबे में काँग्रेसी लोगों में आपस का मतभेद बहुत है। यह उस समय भी बहुत जोर पर था। मुझे कुछ हद तक इसका

शिकार भी बनना पड़ा था। वह बात विनोदपूर्ण है, इसलिए यहाँ कह देना बुरा न होगा। इसमें किसी पर दोष लगाने का अभिप्राय नहीं है। पाठकों के मनोविनोद और उन्हें यह जता देने के लिए कि आपस के मतभेद से आगन्तुक अतिथि को भी कहीं-कहीं असुविधा हो सकती है, यह लिख रहा हूँ।

पहले से निश्चय था कि हमको जालन्धर उतरना है। हम जिस गाड़ी से गये थे वह सवेरे ३-४ बजे के करीब वहाँ पहुँचती थी। जालन्धर में दो स्टेशन हैं—एक सिटी और दूसरा छावनीवाला। मुझे मालूम नहीं था कि किस स्टेशन पर उतरना है; पर मैं समझता था कि जहाँ-कहीं उतरना होगा, कुछ लोग आवेंगे ही और उतार लेंगे। इसलिए मैं इस विषय में निश्चिन्त था। जो स्टेशन पहले मिला, वहाँ कुछ लोग आये और उन्होंने मुझे उतरने को कहा। मेरे साथ कृपालानीजी भी थे। हम लोग वहाँ उतर गये। वे लोग हम लोगों को स्टेशन के मुसाफिरखाने में ले गये और वहाँ मुँह-हाथ धोकर तैयार हो जाने को कहा। हमने समझा कि लोगों का विचार है कि सवेरा हो जाने पर वहाँ से ले जायँगे। पर हमको आश्चर्य हुआ कि जिन सज्जन के यहाँ हम ठहरना चाहते थे और जिनको हमने तार दे दिया था वह (रायजादा हंसराज) स्टेशन पर नहीं आये हैं। हमने सोचा कि शायद वह सवेरा होने पर आवेंगे और तब हमें साथ ले जायँगे। हम लोग मुँह-हाथ धो ही रहे थे कि कुछ देर बाद मोटर पर रायजादा साहब आ गये। मालूम हुआ कि वह दूसरे स्टेशन पर इन्तजार कर रहे थे, जब हम लोग वहाँ नहीं पहुँचे तो वह यहाँ तलाश करने आये; जिन साहबों ने हमको उतार लिया था वे दूसरे दल के थे जो यह नहीं चाहते थे कि हम रायजादा साहब के साथ ठहरें—उन्होंने कहीं अन्यत्र हमें ठहराने का प्रबन्ध किया था! दोनों में कुछ बातें आपस में हुईं। हम अतिथि कुछ मुश्किल में थे! अन्त में तय हुआ कि हम रायजादा साहब के यहाँ दोपहर का भोजन करें और सवेरे उन महाशय के यहाँ नाश्ता करें जिनके यहाँ ठहराने का दूसरे लोगों ने निश्चय किया था। मैं रायजादा साहब को पहले से खूब जानता था। इसी लिए उनको तार दे दिया था। पर वहाँ के लोगों की यह हालत देखकर जो प्रबन्ध उन्होंने किया वही मानना पड़ा। हम लोग रायजादा साहब के यहाँ गये। मुँह-हाथ धोकर नाश्ता करने दूसरी जगह गये। वहाँ से आदमपुर गये। फिर लौटकर रायजादा साहब के यहाँ भोजन करके, रेल से लाहौर के लिए रवाना हो गये।

पर हमारी दिक्कतें यहीं समाप्त न हुईं। लाहौर में कहाँ ठहरना होगा, यह समस्या अभी तक हल नहीं हुई थी। रेल में एक आदमी डाक्टर सत्यपाल की पत्नी का पत्र लेकर आया और मिला। डाक्टर साहब उस समय जेल में थे। वही प्रान्तीय कमिटी के सभापति थे। यदि वह बाहर रहते तो सारा प्रबन्ध उनका ही होता। उनके न रहने से दूसरों ने प्रबन्ध किया था। मुझे मालूम हुआ कि लोक-सेवक-समिति के सदस्यों ने, जिनमें कई परिचित मित्र थे, सभा-भवन में ठहराने का प्रबन्ध किया है। श्रीमती सत्यपाल ने लिखा कि उनके पति जेल में हैं, अतः वह आशा रखती हैं कि और कुछ

नहीं तो इस कारण से भी मैं उन्हीं के यहाँ ठहरने का निश्चय करूँगा। मैं फिर संकट में पड़ गया। दोनों पक्षों के लोगों के बीच रेल में ही कहा-सुनी होने लगी। कृपालानीजी अपने उग्र स्वभाव के अनुसार बिगड़े। उन्होंने दोनों को डाँटा कि तुम लोग आपस में बातें तय नहीं कर लेते और अतिथि को संकट में डालते हो। यह भी मालूम हुआ कि उस दिन संध्या के भोजन के लिए लोक-सेवक-समिति ने शहर के कितने ही माननीय पुरुषों को भी निमंत्रित कर लिया है और यदि मैं वहाँ नहीं गया तो उनके प्रति भी अनादर होगा। अन्त में बात यह तय पायी कि संध्या का भोजन तो लाजपतराय-भवन में हो, पर मैं जाकर ठहरूँ डाक्टर सत्यपाल के घर पर ही। जलूस में भींगने का कारण भी कुछ ऐसा ही था। प्रबन्धकों ने निश्चय कर लिया था कि जलूस किन सड़कों से जायगा। वे जलूस के रास्ते को, कुछ सड़कों को छोड़कर, कुछ छोटा न बना सके।

मैं डाक्टर साहब के घर पर ठहरा। दुर्भाग्यवश बीमार पड़ गया। अब जरूरत पड़ी किसी डाक्टर या वैद्य की; यह बात भी तय न हो सकी। पहले जो डाक्टर आये उनसे दूसरे दल को संतोष न था; वे अपना डाक्टर बुलाना चाहते थे ! अन्त में ऐलोपैथिक छोड़कर होमियोपैथिक पर बात गयी। कुछ अच्छा होते ही मैं बिहार वापस चला आया।

अप्रैल से जो यात्रा-क्रम बना था उसे मैं निर्विघ्न प्रायः जून के अन्त तक ठीक-ठीक पूरा करता रहा। अप्रैल में जबलपुर में अखिल भारतीय कमिटी की एक बैठक की गई। इस बैठक के लिए कोई विशेष कार्य्यक्रम अथवा महत्त्व का प्रश्न नहीं था। पर मैंने सोचा था कि साल में दो-तीन बार अखिल भारतीय कमिटी को अवश्य मिलना चाहिए ताकि सदस्यों को काँग्रेस-सम्बन्धी प्रश्नों पर विचार करने का अवसर मिले। मध्यप्रदेश में बहुत दिनों से अखिल भारतीय कमिटी की कोई बैठक नहीं हुई थी। इसलिए मैंने वहाँ के लोगों की इच्छा के अनुसार वहीं बैठक बुलाई। वह सफलता-पूर्वक समाप्त हुई। वहाँ से मैं यात्रा पर निकल गया। यात्रा का आरम्भ बरार-प्रान्त में हुआ। वहाँ प्रान्तीय राजनीतिक कान्फ्रेन्स थी जिसके सभापति पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त थे। कान्फ्रेन्स समाप्त करके मैं बरार के सभी जिलों में गया।

सभी जगहों में सभाएँ होतीं, स्वागत होता, जलूस निकलता; लोगों में उत्साह काफी दीखता। मेरे लिए इस प्रकार की यात्रा का, अपने सूबे के बाहर, यह पहला ही अनुभव था। वह अनुभव अच्छा और सुखद था; क्योंकि भिन्न-भिन्न प्रान्तों को देखने के अलावा काँग्रेस के संगठन को सुदृढ़ बनाने का कुछ मौका मिलता और जन-साधारण से सम्पर्क बढ़ता।

बरार की यात्रा समाप्त करके मैं सीधे कर्नाटक चला गया। वहाँ के सभी जिलों में दौरा किया। उसके बाद सारे महाराष्ट्र में गया। मैं सवेरे उठता और नहा-धोकर प्रायः ७ बजे मोटर पर निकल जाता। स्थान-स्थान पर सभा करता हुआ दिन के १२ बजे तक कहीं पहुँचता, जहाँ भोजनादि का प्रबन्ध रहता। भोजन और विश्राम के बाद प्रायः दो बजे फिर निकल जाता और रात के ८-९ बजे तक सभा करता।

रात को विश्राम के स्थान पर पहुँच जाता। रेल पर कम चलता, अधिकतर मोटर पर ही सारी यात्रा समाप्त हुई। बरार, कर्नाटक और महाराष्ट्र की यात्रा में ही प्रायः आधा अप्रैल, पूरा मई और प्रायः पूरा जून समाप्त हो गया। इस बीच में, केवल दो-तीन दिनों के लिए, मैं एक बार अपने घर गया—भाई साहब के वार्षिक श्राद्ध के लिए, जून के आरम्भ में।

सभी जगहों में बड़े-बड़े जलूस निकले, बड़ी-बड़ी सभाएँ हुईं। छोटे-छोटे कस्बों और गाँवों तक में मुझे जाने का और लोगों से मिलने का मौका मिला। कर्नाटक के जंगलों और पहाड़ों से होते हुए समुद्र के किनारे से लेकर मैसूर तक गया। फिर वहाँ से लौटते वक्त शोलापुर, सतारा, पूना, बेलगाँव, मालवन, रत्नागिरि, नासिक, अहमदनगर इत्यादि नगरों में भी जाने का मौका मिला। सुन्दर से सुन्दर प्रदेश और दृश्य देखने को मिले। पहाड़ों की प्राकृतिक छटा, जंगलों के सुन्दर सुहावने दृश्य, दक्षिण भारत की हरियाली और समुद्र की अनन्त जलराशि, सबके दर्शन हुए। मोटर पर जाने के कारण इन दृश्यों के देखने की और भी सुविधा हुई। लोगों की रंग-बिरंग वेशभूषा तथा भाषा की विभिन्नता देखी। पर इन सबकी तह में भारत की एकता झलक रही थी। वह कहीं भी खो नहीं सकती थी। एक तरफ सतारा और शोलापुर की तपती धूप मिली तो दूसरी ओर मैसूर और कुर्ग के जंगलों की ठण्ढी हवा शरीर को सुख पहुँचाती मिली। मरकरा में ऊँची पहाड़ी के समतल पर सभा के लिए एक अत्यन्त मनोरंजक स्थान है। वहाँ हजारों फुट की ऊँचाई पर एक ओर सभा होती थी और दूसरी ओर हजारों फुट नीचे, जहाँ तक नजर पहुँच सकती थी, हराभरा जंगल ही जंगल दीख रहा था। जमीन कहीं ऊँची कहीं नीची, पर सभी जगह सब्ज-सब्ज ही नजर आती। वहाँ के लोगों की पोशाक भी अपने ढंग की निराली थी। स्त्रियाँ सिर पर एक बेनी बाँधती हैं। पुरुष अँगरखा पहनते और एक प्रकार की कुकड़ी या तलवार कमर में बाँधते हैं। जंगल इतने घनघोर हैं कि सुना वहाँ हाथी भी होते हैं और शेर वगैरह तो होते ही हैं।

महाराष्ट्र की यात्रा में एक बात हुई जिसका जिक्र कर देना ठीक मालूम होता है। मैंने देखा कि वहाँ के लोगों को फूलों का बहुत शौक है। स्वागत के लिए वे फूल की मालाएँ बहुत लाते। वहाँ का यह भी रवाज है कि जब कोई प्रतिष्ठित अतिथि आता है तो उसके स्वागत में बहुत-सी संस्थाएँ शरीक होती हैं और सभी की ओर से अलग-अलग हार दिये जाते हैं। इस तरह एक-एक सभा में कितने ही हार मुझे दिये जाते। फूल के हार कुछ ठहरनेवाले तो होते नहीं, दिन समाप्त होते-होते मुरझा जाते और उनको फेंक देना पड़ता; रास्ते में वे गाड़ी के लिए भी बोझ बढ़ा देते। जहाँ स्थानीय बाजार में हार न मिलते वहाँ लोग दूर-दूर से पार्सल करके हार मँगवाते। इसमें पैसे भी लगते और उनसे कोई काम भी पूरा न होता। इसलिए मैंने एक अपील निकाल दी कि लोग यदि स्वागत-सम्मान करना चाहते हैं तो बेहतर हो कि फूल के हार न देकर हाथ के कते सूत का हार मुझे दें। श्री शंकरराव देव ने मेरी इस उक्ति को पसन्द किया। उन्होंने भी इस पर जोर दे डाला। इसका नतीजा यह हुआ कि महाराष्ट्र और

दूसरे प्रान्तों में, जहाँ-जहाँ मैं सफर में गया, सूत के हार मुझे दिये गये। मैं सूत की मालाओं को जमा करके साथ ले आया। बुनवाने पर इतना ज्यादा कपड़ा हुआ कि मित्रों को कुछ बाँटने के बाद भी मुझे कई वर्षों तक खादी खरीदने की जरूरत न पड़ी।

महाराष्ट्र-कमिटी ने यह भी निश्चय किया था कि मैं जहाँ जाऊँ, लोग कुछ पैसे भी भेंट करें। उसी प्रान्त में यह बात आरम्भ की गई। छोटी-छोटी सभाओं में लोग कुछ न कुछ पहले से जमा करके रखते, थैली भेंट देते। छोटे-छोटे गाँवों में भी इस तरह की भेंट मिलती। कहीं-कहीं रास्ते में भी गाड़ी रोककर भेंट दी जाती। इस तरह प्रायः २०-२२ हजार रुपये जमा हो गये। इसका थोड़ा अंश अखिल भारतीय कमिटी के लिए कृपालानीजी ने ले लिया और प्रायः तीन-चौथाई से भी अधिक वहीं की प्रान्तीय कमिटी को वहाँ के काम के लिए दे दिया गया। इस सारे सफर में महाराष्ट्र के कार्यकर्त्ताओं की कार्य-कुशलता और कारबारी तरीके से मुझे बहुत प्रसन्नता हुई। यात्रा-क्रम ऐसा बनाया गया था कि मुझे ठीक समय से सभी स्थानों में पहुँचने का मौका मिला। श्री शंकरराव देव मुझे यह भी कह देते कि किस स्थान पर कितनी देर ठहरना है और मैं उसी के अनुसार अपने भाषण में भी समय लगाता। अगर कुछ भी देर होने लगती तो वह छड़ी दिखला देते। चाहे सवेरे रवाना होने में, चाहे दोपहर के आराम के बाद चलने में, चाहे किसी स्थान की सभा समाप्त करने में, वह सर्वत्र पूरी कड़ाई से समय पर काम करते-कराते। इससे यह हुआ कि बिना कष्ट के सारा कार्य्यक्रम दिनभर में समाप्त होता और भोजन तथा आराम के लिए यथोचित समय मिल जाता।

ऐसा सभी सूबों में नहीं हुआ। कहीं-कहीं तो रात में एक या दो बजे भी जाकर सभा करनी पड़ी। हमारे अपने प्रान्त में ही, जब १९३७ में पंडित जवाहरलालजी आये, बाँकीपुर में रात के बारह बजे और पटना-सिटी में रात के दो बजे—जनवरी के महीने में—सभा हुई। जनता उस कड़ी सर्दी में, संध्या छः बजे से दो बजे रात तक, खुले मैदान में बैठी रही! जब मैं महाराष्ट्र का वह संगठन स्मरण करता हूँ तो वहाँ के लोगों की कार्य-दक्षता की सराहना किये बिना नहीं रह सकता। पर अपने सूबे की अव्यवस्था के लिए क्या कहूँ! जनता का उतनी देर इन्तजारी करना उसके उत्साह और धैर्य्य का सूचक था, तो अतिथि के पहुँचने में उतनी देर हमारी अव्यवहार्यता का सूचक था। पर मैंने देखा है कि इस देर के कारण में जनता का भी पूरा हाथ रहता है। जन-समूह भारी संख्या में जमा होता है। वह यदि पहले से अपने स्थान पर ठीक नियन्त्रण में बैठा रहे तो अतिथि को मंच तक पहुँचने में कठिनाई न हो और वहाँ पहुँचकर वह अपना काम भी जल्द से जल्द समाप्त कर सकता है। पर ऐसा होता नहीं। जनता की भीड़ अतिथि को घेर लेती है। उसका आगे बढ़ना कठिन हो जाता है। उसके बाद मंच तक पहुँचने में भी काफी समय लग जाता है। फिर उसके बाद भी कुछ समय जनता को बैठाने और शान्त करने में लगता है। कार्य्यक्रम बनाने में हम इन सबकी गुँजाइश नहीं रखते। यदि उन जगहों के लिए, जहाँ सभाएँ होनेवाली हैं, गुँजाइश

रखें भी, तो रास्ते में भीड़ गाड़ी रोक लेगी, और जो जगह कार्य्यक्रम में नहीं है वहाँ भी अतिथि को कुछ कहने के लिए मजबूर करेगी ! इसको तो हम न पहले से जानते हैं और न इसके लिए कार्यक्रम में समय ही देते हैं। इसलिए समय पर कहीं भी पहुँचना कठिन हो जाता है।

मैंने महाराष्ट्र की जनता में संयम भी देखा। उन्होंने कार्यक्रम के विरुद्ध कहीं भी रोका नहीं। न कहीं लोगों ने इस तरह की भीड़ ही की कि व्यर्थ समय नष्ट करना पड़े। इसका एक सुन्दर नमूना शोलापुर में देखने को मिला। वहाँ लोगों ने स्वागत के लिए बड़ी तैयारी की थी, सारा शहर सजाया था। वहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि गवर्नमेण्ट ने जलूस रोक दिया। कार्य्यकर्त्ताओं ने हुक्म तो मान लिया, पर सब लोगों को मुझे देख लेने का सुन्दर प्रबन्ध कर दिया। यह सब चन्द घंटों में ही कर दिया गया। लोगों को कह दिया गया कि सब अपने-अपने स्थान पर—सड़कों पर या दूकानों पर और मकानों में—ठहरे रहें। मुझे उन सभी रास्तों से वे ले जायँगे जिधर से जलूस निकलने की बात थी। इस तरह लोग मुझे देख भी सकेंगे और लोगों ने जो स्वागत की तैयारी की थी उसे मैं भी देख सकूँगा। लोगों ने प्रबन्धकों का आदेश अक्षरश: माना। मैं निवास-स्थान से एक खुली गाड़ी में, जो सुगन्धित फूलों से खूब सजायी गयी थी, चला। आहिस्ता-आहिस्ता उन सभी सड़कों से गुजरा जहाँ जलूस जानेवाला था। गाड़ी के साथ केवल एक दो और गाड़ियाँ थीं जो आगे और पीछे चलती थीं। सड़कें और मकानों तथा दूकानों के बरामदे लोगों से ठसाठस भरे हुए थे। पर कोई अपने स्थान से हमारी गाड़ी के पीछे या बगल में नहीं दौड़ा। गाड़ी धीरे-धीरे चली, इसलिए सभी मुझे अच्छी तरह देख सके। गाड़ी के धीरे चलने पर भी इस चक्कर में उससे कम समय लगा जितना जलूस में लगता। जहाँ लोग चाहते, गाड़ी रोक दी जाती, लोग हार इत्यादि से स्वागत कर लेते। इस तरह मुझे शहर देखने का भी अच्छा मौका मिला। साथ-साथ दौड़ती हुई भीड़ की गर्द से और कान फाड़नेवाले शोर-गुल से मैं एकबारगी बच गया। लोग भी दौड़-धूप के कष्ट से बच गये। गवर्नमेण्ट ने जलूस रोका था कि लोग स्वागत में शरीक न हो सकें और भीड़-भाड़ न हो। अच्छी सूझवाले कार्य्यकर्त्ताओं की प्रवीणता और जनता के संयम का फल यह हुआ कि लोगों पर जलूस से जितना असर पड़ता उससे कहीं अधिक असर पड़ा।

सभी जगहों में, हर हालत में, जहाँ गवर्नमेण्ट की रुकावट न हो वहाँ भी क्या ऐसा नहीं हो सकता है ? हो सकता है, और अवश्य होना भी चाहिए। हमारे काम करनेवालों का बहुत समय भीड़ के सँभालने में लग जाता है। कुछ मनचले लोग जलूस का प्रबन्ध बिना किसी अधिकार के अपने हाथों में ले लेते हैं। इसका नतीजा यह होता है कि कुछ लोग अतिथि की गाड़ी के साथ-साथ चलते हैं जिससे वह छुप जाता है और बगल में खड़े लोग उसे देख नहीं पाते। तब फिर न देख सकनेवाले भी कुछ दूर तक साथ हो जाते हैं। इस तरह जलूस में गड़बड़ी मच जाती है। इतने लोगों के एक साथ ही चलने से खूब धूल उड़ती है। साथ के लोग हमेशा नारे लगाते चलते हैं।

अतिथि की नाक गर्द से और कान नारे से फटने लगते हैं। वह यदि मेरे-जैसा दमा का मरीज हुआ तो उसे इसका नतीजा अगर उस दिन नहीं तो शीघ्र ही भोगना पड़ता है। जलूस में अधिक समय लगने के कारण वे लोग, जो अतिथि को देखने की इच्छा से सचमुच दूर से आते हैं, महरूम रह जाते हैं और आगे के कार्यक्रम में भी देर हो जाती है।

मैंने इसी यात्रा में कहीं क्वेटा में भयंकर भूकम्प की खबर सुनी। शुरू में कई दिनों तक वहाँ का पूरा हाल नहीं मिला। पर जब तफसील अखबारों में आने लगी तो मालूम हुआ कि वहाँ की स्थिति भी कुछ बिहार-जैसी ही होगी। मैंने एक रिलीफ-कमिटी बना दी और मैं ही उसका सभापति बना। रुपये जमा होने लगे। बिहार और क्वेटा में दो बातों का बड़ा अन्तर था। क्वेटा का भूकम्प क्वेटा शहर और आस-पास के लिए उतना ही प्रलयकारी था जितना बिहार का। पर उसका क्षेत्र बिहार-सा विस्तृत नहीं था। क्वेटा एक फौजी छावनी है। इसलिए वहाँ फौज मौजूद थी जो लोगों को मदद पहुँचाने के काम में लगायी गयी। पर इसी कारण वहाँ कोई भी गैर-सरकारी संस्था काम न कर सकी। अखबारों पर रोक लगा दी गई कि वे सरकारी मंजूरी के बिना कोई खबर न छापें! एक-दो पत्रों के साथ, खबर छाप देने के कारण, बहुत सख्त व्यवहार किया गया! बाहर से लोगों का वहाँ जाना एकदम बन्द कर दिया गया। इसलिए वहाँ की वास्तविक स्थिति क्या थी, इसका पता किसी को न लगा। जो खबर मिली वह केवल सरकारी विज्ञप्तियों द्वारा ही, दूसरा कोई चारा न था। इस बात को लेकर अखबारों में जोरों की चर्चा हुई। पर सुननेवाला कोई न था! फौज और सरकारी अफसरों ने जो मुनासिब समझा, किया। वहाँ के सरकारी कर्मचारियों और फौज के विरुद्ध बहुत तरह की शिकायतें, वहाँ से आये हुए लोगों की जबानी, सुनने में आयीं। पर इनको कोई प्रकाशित न कर सका और न इनकी सचाई के सम्बन्ध में किसी ने जाँच ही की। पर इसमें सन्देह नहीं कि इस प्रकार वहाँ अखबारों का जाना रोक देना और किसी भी बाहरी आदमी के वहाँ जाने की मनाही कर देना एक अजीब बात थी। इससे आम लोगों ने यह अर्थ निकाला कि शिकायतें सही हैं और उन्हीं पर परदा डालने के लिए यह कार्रवाई की गयी है। लोगों की इच्छा थी और बहुत संस्थाएँ तैयार थीं कि वहाँ जाकर पीड़ितों की सहायता करें; पर किसी को वहाँ जाने की इजाजत ही न मिली।

वहाँ बहुत-से लोग सिन्ध और पंजाब के थे। जो बचे उनमें बहुतेरे सिन्ध और पंजाब वापस आ गये। उन लोगों से ही तरह-तरह की खबरें फैलीं। बाहर के लोगों ने ऐसे निराश्रय लोगों की ही सहायता की। इनकी भी सहायता जरूरी थी; क्योंकि इनका सर्वस्व वहाँ खो गया था। बहुतेरों के कारबारी और कमानेवाले कुटुम्बी वहाँ मर गये थे। उनको पहले तो किसी ऐसे स्थान पर पहुँचा देना जरूरी था जहाँ वे रह सकें। परन्तु वैसे स्थान में पहुँचने पर भी उनको कोई ठिकाना मिलने की आशा नहीं थी। इसलिए उन्हें कहीं भी ले जाकर कुछ दिनों के लिए उनके रहने और खाने-पीने

का प्रबन्ध कर देना तथा फिर किसी रोजगार में उन्हें लगा देना जरूरी था। मेरी बहुत इच्छा थी कि मैं वहाँ जाऊँ और जो थोड़ा-बहुत अनुभव बिहार के भूकम्प में काम करने से मिला था उसका लाभ वहाँ के लोगों को देकर उनकी सहायता करूँ। पर गवर्नमेण्ट ने इजाजत नहीं दी। इस बात पर समाचार-पत्रों ने सरकार की निन्दा की; पर वह टस से मस न हुई।

मैं कराची चला गया जहाँ बहुतेरे लोग क्वेटा से भागकर आये थे। सिन्ध के उन शहरों में भी गया जहाँ ऐसे पीड़ित लोगों के आने की खबर मिली। हजारों शरणार्थियों से मुलाकात की। उनकी दुःख-गाथा सुनी। तब गवर्नमेण्ट को एक पत्र लिखा। उसमें उन सभी शिकायतों का जिक्र किया जो सुनने में आयी थीं। वहाँ जाने की इजाजत भी माँगी। इसका उत्तर उस समय के भारत-सरकार के गृहसचिव श्री हैलेट—युक्तप्रान्त के गवर्नर सर मौरिस हैलेट—ने दो सतरों के पत्र में दिया कि इजाजत नहीं मिल सकती और शिकायतों को भी गवर्नमेण्ट जाँच करने के योग्य नहीं समझती। इसलिए मुझे बाहर से ही सेवा-कार्य करना पड़ा। मैं क्वेटा तो नहीं गया। पर कराची, जैकोबाबाद, सक्खर, शिकारपुर आदि सिन्ध के शहरों में गया। डेरागाजी खाँ, मुलतान, लाहौर इत्यादि पंजाब के शहरों में भी गया जहाँ लोग भागकर वहाँ से आये थे। मैंने सभी जगहों में उनकी सहायता के लिए कमिटियाँ बना दीं। कमिटियों ने उनकी यथासाध्य सहायता की। क्वेटा-रिलीफ-कमिटी की अपील पर कई लाख रुपये भी आ गये जिनका वितरण किया गया। यहाँ सहायता का रूप बिहार से बिल्कुल भिन्न था। बिहार में की गई विविध सहायता का वर्णन पहले किया जा चुका है। यहाँ क्वेटा में उस स्थान पर तो हम पहुँचे ही नहीं जहाँ सहायता की जरूरत थी। इसलिए खास क्वेटा जाकर हम कुछ करने से मजबूर रहे। इधर ही कुछ रुपये शरणार्थियों को खिलाने-पिलाने और उनके दवादारू में खर्च हुए। पर अधिक खर्च उनको व्यक्तिगत रूप से कहीं फिर जीवन आरम्भ करने के साधन पहुँचाने में ही किया गया। इस काम का भार सिन्ध में श्री जयरामदास और पंजाब में डाक्टर गोपीचन्द भार्गव ने ही उठाया। उनके सहायक स्थानीय लोग थे जिन्होंने बड़ी तत्परता से काम किया।

ऊपर कहा गया है कि सफर में ही मुझे क्वेटा की खबर मिली। कुछ दिनों तक तो मैंने दौरा रोका नहीं, पर जब वहाँ की स्थिति की भयंकरता का ठीक पता चला तो मुझे दौरा रोककर उधर जाना पड़ा। उस समय मैं नागपुर में दौरा कर रहा था। उसके बाद ही, बरसात के कारण, दौरा रोकना था ही। इसलिए चन्द जगहों का दौरा ही रोकना पड़ा। बरसात शुरू हो गयी। मैं सिन्ध और पंजाब में चला गया। वहाँ बरसात बहुत कम होती है। जो होती भी है वह देर करके होती है। इसलिए कुछ हिस्सा जून का और पूरा जुलाई का महीना उन प्रान्तों में बीता। वहाँ के दौरे के कारण में और कार्य्यक्रम में, दोनों में, कुछ फर्क पड़ गया। पर काम जो राजनीतिक दौरे से होता है वह तो होता ही गया। जहाँ गया वहाँ पहले अस्पताल में जाकर क्वेटा के घायलों को देखता। फिर उनके लिए जो छावनी बनी होती वहाँ

जाता और आश्रयी लोगों से मिलता। वहाँ के लोगों से कुछ रुपये जमा करता। रिलीफ के काम की निगरानी भी करता और सार्वजनिक सभा में भाषण भी। सिन्ध और पश्चिम-पंजाब में तो केवल यही काम हुआ। पर जैसे-जैसे क्वेटा से दूर पूरब-पंजाब पहुँचता गया, दूसरा काम भी कुछ कर सका। इस तरह वे महीने, जिन्हें दूसरे सूबों के दौरे में बरसात के कारण नहीं बिता सकता था, सिन्ध और पंजाब में बिताये। वहीं जो कुछ हो सका, किया। इस यात्रा में भी, विशेषकर पंजाब में, बहुत करके मोटर पर ही घूमना पड़ा। इसलिए बीच और पूरब के पंजाब में कई जिलों के अन्दर घुसकर वहाँ की हालत अच्छी तरह देख सका।

१११—काँग्रेस का इतिहास और देशी राज्यों की समस्या

काँग्रेस का जन्म १८८५ के दिसम्बर में हुआ था, जब उसका पहला अधिवेशन बम्बई में किया गया था। १९३५ के दिसम्बर में उसके ५० वर्ष पूरे होते थे। इसलिए यह निश्चय किया गया था कि काँग्रेस की अर्धशताब्दी (स्वर्णजयन्ती) धूमधाम से मनायी जाय। इसके लिए कार्यक्रम बनाया गया था, जिसका जिक्र आगे आवेगा; पर एक बात यहाँ कह देना आवश्यक है। यद्यपि काँग्रेस के प्रायः ५० बरस बीत चुके थे तथापि काँग्रेस का कोई ठीक इतिहास, शुरू से आज तक का इकट्ठा लिखा, नहीं मिलता था। डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया ने एक इतिहास लिख रखा था, पर वह अभी छपा नहीं था। राय हुई कि इस जयन्ती के अवसर पर एक इतिहास भी प्रकाशित किया जाय। डाक्टर सीतारमैया से मैंने अनुरोध किया कि अपने लिखे इतिहास को वह पूरा कर दें और काँग्रेस की ओर से वह छपवाया जाय। उन्होंने इतिहास पूरा कर दिया। बरसात में, मैं और वह, वर्धा में बैठकर, उसे दुहरा गये। इसमें कई दिन लगे। जो कुछ बाकी रह गया था उसे मैं इलाहाबाद में, स्वराज-भवन में बैठकर, दुहरा गया।

वह इतिहास अँगरेजी में लिखा गया था। हमने यह भी निश्चय किया कि देशी भाषाओं में भी उसके संस्करण उसी समय निकाले जायँ। इसलिए हिन्दी, मराठी, कनाड़ी, तेलगू, तामिल, उर्दू प्रभृति भाषाओं में उसका अनुवाद छापने का भी प्रबन्ध कर दिया गया। अँगरेजी संस्करण के छापने के खर्च का भार तो अखिल भारतीय कमिटी ने लिया, क्योंकि हम जानते थे कि इसमें जो पैसे लगेंगे वे पुस्तक के बिक जाने पर वापस आ जायँगे। दूसरी देशी भाषाओं में अनुवाद कराने और उन्हें छापने का भार कुछ प्रकाशकों ने अथवा उन प्रान्तों की कमिटियों ने ले लिया जहाँ की भाषा में अनुवाद हुआ था। जिस दिन काँग्रेस की जयन्ती मनायी गयी उस दिन—जहाँ तक मुझे स्मरण है—अँगरेजी, हिन्दी, मराठी, कनाडी, तेलगू, तामिल और उर्दू के संस्करण छपकर तैयार हो गये थे। उस अवसर पर जो खरीदना चाहते थे उनको पुस्तक मिल सकी थी। यदि पुस्तकें कुछ और पहले छपकर तैयार हो सकी होतीं तो और भी बहुत प्रतियाँ बिक सकतीं। तोभी हिन्दी और मराठी के दो संस्करण

उन चन्द दिनों के अन्दर ही निकालने पड़े। अँगरेजी का भी कई हजार का संस्करण पूरा का पूरा बिक गया और कुछ दुबारा छापना पड़ा जिसकी कुछ प्रतियाँ पीछे तक बची रहीं। मुझे इस पुस्तक के दुहराने में काफी समय लगाना पड़ा था और इसके लिए एक भूमिका भी लिखनी पड़ी थी।

इस जयन्ती के अवसर पर काँग्रेस-सम्बन्धी छोटी-मोटी और भी बहुतेरी पुस्तकें छपीं। एक में काँग्रेस के सभी स्वीकृत प्रस्ताव इकट्ठे करके छापे गये थे। एक दूसरी में सभी नहीं, पर मुख्य-मुख्य प्रस्ताव छापे गये थे। मद्रास के श्री जे० ए० नटेशन् ने काँग्रेस के सभापतियों के भाषणों को इकट्ठा करके पहले ही छापा था। उन्होंने उसे १९३४ तक के भाषण के साथ छापकर पूरा कर दिया। इस तरह इस साल में काँग्रेस-संबंधी-साहित्य बहुत छपा और बिका।

बरसात की हवा मेरे स्वास्थ्य के अनुकूल नहीं होती। इस साल भी कुछ तबीयत खराब रही। पर कोई विशेष तकलीफ नहीं हुई। मेरा काम नहीं रुका। काम भी एक स्थान में बैठकर अधिक करना पड़ा। इसलिए दौड़-धूप के कारण जो व्यतिक्रम हुआ करता है वह नहीं हुआ। मैंने पहले से ही सोच रखा था कि बरसात के बाद दक्खिन भारत की यात्रा करूँगा। इसलिए मद्रास-प्रेसिडेंसी के तीन सूबों—तामिलनाड, केरल और आन्ध्र—के लिए यात्राक्रम बनाया गया। मैंने सोचा कि दशहरे के बाद यह यात्रा शुरू करूँगा। यात्रा शुरू करने के पहले मद्रास में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करने का निश्चय किया। वह एक विशेष कारण से आवश्यक हो गया था।

काँग्रेस की नीति शुरू से यह रही थी कि देशी रजवाड़ों और रियासतों के अन्दरूनी मामलों में वह हस्तक्षेप नहीं करेगी। पहले चाहे जिस कारण से यह नीति मानी गई हो, अब इसके सम्बन्ध में बहुत मतभेद होने लगा था। देशी रियासतों में प्रजातंत्र नहीं है। राजाओं का मनमाना ही चलता है। कहीं-कहीं अच्छे दीवान सलाहकार मिल गये तो राज्य-प्रबन्ध अच्छा हुआ और प्रजा का कुछ लाभ भी हुआ। पर कहीं भी राज्य-शासन में प्रजा को अधिकार नहीं था। ये रजवाड़े संख्या में छः-सात सौ हैं। इनमें कुछ बीघे के क्षेत्रफल और चन्द आदमियों की आबादीवाले छोटे राज्य से लेकर हजारों वर्गमील के विस्तार और करोड़ों की जनसंख्यावाले बड़े-बड़े राज्य तक हैं। इनके अधिकार भी इसी तरह भिन्न-भिन्न हैं। जो बड़े-बड़े राज्य हैं वे अन्दरूनी मामलों में प्रायः स्वतंत्र हैं। वे अपनी अदालत, कचहरी, थाना, पुलिस वगैरह सब कुछ रखते हैं। जो बहुत छोटे हैं, वे जमीन्दार वा जागीरदार के समान ही हैं। इनमें से कुछ का संबंध ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट के साथ सुलहनामे के जरिये बना हुआ है और बहुतेरों का संबंध सनद द्वारा निर्धारित किया गया है। आरंभ में चाहे जो संबंध रहा हो, अब तो ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट सबका सिरताज है। वह यद्यपि उनके प्रतिदिन के कारबार में प्रत्यक्ष रूप से हस्तक्षेप नहीं करती, तथापि ब्रिटिश-रेजिडेण्ट या दूसरा नियुक्त अफसर अपने हलकेवाले राज्य पर काफी असर रखता है। खासकर दीवान

और मंत्री की नियुक्ति में उसकी बात खूब चलती है। इस तरह, ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट, परोक्ष रीति से, उनके अन्दरूनी मामलों में भी, काफी दिलचस्पी लेती है।

किसी भी देशी राज्य में ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट की मर्जी के खिलाफ कोई महत्त्व-पूर्ण काम नहीं हो सकता। इसके अलावा जब कोई राजा या नवाब ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट को नाखुश कर देता है, चाहे वह जिस कारण से हो, तो उसकी खैर नहीं होती। उसे शीघ्र ही अपनी गद्दी छोड़नी पड़ती है। उसके लिए कोई न कोई कारण आसानी से सामने आ जाता है। यों तो कहा जाता है कि ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट ने अपने हाथों में इस बात का अधिकार रखा है कि यदि कोई राजा कुशासन करे, प्रजा पर जुल्म करे, तो वह पदच्युत किया जा सकता है। पर अधिकतर बात ऐसी हुई है कि ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट को नाखुश करने पर ही कुशासन की खोज की जाती है और कुशासन के नाम पर वह पदच्युत किया जाता है! यदि कुशासन के साथ-साथ कोई राजा ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट को खुश भी रख सका, तो वह निर्भय और निरंकुश है! पर यदि कुशासन के साथ वह ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट को भी नाखुश करता है तो उसके लिए फिर कहीं कोई जगह नहीं रह जाती। इस तरह प्रायः प्रतिवर्ष एक-आध राजा पदच्युत होते देखे जाते हैं। इतने पर भी इन राज्यों का दावा है कि वे अपना सम्बन्ध केवल ब्रिटिश ताज के साथ रखेंगे और वे स्वतंत्र हैं! यह दावा बिल्कुल खोखला है; क्योंकि जब भारतीयों के खिलाफ उनको खड़ा करना होता है तो ब्रिटिश-सरकार उनके साथ सुलहनामों की दुहाई देती है; पर जब उसे उनके साथ अपनी मनमानी करनी होती है तो वह जो चाहती है कर गुजरती है—उनकी तथा उनकी प्रजा की एक भी नहीं सुनती! ब्रिटिश-सरकार के साथ ऐसा सम्बन्ध रखते हुए भी इन राज्यों का दावा है कि अपने राज्य में वे जो चाहेंगे, करेंगे। इसलिए वे अपने यहाँ प्रजातंत्र को फटकने नहीं देना चाहते।

ब्रिटिश-भारत में पचास बरसों से अधिक काल से राजनीतिक सभाएँ होती रही हैं। यहाँ जनता में काफी जाग्रति आ गयी है। ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट को मजबूर होकर तथा ब्रिटिश राजनीति की प्रजातंत्रात्मक पद्धति के कारण भारत के लिए भी प्रजातंत्र स्थापित करने की घोषणा करनी पड़ी है। जो विधान समय-समय पर बनते गये हैं वे भारत को उसी ओर ले जाते रहे हैं। यह दूसरी बात है कि हम जहाँ तक जाना चाहते हैं वहाँ तक वह हमें नहीं पहुँचने देती है। तोभी इससे इनकार नहीं है कि यहाँ के विधान का रुख उस ओर है। ब्रिटिश-भारत और देशी रियासतें, दोनों इस तरह मिले-जुले हैं कि कोई उनमें मामूली तौर पर भेद नहीं देख सकता है। भेद शासन-पद्धति में है, पर दोनों की जनता में भेद नहीं है। वही लोग जो सरहद के एक तरफ रहते हैं, सरहद के दूसरी तरफ भी बसते हैं; एक ही बोली बोलते हैं; एक ही धर्म मानते हैं; एक ही संस्कृति रखते हैं; आपस में लेन-देन और शादी-ब्याह भी किया करते हैं। पर शासनप्रणाली में बहुत फर्क पड़ जाता है। इसलिए जब ब्रिटिश-भारत में जाग्रति हुई तो उसका असर देशी रजवाड़ों की प्रजा पर

पड़े बिना नहीं रह सकता था। उन लोगों में भी अपने राज्य-शासन में अधिकार पाने की इच्छा और अभिलाषा उत्पन्न हुई। वहाँ की नादिरशाही के कारण इस अधिकार की आवश्यकता भी खूब महसूस होने लगी। वहाँ भी लोगों ने कुछ संगठन शुरू किया। वे लोग भी ब्रिटिश-भारत के राजनीतिक आन्दोलन में भाग लेने लगे। इस तरह यहाँ के विचारों को अपने राज्यों के अन्दर अपने साथ ले जाने लगे। इसलिए काँग्रेस की पुरानी नीति कि वह देशी राज्यों के भीतरी मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी, लोगों को खटकने लगी।

नागपुर-काँग्रेस के समय, १९२० के दिसम्बर में, जब काँग्रेस ने नये सिरे से काँग्रेस का विधान बनाया, और भाषाओं के अनुसार काँग्रेसी सूबों का संगठन किया, तो उसने देशी रजवाड़ों की प्रजा को अपने पास के ब्रिटिश-भारतीय काँग्रेस-सूबों की कमिटियों में शरीक होने का अधिकार दे दिया। इस तरह उन सभी देशी रजवाड़ों की प्रजा को, जहाँ गुजराती बोली जाती है, गुजरात-प्रान्तीय काँग्रेस-कमिटी की मातहत कमिटियों में मेम्बर बनने और चुने जाने का अधिकार मिला। गुजरात-प्रान्तीय कमिटी को अखिल भारतीय-कमिटी के लिए अथवा काँग्रेस-अधिवेशन के लिए उतने ही सदस्य या प्रतिनिधि चुनने का अधिकार मिला जितने ब्रिटिश गुजरात और रजवाड़ोंवाले गुजरात (काठियावाड़) की आबादी के अनुपात से मिलना चाहिए था—अर्थात् गुजरात की आबादी केवल ब्रिटिश गुजरात की ही आबादी नहीं मानी गयी, उसके साथ रजवाड़ोंवाले गुजरात की भी आबादी जोड़ दी गयी, जहाँ गुजराती बोली जाती है। इस तरह, अजमेर एक छोटी जगह है जो ब्रिटिश-सरकार के अन्दर है। काँग्रेस-विधान में वह भी एक सूबा है और उसकी आबादी केवल उस छोटे हलके की आबादी नहीं मानी गयी, बल्कि उसके साथ पूरे राजपूताने की आबादी भी जोड़ दी गयी, जिससे अजमेर को बहुत अधिक प्रतिनिधि भेजने का अधिकार मिल गया।

इस नियम का अर्थ और कारण तो यह था कि काँग्रेस देशी राज्यों के भीतर काँग्रेस-कमिटियाँ स्थापित करना नहीं चाहती थी; क्योंकि यदि ऐसा किया जाय, और वहाँ के शासन से किसी बात में मतभेद हो जाय, अथवा वे काँग्रेस-कमिटियाँ स्थापित होने देना पसन्द न करें, तो उनके साथ मुठभेड़ हो सकती है; काँग्रेस इसे पसन्द नहीं करती थी। जब देशी रियासतों की जनता में जाग्रति होने लगी तो उनकी ओर से काँग्रेस में माँग हुई कि काँग्रेस अपनी नीति को बदल दे और रियासतों में भी प्रजातंत्र के लिए काँग्रेस उसी तरह से प्रयत्न करे जिस तरह वह ब्रिटिश-भारत के लिए करती है। उनकी इस माँग में न्याय था; क्योंकि दोनों की जनता में कुछ भेद नहीं था और काँग्रेस के लिए भी दोनों में अन्तर करना ठीक नहीं था। काँग्रेस दोनों में अन्तर करना चाहती भी नहीं थी, पर वह इस झगड़े को भी हाथ में लेकर अपनी कठिनाइयों को बढ़ाना नहीं चाहती थी। वह यह भी मानती थी कि यदि हम ब्रिटिश भारत में ब्रिटिश सरकार की शक्ति के साथ कुछ कर लेंगे और यहाँ प्रजातंत्र स्थापित कर सकेंगे, तो देशी राज्यों में भी यह आसानी से हो जायगा; क्योंकि वे

भी ब्रिटिश सरकार की शक्ति पर ही बहुत-कुछ अवलम्बित हैं। यह सब होते हुए भी इधर कई बरसों से इस विषय में रियासती प्रजा में काफी खलबली हो रही थी। इसके कई कारण थे।

गोलमेज-कान्फ्रेन्स में ब्रिटिश सरकार ने रजवाड़ों के प्रतिनिधियों को भी बुलाया था। वहाँ सारे भारत के लिए विधान बनाने का प्रयत्न किया गया था जिसके अन्दर ब्रिटिश भारत और देशी भारत दोनों का ही समावेश था। दोनों के लिए एक ही विधान बनाने का आरंभ तभी हो सका जब गोलमेज में उपस्थित राजाओं ने इसे मंजूर किया कि यदि संतोषप्रद विधान बना और उनके स्वत्व उसमें सुरक्षित रहे, तो वे भी उस विधान के अन्दर अपनी रियासतों को ला सकेंगे। १९३५ के विधान में जो केन्द्रीय असम्बली बननेवाली थी उसमें दो-तिहाई प्रतिनिधि ब्रिटिश भारत के और एक-तिहाई प्रतिनिधि देशी रियासतों के रखे जानेवाले थे। पर इसमें एक बहुत बड़ा अन्तर होगा कि ब्रिटिश भारत के प्रतिनिधि तो वहाँ की प्रजा द्वारा चुने जायँगे; पर रजवाड़ों के प्रतिनिधि वहाँ के राजा द्वारा नामजद किये जायँगे! यह बात वहाँ की प्रजा को तो खटकती ही थी, हम सबको भी बहुत बुरी लगती थी; क्योंकि हम समझते थे कि इस तरह से ब्रिटिश-सरकार कहने के लिए केन्द्रीय असम्बली को प्रतिनिधित्व का हक देती है; पर वास्तव में उसके एक-तिहाई सदस्यों की नियुक्ति में, रेजिडेण्टों की मार्फत, वह पूरा-पूरा हाथ बँटा सकेगी। यह भी एक विशेष कारण था जिससे काँग्रेस पर जोर दिया जाने लगा कि अब देशी रजवाड़ों के अन्दर भी काँग्रेस उसी तरह काम करे जिस तरह वह ब्रिटिश भारत के अन्दर जन-संगठन का काम करती है।

देशी राज्यों में कहीं-कहीं के शासकों ने आधुनिक वायु-मण्डल से प्रभावित होकर कुछ सुधार किया और कहीं-कहीं सिर्फ नाम के लिए बहुत कम अधिकारों के साथ धारा-सभाएँ भी कायम हो गयीं। पर उनमें से किसी में भी अभी तक उतने अधिकार नहीं मिले हैं जितने ब्रिटिश भारत में १९२० के विधान के अनुसार प्रान्तों को मिले थे। पर कहीं-कहीं—जैसे बड़ोदा, मैसूर, ट्रावंकोर आदि राज्यों में—शिक्षा-सम्बन्धी और कुछ दूसरे सुधार ऐसे हुए हैं जो किसी-किसी बात में ब्रिटिशराज्य से भी आगे हैं। पर प्रजा को शासन में अधिकार अभी तक वहाँ भी नहीं मिले हैं। इस तरह के सुधार भी अभी तक इने-गिने चन्द राज्यों में ही हो पाये हैं। प्रजा में, बहुत जगहों में, जाग्रति हो रही है। ब्रिटिश भारत तथा कुछ देशी राज्यों की हालत देखकर सब राज्यों की प्रजा अपनी-अपनी रियासतों में भी सुधार चाहती है।

१९३०-१९३४ के सत्याग्रह-आन्दोलन में देशी राज्यों की प्रजा ने बहुत जगहों में काफी भाग लिया था। गुजराती लोग और मारवाड़ी लोग व्यापार में बहुत आगे बढ़े हुए हैं। वे बम्बई, कलकत्ता आदि बड़े-बड़े नगरों में व्यापार के लिए जाते हैं। वहाँ जो आन्दोलन बढ़ा तो वे उससे अपने को अलग न रख सके। जब बम्बई और कलकत्ता-जैसे शहरों के गुजराती और मारवाड़ी वहाँ के सत्याग्रह में शरीक हुए, तो

वे अपनी रियासतों में भी स्वभावतः इस आन्दोलन को उन्हीं अधिकारों के लिए ले जाना चाहते थे जिनके लिए वे ब्रिटिश-भारत में, काँग्रेस में शरीक होकर, लड़ रहे थे। इस तरह काँग्रेस के अन्दर एक खासा बड़ा दल तैयार हो गया था जो काँग्रेस की नीति में परिवर्तन कराना चाहता था। काँग्रेस के अन्दर ब्रिटिश-भारत के रहने-वालों में भी बहुतेरे ऐसे थे जो ब्रिटिश-भारत और देशी भारत में कोई अन्तर देखना नहीं चाहते थे। इसलिए बम्बई-काँग्रेस के समय ही यह आवाज उठायी गयी कि काँग्रेस की नीति बदली जाय।

स्वयं महात्मा गांधी का जन्म एक देशी राज्य में हुआ था। वह काठिया-वाड़ के राज्यों से अच्छी तरह परिचित हैं। ब्रिटिश गुजरात देशी राज्यों से केवल घिरा ही हुआ नहीं है, बीच-बीच में दोनों के गाँव एक दूसरे से इस तरह मिले-जुले हैं कि यह कहना कठिन होता है कि कहाँ ब्रिटिश राज्य है और कहाँ किसी देशी राज्य का शासन है। इस तरह, उनको और सरदार बल्लभभाई पटेल को, दोनों को, देशी रजवाड़ों की स्थिति का पूरा अनुभव है। वहाँ की प्रजा से भी उनका काफी परिचय है। महात्माजी का विचार था कि यदि हम ब्रिटिश भारत से देशी रजवाड़ों में काम करना शुरू करेंगे तो वहाँ काम ठीक न हो सकेगा; वहाँ की प्रजा को अपने पैरों पर खड़ा होने का वह सुअवसर भी न मिलेगा जिससे उसमें आवश्यक शक्ति पैदा हो सके। इसलिए, वह देशी राज्यों की प्रजा के साथ काफी सहानुभूति रखते हुए भी यह नहीं चाहते थे कि काँग्रेस अपना काम रजवाड़ों में भी उसी तरह जारी करे जिस तरह वह ब्रिटिश भारत में करती है। हाँ, वहाँ की प्रजा इस तरह का आन्दोलन अवश्य कर सकती है और काँग्रेस की सहानुभूति उसके साथ अवश्य है तथा रहेगी—वह सहानुभूति, आवश्यकता और सुविधा के अनुसार, क्रियात्मक भी हो सकती है और होगी; पर वहाँ के आन्दोलन और संगठन का भार काँग्रेस अपने ऊपर अभी नहीं ले सकती।

महात्माजी ने अपने एक वक्तव्य में यह मत प्रकाशित कर दिया। पर उन लोगों को इससे संतोष न हुआ जो देशी राज्यों के मामले में काँग्रेस का सीधा हस्तक्षेप चाहते थे। मैंने काँग्रेस के सभापति की हैसियत से एक बयान निकाला, पर उससे भी लोग संतुष्ट न हुए। अन्त में, वर्किंग कमिटी ने भी एक वक्तव्य निकाला। इसलिए मद्रास में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करने का एक कारण यह भी था कि वर्किंग कमिटी के निश्चय पर वह विचार कर सके। अखिल भारतीय कमिटी ने वर्किंग कमिटी के वक्तव्य को मंजूर कर लिया और यह झगड़ा काँग्रेस के अन्दर चलता रहा; शायद अभी तक वह पूरी तरह से खत्म नहीं हुआ है।

पर इन सबका एक नतीजा वह है जो हर तरह से वांछनीय था और जो गांधीजी की नीति का उद्देश्य था। अब रजवाड़ों के अन्दर वहाँ की प्रजा ने अपनी संस्थाएँ स्थापित कर ली हैं। बहुतेरे रजवाड़ों में प्रजामण्डल या किसी दूसरे नाम की संस्थाएँ बन गयी हैं। अखिल भारतीय देशी राज्य-प्रजामण्डल भी बन गया है। इस

तरह वहाँ के लोग अपना आन्दोलन स्वयं चलाने लगे हैं। कांग्रेस भी, जहाँ आवश्यकता होगी, जरूर उनकी मदद करेगी। इस स्थिति तक पहुँचने में कई साल लग गये हैं। १९३५ में अभी बहुत जोरदार बहस चल रही थी। इसलिए नीति निर्धारित करके घोषणा करना आवश्यक था। यह मतभेद केवल राजनीतिक आन्दोलन के सम्बन्ध में ही था। जहाँ तक वहाँ की प्रजातंत्रात्मक शासन-पद्धति की बात थी, कांग्रेस भी उसे पूर्णरूपेण उसी तरह अपना उद्देश्य समझती थी जिस तरह वह ब्रिटिशभारत के लिए समझती है। इसकी घोषणा भी वह कर चुकी थी। रचनात्मक काम के सम्बन्ध में भी कोई मतभेद न था। कई रियासतों के अन्दर अछूतोद्धार-सम्बन्धी कार्य, और खादी की उत्पत्ति तथा उसके प्रचार का काम, कई वर्षों से खूब चलता रहा है; इसमें भी कोई मतभेद न था।

११२—दक्षिणभारत का दौरा

मैं वर्धा से मद्रास के लिए रवाना हुआ। वहाँ पर अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के बाद दक्षिणभारत की यात्रा आरम्भ की गई। यहाँ का भी कार्यक्रम वैसा ही था—दिन-भर मोटर पर चलना, रास्ते में स्थान-स्थान पर भाषण देते जाना, दोपहर को कहीं कुछ देर के लिए भोजन और विश्राम के वास्ते ठहर जाना, फिर रात के ९-१० बजे तक वही सिलसिला जारी रखना। प्रायः संध्या तक किसी बड़े स्थान पर पहुँच जाता था जहाँ रात को रहता और जहाँ संध्या के बाद ही सभा होती।

दक्षिणभारत की यात्रा में भाषा का प्रश्न उपस्थित हुआ। मध्यप्रदेश और प्रायः महाराष्ट्र तक में मैंने हिन्दी में ही भाषण किये। कहीं-कहीं, खासकर गाँवों में, श्री शंकराव देव मेरे भाषण का उलथा कर देते; पर अधिकांश जगहों में हिन्दी से ही काम चल जाता। पर तामिलनाड में यह बात नहीं थी। वहाँ तो मद्रास से ही मुझे अँगरेजी में भाषण करना पड़ा। मैं जो कुछ कहता उसके प्रत्येक वाक्य का भाषान्तर कोई स्थानीय सज्जन कर दिया करते।

दक्षिणभारत में हिन्दी-प्रचार का काम १९१८ से ही, महात्मा गांधीजी की प्रेरणा से, हो रहा है। तामिल-प्रदेश में भी हजारों स्त्री-पुरुष ऐसे हो गये हैं जो हिन्दी बोल और समझ लेते हैं। मैं जिस बड़े शहर में पहुँचता, हिन्दी-प्रचारक से मुलाकात हो जाती। कुछ तो वहाँ के ही निवासी थे जिन्होंने हिन्दी सीख ली है; कुछ उत्तर-भारत के रहनेवाले हैं जो बिहार तथा युक्तप्रान्त से जाकर वहाँ उस काम में लगे हुए हैं। वहाँ के लोगों का हिन्दी के प्रति प्रेम और श्रद्धा अवर्णनीय है। हिन्दी-प्रचार का काम विशेषकर पढ़े-लिखे लोगों में ही अधिक हुआ है। स्त्रियों ने इसमें उतना ही रस लिया है जितना पुरुषों ने। हिन्दी-पाठशालाओं में बूढ़े और बच्चे, स्त्रियाँ और पुरुष, एक साथ शिक्षा पाते हैं। जब मैं एक बार और दक्षिण में गया था तो मैंने देखा था कि एक ही सभा में पिता और पुत्र, माता और पुत्री को हिन्दी-परीक्षा पास

करने के प्रमाणपत्र एक साथ ही दिये गये थे। यह सिलसिला अभी तक जारी है। लाखों लोगों ने हिन्दी का ज्ञान प्राप्त कर लिया है। तोभी हिन्दी में भाषण करना अभी सम्भव न था; क्योंकि हजारों की संख्या में जो लोग जमा होते उनमें हिन्दी समझनेवाले थोड़े ही होते। अँगरेजी जाननेवालों की संख्या हिन्दी जाननेवालों से कहीं ज्यादा होती; तोभी सारी जनता में उनकी गणना भी बहुत थोड़ी ही होती। इसलिए, मैं चाहे अँगरेजी में बोलता या हिन्दी में, सभा में उपस्थित सौ आदमियों में प्रायः ९० ऐसे होंगे ही, जो न हिन्दी समझते होंगे न अँगरेजी, और उनके लिए भाषण का भाषान्तर हर हालत में आवश्यक होता।

मद्रास-जैसे बड़े शहर में शायद अँगरेजी जाननेवालों की संख्या गाँवों की अपेक्षा बहुत अधिक होती; पर वहाँ भी अँगरेजी में भाषण समझनेवालों की गिनती थोड़ी ही होगी। पर जो थोड़े अँगरेजी जाननेवाले होते उनके बराबर भी हिन्दी जाननेवाले न होते। किन्तु इससे भी अधिक बड़ा कारण अँगरेजी में भाषण करने का यह होता कि अँगरेजी से तामिल में उल्था करनेवाला आसानी से सभी जगहों में मिल जाता; किन्तु हिन्दी से तामिल में उल्था करनेवाला मिलना कठिन होता। इसलिए मुझे तामिलनाड में और केरलप्रदेश में अधिकतर अँगरेजी में ही भाषण करने पड़े। बहुत दिनों से अँगरेजी अधिक बोलने की आदत छूट गयी थी; पर दो-चार सभाओं के बाद ही फिर मुँह खुल गया और मैं अच्छी तरह से भाषण कर सका।

एक और चीज थी जिसका जिक्र कर देना अच्छा होगा। मद्रास में 'हिन्दू' नामक अँगरेजी दैनिक-पत्र बहुत पुराना और प्रतिष्ठित है। इसकी बिक्री बहुत काफी है। छपाई इत्यादि भी बहुत सुन्दर है। इसका सम्पादन और समाचार-संग्रह भी बहुत ही अच्छा होता है। यदि यह कहा जाय कि हिन्दुस्तान के सभी हिन्दुस्तानी पत्रों में, जो अँगरेजी में छपते हैं, यह सबसे अच्छा है तो अतिशयोक्ति न होगी। इसका मुझे अनुभव वहाँ पूरी तरह से हो गया। मैं जिस दिन मद्रास पहुँचा, स्टेशन पर लोगों ने स्वागत किया। वहीं एक छोटी-सी सभा हो गयी—छोटी इस माने में कि जो सभा समुद्र के किनारे होती उसके मुकाबले में वह छोटी ही थी। पर तोभी वहाँ हजारों आदमी मौजूद थे। वहाँ मुझे सम्मान के साथ उतार कर लोग ले गये। वहीं मुझे पहले-पहल उस प्रान्त में कुछ कहना पड़ा। वहाँ से जलूस निकला, जो शहर के कई हिस्सों से गुजरता हुआ मैलापुर गया, जहाँ मुझे ठहरना था। रास्ते में 'हिन्दू' का आफिस पड़ता था। जलूस जब 'हिन्दू'-आफिस के सामने पहुँचा, 'हिन्दू' का एक अंक, जो उन दिनों संध्या के समय निकला करता था, मेरे हाथ में दिया गया। उसमें मैंने स्टेशन के स्वागत का वर्णन और वहाँ के दृश्य का चित्र तथा अपना भाषण भी देख लिया। मैं जहाँ-कहीं गया, 'हिन्दू' का संवाद-दाता मौजूद मिला करता। वह मेरे पूरे भाषण को, जो अँगरेजी में ही हुआ करता था, पूरा-पूरा अपने पत्र के पास लिख भेजा करता। इस तरह तामिलनाड में और केरल में मेरे भाषणों की जैसी पूरी और अच्छी रिपोर्ट छपी वैसी और कहीं नहीं। 'हिन्दू' के संवाददाता सभी

जगहों में होते। ऐसा नहीं था कि कोई संवाददाता मेरे साथ-साथ सफर में फिरता रहा हो। स्थानीय संवाददाता भी शीघ्रलिपि जानते थे, अँगरेजी की अच्छी लियाकत रखते थे और अपने काम में इतने तत्पर होते थे कि मद्रास से किसी को मेरे साथ घूमने की जरूरत न हुई।

उन सभी स्थानों का नाम देना तो कठिन है जहाँ-जहाँ मैं गया। यदि मैं ऐसा कहूँ कि सारे सूबे में शायद ही कोई तालुका या शहर होगा जहाँ मैं नहीं गया, और एक तालुका से दूसरे तालुका तक के रास्ते में शायद ही कोई मुख्य स्थान होगा जहाँ मैं कुछ देर के लिए न ठहरा होऊँ, तो अत्युक्ति नहीं होगी। इस सफर में भी प्रायः सारा रास्ता मोटर पर ही कटा। कहीं-कहीं ऐसा हुआ कि एक रास्ते पर दो बार जाना पड़ा, तो वहाँ एक ओर से रेल पर सफर किया गया।

मैंने ऊपर कहा है कि मद्रास में ब्राह्मण-अब्राह्मण का झगड़ा कुछ वैसा ही है जैसा उत्तर-भारत में हिन्दू-मुसलमान का अथवा बंगाली-बिहारी का बिहार में। जस्टिस-पार्टी अब्राह्मणों का दल है। वहाँ मेरे जाने के एक वर्ष पहले ही वह केन्द्रीय असम्बली के चुनाव में काँग्रेस से हार चुकी थी। पर उसका असर तो अभी बहुत-कुछ बाक़ी था। इसलिए कहीं-कहीं इस तरह के सवाल किये जाते थे जिनसे यह टपकता था कि वे लोग काँग्रेस को ब्राह्मणों की संस्था समझते हैं। मैंने कई जगहों में साफ़-साफ कहा कि काँग्रेस में सबके लिए स्थान है और आज भी उसकी वर्किंग कमिटी में बहुत-से अब्राह्मण हैं। उदाहरणार्थ—महात्मा गांधी, सरदार बल्लभभाई पटेल, आचार्य कृपालानी, और अपना नाम भी मैंने लिया। मैंने देखा कि चाहे कारण जो हो, इस तरह के प्रचार का यह बुरा फल हुआ है कि काँग्रेस-जैसी संस्था के सम्बन्ध में भी लोगों में संदेह पैदा कर दिया गया है।

पर इससे भी अधिक एक दिलचस्प चीज और कहीं-कहीं देखने में आयी। वहाँ पर एक दल अब्राह्मणों का कायम हुआ था जो अपने को स्वाभिमानी दल (सेल्फ रिस्पेक्ट पार्टी) कहा करता था। उस दल की ओर से कहीं-कहीं कुछ लोग स्वागत के समय, काले झंडे दिखलाते और 'गो-बैक'—'लौट जाओ' का नारा लगाते। पर यह दल इतना छोटा होता कि केवल एक मजाक की चीज ही बन जाता। मुझे याद है कि एक सभा में कुछ लोग 'गो-बैक' के नारे लगाकर शोर मचा रहे थे। मैंने हँसकर सभा से पूछा कि कितने लोग चाहते हैं कि मैं वापस चला जाऊँ और कितने चाहते हैं कि मैं न जाऊँ। लोगों ने जो हाथ उठाकर अपनी राय बतलायी तो साफ हो गया कि 'गो-बैक' कहनेवालों की संख्या बहुत थोड़ी थी। मैंने भाषण इसी प्रश्न से शुरू किया—इतने अधिक लोग चाहते हैं कि मैं न जाऊँ और इतने थोड़े लोग चाहते हैं कि मैं जाऊँ, तो ऐसी अवस्था में क्या करूँ? मेरे प्रश्न करते ही सारी सभा में हँसी हुई। लोग इतना हँसे कि 'गो-बैक' कहनेवाले भी अपनी हँसी न रोक सके, वे भी उस हँसी में शरीक हो गये। उसके बाद सभा शान्ति से हुई।

एक दूसरे स्थान में रात को सभा हो रही थी। कुछ लोग शोर मचाने लगे।

पर सभा बहुत बड़ी थी। मुझ तक उस शोर का असर नहीं पहुँचा था। पर वहाँ के लोग उससे ऊब गये। पुलिसवाले भी गुस्से में आ गये। शोर मचानेवालों की संख्या बहुत थोड़ी थी। पुलिस ने उनको पकड़कर पास के ही एक मकान में बन्द कर दिया। जब तक सभा होती रही, उनको बन्द ही रखा। इसकी खबर मुझे पीछे लगी। पर मैंने यह देखा कि जो काले झंडे दिखलाने के लिए आते वे भी कुछ देर तक शोर-गुल मचाकर भाषण होने लगने पर चुप हो जाते और उसे ध्यान से सुनते। बीच-बीच में, विशेषकर जलूस और स्वागत के समय ही, वे अपनी शक्ति खर्च करते, मेरे भाषण के समय नहीं।

तामिलनाद, केरल और आन्ध्र प्रदेशों में बहुत जबरदस्त स्वागत हुआ। प्रचार-कार्य भी काफी हुआ। आन्ध्र में मैं सबसे पीछे आया। वहाँ एक नयी बात यह हुई कि मेरे पूरे सफर में हिन्दी-प्रचार-सभा के श्री सत्यनारायण साथ रहे। वह आन्ध्र के रहनेवाले हैं। पर हिन्दी का ज्ञान उनका इतना अच्छा है कि यदि वह भाषण देने लगें तो किसी हिन्दी-भाषी को यह संदेह न होगा कि वह हिन्दी-भाषी नहीं हैं। इसलिए वहाँ मेरे भाषणों के भाषान्तर का प्रश्न बहुत आसान हो गया। आन्ध्र में तामिल की अपेक्षा हिन्दी-प्रचार अधिक हुआ भी है। वहाँ मैंने यह भी देखा कि बहुत जगहों में लोग मेरा भाषण हिन्दी में ही सुनना चाहते थे। इसलिए, आन्ध्र में कुछ स्थानों को छोड़कर और सब जगहों में मैंने हिन्दी में ही भाषण किया। सत्यनारायणजी-जैसा भाषान्तरकार साथ में था। जहाँ तक मैं समझ सकता था, मेरे भावों का वह बहुत सुन्दर रीति से तेलगू में उल्था करके बता देते थे। बात तो यह है कि वहाँ भी सौ में ९० ऐसे ही लोग हुआ करते थे जो न हिन्दी जानते थे और न अँगरेजी; उनको तेलगू-उल्था के लिए हर-हालत में इन्तजार करना पड़ता था—चाहे मैं अँगरेजी में बोलूँ या हिन्दी में। यही बात तामिलनाद में भी थी। पर आन्ध्र के जो थोड़े अँगरेजी जाननेवाले होते वे भी या तो हिन्दी समझ लेते या तेलगू-भाषान्तर के लिए इन्तजार करने को तैयार होते। तामिलनाद के अँगरेजी जाननेवाले इतना सब्र नहीं कर सकते।

इस यात्रा से मुझे इस बात का पता चला कि हिन्दी-प्रचार-सभा ने कितने महत्त्व का काम किया है और वह काम राष्ट्र-निर्माण में कितना सहायक हुआ है तथा आगे कितना सहायक होगा। एक बात और देखने में आयी। मैं जहाँ गया वहाँ जो थोड़े मुसलमान मिले उनमें बहुतेरे टूटी-फूटी हिन्दी कुछ न कुछ समझ लेते थे। उनकी बोली तो शायद उस स्थान की ही बोली होगी, पर वे न मालूम किस तरह कुछ-कुछ ऐसी बोली समझ लेते जिसे मैं समझ सकता। वह न शुद्ध हिन्दी होती और न फारसी-मिश्रित शुद्ध उर्दू। वह तो होती एक ऐसी सरल भाषा जिसे प्रत्येक हिन्दी-भाषी समझ सकता है। इस भाषा को वहाँ के लोग 'मुसलमानी' कहा करते थे। इससे अनुमान हुआ कि इसे मुसलमान ही उत्तर-भारत से उस तरफ ले गये थे।

तामिलनाद की यात्रा में मैं दो स्थानों का उल्लेख जरूरी समझता हूँ। मैं

तिरुवन्नमलय में जब पहुँचा तो मालूम हुआ कि यहीं रमण महर्षि निवास करते हैं। यात्रा का क्रम इतना कड़ा था कि वहाँ मैं ठहर न सका। चन्द मिनटों के लिए उनका दर्शनमात्र कर सका। पर मेरी इच्छा हो गयी कि यदि हो सका तो कभी आकर अच्छी तरह से दर्शन करूँगा। कुछ दिनों के बाद श्री शंकरलाल बैंकर ने भी मुझे वहाँ जाने की सलाह दी। वह स्वयं वहाँ कई बार गये थे और उनके हृदय पर अच्छा प्रभाव पड़ा था। इसलिए कई बरसों के बाद एक बार सेठ जमनालालजी के साथ मैं वहाँ गया। कई दिनों तक वहाँ ठहरकर महर्षि के दर्शन करता रहा। दूसरी जगह, जिसका उल्लेख करना चाहता हूँ, चिदम्बरम् है। वहीं पर अन्नमलय-युनिवर्सिटी राजा अन्नमलय चेट्टियर के दान से बनी है। उन दिनों श्री श्रीनिवास शास्त्री वहाँ के वाइस-चांसलर थे। उन्होंने मुझे लिखा था कि जब मैं वहाँ जाऊँ तो उनके ही साथ ठहरूँ। मुझे यह बात बहुत पसन्द आयी। मैं दो दिनों तक उनका अतिथि रहा। यों तो श्री शास्त्रीजी से मेरा पहले का परिचय था; पर यह पहला ही अवसर था जब मैं उनके साथ एक-दो दिनों तक ठहरा। इसका असर यह हुआ कि मेरी श्रद्धा उनके प्रति और भी बढ़ गई।

केरल-प्रान्त में मैं कोचीन भी गया। वहाँ तातापुरम् में तेल के बड़े कारखाने को देखा। पर मैं ट्रावनकोर-राज्य में दो-एक स्थानों को ही देख सका। इनमें एक कन्याकुमारी है। वहाँ पर जाकर कुछ समय मैंने बिताया। हिन्दुस्तान का सबसे दक्षिणी अन्तरीप, जहाँ बंगाल-उपसागर और अरब-सागर मिलते हैं, भारत के लिए और संसार के लिए, एक विशेष महत्त्व रखता है। लोगों ने भारत के नक्शे पर भारत-माता को एक स्त्री के रूप में चित्रित दिखलाने का प्रयत्न किया है। चित्र में माता के चरण यहीं पड़ते हैं। मैंने सुना है कि जब स्वामी विवेकानन्द इस स्थान पर पहुँचे और यहाँ की चट्टानों को, जो माता के चरण हैं, देखा—जिनको समुद्र बराबर अपनी लहरों से धोता रहता है—तो वह अनायास वहाँ साष्टांग दण्डवत् करके माता के चरणों में गिर पड़े। मेरी भावना भी उस स्थान पर कुछ वैसी ही हुई। फिर जब मैंने यह सोचा कि कन्याकुमारी के सामने दक्खिन में दक्षिण-ध्रुव तक कोई दूसरा टापू अथवा जमीन का टुकड़ा नहीं मिलता, तो यह भावना और भी दृढ़ हुई कि प्रकृति ने यहीं पर एक प्रकार से पृथ्वी का अन्त किया है। जमीन उत्तर-ध्रुव से साइबीरिया, चीन, तिब्बत, हिमालय होते भारत को पार करके वहाँ (कन्याकुमारी) तक फैली है। वहीं उसका अन्त हो जाता है। उसके दक्खिन केवल जल ही जल है जो दक्षिणी-ध्रुव तक फैला हुआ है। वह सचमुच हमारे लिए एक अत्यन्त सुन्दर, मनोहर एवं पवित्र स्थान है जिसको देखकर कोई भारतवासी भारत की एकता और एकसूत्रता को भूल नहीं सकता।

कन्याकुमारी से उत्तर प्रायः श्री जगन्नाथपुरी तक मैं बराबर मोटर पर घूमा। यह तो भारत के पूर्वी हिस्से में समुद्र के किनारे-किनारे भ्रमण हुआ। उसी तरह, पश्चिमी किनारे पर भी कर्नाटक और महाराष्ट्र की यात्रा में, बँगलोर से लेकर गुजरात

तक, मोटर पर भ्रमण कर चुका था। बीच के शहरों में भी वहाँ के प्रायः सभी मुख्य स्थानों को देखने का अवसर मिला था। जो थोड़े स्थान ऐसे थे जहाँ नहीं जा सका था वहाँ पीछे गया। इस प्रकार, केवल हैदराबाद-राज्य के अन्दर के स्थानों को छोड़कर, मैं विन्ध्य के दक्खिन सारे भारत का पूरा दौरा कर चुका हूँ।

कार्यक्रम ऐसा बना था कि दिसम्बर की २० या २१ तारीख तक मैं प्रायः तीन महीनों में सफ़र समाप्त करके वर्धा पहुँच जाऊँ और वहाँ से बम्बई जाऊँ जहाँ काँग्रेस की जयन्ती मनाने का प्रबन्ध किया गया था। मैं आन्ध्र में सबसे पीछे विशाखापट्टन (विजगापट्टम्) में पहुँचा। वहाँ से ट्रेन पर सवार होकर रायपुर आया। रायपुर में, श्री पंडित रविशंकर शुक्लजी के आग्रह से, वहाँ की सेवा-समिति के उत्सव में शरीक होने का, पहले से ही वचन दे चुका था। उस उत्सव को देखकर वर्धा गया। वर्धा में एक या दो दिन ठहरकर बम्बई चला गया।

११३—काँग्रेस की स्वर्ण-जयन्ती

काँग्रेस-जयन्ती के अवसर पर सारे देश में उत्सव मनाने का प्रबन्ध किया गया था। मुख्य उत्सव बम्बई में ठीक उसी स्थान पर होनेवाला था जहाँ काँग्रेस का पहला अधिवेशन सन् १८८५ के दिसम्बर में हुआ था। बम्बई की प्रान्तीय कमिटी ने इस उत्सव के लिए समुचित प्रबन्ध किया था। जब मैं बम्बई पहुँचा, मुझे यह मालूम हुआ कि सर दिनशा वाचा बहुत बीमार हैं। उस समय शायद वही एकमात्र जीवित व्यक्ति थे, जिन्होंने काँग्रेस के पहले अधिवेशन में भाग लिया था। पंडित मदनमोहन मालवीयजी शायद एक या दो वर्ष बाद से काँग्रेस में आने लगे। सर दिनशा वाचा केवल सबसे पुराने काँग्रेसी ही नहीं थे, वह सबसे बूढ़े काँग्रेस के सभापति भी थे जो उस समय जीवित थे। इसलिए मैंने अपना कर्त्तव्य समझा कि उत्सव का कार्यारम्भ उनका दर्शन करके और उनके आशीर्वाद के साथ करूँ। इधर कई बरसों से उनका काँग्रेस के साथ बहुत गहरा मतभेद हो गया था। वह काँग्रेस से बहुत दूर हो गये थे। तो भी उनकी सेवाओं को, काँग्रेस के इतिहास से परिचय रखनेवाला, कोई भी भारतीय भूल नहीं सकता। उनके दर्शन मैंने प्रायः उनकी बेहोशी की हालत में किये, पर यह भी मेरे लिए सौभाग्य की बात थी।

जयन्ती का उत्सव बड़े समारोह से बम्बई में हुआ। भारत के प्रायः सभी शहरों में वह बहुत धूमधाम से मनाया गया। लोगों ने दिवाली मनायी, बड़ी-बड़ी सभाएँ कीं, काँग्रेस के इतिहास-सम्बन्धी भाषण किये। एक विशेष वक्तव्य जो निकाला गया था उसे पढ़कर सर्वत्र लोगों को बतलाया गया। मैंने और कहीं के उत्सव को तो नहीं देखा, पर उसके वर्णन पढ़े। पटने लौटने पर पटने में मनाये गये उत्सव का हाल साथियों से सुना। शायद इस तरह का उत्सव इसके पहले कभी सारे देश में जनता ने इतने उत्साह से नहीं मनाया था। उसी साल ब्रिटिश बादशाह पंचम जार्ज के राज्य के २५ वर्ष पूरे हुए थे, जिसके लिए रजतजयन्ती मनायी गयी थी। लोगों के दिल में

शायद यह भी स्पर्धा थी कि राष्ट्रीय महासभा की जयन्ती भी शान-शौकत से मनायी जाय। इस भावना को उन्होंने इस उत्सव के अवसर पर कार्य-रूप में प्रदर्शित किया।

इस सफर में मेरे भाषणों का लक्ष्य और तात्पर्य एक ही था—काँग्रेस के संगठन को मजबूत बनाना चाहिए। जहाँ तक मैं समझ सका, इस दौरे का असर अच्छा ही पड़ा; क्योंकि जनता चाहती थी कि १९३०-३४ के सत्याग्रह के बाद, जब गवर्नमेण्ट ने अपने जानते काँग्रेस को खूब दबा डाला था, उसे यह दिखलाने का मौका मिले कि वह अब भी काँग्रेस के प्रति वही प्रेम और श्रद्धा रखती है। मैंने अपने सभापतित्व-काल को इस तरह बहुत दौड़-धूप करके बिताया। शायद मेरे पहले किसी सभापति ने इतना लम्बा-चौड़ा सफर नहीं किया था। पंडित जवाहरलालजी ने, जो मेरे बाद ही फिर दूसरी बार सभापति हुए, इस सिलसिले को जारी रखा। अपनी जबरदस्त शारीरिक शक्ति से उन्होंने इससे भी ज्यादा कठिन यात्रा की।

१९२९ के दिसम्बर में लाहौर-काँग्रेस में निश्चय हुआ था कि काँग्रेस का अधिवेशन फरवरी या मार्च में हुआ करे। इसी निश्चय के अनुसार कराची का अधिवेशन १९३० के दिसम्बर में न होकर १९३१ के मार्च में ही होना था। १९३० के दिसम्बर में सत्याग्रह चल रहा था। इसलिए उस समय अधिवेशन नहीं हो सकता था। पर नियमानुकूल उसे १९३१ के मार्च में ही होना था और वह कराची में हुआ भी। १९३२-३३ में सत्याग्रह के कारण बाजाब्ता अधिवेशन नहीं हुआ। पर पुलिस की आज्ञा के विरुद्ध, दिल्ली और कलकत्ते में, नियमानुसार समय पर, लाठियों के प्रहारों के बीच, अधिवेशन हुए। १९३४ में बाजाब्ता अधिवेशन हुआ, पर मार्च में नहीं; क्योंकि उस समय काँग्रेस गैर-कानूनी संस्था थी। वह अधिवेशन अक्टूबर में बम्बई में हुआ। अब १९३५ के मार्च में यदि अधिवेशन होता तो वह पिछले अधिवेशन के पाँच महीने बाद ही पड़ता। इसलिए निश्चय किया गया कि १९३५ के बाद ही अधिवेशन किया जाय—१९३६ के फरवरी-मार्च में। पंडित जवाहरलालजी बम्बई-अधिवेशन के समय जेल में थे। बाद जेल से छूटने पर, श्रीमती कमला नेहरू की बीमारी के कारण, वह उनके पास योरप चले गये, जहाँ देवीजी का देहान्त हो गया। पंडित जवाहरलालजी ही काँग्रेस के सभापति चुने गये थे। इसलिए उनके वापस आ जाने पर और आ जाने के बाद देश की परस्थिति समझ लेने पर ही अधिवेशन हो सकता था। इसलिए दूसरा अधिवेशन १९३६ के अप्रैल में लखनऊ में हुआ। १९३५ के अन्त तक मैं सफर और जयन्ती में लगा रहा। उसके बाद सर्दी के कारण कुछ अस्वस्थ भी हो गया। कुछ आराम कर लेना भी आवश्यक था। इसलिए ज्यादा लम्बा सफर नहीं कर सका।

जिस दिन पंडित जवाहरलालजी योरप से कमलाजी का 'फूल', लेकर हवाई जहाज से उतरे, मैं उनके स्वागतार्थ प्रयाग गया। वह शोक का दिन था; क्योंकि कमलाजी-जैसी निपुण काम करनेवाली और देश के साथ प्रेम रखनेवाली स्त्री विरल ही मिलती है। इस पर उनका विदेश में देहान्त होना और जवाहरलालजी का उनकी राख के

साथ वापस आना—सभी दुःख को बढ़ानेवाली बातें थीं। बड़े समारोह के साथ उनका अस्थि-विसर्जन त्रिवेणी-संगम पर किया गया। इसके बाद से ही लखनऊ-काँग्रेस की तैयारी होने लगी।

एक प्रश्न जवाहरलालजी के सभापतित्व के सम्बन्ध में उठा था। उस समय तक काँग्रेस का एक अलिखित नियम माना जाता था कि जिस सूबे में सालाना अधिवेशन हो उस सूबे का आदमी सभापति नहीं हो सकता। जवाहरलालजी युक्तप्रान्त के रहनेवाले ही नहीं थे, वहाँ की प्रान्तीय कमिटी के प्रधान या सभापति नहीं तो प्रधान काम करनेवालों में जरूर थे। इसलिए कुछ लोगों ने यह प्रश्न उठाया कि वह सभापति हो सकते हैं या नहीं। पर गांधीजी ने राय दी कि ऐसी कोई बात विधान में नहीं है और इसकी कोई आवश्यकता भी नहीं है; इसलिए पंडितजी के सभापति चुने जाने में कोई बाधा नहीं होनी चाहिए।

११४—लखनऊ-काँग्रेस

लखनऊ के अधिवेशन के पहले वर्किंग कमिटी की एक बैठक दिल्ली में हुई जिसमें महात्माजी भी आये। जवाहरलालजी बहुत दिनों के बाद लौटे थे और विलायत जाने के पहले भी बहुत दिनों से जेल में थे। इसलिए उनकी इच्छा थी और यह मुनासिब भी था कि भावी सभापति वर्किंग कमिटी से, काँग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले ही, मिल लें और अधिवेशन के विचारार्थ विषयों पर भी विचार-विनिमय कर लें। जवाहरलालजी के विचार पहले से ही साम्यवाद के पक्ष में हैं और योरप की यात्रा के बाद उनके विचार अधिक पुष्ट हो गये थे। हम सब उस विषय को न तो बहुत समझते थे और न मानते थे। देश में काँग्रेस के अन्दर सोशलिस्ट-पार्टी का जन्म हो ही गया था। पंडितजी यद्यपि उस पार्टी में शरीक नहीं हुए तथापि बहुत से विषयों में एक विचार होने के कारण उनकी राय उस पार्टी के साथ मिल जाती थी। दिल्ली की बैठक में हमने देखा कि कई विषयों पर उनका और मेरा मतभेद है। यह मतभेद कार्यक्रम के सम्बन्ध में उतना नहीं होता जितना दृष्टिकोण के सम्बन्ध में। हम दोनों यदि किसी कार्यक्रम के सम्बन्ध में एक राय भी रखते तो उस नतीजे पर हम दो रास्ते से पहुँचे होते। यदि एक ही बात को कहना भी चाहते तो उसे दो प्रकार की भाषा में कहते। यदि एक ही रास्ते पर चलना भी चाहते तो दो प्रकार की सवारियों पर चलना चाहते। यदि एक ही प्रस्ताव करना चाहते तो उसकी अलग-अलग भूमिका बनाते। इतनी भूमिका यहाँ दे देना आवश्यक है; क्योंकि पीछे चलकर वह मतभेद प्रकट हो गया और लखनऊ-काँग्रेस में तो सर्वथा स्पष्ट हो गया।

लखनऊ-अधिवेशन के कई दिन पहले प्रयाग में वर्किंग कमिटी की बैठक हुई। अनुभव से देखा गया है कि वर्किंग कमिटी में काँग्रेस के लिए प्रस्तावों के तैयार करने में काफी समय लगता है। शुरू में तो हम सुस्ती से काम करते हैं, अर्थात् छोटी-मोटी बातों में भी अधिक समय लगाते हैं; पर जब विषय-निर्वाचिनी की बैठक का

समय पहुँच जाता है तो जल्दी-जल्दी उसके लिए प्रस्ताव तैयार करने पड़ते हैं। इसका नतीजा होता है कि सब प्रस्ताव ठीक समय पर तैयार नहीं हो पाते या ठीक समय से छपकर सदस्यों में बाँटे नहीं जा सकते और इस बात की उनकी शिकायत रह जाती है। इसीलिए लखनऊ-काँग्रेस के कुछ पहले सोचा गया कि वर्किंग कमिटी की बैठक कुछ पहले ही हो और प्रस्ताव तैयार करके प्रकाशित कर दे अथवा छपवा ले ताकि विषय-निर्वाचिनी के समय जल्दी न करना पड़े। हाँ, अगर कोई नयी बात पैदा हो जाय अथवा कोई ऐसा विषय उपस्थित हो जाय जिस पर विचार करना आवश्यक है तो उस पर उस समय भी विचार किया जा सकता है। इसलिए, यद्यपि नियमावली में कोई ऐसी बात नहीं थी तथापि यह बैठक कई दिन पूर्व ही की गई। वहीं कुछ प्रस्ताव तैयार किये गये और कुछ लखनऊ के लिए छोड़ रखे गये।

लखनऊ-अधिवेशन में, जैसा ऊपर कहा गया है, मतभेद रहा। यदि कोई यह कहे कि किस विषय में मतभेद रहा, तो शायद इसे उस रीति से बता देना कठिन है; पर जैसा ऊपर कहा गया है, मतभेद अधिकतर दृष्टिकोण का ही था। ऊपर कहा जा चुका है कि बम्बई-काँग्रेस के समय सुधार-सम्बन्धी ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के प्रस्ताव मालूम हो चुके थे, यद्यपि अभी पूरा कानून नहीं बना था। बम्बई-काँग्रेस ने उसे नामंजूर कर दिया था। मेरे दक्षिण-भारत के दौरे में मुझसे इस सम्बन्ध के प्रश्न किये जाते—विशेषकर यह कि काँग्रेस नये विधान के अनुसार मंत्रिपद ग्रहण करेगी या नहीं। काँग्रेस के अन्दर एक दल पैदा हो गया था जो यह कहा करता था कि काँग्रेस को मंत्रिपद ग्रहण करना चाहिए, दूसरा दल इसके विरुद्ध था। विरोधियों में सबसे अधिक बोलने-वाले सोशलिस्ट लोग ही थे। काँग्रेस ने यद्यपि विधान को नामंजूर कर दिया था तथापि उसने इस बात का निश्चय नहीं किया था कि वह अपनी नामंजूरी को किस तरह व्यक्त करेगी। काँग्रेस के नामंजूर कर देने से वह कानून रद नहीं हो जाता था। इसलिए, उसके अनुसार जो चुनाव होंगे उनमें काँग्रेस भाग लेगी वा नहीं; चुनाव का बहिष्कार उस तरह करेगी या नहीं जिस तरह उसने १९२० के चुनाव का किया था। यदि चुनाव में भाग लेगी तो उसके बाद वह क्या करेगी? यदि काँग्रेस को बहुमत मिल जाय तो उस हालत में क्या वह स्वयं मंत्रिमंडल न बनाकर दूसरों को भी बनाने न देगी? अथवा, वह किसी दूसरे प्रकार से अड़ंगा-नीति द्वारा उस विधान को बेकार बनावेगी। उसकी नीति का सफल होना या न होना बहुत करके उसके सदस्यों के बहुमत से चुने जाने पर ही निर्भर था; इसलिए चुनाव के पहले कुछ भी निश्चित रूप से तय कर देना सम्भव और उचित नहीं था। अतः मुझसे जब कोई प्रश्न करता तो मुझे यही कहना पड़ता कि काँग्रेस ने विधान को नामंजूर कर दिया है, पर वह नामंजूरी किस तरह कार्यान्वित होगी, इसका निश्चय अभी नहीं हुआ है, समय आने पर ही निश्चय किया जायगा। इस उत्तर के लोग तरह-तरह के अर्थ लगाते। पर बात यह थी कि काँग्रेस ने इससे ज्यादा अभी तक निश्चय किया ही नहीं था। यदि मैं सभापति की

हैसियत से कुछ कह देता तो अभी से आपस का मतभेद इस विषय पर केन्द्रित हो जाता—दिन-रात यही बहस चलने लगती।

एक दूसरा प्रश्न था जिसके सम्बन्ध में यद्यपि मतभेद मौलिक नहीं था तथापि जब-तब सामने आ जाता था। यूरोप में युद्ध का वातावरण पैदा हो गया था इटली ने अबीसीनिया पर चढ़ाई करके उसे दखल करने का प्रयत्न आरम्भ कर दिया था। इँगलैंड ऊपर से शायद इटली की उस कार्रवाई को नापसंदीदा बताता था—अथवा इँगलैंड के कुछ लोग इसकी निन्दा करते थे। पर वह सचमुच इस बात को लेकर इटली से भिड़ना नहीं चाहता था। राष्ट्रसंघ (League of Nations) ने अबीसीनिया के साथ सहानुभूति दिखलाई; पर इससे कुछ अधिक नहीं किया। कुछ दिनों तक इँगलैंड ने इटली पर आर्थिक दबाव डालने का भी प्रयत्न किया। पर वह भी कुछ ऐसे ही वैसे। हमारे काँग्रेसी सोशलिस्ट चाहते थे कि हम इस प्रकार का प्रस्ताव पास करें कि भारतवर्ष किसी लड़ाई में अँगरेजों की मदद नहीं करेगा और साथ ही वे अबीसीनिया के साथ हमदर्दी भी दिखलाना चाहते थे। जहाँ तक सताये हुए मुल्क के साथ हमदर्दी का सवाल था, किसी प्रकार का मतभेद नहीं था; पर और तरह से इस प्रकार के अन्तरराष्ट्रीय विषय पर अपनी राय दे देना मुझे काँग्रेस के लिए क़बल-अज़वक्त मालूम पड़ता था। पर इसका अर्थ यह नहीं था कि मैं ब्रिटिश सरकार को लड़ाई में मदद देने के पक्ष में था। इसलिए यदि ऐसे विषय पर कोई प्रस्ताव मुझे बनाना पड़ता तो मैं केवल सहानुभूतिसूचक प्रस्ताव बनाता। पर दूसरे पक्ष के लोग सहानुभूति के साथ युद्ध-विरोधी राय भी प्रकट करना चाहते थे।

जो हो, पं० जवाहरलालजी की राय हमारी राय से नहीं मिलती थी। पर अन्तर्राष्ट्रीय विषयों में हम मानते थे कि वह हमसे कहीं अधिक जानकारी रखते हैं और उनके विचारों की हम बहुत कद्र करते थे। इसलिए, उनकी ही बात मान लेते। मिनिस्ट्री के सम्बन्ध में भी उनकी राय स्पष्ट थी कि वह मिनिस्ट्री में काँग्रेस की शिरकत नहीं चाहते थे। हमने अभी तक अपनी राय पक्की नहीं की थी। हम सचमुच इस प्रश्न को उस समय तक उठाना नहीं चाहते थे जब तक हमारे सदस्यों की संख्या और शक्ति का ठीक पता न लग जाय। जवाहरलालजी ने अपने विचारों को जाहिर कर दिया—यद्यपि उसके साथ-साथ उन्होंने यह भी कह दिया कि ये उनके निजी विचार हैं, काँग्रेस ने अभी तक कोई निश्चय नहीं किया है।

आज यह कहना मुश्किल है कि लखनऊ में किन बातों पर मतभेद हुआ। पर इतना निश्चय है कि कई विषयों पर हुआ और कमिटी में कई बातों में बहुमत हमारे साथ रहा। पर जैसा ऊपर कह चुका हूँ, वे कोई मौलिक बातें नहीं थीं जिनके कारण हम दोनों का अलग हो जाना अनिवार्य्य हो जाय—जैसा गया में स्वराज्य-पार्टी और अपरिवर्तनवादियों के लिए हो गया था, विशेषकर कार्यक्रम में कोई मौलिक भेद नहीं था। हम लोग जवाहरलालजी की कार्यदक्षता, त्याग, परिश्रम और विचारगाम्भीर्य के कायल थे। उनसे अलग होना हम हरगिज किसी तरह पसन्द नहीं करते थे। वह भी

समझते थे कि सूबों में काम करनेवालों और असर रखनेवालों में शायद हम लोग ज्यादा जबरदस्त थे, इसलिए वह भी हमको अलग करना या हमसे अलग होना नहीं चाहते थे। बात यह थी कि दोनों पक्ष परस्पर पूरा सम्मान का भाव रखते थे और जानते थे कि देश के लिए आपस की जुदाई हितकर नहीं होगी। शायद हम यह भी समझते थे कि हम एक दूसरे की त्रुटियों को पूरा करते थे। हम यह भी समझते थे कि चाहे हममें जितना भी मतभेद हो, देश यह नहीं बरदाश्त करेगा कि हम एक दूसरे से अलग हो जायँ। यहाँ पर मैंने एक ही जगह कितनी बातें कह दीं! इससे यह न समझना चाहिए कि उसी समय कोई दो दल बन गये थे। दो विचार-धाराएँ मात्र थीं---किसी ने कोई दलबन्दी नहीं की थी और न नये मतभेद उसी दिन इतने स्पष्ट हो गये थे कि हमारे लिए अलग होने की बात उठ खड़ी हुई हो। एक तरह से यह विचार-भेद की धारा भीतर-भीतर तब से आज तक चली आ रही है। गांधीजी उस समय लखनऊ-काँग्रेस में आये तो जरूर थे, पर उन्होंने इस बहस में बहुत भाग नहीं लिया और जो कुछ हमने किया, अपनी समझ के अनुसार ही किया। पीछे जब यह बहुत बड़ा लोकव्यापी युद्ध खड़ा हुआ तो बातों में गांधीजी के साथ भी मतभेद मालूम हो गया।

काँग्रेस के बाद जब वर्किंग कमिटी के संगठन का समय आया तो जवाहरलालजी को कुछ कठिनाई अवश्य हुई। वह नये विचारवाले लोगों को उसमें लेना चाहते थे। हम भी इसके विरोधी नहीं थे; पर हम यह अवश्य चाहते थे कि यदि हम वर्किंग कमिटी में रहें तो उसका संगठन ऐसा हो कि हमारी बातें भी सुनी जायँ। महात्माजी ने इस विषय में जवाहरलालजी को राय दी कि वह जिनको उचित समझें, समाजवादियों में से वर्किंग कमिटी में ले लें और शायद उन्होंने उनके नाम भी बताये। हमने भी इसे मान लिया। वर्किंग कमिटी बनी जिसमें दो प्रकार की विचार-धारा चलती, यद्यपि अभी कार्यक्रम में कोई अन्तर नहीं था। समाजवादियों से मत का जो भी भेद हो उसके कारण काम में बाधा नहीं आती थी, पर उनके प्रचार की रीति कुछ ऐसी थी कि हमें वह अच्छी नहीं लगती थी। बहुत बातों में जो नीति गांधीजी ने काँग्रेस में १९२० से ही चला रखी थी उसका वे प्रत्यक्ष और परोक्ष रीति से विरोध करते और हम पर यह असर होता कि वे उस सारे कार्यक्रम और नीति को तहस-नहस करना चाहते हैं जिसको गांधीजी ने चलाया था---जिस पर काँग्रेस काम करती आ रही थी और जिस पर चलकर वह देश को इतना आगे ले जा चुकी थी। इस विषय में, जहाँ तक मैं समझता हूँ, जवाहरलालजी भी उन लोगों के साथ सहमत नहीं थे; क्योंकि बहुत-सी बातों में गांधीजी से मतभेद होने पर भी वह उनके नेतृत्व के महत्त्व को जानते और मानते थे---उसे किसी तरह कमजोर करना नहीं चाहते थे। यह बात दूसरों में नहीं थी। यही कारण था कि मतभेद होते हुए भी हम जवाहरलालजी के साथ काम कर सकते थे और दूसरों के साथ चलना कठिन हो जाता था। जो हो, काँग्रेस का अधिवेशन समाप्त हुआ। सब लोग अपने-अपने स्थान के लिए रवाना हुए।

११५—नागपुर का हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन और राष्ट्रभाषा का प्रश्न

मुझे लखनऊ से ही नागपुर जाना था। वहाँ अखिल भारतीय हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन होनेवाला था जिसका मैं सभापति निर्वाचित हुआ था और वह ठीक काँग्रेस के बाद तीन-चार दिनों के अन्दर ही होनेवाला था। इसलिए मैं उसी गाड़ी से गया जिससे महात्माजी गये। उनके साथ ही वर्धा गया और वहाँ से सम्मेलन के दिन नागपुर आया।

वर्धा में बैठकर मैंने भाषण लिखा। कुछ दिनों से इस बात पर बहस चल रही थी कि हिन्दी की शब्दावली में विदेशी भाषाओं के शब्दों को लेना चाहिए या नहीं। सच पूछिए तो प्रश्न को यह रूप देना भी उचित नहीं है; क्योंकि कोई भी हिन्दी का लेखक—चाहे वह कितना भी विदेशी शब्दों का विरोधी क्यों न हो—सभी विदेशी शब्दों का बहिष्कार नहीं करना चाहता, और न अपने लेखों अथवा भाषणों में उनका बहिष्कार करता है। यह झगड़ा हिन्दी और उर्दू का है। हिन्दी में, जैसा उसका रूप आज हो गया है और होता जा रहा है, संस्कृत के शब्दों का बाहुल्य होता है। उर्दू में, जिस तरह वह आज बढ़ और फूल फल रही है, अरबी और फारसी शब्दों की बहुतायत हुआ करती है। दोनों में बहुतेरे अच्छे सुलेखक हैं जो सादी और सहज भाषा भी लिखते हैं। दोनों में कुछ ऐसे लोग भी हैं जो संस्कृत, फारसी या अरबी शब्दों को देख करके घबड़ाते हैं और डरते हैं कि इनसे हिन्दी का रूप विकृत हो जायगा और वह उर्दू बन जायगी तथा उर्दू बिगड़कर हिन्दी बन जायगी। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो हिन्दी को हिन्दुओं की और उर्दू को मुसलमानों की भाषा मानते हैं। इस तरह इस झगड़े में कुछ साम्प्रदायिकता भी आ गयी है—यद्यपि बहुतेरे मुसलमान कवि और लेखक हुए, जिन्होंने हिन्दी की सेवा की है तथा उसी तरह बहुतेरे हिन्दुओं ने उर्दू की सेवा की है।

काँग्रेस के विधान में जहाँ भाषा का जिक्र है वहाँ न 'हिन्दी' शब्द का व्यवहार किया गया है न 'उर्दू' शब्द का, बल्कि वहाँ 'हिन्दुस्तानी' शब्द का ही इस्तेमाल हुआ है। जब गांधीजी ने दक्षिण-भारत में राष्ट्र-भाषा का प्रचार १९१० में आरम्भ किया था तब हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के तत्त्वावधान में ही आरम्भ कराया था। उसी समय वह इन्दौर में साहित्य-सम्मेलन के सभापति हुए थे। काँग्रेस के विधान में 'हिन्दुस्तानी' शब्द का व्यवहार महात्माजी और श्री पुरुषोत्तमदास टंडन ने ही किया था। उनके ही शब्द को काँग्रेस ने मान लिया था। दक्षिण-भारत में जिस सभा के द्वारा राष्ट्रभाषा-प्रचार का काम आज भी लिया जा रहा है उसका नाम दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा है। इससे स्पष्ट है कि गांधीजी ने जब से इस काम को हाथ में लिया है, उन्होंने हिन्दी और उर्दू को दो भिन्न-भिन्न भाषा नहीं माना है। यद्यपि दोनों की शब्दावली में अन्तर है और वह अन्तर दिन-दिन बढ़ता जा रहा है, तथापि दोनों का व्याकरण प्रायः

एक ही है और वह व्याकरण दूसरी किसी भाषा के व्याकरण से पूरा-पूरा नहीं मिलता। भाषा-तत्त्वविदों का कहना है कि भाषा की विभिन्नता शब्दावली से उतनी नहीं होती जितनी उसके वाक्यों की गढ़न और व्याकरण के नियमों के कारण होती है। इसलिए यह मानना अनुचित और भाषा-विज्ञान के नियमों के प्रतिकूल नहीं है कि हिन्दी और उर्दू एक ही भाषा का नाम है अथवा एक ही भाषा की दो शैलियाँ हैं---दो विभिन्न भाषाएँ नहीं। 'हिन्दुस्तानी' हिन्दी भी है और उर्दू भी; क्योंकि वह प्रायः क्लिष्ट शब्दों को काम में नहीं लाती। वह अपना रूप ऐसा रखती है जिसको हिन्दीवाले और उर्दूवाले दोनों ही अपना समझ सकें।

मैं इस बात का हिमायती हूँ कि जिस भाषा का शब्द-भांडार जितना भरा-पूरा होगा वह भाषा उतनी ही अधिक उन्नत होगी। यदि एक ही अर्थ में कई शब्द होंगे तो समय पाकर उनके अर्थ में थोड़ा-बहुत भेद होता जायगा और उसमें बारीकियाँ आती जायँगी। विचार की सूक्ष्मता को व्यक्त करने की शक्ति ऐसी भाषा में अधिक होती जायगी। जीती-जागती भाषा दूसरी भाषाओं के सम्पर्क से, यदि उसमें ग्रहण और संग्रह करने की शक्ति है तो, लाभ उठाती जायगी और उसका शब्द-भाण्डार बढ़ता जायगा। वह इस बात से डरकर घोंघे की तरह अपनी खपड़िया के अन्दर घुसकर अपने को बन्द नहीं कर लेती कि बाहर की हवा से, बाहर के शब्दों से, वह पिस जायगी और अपना अस्तित्व ही खो देगी। वह हिम्मत के साथ खुलेआम संघर्ष में आवेगी और दूसरी भाषाओं के अच्छे भावग्राही शब्दों को अपने में मिला लेगी। हाँ, ऐसा करने में वह अपने नियमों को, अपने रूप को, नहीं बदलेगी---अपनी पोशाक और अपनी सजावट को भले ही बदल ले और उसमें भले ही विचित्रता लावे।

मैंने अपने भाषण का यही विषय रक्खा और हिन्दी-साहित्य-सेवियों के विचारार्थ यह प्रश्न उपस्थित किया। मेरा कहना था कि हिन्दी को विदेशी शब्दों के ग्रहण करने में हिचकना नहीं चाहिए---चाहे वे फारसी और अरबी के हों या अँगरेजी के पर जो शब्द हिन्दी में आवें उन्हें हिन्दी बन जाना चाहिए---अर्थात् हिन्दी में आकर वे अपने साथ अरबी-फारसी या अँगरेजी का व्याकरण हिन्दी में न दाखिल करें, बल्कि वे हिन्दी-व्याकरण के अनुशासन के अधीन होकर रह जायँ। मेरा यही विचार आज भी है। उस समय से आज तक इस बात पर बहुत बहस छिड़ी रही है; पर मैं अपने विचार में अधिक दृढ़ होता गया हूँ। और, केवल इन तीन भाषाओं के ही शब्द नहीं लेने पड़ेंगे, हिन्दी को राष्ट्र-भाषा बनते-बनते बहुतेरे ग्रामीण शब्दों को भी अपने में ले लेना पड़ेगा---जो प्रान्तीय भाषाएँ हैं उनकी शब्दावली के भी बहुतेरे शब्द ले लेने पड़ेंगे।

इस सम्बन्ध का एक दूसरा महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी है जिस पर विचार कर लेना आवश्यक है। क्या आज की आधुनिक हिन्दी और उर्दू एक हैं या हो सकती हैं? व्याकरण प्रायः एक होते हुए भी शब्दावली का अन्तर बहुत बढ़ता जा रहा है। आज केवल हिन्दी अथवा उर्दू जाननेवालों की सभा में ऐसी भाषा बोली जा सकती है जिसे

वहाँ के श्रोता न समझ सकें—ऐसी संस्कृत-मिश्रित हिन्दी जिसको उर्दू जाननेवाले न समझ सकें और ऐसी फारसी-अरबी-मिश्रित उर्दू जो हिन्दी-दाँ के लिए आम-फहम न हो। यह भी संभव है—बहुत कठिन नहीं है—कि ऐसी भाषा बोली जाय जिसको केवल हिन्दी जाननेवाले और सिर्फ उर्दू जाननेवाले अच्छी तरह समझ जायँ। मैं इसी को 'हिन्दुस्तानी' अथवा 'हिन्दुस्थानी' नाम देता हूँ। बड़ी-बड़ी सभाओं के लिए, साधारण समाचारपत्रों के लिए, किस्से-कहानियों के लिए और दिल पर असर करनेवाली कविता के लिए भी इस तरह की सुगम भाषा हो सकती है, इसमें संदेह नहीं है। हाँ, जब उच्च कोटि की वैज्ञानिक पुस्तक लिखनी हो तो उसके लिए बहुतेरे वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों की जरूरत पड़ सकती है। ऐसे शब्द हमेशा सहज और सुबोध नहीं हो सकते। यह किसी भी भाषा में नहीं है। अँगरेजी एक उन्नत भाषा समझी जाती है। यदि अँगरेजी में लिखी कोई विज्ञान की पुस्तक अँगरेजी के अच्छे ज्ञाता को भी दी जाय, तो वह उसे ठीक समझ न सकेगा; क्योंकि उसमें—पंक्ति-पंक्ति में इस तरह के पारिभाषिक शब्द मिलेंगे, जिनको केवल अँगरेजी साहित्य का जाननेवाला साधारणतः नहीं जानता—जानता केवल वही है जो उस विज्ञान-विद्या से परिचित है। यों तो अब इस प्रकार की कहानियाँ और ऐसे उपन्यास भी लिखे जाते हैं जिनमें बहुत-सी वैज्ञानिक बातें रहती हैं—वैज्ञानिक शब्द आ जाते हैं। पर मैं इस समय इस प्रकार की विशेष पुस्तकों पर विचार नहीं कर रहा हूँ। साधारणतया किसी भी मामूली अँगरेजी जाननेवाले के सामने भौतिक विज्ञान की अथवा चिकित्सा-विषय की कोई अँगरेजी पुस्तक रख दी जाय, तो वह उसे प्रायः ठीक-ठीक नहीं समझेगा, यद्यपि उसका व्याकरण उसके लिए सरल होगा। पर उसके बहुतेरे शब्द ऐसे होंगे जो उसके लिए अपरिचित-से होंगे।

इसी तरह, यदि हिन्दी और उर्दू में इस प्रकार के वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथ लिये जायँ तो उनकी भाषा एक भिन्न प्रकार की होगी। पारिभाषिक शब्द किसी संस्कृत (अथवा संस्कारयुक्त) भाषा से ही लिये जा सकते हैं, अथवा किसी संस्कृत वा संस्कार-युक्त भाषा की मदद से बनाये जा सकते हैं—वह भाषा चाहे संस्कृत हो या अरबी। अँगरेजी में भी इस प्रकार के शब्द बहुतायत करके लैटिन से ही बने होते हैं। यहाँ पर मैं मानता हूँ कि इन वैज्ञानिक और पारिभाषिक शब्दों के लिए हमको संस्कृत अथवा अरबी की ओर जाना होगा—हो सकता है कि यूरोपीय भाषा के बहुतेरे शब्दों को ज्यों का त्यों ले लेना पड़े। किन्तु भारतवर्ष में तो इस प्रकार के शब्द यदि अधिकतर संस्कृत के ही होंगे तो उनका ज्यादा प्रचार होगा; क्योंकि यहाँ की जितनी प्रान्तीय भाषाएँ हैं, सभी संस्कृत के साथ गहरा सम्बन्ध रखती हैं। यहाँ तक कि दक्षिण-भारत की भाषाएँ भी संस्कृत से बहुत ज्यादा प्रभावित हुई हैं। यदि उनको भी नये शब्द लेने पड़ें, जिन्हें वे स्वयं नहीं बना सकतीं, तो वे संस्कृत से ही लेना पसन्द करेंगी। उदाहरणार्थ, यदि हमको 'ज्योतिष' शब्द लेना पड़े तो वह 'इल्मनजूम' की अपेक्षा अधिक सुगमता से हिन्दी-भाषी प्रान्तों में समझा जायगा—बंगाल, गुजरात,

महाराष्ट्र, तामिल, तेलगू, केरल, पंजाब इत्यादि में भी लोगों की समझ में आवेगा। उसी विज्ञान के शब्द 'नक्षत्र' और 'ग्रह' को भी लोग सारे भारतवर्ष में अधिक सुगमता से समझ लेंगे। इसलिए मैं समझता हूँ कि इन पारिभाषिक शब्दों के लिए राष्ट्रभाषा को, चाहे हम उसे जिस नाम से पुकारें, हमको संस्कृत पर ही निर्भर करना होगा। हो सकता है कि विदेश से कुछ शब्द ऐसे आ गये हैं जो प्रचलित हो गये हैं। उनको वैसे ही रहने देना उचित और अनिवार्य है। पर जहाँ नये शब्द गढ़ने हों वहाँ संस्कृत की सहायता लेना ही उचित और सुकर है। इसमें उर्दूवालों का यदि आग्रह हो तो वे जैसे चाहें अपने शब्द बना लें। पर वे ध्यान रक्खें कि उनके वे शब्द सार्वदेशिक न हो सकेंगे—सिर्फ उर्दू के ही रह जायँगे। इसलिए, जहाँ तक मामूली बोलचाल और समाचार-पत्रों की भाषा का सम्बन्ध है, हम ऐसी ही भाषा व्यवहार में ला सकते हैं जो हिन्दी और उर्दू दोनों के लिए ग्राह्य हो। पर जहाँ पारिभाषिक शब्दों का काम पड़ेगा वहाँ दोनों विलग हो सकती हैं—यद्यपि यह भी आवश्यक या अनिवार्य नहीं है। और, जैसा ऊपर कहा गया है, वह (पारिभाषिक) तभी सर्वमान्य और सार्वदेशिक शब्द हो सकता है जब वह संस्कृत की सहायता से बना हो।

राष्ट्रभाषा का सम्बन्ध विशेषकर प्रतिदिन के कारबार से ही रहता है। इसलिए, जहाँ तक मैं समझ सकता हूँ, वह ऐसी होनी चाहिए जिसे हिन्दी और उर्दू दोनों ही अपनी समझ सकें। वैज्ञानिक और दार्शनिक ग्रंथों की, शायद उच्च कोटि के साहित्य की भी, भाषा हिन्दी और उर्दू में अलग-अलग होगी। यदि हम इस विभेद को मान लें तो हिन्दी-उर्दू का झगड़ा बहुलांश में मिट सकता है। हम तो सारे भारत के आपस के व्यवहार के लिए एक राष्ट्रभाषा चाहते हैं—वह अँगरेजी नहीं हो सकती, वह हिन्दी ही हो सकती है, चाहे उसे हम हिन्दुस्तानी कहें या हिन्दी कहें अथवा उर्दू कहें। आज की प्रचलित प्रान्तीय भाषाओं के स्थान को उसे नहीं लेना है; वे अपने-अपने स्थान पर ज्यों की त्यों कायम रहकर प्रान्तीय काम में और प्रान्तीय साहित्य में व्यवहृत होती रहेंगी। सार्वदेशिक व्यवहार के लिए ही हमको राष्ट्र-भाषा चाहिए। यदि उसको हम फारसी-अरबी के बहुत-से अप्रचलित शब्दों से भरकर कठिन बना देंगे तो वह बंगाल, आसाम, उत्कल, आन्ध्र, तामिल, केरल, कर्नाटक, महाराष्ट्र, गुजरात इत्यादि में मुश्किल से प्रवेश पा सकेगी। अतएव उसको वहाँ के लिए सुगम बनाने में जहाँ तक हो सके इन प्रान्तीय भाषाओं के प्रचलित शब्दों को लेना हितकर और सहायक होगा। साथ ही, हम यह भी नहीं भूल सकते कि पंजाब, सीमा-प्रान्त और कुछ पश्चिमी युक्तप्रदेश की भाषा में भी उर्दू का पुट अधिक है—विशेषकर शिक्षित मुसलमानों में वहाँ फारसी-अरबी के शब्द अधिक आसानी से बोले और समझे जाते हैं। राष्ट्रभाषा ऐसे लोगों को भी अपने दायरे के बाहर नहीं कर सकती। इसलिए राष्ट्रभाषा को उदारनीति ग्रहण करनी पड़ेगी और बहिष्कार-नीति छोड़नी पड़ेगी।

मैंने स्वयं अपने देशव्यापी दौरे में देखा है कि मुझे दो प्रकार की हिन्दी

बोलनी पड़ती है। जब मैं सीमाप्रान्त और पंजाब में गया—विशेषकर ऐसी सभाओं में जहाँ मुसलमानों की संख्या अधिक थी—तो मैं फारसी-मिश्रित हिन्दी बोलकर अपने विचारों को व्यक्त कर सका और लोगों को समझा सका। बंगाल, महाराष्ट्र इत्यादि और दक्षिण-भारत में भी, जहाँ कुछ हिन्दी समझी जाती थी, मैं संस्कृत-बहुल हिन्दी ही बोलकर अपना काम कर सका। मैं न तो अरबी-फारसी का आलिम हूँ और न संस्कृत का पण्डित। अरबी का ज्ञान तो बिल्कुल नहीं है। फारसी का थोड़ा ज्ञान है। संस्कृत का भी वैसा ही अन्दाज का परिचय है। पर मैं दोनों प्रकार की भाषाएँ कुछ-कुछ बोल सकता हूँ। दोनों प्रकार के श्रोताओं में मेरे भाषण आसानी से समझ लिये जाते हैं। इसका एक विशेष कारण इन भाषाओं का अपना अज्ञान ही मैं समझता हूँ। इसलिए, मैं मानता हूँ कि मेरे जैसे लोगों के लिए—और ऐसे लोगों की संख्या अधिक है और रहेगी—ऐसी राष्ट्रभाषा का प्रयोग सहज है। आलिमों और पण्डितों के लिए उसमें अधिक कठिनाई है और रहेगी; क्योंकि जहाँ कहीं शब्द की कमी मालूम हुई, वे झट संस्कृत या अरबी की शरण में दौड़ जाते हैं और मेरे-जैसे लोगों की वहाँ तक पहुँच नहीं होती; इसलिए हम अपनी छोटी निधि में से ही काम की चीज खोज निकालने को बाध्य होते हैं, जो अधिकतर मेरे-जैसे लोगों के लिए विशेष परिचित ही होगी।

मैंने यहाँ पर राष्ट्रभाषा-सम्बन्धी अपने विचारों को विस्तार-पूर्वक कह दिया; क्योंकि सम्मेलन से इनका सम्बन्ध है। मैंने इसी प्रकार के विचारों को अपने भाषण में रखा। सम्मेलन राष्ट्रभाषा-प्रचार का काम भी करता आया है। इसलिए उसे दो बातों पर ध्यान रखना पड़ता है। एक ओर उसे हिन्दी-साहित्य में उच्च कोटि के ग्रंथों के निर्माण पर और दूसरी ओर भाषा के प्रचार पर भी दृष्टि रखनी पड़ती है। इन दोनों उद्देश्यों में प्रायः पार्थक्य अथवा विरोध न होना चाहिए, पर कहीं-कहीं होना असम्भव भी नहीं है। आगे चलकर सम्मेलन के अन्दर कुछ इस विषय पर मतभेद हुआ भी। नागपुर में ही वह मतभेद दीखने लगा। पर वहाँ के कार्य-क्रम में कोई अन्तर नहीं आया। सम्मेलन ने राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति बना दी जिसका सभापति मैं बनाया गया। सम्मेलन में एक प्रचार-समिति भी नियमानुसार हुआ करती है। नागपुर-सम्मेलन ने महसूस किया कि प्रचार-समिति हिन्दी-भाषी प्रान्तों में साहित्य-प्रचार का काम किया करे और राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति उन प्रान्तों में राष्ट्र-भाषा का प्रचार करे जहाँ की भाषा हिन्दी नहीं है। दक्षिण-भारत में—आन्ध्र, तामिल, केरल और कर्नाटक में—दक्षिण-भारत-हिन्दी-प्रचार-सभा बहुत अच्छा काम करती आ रही है और उसके द्वारा प्रचार का काम खूब जोरों से चलाया गया है। पर दूसरे अ-हिन्दी प्रान्तों में यह प्रचार-व्यवस्था नहीं हुई थी। इसलिए गुजरात, महाराष्ट्र, बंगाल, आसाम, उत्कल इत्यादि प्रान्तों में प्रचार-कार्य करने का भार इस राष्ट्रभाषा-प्रचार-समिति को सौंपा गया। मैं इसका सभापति तो बना; पर इसके नीति-निर्देश का काम गांधीजी ने लिया और अर्थ-संग्रह का सेठ जमनालाल

बजाज ने। इसमें सम्मेलन के कई प्रमुख व्यक्ति—श्री पुरुषोत्तमदास टण्डन, पंडित दयाशंकर दुबे, डाक्टर बाबूराम सक्सेना प्रभृति—सदस्य बनाये गये। कुछ अ-हिन्दी प्रान्तों के प्रतिनिधि-स्वरूप वहीं के हिन्दी-प्रेमी सम्मिलित किये गये। यह समिति तीन बरसों के लिए ही बनायी गयी थी। पर वह तीन बरस बीतने पर फिर मनोनीत कर दी गयी। १९३६ से १९४२ तक, छः बरसों में, इस समिति ने अ-हिन्दी प्रान्तों में—विशेषकर गुजरात, महाराष्ट्र, मध्यप्रदेश के महाराष्ट्री जिलों, उत्कल और आसाम में—बहुत काम किया। विद्यार्थियों के लिए पुस्तकें बनवायीं, परीक्षाएँ लीं। हजारों की संख्या में विद्यार्थियों ने परीक्षाएँ दीं, और उत्तीर्ण भी हुए। सेठ पद्मपत सिंघानियाँ ने पाँच बरसों तक १५०००) वार्षिक—कुल ७५०००)—का दान देकर इसके अर्थाभाव को बहुत-कुछ दूर कर दिया। श्री काका कालेलकर, श्री सत्यनारायण, श्री श्रीमन्नारायण और दादा धर्माधिकारी के परिश्रम तथा उत्साह ने, गांधीजी के वरद हस्तों के नीचे, इसे एक व्यापक प्रभाववाली, उच्चाकांक्षावाली, सफल संस्था बना दिया।

नागपुर में एक और सम्मेलन हुआ। गांधीजी ने देखा था कि हिन्दी-उर्दू का पारस्परिक वैमनस्य बढ़ता जाता है। वह चाहते थे कि इन दोनों के समन्वय का प्रयत्न किया जाय। इसके लिए एक ऐसी संस्था की जरूरत थी जिसमें दोनों भाषाओं के विद्वान् शरीक हों और जो बिना किसी खींचतान के केवल भाषा की अभिवृद्धि की दृष्टि से काम करें। उन्होंने इसमें श्री कन्हैयालाल मुन्शी को, जो गुजराती-साहित्यकारों में बहुत ऊँचा स्थान रखते हैं, लगाना चाहा। मुन्शी प्रेमचन्द और मौलवी अब्दुल हक साहब की सहायता भी लेनी चाही। संस्था (राष्ट्रभाषा-परिषद्) का अधिवेशन नागपुर में ही किया गया। उपरोक्त सज्जन तथा दूसरे लोग निमंत्रित किये गये। उसी सभा में मौलवी अब्दुल हक साहब से मत-भेद हो गया। उन्होंने सम्मेलन के बाद कुछ ऐसे लेख लिखे जिनमें गांधीजी पर भद्दा आक्रमण किया गया। इसलिए यह परिषद् मुसलमानों की सहायता न कर सकी। पर मुन्शी प्रेमचन्द और श्री कन्हैयालाल मुन्शी ने, काशी के हिन्दी-मासिकपत्र 'हंस' को, परिषद् की ओर से, कुछ दिनों तक चलाया। दुःख की बात है कि मुन्शी प्रेमचन्द थोड़े ही दिनों के बाद स्वर्गवासी हो गये। परिषद् बहुत दिनों तक जीवित न रह सकी—यद्यपि यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी अन्त्येष्टि क्रिया भी कर दी गयी है।

११६—प्रान्तीय धारा-सभाओं का चुनाव

१९३६ का साल १९३७ में होनेवाले प्रान्तीय धारा-सभाओं के नये विधान के अनुसार चुनाव की तैयारी में बीता। लखनऊ में निश्चय हो चुका था कि काँग्रेस अपनी ओर से उमीदवार खड़ा करे और चुनाव लड़े। यह पहला अवसर था जब इस नये विधान के अनुसार करोड़ों स्त्री-पुरुषों को चुनाव में भाग लेने का अवसर मिला था। उन करोड़ों मत-दाताओं का इस प्रकार संगठन करना कि वे काँग्रेस के

सभी उमीदवारों को वोट दें, कोई आसान काम नहीं था। काँग्रेस १९३५-३६ में पुनः संगठित हो गयी थी। १९३४ में वह केन्द्रीय असम्बली के लिए चुनाव लड़ चुकी थी। उसमें वह बहुत बड़े अंश में विजय भी प्राप्त कर चुकी थी। पर उस चुनाव के मुकाबले में यह चुनाव कहीं अधिक विस्तृत था। उसमें करीब १०० सदस्यों के चुनाव की बात थी। इसमें प्रायः २००० जगहों के लिए आदमी चुनवाने थे। इसमें खर्च भी बहुत पड़नेवाला था। उमीदवारों को नामजद करना भी कोई आसान काम न था।

सबसे पहला काम था एक ऐसा घोषणा-पत्र तैयार करना जो काँग्रेस की ओर से मतदाताओं के सामने रखा जाय और जिसको पूरा करने के लिए उनसे वोट माँगा जाय। काँग्रेस के प्रस्तावों और इस प्रकार की घोषणाओं का मसविदा पहले महात्माजी तैयार किया करते थे। इधर जबसे पं० जवाहरलालजी सभापति हुए, यह काम उनको ही अधिक करना पड़ता था। उन्होंने दिल फड़कानेवाली भाषा में एक बहुत सुन्दर घोषणा तैयार की। अखिल भारतीय कमिटी ने उसे मंजूर कर लिया।

हमारे सामने एक दिक्कत थी। काँग्रेस ने अभी तक यह निश्चय नहीं किया था कि वह अपने सदस्यों को मंत्रिमण्डल में शरीक होने देगी या नहीं। कुछ लोग चाहते थे कि प्रान्तों में काँग्रेसी-मंत्रिमण्डल बनें और जो कुछ भी अधिकार विधान-द्वारा मिले हैं उनका वे इस्तेमाल करें। दूसरे लोग ऐसे थे जो चाहते थे कि काँग्रेसी केवल अड़ंगा-नीति से ही काम लें—न मंत्रिमण्डल बनावें और न बनाने दें, यदि वे बन भी जायँ तो उनके कामों में अड़ंगा लगाते रहें। काँग्रेस ने विधान को नामंजूर कर दिया था, पर साथ ही चुनाव में भाग लेने की इजाजत दी थी। हाँ, यह नहीं बतलाया था कि चुने जाने के बाद सदस्य क्या करेंगे। इसलिए इस घोषणा-पत्र में यह साफ कहा नहीं जा सकता था कि हम मंत्रिमंडल बनावेंगे और वहाँ रहकर अमुक-अमुक काम करेंगे। उसमें यह भी कहना मुश्किल था कि हम वहाँ कुछ नहीं करेंगे और न किसी को कुछ करने देंगे। उसमें बड़ी होशियारी से ऐसी बातें कही गयीं, जो कराची-काँग्रेस में, अपने मौलिक और आर्थिक अधिकारोंवाले प्रस्ताव में, मंजूर की गयी थीं। ऐसा करने से, बिना इस बात का वादा किये कि हम मंत्रिपद ग्रहण करेंगे या नहीं करेंगे, कौंसिल के लिए कार्य्यक्रम बतला दिया गया। यह घोषणा सारे देश के लिए थी। इसके अनुसार सभी काँग्रेसी सदस्य, चाहे वे जिस सूबे में हों, काम करेंगे। इसके अलावा, प्रान्तीय कमिटियों को अधिकार दिया गया कि वे अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुसार यदि वहाँ के लिए कोई घोषणा निकालना चाहें तो निकाल सकती हैं।

इस घोषणा-पत्र में अधिकतर किसानों की दशा सुधारने की बात कही गयी थी। उसके लिए लगान कानून में तरमीम करके उनको अपनी जमीन पर, जिसे वे जोतते-बोते हैं, स्थायी स्वत्व देने की बात थी। लगान कम करने पर भी ज़ोर था।

मजदूरों की भी दशा सुधारने का वादा था—उनकी नौकरी को स्थायी बना कर, उनकी रहन-सहन की सुव्यवस्था कराकर और उनकी मजदूरी में वृद्धि कराकर। साथ ही, मजदूर-संघों के स्थापित और संगठित करने के अधिकार दिलवाने तथा दूसरे प्रकार से उनकी अवस्था सुधारने की बात भी कही गयी थी। देश में मद्यनिषेध कराने का वादा था। अर्थात् इसमें वे सब बातें थीं जो कोई भी लोकप्रिय मिनिस्ट्री कर सकती है। हम समझते थे कि यदि हमने मंत्रिपद ग्रहण किया तो ये सब काम करेंगे ही; पर यदि न भी किया तो इस तरह की बातें जो भी मिनिस्ट्री हो उसके द्वारा करा सकेंगे और करायेंगे।

दूसरा कठिन कार्य था इतने अधिक उमीदवारों को चुनना। स्पष्ट है कि यह काम अखिल भारतीय कमिटी की वर्किंग कमिटी सारे देश के लिए कर नहीं सकती थी। एक तो उसके पास इतना मसाला न होगा कि वह यदि स्वयं इस बात पर विचार करने बैठे कि दो उमीदवारों में से किसको काँग्रेस-टिकट देना चाहिए तो इसका निर्णय वह कर सके। उसको ख्वाहमखाह प्रान्तीय कमिटियों अथवा उनकी कार्यकारिणी पर ही अधिक भरोसा करना पड़ता। तोभी यह स्पष्ट था कि कहीं-कहीं स्थानीय कमिटियों में दलबन्दियाँ थीं, और हो सकता है कि इस दलबन्दी के कारण किसी उमीदवार के साथ बेइनसाफी हो जाय, अथवा ऐसे उमीदवार चुन लिये जायँ जो जनता के सामने जवाबदेह या कामयाब न हो सकें। कहीं-कहीं की प्रान्तीय कमिटियाँ चाहती भी थीं कि अन्तिम निर्णय अखिल भारतीय वर्किंग कमिटी के ही हाथों में रहे तो अच्छा होगा। इसलिए यह निश्चय हुआ कि अंतिम निर्णय अखिल भारतीय कमिटी ही करेगी। पर वर्किंग कमिटी ने भी इस काम के लिए अपने सभी सदस्यों को एकत्रित करना मुश्किल समझा। इसलिए उसने तीन सदस्यों की एक पारलेमेण्टरी कमिटी बना दी जिसके जिम्मे यह सब काम सौंप दिया गया। इस पारलेमेण्टरी कमिटी के प्रमुख बनाये गये सरदार बल्लभभाई पटेल। इसके सदस्य हुए मौलाना अबुल कलाम आजाद और मैं। जब चुनाव का समय नजदीक आया तब अनुभव से पता चला कि इन सदस्यों का भी हमेशा मिलकर किसी बात का फैसला करना, समय की कमी और एक से दूसरे की दूरी के कारण, असंभव हो जाता था। यदि सारी वर्किंग कमिटी के जिम्मे यह काम रहता तो शायद उसे महीनों एक स्थान पर बैठे रहना पड़ता। शुरू में मुझे बम्बई में कुछ दिनों तक इस कमिटी के काम से रहना पड़ा था। पर वहाँ के जलवायु की प्रतिकूलता के कारण मैं बरसात में वहाँ न रह सका। हम तीनों ही अपने-अपने स्थान से काम करने लगे।

सदस्यों की नामजदगी प्रान्तीय कमिटियों की कार्यकारिणी कमिटी ही करती। पर वह अपने मन से मंजूर किये गये सभी नामों को पारलेमेण्टरी कमिटी के पास भेज देती। कोई आदमी, जो प्रान्त के फैसले से नाराज हो, पारलेमेण्टरी कमिटी के पास अपील कर सकता था और उस सम्बन्ध के सभी कागज-पत्र, रिपोर्ट इत्यादि प्रान्त से उसके पास जाते। जिन स्थानों के सम्बन्ध में कोई भी अपील या नाराजगी न

होती वे तो बिना संकोच प्रान्तीय कमिटी के निश्चयानुसार ही रह जाते। पर जिसके सम्बन्ध में अपील होती, पारलेमेण्टरी कमिटी उसकी जाँच करती। यदि आवश्यकता पड़ती तो उसके सदस्य उस स्थान पर जाकर, वहाँ के लोगों से मिलकर और उनसे दरियाफ्त करने के बाद, अन्तिम फैसला कर देते। यह काम आसान नहीं था। पर संतोष की बात है कि बहुत कम निश्चयों के सम्बन्ध में ही पारलेमेण्टरी कमिटी तक अपील पहुँची। जो अपीलें पहुँचीं भी उनमें बहुतेरों का निबटारा लिखा-पढ़ी करके सबकी रजामन्दी से हो गया। थोड़े ही ऐसे स्थान थे जिनके लिए किसी एक आदमी या दल के खिलाफ फैसला देना पड़ा।

चुनाव के मामले में दो बातें मुख्य थीं। एक तो यह थी कि मनोनीत उमीदवार, काँग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार, ठीक सचाई और ईमानदारी के साथ, काम करेगा या नहीं। दूसरी बात यह थी कि उसके चुने जाने की पूरी आशा है या नहीं। एक तीसरी बात और थी जो इन दो बातों के मुकाबले में गौण समझी जा सकती है, पर जो अपना काफी महत्त्व रखती थी। वह यह है कि उमीदवार चुनाव के लिए जरूरी खर्च खुद कर सकेगा वा नहीं, और यदि नहीं तो उसके लिए पारलेमेण्टरी कमिटी को क्या मदद देनी पड़ेगी। पहली बात का निर्णय उमीदवार की पूर्वसेवाओं और काँग्रेस के साथ उसके सम्बन्ध तथा उसकी कार्रवाइयों पर विचार करके ही हो सकता था। दूसरी बात का निर्णय जनता में उसकी लोकप्रियता पर निर्भर था। इस लोकप्रियता के बहुतेरे कारण हो सकते थे। कोई आदमी काँग्रेस द्वारा सेवा के कारण बहुत लोकप्रिय है; कोई किसी विशेष क्षेत्र में दूसरे प्रकार की सेवाओं द्वारा लोकप्रिय हो गया है। कोई क्षेत्र ऐसा था जहाँ किसी खास जाति अथवा समाज के लोगों का बाहुल्य था। वहाँ सेवा के अलावा उस विशेष जाति अथवा समाज का आदमी होना ही लोकप्रियता का—अर्थात् वोट पाने की शक्ति का—कारण हो सकता था। कोई क्षेत्र ऐसा हो सकता था जहाँ अधिक काम नहीं हुआ है और जहाँ काँग्रेस का प्रभाव बहुत नहीं है, वहाँ और कारणों से ही उमीदवार के चुने जाने की आशा हो सकती थी। इन सभी बातों का निर्णय अधिकतर प्रान्तीय कमिटियाँ ही कर सकती थीं। इसलिए उनकी ही बातें मान्य होतीं।

सबसे बड़ी कठिनाई वहाँ पड़ती जहाँ काँग्रेस के दो सेवक एक ही स्थान के लिए उमीदवार हो जाते और उनमें से कोई हटने को तैयार न होता! सेवा की दृष्टि से दोनों में भेद करना असंभव नहीं तो कठिन जरूर होता। जनता में भी दोनों के प्रति प्रेम और श्रद्धा होती। ऐसी अवस्था में किसी एक को नाराज करके ही फैसला देना पड़ता। पैसे का सवाल भी कुछ हल्का न था। २००० स्थानों के लिए चुनाव का खर्च बहुत पड़ता है। थोड़ा-थोड़ा भी खर्च पड़े तो बहुत हो जाता है। प्रतिद्वन्द्विता के कारण भी खर्च कुछ बढ़ जा सकता है। यदि प्रतिद्वन्द्वी धनी हुआ और अधिक खर्च करने पर उतारू हो गया, तो अपनी ओर से भी खर्च की मात्रा बढ़ा देनी पड़ती है; क्योंकि प्रतिद्वन्द्वी के प्रचार का प्रतिकार करना आवश्यक है।

इस बात का संतोष है कि इन सब कठिनाइयों को पारलैमेण्टरी कमिटी, सरदार बल्लभभाई के नेतृत्व में, हल कर सकी। मुझे अखिल भारतीय चुनावों के अलावा अपने सूबे का काम भी देखना था। मैं जब से काँग्रेस का सभापति हुआ था, सूबे में काँग्रेस का काम कुछ भी नहीं कर सकता था। जैसा पहले कहा है, बराबर सारे देश में दौड़-धूप करता रह गया। अपने सूबे में तो उस दौरे में भी नहीं आ सका था। १९३० से ही सत्याग्रह के काम में हमारा सूबा संलग्न था। उस समय मुझे अपने सूबे में बहुत घूमने का मौका मिला था। एक बार १९३१ में गांधी-अर्विन-पैक्ट के समय में भी कुछ स्थानों में भ्रमण कर सका था। १९३४ में, केवल भूकम्प-सम्बन्धी काम के लिए ही, जहाँ जा सका वहाँ गया। उसके बाद सभापति बनकर तो और-और सूबों में ही घूमता रहा। इस तरह प्रायः पाँच-छः बरसों से मेरा और सूबे का सम्पर्क बहुत कम हो गया था। तोभी मुझे यह काम तो देखना ही था। शायद मैं इस साल सूबा-कमिटी का सभापति भी चुना गया था। इसलिए सूबे के उमीदवारों के चुनाव में मुझे बहुत समय देना पड़ा और बहुत कष्ट भी उठाना पड़ा। ऊपर जितनी बातें मैंने कही हैं, सबका अनुभव और सब पर निर्णय सूबे की वर्किंग कमिटी को करना पड़ा जिसका मैं सभापति था!

हमारे सूबे में एक और बात है जो प्रायः दूसरे सूबों में शायद बहुत मात्रा में नहीं देखी जाती है। जिला-कमिटियाँ अधिकतर निर्णय प्रान्तीय वर्किंग कमिटी पर ही छोड़ना चाहती थीं; क्योंकि वे समझती थीं कि यदि वे फैसला करेंगी तो आपस के मतभेद बढ़ जायँगे और इस कारण चुनाव में कठिनाई भी बढ़ जायगी। पर प्रान्तीय वर्किंग कमिटी के लिए फैसला देना आसान नहीं था; क्योंकि वह भी स्थानीय परिस्थिति से पर्याप्त परिचय नहीं रखती थी। तोभी मैं समझता हूँ कि प्रान्तीय कार्यकारिणी के जिम्मे यह काम छोड़ना अच्छा न हुआ। उसके प्रायः सभी निर्णय सर्व-सम्मति से हुए। कुछ में मतभेद हुआ और कभी-कभी यह मतभेद तीव्र भी हो गया; पर अन्त में सभी बातें सबकी राय से तय हो सकीं। मुझे कई निश्चयों के सम्बन्ध में बड़ी कठिनाई से अपने को मनाना पड़ा। पर मैंने अपने निजी विचारों को—जिनका सम्बन्ध व्यक्ति से ही था—दबा दिया और कमिटी के बहुमत को ही मान लिया। जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने कभी यह नौबत भी न आने दी कि मेरे कारण किसी नाम के सम्बन्ध में मत लेने की जरूरत पड़े। हाँ, जहाँ जरूरत होती, अपनी राय बता देता; पर उसको संयत-भाषा में बतलाता जिसमें कटुता न आने पावे। जो हो, सूबे की नामजदगी एक प्रकार से हो गयी।

सूबे में हमने इस बात पर जोर दिया कि ऐसे ही लोग विशेषकर लिये जायँ जो काँग्रेस के काम करनेवाले सेवक हैं। एक तो ऐसे ही लोगों पर अधिक भरोसा किया जा सकता था; क्योंकि उन्होंने अपने काम से अपनी विश्वसनीयता का परिचय दे दिया था और उनसे आशा भी थी कि काँग्रेस की जैसी आज्ञा होगी वैसा ही वे करेंगे। पर कहीं-कहीं परिस्थिति ने इसके लिए भी मजबूर किया कि ऐसे लोग

भी लिये जायँ जो काँग्रेस के साथ सहानुभूति तो रखते थे और जिन्होंने उसकी सेवा भी कुछ की थी, पर जो कार्यकर्त्ताओं में नहीं समझे जा सकते थे—यह स्थानीय दिक्कतों के कारण, और कहीं-कहीं खर्च के खयाल से भी, करना पड़ा।

एक विशेष अवस्था हमारे सूबे में थी। यहाँ पर किसान-सभा काम करती आ रही थी। वह किस तरह १९३३-३४ में, स्वामी सहजानन्द सरस्वती के अधिनायकत्व में, प्रोत्साहित की गयी, इसका जिक्र कुछ ऊपर आ गया है। वह इन तीन-चार बरसों में कहीं-कहीं—गया और पटना जिलों में विशेषकर—जनता में जोरों से काम कर सकी थी। काँग्रेस का और किसान-सभा का विरोध नहीं था। दोनों के अनेकानेक और प्रभावशाली कार्यकर्त्ता एक ही थे। जहाँ जैसी जरूरत पड़ती, काँग्रेस उनकी मदद भी करती थी। जब चुनाव के लिए उमीदवार नामजद किये जाने लगे तो स्वामी सहजानन्द, जो प्रान्तीय वर्किंग कमिटी के सदस्य थे, कुछ ऐसे लोगों के ले लिये जाने पर जोर देने लगे जो किसान-सभा से विशेष सम्बन्ध रखते थे। और सदस्यों का ऐसे लोगों से कोई विशेष विरोध नहीं था; पर कहीं-कहीं ऐसा मौका आया कि किसान-सभा के कार्यकर्त्ता और काँग्रेस के कार्य्यकर्त्ता में ही मुकाबला हो गया। तो भी, कार्य्यकारिणी ने इस बात को भी सँभाल लिया। अन्त में जो बातें तय हुईं, वे ऐसी ही हुईं जिनको सब लोगों ने पसन्द और मंजूर किया।

एक और चीज है जिसका जिक्र करना आवश्यक है। उमीदवारों के चुनने में हमको इस बात पर ध्यान रखना पड़ा कि कौन उमीदवार किस जाति का है। काँग्रेस के लिए यह कोई सन्तोष की बात नहीं थी; पर परिस्थिति के कारण हम इससे अपने को अलग नहीं रख सकते थे। इस सूबे के लिए यह दुःख और शर्म की बात है कि हम इस नामजदगी में जाति को एकदम भूल न सके और हमें यह सोचना पड़ा कि अमुक स्थान में अमुक जाति के उमीदवार के चुने जाने की अधिक सम्भावना है तथा यह भी देखना पड़ा कि यदि अमुक उमीदवार को हम नहीं नामजद करते तो इसका असर उस जाति के लोगों पर तो बुरा पड़ेगा ही, चुनाव के लिए भी बुरा होगा! हमको यह भी सोचना पड़ता था कि जितने उमीदवार नामजद किये गये उनमें सभी जातियों के उमीदवार लिये गये वा नहीं—यदि लिये गये तो इतनी संख्या में लिये गये वा नहीं कि हम उस जाति के लोगों को सन्तुष्ट कर सकें! ये बातें राष्ट्रीय संस्था के लिए गौरवप्रद नहीं हैं। पर हमको चुनाव भी जीतना था और साथ ही हमको इस बात का सन्तोष भी था कि सभी जातियों में काँग्रेसी काम करनेवाले ऐसे मौजूद थे कि उनको हम काँग्रेस की नीति की दृष्टि से चुन भी सकते थे। इसलिए किसी के चुनने में हमें अधिक चोट भी नहीं लगती; क्योंकि जिनको हम नामजद करते वे प्रायः और विचारों से भी योग्य होते। पर सिद्धान्त की दृष्टि से इस विचार का आने देना ही ठीक न था।

पूना में जो समझौता दलित जातियों (हरिजनों) के साथ हुआ था उसमें यह निश्चय हुआ था कि हरिजनों के निमित्त सुरक्षित स्थानों के लिए एक प्राथमिक

चुनाव हो जिसमें केवल हरिजन ही भाग लेंगे। इस चुनाव में यदि चार या इससे कम हरिजन उमीदवार हुए तो वोट लेने की जरूरत नहीं होगी, सबके सब नामजद समझे जायँगे। यदि इससे अधिक हुए तो केवल हरिजन लोग वोट देकर जिन चार को चाहें चुन लेंगे। फिर दूसरे चुनाव में हरिजन और दूसरे सभी लोग वोट देंगे और जिसको सबसे अधिक वोट मिलेगा वही चुना जायगा। इसका नतीजा यह होता था कि सवर्ण हिन्दुओं को अन्तिम चुनाव में भाग लेने का मौका मिलता था, पर वे जिसको चाहें उसे नहीं चुन सकते थे, वे उन्हीं चार में से एक को वोट दे सकते थे जिनको हरिजनों ने पहले चुनाव में चुन लिया है। इस समझौते का यह फल होता था कि हरिजनों को दो बार वोट देने का हक मिल जाता था। साथ ही, हरिजन उमीदवारों को एक बार केवल हरिजन मतदाताओं में और दूसरी बार हरिजन मतदाताओं तथा सवर्ण मतदाताओं में प्रचार करना पड़ता, जो आसान नहीं था; क्योंकि इसमें खर्च बहुत पड़ता। इस सूबे में हरिजनों की सोलह जगहें थीं। हमने प्रयत्न किया कि उन सभी जगहों पर काँग्रेसी उमीदवार खड़े किये जायँ और वे ही जीतें भी। इसलिए जो उनके प्रमुख काम करनेवाले और प्रभाववाले लोग थे उनसे राय ले करके ही हमने अपने हरिजन उमीदवार खड़े किये। इसका नतीजा यह हुआ कि काँग्रेस को ऐसे हरिजन मिल गये जो उसके नियमानुकूल काम करना चाहते थे। हरिजनों ने भी उन्हें पसन्द किया; क्योंकि वे उनकी राय से ही चुने गये थे। इसमें खर्च भी बहुत कम हो गया; क्योंकि अधिकांश स्थानों में केवल एक ही हरिजन उमीदवार खड़ा हुआ जो पहले चुनाव में बिना विरोध चुना गया और दूसरे चुनाव में एक ही उमीदवार होने के कारण उसके नाम पर वोट लेने-देने की बात ही नहीं हुई। हाँ, चन्द जगहें ऐसी हुईं जहाँ चुनाव लड़ना पड़ा, पर अन्त में १६ में १५ जगहें काँग्रेस उमीदवारों को ही मिलीं। और सूबों में यह इतनी खूबी से न हो सका, जिसका नतीजा यह हुआ कि हरिजनों के एक से अधिक दल हो गये। कुछ काँग्रेस के साथ हुए और कुछ काँग्रेस के विरोधी। इस विरोध के कारण हरिजनों को काँग्रेस के प्रति अश्रद्धा भी हुई। हम इन सब कठिनाइयों से बच गये। इसका एक कारण यह भी हो सकता है कि यहाँ उनमें शिक्षा का बहुत अभाव है; इसलिए उनमें ऐसे लोग बहुत नहीं थे जो अपनी महत्त्वाकांक्षा के लिए अपना अलग संगठन आवश्यक समझते।

नामजदगी हो जाने के बाद सारे देश में प्रचार का काम संगठित करना आवश्यक था। इसके लिए पैसे जमा करने का काम भी पारलेमेण्टरी कमिटी के ही जिम्मे था। यह काम विशेषकर सरदार बल्लभभाई ने ही किया। आवश्यकतानुसार प्रान्तीय कमिटियों को मदद दी गयी। प्रान्तीय कमिटियों ने अपना-अपना अलग प्रबन्ध भी यथा-साध्य किया। बिहार में, जैसा ऊपर कहा गया है, अधिक उमीदवार ऐसे ही थे, जो काँग्रेस-कार्यकर्त्ता थे। काँग्रेस-कार्यकर्त्ता, विशेषकर बिहार में, पैसेवाले नहीं हैं। जिनके पास घर में कुछ खाने-पीने लायक है भी, वे भी चुनाव के लिए बहुत ज्यादा खर्च करने योग्य नहीं हैं। तो भी जिससे जहाँ तक हो सका उसने अपना खर्च किया।

प्रान्त की ओर से वहीं मदद दी गयी जहाँ बहुत जरूरत समझी गयी। सारे सूबे में जो प्रचार हुआ उसका खर्च प्रान्त ने दिया और विशेष क्षेत्रों का खर्च वहाँ के उमीदवार ने। जिस उमीदवार को मदद की जरूरत हुई, प्रान्त ने उसको मदद की। इस तरह से प्रान्त को खर्च तो करना पड़ा, पर यदि हम यह विचार करें कि कितने क्षेत्रों में प्रान्त ने कितने खर्च से सफलता प्राप्त की, तो वह खर्च बहुत नहीं जान पड़ता। कुछ खर्च तो अनिवार्य हैं। क्षेत्र बहुत विस्तृत हैं। इतना तो अवश्य करना ही चाहिए कि उमीदवार और दूसरे काँग्रेसी कार्यकर्त्ता सभी जगहों में जाकर वहाँ की जनता तक काँग्रेस का सन्देशा पहुँचा दें तथा मतदाताओं के साथ उमीदवार की मुलाकात हो जाय। इसमें ही बहुत खर्च पड़ता था।

काँग्रेस का घोषणापत्र और काँग्रेस-सम्बन्धी दूसरा साहित्य छापकर बाँटना भी आवश्यक है। वह केवल चुनाव के लिए ही नहीं, जनता की शिक्षा और ज्ञानवृद्धि के लिए भी। इस प्रकार के खर्च तो हर हालत में अनिवार्य हैं। पर इसकी भी जरूरत थी कि केवल सभाओं द्वारा ही प्रचार न किया जाय। वोट के लिए प्रत्येक मतदाता तक भी कहीं-कहीं पहुँचना अधिक आवश्यक था—विशेषकर जहाँ कोई जबरदस्त प्रतिद्वन्द्वी था। इसमें बहुत खर्च पड़ता था। आजकल के चुनाव मोटर के बिना तो हो ही नहीं सकते; क्योंकि बिना तेज सवारी के सभी जगहों में पहुँचना असम्भव-सा है। जब प्रतिद्वन्द्वी वहाँ बार बार पहुँच रहा है तो हमको भी वैसा ही करना पड़ता है। तो भी मेरा अनुमान है कि बिहार में खर्च बहुत अधिक नहीं पड़ा और हमने अपना काम किफायत से निबाहा! पर हमें यह तो मानना ही पड़ेगा कि हमने चाहे जितना भी कम खर्च किया, गांधीजी के आदर्श से तो वह बहुत नीचे ही दीख पड़ा।

गांधीजी का विचार तो यह था कि काँग्रेस पर लोगों का इतना विश्वास होना चाहिए—यह विश्वास काँग्रेस अपनी निःस्वार्थ सेवा द्वारा ही अर्जित कर सकती है—और उसके उमीदवार ऐसे सच्चे और लोकप्रिय सेवक होने चाहिए कि काँग्रेस को अपनी ओर से केवल घोषणा-पत्र छापकर बाँट देना और अपने उमीदवारों के नाम प्रकाशित कर देना ही काफी हो—जनता में इतना उत्साह होना चाहिए कि वह, बिना किसी प्रेरणा और प्रोत्साहन के, ठीक समय पर जाकर अपना वोट काँग्रेस के उमीदवारों के पक्ष में दे दे। इसका अर्थ यह है कि चुनाव के समय का प्रचार उतना अधिक आवश्यक नहीं जितना जनता के बीच हमेशा रहकर उसकी सेवा करना। जनता की सेवा ही प्रचार का सबसे अधिक बलवान् साधन होना चाहिए।

बात तो ठीक है; पर अभी हमने इतनी सेवा नहीं की है। जिस हद तक हमारी सेवा पहुँची है उसी हद तक हम लोकप्रिय बन सके हैं और उसी अनुपात से चुनाव में हमको कम कठिनाइयों का सामना करना पड़ा है। पिछले बीस बरसों की सेवा बेकार नहीं गयी है; पर उसको अधिक विस्तृत और स्थायी होना चाहिए। इसमें जहाँ स्वार्थ की मात्रा आती जायगी, हमारी कठिनाइयाँ आगे बढ़ती जायँगी।

यह खेद के साथ लिखना पड़ता है कि चुनावों के अनुभव ने मुझे यह मानने

पर मजबूर कर दिया है कि बहुतेरे काँग्रेसी कार्यकर्त्ता अपनी सेवाओं का मूल्य आँकने लगे हैं—उनके बदले में कुछ न कुछ खोजने लगे हैं—चाहे वह असम्बली या कौन्सिल की मेम्बरी हो, चाहे वह जिला-बोर्ड या म्युनिसिपैलिटी की सदस्यता वा कोई दूसरा पद हो, चाहे और कुछ न हो तो काँग्रेस-कमिटियों के अन्दर ही कोई प्रतिष्ठा और अधिकार का स्थान हो! इसमें कोई शक नहीं कि इन स्थानों पर जाकर मनुष्य सेवा कर सकता है—कहीं-कहीं तो सेवा की शक्ति बढ़ भी जाती है। यदि इस भावना से उन पदों या स्थानों की इच्छा की जाय तो ठीक है। पर कौन कह सकता है कि इस इच्छा में सेवा-भाव का प्राबल्य है अथवा अपनी महत्त्वाकांक्षा का? यह तो शायद मनुष्य का हृदय भी ठीक नहीं बता सकता; क्योंकि वह अपने को अक्सर ऐसे मामलों में धोखा दे देता है और इस प्रकार मनुष्य अपने मन को ही समझा लेता है कि वह महत्त्वाकांक्षा से प्रभावित न होकर सेवा के लिए ही लालायित है।

गांधीजी ने एक अवसर पर कहा था कि जो आदमी काँग्रेस के सभापतित्व के लिए लालायित हो उसे सभापति नहीं बनाना चाहिए। जो इसे प्रतिष्ठा के लिए नहीं, सेवा के लिए स्वीकार करता है वह इसके लिए इच्छा नहीं करता—अवसर आ जाने पर उसे शिरोधार्य कर लेता है। यही बात उन सभी स्थानों के लिए होनी चाहिए जिनके लिए जनता चुनकर सेवक नियुक्त करती है। पर आज की प्रचलित पद्धति ऐसी है कि अपना ढोल अपने राम को ही पीटना पड़ता है! स्वभाव का स्थान महत्त्वाकांक्षा लेती है। हम इन स्थानों को अपने जीवन में अपने लिए उन्नति का साधन मानते हैं और संसार की होड़ में इन्हें अपने को आगे बढ़ाने का एक जरिया समझते हैं। यह हमारी सभ्यता और संस्कृति के प्रतिकूल है; पर आधुनिक पाश्चात्य विचारों के अनुकूल ही है। आज इससे बचना कठिन हो गया है। हम देखते हैं कि हमारे सामने आज यह आदर्श रखने में भी संकोच होता है कि चुनाव के लिए किसी को स्वयं नहीं खड़ा होना चाहिए—जिनको चुनने का अधिकार है उन पर ही योग्य व्यक्ति को खोज निकालने का भार डाल देना चाहिए—यदि उनकी दृष्टि हम पर पड़ जाय और वे हमें चुन लें तो उनकी आज्ञा मानकर अपनी शक्ति भर उनकी सेवा, जो उस स्थान से सम्भव हो, कर देनी चाहिए। संसार में सच्ची प्रजातन्त्रिक व्यवस्था तब तक नहीं हो सकती जब तक कुछ इस प्रकार की बात न चलायी जाय। इसके लिए त्याग की भावना दृढ़ होनी चाहिए, भोग की भावना कमजोर करनी चाहिए; हमारा ध्येय होना चाहिए—सेवा, न कि प्रतिष्ठा अथवा दूसरे प्रकार का स्वार्थ।

इधर पारलेमेण्टरी कमिटी इस तरह से चुनाव की तैयारी में लगी थी, उधर पंडित जवाहरलालजी देश के भिन्न-भिन्न स्थानों का दौरा करके लोगों में उत्साह पैदा कर रहे थे। उन्होंने इस समय जैसे परिश्रम और उत्साह से दौरा करके लोगों को जगाया, शायद वैसा जबरदस्त प्रचार किसी सभापति ने अपने सभापतित्व-काल में न किया होगा। उनका कहना था, और वह ठीक ही था, कि इस प्रकार के चुनाव में, जहाँ

करोड़ों आदमियों से वोट लेने थे, एक-एक वोटर तक पहुँचने की आशा व्यर्थ है; और अगर हम पहुँच भी सकें तो इसका भरोसा नहीं किया जा सकता कि ठीक समय पर हमारे पहुँचने का फल मिलेगा। सबसे अधिक आवश्यकता है वायुमण्डल को बदल देने की जिससे यदि कोई बाहर निकलने का प्रयत्न भी करे तो न निकल सके। उन्होंने ऐसा ही वायुमण्डल तैयार करने में अथक परिश्रम किया। नतीजा बहुत अच्छा हुआ।

११७—फैजपुर में काँग्रेस का सबसे पहला ग्रामीण अधिवेशन

लखनऊ का अधिवेशन अप्रैल में हुआ था। वहाँ एक निश्चय यह भी हुआ था कि कराची का वह नियम बदल दिया जाय जिसके अनुसार दिसम्बर में काँग्रेस का सालाना जल्सा न करके फरवरी-मार्च में करने का निश्चय किया गया था। इसलिए इसके बाद का वार्षिक अधिवेशन १९३६ के दिसम्बर में ही होने को था। यह केवल आठ महीनों के भीतर ही पड़ता था। देश ने जवाहरलालजी को तीसरी बार सभापति फिर चुना। यह अधिवेशन फैजपुर में हुआ। यह स्थान बम्बई प्रान्त—काँग्रेसी महाराष्ट्र प्रान्त—के पूरब खानदेश-जिले में है। यह एक गाँवमात्र है या कस्बा कहें तो एक छोटा कस्बा। गांधीजी ने विचार प्रकट किया था कि काँग्रेस का अधिवेशन गाँवों में हुआ करे तो जनता को उससे विशेष लाभ पहुँच सकता है। पहली बात तो यह होगी कि गाँव के लोगों को उसके प्रबन्ध में भाग लेना पड़ेगा और इस तरह उनके लिए उसकी सब कार्रवाइयों में रस पैदा होगा। दूसरी बात यह होगी कि अतिथियों के स्वागत-सत्कार और रहन-सहन के लिए जो इन्तजाम किया जायगा उससे गाँव-वालों को आर्थिक लाभ भी पहुँचेगा। गांधीजी चाहते थे कि प्रबन्ध भी ऐसा हो कि उसमें गाँव की चीजों से ही काम लिया जाय। इस तरह वह ग्रामोद्योगों के प्रोत्साहन का कारण भी हो। उन्होंने महाराष्ट्र के लोगों से अनुरोध किया कि वे इस काँग्रेस का प्रबन्ध यथासाध्य ग्रामोद्योगों द्वारा उत्पन्न वा उपस्थित की हुई वस्तुओं से ही करें। काम कठिन था, पर स्वागत-समिति ने यथासम्भव प्रयत्न किया।

आजकल काँग्रेस का अधिवेशन एक बहुत बड़े पैमाने पर करना पड़ता है। जहाँ-कहीं भी वह किया जाय, बहुत विशाल आयोजन करना पड़ता है। गाँवों में इस आयोजन का विस्तार और भी बढ़ जाता है। वहाँ तो कोई चीज मिलती नहीं, सब कुछ जुटाना ही पड़ता है। जहाँ लाखों आदमी जमा होनेवाले हैं, वहाँ उनके लिए केवल पानी ही जुटाना एक मुश्किल काम हो जाता है। उनके ठहरने और खाने का, रोशनी और सफाई का, प्रबन्ध कुछ कम कठिन नहीं होता। साथ ही, जहाँ इतने लोग इकट्ठे हों वहाँ उनके देखने योग्य कुछ कला की चीजों का होना भी आवश्यक होता है। गांधीजी की आज्ञा से वहाँ यथाशक्ति गाँव की चीजों का ही व्यवहार किया गया।

बंगाल की 'विश्वभारती' के प्रसिद्ध कलाकार श्री नन्दलाल वसु ने वहाँ जाकर काँग्रेस-नगर और पंडाल तथा प्रदर्शनी की सजावट इत्यादि का बहुत सुन्दर इन्तजाम

कराया। तारीफ की बात यह थी कि सजावट के लिए गाँव में मिलनेवाले बाँस और लकड़ी से ही काम लिया गया था। जो फाटक बने थे, या दूसरी सजावट की चीजें बनी थीं, उनकी सादगी में भी बड़ी खूबसूरती थी। यह देखकर लोगों को आश्चर्य हुआ कि इन छोटी-मोटी मामूली चीजों से कलाकार कितनी विचित्रता और रोचकता पैदा कर सकता है। आखिर प्रकृति की सुन्दरता तो इन्हीं चीजों की बनी होती है। हम क्या प्रकृति से भी अधिक सुन्दर कोई चीज बना सकते हैं? पर हमारी दृष्टि आज दूषित हो गयी है। हम प्रकृति के सौन्दर्य को ठीक समझ नहीं सकते। हम कला को प्रकृति से कोई अलग वस्तु मान बैठते हैं। जो हो, फैजपुर की विशेषता वहाँ की सरलता की सुन्दरता थी।

पानी के लिए वहाँ लोगों ने बहुत बड़ा कुँआ खुदवाया जो काँग्रेस के बाद भी वहाँ की जनता को लाभ पहुँचाता रहेगा। रहने के लिए झोपड़े बनवाये जिनमें गाँव के ही खर-पात, बाँस, चटाई इत्यादि का उपयोग हुआ था। इस प्रकार फैजपुर का अधिवेशन पहला ग्रामीण अधिवेशन हुआ जिसमें ग्रामोद्योगों की ही प्रधानता रही। इनमें खादी का स्थान तो प्रमुख रहता ही, और खादी का ही सभी जगहों में बोलबाला रहा।

पर अधिवेशन दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में हुआ, जब बहुत सर्दी पड़ा करती है। इसलिए बाहर के आये हुए हजारों-हजार लोगों को बहुत कष्ट हुआ; क्योंकि उस छोटे स्थान में ऐसे आगन्तुकों के ठहरने के लिए भी कोई मकान या धर्मशाला या झोपड़े तक भी नहीं मिल सकते थे। वे हजारों की संख्या में यों ही खुले मैदान और खेतों में रात को पड़ रहते थे। गांधीजी को यह बात बहुत लगी। उन्होंने उस नियम को फिर बदलवा दिया। तब से फिर काँग्रेस मार्च (वसन्त) में होती आ रही है।

फैजपुर का अधिवेशन चुनाव के चन्द दिन ही पहले हुआ था। इसलिए यहाँ चुनाव के सम्बन्ध में बहुत उत्साह था। कई जगहों के कितने ही प्रमुख कार्यकर्त्ता, अपने स्थान पर चुनाव के प्रबन्ध में लगे रहने के कारण, नहीं आये। यहाँ भी नये विधान को नामंजूर करने तथा चुनाव में भाग लेने की बात की गयी। इस चीज को अखिल भारतीय कमिटी के लिए छोड़ दिया गया कि चुनाव के बाद वह निश्चय करे कि मंत्रिमण्डल में शरीक होने के सम्बन्ध में काँग्रेस की क्या नीति होगी। जवाहरलालजी के विचार इसके विरोधी थे और मालूम थे; पर वहीं पता लग गया कि काँग्रेस मंत्रि-मण्डल बनाने के पक्ष में है और यदि प्रस्ताव उपस्थित होता तो उसे वह मंजूर करती। परन्तु अभी यह समय उस निश्चय तक पहुँचने का नहीं था; इसलिए वह अधिकार अखिल भारतीय कमिटी को ही देकर रख छोड़ा गया।

इसी अधिवेशन के कुछ पहले, श्री एम० एन० राय (मानवेन्द्रनाथ राय), विदेश से लौटने के बाद, सजा काटकर जेल से निकले थे। वह इस अधिवेशन में पहले-पहल शरीक हुए। हो सकता है कि जब वह इतने विख्यात नहीं थे, विदेश जाने के पहले, काँग्रेस में शरीक हुए हों; पर इधर यह उनका पहला ही अवसर उसमें शरीक

होने का था। हमसे भी पहले-पहल वहीं मुलाकात हुई। अभी उनके विचारों से देश परिचित नहीं था और काँग्रेस में स्वाभाविक कौतूहल था। वह युक्तप्रदेश की ओर से प्रतिनिधि और अखिल भारतीय कमिटी के सदस्य भी चुन लिये गये थे। इस तरह उनको काँग्रेस में अच्छी तरह भाग लेने का सुअवसर मिल गया था।

११८—चुनाव का दौरा और नतीजा

काँग्रेस के बाद सब लोग अपने-अपने सूबे के चुनाव में भाग लेने के लिए गये। वहीं हमने पंडित जवाहरलाल से बिहार के कुछ भागों में दौरा करने का वचन ले लिया। वह चन्द दिनों के बाद ही बिहार में दौरा करने आये। मैं भी दौरा करने योग्य हो गया था। अपने लिए भी मैंने यात्राक्रम बनाया। सभी जगहों में जवाहरलालजी का जाना सम्भव नहीं था; क्योंकि उनको तो सारे देश में दौरा करना था। इसलिए हमने ऐसा प्रबन्ध किया कि जहाँ वह न जायँ वहाँ मैं जाऊँ। मैं उनके साथ दौरे में नहीं गया। मैंने अपना दौरा अलग आरम्भ किया। इस तरह, हम दोनों ने मिलकर प्रायः सारे सूबे का दौरा कर लिया। पंडित गोविन्दवल्लभ पंत प्रभृति दूसरे नेता भी आये। जहाँ-जहाँ कमजोरी दीख पड़ी, वहाँ वे गये। जनता में अपूर्व उत्साह था। दौरे के बाद हमारे दिल में सफलता के सम्बन्ध में किसी प्रकार का शक-शुबहा नहीं रह गया। जब चुनाव का नतीजा निकला तब मालूम हो गया कि हमने जितनी आशा की थी उससे भी अधिक सफलता मिली। ऊपर कहा जा चुका है कि हरिजनों के १६ सुरक्षित स्थानों में से १५ पर काँग्रेसी उमीदवार चुने गये। स्त्रियों के लिए जो सुरक्षित स्थान हैं उनमें तीनों गैर-मुस्लिम जगहें काँग्रेस को मिलीं। मजदूरों के लिए सुरक्षित जगहों में से एक को छोड़ सभी काँग्रेस के उमीदवारों को ही मिलीं। आदिवासियों की जगहों में भी चन्द को छोड़कर सभी काँग्रेसी लोगों ने ही जीत लीं। हाँ, जमीन्दारों की जगहें काँग्रेस को नहीं मिलीं। पर एक के सिवा और किसी के लिए काँग्रेस ने उमीदवार भी नहीं खड़ा किया था, उसमें भी काँग्रेस की हार हुई। हम यह जानते भी थे, इसलिए हताश होने का यह कोई कारण न हुआ।

बिहार की असम्बली में मुसलमानों के लिए ३९ या ४० जगहें सुरक्षित हैं। चुनाव के बहुत पहले से ही काँग्रेसी मुसलमानों और दूसरे राष्ट्रीय विचारवाले मुसलमानों में बातचीत चलती रही। कुछ का विचार था कि जहाँ तक हो सके, काँग्रेस की ओर से ही सभी जगहों पर उमीदवार खड़े किये जायँ। कुछ का विचार था कि राष्ट्रीय मुस्लिम जमायतों—जैसे जमाअत-उलेमा—के साथ समझौता कर लिया जाय जिससे काँग्रेसी और दूसरे दल में कोई विरोध न हो। परन्तु काँग्रेसी मुसलमान ही एकमत नहीं थे, इसलिए काँग्रेस-कमिटी कुछ मुश्किल में थी। तो भी चन्द जगहों के लिए काँग्रेसी उमीदवार खड़े किये गये। इनमें से चन्द के लिए राष्ट्रीय मुसलमानों ने मुकाबले में उमीदवार नहीं खड़े किये। चन्द जगहों में मुकाबला हुआ भी। पर राष्ट्रीय मुसलमानों के अलावा कुछ दूसरे मुसलमान-दल भी थे—उन्होंने भी चुनाव में भाग

लिया। मुस्लिम लीग का कोई जोर नहीं था। जहाँ तक मुझे याद है, लीग की ओर से शायद ही कोई उमीदवार खड़ा किया गया था। जमाअत-उलेमा की मदद से एक दल बना जिसके खास मददगार हुए जमाअत-उलेमा के मान्य नेता और इमारत-शरायत के नायब-अमीर मौलाना अबुल महासिन महम्मद सज्जाद। इसी दल में मिस्टर महम्मद युनुस शरीक हुए। मुसलमानों का यही दल सबसे जबरदस्त दल मालूम पड़ता था। इसी दल के साथ काँग्रेस की बातचीत हुई जिसका नतीजा यह हुआ कि काँग्रेस ने चन्द जगहों के लिए ही उमीदवार खड़े किये। कई ऐसे मुसलमान, जो हर तरह से काँग्रेसी समझे जा सकते थे और जिन्होंने काँग्रेस के कार्यक्रम के अनुसार जेल-यात्रा तक की थी, उस दल की ओर से खड़े हुए। उस दल को काफी सफलता मिली। असम्बली में मुसलमानों की सबसे अधिक संख्या इसी दल की थी। पीछे जब मुस्लिम लीग का जोर बढ़ा तो शायद अब यह बात नहीं रह गयी है; पर वह तो असम्बली की बैठक होने पर ही मालूम होगा कि किसके साथ अधिक मुसलमान सदस्य हैं। युनिवर्सिटी की जगह श्री सच्चिदानन्दसिंह ने काँग्रेस-उमीदवार को हराकर ले ली।

बिहार का चुनाव पहले ही समाप्त हो गया। इसलिए यहाँ के कतिपय कार्यकर्त्ता संयुक्त-प्रदेश में चले गये। यहाँ की सफलता की बात वहाँ पहले पहुँच चुकी थी और इन लोगों ने भी जाकर कुछ काम किया। मैं भी चन्द दिनों में वहाँ गया। चन्द दिनों के लिए मध्यप्रदेश में भी गया। वहाँ के लोगों ने जहाँ मुझे ले जाना मुनासिब समझा, ले गये। मध्यप्रदेश में विलासपुर जिले में मुझसे अधिक काम लिया गया। वहाँ से एक दिन के लिए जबलपुर-जिले में कटनी के पास के क्षेत्र में भी जाना पड़ा। वहाँ विलासपुर के एक क्षेत्र में श्री राघवेन्द्र राव काँग्रेस के उमीदवार का मुकाबला कर रहे थे। उसमें काँग्रेस की हार हुई; पर दूसरी जगहों में जहाँ मैं गया, काँग्रेस की जीत हुई। उसी तरह कटनी में भी काँग्रेस की जीत रही। युक्तप्रदेश में अवध के कई जिलों में मैं गया। फिर धामपुर-जिले में गया जहाँ बहुत जोरदार मुकाबला था। धामपुर से कुछ दूर तराई में जाना था जहाँ मुश्किल से मोटर पहुँच सकी। लोगों का कहना था कि वहाँ कोई काँग्रेसी नेता पहले नहीं आया था। इसलिए वहाँ बहुत बड़ी भीड़ जमा हुई थी। लोगों में काफी उत्साह था। जाना अच्छा रहा; क्योंकि वहाँ काँग्रेस की जीत महज चन्द वोटों से ही हुई।

युक्तप्रदेश से मैं फिर महाराष्ट्र और कर्नाटक चला गया। महाराष्ट्र में कई दिनों तक दौरा किया। पर वहाँ उतनी सफलता नहीं मिली जितनी और जगहों में। एक स्थान पर तो प्रतिद्वन्द्वी ने हमारे पहुँचने के पहले ही सभा में, जो मेरे लिए एकत्र हुई थी, भाषण करके लोगों को अपने-अपने घर चले जाने के लिए कह दिया! उन्होंने कृपा करके कारण भी बता दिया कि मैं नहीं पहुँच सका और वहाँ नहीं आनेवाला हूँ! शायद यह भी कह दिया हो कि कोई काँग्रेसी कार्यकर्त्ता ही यह सन्देश लेकर आया है तो आश्चर्य नहीं! पर और जगहों में सभाएँ खूब हुईं। बहुतेरी जगहें मिलीं भी; पर जितनी आशा थी उतनी नहीं। सबसे अधिक हार रत्नागिरि में हुई जहाँ से लोग

बहुत आशा रखते थे। महाराष्ट्र से मैं कर्नाटक चला गया। कई जिलों में घूमा। वहाँ अच्छी सफलता मिली। एक स्थान में हार हुई जहाँ के सम्बन्ध में वहाँ के लोग बहुत आशा रखते थे। वहाँ के उमीदवार भी काँग्रेस के अच्छे कार्यकर्त्ता श्री हनुमन्त राव कौजलजी थे। पर चुनाव में इस तरह की बातें हुआ ही करती हैं।

इस समय तक और जगहों में चुनाव का काम प्रायः समाप्त हो चुका था। मैं आन्ध्र के एक ही जिले—'बेलारी'—में जा सका। वहीं पर दौरा समाप्त करके वर्धा वापस आ गया। इस तरह मेरा दूसरा दौरा महाराष्ट्र और कर्नाटक प्रदेशों के कई जिलों का हुआ। कई परिचित स्थानों को दुबारा देखने का अवसर मिला। इस तरह सारे देश में चुनाव-संघर्ष समाप्त हुआ। काँग्रेस की जीत बम्बई, मद्रास, मध्य-प्रदेश, युक्तप्रदेश, बिहार, उड़ीसा और आसाम में काफी हुई। पंजाब, बंगाल और सिन्ध में भी काँग्रेसी लोग चुने गये; पर उनकी संख्या इतनी नहीं थी कि और दलों से वह अधिक हो। सीमाप्रान्त में भी काँग्रेस का सबसे बड़ा दल रहा। पर एकबारगी बहुमत काँग्रेस को उस समय नहीं मिला।

चुनाव के बाद अब यह निश्चय करने का अवसर आ गया कि काँग्रेस मंत्रिपद लेगी वा नहीं। इतने सूबों में बहुमत पाकर क्या वह मंत्रिपद लेकर काम करेगी वा बिना पद लिये ही—इस विषय पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक दिल्ली में की गयी। सभापति का विचार हुआ कि सभी काँग्रेसी मेम्बर वहाँ उस अवसर पर बुलाये जायँ और सभी काँग्रेस-सदस्यों का भी एक जलसा किया जाय जिसमें वे काँग्रेस के प्रति अपनी श्रद्धा और वफादारी की सौगन्द लें। यह परिषद् (convention) बड़े उत्साह के साथ हुई। इस परिषद् में सभी उपस्थित सदस्यों ने एक साथ काँग्रेस के आज्ञापालन और देशोद्धार के काम में लगे रहने की प्रतिज्ञा की। वहीं अखिल भारतीय कमिटी की भी बैठक हुई जिसमें यह निश्चय हुआ कि काँग्रेस मंत्रिमण्डल तभी बनायेगी जब गवर्नर इस बात का वादा कर दें कि जो विशेष अधिकार उनको विधान द्वारा दिये गये हैं उनका वह व्यवहार न करेंगे, बल्कि सब बातों में मंत्रियों की सलाह से ही काम करेंगे। गांधीजी ने इस बात पर बहुत जोर दिया कि इस प्रकार का वादा कराये बिना काँग्रेस को मंत्रिपद नहीं लेना चाहिए; क्योंकि विधान में गवर्नरों के लिए बहुत अधिकार सुरक्षित रखे गये हैं—यदि वे उनका व्यवहार करेंगे तो काँग्रेसी मंत्रिमण्डल कोई बड़ा और महत्त्व का काम नहीं कर सकेगा; इसलिए यद्यपि काँग्रेस को मंत्रिमण्डल बनाने से इनकार नहीं करना चाहिए तथापि वह तभी स्वीकार करे जब गवर्नर उपरोक्त वादा कर दें।

जिस समय विधान बन रहा था, इन सुरक्षित अधिकारों के सम्बन्ध में बहुत टीका-टिप्पणी हुई थी। उस विधान के नामंजूर होने के कारणों में गवर्नर के इस प्रकार के अधिकार एक विशेष कारण थे। उस समय ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने भारत के इस विचार पर ध्यान नहीं दिया और अपनी इच्छा के अनुसार विधान बना दिया। अब गांधीजी की इस सूझ ने प्रान्तीय गवर्नरों के इन अधिकारों को निकम्मा कर देना

चाहा; क्योंकि पुस्तक में यदि ये अधिकार लिखे रह भी जायँ और गवर्नर इन्हें काम में न लावें, तो विधान की एक बहुत बड़ी शिकायत की बात दूर हो जाय। हममें से जो लोग मंत्रिपद लेने के जबरदस्त हिमायती थे वे भी इससे नाराज हुए; क्योंकि वे समझते थे कि इस अपरोक्ष रीति से ब्रिटिश गवर्नमेण्ट विधान की उन धाराओं को रद नहीं करेगी और यदि काँग्रेस इस शर्त पर अड़ी रही तो मंत्रिमंडल नहीं बनेंगे। पर जो लोग मंत्रिमण्डल बनने के विरोधी थे वे खुश थे; क्योंकि वे भी समझते थे कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इस शर्त को नहीं मानेगी और इस तरह मंत्रिमण्डल नहीं बनेगा। गांधीजी इस पर अड़े रहे। उन्होंने साफ कह दिया कि उनके मत में मंत्रिपद न लेना बड़ी भूल होगी; पर उससे भी बढ़कर यह भूल होगी कि मंत्रिपद बिना इस शर्त के लिये जायँ। अन्त में यही बात मंजूर हुई। काँग्रेसी मेम्बरों को आदेश दिया गया कि वे अपने नेता चुन लें—जब नेता को गवर्नर मंत्रिमण्डल बनाने के लिए बुलावें तो वही यह शर्त पेश करें और कहें कि गवर्नर यदि अपने विशेष अधिकारों को व्यवहार में न लाने का प्रकाश्य रूप से वादा करें तो वह मंत्रिमण्डल बनाने के लिए तैयार हैं अन्यथा नहीं।

१९३७ की पहली अप्रैल से नये विधान के अनुसार मंत्रिमंडल बन जाने चाहिए थे। उसी दिन सभी सूबों का शासन भी उस विधान के अनुसार आरंभ हो जाना चाहिए था। काँग्रेस के इस निश्चय के बाद, गवर्नरों को और उनको आदेश देनेवाले वाइसराय को अब सोचना पड़ा कि वे क्या करें। विधान के अनुसार उन्हें उस दल के नेता को, जो सबसे बड़ा वहाँ की असम्बली में था, कह देना था कि वह मंत्रि-मण्डल बनावें। असम्बली के पार्टी-मेम्बरों को भी अपना नेता चुन लेना था। इस-लिए सबसे पहले सभी सूबों के मेम्बरों के लिए यह आवश्यक था कि अपने-अपने स्थान पर एक बार मिलकर नेता चुन लें। बिहार में पार्टी और प्रान्तीय कमिटी की बैठक एक ही दिन हुई जिसमें नेता का चुनाव करना था। मैं नहीं चाहता था कि इस विषय में आपस में दलबन्दियाँ हों। मैं समझता था कि सर्वसम्मति से नेता का चुना जाना ही सबसे अच्छा होगा। मैंने देखा कि कुछ लोग किसी व्यक्तिविशेष के सम्बन्ध में आपस में बातें कर रहे थे। मेरे पास भी कुछ लोग आये। मैंने दल-बन्दी करने की मनाही की और यही राय दी कि जिस किसी के सम्बन्ध में वे बातें करते हों, पहले उससे ही पूछ लें कि इस बात को क्या वह पसन्द करते हैं। जब सभा बैठी तो उसने यह निश्चय किया कि मैं ही हर जिले के प्रमुख लोगों से अलग-अलग बातें कर लूँ और जैसी लोगों की राय मालूम हो उसके अनुसार निर्णय दे दूँ तो वोटावोटी की नौबत न आवे।

मैंने सब बातों पर विचार कर अपनी राय निर्धारित कर ली थी कि श्री श्रीकृष्ण सिंह ही पार्टी के नेता बनाये जायँ। यह निश्चय करने में मुझे इस बात से काफी मदद मिली थी कि दूसरे व्यक्ति भी—श्री अनुग्रहनारायण सिंह, जिनके सम्बन्ध में कुछ लोग बातें कर रहे थे—मुझसे निजी तौर पर कह चुके थे कि

वह इस पद को नहीं चाहते और जो लोग उनके बारे में औरों से कह रहे हैं वे उनकी इच्छा के अनुसार काम नहीं कर रहे हैं। तीसरे सज्जन, जिनके सम्बन्ध में कुछ विचार होता था, डाक्टर सैयद महमूद थे। वह कई बरसों से अखिल भारतीय कमिटी और वर्किंगकमिटी के मेम्बर रह चुके थे। खिलाफत कमिटी के दिनों में उसके प्रधान मंत्री भी रहे थे। अखिल भारतीय काँग्रेस कमिटी के मंत्री रह चुके थे। राष्ट्रीय विचारों के वह पक्के और पुराने पोषक तथा समर्थक रहे हैं। उनका त्याग किसी से कम नहीं रहा है। तथापि, वह बिहार-सूबे में, विशेषकर सूबे के काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओं में, उपरोक्त दो सज्जनों के मुकाबले कम लोकप्रिय रहे हैं। सूबे के बाहर अधिक काम करने के कारण उनसे सबका उतना परिचय नहीं है जितना इन दो सज्जनों से। इन दोनों में भी बाबू श्रीकृष्ण सिंह अपनी वक्तृत्व-शक्ति के द्वारा अपने को अधिक लोकप्रिय बना सके हैं। त्याग की मात्रा और निर्भीकता में भी वह लासानी हैं। अनुग्रह बाबू की संगठन-शक्ति और आफिस चलाने की शक्ति के सभी कायल हैं। इन्हीं कारणों से मेरा विचार श्रीकृष्ण बाबू के पक्ष में था। जब मैंने सभी जिलों के लोगों से बातें कीं तो अधिकांश लोगों की भी राय मेरी राय से मिल गयी। श्री रामदयालु सिंह भी प्रान्त के एक ऐसे प्रतिष्ठित व्यक्ति हैं कि उनके सम्बन्ध में भी कुछ लोगों का विचार हो सकता था; पर इसमें शक नहीं कि कुछ लोग उनका काफी विरोध भी करनेवाले थे, जिनमें उनके अपने जिले के भी कुछ लोग थे। कुछ लोग मुझसे नाराज हुए और कहने लगे कि मैंने एक सज्जन के सम्बन्ध में प्रचार करके जिले के लोगों से उनको मनवा लिया। बात ऐसी नहीं थी; पर यदि होती भी तो मुझे इसका अफसोस या इसकी शर्म नहीं होती; क्योंकि जहाँ तक मैं समझ सकता और देख सकता था, जिले के लोग श्रीकृष्ण बाबू और अनुग्रह बाबू में से ही एक को नेता बनाना चाहते थे, पर अनुग्रह बाबू इस होड़ में पड़ना नहीं चाहते थे। इसलिए, यदि मैंने कुछ किया भी हो तो उसका असर इतना ही मात्र था कि मैंने दो नाम प्रस्तावित नहीं होने दिया। अन्त में एक ही नाम आया और वह श्रीकृष्ण बाबू का, जिसको लोगों ने सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया।

पीछे इस बात से मुसलमानों में—विशेषकर काँग्रेस के बाहर के मुसलमानों में—कुछ कटुता बढ़ी। उन लोगों ने अपनी यह राय भी जाहिर की कि डाक्टर महमूद केवल मुसलमान होने के कारण नेता नहीं बनाये गये—यद्यपि वह अखिल भारतीय कमिटी में औरों के मुकाबले अधिक विख्यात थे और अधिक काम कर चुके थे। यह बात मौलाना अबुल कलाम आजाद साहब तक पहुँचायी गयी। मैं आज भी जब सब बातों पर विचार करता हूँ तो मुझे ऐसा नहीं मालूम होता कि डाक्टर साहब को नेता न बनाने में मैंने कुछ भूल की। इसका अर्थ यह नहीं है कि उनके प्रति मेरा वह प्रेम और आदर नहीं है जो श्रीकृष्ण बाबू के प्रति है। मैं उनके गुणों का कायल हूँ। पर जब ऐसा समय आ जाता है कि दो या अधिक मित्रों में से किसी एक को ही किसी स्थान के लिए देश की दृष्टि से चुनना पड़ता है, तो उनमें से

भी एक को निकाल लेना ही पड़ता है। पर यदि कोई यह कहे कि एक-एक करके वे सब बातें बता और सुझा दी जायँ जिनके कारण 'क' लिया गया और 'ख' नहीं, तो यह असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। यह कठिनाई इस कारण से नहीं होती कि हम सब बातें किसी के सम्बन्ध में कहना नहीं चाहते। मेरा अनुभव ह कि ऐसे मामलों में सब सोच-विचार करके आदमी एक निश्चय पर पहुँचता है और उसके सब कारणों को वह स्वयं भी इतना नहीं जानता कि स्पष्ट रूप से सबके सामने उन्हें रख सके——तब भी उसके अपने हृदय में सन्तोष रहता है कि वह ठीक कर रहा है। यही बात यहाँ भी है। मुझे इस बात का सन्तोष है कि जब पीछे यह बात शिकायत के रूप में मौलाना अबुल कलाम आजाद के सामने रखी गयी तो उन्होंने शिकायत करनेवालों से यही कहा कि यदि वह मेरे स्थान पर होते तो वह भी सब विचार करके शायद वही फैसला करते जो मैंने किया था।

बिहार में यह पहला मरहला इस तरह से खूबी के साथ तय हो गया। पर सभी सूबों में ऐसा नहीं हुआ। कई जगहों में, जैसे मध्यप्रदेश और उड़ीसा में, आपस में काफी मनोमालिन्य हो गया जिसका नतीजा पीछे मालूम हुआ जब आपस की दलबन्दियाँ फूटकर निकल आयीं। युक्तप्रान्त में शायद किसी किस्म का मतभेद न हुआ। बम्बई में एक ऐसे सज्जन नेता बनाये गये जिनके चरित्र और योग्यता के बारे में तो किसी को सन्देह न था, पर जो वहाँ के अधिक विख्यात लोगों में नहीं थे। यह थे बाला साहब खेर। यह हमेशा अपने को पीछे रखा करते थे। यद्यपि विचार के पक्के और काम में निपुण थे तथापि इनको बाहर के लोग कम ही जानते थे। इसका एक घटना से प्रमाण मिलता है। फैजपुर-काँग्रेस के समय इनके जिम्मे स्टेशन पर काँग्रेस-यात्रियों से मिलने और उनका स्वागत करने का काम था। वहाँ भी जो लोग इनको पहले से नहीं जानते थे वे शायद ही जान सके कि बम्बई-सूबे के भावी प्रधान मंत्री——वह भी एक अत्यन्त सफल और कार्यदक्ष प्रधान मंत्री——उनका स्वागत कर रहे हैं, उनके असबाब को गाड़ियों पर लदवा रहे हैं अथवा खुद आगे बढ़कर उनको गाड़ियों पर सवार करा रहे हैं। युक्तप्रदेश में भी पं० गोविन्दवल्लभ पंत को सभी जानते और चाहते थे। केन्द्रीय असम्बली में उन्होंने जिस तरह काम किया था उससे वहाँ या दूसरे सूबों के लोगों के दिल में यह खयाल ही नहीं उठ सकता था कि उनके सिवा वहाँ कोई दूसरा इस पद पर चुना जा सकता है। यही बात मद्रास-प्रान्त के मंत्री श्री राजगोपालाचारी के सम्बन्ध में थी।

गवर्नरों ने अपने-अपने सूबे में, जहाँ काँग्रेस का बहुमत था अथवा जहाँ सबसे बड़ा दल काँग्रेसियों का था, काँग्रेस-पार्टी के नेता को बुलाया और विधानानुसार उनको मंत्रिमण्डल बनाने में सहायता देने को कहा। उन नेताओं ने अपनी ओर से वही बात पेश की जिसका आदेश अखिल भारतीय कमिटी से उनको मिला था। गवर्नर कहीं भी इस बात पर राजी नहीं हुए कि वे अपने विशेष और सुरक्षित अधिकारों को काम में नहीं लावेंगे। उनका कहना था कि विधान के बदलने का अधिकार उनको

नहीं था और वे उसे इस तरह वादा करके परोक्ष रीति से नहीं बदल सकते। जहाँ तक मुझे मालूम है, सबसे पहले मद्रास के गवर्नर ने ही राजाजी को बुलाया। जो बात वहाँ हो गयी वही सभी जगहों में दुहरायी गयी। वहाँ की खबर अखबारों में छप गयी कि राजाजी ने गवर्नर के इनकार करने पर मंत्रिमण्डल बनाने से इनकार किया। यही सब जगहों में हुआ।

पर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने इस तरह से इस विधान को, जिसके बनाने में उसने कई साल लगाये थे और जिसके सम्बन्ध में इतना प्रचार किया गया था, जन्म लेने के पहले ही मरने देना पसन्द नहीं किया। उसके कर्मचारियों के हृदय में शायद आशा लगी थी कि काँग्रेसवाले मंत्रिपद के लोभ का संवरण नहीं कर सकेंगे; इसलिए अगर १ अप्रैल को नहीं तो कुछ दिनों में उनमें फूट डालकर पीछे उनका बहुमत इधर-उधर कर दिया जा सकेगा। इसलिए उन्होंने निश्चय कर लिया कि चाहे जिस तरह से हो, जिस-किसी का हो, चन्द दिनों के लिए ही सही, असम्बली के बहुमत के विरुद्ध ही क्यों न हो, मंत्रिमण्डल बन जाना चाहिए—किसी न किसी को प्रधान मंत्री और उसके साथ कुछ औरों को जुटाकर १ अप्रैल को मंत्रिमण्डल के नाम अवश्य प्रकाशित करा देने चाहिए। अब यही कोशिश सभी सूबों में होने लगी। किन्तु यह काँग्रेस के लिए बड़े गौरव की बात रही कि किसी भी सूबे में एक भी काँग्रेसी ऐसा न मिला जो इस चकमे में आकर मंत्रिपद स्वीकार करे! इसलिए, काँग्रेस के बाहर के लोगों में से ही कुछ लोगों को नियुक्त करना अत्यावश्यक हो गया। गवर्नर ऐसा कर भी सकते थे; क्योंकि विधान के अनुसार, छः महीनों तक, असम्बली की बैठक कराये बिना भी, शासन का काम, गवर्नर की अनुमति और उनके बजट मंजूर कर देने से, चल सकता था। उन्होंने इसी आशा से सभी जगहों में मंत्रिमण्डल बना दिये कि इन पाँच-छः महीनों में शायद हवा बदल जाय—शायद काँग्रेसियों का कुछ दाव बदल जाय।

बिहार-सूबे में गवर्नर ने यह काम मि० महम्मद युनुस को सुपुर्द किया। यह सज्जन मुसलमानों की इण्डिपेण्डेण्ट-पार्टी की ओर से चुने गये थे जिसके प्रमुख सहायक थे मौलाना अबुल मुहासिन महम्मद सज्जाद। मौलाना सज्जाद जमीयत-उलेमा के प्रमुख व्यक्ति थे। समझा जाता था कि काँग्रेस के साथ उनकी पूरी हमदर्दी है। चुनाव में भी उनसे यदि सुलह नहीं तो कोई झगड़ा भी नहीं हुआ था। कितने ही काँग्रेसी मुसलमानों ने उनकी पार्टी में इसलिए अपने नाम लिखाये थे कि वे उस तरह आसानी से चुने जा सकेंगे—विशेषकर जब वे यह समझते थे कि काँग्रेस की नीति से मौलाना सज्जाद बहुलांश में सहमत हैं। पर इस मौके पर मौलाना चूके। उन्होंने अपनी पार्टी में निश्चय किया कि वह मंत्रिमण्डल बनाये। मालूम नहीं कि वहाँ क्या बातें हुईं। तरह-तरह की बातें उस समय की हवा में थीं। कुछ लोग कहते थे, काँग्रेसी विचारवाले मुसलमानों ने विरोध किया, पर उनकी संख्या औरों के मुकाबले एक या दो घटती थी। कुछ लोग कहते थे, पार्टी को आखिरी फैसला देने का मौका

ही नहीं मिला; क्योंकि जब एक जगह में बैठकर पार्टी इस विषय पर विचार कर रही थी कि वह मंत्रिमण्डल बनावे या न बनावे तब मि० युनुस गवर्नर के पास जाकर वादा कर आये कि वह मंत्रिमण्डल बनाने के लिए तैयार हैं तथा गवर्नर के कहने पर उन्होंने मंत्रियों के नाम भी दे दिये, जिनको गवर्नर ने मंजूर कर लिया, और तब उन्होंने आकर पार्टी की सभा में—जो उनका इंतजार कर रही थी—यह खबर दी कि मंत्रिमण्डल की नियुक्ति हो गयी! पार्टी इसके बाद कुछ न बोल सकी—शायद उसने भी अब इस विषय पर कुछ कहना फजूल समझा! मालूम नहीं, सच क्या है!

इस सम्बन्ध में बिहार में एक बड़ी बात हो गयी। हमको खबर मिली कि मि० युनुस काँग्रेस के दूसरे मेम्बरों को तो नहीं फोड़ सके हैं, पर वह हरिजन-मेम्बर पर बहुत जोर डाल रहे हैं और उन्होंने श्री जगजीवनराम को मंत्रिमण्डल में एक स्थान देना मंजूर किया है! यह भी खबर लगी कि वह श्री जगजीवनराम को साथ लेकर गवर्नर के पास गये भी हैं अथवा कहीं अन्यत्र उनसे बातें करने के लिए उन्हें ले गये हैं! सब लोग कुछ चिन्तित होने लगे कि शायद एक काँग्रेसी आदमी को भी फोड़ने में वह सफल न हो जायँ। पर मुझे इस बात की चिन्ता नहीं थी; क्योंकि मुझे पहले ही खबर मिल चुकी थी कि मि० युनुस की कोशिश जरूर है, मगर श्री जगजीवनराम इस तरह बहकावे में आनेवाले नहीं हैं। अन्त में ऐसा ही हुआ। मंत्रिमण्डल बना; पर उसमें शामिल होने से श्री जगजीवनराम ने साफ इनकार कर दिया—कोई भी दूसरा काँग्रेसी आदमी शरीक न हुआ। इस तरह यह पहला जबरदस्त प्रयत्न असफल रहा। मिनिस्ट्री बनने से हमें कई चिन्ता नहीं थी; क्योंकि हम जानते थे कि छः महीनों के अन्दर या तो मिनिस्ट्री टूटेगी या विधान ही रद होगा या उसे बदलना पड़ेगा। कारण यह कि इतने अधिक बहुमत से काँग्रेसी चुने गये हैं कि कोई दूसरी पार्टी या सभी दूसरे लोग मिलकर भी असम्बली में काँग्रेस का मुकाबला नहीं कर सकेंगे—यदि असम्बली और कौन्सिल दोनों का संयुक्त अधिवेशन भी हो, तो भी काँग्रेस का ही बहुमत रहेगा। जिस दिन मिनिस्ट्री बनी उस दिन पटने में कुछ लोगों ने मि० युनुस के विरुद्ध प्रदर्शन किया जिनमें मुख्य थे श्री जयप्रकाशनारायण। वह गिरफ्तार कर लिये गये। उन पर मुकदमा चलने के बाद उनको कुछ सजा भी मिली। पर पीछे मि० युनुस ने मीयाद पूरी होने के पहले ही उनको छोड़ दिया।

इसी तरह और सूबों में भी मंत्रिमण्डल बन गया। कम से कम यह दिखलाने के लिए हो गया कि नये विधान के अनुसार शासन होने लगा। पर यह बात गवर्नर लोग जानते थे और मंत्री लोग भी कि यह चन्दरोजा तमाशा है। वे लोग इस प्रयत्न में थे कि यदि वे फोड़फाड़ कर बहुमत न बना सकेंगे तो कोई न कोई रास्ता काँग्रेस के साथ मेल करने का निकालना ही चाहिए। काँग्रेस में जो लोग मंत्रिमण्डल बनाने के विरोधी थे, खुश थे कि किसी तरह काँग्रेस तो इसमें नहीं पड़ी और उनकी अड़ंगा-

नीति के काम में आने का अब भी मौका है। जो पक्ष में थे वे यह समझते थे कि आज नहीं तो चन्द दिनों के बाद काँग्रेसी मंत्री होंगे ही और जब होंगे तब गवर्नर के विशेषाधिकारों को स्थगित करा करके ही होंगे। इसलिए, इस समय, इस सम्बन्ध में, काँग्रेसी निश्चिन्त थे। मंत्रिमण्डल अपने को लोकप्रिय बनाने की फिक्र में था और गवर्नर लोग तथा वायसराय इस जिच्च के हल निकालने में लगे थे। गवर्नमेण्ट की ओर से जब-तब विज्ञप्तियाँ निकलतीं और काँग्रेस की ओर से उनको ना-काफी बताकर छोड़ दिया जाता।

तीन महीनों के बाद वायसराय ने एक विज्ञप्ति निकाली जिस पर वर्किंग कमिटी ने विचार करके कुछ और स्पष्टीकरण चाहा तथा काँग्रेस-पार्टी के नेताओं को आदेश दिया कि यदि वह स्पष्टीकरण उनको संतोषदायक मालूम हो तो वे मंत्रिपद ग्रहण कर सकते हैं। बात यह थी कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट यह बात साफ-साफ शब्दों में तो कह नहीं सकती थी कि विधान की कुछ धाराएँ उड़ा दी गयीं; क्योंकि उसको यह कहने का अधिकार भी नहीं था। पर उसने अपनी नीति घुमा-फिराकर बता दी कि अधिकार रखते हुए भी गवर्नर उनसे काम नहीं लेंगे। चूँकि यह बात स्पष्ट शब्दों में नहीं कही गयी थी, स्पष्टीकरण आवश्यक था। वर्किंग कमिटी के इस निश्चय के बाद मालूम हो गया कि अब शीघ्र ही फिर काँग्रेसी लोग मंत्रिमण्डल बनाने के लिए बुलाये जायँगे!

इसी समय बिहार-प्रान्तीय कान्फ्रेन्स का अधिवेशन सारन-जिले के 'मसरक' गाँव में करने का निश्चय हुआ था। प्रोफेसर अब्दुल बारी इसके सभापति मनोनीत हुए थे। वहाँ हम सब गये और कान्फ्रेन्स का काम समाप्त करके छपरे पहुँचे। वहीं मालूम हुआ कि गवर्नर ने श्री बाबू को बुला भेजा है और एक चपरासी पत्र लेकर वहीं आकर उनसे मिला। वहाँ हम लोगों को मौका मिला कि मंत्रिमण्डल के सम्बन्ध में हम कुछ बातें कर लें। पर अभी तक हम यही निश्चय कर सकते थे कि वर्किंग कमिटी के आदेशानुसार यदि स्पष्टीकरण संतोषजनक होता है तो हम मंत्रिमण्डल बनाने के लिए तैयार हैं—यदि गवर्नर मंत्रिमण्डल बनाने को कहें तो इसके लिए समय लेकर श्रीकृष्ण बाबू वापस आ जायँगे और तब हम लोग एकत्र बैठकर विचार कर लेंगे कि कौन-कौन मंत्रिमण्डल में लिये जायँ। छपरे में कुछ प्रारंभिक बातें हो गयीं। विचार-विनिमय भी हो गया जिसके आधार पर हम चन्द आदमी, जो वहाँ मिले थे, इस बीच में सोच सकेंगे।

मंत्रियों को चुनना कठिन समस्या थी। पहली बात तो यह थी कि कितने मंत्री हों। मेरा विचार था कि इसके पहले चार आदमी थे जो शासन के सारे काम को सँभालते थे और जो सभी विभागों की निगरानी कर लिया करते थे। इनमें दो तो गवर्नर के एकजिक्युटिव-कौन्सिल-मेम्बर हुआ करते थे और दो मिनिस्टर। इस-लिए मैं समझता था कि जब इस नये विधान के पहले चार आदमी सब काम सँभाल लेते थे तो अब भी चार मंत्रियों को ही सब काम सँभाल लेना चाहिए। अधिक मंत्री बनाने

से खर्च अधिक होगा और कुछ ऐसा मालूम होगा कि ये लोग अपने लिए पद पाने की अभिलाषा से आये हैं तथा जितना हो सकता है उतने पद पैदा करके आपस में बँटवारा कर रहे हैं। जहाँ-जहाँ मंत्रिमंडल पक्के तौर पर बना था, मंत्रियों की संख्या अधिक रखी गयी थी और हमने इस बात पर कुछ टीका भी की थी! यद्यपि काँग्रेस के मंत्रियों के लिए अखिल भारतीय कमिटी ने मकान और सवारी के अलावा ५००) मासिक नियत कर दिया था, और इस तरह खर्च बहुत कम हो जाता था, तो भी मैं इस विचार में दृढ़ था कि मंत्रियों की संख्या अधिक न होनी चाहिए—विशेषकर बिहार में चार से अधिक की गुंजाइश नहीं है। मुझे यह कह देना उचित मालूम होता है कि पीछे मैंने देखा कि मेरा विचार गलत था; क्योंकि हमारे सभी मंत्री इस प्रकार के काम में अभी नवसिखुए थे और पहले का कुछ विशेष अनुभव नहीं रखते थे। इसके अलावा हमारे मंत्रियों को पहले के चलाये हुए ढर्रे पर ही काम नहीं करना था—लकीर नहीं पीटनी थी; उनको बहुतेरे नये प्रोग्राम चलाने थे, इसलिए उन प्रोग्रामों के सम्बन्ध में जानकारी हासिल करने और विचार निश्चित करने में समय लगनेवाला था। अतः कुछ दिनों के अनुभव के बाद मैंने सोचा कि शायद चार से अधिक मंत्री रखना ही अच्छा होता। पर उस दिन मैं अपने विचार में दृढ़ था और सोचता था कि चार से अधिक मंत्री रखना बिहार के लिए उचित न होगा।

इसके अलावा एक बात और थी जिसका कुछ न कुछ असर इस निश्चय पर पहुँचने में जरूर पड़ता था। हम लोग सोच रहे थे कि प्रांत में कुछ ऐसे प्रमुख व्यक्ति हैं जिनके सम्बन्ध में किसी क़िस्म का मतभेद नहीं हो सकता; पर जब हम उनसे आगे बढ़ते थे तो कुछ ऐसे लोग सामने आ जाते थे जिनमें से चुनाव करने में—किनको लेना, किनको न लेना, यह निश्चय करने में—काफी कठिनाई सामने आती थी। इसलिए भी विचार होता कि उन प्रमुख व्यक्तियों तक ही यदि हम अपना चुनाव परिमित रखें तो बुरा न होगा।

एक-दो और बातों का भी उल्लेख उचित होगा। इस विषय में प्रायः सभी सहमत हो गये थे कि एक हरिजन का मंत्री बनना आवश्यक है। यदि और विचारों को छोड़ भी दिया जाय, तो भी उन्होंने मि० युनुस की बात न मानकर—बहुत बड़े प्रलोभन का लोभ संवरण करके—मंत्रिपद के लिए अपना दावा साबित कर दिया है। इसलिए यह एक निर्विवाद बात सबके मन में खुद-बखुद तय हो चुकी थी।

हजारीबाग के श्री रामनारायणसिंह चाहते थे कि छोटानागपुर की ओर से वहाँ का कोई मंत्री अवश्य नियुक्त किया जाय। उनका कहना था कि सूबे का वह हिस्सा पिछड़ा हुआ माना जाता है और काँग्रेस भी उसकी ओर पूरा ध्यान नहीं देती। इसकी शिकायत वह हमसे मित्र-भाव से बराबर किया करते थे कि मैं भी उस हिस्से पर काफी ध्यान नहीं देता हूँ। इसके समर्थन में वह कहा करते थे कि मैं वहाँ जाकर कभी कुछ दिनों के लिए नहीं रहता हूँ। मैं भी उनसे मजाक में

कहा करता था कि पिछले बीस-बाइस बरसों में जितना मैं एक साथ छोटानागपुर में रहा हूँ उतना किसी दूसरे एक स्थान में नहीं; क्योंकि जेल-जीवन बराबर हजारीबाग में ही काटना पड़ा है! यह मजाक के लिए तो ठीक उत्तर होता; पर उनको इससे सन्तोष नहीं हो पाता। इसलिए उन्होंने जोर लगाया कि छोटानागपुर का भी एक मंत्री अवश्य होना चाहिए। वह स्वयं वहाँ के प्रमुख काम करनेवाले थे। उस समय वह केन्द्रीय असम्बली के मेम्बर थे। प्रान्तीय चुनाव के समय वह प्रान्तीय असम्बली के लिए खड़े नहीं हुए थे। इसलिए, यदि वह मंत्री बनाये जाते तो इसका यह अर्थ होता कि कहीं जगह खाली करके उनके स्थान पर कुछ दिनों के अन्दर प्रान्तीय असम्बली का मेम्बर भी बनवाना पड़ता। जो चुने हुए काँग्रेसी लोग थे, वे इसे बहुत बुरा मानते; क्योंकि वे यह मानते और ठीक ही मानते कि उनमें कोई इस पद के योग्य नहीं समझा गया, इसलिए चुने हुए लोगों को छोड़कर बाहर से एक आदमी लेना पड़ा है। इन विचारों से उनको मंत्रिमण्डल में लेना असंभव हो गया। इससे वह बहुत असन्तुष्ट हुए। उन्होंने मेरे पास कई पत्र भी भेजे जिनका मैंने उत्तर तो दिया, पर शायद उन्हें सन्तोष न दे सका। सार्वजनिक जीवन में ऐसा कभी-कभी करना पड़ता है। मुझ-जैसे आदमी के लिए, जिसे किसी के साथ कटुता पैदा करने में बहुत दुःख होता है, ऐसा अनचाहा काम भारी मुश्किल पेश कर देता है। पर कर्त्तव्य की दृष्टि से आज भी मैं समझता हूँ कि इस सम्बन्ध में मेरा जो निश्चय हुआ वह ठीक ही हुआ।

अन्त में, हमको एक और कठिनाई सुलझानी थी। हरिजनों में दो प्रमुख काँग्रेसी थे—एक श्री जगलाल चौधरी, जो १९२० में कलकत्ता-मेडिकल-कालेज के अन्तिम दर्जे में पढ़ रहे थे और कुछ महीनों में ही एम० बी० पास करके डाक्टर हो जानेवाले थे, पर काँग्रेस की पुकार पर परीक्षा छोड़कर तब से बराबर एकचित्त हो काँग्रेस की सेवा में, विशेषतः रचनात्मक काम में, लगे रहे—सत्याग्रह में भी भाग लेकर जेल-यात्रा कर आये थे; दूसरे श्री जगजीवनराम, जो बड़े उत्साही और सुयोग्य कार्यकर्त्ता थे, थोड़े दिनों से ही काँग्रेस का काम करने पर भी काफी प्रभाव रखते थे और मि० युनुस की दी हुई मिनिस्ट्री ठुकरा चुके थे। सब बातों पर बहुत सोचने के बाद हमने श्री जगलाल चौधरी को ही मंत्री और श्री जगजीवनराम को पारलेमेण्टरी सेक्रेटरी बनाने का निश्चय किया।

११९—काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों का निर्माण

इस तरह, हमने निश्चय कर लिया कि श्रीकृष्णसिंह प्रधान मंत्री हों। उनके साथ डाक्टर सैयद महमूद, श्री अनुग्रहनारायणसिंह और श्री जगलाल चौधरी मंत्री हों तथा चार मंत्रियों के साथ आठ पारलेमेण्टरी सेक्रेटरी हों। श्री रामदयालुसिंह स्पीकर मुकर्रर हो ही चुके थे और प्रो० अब्दुल बारी डिपुटी-स्पीकर। पारलेमेण्टरी सेक्रेटरियों में श्री कृष्णवल्लभसहाय, श्री शार्ङ्गधरसिंह, श्री जीमूतवाहन सेन, श्री

विनोदानंद झा, श्री शिवनन्दन मंडल, श्री जगजीवनराम और श्री सदीदुल हक नियुक्त किये गये। उस समय मैंने समझा कि ये नियुक्तियाँ ठीक की गयी थीं और पीछे भी मुझे अपनी राय बदलने का मौका न हुआ—यद्यपि कुछ लोगों का विचार था कि इससे बेहतर चुनाव हो सकते थे। जहाँ तक मैं समझ सका, सभी मंत्रियों की भी इस बात में मेरे साथ सहमति थी।

मैं दो बातों का कहना भूल गया—यद्यपि उनको पहले ही कहना चाहता था। एक बात का सम्बन्ध था प्रान्तीय लेजिसलेटिव-कौन्सिल के चुनाव के साथ और दूसरी बात थी असम्बली के सभापति या स्पीकर के चुनाव की। कौन्सिल के मत-दाता अधिकतर ऐसे ही लोग हैं जो धनी-वर्ग के हैं, अर्थात् जिनमें जमीन्दारी का अधिक माल देनेवालों अथवा काफी इनकम-टैक्स देनेवालों की ही संख्या ज्यादा है। इसलिए हमको जैसे जमीन्दारी की जगहों के चुनाव में जीतने की आशा नहीं थी वैसे ही इन जगहों के जीतने में भी कम आशा थी। पर इसमें दो तरह से सदस्य चुने जाते हैं—कुछ तो ऐसे होते हैं जो मतदाता द्वारा चुने जाते हैं और कुछ अस-म्बली के मेम्बरों द्वारा। असम्बली द्वारा चुने जानेवाले लोगों में तो काँग्रेसी लोग काफी लोगों को चुन ले सकते थे; पर मतदाताओं में उनके उतने अधिक मददगार शायद नहीं थे। इसलिए हमने पहले से ही सोच रखा था कि हम सभी जगहों के लिए उमीदवार नहीं खड़े करेंगे। पर जो चन्द जगहें मिल सकती थीं, उनके लिए हमने खड़े किये और जीते भी; पर हमारी शक्ति असम्बली द्वारा ही प्रदर्शित हो सकती थी।

स्पीकर का चुनाव करने के लिए एक दिन असम्बली की बैठक हुई। उस दिन के लिए गवर्नर ने श्री सच्चिदानन्दसिंह को सभापति नियुक्त कर दिया था। मैं भी उसी एक दिन असम्बली में गया। उसके पहले कभी बिहार-असम्बली में नहीं गया था। उसके बाद भी फिर कभी जाने का सुअवसर नहीं मिला। खैर, श्री रामदयालुसिंह चुने गये। चुनाव के बाद श्री सच्चिदानन्दसिंह ने एक मजेदार भाषण किया जिसमें उन्होंने रामदयालु बाबू का स्वागत करते हुए मेरे एक भाषण का उद्धरण दिया था। उस उद्धरण में कहा गया था कि जो उमीदवार काँग्रेस की तरफ से चुने जाते हैं वे तो काँग्रेस के नियंत्रण में और उसकी नीतियों तथा नियमों के बन्धन में रहेंगे; पर जो स्वतन्त्र रूप से चुने जाने के लिए खड़े हुए हैं वे छुट्टे साँड़ हैं जिन पर किसी प्रकार का बंधन अथवा नियन्त्रण नहीं है। मेरे इसी वाक्य को लेकर उन्होंने बड़ा मजाक किया था।

इस तरह मिनिस्ट्री मुकर्रर हो गयी। मैंने नियक्ति के दिन ही मंत्रियों से कहा कि सबसे अच्छा तो यह होगा कि कुछ दिनों तक सभी मंत्री एक ही साथ रहें, यदि ऐसा न हो सके तो किसी न किसी बहाने वे प्रतिदिन आपस में मिलकर अपने सभी विभागों के सम्बन्ध में बे-जाब्ता तरीके पर विचार-विनिमय कर लिया करें; इस तरह सभी विभागों के काम से सबका परिचय रहेगा और सभी को

किसी भी महत्त्वपूर्ण निश्चय पर पहुँचने के पहले दूसरों के विचारों एवं अनुभवों का लाभ मिल जायगा--विशेषकर जब कभी कोई महत्त्वपूर्ण विषय उपस्थित हो अथवा किसी विशेष स्थान के लिए कोई नई नियुक्ति करनी हो तो वे आपस में जरूर विचार-विमर्श कर लिया करें। यह इसलिए भी आवश्यक था कि अभी इस तरह के काम में सभी अनुभवहीन थे और सबके लिए यह आवश्यक था कि हमेशा चौकन्ने रहकर एक दूसरे के अनुभवों से लाभ उठाते रहें। पर खेद है कि ऐसा हो नहीं सका! पीछे मालूम हुआ कि सब मंत्रियों को अपने विभाग के सिवा दूसरे विभागों की सभी बातों की जानकारी नहीं रहती थी। इससे कहीं-कहीं कुछ शिकायतें भी पैदा हो गयीं। बम्बई में श्री खेर ने इस नीति को शुरू से ही बर्ता। वहाँ के मंत्री प्रायः प्रतिदिन एकत्र मिल लिया करते और इस प्रकार एक दूसरे की कार्रवाइयों से पूरी तरह परिचित रहते। युक्तप्रदेश और मद्रास में तो श्री गोविन्दवल्लभ पन्त और श्री राजगोपालाचारी का ऐसा व्यक्तित्व ही था कि वे स्वयं मंत्रियों की कार्रवाइयों से अपने को पूरी तरह परिचित रखते; इस तरह वहाँ भी ठीक काम चलता रहा।

मुझे मिनिस्ट्री के सिलसिले में उड़ीसा भी जाना पड़ा। वहाँ पार्टी के नेता के चुनाव के समय आपस का मतभेद मालूम हुआ था। यह बात पारलेमेण्टरी कमिटी तक आयी थी। पं० नीलकण्ठदास उड़ीसा के प्रमुख व्यक्तियों में हैं। १९२१ से ही उन्होंने काँग्रेस में बहुत काम किया था। वह स्वर्गीय पं० गोपबन्धुदास के सहकर्मियों में से थे। १९३०-३४ के सत्याग्रह-आन्दोलन में हम लोगों के साथ ही हजारीबाग जेल में थे। उन दिनों भी उनकी राय मालूम होती थी कि जो नया विधान बने उसमें काँग्रेस को मंत्रिपद स्वीकार करना चाहिए। जब १९३४ में केन्द्रीय असम्बली के लिए चुनाव हुआ तो वह उड़ीसा के क्षेत्र से काँग्रेसी सदस्य चुने गये थे। १९३७ में नये विधान के अनुसार, जब बिहार से उड़ीसा अलग हो चुका था, उसकी असम्बली के लिए सदस्यों का चुनाव हुआ तो वह स्वयं किसी क्षेत्र से प्रान्तीय असम्बली के लिए खड़े नहीं हुए। पर जब काँग्रेस का बहुमत हो गया और यह मालूम हो गया कि जब कभी काँग्रेस मंत्रिपद लेगी तो असम्बली का नेता ही प्रधान मंत्री होगा, तब उन्होंने वहाँ के मेम्बरों से नेता चुने जाने की इच्छा प्रकट की। प्रान्तीय चुनाव में उन्होंने परिश्रम भी किया था। उस चुनाव की सफलता में उनका हाथ था। पर वहाँ के सदस्यों के सामने अब यह प्रश्न उपस्थित हो गया कि किसी ऐसे आदमी को, जो असम्बली का सदस्य नहीं था, असम्बली-पार्टी का नेता वे कैसे चुनें। असम्बली-पार्टी के नेता को असम्बली में हाजिर रहना चाहिए। वहाँ रहकर ही वह अपना काम पूरा कर सकता है। इसके अलावा, यदि गवर्नर बुलावेगा तो वह असम्बली के किसी सदस्य को ही बुलाना चाहेगा, और किसी बाहर के व्यक्ति को बुलाने में उसे दिक्कत होगी। यह दूसरी बात है कि बाहर का आदमी भी इस शर्त पर मिनिस्टर हो सकता है कि छः महीनों के अन्दर वह कहीं से सदस्य चुना जायगा। पर पं०

नीलकण्ठदास केवल मंत्री होना नहीं चाहते थे। वह प्रधान मंत्री ही हो सकते थे; क्योंकि वही पद उनके योग्य था। पारलेमेण्टरी कमिटी की राय हुई थी कि मेम्बरों में से ही कोई नेता चुना जा सकता है। इसलिए श्री विश्वनाथदास ही नेता चुने गये, जो ब्रह्मपुर-जिले के रहनेवाले हैं और जो पहले मद्रास-असम्बली के मेम्बर रह चुके थे जब उनका यह जिला मद्रास-प्रान्त का भाग था।

मुझे इसलिए जाना पड़ा कि वहाँ आपस के इन झगड़ों से कुछ मतभेद होने का भय था। मैं वहाँ गया। सबसे नाजुक प्रश्न यह उठा कि मुसलमानों में मंत्री कौन बनाया जाय। वहाँ की असम्बली में मुसलमानों की संख्या बहुत थोड़ी है। जो चन्दरोजा मिनिस्ट्री बनी थी उसमें एक मुसलमान सज्जन मिनिस्टर थे। दूसरा कोई ऐसा व्यक्ति नहीं नजर आया जो काँग्रेस की ओर से चुना गया हो और मिनिस्टर का काम कर सकता हो। जो ऐसे व्यक्ति थे, जिनमें काम चलाने की योग्यता थी, काँग्रेस-टिकट पर चुने नहीं गये थे और अब भी काँग्रेस में शरीक होने के लिए तैयार न थे। मैं दो या तीन दिनों तक कटक में ठहरा रहा। इस बात की पूरी कोशिश हुई कि कोई उपयुक्त मुसलमान मंत्री बनाया जाय; पर इसमें सफलता नहीं हुई। अन्त में, बिना किसी मुसलमान के ही उस समय मंत्रिमण्डल बना दिया गया; पर इस बात का अंतिम निर्णय पीछे मौलाना आजाद से पूछ करके करने पर छोड़ दिया गया।

युक्त-प्रदेश में भी मुसलमान मिनिस्टर के सम्बन्ध में दिक्कत थी; क्योंकि वहाँ भी काँग्रेस-टिकट पर एक ही दो मुसलमान चुने गये थे, दूसरे लोग स्वतन्त्र रूप से चुने गये थे। मौलाना आजाद ने वहाँ के सम्बन्ध में बातें की थीं। कुछ मुसलमान—जो काँग्रेस से सहानुभूति रखते थे, पर काँग्रेस की ओर से चुने नहीं गये थे—मौलाना के साथ कुछ समझौते के लिए तैयार थे। यदि वह समझौता हो गया होता, तो शायद जो झगड़ा लीग के साथ उठ खड़ा हुआ वह नहीं होता। पर उस समय प्रान्त के प्रमुख काँग्रेसी इस बात पर राजी नहीं हुए। मौलाना को भी वहाँ ठहरने का पूरा समय न मिला—बम्बई चला जाना पड़ा। इसलिए वहाँ के मंत्रिमंडल में एक काँग्रेसी मुसलमान श्री रफी अहमद किदवई और—दूसरे जो काँग्रेस-टिकट पर नहीं चुने गये थे—हाफिज अहमद इब्राहिम मिनिस्टर बनाये गये। यहाँ यह कह देना उचित है कि हाफिज साहब ने असम्बली से इस्तीफा दे दिया और फिर काँग्रेस-टिकट पर चुन लिये गये। बम्बई की दिक्कत मौलाना की राय से तय हो गयी और मिस्टर नूरी मिनिस्टर बने। इसी तरह मध्यप्रदेश में भी मिस्टर शरीफ मिनिस्टर हुए।

मुसलमान-मिनिस्टरों के सम्बन्ध में इतना लिखना इसलिए आवश्यक हो गया कि पीछे चलकर मुस्लिम लीग ने इस विषय को लेकर बहुत हो-हल्ला मचाया। उस समय तक काँग्रेसी और दूसरे लोग, चुनावों में तथा विधान के अनुसार बनी हुई मिनिस्ट्रियों में, इँगलैंड के मंत्रिमंडल-जैसा ही चित्र देख रहे थे। वे लोग वहाँ की रीति-नीति के अनुसार ही यहाँ के मंत्रिमंडल का भी संगठन और उसकी कार्रवाइयाँ

करना चाहते थे। इसी कारण सभी संगठित दलों ने अपने-अपने उमीदवार खड़े किये थे। चुनाव के समय कुछ नये दल भी बने थे, जैसे बिहार की इण्डिपेण्डेण्ट-पार्टी। चुनाव के बाद जब एक पार्टी—काँग्रेस का बहुमत कई सूबों में जबरदस्त हो गया तो उसको अपने दल के बाहर से किसी को मंत्री बनाने की बात इस प्रकार की विधान-कार्य-प्रणाली के विरुद्ध मालूम हुई। साथ ही, काँग्रेस-दल में भी मुसलमान थे। उनको छोड़कर बाहर जाना उनके प्रति अन्याय होता था। चुनाव तक मुस्लिम-लीग का कुछ वैसा जोर भी नहीं था। बहुत कम जगहों के लिए मुस्लिम-लीग ने उमीदवार खड़े किये थे। जहाँ उसके उमीदवार खड़े हुए, बहुत सफल भी नहीं हुए थे। इस कारण, मुस्लिम-लीग के लिए, मंत्री बनाना, प्रायः सभी जगहों में, जहाँ काँग्रेस का बहुमत था, अवैध होता। काँग्रेस ने एक घोषणा-पत्र के अनुसार चुनाव को लड़कर जीता था। उसके अनुसार काम करना उसका कर्त्तव्य था। उसी के सभी मेम्बरों ने सौगन्द ली थी कि उसके आज्ञानुसार वे काम करेंगे और जब आज्ञा होगी तब पद-त्याग कर देंगे।

काँग्रेस के पास पद-त्याग का एक अस्त्र था जिसके द्वारा वह, वैध रीति से मतभेद होने पर, गवर्नर को दबा सकती थी। यदि वह किसी गैर-काँग्रेसी को, बिना इन शर्तों को कबूल कराये, मंत्री बना देती तो उसके हाथ में कोई दूसरा शस्त्र रह ही नहीं जाता जिसके द्वारा गवर्नर पर वह अपना प्रभाव जता सकती। वैधानिक मंत्रि-मंडल में सभी की समान ज़वाबदेही मानी जाती है, जिसका अर्थ यह होता है कि चाहे किसी भी मंत्री ने कोई भी काम किया हो उसकी जवाबदेही उसके सभी साथियों पर है। इस तरह सभी एक दूसरे की मदद करते हैं और एक दूसरे की कार्रवाइयों पर अंकुश भी रखते हैं। यदि मतभेद हो गया तो जो बहुमत से अलग राय रखता है उसे हट जाना पड़ता है। यदि दो संस्थाओं की आज्ञाओं को मानने के लिए बाध्य अथवा वचनबद्ध मंत्री कहीं किसी मन्त्रिमंडल में हो, और उन दोनों संस्थाओं ने एक साथ मिलकर काम करने का निश्चय और प्रबन्ध न कर लिया हो, तो हो सकता है कि दोनों संस्थाओं की विरोधी आज्ञाएँ आवें और मंत्री लोग अपनी-अपनी संस्था की आज्ञा का पालन करें, तो मन्त्रिमंडल की कार्रवाइयों में ही विरोध पैदा हो जाय। इसलिए, यह आवश्यक था कि मन्त्रिमंडल के सभी मंत्री किसी एक ही संस्था के हुक्म मानने के लिए बाध्य या वचनबद्ध हों, अथवा आपस में कम से कम कुछ ऐसा समझौता हो जिससे इस प्रकार के विरोधी कार्यक्रम उपस्थित न हो सकें, और अगर हों भी तो उनका निपटारा शीघ्रता और बिना कटुता के हो जाय। जब किसी धारा-सभा में, जहाँ इस तरह का वैधानिक मन्त्रिमंडल काम करता हो, किसी एक दल का बहुमत नहीं होता और मन्त्रिमण्डल एक से अधिक दलों में से लिये हुए लोगों से बनता है, तब वहाँ पहले से उन दलों में बातचीत करके इसके लिए रास्ता तय कर लिया जाता है। फिर जब कभी मतभेद हुआ तो जिस दल के मंत्री से मतभेद होता है वह मन्त्रिमंडल से अपने मंत्री को हटा लेता है और दूसरे मंत्रियों को अपने दल की सहायता से वंचित कर देता

हैं। यहाँ पर यह बात इसलिए नहीं हुई कि यहाँ काँग्रेस का इतना बड़ा बहुमत था कि और सभी दल यदि एक साथ मिलते तो भी काँग्रेस अकेले ही उन सबसे कहीं अधिक सदस्यों को अपनी तरफ से खड़ा कर सकती और सबको अकेले ही वोट में हरा देती। यहाँ किसी दूसरे दल के साथ समझौते का प्रश्न उठता ही नहीं था। तो भी जहाँ तक मुसलमानों का सवाल था, हमने प्रयत्न किया कि दूसरे दल के मुसलमानों के साथ हम समझौता कर लें, पर हुआ नहीं।

हमने उस समय समझा था और आज भी मेरी वही राय है कि वैधानिक विचार से काँग्रेस ने कोई गलती नहीं की। हाँ, यह दूसरी बात है कि उसको इँगलैंड के विधान का अनुसरण नहीं करना चाहिए था और जो प्रजातन्त्र के प्रचलित नियम तथा रीति-नीति हैं उनसे अलग अपना नियम और अपनी रीति-नीति बनानी चाहिए थी। किसी ने उस समय इस तरह की बात कही भी नहीं और मैं नहीं जानता कि मुस्लिम-लीग के सिवा आज भी कोई विचार-शील व्यक्ति अथवा संस्था है जो यह कहे कि भारतवर्ष में प्रजातन्त्र नहीं चल सकता और नहीं चलना चाहिए। यदि प्रजातन्त्र न चलना हो तो देश कोई दूसरा विधान, जो उचित समझे, बनावे। पर जब तक प्रचलित प्रजातन्त्रों के रास्ते पर हमको चलना है, उस प्रजातन्त्र के नियमों और रीति-नीति से हम अपने को अलग नहीं कर सकते। मैं यह भी मानता हूँ कि देश कभी प्रजातन्त्र को छोड़ किसी अन्य प्रकार के विधान को मानेगा और इसमें, मैं मानता हूँ, हिन्दू और मुसलमान तथा सभी दूसरे लोग सहमत होंगे। प्रजातन्त्र छोड़ने का अर्थ होता है किसी एक व्यक्ति अथवा किसी एक गुट के हाथों में भारत के भाग्य का निर्णय सौंप देना—भारत के शासन की बागडोर दे देना। मैं नहीं मानता कि मुसलमान भी यह चाहते हैं कि जनता के हाथों में अधिकार न देकर किसी एक व्यक्ति वा गुट के हाथों में दे दिया जाय। दूसरे किसी की ओर से किसी संस्था ने आज तक इस तरह की बात कही भी नहीं है कि भारत में प्रजातन्त्र नहीं होना चाहिए और नहीं चल सकता है। यह थोड़े दिनों से केवल मुस्लिम-लीग ने कहा है, और वह भी पूरे भारतवर्ष के लिए ही, केवल उसके सूबों के ही लिए नहीं; क्योंकि जब से पाकिस्तान की बात उठायी गयी है तब से उसमें भी यह बात नहीं कही गयी है कि पाकिस्तान में अथवा उस दूसरे हिस्से में—जिसे लीग के लोग हिन्दुस्तान कहते हैं—प्रजातन्त्र से अलग कोई दूसरा शासन-विधान होगा। पाकिस्तान और हिन्दुस्तान, दोनों में वहाँ की जनता द्वारा मनोनीत सदस्य ही शासन करेंगे—कोई एक व्यक्ति अथवा गुट नहीं। जो हो, मंत्रिमंडल बनने के बाद—सच पूछिए तो काँग्रेस-मंत्रिमंडल के इस्तीफा के बाद—इस तरह की बातें अधिक होने लगी हैं।

ठीक जुलाई १९३७ में तो नहीं—जब और सूबों में चन्दरोजा मंत्रिमंडलों ने इस्तीफे दे दिये और काँग्रेसी मंत्रिमंडल बन गये; पर उसके कुछ बाद, सीमा-प्रान्त में भी, वहाँ के मंत्रिमंडल को इस्तीफा देना पड़ा। उस सूबे में, चुनाव के समय, काँग्रेस-दल के लोग ही सबसे अधिक चुने गये थे; पर उनकी संख्या इतनी ज्यादा नहीं थी—जैसा

दूसरे सूबों में हुआ था---कि वह अकेले ही और सभी दलों को वोट में हरा दे। इसलिए वहाँ का मंत्रिमंडल और लोगों को मिलाकर कुछ देर तक चलता रहा; पर वह भी देर तक टिक न सका---उसे असम्बली की बैठक के बाद इस्तीफा देना पड़ा। दूसरे सूबों में असम्बली की बैठक के पहले ही चन्दरोजा मंत्रिमंडलों ने इस्तीफे दे दिये। मौलाना अबुल कलाम आजाद के साथ मुझे वहाँ भी जाना पड़ा और वहाँ के मंत्रिमंडल के संगठन में मदद करनी पड़ी। इसमें कुछ अधिक कठिनाई नहीं पड़ी। जो कुछ करना था, मौलाना साहब ने ही किया। सबसे बड़ी बात यह थी कि डाक्टर खाँ साहब और खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ के रहते कुछ अधिक करने की जरूरत ही नहीं थी। मैंने तो इस अवसर को उस सूबे में जाने के लिए एक बहानामात्र माना।

१२०---सीमा-प्रान्त का सफर

सरहदी सूबे में मेरे जाने का यह पहला ही अवसर था। हम लोग पहले सीधे अबटाबाद गये जहाँ उन दिनों गवर्नर रहते थे और जहाँ मंत्रिमंडल बनने की बातें हो रही थीं। यह एक पहाड़ी स्थान है जहाँ गर्मियों के कारण वहाँ की असम्बली की बैठक होती है। जाने के समय वहाँ पहुँचने पर बाजाब्ता जलूस की तैयारी थी। मौलाना साहब तो जलूस में शरीक नहीं हुए---मुझे होना पड़ा। पर रास्ते में ही पानी जोरों से बरसने लगा। हम सब भींग गये। जलूस भी तितर-बितर हो गया। मंत्रिमंडल के संगठन का काम पूरा करके हम लोग चन्द जगहों में चले गये। मानसेहरा एक जगह है जो पहाड़ पर है और जहाँ पर डाक-बँगले से चारों ओर का बहुत ही सुन्दर दृश्य देखने में आता है। हम लोग वहाँ थोड़ी देर के लिए गये। वहाँ से हम पेशावर आये। फिर खाँ साहब के गाँव 'उत्मानजई' में, चरसदा होते हुए, गये। उनके बँगले पर कुछ देर तक ठहरे। वहाँ से आजाद इलाके को देखते हुए फिर पेशावर लौटे। दूसरे दिन हम दूसरी तरफ एक चक्कर लगा आये। फिर खैबर की घाटी पार करके अफगानिस्तान की सरहद तक पहुँचे जहाँ ब्रिटिश-सरकार और अफगान-सरकार के सन्तरी अपनी-अपनी सरहद पर डटे पहरा देते रहते हैं। खैबर की घाटी एक विचित्र सौन्दर्य से पूर्ण घाटी है---यों तो पहाड़ बिल्कुल बिना घास-पात और पेड़-पौधे के हैं, गर्मियों में मानों आग-से जलते रहते हैं; पर पहाड़ों के बीच होकर रास्ता बहुत ही सुन्दर और सुहावना मालूम होता है।

तमाम घाटी-भर में, जो कई मील लम्बी है, बचाव के लिए फौजी प्रबन्ध है। एक बड़ा किला बीच में है और एक जमसद में जहाँ घाटी आरम्भ होती है। सड़क के पास ही पास रेल भी चलती है जिसके बनाने में बहुत बुद्धि, कौशल्य और पैसे लगे होंगे। सारी घाटी में, सड़क को छोड़कर, ब्रिटिश की कोई चीज नहीं है। सुना कि केवल सड़क और उसके आसपास दोनों ओर की कुछ फुट चौड़ी जमीन ही ब्रिटिश की है तथा पास की आबादी सारी की सारी आजाद कौमों की है जो अपने स्थान पर स्वतन्त्र हैं। उस आजाद इलाके में ब्रिटिश कानून नहीं चलता। इसलिए सड़क से चन्द फुट

बाहर यदि कोई वाकया हो जाय तो उसकी जाँच ब्रिटिश अधिकारी नहीं कर सकते। सुनने में आया कि कभी-कभी ऐसा भी होता है कि यदि कोई यात्री सड़क से हटकर आजाद इलाके में चला जाता है तो उसे वहाँ के लोग, अपने हक को कायम रखने और जताने के लिए, गोली मार देते हैं। हमने यह भी देखा कि आजाद इलाके के लोग जब घर से बाहर जाते हैं तो अपने साथ बन्दूक उसी तरह ले जाते हैं जिस तरह हमारे सूबे में कहीं-कहीं के लोग लाठी-डण्डे लेकर निकलते हैं।

वहाँ के गाँव भी कुछ अनूठे ढंग के हैं। हर गाँव में एक ऊँचा स्थान बना होता है जो प्रायः किसी मकान में एक गुम्बद-जैसा रहता है जहाँ से आदमी चारों तरफ दूर तक देख सकता है। कबीले के लोग वहाँ से बराबर इस बात को देखा करते हैं कि कहीं किसी तरफ से कोई गाँव पर हमला करने तो नहीं आ रहा है। वहाँ के लोग देखने में बहुत गरीब मालूम होते थे; क्योंकि जमीन उस पहाड़ी इलाके में कुछ बहुत अच्छी नहीं मालूम होती थी। पानी की बहुत दिक्कत थी। ये आजाद कबीले विशेषकर इस पहाड़ी इलाके में ही रहते हैं। पेशावर जिले के चरसद्दा के आसपास की जमीन, जहाँ स्वात और दूसरी नदियाँ हैं, बहुत अच्छी मालूम होती थी; मगर पहाड़ी जमीन उपजाऊ नहीं है। आजाद कबीलों की गरीबी ही उनकी अव्यवस्थित दशा का विशेष कारण है। मैं नहीं जानता कि उनकी आर्थिक दशा सुधार कर कभी उनके जीवन को सुव्यवस्थित बनाने का कोई भी प्रयत्न किया गया है। शायद ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की नीति उनको सदा अव्यवस्थित रहने देने की ही है; क्योंकि यदि इस ओर ध्यान दिया गया होता तो जितना खर्च वहाँ फौजी काम के लिए किया गया है और किया जाता रहता है उतने खर्च में अब तक वह भू-भाग हरा-भरा बन गया होता—कबीले-वाले दूसरे सूबों के लोगों के साथ सभी बातों में मुकाबला करते होते। शायद जब तक वे आजाद हैं तब तक ऐसा करना ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के लिए सम्भव नहीं। पर सुव्यवस्थित जीवनवाले आजाद अच्छे पड़ोसी भी तो हो सकते हैं। उन्हें आजाद रहने देकर भी उनकी शिक्षा और सुव्यवस्था में वह खर्च किया जा सकता था जो खर्च उनको समय-समय पर तोपों और हवाई-जहाजों के गोलों का शिकार बनाकर दबाने में किया जाता है। वह खर्च उनके और भारत के—दोनों के लिए—ज्यादा लाभदायक होता।

सीमाप्रान्त से लौटते समय मैं और मेरे साथी बाबू मथुराप्रसाद, जो मेरे साथ वहाँ गये थे, दोनों ही, रास्ते में पड़े तक्षशिला के खुदे हुए खँडहरों को देखने गये। वहाँ खुदाई से निकली हुई चीजों को वहाँ के अजायबघर में देखा। खँडहरों को तो घूम-घूमकर देखा। देखने से मालूम हुआ कि एक बहुत ही विस्तृत शहर वहाँ था, जिसमें चौड़ी सड़कें थीं और सड़कों के दोनों बगल मकान बने थे—मकानों में रहन-सहन और आराम के लिए सभी प्रकार का प्रबन्ध था। सब कुछ देखने से मालूम होता था कि ये एक अत्यन्त उन्नत स्थान के खँड़हर हैं। ये प्राचीन भारत के उन स्मारकों में हैं जिनके कारण आज भी हम अपना सिर ऊँचा रख सकते हैं। यहाँ एक जगत्-प्रसिद्ध विद्यापीठ स्थापित

था, जहाँ भारतवर्ष के बाहर से भी विद्यार्थी आया करते थे। यहाँ के विद्यार्थी भारतवर्ष के सभी स्थानों में जाकर अपनी कीर्ति फैलाये हुए थे। हमने यह भी सुना कि सारे सीमा-प्रान्त में बौद्धकालीन स्मारक पाये जाते हैं। यदि हम वहाँ कुछ दिन ठहर सकते तो इस प्रकार के स्मारकों को देख सकते, पर इसके लिए समय नहीं था। हमको इसके लिए भी समय न मिला कि हम कोहाट और डेरा-इस्माइल-खाँ के इलाके तक जा सकें। इसलिए हम केवल हजारा और पेशावर के कुछ हिस्सों को देखकर ही अफसोस के साथ वापस आये।

हम-जैसे बिहारी के लिए, जिसको दानापुर की फौजी छावनी के सिवा और कहीं कोई विशेष फौजी सामान या सैनिक पड़ाव देखने का मौका नहीं मिलता, सीमा-प्रान्त एक बड़े फौजी अड्डे के समान जान पड़ा। जहाँ जाइए, जिधर जाइए, फौजी छावनी मौजूद है—फौजी सड़कें और फौजी अड्डे हर तरफ सामने आ जाते हैं। यह सिलसिला पंजाब से ही शुरू होता है और जैसे-जैसे पश्चिम की ओर बढ़ते जाइए, यह फौजी नजारे बढ़ते जाते हैं। सीमाप्रान्त तो मानों सारा का सारा फौजी अड्डा ही है।

खैबर की घाटी देखकर एक बात चित्त में आये बिना नहीं रह सकती। यह एक ऐसी घाटी है जहाँ बचाव बहुत आसानी से किया जा सकता था—विशेषकर जब हवाई-जहाज नहीं थे। ईश्वर ने इस देश को उत्तर की ओर हिमालय खड़ा करके, पूर्वीय और पश्चिमीय सीमाओं पर पहाड़ी श्रेणियों की दीवारें खड़ी करके, एक ऐसी हदबन्दी कर दी है जिसे तोड़कर कोई मनुष्य बाहर से भारत पर हमला नहीं कर सकता। इस तरह, एक तरफ प्रकृति ने जमीनी हमले से इस देश को सुरक्षित बना दिया और दूसरी तरफ समुद्र ने इसके लिए एक जबरदस्त खाई का काम किया। पर, तो भी, हम इस देश के लोग इतने अभागे हैं कि इस बनी-बनायी घाटी की भी, आपस की फूट के कारण, रक्षा न कर सके! अँगरेजों के पहले, आज तक जितनी चढ़ाइयाँ भारत पर हुईं, प्रायः सभी इस घाटी के द्वारा ही हुई हैं। अँगरेज भी बराबर डरते रहे हैं कि कहीं रूस उस रास्ते से भारत पर चढ़ाई न कर दे। इसीलिए वहाँ फौज की इतनी तैयारी है। रूस का भय कम होने पर उनको जर्मन का डर बना रहता है। शायद मुसलमानी देशों से भी वे डरते हैं! शायद अब, जब हवाई-जहाजों का बोल-बाला हो गया, उस घाटी का महत्त्व उतना न रहे; परन्तु इस पर दुख हुए बिना नहीं रह सकता कि रक्षा की सभी सामग्रियाँ ईश्वर जुटा भी दे और मनुष्य अपने निकम्मापन से उनका सदुपयोग न कर सके, तो उसकी रक्षा नहीं हो सकती। खैबर की घाटी और भारत का इतिहास इसके साक्षी हैं कि जो अपनी मदद नहीं करता उसकी मदद ईश्वर भी नहीं कर सकता, और जो ईश्वर-प्रदत्त साधनों को भी काम में लाने की योग्यता नहीं रखता उसका पतन अवश्यम्भावी है। जैसे कन्याकुमारी में पहुँचकर भारत की महत्ता का आभास आँखों के सामने झलक गया था, वैसे ही खैबर की घाटी को देखकर भारतवासियों की अकर्मण्यता का चित्र आँखों के सामने नाचने लगा।

१२१—मंत्रिमण्डल की कुछ वैधानिक कठिनाइयाँ

मंत्रिमण्डल का काम आरम्भ हो गया और चलने लगा। बिहार में एक प्रश्न शीघ्र ही सामने आया जिसका सुलझाना कुछ कठिन था और जिसने पीछे हमारे लिए दिक्कतें पेश कीं। जब मिस्टर युनुस मिनिस्टर हुए, उन्होंने सर सुलतान अहमद को बिहार का अडवोकेट-जेनरल नियुक्त कर दिया। सर सुलतान कई वर्षों से सरकारी अडवोकेट थे। नये विधान में गवर्नमेण्ट-अडवोकेट की जगह अडवोकेट-जेनरल नियुक्त करना था। वह उसी समय गवर्नमेण्ट आफ इंडिया में कुछ दिनों के लिए वायसराय के एकजिक्युटिव कौन्सिल के मेम्बर नियुक्त हो गये। सुना गया कि उन्होंने वायसराय की कौन्सिल में काँग्रेस के साथ समझौता कर लेने की बात पर जोर भी दिया था। जब वायसराय का वक्तव्य निकलने के बाद काँग्रेसी मंत्रिमण्डल बना तब भी वह वायसराय की कौन्सिल के मेम्बर थे। बिहार-मंत्रिमण्डल के सामने यह प्रश्न आया कि वह नये सिरे से अडवोकेट-जेनरल की नियुक्ति करे अथवा मिस्टर युनुस की नियुक्ति को ही बहाल रखे।

अडवोकेट-जेनरल गवर्नमेण्ट और मंत्रिमण्डल का प्रधान कानूनी सलाहकार होता है। नये विधान में उसको बिना मेम्बर हुए ही असम्बली और कौन्सिल में किसी विषय पर भाषण करने का अधिकार है। यह अधिकार इसलिए दिया गया कि कोई कानूनी बहस उठ जाने पर एक ऐसा आदमी होना चाहिए जो अधिकार-पूर्वक गवर्नमेण्ट और मंत्रिमण्डल की ओर से बातें कर सके। इँगलैंड में सबसे बड़ा कानूनी अफसर, जो सभी जजों के भी ऊपर समझा जाता है, लार्ड-चान्सलर होता है। वह लार्ड-सभा में सभापति का काम करता है। जब उस सभा के सामने कानूनी तौर पर अपील पेश होती है तब भी वह सभापतित्व करता है। इसलिए वह हमेशा एक नामी कानूनदाँ आदमी हुआ करता है। यह तो हुई जजों के सरदार की बात। सबसे बड़ा कानूनी सलाह देने-वाला अटर्नी-जेनरल भी मंत्रिमण्डल का एक सदस्य हुआ करता है। वह कामन्स-सभा का मेम्बर होता है। इन दोनों स्थानों पर मंत्रिमण्डल के साथ ही नियुक्ति हुआ करती है, अर्थात् जो प्रधान मंत्री होता है वही अपने अन्य साथी मंत्रियों के साथ-साथ इनकी नियुक्ति के लिए भी नाम दिया करता है और उन्हें ही सम्राट् मुकर्रर कर देते हैं।

हमारे यहाँ लोगों का विचार हुआ कि इँगलैंड में जो अटर्नी-जेनरल का स्थान है वही स्थान अडवोकेट-जेनरल का भी होना चाहिए, उसकी नियुक्ति और इस्तीफा भी मंत्रिमण्डल के साथ ही होना चाहिए। यदि गवर्नर के साथ मतभेद होने के कारण, अथवा असम्बली के अविश्वास प्रकट करने के कारण, मंत्रिमण्डल इस्तीफा दे तो उसे भी हटना चाहिए। और, जो नया मंत्रिमण्डल बने उसे नये आदमी को उस स्थान पर नियुक्त करने का अधिकार होना चाहिए—जैसा इँगलैंड में है। इसके लिए काफी कारण भी है। मंत्रिमण्डल को ऐसा कानूनदाँ सलाहकार रखने का अधिकार होना चाहिए जिस पर उसका विश्वास तो हो ही, वह उसके विचारों तथा कार्यक्रम से

पूरी तरह परिचित एवं सहमत हों, ताकि वह मंत्रिमण्डल के कार्यक्रम चलाने में, कानूनी तौर पर हर तरह से, पूरी मदद कर सके। बिहार में मंत्रिमण्डल के आगे सबसे बड़ा प्रश्न लगान-कानून के संशोधन का था। इस विषय में मत-भेद की काफी जगह थी। मंत्रिमण्डल का विचार था कि कोई पक्का काँग्रेसी, जिसका विचार मंत्रिमण्डल के विचारों से मिलता हो, अडवोकेट-जेनरल होना चाहिए। सर सुलतान कुछ ऐसे आदमी नहीं थे जो मंत्रिमण्डल के हाँ में हाँ मिलाया करेंगे। यदि कहीं किसी विषय में मंत्रि-मण्डल से उनका मत-भेद हो गया तो फिर मंत्रिमण्डल को उनके विचारों और उनकी योग्यता का लाभ नहीं मिलेगा। इसी कारण, इँगलैंड में भी अटर्नी-जेनरल मंत्रिमण्डल की पार्टी का ही आदमी हुआ करता है। यह सोचकर मंत्रिमण्डल ने मेरी राय से निश्चय किया कि वह अपना अडवोकेट-जेनरल नियुक्त करेगा। वह इस परिपाटी को चलाना भी चाहता था कि उसको अपना कानूनी सलाहकार चुनने और मुकर्रर करने का अधिकार होना चाहिए। यदि यह परिपाटी चल जाय तो यह केवल काँग्रेस के लिए ही नहीं होगी—चाहे जिस दल के लोग हों, जब अपना मंत्रिमण्डल बनावेंगे तब अपना सलाहकार मुकर्रर करेंगे, इस परिपाटी से लाभ उठायेंगे।

यही प्रश्न बम्बई-प्रान्त में भी उपस्थित हुआ। वहाँ एक अँगरेज अडवोकेट-जेनरल थे। काँग्रेस जिनको नियुक्त करना चाहती थी वह सज्जन उस समय कहीं विदेश गये हुए थे। जब यह बात गवर्नर से कही गयी तो उन्होंने यह मंजूर करना नहीं चाहा कि मंत्रिमण्डल को अडवोकेट-जेनरल नियुक्त करने का अधिकार है। पर उन्होंने सर सुलतान को शायद सब बातें लिख भेजीं। सर सुलतान ने सिमले से इस्तीफा लिख भेजा। इत्तफाक से केन्द्रीय सरकार में काम करनेवाली उनकी अवधि भी किसी कारण से बढ़ गयी। इसलिए, देखने में तो मामला सुलझ गया और काँग्रेसी मंत्रिमण्डल ने श्री बलदेवसहाय को अडवोकेट-जेनरल नियुक्त कर दिया; पर आगे चलकर मुसलमानों ने इस बात को हिन्दू-मुसलमान-झगड़े का रूप दे दिया। कुछ कहने लगे कि सर सुलतान केवल इसलिए हटा दिये गये कि वह मुसलमान हैं। मैं तो इस विचार-विमर्श के समय मंत्रिमण्डल के साथ बराबर रहा, इसलिए मैं कह सकता हूँ कि इस नियुक्ति के समय हिन्दू-मुस्लिम-प्रश्न किसी के ध्यान में एक मिनट के लिए भी न आया। प्रश्न यही था कि राजनीतिक दृष्टि से, और विशेषतः लगान-कानून के सुधार को सामने रखते हुए, किससे अधिक मदद मिलेगी तथा कानूनी सलाहकार की नियुक्ति में इँगलैंड की परिपाटी चलाना अच्छा होगा या नहीं। उसी परिपाटी के अनुसार विधान में ऐसे संशोधन कराने का सबका विचार था कि गवर्नर केवल वैधानिक गवर्नर रह जाय और सभी अधिकार मंत्रिमण्डल के हाथ में आ जायँ। जब विधान में संशोधन अभी नहीं हो सकता तो काँग्रेस ने गवर्नरों से 'विशेष अधिकारों को न बर्तने का' वादा लेकर उस कमी को एक प्रकार से दूर कराया था। यह एक विषय और था जिसमें यहाँ का विधान इँगलैंड के विधान के नजदीक पहुँचाया जा सकता और काँग्रेस-मंत्रिमण्डल ने उसी उद्देश्य से इस बात पर जोर दिया।

बम्बई में अँगरेज अडवोकेट-जेनरल ने इस्तीफा दे दिया। किसी ने फिर इसकी शिकायत कुछ नहीं सुनी। पर बिहार में इसका वैधानिक रूप तह में डाल दिया गया, इसका साम्प्रदायिक महत्त्व हो गया! अफसोस की बात है; पर हम इस बात को आज भी मानते हैं कि ऐसा करने में मंत्रिमण्डल ने साम्प्रदायिक विचारों को अपने नजदीक नहीं आने दिया। जब लगान-कानून का संशोधन पेश हुआ तो यह बात स्पष्ट हो गयी। पर जहाँ साम्प्रदायिक बातें उठा दी जाती हैं वहाँ हमारी आँखें और सब चीजों को देखने में असमर्थ हो जाती हैं।

१२२—किसानों और जमीन्दारों का समझौता

मंत्रिमण्डल बनाने के बाद मेरे ऊपर इसकी जवाबदेही रही कि यथासाध्य मैं उनकी, विशेषकर बिहार में, आवश्यकतानुसार सहायता करूँ। शुरू में ही मेरे सामने दो प्रश्न आ गये। युक्तप्रदेश में प्रधान मंत्री पंडित गोविन्दवल्लभ पन्त ने चाहा कि कानपुर में मिल-मजदूरों की स्थिति के सम्बन्ध में जाँच की जाय और उनकी हालत सुधारने का भी प्रयत्न किया जाय। इसके लिए वह एक कमिटी बनाना चाहते थे। उन्होंने मुझे उसका अध्यक्ष बनाना चाहा। काम जरूरी था, पर मुझमें इसके लिए कोई विशेष योग्यता नहीं थी; क्योंकि मैंने न तो कभी मजदूरों के बीच कुछ काम किया था और न उनके विशेष प्रश्नों का अध्ययन ही। पन्तजी का विचार था कि एक प्रकार से यही मेरी विशेष योग्यता थी; क्योंकि मैं सब बातों को जानकर जो मुझे उचित जान पड़ेगा, कह सकूँगा और पूर्वार्जित कर्मों या विचारों के बन्धन से मुक्त होने के कारण मैं परिस्थिति के अध्ययन के आधार पर ही अपनी राय कायम करूँगा। इसके अलावा, वह यह भी समझते थे कि मुझमें मजदूर और मिल-मालिक दोनों पक्षों का विश्वास होगा और मेरी नियुक्ति से दोनों सन्तुष्ट होंगे। मैं पहले तो बहुत इनकार करता रहा, पर मुझे अन्त में इस पद को स्वीकार करना पड़ा। जिस समय मैं सीमा-प्रान्त में वहाँ के मंत्रिमण्डल के संगठन के लिए जा रहा था, मैं लखनऊ में कुछ देर के लिए ठहर गया। एक प्रकार से इस कमिटी के काम का श्रीगणेश उसी समय हो गया, यद्यपि कार्यारम्भ उधर से लौटने के बाद ही हुआ।

दूसरा काम जो मुझे शीघ्र शुरू करना पड़ा वह था अपने सूबे के किसानों और जमीन्दारों से बातचीत करके, लगान-कानून के संशोधन के लिए, यदि हो सके तो दोनों को एकमत कर देना। इसका आरम्भ भी मंत्रिमण्डल बनने के थोड़े ही दिनों के बाद हुआ। जिस समय हम लोग १९३०-३४ के सत्याग्रह में लगे थे, बिहार के गवर्नर के प्रोत्साहन से यहाँ एक पार्टी बनी थी जिसका नाम था युनाइटेड-पार्टी। उस समय नये विधान के सम्बन्ध में इँगलैंड में बातें चल रही थीं। यह समझा जाता था कि नये विधान में कुछ न कुछ अधिकार तो जनता के प्रतिनिधियों को मिलेगा ही। इसलिए यदि कोई ऐसी पार्टी बने, जो जनता द्वारा निर्वाचित हो सके और जो काँग्रेस-जैसी बिलकुल स्वतन्त्र न हो, तो गवर्नमेण्ट के लिए भी वह सुविधाजनक होगी। इसी

विचार से उस पार्टी के जन्म देने में उस समय के गवर्नर ने हाथ बँटाया था। उसी उद्देश्य से उस समय की कौन्सिल में जमीन्दारों की ओर से एक बिल पेश किया गया था जिसके द्वारा लगान-कानून में कुछ संशोधन पेश किये गये थे। ये संशोधन किसानों के हक में ठीक थे। उमीद की गयी थी कि इस तरह किसान, जिनकी संख्या स्वभावतः मतदाताओं में बहुत अधिक होगी, युनाइटेड-पार्टी के पक्ष में कर लिये जायँगे और वह पार्टी चुनाव में सफल हो सकेगी। कुछ दूरदर्शी जमीन्दार यह भी जरूर सोचते थे कि जब इस प्रकार से किसानों के हाथ में अधिकार जा ही रहा है तो उनको खुश रखना ही हमारे लिए हितकर होगा। कुछ ऐसे भी जमीन्दार जरूर होंगे जो किसानों की माँगों को न्याय्य मानते होंगे और इसलिए कानून में संशोधन जरूरी समझते होंगे। जो हो, कुछ ऐसे लोग भी, जो पहले किसानों में कुछ काम किया करते थे और जो किसानों के पथ-प्रदर्शक तथा नेता समझे जाते थे, इस पार्टी में शरीक हो गये।

स्वामी सहजानन्द ने किसान-सभा को जाग्रत बनाकर इसी बिल का विरोध किया। उस विरोध के लिए किसान संगठित भी हो गये। उन दिनों काँग्रेस गैर-कानूनी संस्था थी। उसके नाम से कोई काम नहीं हो सकता था। उसके कार्यकर्त्ता भी बहुत बड़ी संख्या में, जो इस काम को कर सकते थे, जेलों में बन्द थे। इस विरोध का नतीजा यह हुआ कि संशोधनों में और संशोधन हुआ। अन्त में, जब हम लोग १९३४ में जेल से बाहर निकले तो हम लोगों से भी बातें हुईं कि संशोधन सबकी राय से किये जायँ। हम लोगों के आदमी उन दिनों कौन्सिल में नहीं थे। बात इतनी आगे तक पहुँच गयी थी कि हम काँग्रेस की ओर से विशेष कुछ कर भी नहीं सकते थे। जो कुछ संशोधन हुआ और उससे जो कुछ लाभ पहुँच सकता था वह किसानों को मिला, पर मामला तय नहीं हुआ। चुनाव के समय तक पार्टी भी कुछ असंगठित हो गयी। चुनाव से यह भी पता चल गया कि किसानों को जमीन्दारों से मिलाने का प्रयत्न भी सफल नहीं हुआ। काँग्रेस के घोषणा-पत्र में किसानों की दशा सुधारने पर जोर दिया गया था। जमीन्दार भी जानते थे कि इस विषय में मंत्रिमण्डल जरूर और जल्दी कुछ न कुछ करेगा ही। वे भी चाहते थे कि यदि सलाह से कोई बात हो जाय तो उनके लिए भी अच्छा होगा; क्योंकि तब वे इस बदनामी से बच जायँगे कि वे अपने स्वत्वों पर चिपके रहे और काँग्रेस ने जबरदस्ती कानून बनाकर किसानों की भलाई की। मिनिस्ट्री बनने के बाद ही उनके कुछ मुखिया मंत्रि-मण्डल से मिले। उन्होंने यह सवाल पैदा किया कि लगान-कानून और किसानों की दशा सुधारने के सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट जो कुछ करना चाहे उसके लिए जमीन्दारों से बातें कर ले। वे तैयार भी थे कि यथासाध्य वे सहायता करेंगे। मंत्रिमण्डल की राय हुई, जिससे मैं भी सहमत था, कि लगान-कानून के संशोधन के सम्बन्ध में यदि कोई चीज बातचीत से तय हो जाय तो अच्छा होगा; क्योंकि उस हालत में जो भी कानून बनेगा वह जल्द और आसानी से असम्बली तथा कौन्सिल में पास हो सकेगा। उससे किसानों को गवर्नमेण्ट जल्द से जल्द लाभ भी दिलवा सकेगी और आपस का वैमनस्य

भी घटेगा। जमीन्दार विरोध करके कानून का बनाना रोक तो नहीं सकेंगे; क्योंकि कांग्रेस का बहुत बड़ा बहुमत था, पर हर कदम पर वैध तरीके से बहस-मुबाहसे के द्वारा कुछ समय तक रोक सकेंगे।

कांग्रेस का निश्चय था नये विधान को नामंजूर करने अर्थात् उसे विफल बनाने का। हो सकता है कि जल्द ही कुछ अनुभव के बाद मंत्रिपद छोड़ देने का निश्चय करना पड़े, इसलिए जो कुछ हो सके और जहाँ तक जल्द हो सके, जनता की सेवा और भलाई हो जाय तो ठीक रहेगा। इसके अलावा जमीन्दार धनी हैं, अपना प्रबन्ध कर लेने की शक्ति रखते हैं; पर किसान गरीब हैं और उतने संगठित नहीं हैं। कानून बनने पर भी उसको बेकार बनाने के हजारों तरीके वकील निकाल सकते हैं। यदि संशोधन झगड़े के बाद होगा तो गवर्नमेण्ट की कोशिशों के बाद भी उससे लाभ उठाने में किसानों को बड़ी कठिनाइयों का सामना करना पड़ सकता है। इन सब विचारों से मंत्रिमण्डल ने, मेरी सम्मति से, चाहा कि यदि कोई बात सुलह से तय हो सके तो अच्छा होगा। हाँ, यदि सुलह के प्रयत्न से कोई सन्तोषजनक फल न निकले तो फिर जैसा मुनासिब होगा, किया जायगा। सुलह के प्रयत्न से, विशेषकर जब जमीन्दार भी उसे चाहते थे, लाभ ही होगा। इसलिए सोचा गया कि समय पाकर मैं उनसे बातचीत आरम्भ करूँ। पारलेमेण्टरी-कमिटी के एक सदस्य मौलाना आजाद भी थे। जमीन्दार उनसे भी मिले। उन्होंने भी इस बात को पसन्द किया। इस तरह मौलाना आजाद और मैं, दोनों मिलकर, पटने में जमीन्दारों के प्रतिनिधियों से बातें करने लगे।

इस सम्बन्ध में एक प्रश्न यह भी था कि किसान-सभा अथवा उसके मुख्य कार्यकर्त्ताओं से हमारा क्या सम्बन्ध रहेगा। हम यह मानते थे कि कांग्रेस के प्रति किसानों का पूरा विश्वास था और हम भी उनके हितों का विचार करके, उनकी भलाई के लिए, जो कुछ हो सकता था, कर सकेंगे। हम जमीन्दारों और किसानों को छोड़ दें और वे आपस में समझौता कर लें तो यह सबसे अच्छा होगा। पर जहाँ तक हम देख और समझ सकते थे, इसकी आशा नहीं होती थी कि दोनों पक्ष किसी बात पर राजी हो सकेंगे। इसलिए हमको बीच में पड़ना ही पड़ेगा। हम कांग्रेस को इसके लिए योग्य भी समझते थे। हम जानते थे कि जब कोई बात समझौते से तय होती है तो उसमें किसी पक्ष की पूरी बात नहीं मानी जा सकती, दोनों को कुछ न कुछ उतरना या झुकना पड़ता है। इसलिए उन दोनों पर भार न छोड़कर यदि कांग्रेस ही यह काम कर ले तो बुरा न होगा। इसका एक नतीजा तो किसानों के हक में यह जरूर रहेगा कि जो रियायत उनको मिलेगी उसे वे खुले पेशानी ले सकेंगे और उससे जो ज्यादा वे जरूरी समझेंगे उसे माँगते रहेंगे; क्योंकि वे किसी समझौते के बन्धन से बँधे नहीं होंगे। यह बात जमीन्दारों से भी कह दी गयी। उन्होंने भी इसे समझ लिया कि हम किसान-सभा की ओर से बातें नहीं कर रहे हैं, यद्यपि उनके नेताओं से भी हम सभी बातों में बराबर राय लेते रहेंगे।

एक दूसरी बात और तय कर लेनी थी। क्या यह समझौता केवल लगान-कानून के सम्बन्ध में ही होगा अथवा यह अन्य विषयों से भी सम्बन्ध रखेगा। गवर्नमेण्ट को आमदनी बढ़ाने की जरूरत थी। उसके लिए वह एक नया 'कर' बैठाना चाहती थी। जिसमें जमीन्दारों को विशेष देना पड़ेगा। हमने सोच लिया कि हो सके तो उसको भी हम समझौता द्वारा ही तय कर लेंगे। कई दिनों तक बातचीत चली। सदाकत-आश्रम में ही बैठक होती। मैं कुछ अस्वस्थ भी था। इसलिए लोग मुझे आने-जाने के कष्ट से बचा देना भी चाहते थे। सभी प्रश्नों पर हम जमीन्दारों की राय सुन लेते, मंत्रिमण्डल से भी बातें कर लेते, उनकी राय अच्छी तरह समझ लेते, किसानों के नेताओं से भी बातें करके उनकी राय भी जान लेते। इस तरह, सब दृष्टिकोणों से पूरी तरह विचार करने के बाद, कुछ तय कर लेते जिसे हम और जमीन्दार दोनों स्वीकार करते।

तीन-चार प्रश्न मुख्य थे। लगान में जो कमी होनी चाहिए वह किस तरह और किस परिमाण में हो कि किसी के साथ बेइन्साफी न हो और सबको लाभ भी पहुँच सके। यह सरसरी तौर पर रुपये में कुछ आने लगान कर देने से हो सकता था। पर सारे सूबे की एक-सी स्थिति नहीं थी। सूबे में काश्तकारी जमीन पर चार आने से बीस-पचीस रुपये बीघे तक लगान लगता है। कहीं हाल में ही मालगुजारी में बढ़ती या इजाफा हुआ है और कहीं नहीं हुआ है—कहीं इजाफा बहुत अधिक हुआ है, कहीं बहुत थोड़ा और कहीं बिलकुल नहीं। कहीं भावली लगान बदल कर नकदी कर दिया गया है और कहीं तो ऐसा हुआ ही नहीं है। यदि सभी जगहों में हरसट्ठे एक ही दर से लगान घटा दिया जाय तो कुछ किसान बहुत मुनाफे में रह जायँगे, कुछ को केवल नाम-निहादी रियायत मिलेगी, कुछ जमीन्दारों के प्रति अन्याय हो जायगा और कुछ मजे में बच जायँगे। खासकर जो किसान, बहुत कड़ा लगान होने के कारण, बहुत क़ष्ट में हैं उनको बहुत थोड़ी रियायत मिलेगी; या इसे यों कहें तो अत्युक्ति न होगी कि जिस किसान पर अधिक बोझ है वह तो प्रायः वैसा का वैसा ही बोझ ढोता रह जायगा और जिस पर बोझ कम है उस पर और भी कम हो जायगा—जिसको रियायत की सबसे अधिक जरूरत है उसे वह नहीं के बराबर मिलेगी और जिस पर पहले से ही किफायत लगान है उसको और भी अधिक रियायत मिल जायगी। इसलिए सरासरी लगान घटाने की बात जमीन्दारों ने और हमने नामंजूर कर दी। एक ऐसा नुस्खा निकाला गया जिससे खासकर वहाँ अधिक रियायत मिले जहाँ बहुत अधिक लगान हो गया है, चाहे वह इजाफा के कारण हो या भावली से नकदी लगान कर देने के कारण; और जहाँ कम है वहाँ कम रियायत मिले या बिलकुल न मिले। हमने मोटामोटी हिसाब लगाकर सोचा था कि इस तरह सारे सूबे के लगान में एक रुपये में चार आना घट जायगा। कहीं-कहीं तो रुपये में आठ-दस आने तक की कमी होगी और कहीं-कहीं बिलकुल नहीं। जिस जमीन्दार ने जितनी शक्ति से काम लिया होगा और जितना लगान बढ़ाया होगा उसकी आमदनी

उसी मात्रा में अधिक या कम होगी। जिसने कम बढ़ाया होगा उसकी आमदनी कम घटेगी। अन्त में, जब गवर्नमेण्ट के कर्मचारियों ने लगान में कमी की कार्रवाई की और लगान में कमी की गयी, तो मालूम हुआ कि हम लोगों का वह अन्दाजी हिसाब—कि सूबे में एक-चौथाई लगान कम हो जायगा—प्रायः ठीक ही निकला।

दूसरा प्रश्न था किसानों के अपनी काश्तकारी हस्तान्तरित करने का। बंगाल-लगान-कानून के अनुसार, जो बिहार में भी लागू होता था, यह हक उनको मामूली तौर पर नहीं था। इसलिए कोई काश्तकार काश्तकारी बेच नहीं सकता था। पर वकीलों की बुद्धि और जजों के फैसले ने कानून को घोल-मट्ठा बना रखा था। जो आदमी कानूनदाँ न होता उसके लिए यह समझ लेना आसान न था कि काश्तकारी जमीन किस हालत में और किस तरह से हस्तान्तरित की जा सकती है—एकबारगी बेचकर या सूद-भरना लगाकर या जरपेशगी करके; और यदि हस्तान्तरित की जा सकती है तो किस मात्रा में—सब की सब जमीन या उसका कुछ हिस्सामात्र, और यदि हिस्सामात्र ही तो वह भी कितना? ऐसे बहुतेरे जटिल प्रश्न उठे थे। समय-समय पर हाइकोर्ट के फैसले भी हुए थे; कभी दो जजों ने फैसला किया तो उस पर पुनर्विचार तीन या पाँच जजों ने किया, कभी फैसला बदला गया तो कभी उसमें कुछ और नयी बारीकी ला दी गयी। बंगाल से बिहार के अलग हो जाने पर यहाँ के हाइकोर्ट ने अपना ही विचार रखा, जो हमेशा कलकत्ते के विचार से नहीं मिलता था। इसलिए यह आवश्यक था कि इस विषय में क़ानून साफ हो जाय जिसे सभी लोग, विशेषकर किसान, आसानी से समझ सकें। इसके दो तरीके थे, या तो हस्तान्तरित करने का अधिकार बिलकुल न दिया जाय और कानूनन इसे एकबारगी बन्द कर दिया जाय, या यह अधिकार पूरा-पूरा दे दिया जाय और इसमें किसी प्रकार की रुकावट न रहे। किसान-सभा के लोग निर्विवाद रूप से जमीन बेचने की मुकम्मिल आजादी चाहते थे। जमीन्दार इसे मंजूर नहीं करते थे; क्योंकि उनका दावा था कि जमीन उनकी है और उन्होंने केवल आबाद करने के लिए ही उसे किसान को दी है, इसलिए किसानों को हक बेचने का नहीं है—हाँ, यदि जमीन्दार बेचने की अनुमति दे दे तो वे बेच सकें। इस विषय में किसान-सभा का बहुत ही जोर था।

मेरा अपना विचार था और आज भी है कि बिना रोक-टोक यदि जमीन बेचने का हक किसानों को दे दिया जाय, तो इसका नतीजा यह होगा कि छोटे-छोटे किसानों के हाथ से जमीन निकलकर दूसरों के हाथ में चली जायगी; इसलिए उनकी रक्षा के खयाल से उनको यह अधिकार पूरी तरह नहीं मिलना चाहिए। मैं समझता हूँ कि आज भी इस बात की यदि जाँच की जाय तो पता लग जायगा कि इस तरह बहुत-सी जमीन कुछ दिनों के बाद गरीबों के हाथ से निकलकर धनी लोगों के हाथों में चली जायगी और खेत-हीन मजदूरों की संख्या बहुत बढ़ जायगी। यह मेरा व्यक्तिगत विचार था। पर मैं जानता था कि जितने बोलनेवाले किसान थे, इसके विरोधी थे। जमीन्दारों ने भी अपने संशोधनवाले कानून में एक प्रकार से हस्तान्तरित

करने के अधिकार को पूरा-पूरा मान लिया था—केवल एक शर्त रखी थी कि जमीन बिक्री करने पर उनको कुछ मिल जाया करे। हमने भी उनसे तय किया कि बेचने का अधिकार अवैध हो जाय, पर जो सलामी जमीन्दार को मिलती थी वह और भी कम हो जाय।

तीसरी बात यह थी कि लगान यदि बाकी रह जाय तो जमीन्दार को बिहार में यह हक नहीं था कि लगान बाकी रखने के कारण किसान को वह खेत से बेदखल कर दें। वह अदालत में बाकी लगान के लिए नालिश करके डिग्री हासिल कर सकता था और उस डिग्री को जारी कराकर उसके सारे जोत को नीलाम करवा सकता था। किसानों की शिकायत थी कि थोड़ा माल बाकी रह जाने पर भी सारा जोत नीलाम हो जाया करता है जिससे उनका बहुत नुकसान होता है। जमीन्दारों का कहना था कि बगल के सूबे युक्तप्रदेश में बाकी लगान के लिए रैयत अपनी जमीन से बेदखल किया जा सकता है, यहाँ तो उससे बहुत कम कड़ाई होती है; यदि किसानों पर इतना दबाव भी न रहेगा तो वे लगान देने में बहुत आनाकानी करेंगे और वसूल करने में जमीन्दार की दिक्कत और भी बढ़ जायगी। इसके बारे में यह तय हुआ कि लगान जितना बाकी पड़े उतनी ही कीमत की जमीन नीलाम की जाय, सारा जोत नहीं। हाँ, जो रैयत बराबर लगान बाकी रखता चले और अदालत उसे इस तरह का हमेशा बाकी लगानेवाला असामी करार दे तो उसका सारा जोत नीलाम किया जा सकता है।

चौथी बात भावली के सम्बन्ध में थी। बिहार के पटना, गया और कुछ हिस्सा मुँगेर के जिलों में बहुत करके यह प्रथा जारी थी कि पैदा हुए गल्ले के एक हिस्से के रूप में लगान नगदी होकर मिलता था। अक्सर आधी पैदावार जमीन्दार को और आधी किसान को बाँट दी जाती थी। बाँटने के भी दो तरीके थे। खेत में जो कुछ गल्ला पैदा होता था, जमीन्दार के सामने ही दौनी-ओसौनी करके खलिहान में तैयार किया जाता था। फिर तौलकर उसके दो हिस्से कर दिये जाते थे जिनमें से एक किसान लेता था और दूसरा जमीन्दार; इसे भावली-बटाई कहते थे। दूसरा तरीका यह था कि जब फसल पककर करीब-करीब तैयार हो जाती तो जमीन्दार का एक गुमाश्ता या खुद जमीन्दार खेत के एक छोटे हिस्से की फसल काटकर देख लेता कि कितना गल्ला हुआ और उसी हिसाब से सारे खेत की पैदावार कूत ली जाती, जिसका आधा जमीन्दार का समझा जाता जो वह समय पर वसूल कर लेता। इसे दानाबन्दी कहते थे। बटाई में रैयतों की शिकायत थी कि जब तक जमीन्दार का आदमी हाजिर न रहे वे फसल को काट नहीं सकते, जब जमीन्दार उनको कष्ट पहुँचाना चाहते तब दानाबन्दी करने जाते ही नहीं अथवा और किसी कारण से यदि देर कर देते हैं तो वे (किसान) अपने खलिहान में तैयार गल्ला रखकर भी अन्न के बिना कष्ट पाते हैं, और यदि वे जमीन्दार की गैरहाजिरी में गल्ला तैयार करके अपने घर उठा ले जायँ तो जमीन्दार उन पर दबाव डालकर उनसे मनमाना वसूल

कर लेते हैं, और दबंग जमीन्दार तो कई तरह के झूठे दावे भी कर देते हैं। दानाबन्दी के सम्बन्ध में भी रैयतों की शिकायत होती कि हमारे खेतों की पैदावार का मनमाना तखमीना लगाकर दानाबन्दी कर दी जाती है और नाम के लिए तो पैदावार का आधा ही जमीन्दार को देने की बात होती है; पर वास्तव में हमें उनको बहुत अधिक देना पड़ता है। कानून में पहले एक दफा थी जिसके द्वारा रैयत और जमीन्दार दोनों को यह हक दिया गया था कि अगर वे भावली रखना न चाहें तो अदालत के द्वारा भावली को नकदी बनवा सकते हैं। अदालत, सब बातों पर विचार करके, जिनमें पिछले कई वर्षों की वसूली का औसत भी एक मुख्य जुज था, जो मुनासिब समझे, नकदी लगान मुकर्रर कर दे सकती है।

१९१४–१८ के योरपीय महायुद्ध के बाद बड़ी महँगी का समय आया। किसानों को गल्ले का आधा हिस्सा देना जब्र मालूम हुआ। बहुतेरों ने अदालत-द्वारा नकदी लगान मुकर्रर करा लिया। पर महँगी में गल्ले की कीमत ज्यादा होने के कारण वसूली का औसत भी ज्यादा हुआ। जब १९२९–३० के बाद बहुत सस्ती आ गयी तो वह नकदी लगान किसी तरह अब पैदावार से अदा नहीं हो सकता था। लगान घटाने के कारणों में यह एक मुख्य कारण था। ऊपर कहा गया है कि जहाँ लगान ज्यादा हो गया था वहाँ ज्यादा घटाया गया। अब इस संशोधन से निश्चय किया गया कि रैयत की दर्खास्त पर भावली के बदले में नकदी लगान जरूर कर दिया जाय और मालिक का हिस्सा भी आठ आने के बदले कुछ कम कर दिया जाय। कुछ कम कर भी दिया गया।

लगान-कानून के मुख्य संशोधन यही थे। इसके अलावा गवर्नमेण्ट एक नया 'कर'—एग्रिकल्चरल इनकम टैक्स—लगाना चाहती थी। उसके सम्बन्ध में भी जमीन्दारों से समझौता हुआ कि वह किस पर लगाया जायगा, उसकी क्या दर होगी और उससे कौन बच सकेंगे। यह सब मैंने मोटा-मोटी बतला दिया। पर इन सबमें तफसीली बातें बहुत थीं जिनके तय करने में बहुत समय लगा। मेरे और मौलाना आजाद के साथ बातें तय हो जाने के बाद कानून बनाने और कानून के शब्दों को ठीक करने में भी बहुत समय लगा। बहुत बात-चीत भी करनी पड़ी। प्रधान मंत्री ने कानून बनाते समय उन लोगों से बातचीत तय की। इस समझौते का यह असर हुआ कि यह कानून दोनों पक्षों की सम्मति से चन्द महीनों के अन्दर ही पास हो सके, और १९३८ में ही गवर्नमेण्ट ने अपने बहुतेरे अफसरों को—जो बिलकुल नये थे और केवल इसी काम के लिए बहाल किये गये थे—तानात कर दिया कि वे नये कानून के अनुसार रैयतों के लगान घटाकर उनके खतियान (Records of right) को दुरुस्त कर दें।

जब १९३९ के नवम्बर में काँग्रेसी मंत्रिमण्डल ने इस्तीफा दे दिया तो बिहार में लगान घटाकर खतियान दुरुस्त करने का काम प्रायः पूरा हो चुका था और नया 'कर' भी जमीन्दारों पर लग चुका था। ऐसा और किसी सूबे में नहीं हो पाया।

युक्तप्रदेश में सुलह नहीं हुई। वहाँ कानून बनाने में कदम-कदम पर जमीन्दारों के विरोध का मुकाबला करना पड़ा। यद्यपि इस्तीफा के कुछ पहले तक कानून वहाँ पास हो चुका था तथापि उस पर गवर्नर की मंजूरी इस्तीफा के बाद मिली। मुझे नहीं मालूम कि उसके अनुसार कहाँ तक और कब कार्रवाई की गयी। उड़ीसा में कानून पास ही न हो सका। मद्रास में मंत्रिमण्डल ने एक कमिटी मुकर्रर की। उसने बहुत परिश्रम से रिपोर्ट तैयार की। लेकिन इस पर काम होने के पहले ही मंत्रिमण्डल ने इस्तीफा दे दिया। वह रिपोर्ट ज्यों की त्यों पड़ी रह गयी। बंगाल में यद्यपि काँग्रेसी मंत्रिमण्डल नहीं था तथापि वहाँ भी एक कमिटी बनी। उसने भी रिपोर्ट दी जिस पर अभी तक कोई काम नहीं हुआ है। बिहार में इस समझौते से किसानों को जल्द से जल्द रियायत दी जा सकी। चूँकि सब बातें समझौते से तय हुई थीं, इसलिए आपस में वैमनस्य बहुत नहीं बढ़ा—यद्यपि यह मानना पड़ेगा कि मंत्रिमण्डल पर दोनों पक्ष वार करते रहे, जमीन्दार भी शिकायत करते और किसान-सभा के लोग भी! मेरा विश्वास है कि यदि किसान-सभा के लोग बुद्धिमानी से काम लेते और मंत्रिमण्डल की कार्रवाई से लाभ उठाते हुए अपनी और-और शिकायतों के भी दूर करने के प्रयत्न में लगे रहते, तो मंत्रिमण्डल और भी काम कर सकता। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया। वे जमीन्दारों से भी अधिक मंत्रिमण्डल पर ही वार करते रहे। उसकी दिक्कतों के बढ़ाने में उनका काफी हाथ रहा।

एक चीज के बारे में कोई माकूल बात तय नहीं हो पायी थी जिसके कारण मंत्रिमण्डल को काफी तकलीफ उठानी पड़ी और किसान-सभा को भी उसकी शिकायत या बदनामी करने का काफी मौका मिला। जो जमीन बाकी लगान के लिए नीलाम कराकर जमीन्दार खरीद लेता है वह अगर किसी भी काश्तकार रैयत के साथ बन्दोबस्त कर दी जाय, तो बन्दोबस्ती के साथ ही उस रैयत को काश्तकारी का हक हो जाता है। कई जगहों में जमीन्दारों के पास इस तरह की नीलाम में खरीदी हुई रैयती जमीन बहुत पड़ी थी। इसे कानूनी भाषा में 'बकाश्त मालिक' कहते हैं। वे रैयतों को काश्तकारी हक नहीं देना चाहते थे; क्योंकि एक बार काश्तकारी हक हो जाने पर रैयत का जमीन पर पूरा हक हो जाता है। वह उसके मरने के बाद उसके वारिस को भी मिलती है। मालिक केवल लगान वसूल कर सकता है, रैयत को बेदखल नहीं कर सकता और अब तो वसूली में सारे जमा को नीलाम नहीं करा सकता था। इसलिए जमीन्दार, यदि हो सके तो, उसे स्वयं जोतना चाहते थे अथवा किसी न किसी उपाय से बाजाब्ता बन्दोबस्त करके रैयत को काश्तकारी हक हासिल होने देना नहीं चाहते थे। उधर रैयत देखते थे कि अगर हम काश्तकारी हक पर बहुत जोर देते हैं तो जमीन्दार जमीन देता ही नहीं, अपने कब्जे में रख लेता है। इसलिए बहुतेरे रैयत इस हक की ओर ध्यान न देकर, साल-भर के लिए ही सही, जोतने के लिए जमीन लेते और फिर जमीन्दार साल के अन्त में चाहे वापस ले लेता या इस शर्त पर छोड़ देता कि वे हक-काश्तकारी का दावा न करें। इस

तरह, ऐसी जमीन बहुत थी जिस पर कानूनी तौर से तो हक-काश्तकारी हो गया होगा, पर उस हक के साबित करने का कोई साधन या प्रमाण रैयत के पास नहीं था। बड़ी जमीन्दारियों में, नीलाम में खरीदी हुई जमीन अकसर फिर बन्दोबस्त कर दी जाती होगी; क्योंकि वे सारी जमीन को खुद आबाद कराने का भार नहीं ले सकतीं। पर छोटे-छोटे जमीन्दार इसे आसानी से कर सकते थे। कुछ बड़े जमीन्दार भी अब मोटर-वाले हलों के द्वारा बड़े पैमाने पर खेती करने की बातें सोच रहे थे। इसलिए वे बकाश्त जमीन को किसानों के कब्जे में नहीं जाने देना चाहते थे। इस झगड़े का कोई निपटारा उस समय नहीं हो सका। कई जगहों में किसानों ने इस तरह की बकाश्त जमीन पर जाकर सत्याग्रह द्वारा कब्जा करना चाहा। गवर्नमेण्ट को यह रोकना पड़ा। जब तक काँग्रेस-मंत्रिमण्डल रहा, यह झगड़ा जारी रहा। इसके कारण उसे बहुत शिकायतें और गालियाँ सुननी पड़ीं। पर काँग्रेसी मंत्रिमण्डल के इस्तीफा के बाद यह झगड़ा खुद-बखुद खत्म हो गया-सा मालूम पड़ता है; क्योंकि इसके बाद सत्याग्रह की बात कहीं सुनने में नहीं आयी। इस समझौते के आधार पर किसान-सभा के कुछ लोगों ने मंत्रिमण्डल के साथ मेरी भी काफी शिकायत जहाँ-तहाँ फैलायी। पर मैं समझता हूँ कि इस समझौते के द्वारा हमने किसानों के लिए जितनी रियायत दिलवा दी उतनी किसी सूबे में नहीं मिली।

किसान-सभा समझौते में शरीक नहीं थी। उसको पूरा हक था कि इससे जो लाभ हो उसे वह ले ले और बाकी के लिए अपनी माँगें बनाये रखे, मंत्रिमण्डल और जमीन्दारों पर उनके लिए तकाजा करती रहे और बेकार झगड़े में अपनी शक्ति का अपव्यय न करके उसे रचनात्मक रीति से किसानों की दशा सुधारने में लगावे। पर दुर्भाग्यवश उसकी शक्ति का बड़ा हिस्सा मंत्रिमण्डल के विरोध में ही खर्च हुआ। जहाँ सत्याग्रह ठाना गया वहाँ मंत्रिमण्डल को काफी कष्ट उठाना पड़ा, बदनामी भी उठानी पड़ी।

१२३—कानपुर की मजदूर-कमिटी और मेरी सख्त बीमारी

इस समझौते को पूरा करते-करते मैं बीमार पड़ गया। कुछ दिनों के लिए, १९३७–३८ के जाड़ों में, अपने गाँव चला गया। कुछ आराम करके मुझे फिर कानपुर की मजदूर-कमिटी के काम में लगना था, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। मैं वर्किंग कमिटी की बैठक में वर्धा गया। वहीं से कानपुर आनेवाला था। रास्ते में शायद कुछ खाने में गलती हो गयी। पीछे शक हो गया कि खाने में जहर का असर आ गया था। जब लखनऊ होते कानपुर पहुँचा तो तबीयत खराब हो गयी। पर कमिटी का काम करता गया। जहाँ तक जाँच का काम था, समाप्त किया। इस कमिटी में कुछ मुझ-जैसे तटस्थ लोगों के अलावा मिल-मालिक और मजदूर दोनों के प्रतिनिधि भी मेम्बर थे। जल्दी ही हमें इस बात का अनुभव हुआ कि दोनों पक्षों के प्रतिनिधियों को साथ लेकर कमिटी का काम पूरा करना कठिन

होगा; यदि ऐसे लोग मेम्बर होते जो मिल-मालिकों और मजदूरों की बात समझ-बूझकर अपनी राय दे सकते—जो सीधे उनके ऐसे प्रतिनिधि न होते जिनको उनके कहने के मुताबिक ही राय देनी पड़े, तो इतनी कठिनाई न होती। वहाँ भी शायद उनपर ऐसी मजबूरी नहीं थी। पर सारी जाँच एक ही जगह और उस जगह के भी एक ही प्रकार के कारखाने के सम्बन्ध में थी। वहीं के मिल-मालिकों और वहीं के मजदूरों के प्रतिनिधियों के लिए अपनी नैतिक जिम्मेदारी भी आ जाती थी कि वे उनके ही विचारों का प्रतिनिधित्व करें। इन विचारों से गवर्नमेण्ट ने श्री शिवराव को एक सदस्य मुकर्रर कर दिया जिनको मद्रास-प्रान्त में मजदूर-संगठन का काफी अनुभव था। प्रो० रुद्र पहले से ही मेम्बर थे। यद्यपि मिल-मालिक और मजदूर-सभा के प्रतिनिधि जाँच-कमिटी के सामने पेश होनेवाले कागजों और गवाहियों के सम्बन्ध में पूछ-ताछ और जिरह वगैरह कर सकते थे, और उन्होंने किया भी, तथापि अन्तिम रिपोर्ट का भार हम तीनों पर ही रह गया। मैं बीमार होने पर भी इजहार लेने वगैरह का काम समाप्त कर सका। हाँ, मिलों में घूमकर मैं सब बातें देख न सका; क्योंकि बहुत कमजोर हो गया था। इसलिए काम समाप्त करके मैं पटने आया। सोचा कि कुछ आराम करके, और मेम्बरों से मिलकर, रिपोर्ट तैयार की जायगी।

पटने में प्रान्तीय कमिटी की बैठक थी। उसमें उस लगान-कानून-सम्बन्धी समझौते पर विचार होनेवाला था। वहाँ बहुत बहस हुई। प्रान्तीय कमिटी ने उसे बहुत बड़े बहुमत से मंजूर किया। पर मुझे अभी कानपुर की कमजोरी सता रही थी। यहाँ भी काफी परिश्रम पड़ा। मैं प्रायः दो बार काम करते-करते बेहोश हो गया। पर मैंने अपनी इस दशा को किसी पर जाहिर नहीं होने दिया। मैं चाहता था कि उसी दिन काम पूरा करके, आराम करने के लिए, जीरादेई चला जाऊँ। उसी इरादे से चला भी। अनुग्रह बाबू गया-जिले में किसी काम से गये थे। वहाँ दाऊद-नगर के पास, रात के समय, उनकी मोटर सड़क की पटरी से उतरकर दरख्त से लड़ गयी। वह बहुत सख्त घायल हो गये। उनके साथ पंडित पारसनाथ त्रिपाठी थे जो वहीं मर गये। मोटर चलानेवाला भी घायल हुआ, पर विशेष नहीं, अनुग्रह बाबू किसी तरह पटने लाकर अस्पताल में रखे गये। मेरे कानपुर जाने के पहले ही यह घटना हो चुकी थी। मैं उनके कष्ट को देखकर बहुत दुखी रहता। मैंने सोचा कि जीरादेई जाने के समय उनको अस्पताल में देखकर उधर ही से स्टीमर पर चला जाऊँगा—ऐसा ही किया भी। पर स्टीमर पर पहुँचते-पहुँचते कुछ ऐसा परीशान हो गया कि वहाँ जाकर तुरंत लेट गया। बड़ी कठिनाई से किसी तरह सोनपुर की गाड़ी में सवार हो सका। पर इत्तफाक से मेरे भतीजा जनार्दन जमशेदपुर से छुट्टी में उसी गाड़ी से घर आ रहे थे। उन्होंने मेरे लिए जगह बनायी।

हम दोनों भंटापोखर-स्टेशन पर रात के नौ बजे पहुँचे। वहाँ रेल से उतरते ही जोरों से क आना शुरू हो गया, जैसा कानपुर में भी हुआ था। मैं किसी तरह पालकी पर जीरादेई पहुँचा। मैं सोचता था कि वहाँ कुछ दिन आराम कर लेने से सब अच्छा

हो जायगा। पर रात को हालत खराब हो गयी। जनार्दन और मृत्युञ्जय उस दिन वहीं थे। हालत बिगड़ती देख पटने में खबर कर दी। सीवान के डाक्टर सवेरे पहुँचे। कुछ देर के बाद छपरे से भी डाक्टर सूर आ गये। सबको शक था कि खाने में जहर का असर था। वे उसी की चिकित्सा करने लगे। रात में पटने से डाक्टर बनर्जी और डाक्टर शरण भी पहुँच गये। दो-तीन दिनों में हालत सुधरी। मगर अब जोरों से दमा का दौरा शुरू हो गया। डाक्टर घोषाल भी पटने से पहुँच गये थे। एक सप्ताह तक वहीं पर दवा होती रही। ज्यों ही डाक्टरों ने देखा कि मैं पटने लाने लायक हो गया हूँ, वे मुझे पटने ले आये। यहाँ मैं अस्पताल में ही रखा गया। घर के लोग भी साथ थे। बीमारी कुछ दिनों तक ज़ोर पर रही। पर आहिस्ता-आहिस्ता कम हुई। कुछ दिनो में मैं भी उसी काटेज में ले जाया गया जहाँ अनुग्रह बाबू थे। यद्यपि हम दोनों एक ही जगह थे—वह नीचे के कमरे में और मैं ऊपर के, तथापि हम लोग कई दिनों तक मिल नहीं सके। वह तो चारपाई पर करवट भी नहीं बदल सकते थे। मैं सीढ़ी पर उतर-चढ़ नहीं सकता था। वहीं प्रायः दो महीनों तक मैं रहा। आहिस्ता-आहिस्ता कुछ शक्ति भी शरीर में आयी। कुछ दिनों के बाद मैं नीचे उतर कर आता और अनुग्रह बाबू के पास बैठता। वह चारपाई पर लेटे-लेटे सरकारी कागजों को देखकर उन पर हुक्म लिखा करते। शुरू के चन्द दिनों को छोड़कर, जब वह एकदम लाचार थे और कुछ काम नहीं कर सकते थे, उन्होंने बराबर काम जारी रखा।

१२४—मंत्रिमण्डल का इस्तीफा और हरिपुरा-काँग्रेस

जब हम दोनों उसी मकान में थे, हरिपुरा-काँग्रेस का अधिवेशन हुआ। हम दोनों नहीं जा सके। काँग्रेस ने जुलाई १९३७ में मंत्रिमण्डल बनाया था। हरिपुरा-अधिवेशन १९३८ की फरवरी में हुआ। उन सात-आठ महीनों में मंत्रिमण्डल ने अपना काम सभी सूबों में जोरों से शुरू कर दिया था। पर अभी तक कोई काम पूरा नहीं हो सका था। इसी समय एक अड़चन आ पड़ी। काँग्रेस के चुनाव-पत्र में एक वादा यह भी था कि हम राजबन्दी लोगों को छुड़ायेंगे। इसका प्रयत्न वे करने लगे, पर पूरी सफलता न होती। इसी बीच अण्डमन-टापू के राजबन्दियों ने अनशन आरम्भ कर दिया। बहुत कष्ट के बाद भारत-सरकार इस बात पर राजी हुई कि वे टापू से हटाकर हिन्दुस्तान में अपने-अपने सूबे में भेज दिये जायँ। जब वे यहाँ आ गये तो अब प्रायः प्रान्तीय सरकारों के अधिकार में हो गये। इस तरह उनको मुक्त करने का प्रश्न आया। मंत्रिमण्डल उन्हें छोड़ना चाहता था। पर गवर्नर इस पर राजी नहीं होते थे। मेरी बीमारी की हालत में ही मौलाना अबुलकलाम आजाद पटने आकर मुझसे अस्पताल में मिले। मैं उनसे बहुत बातें न कर सका। वह यहाँ से जाकर सरदार बल्लभभाई और महात्माजी से मिले। सबका फैसला हुआ कि गवर्नर यदि राजबन्दियों को छोड़ने पर राजी न हों तो मंत्री लोग इस्तीफा दे दें। युक्तप्रदेश और

बिहार में, मंत्रिमण्डल ने बहुत जोर लगाया, पर गवर्नर राजी न हुए। अन्त में, हरिपुरा-काँग्रेस में जाने के पहले, मंत्रिमण्डल ने दोनों जगहों में इस्तीफा दे दिया। उसे गवर्नर ने उस समय मंजूर नहीं किया। यह कहकर बात टाल रखी कि जब तक वह इस बात पर विचार करते हैं और दूसरे मंत्री ढूँढ़ते हैं तब तक वे काम जारी रखें। बिहार के और मंत्री लोग तो हरिपुरा चले गये, सिर्फ अनुग्रह बाबू चारपाई पर पड़े काम करते रहे। मैं भी वहीं उनका साथ देता रहा।

इस इस्तीफा का असर देखना था। यद्यपि एक प्रकार से वायसराय और गवर्नरों ने अपने विशेष अधिकार को काम में न लाने का वचन दे दिया था तथापि यह पहला ही अवसर था जब उन्होंने उसे काम में लाना चाहा। काँग्रेसी मन्त्रिमण्डल ने, युक्तप्रान्त और बिहार में, उसे नहीं माना, पदत्याग कर दिया। यह बात सारे देश में और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट पर भी जाहिर हो गयी कि काँग्रेसी मंत्रिमण्डल अपनी बात पर अड़ा रहेगा, यदि वह ऐसा न करने पावेगा तो पद-त्याग कर देगा—अपनी बात न छोड़ेगा। यह पहला इम्तहान था जिसमें ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और मंत्रिमण्डल दोनों की परीक्षा हो रही थी। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने मंत्रिमण्डल की बात मान ली और राजबन्दियों को छोड़ने का भार उन पर ही दे दिया। वहाँ हरिपुरा में इस्तीफा की खबर पहुँचते ही वायुमण्डल एकदम बदल गया। जो लोग मंत्रि-पद के विरोधी थे, और कहा करते थे कि मंत्रि-पद ग्रहण कर लेने पर ये लोग अपनी जगहों के साथ चिपके रह जायँगे तथा अपने वादे भी भूल जायँगे, उनकी भी आँखें खुल गयीं—यदि वे सचमुच ऐसा मानते थे तो उनको भी अपने विचार बदलने पड़े। मैं तो काँग्रेस में जा ही न सका; पर जो कुछ सुना उससे मालूम हुआ कि इस इस्तीफा के कारण जो थोड़ा-बहुत विरोध मंत्रि-पद ग्रहण करने के सम्बन्ध में था वह अब जाता रहा।

हरिपुरा-काँग्रेस का समारोह भी अपूर्व था। श्री सुभाषचन्द्र बोस सभापति थे। वहाँ का प्रबन्ध इतने बड़े पैमाने पर और इतने खर्च के साथ किया गया था कि उसका मुकाबला अभी तक और किसी अधिवेशन ने नहीं किया। हम लोगों के अस्पताल में रहते-रहते ही हरिपुरा से लोग वापस आ गये। इस्तीफे भी वापस हो गये। मंत्रिमण्डल फिर काम करने लगा। अभी तक जो कार्यक्रम बन चुके थे उनका काम सात-आठ महीनों में पूरा नहीं हो पाया था, इसलिए मंत्रिमण्डल का फिर अपनी जगह पर आ जाना अच्छा ही हुआ। अब अधिक उत्साह के साथ काम होने लगा; क्योंकि कोई कह नहीं सकता था कि कब और किस विषय को लेकर फिर इस्तीफा देना पड़े, इसलिए जो कुछ हो सके, कर गुजरना ही अच्छा होगा।

१२५—बिहार की मजदूर-कमिटी

मंत्रिमण्डल ने निश्चय किया कि बिहार के मजदूरों की हालत जाँचने और सुधारने के लिए एक कमिटी बनायी जाय। कानपुर का काम एक प्रकार से समाप्त हो चुका था। इसलिए मैं अब इस काम को अपने हाथ में ले सकता था। कमिटी नियुक्त

हुई। मैं उसका अध्यक्ष बनाया गया। अपनी अस्वस्थता के कारण कानपुर का काम मैं अपने सन्तोष के लायक नहीं कर सका था। वहाँ की रिपोर्ट पर जब गवर्नमेण्ट ने कार्रवाई करनी चाही तो मिल-मालिकों का विरोध हुआ। मजदूरों की ओर से हड़तालें हुईं। नतीजा यह हुआ कि बहुत दिनों तक कशमकश चलता रहा। मुझे मालूम नहीं कि हमारी सिफारिशों में कितनी मंजूर हो सकीं। मुझे इसका अफसोस बना ही रह गया कि यदि मैं स्वस्थ होता और समय कुछ अधिक लगा सकता तथा कानपुर जाकर रिपोर्ट देने के पहले दोनों पक्षों से खुलकर बातें कर लेता, तो शायद रिपोर्ट का इतना जबरदस्त विरोध न होता; हो सकता है कि सिफारिशों में भी कुछ हेरफेर होता—कम से कम जो भी सिफारिशें होतीं, मिल-मालिकों में इतना कड़वापन नहीं आता।

जो हो, अब तो वह बात बन नहीं सकती थी। पर बिहार में फिर उसी प्रकार का काम मुझे करना पड़ा और वहाँ से भी यहाँ की समस्या अधिक जटिल थी; क्योंकि वहाँ तो केवल एक ही शहर के एक ही प्रकार के कारखानों के मजदूरों की हालत जाँचनी थी। पर यहाँ कमिटी के जिम्मे सभी प्रकार के मजदूरों की—जो कारखानों में काम कर रहे थे—हालत जाँची गयी। जहाँ तक मैं समझता हूँ, जितने प्रकार के कारखाने हिन्दुस्थान में हैं प्रायः सभी प्रकार के बिहार में मौजूद हैं। शायद बहुत चीजों में बिहार और सभी सूबों से इस बात में बढ़ा हुआ है। यहाँ पर खानों का काम बहुत फैला हुआ है। कोयले की खानें इतनी हैं जितनी किसी भी दूसरे प्रदेश में नहीं, या यों कहें कि कोयले की जितनी खानें बिहार में हैं उतनी सारे हिन्दुस्थान के अन्य सभी सूबों को मिलाकर भी नहीं हैं तो ठीक ही होगा। यही हालत लोहे और ताँबे की खानों की है। अबरख की खानें भी इतनी हैं कि और किसी भी सूबे में उतनी नहीं हैं, सब सूबों को मिलाकर भी नहीं—शायद सारे संसार के और किसी देश में इतनी नहीं जितनी बिहार में हैं। और कई चीजें भी थोड़ी-बहुत बिहार की खानों से ही निकलती हैं।

ऊख की खेती भी यहाँ काफी होती है। पिछले बारह वर्षों में चीनी के कारखाने भी बहुत बन गये हैं। युक्त-प्रदेश को छोड़कर और किसी सूबे में उतने कारखाने नहीं हैं जितने बिहार में। जमशेदपुर में ताता-कम्पनी का लोहे का कारखाना हिन्दुस्थान का ही नहीं, एशिया का सबसे बड़ा कारखाना माना जाता है और संसार के बड़े से बड़े कारखानों में एक है। वहाँ और भी बहुत किस्म के कारखाने हैं—टिन के पत्तर बनाने के लिए—तार, टेलीफोन और बिजली के तार बनाने के लिए—खेती के औजार (फावड़ा, गैंता वगैरह) बनाने के लिए—लोहे के तार और काँटे बनाने के लिए, अनेकानेक कारखाने हैं। कई तो जमशेदपुर के आस-पास भी बने हैं। इसके अलावा और भी लोहे के कारखाने दूसरे स्थानों में हैं। लाह की खेती छोटानागपुर के जंगलों में विशेष होती है। जितनी लाह बिहार में पैदा होती है उतनी और कहीं नहीं। लाही से लाह बनाने के कारखाने स्वाभाविक रीति से छोटानागपुर और संताल-परगने में हैं, जहाँ जंगलों से काफी लाही मिलती है। जहाँ-तहाँ जूट बुनने और रूई से कपड़ा बनाने के कुछ कारखाने भी हैं; पर और सूबों के मुकाबले में कम हैं।

इस तरह बिहार की कमिटी को प्राय: सभी प्रकार के मजदूरों की हालत जाँचनी थी। जमशेदपुर के कारखानों के मजदूर एक आधुनिक ढंग के नये बने हुए बड़े शहर में रहते हैं। वहाँ के कारखाने दिन-रात चौबीसों घंटे काम करते हैं, साल में एक दिन भी बन्द नहीं होते। कुछ मजदूर ऐसे हैं जो गाँवों में अपने-अपने घरों में रहते हैं और साल में चार-पाँच महीने ही चीनी के कारखानों में काम करते हैं। कुछ मजूर और जगहों की तरह विभिन्न कारखानों में आवश्यकतानुसार बराबर कुछ न कुछ करते रहते हैं। फिर खानों के अन्दर काम करनेवालों की हालत इन सबसे भिन्न है; क्योंकि वहाँ का काम ही दूसरे ढंग का है। खानों में भी सब काम करनेवाले न तो एक तरह का काम करते हैं और न उनके रहन-सहन का एक-सा तरीका ही है। झरिया में कोयले की खानों का जमघट है। चन्द मीलों के अन्दर बहुतेरी खानें हैं। इसलिए वहाँ मजदूरों की आबादी कुछ मिली-जुली-सी है। अबरक की खानें, एक दूसरी से अलग, जंगलों में और पहाड़ियों पर दूर-दूर हैं। इसलिए उनके मजदूरों के रहने का किसी एक स्थान में प्रबन्ध नहीं है। झरिया में तमाम कारखानों के मजदूरों के लिए एक ही पानी-कल से पानी मिलने का प्रबन्ध है। ऐसा अबरक-खानवालों के लिए नहीं है और शायद हो भी नहीं सकता है। इस तरह बहुत प्रकार के कामों के कारण बहुत तरह के मजदूर हैं। उनके रहन-सहन के प्रबन्ध में और मजदूरी में भी स्वभावत: बहुत अन्तर है। बिहार-कमिटी को इन सबकी जाँच करके सिफारिश करनी थी। काम के विस्तार और गुरुता को देखकर मैं सहम गया, पर छुटकारा न पा सका। मैंने भी सोच लिया था कि समय अधिक लगे तो लगे, पर इसे अच्छी तरह से और पूरा-पूरा करना चाहिए। ऐसा ही किया भी गया।

इसके अलावा और भी प्रश्न उपस्थित थे जिनके सम्बन्ध में मुझे कुछ न कुछ करना पड़ा। मंत्रिमण्डल बनते ही ऊख-सम्बन्धी एक प्रश्न उसके सामने उपस्थित हो गया जिस पर उसे शीघ्रता से कुछ करना ही था। बिहार में चीनी के बहुतेरे कारखाने बन जाने के कारण यहाँ के किसान ऊख की खेती बहुत करते हैं और ऊख को कारखानों के हाथ बेच देते हैं। कारखानों के बनने के पहले काश्तकार उतनी ही ऊख की खेती करता था जितनी को वह खुद अपने कोल्हू से पेर कर गुड़ बना सकता था। खेती के काम का कुछ ऐसा सिलसिला है कि जिन दिनों में ऊख पेरने का काम होता है उन दिनों में बैलों को और दूसरा काम बहुत नहीं रहता; क्योंकि ऊख पेरने का काम कार्तिक के बाद शुरू होता है जब रबी बोने का काम खत्म हो गया रहता है। इसलिए किसान उतने ही अन्दाज से ऊख बोया करते थे जितने को वे अपने बैलों से पेर सकें। इस तरह ऊख की खेती का दूसरी फसलों के साथ एक स्वाभाविक निपात हो जाया करता था। जब से कारखाने बन गये, किसान ऊख पेरने के झगड़े से छुट्टी पा गये। वे उसे कारखाने तक या नजदीक के स्टेशन तक पहुँचा देने का ही काम करते और पेरने का काम कारखाने कर लेते। ऊख से नगद पैसे भी मिलते हैं। इसलिए ऊख की खेती बहुत बढ़ गयी। अगर किसी कारण कारखाने ऊख न लें तो किसान बिलकुल

बेबस हो जाते हैं। उनकी साल-भर की कमाई बरबाद हो जाती है। ऐसी परिस्थिति १९३४ में हुई थी जब भूकम्प के कारण बहुतेरे कारखाने बेकार हो गये थे। गवर्नमेण्ट और रिलीफ-कमिटी को, खेतों में लगी ऊख की फसल को बचाने के लिए, काश्तकारों को फिर कोल्हू चलाने के लिए प्रोत्साहन देना पड़ा था। लाखों रुपये खर्च करके कोल्हू बाँटे गये थे। तो भी इन कोल्हुओं से काम पूरा होनेवाला न था। पर कुछ दिनों के बाद कारखानों की मरम्मत हो सकी। वे चालू हो गये। किसानों की फसल का कुछ हिस्सा बच सका। किसानों को ऊख का दाम कारखानेवाले दिया करते हैं। गवर्नमेण्ट ने देखा कि किसान कारखानों के इतने परवश हैं कि वे जब चाहें तब दाम घटा सकते हैं। इसलिए काँग्रेसी मंत्रिमण्डल बनने के बहुत पहले से ही ऊख का दाम मुकर्रर करने का अधिकार कानून द्वारा गवर्नमेण्ट ने अपने ही हाथ में ले रखा था। वह कह दिया करती कि इतने आने फी मन से कम दाम पर कोई ऊख नहीं खरीद सकता—हाँ, कोई यदि अधिक देना चाहे तो दे सकता है। इस तरह किसानों को एक रकम अवश्य मिल जाती। यदि कारखानों में होड़ हुई तो उससे अधिक भी मिल सकती थी।

१९३६ में किसी कारण ऊख की खेती कम हुई। कारखानों में खूब होड़ हुई। इससे किसानों को अधिक दाम मिले। उन्होंने दूसरे साल ऊख की खेती अधिक कर दी। १९३७ में इतनी ऊख थी कि मालूम होता था, कारखाने सब ऊख नहीं ले सकेंगे। चीनी का दाम भी इतना गिर गया कि गवर्नमेण्ट का मुकर्रर किया हुआ दाम भी बहुत कम था; कारखाने उतने दाम पर भी ऊख लेने को तैयार नहीं थे। नतीजा यह हुआ कि किसान बहुत तबाह हुए। उसी समय चन्दरोजा मिनिस्ट्री बनी थी। उसने भी कुछ कोशिश की, पर वह अप्रैल में आयी जब ऊख का काम प्रायः समाप्ति पर रहता है। उसके पहले से ही हमने कारखानेवालों से बातचीत करनी शुरू कर दी थी कि वे किसी तरह से ऊख जरूर ले लें। कुछ राजी भी हुए। अपने इलाके की ऊख उन्होंने ले ली। जब तक वह खतम न हुई, कारखाने चलते रहे, यद्यपि मामूली तौर पर आधे अप्रैल के बाद ऊख से चीनी की मात्रा कम निकलती है। जब जुलाई में काँग्रेसी मंत्रि-मण्डल बना तो उसे इस विषय पर विचार करना था कि जो अनुभव किसानों को १९३७ के मार्च-अप्रैल में हुआ था और उन्हें जो कार्रवाई उस समय करनी पड़ी थी उसका सामना उनको फिर न करना पड़े। इस सम्बन्ध में मेरी और इस विभाग के मंत्री डाक्टर महमूद से बातें हुईं और एक कान्फ्रेन्स भी की गई। देखा गया कि ऊख की खेती सबसे अधिक युक्तप्रान्त और बिहार में ही होती है। इसलिए जो कुछ करना हो, दोनों सूबे मिलकर करें तो ठीक होगा। दोनों के सामने समस्या एक थी। दोनों में काँग्रेसी मंत्रिमण्डल थे। इसलिए दोनों सूबे के मंत्रिमण्डलों ने मिलकर एक कान्फ्रेन्स की। उसी में अपना कार्यक्रम भी ठीक किया। मुझे भी उसमें भाग लेना पड़ा था। चूँकि हिन्दुस्थान में जितनी चीनी बनती है उसका तीन-चौथाई से भी ज्यादा हिस्सा इन्हीं दोनों प्रान्तों में बनता है, इसलिए लोगों ने सोचा कि ये दोनों मिलकर जैसा प्रबन्ध चाहेंगे, कर सकेंगे।

दोनों सूबों ने कानून बनाये। उसके अनुसार केवल ऊख का ही नहीं, चीनी का भी दाम ठीक करने का अधिकार गवर्नमेण्ट ने अपने हाथों में लिया। कुछ कारखानेवालों ने विरोध किया। पर अन्त में सब राजी हुए। कारखानेवालों का एक संघ बना। वही सभी कारखानों पर नियंत्रण रखता। जो कारखाना संघ में शरीक न हो उसे ऊख पेरने की सनद (लाइसेंस) गवर्नमेण्ट न देगी। इस तरह, जो न भी चाहते थे उनको भी मजबूरन उस संघ में शरीक होना पड़ा। किसानों को उस साल दाम ठीक मिला। मेरे दिल में कुछ सन्देह था; क्योंकि मैं समझता था कि कारखानों के साथ यदि ज्यादा सख्ती की जायगी तो हो सकता है कि वे इन दो सूबों के बाहर के कारखानों के साथ, जहाँ किसी तरह का हस्तक्षेप या प्रतिबन्ध नहीं था, मुकाबला न कर सकें। इसलिए मैंने कहा कि बेहतर हो यदि सभी सूबों के साथ मिलकर कुछ किया जाय। भारत-सरकार कुछ करने पर तैयार नहीं थी। इसलिए सूबों के साथ ही बातचीत हो सकती थी। दूसरे सूबों के मंत्रिमण्डल—काँग्रेसी मंत्रिमण्डल भी—इन दोनों के साथ मिलकर अपने यहाँ के कारखानों को नियंत्रित करने पर राजी न हुए। इसका नतीजा यह हुआ कि उन सूबों के कारखानों को, विशेषकर देशी रियासतों के कारखानों को, बहुत सुविधा मिल गयी। वहाँ नये कारखाने बने। पुरानों ने बहुत मुनाफा किया। बिहार के एक-दो कारखाने बिक कर सूबे से बाहर चले गये। पर इसमें कुछ सन्देह नहीं कि जो कुछ काँग्रेसी मंत्रिमण्डल ने किया उससे किसानों को उस समय बहुत लाभ पहुँचा। और, जब तक काँग्रेसी मंत्रिमण्डल रहा, लाभ होता रहा।

१२६—बिहार में शिक्षा-सम्बन्धी कार्य और बाढ़-सम्मेलन

शिक्षा का विषय अत्यन्त महत्त्व रखता है। डाक्टर महमूद इस बिभाग के चार्ज में थे। उन्होंने चाहा कि मुझे वह पटना-युनिवर्सिटी के सिनेट का मेम्बर बना दें। मैंने सिनेट की मेम्बरी से सन् १९२१ में इस्तीफा दे दिया था। उन्होंने बहुत जिद किया कि मुझे यह फिर से स्वीकार कर लेना चाहिए। श्री सच्चिदानन्दसिंह वाइस-चान्सलर थे। उन्होंने भी इसरार किया। इसलिए मैंने मेम्बरी ले ली। सिनेट की बैठक में मैंने एक प्रस्ताव पेश किया। उसका आशय यह था कि गवर्नमेण्ट शिक्षा की योजना सुधारने के प्रश्न पर विचार करे और इसके लिए एक किमटी नियुक्त करे जो प्राथमिक से लेकर उच्च शिक्षा तक की योजना बनावे। इस प्रस्ताव के उपस्थित करने के समय मैं बीमार था। बड़ी मुश्किल से सिनेट की बैठक में जा सका। पर मैंने अपना भाषण लिख लिया था। एक मित्र ने उसे पढ़ दिया। उसमें प्रचलित शिक्षा-पद्धति की कड़ी समालोचना थी। कुछ सदस्यों ने, जिसमें विशेष शिक्षक ही थे, टीका की। पर प्रस्ताव सर्वसम्मति से मंजूर हुआ। कुछ दिनों के बाद जब वह प्रस्ताव गवर्नमेण्ट के पास भेजा गया तो उसे मंजूर करके मंत्रिमण्डल ने एक कमिटी बना दी। मैं भी उसका एक सदस्य बनाया गया। अध्यक्ष बनाये गये बम्बईवाले श्री के० टी० शाह।

मेरे प्रस्ताव के उपस्थित होने के पहले ही महात्मा गांधी ने एक योजना उपस्थित करके शिक्षा-सम्बन्धी प्रश्न को सारे देश की जनता के सामने ला दिया था। उन्होंने कई लेख 'हरिजन' में लिखे। उनकी योजना की मुख्य बात यह थी कि बच्चों की शिक्षा, जो आज केवल अक्षरों द्वारा दी जाती है, केवल अक्षरों अर्थात् पुस्तकों द्वारा ही न दी जाकर कुछ हुनर या हाथ की कला द्वारा दी जाय। उनका कहना था कि यदि ऐसा किया जायगा तो बच्चे जो काम करके कमायेंगे उसी से प्राथमिक शिक्षा का खर्च भी निकल आवेगा। उन्होंने इस तरह एक तीर से दो शिकार करने की योजना बना दी। उसके अनुसार शिक्षा भी आज की शिक्षा से बेहतर होगी और उसके लिए खर्च भी गवर्नमेण्ट को नहीं करना पड़ेगा। इसके पहले जब कभी यह प्रश्न उठाया जाता था कि सभी बच्चों की निःशुल्क और अनिवार्य शिक्षा का प्रबन्ध किया जाय तो गवर्नमेण्ट की ओर से यही उज्र पेश किया जाता था कि उसके पास इतने रुपये नहीं कि वह इसे कर सके। स्वर्गीय गोखले के समय से ही इस बात पर जनता की ओर से जोर दिया जाता रहा और गवर्नमेण्ट द्रव्याभाव के बहाने से विरोध करती आ रही थी। कहीं-कहीं निःशुल्क शिक्षा का और कहीं-कहीं निःशुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा का भी प्रयोग किया गया था। पर वह इतने कम स्थानों में और इतने छोटे पैमाने पर ब्रिटिश भारत में हुआ था कि उससे यह आशा नहीं की जा सकती थी कि यह प्रयोग सारे भारत में कभी पूरा हो सकेगा।

बिहार के छपरा-जिले में कुछ हद तक निःशुल्क शिक्षा का प्रबन्ध किया गया था। इसमें मुख्य दिलचस्पी लेनेवाले दो व्यक्ति थे, मेरे भाई साहब बाबू महेन्द्रप्रसाद और छपरा-जिले के स्कूलों के उन दिनों के डिस्ट्रिक्ट-इन्सपेक्टर बाबू राधिकाप्रसाद। पर गवर्नमेण्ट ने यद्यपि इसे नामंजूर नहीं किया तथापि कभी इसे बहुत प्रोत्साहन भी नहीं दिया। किसी तरह से यह प्रयोग चल रहा था। गांधीजी ने अपनी योजना से हलचल-सी मचा दी। उन्होंने कुछ ऐसे लोगों का, जो शिक्षा से प्रेम रखते हैं और उसके प्रचार में तत्पर रहते हैं, एक सम्मेलन वर्धा में किया। वहाँ उनकी योजना पर विचार हुआ। सम्मेलन ने एक उपसमिति बना दी। जामे-मिल्लिया (दिल्ली) के प्रमुख डाक्टर जाकिर हुसेन उसके अध्यक्ष हुए। सब-कमिटी ने एक योजना तैयार की। वह वर्धा-योजना के नाम से प्रख्यात हुई। गांधीजी की योजना का ही उस सब-कमिटी ने बहुत अंशों में समर्थन किया और प्राथमिक शिक्षा दस्तकारियों द्वारा देने की सिफारिश की। सब-कमिटी खर्च के सम्बन्ध में उस हद तक जाने को तैयार नहीं थी जहाँ तक गांधीजी का विचार था, पर वह भी इसका विरोध नहीं करती कि खर्च का कुछ अंश यदि बच्चों की दस्तकारियों से निकल आवे तो निकाल लेना चाहिए।

इस तरह जो शिक्षा-शास्त्री वहाँ जमा हुए उन्होंने योरप और अमेरिका के शिक्षा-शास्त्रियों के विचारों से गांधीजी के विचारों को पुष्टि दी। और मालूम हुआ कि बिना उनके विचारों और पुस्तकों का मनन किये ही गांधीजी ने जो कुछ कहा है वही आधुनिक शास्त्रियों के भी विचार हैं। इसलिए जब मैंने अपना प्रस्ताव पेश

किया था तो मेरे दिल में यह बात भी थी कि वर्धा-योजना पर भी यह कमिटी विचार करेगी। यदि इसकी राय भी उससे मिल गयी तो गांधीजी जो कराना चाहते थे वह बिहार में गवर्नमेण्ट आसानी से कर सकेगी। मैंने इस कमिटी का मेम्बर होना स्वीकार कर लिया। इसका काम भी जारी हो गया। पर इस कमिटी के काम का भार इसके अध्यक्ष श्री के० टी० शाह पर ही अधिक रहा।

बिहार-सरकार के शिक्षा-विभाग ने एक और कमिटी मुकर्रर की। उसका भी मैं एक सदस्य बनाया गया। हिन्दी-हिन्दुस्थानी के सम्बन्ध में, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के नागपुर-अधिवेशन में, मैंने अपने विचार प्रकट किये थे। बिहार में यह प्रश्न उपस्थित हुआ कि यहाँ की पाठ्य-पुस्तकों में ऐसी भाषा कहाँ तक चल सकती है जिसे हिन्दी और उर्दू जाननेवाले दोनों ही मान्य सामझें, और इसके लिए शब्दकोष बनाने का भी प्रयत्न किया जाय। डाक्टर महमूद ने मुझे ही इसका प्रमुख बनाया; पर मैंने इसे स्वीकार नहीं किया; क्योंकि मेरे पास दूसरे काम बहुत हो गये थे, इसलिए मैं इसमें न तो काफी समय दे सकता था और न ऐसे गुरुतर काम की योग्यता अपने में समझता था। इसलिए इसके अध्यक्ष मौलाना अबुल कलाम आजाद साहब बनाये गये। इसका काम भी आरंभ हुआ। इस प्रकार मेरे जिम्मे अपने सूबे में बहुत काम आ गया। वर्किंग कमिटी द्वारा नियुक्त पारलेमेण्टरी कमिटी का मेम्बर तो मैं था ही। १९३७ से १९३९ तक का बहुत समय प्रायः इन्हीं कामों में लगा। समय काफी लगा; क्योंकि जिन प्रश्नों पर विचार करना था वे गम्भीर थे और उनका निपटारा आसानी से नहीं किया जा सकता था। जो सिफारिशें होतीं उनका भी असर काफी पड़ता। इसलिए यद्यपि मैं मंत्रिमण्डल में नहीं था तथापि अपनी शक्ति और बुद्धि के अनुसार यथासाध्य मदद देना मेरा आवश्यक कर्त्तव्य हो गया था।

एक और विषय था जिस पर बहुत विचार किया गया, पर कुछ रास्ता अभी तक नहीं निकला। वह है बिहार के कुछ हिस्सों में बाढ़ के प्रकोप का। छपरा और पटने के बीच में सरयू, गंगा, सोन और गंडक नाम की चार बड़ी-बड़ी नदियों का संगम है। जब कभी इन नदियों के उद्गम-स्थान अथवा रास्ते में लगातार बहुत बरसात हो जाती है तो इनमें एक साथ ही बाढ़ आ जाने से इनके आसपास के स्थानों की हालत बहुत ही खराब हो जाया करती है। ऐसा पहले से ही होता चला आ रहा है। पर १९३४ के भूकम्प के बाद से बाढ़ का प्रकोप बढ़ गया है। कुछ लोगों का अनुमान है कि भूकम्प के कारण नदियों की गहराई कम हो गयी है, उनमें उनका पानी निकाल ले जाने की अब शक्ति नहीं रह गयी जितना वे पहले निकाल ले जाया करती थीं। इसलिए अब पानी दूर तक बाहर फैल जाता है और जहाँ जाता है वहाँ पानी की गहराई भी अधिक होती है। पर इस इलाके के अलावा, जहाँ नदियों के जमघट के कारण अक्सर बाढ़ आया करती है, बिहार के—विशेषकर उत्तर-बिहार के—और भी हिस्से हैं जहाँ बाढ़ बहुत आया करती है। बाढ़ के कारणों में, लोगों का मत है, एक जबरदस्त कारण रेलवे के बाँध भी हैं जो पानी को रोक देते हैं और उसे आसानी से बहकर निकलने

नहीं देते। इन बाँधों में काफी पुल और पानी के निकास के रास्ते नहीं हैं। कहीं-कहीं तो इन बाँधों के कारण बहुत अनर्थ हो जाया करता है। रेलवेवाले, लोगों की कुछ सुनते नहीं। रेलवे के अलावा दूसरे भी बाँध हैं जो खास तौर से पानी रोकने के लिए ही बनाये गये हैं। उनके असर के सम्बन्ध में भी मतभेद की गुंजाइश है। इसमें सन्देह नहीं कि बाढ़ का प्रश्न बिहार के लिए बहुत महत्त्व रखता है। मैंने इस सम्बन्ध के कुछ लेख लिखे थे और जब काँग्रसी मंत्रिमण्डल बना तो उसको इस प्रश्न पर भी विचार करना आवश्यक जान पड़ा। उसने एक सम्मेलन किया जिसमें अनुभवी इन्जीनियरों और जनता के प्रतिनिधियों को बुलाया। बहुत विचार-विमर्श हुआ। पर कोई संतोषजनक फल नहीं निकला; क्योंकि न तो कारण के सम्बन्ध में सब एकमत हो सके और न उपाय के सम्बन्ध में। कान्फ्रेन्स में मैं बीमारी के कारण शरीक न हो सका। पर मेरे विचार वहाँ पेश हुए थे। बिहार के ये बड़े-बड़े प्रश्न थे जिनसे मेरा विशेष सम्बन्ध था। इनके अलावा और बहुतेरे छोटे-मोटे प्रश्न हुआ करते जिनके सम्बन्ध में मेरी राय लोग पूछ लिया करते। दूसरी जगहों के मंत्रिमण्डलों से मेरा उतना सम्बन्ध न रहा जितना बिहार के। यह स्वाभाविक था।

१२७—गांधी-सेवा-संघ

मैं अस्पताल में मार्च के अन्तिम सप्ताह तक रह गया। जब तबीयत कुछ अच्छी हो गयी और ताकत भी आ गयी तो वहाँ से निकला। गांधी-सेवा-संघ का वार्षिक सम्मेलन उस साल उड़ीसा में, पुरी के पास 'डेलांग' गाँव में, होनेवाला था। वहीं मैं सीधे चला गया। महात्माजी भी वहाँ आनेवाले थे। मेरी बहन, मृत्युञ्जय की माँ और मेरी भौजाई भी साथ गयीं। वहाँ हम लोग कई दिनों तक रहे। दूसरे सम्मेलनों की तरह यहाँ भी तात्त्विक विषयों पर चर्चा होती रही। सब लोग मिलकर एक साथ चर्खा चलाते। संध्या के समय जनता जमा हो जाती तो कुछ लोग व्याख्यान देते। गाँधी-सेवा-संघ-सम्मेलन चार-पाँच ही बार हुए, पर इनका महत्त्व यह था कि वहाँ गांधीजी के समक्ष सभी सदस्यों को कई दिनों तक रहने का सुअवसर मिल जाता। सिद्धान्त की बातों पर आपस में बहुत बहस होती। उपस्थित विषयों पर गांधीजी की सम्मति मिल जाती। जो सदस्य जहाँ जिस काम में लगा रहता वहाँ उत्साह के साथ जाकर फिर काम करता।

संघ के सदस्य अधिकतर रचनात्मक काम में ही लगे थे। कोई चर्खा-संघ द्वारा अथवा स्वतन्त्र रूप से खादी और चरखे के प्रचार-कार्य में लगा था, तो कोई हरिजन-सेवा में अपना समय लगा रहा था। कोई ग्राम्य उद्योगों को ही पुनःजीवित और संगठित करना अपना मुख्य कर्त्तव्य मानकर उसी में संलग्न था, तो कुछ लोग वर्धा-योजना के प्रचारार्थ स्थापित तालीमी संघ में शिक्षा-प्रचार का काम कर रहा था। कुछ लोग गो-सेवा में लगे थे जिसमें मुर्दा पशुओं की खाल निकालने, पकाने और उससे जूते, बाकस इत्यादि सामान बनवाना भी शामिल थे। विशेषकर इन्हीं सब प्रवृत्तियों में,

जिनके लिए गांधीजी ने प्रेरणा दी थी, संघ के लोग दत्तचित्त थे। कुछ ऐसे भी जरूर थे जो कांग्रेस के संगठन का काम करते थे, जहाँ-तहाँ काँग्रेस-कमिटियों की सेवा कर रहे थे। पर ऐसे सदस्यों की संख्या बहुत कम थी। वहाँ भी उनसे अधिकतर रचनात्मक काम करते रहने की ही अपेक्षा रहती थी। जब कौन्सिलों का चुनाव होने लगा और कुछ सदस्य उमीदवार बनाये गये तो इस विषय पर संघ के सम्मेलन में बहुत चर्चा हुई थी। कुछ लोगों का विचार था कि संघ के लोगों को इस काम में नहीं पड़ना चाहिए। पर संघ ने कुछ को इजाजत दी थी। इस विषय पर, मुझे जहाँ तक स्मरण है, दो सम्मेलनों में विचार होता रहा। अब तो उसके सदस्य श्री जगलाल चौधरी मंत्री और श्रीकृष्णवल्लभ सहाय पारलेमेण्टरी सेक्रेटरी हो गये थे। संघ ने उनसे वादा ले लिया था कि संघ से उनको जो निर्वाह-व्यय मिलेगा उसी से उनको सन्तुष्ट रहना पड़ेगा। इसलिए जब उनको कुछ वेतन के रूप में मिलने लगा तो उन लोगों का निर्वाह-व्यय संघ की ओर से बन्द कर दिया गया। जो वेतन उन्हें मिलता था उसका भी पूरा-पूरा हिसाब वे संघ को देने लगे। संघ की सदस्यता, नैतिक-दृष्टि से, मनुष्य को—यदि वह सचाई से काम लेता—ऊँचा उठा सकती थी। उससे आशा रखी जाती थी कि गांधीजी के सत्य-अहिंसा-सम्बन्धी सिद्धान्तों को वह यथासाध्य अपने जीवन में उतारने का प्रयत्न करेगा। संघ-सदस्यों में से बहुतेरों का जीवन हम सबके लिए आदर्श हो सकता है।

इस संघ का उद्देश्य कभी कोई राजनीतिक दल तैयार करने का नहीं था। इसने कभी ऐसा किया भी नहीं। कभी इस संघ की ओर से किसी ने किसी चुनाव में भाग नहीं लिया, चाहे वह काँग्रेस का हो या म्युनिसिपैलिटी या डिस्ट्रिक्ट-बोर्ड या असम्बली या कौन्सिल का। अधिकांश तो इन सभी संस्थाओं से अपने को अलग रखते थे। वे किसी चुनाव से सम्बन्ध नहीं रखते थे। अगर कहीं कोई चुनाव में आता भी तो व्यक्तिगत रूप से, अपनी सेवा के बल पर, न कि संघ की सदस्यता से लाभ उठाकर। संघ में सेठ जमनालाल बजाज, सरदार बल्लभभाई पटेल और मुझ-जैसे लोग भी थे जो काँग्रेस की वर्किंग कमिटी के सदस्य थे तथा अपने-अपने स्थान में काँग्रेस के काम में प्रमुख भाग लेते थे। स्वयं गांधीजी सदस्य तो नहीं थे, पर मार्ग-प्रदर्शक तो थे ही। तो भी यह कहना बिलकुल बेबुनियाद था कि जैसे काँग्रेस के अन्दर स्वराज्य-पार्टी अथवा काँग्रेस-सोशलिस्ट-पार्टी बनी थी वैसी ही संस्था यह भी थी। इसका उद्देश्य सेवक तैयार करना था, उनके द्वारा रचनात्मक काम में यथासाध्य मदद पहुँचाना था। उन सेवकों से अपेक्षा की जाती थी कि वे अपने जीवन और उदाहरण से गांधीजी के सिद्धान्तों का यथासाध्य प्रचार करते रहेंगे। पर कुछ लोगों ने उस पर यह आक्षेप लगाया कि वह भी एक दल है। रामगढ़-काँग्रेस के कुछ पहले जो संघ का वार्षिक अधिवेशन बंगाल में हुआ था, उसमें संघ को विघटित करने का निश्चय कर लिया गया।

१२८—ग्रामसुधार-योजना और नासिक में निवास

उड़ीसा में ही हम लोगों को मालूम हुआ कि वहाँ की असम्बली की काँग्रेस-पार्टी के अन्दर बहुत मतभेद चल रहा है—मंत्रिमण्डल के विरुद्ध कुछ लोगों को शिकायतें हैं। सरदार बल्लभभाई और मैं, पारलेमेण्टरी कमिटी के दो मेम्बर वहाँ मौजूद थे। हमने उचित समझा कि दोनों पक्षों से बातें कर ली जायँ और हो सके तो इस झगड़े को तय कर दिया जाय। एक तरफ मंत्रिमण्डल था और दूसरी ओर पंडित नीलकण्ठदास, पंडित गोदावरीश मिश्र प्रभृति थे। श्री गोपबन्धु चौधरी किसी दल के नहीं थे। वहाँ पर हमने सभी बातें सुनकर अपनी राय दे दी। श्री गोपबन्धुदास को, जो गांधी-सेवा-संघ की ओर से वहीं कटक में आश्रम बनाकर रचनात्मक काम में लगे हुए थे और काँग्रेस-कमिटी से अलग हो गये थे, काँग्रेस का काम सँभालने के लिए, दोनों पक्षों की राय से, कहा गया। हम समझते थे कि झगड़ा शान्त हो जायगा। पर ऐसा हुआ नहीं। पीछे इसके बहुत बुरे फल देखने में आये जिसका जिक्र समय पर आवेगा।

एक घटना वहाँ हो गयी जो वर्णनीय है। जो लोग सम्मेलन में गये थे उनमें से कुछ श्री जगदीश के दर्शनार्थ पुरी चले गये। उनमें हमारे घर की स्त्रियाँ भी थीं। उनके सम्बन्ध में तो नहीं, पर दूसरों के सम्बन्ध में महात्माजी को इससे बहुत दुःख हुआ। श्री जगन्नाथजी का मंदिर अभी तक हरिजनों के लिए नहीं खुला है, अर्थात् हरिजन वहाँ उस तरह दर्शन-पूजा नहीं कर सकते जिस तरह सवर्ण हिन्दू। महात्माजी स्वयं ऐसे मंदिर में नहीं जाते जहाँ हरिजन नहीं जा सकते हैं। उनका विचार है कि यदि उनको दर्शन-पूजा का अधिकार नहीं है तो हमें भी न होना चाहिए। इसलिए जब सम्मेलन में आये हुए निकटवर्ती लोगों के सम्बन्ध में उन्होंने सुना कि वे भी दर्शनार्थ गये तो उनको चोट लगी। पुरी जाना वह बुरा नहीं मानते थे और न दर्शन-पूजा ही। पर दर्शन-पूजा हम वहीं तक करें जहाँ तक करने का अधिकार हरिजनों को भी है। इस बात की चर्चा वहाँ चली। जो लोग अपने को गांधीजी का अनुयायी समझते हैं उनको भी इतनी सख्ती कुछ खटकी। पर इससे हरिजनों के प्रति गांधीजी के प्रेम और सहानुभूति की गहराई का पता लग गया।

अस्पताल से निकलने पर डाक्टरों की राय थी कि मुझे अभी कुछ और आराम कर लेने की जरूरत है। इसलिए जब गर्मी शुरू हुई तो मैंने निश्चय किया कि कुछ दिनों तक किसी स्वास्थ्यकर स्थान में जाकर रह जाऊँ। इसलिए मैंने नासिक में जाकर रहने का निश्चय किया। वहाँ पर सेठ बिड़ला का एक मकान था जिसका वह 'खासकर हवा बदलने के लिए निवासस्थान' की तरह इस्तेमाल करते हैं। मैंने वहीं जाकर ठहरने का निश्चय किया। सेठ रामेश्वरदास बिड़ला ने बम्बई से भी सब प्रबन्ध कर दिया। नासिक जाने का विचार एक और कारण से हुआ। मई के महीने में बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होनेवाली थी। सोचा कि नासिक बम्बई के नजदीक है, वहाँ से आसानी से सभा में शरीक हो सकूँगा।

नासिक जाने के पहले एक और काम था जिसके सम्बन्ध में मुझे कुछ कर लेना था। बिहार-मंत्रिमण्डल का विचार था कि गाँवों के सुधार के लिए सरकारी तौर पर कुछ काम किया जाय। इसके लिए वह एक विभाग बनाना चाहता था। इसके लिए एक ऐसी योजना बनानी थी जिसके अनुसार काम किया जाय। इस काम के लिए एक ऐसा आदमी भी चाहिए था जो उस दृष्टि से इस काम को चलावे जिसे मंत्रिमण्डल पसन्द करता था। अब तक ग्राम-सुधार का काम गवर्नमेण्ट की ओर से कुछ भी नहीं हुआ था। यह पहला प्रोग्राम था। इसमें विशेषकर गाँवों के रहनेवालों की हालत हर तरह से सुधारने का ही विचार था। अब तक जो लोग सरकारी काम किया करते थे वे एक प्रकार से जनता के मालिक और शासक बनकर ही किया करते थे। जरूरत थी कि कुछ लोग सेवक बनकर काम करें। यही काम इस विभाग के जिम्मे लगाने का निश्चय किया गया। मैंने एक योजना बनायी। गवर्नमेण्ट ने पंडित प्रजापति मिश्र को इस विभाग का चार्ज दिया। दूसरे कार्यकर्त्ताओं की नियुक्ति भी हुई। इनमें बहुतेरे काँग्रेसी कार्यकर्त्ता नियुक्त किये गये। इसका यह कारण नहीं था कि काँग्रेसी लोगों को नौकरी देनी थी। वह काम ही ऐसा था जिसका थोड़ा-बहुत अनुभव अगर किसी को था तो काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओं को ही, दूसरों को नहीं; क्योंकि किसी ने बिहार-प्रान्त में इस प्रकार का कोई काम किया ही न था। पर इनके साथ-साथ दूसरे लोग भी नियुक्त किये गये। समझा गया कि सबको कुछ दिनों के लिए शिक्षा देकर तैयार कर दिया जायगा। जो योजना मैं बना रहा था वह पूरी नहीं हो पायी थी, इसीलिए पंडित प्रजापति मिश्र नासिक में जाकर मुझसे मिले। वहीं पर हमने उसे पूरा किया। जब तक यह विभाग काम करता रहा, उसी साँचे पर काम हुआ। मेरा विचार है कि इससे जनता की भलाई हो रही थी; पर मंत्रिमण्डल के इस्तीफा देने के बाद इसका रुख आहिस्ता-आहिस्ता बदलने लगा। अन्त में गवर्नमेण्ट ने इसे तोड़ दिया।

नासिक-यात्रा में मेरे साथ श्री चक्रधरशरण नहीं जा सके। उनका स्थान श्री अम्बिकाकान्तसिंह ने लिया। एक और साथी मिले जिनका कुछ जिक्र कर देना आवश्यक मालूम होता है। वह थे एक सज्जन जिनका नाम था श्री देवरातजी ब्रह्मचारी। वह कर्नाटक-प्रदेश में समुद्र के किनारे पर बसे गोकर्ण नामक तीर्थस्थान के ब्राह्मण थे। मुजफ्फरपुर में सुहृद-संघ के वार्षिकोत्सव में मैं गया था। वहीं उनसे पहली मुलाकात हुई थी। वहाँ उन्होंने एक प्रशंसापत्र की तरह की चीज तैयार की थी जिसको पढ़ सुनाया था। संस्कृत के अच्छे विद्वान् थे। पर वहाँ उनसे अधिक बातें या परिचय नहीं हो सका था। एक दिन मैं सदाकत-आश्रम में बैठा था। मेरी बहन भी थीं। उस दिन कोई पुण्यतिथि थी जिस कारण बहुत लोग गंगास्नान के लिए आये थे। मैंने देखा कि वह सज्जन भी उनमें थे। बहन का खयाल उनकी ओर गया। उनका आदर-सत्कार उन्होंने किया। जब बातें हुईं तो उनकी विद्वत्ता इत्यादि का कुछ पता चला। मैंने उनको निमन्त्रण दिया कि आप मेरे साथ कुछ दिनों तक रहें। उन्होंने उसे स्वीकार किया। वह यों ही भ्रमण करते-करते बिहार आ गये थे। मैं जीरादेई गया। वह भी

वहाँ आये। कुछ दिनों तक हम लोग साथ रहे। उनको मैंने नासिक भी बुला लिया। वह वैदिक ब्राह्मण थे। वेद उनको प्रायः मुखस्थ थे। उपनिषद् तो वह बिना पुस्तक देखे ही सुना जाते थे। उनसे मालूम हुआ कि कर्नाटक में आज भी यह परिपाटी है। वहाँ ब्राह्मण वेदों और उपनिषदों को कंठस्थ कर लेते हैं। वे अपना काम करते हुए, खेती करने के समय भी, इनका पाठ किया करते हैं। उस समय वह एक नक्शा बना रहे थे जिसमें वह वेदों के अनुसार सृष्टि-क्रम एक चन्द्रमा के रूप में दिखलाना चाहते थे। उसी में वह उपयुक्त ऋचाओं और मंत्रों को इस प्रकार लिखाते थे कि समझने-वाला पुरुष-मंत्रों को भी पढ़ सके और बहुत-कुछ उस चित्र से भी समझ ले। उनका कहना था कि इस काम में उन्होंने कई बरस लगाये हैं, पर वह अभी तक पूरा नहीं हुआ था। वह इस काम को अपने पर्यटन में ही कर रहे थे। उनकी अद्भुत स्मरण-शक्ति और विद्वत्ता का यह एक दृश्य प्रमाण था; क्योंकि उनके पास एक भी पुस्तक नहीं थी और उन्होंने सब कुछ अपनी स्मृति से ही तैयार किया था। नासिक में हम लोग घूमते-फिरते, खूब टहलते और वह संध्या के समय उपनिषद् की व्याख्या करते। वह योगी थे। उनका विचार था कि मैं यदि कुछ क्रिया नियम-पूर्वक किया करूँ तो दमा छूट जाय। मैंने धौति-क्रिया उनकी देख-रेख में आरम्भ की। पर नासिक में कुल पन्द्रह-सोलह दिन ही रह सका। उसके बाद बम्बई जाना पड़ा। वहाँ बहुत बीमार पड़ गया।

देवरातजी का समागम बहुत ही अच्छा रहा। वहीं मालूम हुआ कि वह पहले कुछ दिनों तक श्री रमण महर्षि के साथ तिरूवन्नमलय में भी रह चुके हैं। श्री महर्षि की जीवनी में उनकी विद्वत्ता और उनके प्रेममय नाट्य का जिक्र है। वह महर्षि के साथ रहनेवाले उद्भट विद्वान् गणपति शास्त्री के शिष्य थे। इसी सम्पर्क से वहाँ आश्रम में जाकर कुछ बरस पहले रहे थे। वह गोकर्ण में एक पाठशाला और गोशाला चला रहे हैं। उत्तर-भारत में तो भ्रमण के लिए वह चले आये थे। हिन्दी भी उन्होंने अच्छी सीख ली थी। उनकी भाषा सुनकर उनके सम्बन्ध में कोई ऐसा नहीं कह सकता था कि वह दक्षिण-भारत के रहनेवाले हैं। उनके साथ नासिक से हम त्र्यम्बक भी दर्शनार्थ गये। यह स्थान गोदावरी का उद्गम-स्थल समझा जाता है। पहाड़ पर मुझे कुर्सी पर बिठाकर ले गये; क्योंकि मैं इतनी ऊँचाई पर चढ़ नहीं सकता था। आसपास की पहाड़ियों में पुरानी गुफाएँ हैं जिनको मैंने जाकर देखा। इनसे ही उन पुराने दिनों की कला के साथ उस युग के तपस्वियों के जीवन का भी कुछ पता चलता है। मैंने इस तरह बहुत जगहों का भ्रमण किया है और उन्हें देखा है; पर मेरा काम दूसरा है और जी हमेशा उसी की ओर लगा रहता है। इसलिए इन दृश्यों पर न तो मैं बहुत ध्यान देता हूँ और न मुझे इनका बहुत स्मरण ही रहता है।

नासिक में कई और चीजें देखने को मिलीं। वहीं वह सरकारी छापाखाना है जहाँ नोट, सभी प्रकार के अदालती और पोस्ट-आफिस के स्टाम्प छपते हैं। कारखाना बहुत बड़ा है। पहरा सख्त है। कागज की कीमत बहुत है; क्योंकि कागज के टुकड़ों

से ही ये सब बनते हैं। वहाँ एक अँगरेज अफसर था जो योरपवाली १९१४-१८ की बड़ी लड़ाई में फौजी आदमी था। वहाँ घायल होकर लँगड़ा हो गया था। उसने हमको सभी जगहों में ले जाकर सब कुछ एक-एक करके दिखलाया। हमने पोस्ट-कार्ड और लिफाफे छपते और बनते देखे। पोस्ट-आफिस के टिकट बनते भी देखे। नोट छपते देखे। उस सारी प्रक्रिया को देखा जहाँ सबसे पहले नोट का मान-चित्र बनाया जाता है। इसके लिए कलाकार लोग नियुक्त हैं जो हमेशा इसी काम में लगे रहते हैं। उसी मान-चित्र के आधार पर, जब वह मंजूर हो चुकता है, नोट छापने का सामान तैयार किया जाता है। दूसरी एक और चीज देखी जो छोटी है, पर जिसका भी महत्त्व इन्हीं चीजों-जैसा है। दियासलाई पर 'कर' लगाया गया है। उसके वसूल करने का तरीका यह है कि प्रत्येक दियासलाई की पेटी या डिब्बी पर एक कागज की पतली धारी-सी साट दी जाती है और जब तक वह न तोड़ी जाय, अन्दर से सलाई नहीं निकाली जा सकती। कारखाने से कोई पेटी उस धारी के साटे बिना बाहर नहीं जा सकती। कारखानेवाले 'कर' अदा करते ही उस धारी को सरकार से खरीद सकते हैं। वह धारी भी, जो लम्बे फीते के रूप की होती है, इसी कारखाने में छपती है। मैंने ऊपर कहा है कि यहाँ कागज की बहुत कीमत है। कागज का हिसाब बड़ी कड़ाई से रखा जाता है। एक इंच कागज भी इधर से उधर नहीं हो सकता; क्योंकि यदि ऐसा न किया जाय तो कौन कह सकता है कि खोये हुए कागज पर नोट छपकर निकल नहीं गया है। इसलिए यदि कहीं छपाई की गलती से या किसी दूसरे कारण से कोई टुकड़ा खराब भी हो जाता है तो वह भी उतनी ही हिफाजत से रखा जाता है जितनी हिफाजत से ठीक छपा हुआ नोट। सभी काम करनेवालों को कारखाने में जाने के समय और वहाँ से निकलने के समय सब कपड़े खोलकर अपनी पूरी जामा-तलाशी देनी पड़ती है। कोई आदमी बिना वैसी तलाशी के अन्दर नहीं जा सकता है। हमारे साथ उन्होंने इस नियम का सख्ती से बर्ताव नहीं किया; पर हमारे साथ भी उनके कई अफसर सभी जगहों में रहे। एक विचित्र बात यह थी कि यद्यपि वहाँ काम करनेवाले न मालूम कितने लाखों-करोड़ों के नोट छापते होंगे और प्रतिदिन छापकर जहाँ-तहाँ भेजते होंगे; पर उन बेचारों की मजदूरी प्रायः वही है जो दूसरे कारखानों में मिलती है! उनमें बहुतेरे काफी गरीबी की जिन्दगी काटते हैं! जो प्रतिदिन लाखों का कागजी नोट बनाता है वह शायद एक रुपया रोजाना पाता होगा! कैसी विचित्र लीला है! कैसा आज का संसार है!

१२९—मध्यप्रदेश के मंत्रिमण्डल का दुःखद झगड़ा

नासिक से मैं बम्बई गया। वहाँ वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होनेवाली थी। हरिपुरा-काँग्रेस के बाद अखिल भारतीय कमिटी का यह पहला अधिवेशन था जिसमें श्री सुभाषचन्द्र बोस सभापतित्व करनेवाले थे। आठ-दस महीनों से काँग्रेसी-मंत्रिमण्डल काम करते आ रहे थे। कुछ लोग उसकी कड़ी टीकाएँ

करते आ रहे थे। कहीं-कहीं काँग्रेसी लोग ही उनके विरुद्ध आपस में दलबन्दी कर रहे थे जिससे उनके काम में कुछ कठिनाई भी पड़ रही थी। मुमकिन था कि इस विषय पर वहाँ विचार हो, यद्यपि हरिपुरा के समय दो सूबों में उनके इस्तीफा देने से वायुमण्डल में बहुत फर्क पड़ गया था। तो भी जो लोग असन्तुष्ट थे, अपनी हरकतों से बाज नहीं आ रहे थे। मैं तो वहाँ जाकर बीमार पड़ गया। अधिवेशन में शरीक न हो सका। एक काम महत्त्व का हुआ। वहीं निश्चय हुआ कि सारे देश-भर के लिए एक प्लैनिङ्ग-कमिटी बनाई जाय, जो सभी सूबों से राय और मदद लेकर एक कार्यक्रम बनावे, जिसके अनुसार सभी सूबों में मंत्रिमण्डल काम करें। पंडित जवाहरलाल नेहरू इसके सभापति और प्रोफेसर के० टी० शाह मंत्री बनाये गये। सभी सूबों के काँग्रेसी मंत्रि-मण्डल इस कमिटी की पूरी मदद करने लगे। दूसरे सूबों के लोगों ने भी मदद देना मंजूर किया। यह कमिटी कई उपसमितियों में बँटकर काम करती रही। इसकी रिपोर्ट प्रायः तैयार हो चुकी थी। पर पूरी तैयार होने के पहले ही काँग्रेस का गवर्नमेण्ट से झगड़ा छिड़ गया। वह रिपोर्ट पास होकर देश के सामने न आ सकी।

बम्बई में मुझे 'ब्रोङ्को न्युमोनिया' हो गया। ज्वर बहुत बढ़ गया। खाँसी भी काफी जबरदस्त हो गयी। मैं वहाँ बिड़लाहाउस में ठहरा था। उन लोगों ने हर तरह से मेरी शुश्रूषा का प्रबन्ध किया। एक छोटी घटना उल्लेखनीय है। उन दिनों हिटलर द्वारा निकाले गये बहुतेरे यहूदी इधर-उधर देश छोड़कर चले गये थे। इनमें कुछ डाक्टर थे जो बम्बई आकर अपना पेशा कर रहे थे। उनमें से एक बिड़ला-हाउस में आया-जाया करता था। उसी ने मेरी चिकित्सा आरम्भ की। दो-तीन दिनों तक उसकी दवा हुई। पर अभी कुछ आराम नहीं हो रहा था। सुना कि बम्बई के कुछ मित्र डाक्टर, जिनमें श्री पुरुषोत्तम पटेल (अब स्वर्गीय) भी थे, यह जानकर कुछ रुष्ट हुए हैं कि उन लोगों को न बुलाकर एक जर्मन डाक्टर की चिकित्सा हो रही है। जब यह खबर मिली तो वे बुलाये गये। पीछे डाक्टर गिल्डर भी आये, जो उन दिनों बम्बई के एक मंत्री थे। उन लोगों की दवा होने लगी। जब मैं अच्छा न हुआ तो महात्माजी की राय हुई, और मैं भी उससे सहमत हुआ, कि मैं वर्धा चला जाऊँ। बम्बई की हवा में नमी रहती है जो मैं बर्दाश्त नहीं कर सकता। इसलिए मैं वर्धा चला गया। डाक्टरों की रंजिश इस बात से थी कि उन लोगों के रहते किसी अनजान विदेशी डाक्टर की चिकित्सा क्यों करायी गयी। इसमें उनका प्रेम टपकता था। साथ ही यह भी इससे जाहिर होता था कि वहाँ के डाक्टर अपने कौशल पर इतना विश्वास रखते हैं और इतने देशाभिमानी हैं कि वे मेरे-जैसे एक देश-सेवक की चिकित्सा दूसरों के हाथों देखना सहन नहीं कर सके। वर्धा में भी पहुँचकर मैं तुरन्त अच्छा नहीं हुआ। वहाँ से तार देकर पटने से डाक्टर बनर्जी और डाक्टर शरण को बुलाना पड़ा। डाक्टर शरण तो नहीं आ सके, पर डाक्टर दामोदरप्रसाद के साथ डाक्टर बनर्जी वर्धा गये। वे दो या तीन दिनों तक वहाँ ठहरे। तबीयत अच्छी होने पर मैं वहीं ठहर गया।

बम्बई में ही मालूम हुआ था कि मध्यप्रदेश के मंत्रिमण्डल में आपस का

बहुत मतभेद हो गया है। एक दूसरे की शिकायतें करते हैं। उसी समय पारलेमेण्टरी कमिटी ने निश्चय किया कि वह इस बात की जाँच करेगी। उन दिनों पचमढ़ी में गवर्नमेण्ट रहा करती थी। इसलिए सरदार बल्लभभाई और मौलाना साहब वहाँ गये। मैं नहीं जा सका; क्योंकि मैं बीमार था। झगड़ा प्रधान मंत्री डाक्टर खरे और पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र में था। हिन्दुस्थानी मध्यप्रदेश में मंत्रिमण्डल बनने के पहले दो दल थे—एक में पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र समझे जाते थे और दूसरे में पंडित रविशंकर शुक्ल। जिस समय १९३७ में असम्बली का चुनाव हुआ था उसी समय एक मुकदमा पंडित द्वारकाप्रसाद के खिलाफ चलने की खबर निकली। उन्होंने वर्किंग कमिटी को खबर दे दी कि चूँकि उनके विरुद्ध मुकदमे की बात चल रही है, इसलिए जब तक वह उससे निकलकर अपने चरित्र की सफाई न दे दें तब तक वह काँग्रेस के सभी पदों से अलग रहने को तैयार हैं। वहाँ कोई भी काँग्रेस-पार्टी का नेता नहीं हो सकता था जब तक उसे हिन्दुस्थानी विभाग के मेम्बरों की पूरी सहायता न मिले। पंडित द्वारकाप्रसाद ने डाक्टर खरे की मदद की। उनकी मदद से ही वह नेता चुने गये। जब मंत्रिमण्डल बनने का समय आया तो उनको ही गवर्नर ने मंत्रिमण्डल बनाने का आदेश किया। जो मुकदमा पंडित द्वारकाप्रसाद पर चलनेवाला था उसे बेबुनियाद समझकर वहाँ के हाकिमों ने उठा लिया। उसके बाद पंडित द्वारकाप्रसादजी भी मंत्रिमण्डल में आये। इस तरह यह समझा जाता था कि उनकी और डाक्टर खरे की बड़ी मित्रता थी। बात भी ऐसी ही थी। पंडित रविशंकर शुक्ल भी मंत्री बने थे। काँग्रेस के काम में वह पंडित द्वारकाप्रसाद के प्रतिद्वन्द्वी समझे जाते थे। मंत्रिमण्डल के काम में शुक्लजी और मिश्रजी की राय बहुत-सी बातों में एक हुई। दोनों का डाक्टर खरे से मतभेद हुआ। यदि इतना ही रहता तो कोई हर्ज नहीं; क्योंकि मित्रता एक अलग चीज है और देश-सेवा-सम्बन्धी मतभेद दूसरी चीज। डाक्टर खरे ने मिश्रजी की शिकायत की और मिश्रजी ने भी डाक्टर साहब की।

इन्हीं शिकायतों को दूर करने के लिए सरदार पचमढ़ी गये। वहाँ पर कुछ बातें तय हुईं। आशा की गयी कि मामला तय हो जायगा और दोनों काम चलाने लगेंगे। पर बात ऐसी नहीं हुई। डाक्टर खरे अपना विचार नहीं बदल सके। उन्होंने सोच लिया कि मिश्रजी के साथ उनकी नहीं निभेगी। उधर मिश्रजी के साथ काम करते-करते शुक्लजी उनके साथ अधिक मिल-जुल गये। ऐसा मालूम हुआ कि डाक्टर खरे उन दोनों को किसी न किसी तरह मंत्रिमण्डल से हटावेंगे। पर जो प्रयत्न इस झगड़े को हटाने का हुआ वह विफल हुआ। आपस का वैमनस्य बढ़ता ही गया। मैं अच्छा होकर वर्धा में ही आराम कर रहा था कि एक दिन अचानक खबर मिली, झगड़े ने उग्र रूप धारण कर लिया है! पारलेमेण्टरी कमिटी और वर्किंग कमिटी की बैठक उसके दो ही दिनों के बाद होनेवाली थी। डाक्टर खरे उसके पहले ही मंत्रिमण्डल तोड़कर अपनी पसन्द का नया मंत्रिमण्डल बना लेना चाहते थे। उन्होंने इसके लिए गवर्नर की मदद ली। जब मुझे खबर मिली तो मैंने उनको एक पत्र लिखा कि वह ऐसी कोई

कार्रवाई न करें—दो ही दिनों में होनेवाली पारलेमेण्टरी कमिटी और वर्किंग कमिटी का इन्तजार कर लेवें। वह पत्र उनके पास रात को गया। उस रात को उन्होंने मंत्रि-मण्डल का इस्तीफा देकर गवर्नर से मंजूर करा लिया और नया मंत्रिमण्डल बना भी लिया। मेरा पत्र उनके पास किसी तरीके से रात में पहुँचने न पाया। दूसरे दिन सवेरे नया मंत्रिमण्डल बन गया। उसमें पहले के ये दोनों मंत्री नहीं थे। कुछ नये लोग लिये गये थे। सब बातें इतनी जलदबाजी में रातों-रात हुई कि नागपुर के नजदीक रहते हुए भी हमको पूरी खबर मंत्रिमण्डल के पुनःसंगठित हो जाने के बाद मिली। जब दूसरे दिन पारलेमेण्टरी कमिटी की बैठक हुई तो इसे सब लोगों ने बहुत बुरा माना। दोनों पक्षों के लोग बुलाये गये। जो नये मंत्री बने थे वे भी बुलाये गये। श्री सुभाषचन्द्र बोस भी पहुँच गये थे। यद्यपि वह पारलेमेण्टरी कमिटी के मेम्बर नहीं थे तथापि वह काँग्रेस के अध्यक्ष थे, इसलिए सबके ऊपर थे। उनकी हाजिरी में दोनों पक्ष की बातें सुनी गयीं। कमिटी का विचार हुआ कि इस तरह से नया मंत्रिमण्डल बना लेना बेजा हुआ है, विशेषकर जब तुरत ही पारलेमेण्टरी कमिटी और वर्किंग कमिटी की बैठक होनेवाली थी। नये मंत्रिमण्डल के मंत्रियों से कहा गया कि वे इस्तीफा दे दें। ये बातें होते-हवाते रात बहुत बीत गयी थी। पर उसी समय टेलीफोन द्वारा डाक्टर खरे ने गवर्नर को खबर दे दी कि वह और उनके साथ नये मंत्री इस्तीफा दे रहे हैं। दूसरे दिन उन्होंने इस्तीफा लिखकर भेज भी दिया। वैसा ही दूसरों ने किया। अब नया मंत्रिमण्डल बनाने का निश्चय हुआ। उसमें पंडित रविशंकर शुक्ल प्रधान मंत्री बने और पंडित द्वारकाप्रसाद भी एक मंत्री हुए। डाक्टर खरे उसमें नहीं आये। वहाँ की असम्बली की काँग्रेस-पार्टी की बैठक वर्धा में हुई जिसमें सुभाष बाबू और हम लोग भी हाजिर थे। उसने शुक्लजी को ही अपना नेता चुना। इसलिए वही प्रधान मंत्री बने।

इस सारी कार्रवाई से वहाँ बड़ी हलचल मच गयी। डाक्टर खरे बहुत गुस्से में आ गये। उन्होंने बहुत जोरों से पारलेमेण्टरी कमिटी और महात्माजी की शिकायत की। सारी कार्रवाई की कड़े शब्दों में निन्दा भी की। वह महाराष्ट्री ब्राह्मण हैं। शुक्लजी और मिश्रजी उत्तर-भारत के हिन्दी-भाषी कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं। वहाँ और दूसरे स्थानों में भी महाराष्ट्री और अ-महाराष्ट्री का झगड़ा उठ खड़ा हुआ! कुछ दिनों तक ऐसा मालूम होता था कि काँग्रेस के अन्दर बड़ी भारी फूट फैल जायगी। डाक्टर खरे की कार्रवाइयाँ ऐसी हुई कि कुछ दिनों बाद उन पर अनुशासन की कार्रवाई करनी पड़ी। उनको काँग्रेस से बहिष्कृत करना पड़ा। यह झगड़ा चल ही रहा था कि एक पुस्तिका निकली। उसमें डाक्टर खरे की बातों का समर्थन किया गया था। जो कार्रवाई वर्किंग कमिटी ने की थी उसकी निन्दा भी थी। सारी बातें अखिल भारतीय कमिटी के सामने आनेवाली थीं। सुभाष बाबू कई दिनों तक वर्धा में और उसके बाद नागपुर में ठहरे रहे। उन्होंने एक बहुत बड़ा बयान तैयार किया जिसमें सारी बातें लिखी हुई थीं। वह बयान एक पुस्तक के रूप में छाप दिया गया। अखिल भारतीय कमिटी

की बैठक के समय वह बाँटा भी गया। इस सारे मामले पर विचार हुआ। तब डाक्टर खरे को काँग्रेस से निकालने का निश्चय हुआ। मैं डाक्टर खरे को १९३४ से ही अच्छी तरह जानने लगा था, जब उन्होंने केन्द्रीय असम्बली के चुनाव में डाक्टर मुंजे का मुकाबला किया था। उस समय उन्होंने बहुत जोश के साथ काँग्रेस के पक्ष का समर्थन किया था। जब श्री अभ्यंकर का स्वर्गवास हो गया तो मराठी-भाषी मध्यप्रदेश के वही नेता माने जाने लगे। हम सबके साथ उनका बहुत अच्छा व्यवहार था। प्रान्तीय असम्बली के चुनाव के समय उनकी ही राय से सब बातें पारलेमेण्टरी कमिटी ने कीं। मंत्रिमण्डल के संगठन में भी वही बराबर मुख्य समझे जाते रहे। इस प्रकार पारलेमेण्टरी कमिटी के लोगों का उन पर विश्वास था और उनके साथ व्यवहार भी अच्छा था। जब मैं सभापति की हैसियत से उनके सूबे में गया था तो उन्हीं के यहाँ ठहरा था। उन्होंने ही दौरे में मेरा साथ दिया था। इस तरह वह सबके मान्य थे। पर इस मामले में, न मालूम क्यों, उन्होंने ऐसा विचार बना लिया। जो झगड़ा उनका मिश्रजी के साथ हुआ उसमें पारलेमेण्टरी कमिटी को भी घसीटकर उन्होंने नाथ दिया। महात्मा गांधी को भी उन्होंने अछूता न छोड़ा। यह सारी घटना बड़ी दुःखद हुई, क्योंकि उनके जैसा एक योग्य आदमी काँग्रेस का विरोधी बन गया। उसके बाद उन्होंने काँग्रेस को हर मौके पर नीचा दिखाने का प्रयत्न किया है। उनके ऐसे-ऐसे बयान हुए हैं और ऐसी-ऐसी बातें उन्होंने काँग्रेस के सम्बन्ध में कही हैं जैसी शायद काँग्रेस के कट्टर विरोधी भी नहीं कहते होंगे। हम लोगों की नजरों के सामने काँग्रेस की प्रतिष्ठा और उसके अनुशासन की रक्षा के सिवा कोई दूसरी बात नहीं थी। सच पूछिए तो मैं जितना डाक्टर खरे को जानता था और उनके प्रति जितनी श्रद्धा रखता था उतनी मिश्रजी के प्रति नहीं; क्योंकि मिश्रजी के साथ काम करने का उतना मौका नहीं आया था। डाक्टर खरे भी मिश्रजी के बड़े श्रद्धालु थे और उन पर बहुत भरोसा किया करते थे। पर कुछ विषयों में मतभेद हो जाने के कारण वह उनसे इतने बिगड़ गये कि दोनों का एक मंत्रिमण्डल में रहना असम्भव हो गया! उनको वहाँ से निकलवा देने पर वह तुल गये—और वह निकलवाना भी गवर्नर की मदद से! जो हो, इस दुःखद घटना का परिणाम अच्छा नहीं हुआ। जो झगड़ा उस समय खड़ा हुआ वह अभी तक खत्म नहीं हुआ है—यद्यपि अब वह मराठी और अ-मराठी झगड़े का रूप नहीं रह गया है। हाँ, दूसरे तरीक़े से, समय बीतते-बीतते, बातें ठंढी पड़ गयीं। पर डाक्टर खरे काँग्रेस से अलग हो ही गये हैं और शायद रहेंगे ही।

१३०—आसाम और उड़ीसा के मंत्रिमण्डल की कुछ बातें

अखिल भारतीय कमिटी की उसी बैठक में, जिसमें डाक्टर खरे के हटाये जाने का प्रस्ताव पास हुआ, कुछ बहस मंत्रिमण्डलों के सम्बन्ध में भी हुई थी। इससे यह पता चला कि कुछ लोग काँग्रेस के अन्दर भी मंत्रिमण्डलों से नाखुश थे और चाहे जिस तरह हो, उन पर कुछ न कुछ आरोप लगाना ही चाहते थे। पर यद्यपि उस बहस

में बहुत बातें कही गयीं और जो लोग अपने को वामपन्थी कहा करते थे उन्होंने बहुत जोर लगाया तथापि अखिल भारतीय कमिटी ने मंत्रिमण्डलों की निन्दा नहीं की और काम चलने दिया।

एक तरफ तो जहाँ मंत्रिमण्डल बन गये थे वहाँ इस तरह उन पर हमले किये जा रहे थे, दूसरी तरफ जहाँ काँग्रेसी मंत्रिमण्डल नहीं था वहाँ काँग्रेसी मंत्रिमण्डल बनान का प्रयत्न भी चलता रहा। आसाम उन सूबों में है जहाँ विधान के अनुसार हिन्दू और मुसलमान के अलावा अँगरेजों और आदिवासियों की खासी संख्या असम्बली में है। काँग्रेस ने अ-मुस्लिम जगहों में काफी सफलता चुनाव के समय पा ली थी, काँग्रेसी लोग ही सबसे अधिक संख्या में चुने गये थे, सारी असम्बली में उनकी ही पार्टी सबसे बड़ी थी; पर सारी असम्बली में उनका अकेला बहुमत नहीं था। जब और काँग्रेसी सूबों में चन्दरोजा मंत्रिमण्डल बना था तब वहाँ भी बना था; पर और जगहों से वहाँ यह विभिन्नता थी कि अकेले काँग्रेसी लोग वहाँ बहुमत नहीं रखते थे, इसलिए यदि दूसरे लोग सबके सब मिल जायँ तो वे अल्पमतवाले हो जाते थे। अत: जब कुछ महीनों के बाद दूसरी जगहों में मंत्रिमण्डल बने तब वहाँ नहीं बन सका और कुछ दिनों तक वहाँ का गैर-काँग्रेसी मंत्रिमण्डल दूसरों को मिलाकर अपना बहुमत कायम रख सका। यह बहुमत स्थायी नहीं था। १९३८ के पिछले भाग में वहाँ की स्थिति ऐसी हो गयी कि उस मंत्रिमण्डल के साथ बहुमत नहीं रह गया। वहाँ भी ऐसा मौका आ गया कि दूसरे दलों के लोगों के साथ मिलकर काँग्रेस अपना बहुमत बना सकती थी और इस तरह कुछ दूसरे लोगों के साथ वह मंत्रिमण्डल भी बना सकती थी। ऐसी स्थिति उपस्थित होने पर वहाँ के लोगों ने पारलेमेण्टरी कमिटी और काँग्रेस के सभापति की आज्ञा जाननी चाही। स्वयं सभापति सुभाषचन्द्र बोस और पारलेमेण्टरी कमिटी के वह सदस्य मौलाना आजाद, जिनके जिम्मे उस सूबे की देखभाल सौंपी गयी थी, वहाँ गये। मंत्रिमण्डल बनाने के पक्ष में श्री सुभाषचन्द्र बोस बहुत जोरों से थे। पर मौलाना साहब इसे नापसन्द करते थे। मुझसे और सरदार बल्लभभाई पटेल से टेलीफोन द्वारा राय पूछी गयी। हम दोनों दो स्थानों में थे। इसलिए बातें करके कोई राय नहीं दे सकते थे। जो जहाँ था वहीं से उसने अपनी राय दे दी। मैंने मौलाना साहब के साथ अपनी राय दी। सरदार ने सुभाष बाबू की बात मान ली। हमारे सामने प्रश्न सिद्धान्त का था। काँग्रेस ने मंत्रिपद सिद्धान्तत: लिया था। वह केवल पद के लिए पद नहीं लेना चाहती थी। जहाँ उसका अपना बहुमत नहीं था वहाँ उसे दूसरे विचारवाले लोगों के ऊपर भरोसा करना पड़ता था। हम समझते थे कि वहाँ उस तरह स्वतंत्रता और निर्भीकता के साथ काम नहीं हो सकता था जिस तरह उन सूबों में जहाँ काँग्रेस के पास अपना बहुमत था। इसी बहुमत के बल पर बिहार और युक्तप्रान्त में इस्तीफा देकर मंत्रिमण्डल राज-बंदियों को रिहा करा सका था। इसी बहुमत के बल पर उडीसा में सर जौन डॅन को गवर्नर होने से रोक दिया था। क्या ऐसा अवसर आने पर आसाम में दूसरों के बल पर काँग्रेस इस तरह का कोई जबरदस्त काम कर सकेगी? इसमें संदेह था।

इसलिए मैं समझता था कि वहाँ पद तो मिलेगा और हो सकता है कि मामूली तौर पर मंत्रिमण्डल का काम भी चले; पर किसी गंभीर अवसर पर हम काँग्रेस की नीति को न चला सकेंगे। पर सुभाष बाबू का विचार था कि पद ले लेने से काँग्रेस की शक्ति बढ़ जायगी और जो लोग उस समय अलग थे वे उसके साथ आ जायँगे, इसलिए पद ले लेना ही ठीक होगा। सरदार ने सभापति की बात रख दी। वहाँ ठीक उसी समय मंत्रिमण्डल बना, जब दो-चार दिनों के अन्दर ही अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होनेवाली थी। आसाम से लौटते रास्ते में सुभाष बाबू की तबीयत कुछ खराब हो गयी। वह उस बैठक में देर करके पहुँचे थे।

ऊपर उड़ीसा का जिक्र आया है। वहाँ मि० डेन सिविल-सर्विस के ऊँचे पदाधिकारी थे। वहाँ के गवर्नर छुट्टी पर जाने लगे; मि० डेन की नियुक्ति उनके स्थान पर कुछ महीनों के लिए की गयी। मंत्रिमण्डल ने कहा कि जो अफसर हमारे अधीन काम करता रहा है और हो सकता है कि गवर्नरी की अवधि पूरी हो जाने पर फिर उसे हमारी अधीनता में ही काम करना पड़े उसे गवर्नर नहीं बनाना चाहिए; क्योंकि जो आज हमारे अधीन है वह कल हमारे ऊपर हो जाय तो उसी के अधीन हमें काम करना पड़ेगा, यह ठीक नहीं है—काम करने में कठिनाई आ सकती है और सिविल सर्विस के लोगों पर मंत्रिमण्डल का अनुशासन ठीक नहीं चल सकेगा। मंत्रिमण्डल ने धमकी दी कि यदि मि० डेन गवर्नर नियुक्त किये जायँगे तो मंत्री अपने पद पर नहीं रह सकेंगे, मंत्रिमण्डल इस्तीफा दे देगा। मि० डेन से मंत्रियों का कोई व्यक्तिगत झगड़ा नहीं था, यद्यपि कुछ दिन पहले उनसे किसी विषय पर मतभेद हो गया था। वे इस बात का केवल सिद्धान्ततः विरोध कर रहे थे। नतीजा यह हुआ कि गवर्नर ने छुट्टी नहीं ली। अतः स्थानापन्न गवर्नर की नियुक्ति का मौका उस समय नहीं आया। दूसरे सूबों में, जहाँ-कहीं गवर्नर ने छुट्टी ली और स्थानापन्न गवर्नर की नियुक्ति का मौका आया, उस सूबे के सिविलियन को यह पद न मिला; दूसरे सूबे से ही कोई लाया गया। खैर, सिद्धान्त की बात तो ठीक थी। पर यह विचारने की बात है कि यदि किसी सिविलियन को ही गवर्नर होना है तो चार महीनों के लिए। इतने दिनों के लिए ही अक्सर गवर्नर छुट्टी लिया करते हैं। दूसरे सूबे से किसी सिविलियन को लाकर गवर्नर बनाना सूबे के लिए कहाँ तक हितकर है? चार महीनों में तो वह सूबे की हालत की वाकफियत भी नहीं हासिल कर सकता है! इसका नतीजा यही होगा कि वह केवल जगह टाँड़कर बैठेगा, कुछ कर नहीं सकेगा। सबसे अच्छा तरीका तो यह होगा कि उसी सूबे का कोई गैर-सरकारी आदमी गवर्नर बन जाय जो सूबे की सब बातें जानता हो और अन्य प्रकार से भी योग्य हो। पर यह तो एक छोटी त्रुटि विधान में है—इससे बहुत बड़ी-बड़ी त्रुटियाँ उसमें हैं जिनके कारण वह सारा का सारा बदलना ही पड़ेगा।

१३१—त्रिपुरी-काँग्रेस के पहले और उसके बाद की कुछ बातें

अखिल भारतीय कमिटी की बैठक समाप्त हुई, पर अभी वर्किंग कमिटी के सदस्य वहीं थे—जब योरप की खबर आयी कि हिटलर चेकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई करना चाहता है और इँगलैण्ड के प्रधान मंत्री मि० चेम्बरलेन वहाँ हिटलर से मिलने गये हैं। जो समाचार मिले उनसे इसका भय हुआ कि इँगलैण्ड और जर्मनी में कहीं युद्ध न छिड़ जाय। वर्किंग कमिटी इसीलिए वहाँ ठहर गयी और इस बात पर विचार करने लगी कि लड़ाई यदि छिड़ जाय तो काँग्रेस को क्या करना चाहिए। इसमें शक नहीं मालूम होता था कि हिटलर का चेकोस्लोवाकिया पर चढ़ाई करना अनुचित है। यह उतना ही अनुचित है जितना इटली का अबीसीनिया पर चढ़ाई करना अनुचित था—यद्यपि यहाँ हिटलर को यह कहने का बहाना था कि कुछ जर्मन चेकोस्लोवाकिया में हैं जिनके साथ वहाँ की गवर्नमेण्ट का बर्ताव ठीक नहीं था और जो जर्मनी के साथ रहना चाहते थे। चेकोस्लोवाकिया में तीन प्रकार के लोग बसते थे—कुछ जर्मन, कुछ चेक, कुछ स्लावेक। यह देश प्रथम योरपीय महासमर के पहले आस्ट्रिया के साम्राज्य के अधीन था। उस युद्ध के बाद यह स्वतन्त्र हुआ था। वह साम्राज्य जब टुकड़े-टुकड़े किया गया था तब यह एक टुकड़ा अलग स्वतन्त्र देश के रूप में कायम कर दिया गया था। जिस समय अबीसीनिया की लड़ाई चल रही थी और इटली उस पर आक्रमण करके उसे अपने कब्जे में कर लेने के प्रयत्न में लगा था, काँग्रेस ने अबी-सीनिया के साथ हमदर्दी दिखायी थी। हमदर्दी तो ब्रिटिश-गवर्नमेण्ट भी दिखलाती थी! काँग्रेस ने निश्चय किया था कि साम्राज्य की लड़ाई में वह ब्रिटेन की मदद नहीं करेगी। उस समय भी प्रश्न उठा था कि यदि ब्रिटिश साम्राज्य अबीसीनिया-जैसे कमजोर देश की मदद के लिए इटली से युद्ध ठान दे तो काँग्रेस मुश्किल में पड़ेगी; क्योंकि काँग्रेस को अबीसीनिया की सहायता अभीष्ट थी, पर ब्रिटिश साम्राज्य की सहायता नहीं। वही प्रश्न इस समय फिर उपस्थित हुआ। साथ ही, यह भी विचारने की बात थी कि काँग्रेस क्या मदद दे सकती है। एक तो काँग्रेस ने अहिंसा के सिद्धान्तों को मान लिया है। उस सिद्धान्त को मानते हुए वह सशस्त्र युद्ध में मदद कर सकती है या नहीं, यह जटिल प्रश्न उपस्थित होता था। साथ ही, हम यह भी देखते थे कि काँग्रेसी मंत्रिमण्डल कई सूबों में काम कर रहे हैं और उनका सारा काम अहिंसा के सिद्धान्त पर नहीं चल रहा है। कहीं-कहीं बलवा-फसाद के समय काँग्रेसी मंत्रिमण्डल के आधिपत्य में भी गोली चलानी पड़ी थी। पुलिस और जेलखाने अपने-अपने काम कर ही रहे थे। भारतीय शासन में काँग्रेस का अधिकार नहीं था, पर वहाँ भी उसकी ओर से फौज का विरोध इस आधार पर कभी नहीं किया गया था कि हम अहिंसा के माननेवाले हैं और सशस्त्र फौज हमको नहीं चाहिए। इसके अलावा, यदि सचमुच लड़ाई छिड़ जाय तो वह हमारे काबू के बाहर की चीज होगी और काँग्रेस को मजबूरन उसकी मदद या विरोध करना ही पड़ेगा। ये सब प्रश्न एक

साथ अचानक हमारे सामने आ गये। महात्माजी भी वहाँ उपस्थित थे, पर उन दिनों पं० जवाहरलाल नेहरू योरप गये हुए थे। इसलिए महात्माजी की राय तो मिल सकती थी, पर जवाहरलालजी की राय नहीं मालूम हो सकती थी। सब पहलुओं पर विचार होता रहा। विशेषकर यह सवाल तो सामने था ही कि हम काँग्रेसी मंत्रिमण्डल को क्या आदेश देंगे। उसी समय वर्किंग कमिटी के मेम्बरों के बीच इस विषय पर मतभेद मालूम हुआ। पर बहुत कोशिश के बाद भी सभापति की क्या राय थी और वह क्या आदेश देते, हम नहीं जान सके। हम अभी विचार कर ही रहे थे कि उधर से खबर आ गयी कि उस समय इँगलैण्ड और फ्रान्स ने किसी तरह जर्मनी के साथ अपनी बात बना ली और अब लड़ाई नहीं छिड़ेगी।

यह वर्ष भी प्रायः समाप्त होने पर आ गया। इस वर्ष में काँग्रेस के लोग विशेषकर मंत्रिमण्डल के काम में ही लगे रहे। जहाँ-तहाँ काँग्रेस-कमिटियों में भी झगड़े हुए। काँग्रेस के चुनाव बहुत जोश के साथ लड़े गये। इन दो-तीन वर्षों में काँग्रेसी मेम्बर खूब बने; क्योंकि कार्यकर्त्ताओं ने इसमें बहुत जोर लगाया। पहले तो कुछ दिनों तक काँग्रेस गैर-कानूनी हो गयी थी, इसीलिए जब वह फिर काम करने लगी तो लोगों में बहुत जोश था। उसके बाद नये विधान के अनुसार असम्बली का चुनाव होनेवाला था। काँग्रेस की ओर से नामजदगी के लिए लोगों ने उत्साह दिखलाया। कुछ ने यह भी शायद सोचा कि उनके विचारवाले यदि काँग्रेस में आ जायँगे तो वे अपने विचारवालों को नामजद करा सकेंगे। इसी तरह के और कारण भी होते गये और काँग्रेस की मेम्बरी बहुत बढ़ गयी थी। अब काँग्रेस के प्रतिनिधियों, अखिल भारतीय कमिटी और काँग्रेस के सभापति के चुनाव का समय भी नजदीक आ गया। कुछ लोगों का विचार था कि इस बार मौलाना अबुल कलाम आजाद ही सभापति चुने जायँ। कुछ लोग सुभाष बाबू को चाहते थे कि वही फिर चुने जायँ। सुना गया कि सुभाष बाबू की भी इच्छा थी कि वह दुबारा चुने जायँ। पर यह बात वर्किंग कमिटी के सदस्यों के सामने नहीं आयी थी। हरिपुरा-काँग्रेस के पहले सबकी राय से और विशेषकर महात्माजी की अनुमति तथा आशीर्वाद के साथ सुभाष बाबू सर्व-सम्मति से चुने गये थे। यदि वह अपनी इच्छा महात्माजी से प्रकट करते और हम सब मिलकर राय करते तो शायद कोई रास्ता निकल गया होता और बात आगे न बढ़ती। पर उन्होंने या उनके समर्थकों ने ऐसा नहीं किया। पीछे इस कारण बहुत बुरी तरह झगड़ा उठ खड़ा हुआ।

१९३९ के मार्च में काँग्रेस का वार्षिक अधिवेशन मध्यप्रदेश में, जबलपुर के नजदीक त्रिपुरी में, होनेवाला था। जनवरी में वर्किंग कमिटी की एक बैठक बारदोली में हुई। महात्माजी इधर कई वर्षों से हर साल के जाड़े का एक महीना बारदोली में बिताते हैं। उन दिनों वह वहीं थे। इसलिए बैठक भी वहीं की गयी। जहाँ तक मुझे स्मरण है, वहाँ कोई विशेष महत्त्व का प्रश्न उपस्थित नहीं था। वहाँ से रवाना होने के समय हमने जो थोड़ी-बहुत आपस में चर्चा की उससे मैंने समझा कि इस बार

मौलाना साहब को ही सभापति हम लोग चुनें। सुभाष बाबू से इस सम्बन्ध में कोई बात नहीं हुई थी। शायद उन्होंने महात्माजी से भी बातें नहीं कीं। पर हमने यह सुना कि वह जहाँ-कहीं गये थे, अपने विचारवाले काँग्रेसी लोगों से वह अपने सम्बन्ध में बातें करते थे। महात्माजी से मौलाना की बातें हुईं और वह राजी भी हुए कि वही सभापति चुने जायँ। पर हमने सुना कि पीछे उन्होंने अपनी राय बदल दी और महात्माजी से अपनी अनिच्छा प्रकट की। मैं पटने में पहुँच गया था। सरदार बल्लभभाई का तार मिला कि डा० पट्टाभि सीतारमैया के समर्थन के लिए वक्तव्य पर मेरा दस्तखत चाहिए। मैंने मंजूर कर लिया। तब मुझे मालूम हुआ कि डा० पट्टाभि ही चुने जाने चाहिए। यह निश्चय सरदार ने महात्माजी की सम्मति से किया था। अब बात जाहिर हो गयी कि मौलाना सभापति होना नहीं चाहते और मुकाबला डा० पट्टाभि सीतारमैया और श्री सुभाष बोस में है।

यों तो हर साल दो-चार नाम सभापति के चुनाव के लिए उपस्थित किये जाते हैं और उन्हीं में से एक चुना जाता है; पर इधर कई वर्षों से कभी दो का मुकाबला नहीं होता था। प्रायः सभी सूबों के लोग, यों ही बिना किसी के बतलाये, मान लेते थे कि इस बार अमुक व्यक्ति को चुनना चाहिए; वही चुना भी जाता था। जो दूसरे नाम रहते थे उनके सम्बन्ध में कोई खास प्रयत्न नहीं किया जाता था। जहाँ-तहाँ कुछ वोट उनको मिल भी जाते तो उसका अर्थ कोई यह नहीं लगाता कि दूसरे के मुकाबले में एक आदमी चुना गया है। इस बार चुनाव का रूप दूसरा हो गया। मालूम हुआ कि दो आदमियों में मुकाबला है। इतना ही नहीं, कुछ ऐसा भी मालूम हुआ कि एक ओर उस विचार के लोग हैं जो गांधीजी के विचारों से सहमत हैं और दूसरी ओर वे लोग हैं जो गांधीजी के कार्यक्रम में विश्वास नहीं रखते। यद्यपि गांधीजी बम्बई-काँग्रेस के समय से ही काँग्रेस से अलग हो गये थे तथापि अभी तक उनकी ही विचारधारा काँग्रेस में काम कर रही थी, सब बातों में उनकी राय से ही काम होता आ रहा था। जब कभी मतभेद होता तो वही सब मुश्किलों का हल निकालते और अन्त में सभी झगड़ों का वही निपटारा करते। इस बार मालूम हुआ कि मानों कुछ नया होनेवाला है और इसीलिए ऐसे आदमी का चुनाव होना चाहिए जो अपना कार्यक्रम खुद बतावेगा और अपने बनाये रास्ते से काँग्रेस को ले चलना चाहेगा। ये बातें थीं तो सही, पर चुनाव के समय स्पष्ट नहीं हुईं। गांधीजी ने अपनी ओर से कोई वक्तव्य नहीं निकाला। यदि मौलाना रह गये होते तो इसमें कोई संदेह नहीं था कि वह बहुत बड़े बहुमत से चुने जाते; क्योंकि साधारण काँग्रेसी लोग उनको चाहते थे और वह गांधीजी के कार्यक्रम से अलग होना भी नहीं चाहते थे। उन्होंने यह नहीं समझा कि इस चुनाव में डाक्टर पट्टाभि सीतारमैया एक विचारधारा और एक कार्यक्रम के प्रतीक-स्वरूप चुनाव के उमीदवार हैं। खैर, चुनाव हुआ। नतीजा यह हुआ कि एक बड़े बहुमत से श्री सुभाषचन्द्र बोस चुने गये।

कई बरसों से काँग्रेस के कुछ पहले वर्किंग कमिटी की बैठक हुआ करती है

जिसमें काँग्रेस के समय होनेवाली विषय-निर्वाचिनी के लिए प्रस्तावों का मसविदा तैयार किया जाता है। इस बार भी वैसा ही होना था। वर्किंग कमिटी में जो लोग थे उनमें बहुत ज्यादा ऐसे ही लोग थे, जो सुभाष बाबू की राय से—जहाँ तक वह मालूम थी—सहमत नहीं थे। हमने सोचा कि अच्छा हो यदि सुभाष बाबू अपने विचार के लोगों से सलाह करके प्रस्ताव तैयार करें; क्योंकि उनको ही काँग्रेस का भार लेना होगा और उनके लिए तथा हम लोगों के लिए भी, जो गांधी-विचारधारा में विश्वास करनेवाले थे, यही अच्छा होगा। वर्किंग कमिटी के सदस्य रहकर और उन प्रस्तावों के तैयार करने में मदद देकर यदि हम काँग्रेस के अधिवेशन के समय उन प्रस्तावों का विरोध करेंगे तो यह हमारे लिए अनुचित होगा। सुभाष बाबू को भी हमारी हाजिरी से संकोच होगा और अपनी इच्छा के अनुसार वह प्रस्ताव नहीं बनवा सकेंगे; क्योंकि वर्किंग कमिटी में हम लोगों का बहुमत था। इसलिए हमने वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे दिया और इस तरह उनको पूरा मौका दे दिया कि वह अपनी इच्छा के अनुसार अपनी वर्किंग कमिटी बना लें और उसी की मदद से प्रस्ताव भी तैयार करें। ऐसा होने से, उन प्रस्तावों को देखने के बाद यदि हम भी उनसे सहमत न होंगे, तो काँग्रेस में उनका विरोध करने के लिए स्वतन्त्र रहेंगे। प्रजातंत्र का साधारण नियम भी यही है कि जिसके साथ बहुमत हो वही उसके चलाने का भार ले और बहुमत की मर्जी के मुताबिक कार्यक्रम बनावे।

हम लोग वर्धा गये, जहाँ वर्किंग कमिटी होनेवाली थी। गये भी समय पर ताकि सब बातें मुकाबले में हो जायँगी और हमारी इस कार्रवाई से कोई गलत-फहमी नहीं होगी। पर अभाग्यवश सुभाष बाबू बीमार हो गये, वहाँ गये ही नहीं। वर्किंग कमिटी के सदस्यों का इस्तीफा ज्यों का त्यों पड़ा रहा। यदि चाहते तो उनकी गैर-हाजिरी में हम अपने विचार के अनुसार प्रस्ताव तैयार कर लेते और उन्हें विषय-निर्वाचिनी के सामने उपस्थित करने का प्रयत्न करते। पर हमने यह मुनासिब नहीं समझा; क्योंकि सभापति के चुनाव का अर्थ हमने यह समझा कि प्रतिनिधियों का बहुमत सुभाष बाबू से सहमत है और हमारे लिए उचित है कि हम उनको पूरा मौका दें ताकि वह जिस तरह मुनासिब समझें, काम चलावें। नतीजा यह हुआ कि वर्किंग कमिटी की बैठक स्थगित करनी पड़ी। हम त्रिपुरी का इन्तजार करने लगे। काँग्रेस के लोगों में इस चुनाव और उसके बाद की घटनाओं के सम्बन्ध में चर्चा और वादविवाद हो रहा था।

उधर काठियावाड़ में एक दूसरी परिस्थिति पैदा हो रही थी। वहाँ कई रियासतों में प्रजा और राजा के बीच मन-मुटाव हो गया था। सरदार बल्लभभाई इसमें दिलचस्पी ले रहे थे। वहाँ के लोग उनकी राय से ही काम कर रहे थे। काँग्रेस की नीति अभी तक यही थी कि वह स्वयं सीधे तौर पर रजवाड़ों के मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेगी; पर देशी राज्यों की जनता की प्रजातंत्रात्मक इच्छा के साथ वह सहानुभूति रखती है और काँग्रेसी लोग व्यक्तिगत रूप से उनकी सहायता भी

कर सकते हैं। इसी नीति के अनुसार डा० पट्टाभि सीतारमैया रियासती प्रजामण्डल के सभापति हुए थे और पण्डित जवाहरलालजी भी सभापति हुए हैं। महात्माजी तो मानों सभी बातों में पूछे जाते थे और अपनी सम्मति तथा आदेश से उनको चलाते थे। गुजरात और काठियावाड़ की रियासतों में सरदार बल्लभभाई बड़ी तत्परता और लगन से काम करते थे। जहाँ जरूरत पड़ती वहाँ जाते भी थे। सेठ जमनालालजी विशेषकर राजपूताने के रजवाड़ों के सम्बन्ध में काम करते और प्रजामण्डल स्थापित कराने में सहायता देते।

इस समय काठियावाड़ की रियासत राजकोट में जो राजा-प्रजा में अनबन हुई उसमें सरदार बल्लभभाई पड़े और उनके बीचवान होने से कुछ बातें तय हुईं जिन्हें राजा ने मंजूर किया। इस समझौते से महात्माजी भी सहमत थे। पीछे राजा और राज्याधिकारी समझौते की शर्तों को पूरा करने से मुकर गये। महात्माजी को यह बात बुरी मालूम हुई। वह प्रतिज्ञा और वचन की बड़ी मर्यादा रखते हैं। किसी की की हुई प्रतिज्ञा को भंग होते देख उनको आन्तरिक कष्ट होता है। विशेषकर सार्वजनिक मामलों में की गयी प्रतिज्ञाओं की प्रतिष्ठा और भी ज्यादा है। उन्होंने चाहा कि जो बात एक बार तय हो गयी है उसे रियासत को पूरा करना चाहिए। इसके लिए उन्होंने पूरा प्रयत्न किया। स्वयं राजकोट चले गये। जब वह सफल नहीं हुए तो उन्होंने अनशन आरंभ कर दिया। अनशन उनके लिए कोई नयी चीज नहीं थी। जब वह दक्षिण अफ्रिका से लौटकर हिन्दुस्थान में काम शुरू कर रहे थे तब अहमदाबाद के मजदूरों ने हड़ताल की थी। उस हड़ताल में मजदूरों ने प्रतिज्ञा की थी कि जब तक उनकी माँगें पूरी न होंगी, वे काम नहीं करेंगे। प्रतिज्ञा करते समय शायद मजदूरों ने प्रतिज्ञा का महत्त्व नहीं समझा था। भारतवर्ष के लिए भी गांधीजी बिलकुल नये थे। किसी ने प्रतिज्ञा पर इतना जोर उस समय तक नहीं दिया था। जब मजदूरों को कष्ट होने लगा तो वे काम पर वापिस जाने लगे। गांधीजी इस बात को बर्दाश्त नहीं कर सके। उन्होंने अनशन शुरू कर दिया। इसका नतीजा यह हुआ कि एक ओर मजदूर भी अड़ गये और दूसरी ओर मिल-मालिक भी नरम हो गये। सन्तोषप्रद समझौता हो गया। उसी नीति के अनुसार उन्होंने राजकोट-राज्य से प्रतिज्ञा पूरी कराने के लिए अनशन आरंभ कर दिया। यह अनशन ठीक उन्हीं दिनों में हुआ जब त्रिपुरी में काँग्रेस हो रही थी। इसी कारण गांधीजी त्रिपुरी में नहीं आ सके। वहाँ जो कुछ हुआ, उनकी गैरहाजिरी में ही हुआ।

गांधीजी के अनशन का नतीजा यह हुआ कि इस मामले में वायसराय लार्ड लिनलिथगो पड़े। एक तरह से उस समय मामला तय हो गया। गांधीजी ने अन्न-ग्रहण किया; पर उन्होंने इस अनशन से मार्मिक नैतिक सिद्धान्त निकाले, जिनका जिक्र उन्होंने अधिकतर 'हरिजन' साप्ताहिक में किया। उनका विचार हुआ कि यह अनशन अहिंसात्मक नहीं था। उन्होंने पुनर्विचार के बाद अपनी भूल समझी और जैसा उनका तरीका है, इस बात को प्रकाशित भी कर दिया। जिस सूक्ष्मता के साथ

वह ऐसे नैतिक प्रश्नों पर विचार करते हैं और जहाँ-कहीं उनके हृदय में किसी विषय की कोई कार्रवाई बाल-भर भी सत्य से हटी हुई मालूम होती है, उसे तुरन्त स्वीकार करके उससे बाज आने में जरा भी नहीं हिचकते। यह वही करते हैं और कर सकते हैं; दूसरा कोई राजनीतिक पुरुष इन विषयों पर उस उच्च नैतिक दृष्टिकोण से न तो नजर डालता है और न छोटी से छोटी त्रुटि के कारण कार्यक्रम को बदल देता है।

त्रिपुरी-काँग्रेस का अधिवेशन एक अजीब और दुःखद स्थिति में हुआ। चुनाव के बाद समाचार-पत्रों में जो वादविवाद हुआ उससे आपस में काफी कटुता आ गयी थी। सुभाष बाबू के समर्थक लोग हम लोगों पर यह दोषारोपण कर रहे थे कि उनके बहुमत से चुने जाने के कारण हम लोग रुष्ट हो गये हैं, उनको नीचा दिखाना चाहते हैं, इसीलिए हमने वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे दिया है और हर तरह उनके रास्ते में अड़ंगा लगा रहे हैं। हम यह समझते थे कि यदि सचमुच बहुमत उनके साथ है तो काँग्रेस चलाने का पूरा भार उनको उठाना चाहिए और ऐसे ही लोगों की वर्किंग कमिटी बनाकर कार्यक्रम निश्चित करना चाहिए जो उनसे पूरी तरह सहमत हों; हम उनसे बहुत बातों में सहमत नहीं थे और हमारे लिए उनके साथ मिलकर काम करना कठिन था—यदि सिद्धान्त और कार्यक्रम में हमारे साथ उनका मतभेद नहीं था तो उनको चुनाव में लड़ना ही उचित नहीं था—यदि उनके साथ बहुमत नहीं था और वह लोगों की गैर-समझ के कारण अथवा किसी दूसरे कारण से चुने गये थे तो वह चुनाव ही गलत था। जो हो, हम चाहते थे कि बात साफ हो जाय। हम नहीं चाहते थे कि कार्यक्रम वह और उनके विचार के लोग बनावें, और उसकी जवाबदेही हमारे सिर पर रहे; हम यह भी न कह सकें कि हम उससे सहमत नहीं हैं। इन्हीं विचारों से हमने काँग्रेस के जल्से से पहले ही इस्तीफा दे दिया था। पर जैसा ऊपर कहा गया है, वह इस्तीफा मंजूर नहीं हुआ; त्रिपुरी-काँग्रेस के समय पुरानी वर्किंग कमिटी बनी रही।

त्रिपुरी में अधिवेशन के पहले और अधिवेशन के समय आपस में बहुत कशमकश थी। कार्यकर्त्ताओं में तीव्र मतभेद था। दुर्भाग्यवश सुभाष बाबू बीमार भी थे। त्रिपुरी में वह बहुत खिन्नावस्था में पहुँचे थे। वहाँ की स्वागतकारिणी ने बहुत बड़े समारोह का प्रबन्ध किया था। सभापति के जलूस के लिए सारे सूबे से उतने हाथी जमा किये थे जितने वर्षों से काँग्रेस के अधिवेशन होते आ रहे थे। बहुतेरे हाथी उस सूबे के रजवाड़ों के थे। प्रतिनिधियों के रहने आदि का भी अच्छा प्रबन्ध हुआ था। सभापति के लिए एक अलग ही कैम्प था जिसमें काफी लोग ठहरे थे। वर्किंग कमिटी के सदस्य दूसरे कैम्प में ठहराये गये थे और प्रतिनिधि अपने-अपने सूबे के लिए बने कैम्पों में ठहरे थे। प्रतिनिधियों के कैम्पों में गरमागरम बहस चल रही थी। वर्किंग कमिटी की बाजाब्ता बैठक होना भी कठिन था; क्योंकि मनोनीत सभापति बीमार थे और आपस का मनमुटाव भी काफी बढ़ गया था। हमने वहाँ भी बहुत प्रयत्न किया कि मनोनीत सभापति नयी कार्यकारिणी बना लें और हम लोगों

को मुक्त कर दें, ताकि हम स्वतंत्रतापूर्वक काँग्रेस के काम में भाग ले सकें। पर ऐसा नहीं हुआ। जो कार्यक्रम वह देना चाहते थे वह पहले तो हमको पूरा मालूम ही नहीं था और जहाँ तक मालूम था, हम उससे सहमत नहीं थे। ऐसी अवस्था में कार्यकारिणी को अपना प्रस्ताव तैयार करना पड़ा। उसमें हमने सारी स्थिति का दिग्दर्शन कराते हुए यही कहा कि सभापतिजी यदि चाहें तो अपनी मर्जी के अनुसार कार्यकारिणी बनाकर अपना कार्यक्रम काँग्रेस में मंजूर करा लें, और यदि वह ऐसा करने को तैयार नहीं हैं तो कार्यक्रम और कार्यकारिणी गांधीजी की राय से बनावें। इन दोनों में से वह कोई भी नहीं करना चाहते थे; क्योंकि वह जानते थे कि यद्यपि बहुमत से वह चुने गये हैं तथापि उनके कार्यक्रम को खुली काँग्रेस मंजूर नहीं करेगी। ऐसी स्थिति में उनको या तो फिर गांधीजी के कार्यक्रम को स्वीकार करके उसी के अनुसार चलना होगा या इस्तीफा देना पड़ेगा। वह गांधी-मतवालों के कार्य-क्रम को भी स्वीकार नहीं करना चाहते थे और उनको छोड़ना भी नहीं चाहते थे। वह चाहते थे कि वे लोग उनके कार्यक्रम की जवाबदेही लें और उसे चलावें। हम लोगों में से कुछ आदमी जब-तब जाकर इन बातों के सम्बन्ध में उनसे परामर्श करते; पर कोई रास्ता न निकला और अन्त में यही निश्चय हुआ कि हम लोग अपना प्रस्ताव विषय-निर्वाचिनी समिति के सामने रख देंगे—सभापति जो उचित समझेंगे, करेंगे।

विषय-निर्वाचिनी की बैठक में सुभाष बाबू अस्वस्थावस्था में किसी तरह लाये गये। वह मंच पर लेटे रहे। उनकी पूजनीया माता और उनके परिवार की लड़कियाँ उनकी देखभाल करती रहीं। उनके भाई डाक्टर सुनील बोस तथा दूसरे डाक्टर भी बराबर उन्हें देखते रहे। उन्होंने लेटे-लेटे छोटा-सा भाषण भी दिया जिसमें अपनी राय और अपना दृष्टिकोण बतला दिया। हम लोगों का प्रस्ताव भी रखा गया और बहुमत से वही स्वीकृत हुआ। बात स्पष्ट हो गयी कि विषय-निर्वाचिनी समिति में, जिसके सदस्य अखिल भारतीय काँग्रेस-कमिटी के सदस्य ही हुआ करते हैं, उनका बहुमत नहीं है और उन्हीं लोगों के साथ अखिल भारतीय कमिटी के रूप में जब तक दूसरा अधिवेशन न हो और नये सदस्य न चुन लिये जायँ, सभापति को काम करना होगा। पर अभी काँग्रेस के खुले अधिवेशन में प्रतिनिधियों का क्या रुख होगा—मालूम नहीं था। हम जानते थे कि वहाँ भी बहुत बड़ा बहुमत हमारे साथ होगा तो भी जब तक अधिवेशन न हो ले, इसको कोई निश्चित रूप से नहीं कह सकता था। अब अधिवेशन के समय दो प्रस्ताव पेश होंगे—एक सभापति की ओर से, दूसरा हम लोगों की ओर से, और यही देखना था कि खुले जल्से में क्या नतीजा निकलता है।

खुले अधिवेशन का समय आ गया। सुभाष बाबू अधिवेशन में शरीक नहीं हुए। इसलिए उनके स्थान पर मौलाना अबुल कलाम आजाद बैठे। यह तभी हुआ जब बहुत इन्तजार के बाद भी मनोनीत सभापति नहीं पहुँचे। उनकी अस्वस्थता का

हाल सब लोगों को मालूम था और वहाँ भी सब बातें बता दी गयीं। अधिवेशन आरंभ हुआ। सभापति का भाषण पढ़कर सुना दिया गया। इजिप्ट (मिस्र) से कुछ प्रतिनिधि काँग्रेस देखने आये थे, उनका स्वागत किया गया। उन्होंने इजिप्ट की ओर से काँग्रेस के प्रति और भारत के आजादी-आन्दोलन के साथ सहानुभूति दिखलायी। उसके बाद बाजाब्ता कार्यक्रम आरंभ होने को था जब कुछ लोगों की ओर से कहा गया कि सभापति की गैरहाजिरी में प्रस्ताव न पेश किया जाय। सारे देश के लोग एकत्र थे। इतने बड़े अधिवेशन को स्थगित करना ठीक नहीं मालूम पड़ा। सभापति ने कहा कि प्रस्ताव उपस्थित कर दिया जायगा और ज्यादा बहस तथा मतप्रदर्शन दूसरे दिन होंगे जब आशा की जाती थी कि सभापति आ जायँगे। उनकी इस बात को कुछ लोगों ने पसन्द नहीं किया। कुछ लोगों ने शोर मचाना शुरू किया। शोर करनेवालों की संख्या बहुत नहीं थी। पर बड़ी सभा को भी थोड़े लोग गड़बड़ी में डाल दे सकते हैं। उस समय पं० जवाहरलालजी मंच पर खड़े थे। उन्होंने लोगों को शान्त करने का पूरा प्रयत्न किया। पर शोर मचानेवाले शान्त होने के बदले अपने स्थान से आगे बढ़ने लगे और मंच के नजदीक आ पहुँचे तथा अधिक शोर मचाने लगे। जवाहरलालजी अपने स्थान से हटे नहीं। वह लाउड स्पीकर द्वारा पचास हजार उपस्थित जनता से और दूसरे प्रतिनिधियों से आग्रह करते रहे कि वे अपने-अपने स्थान पर शान्त बैठे रहें। इसका नतीजा यह हुआ कि जो थोड़े लोग शोर मचा रहे थे वे आगे तो बढ़े, पर उनका साथ दूसरों ने नहीं दिया और उस समूह में वे मुट्ठी-भर दीखने लगे। वे मंच के नजदीक पहुँचकर कुछ देर तक शोर करते रहे; पर जवाहरलालजी अपने स्थान से डिगे नहीं। अन्त में वे लोग थककर चुप हो गये। उसके बाद सभा की कार्रवाई ठीक चली। दोनों प्रस्ताव उपस्थित कर दिये गये। बहस और मत लेने की बात दूसरे दिन के लिए रख छोड़ी गयी।

हमने देखा कि इस प्रदर्शन से उपस्थित जनता और दूसरे प्रतिनिधि रुष्ट हुए। जिन लोगों ने प्रदर्शन द्वारा जनता और प्रतिनिधियों को अपनी ओर खींचने की बात सोची थी उनका प्रयत्न केवल निष्फल ही नहीं हुआ, बल्कि उनके लिए हानिकारक भी हुआ; क्योंकि जो थोड़े लोग उनका साथ भी देनेवाले थे वे भी उनकी इस कार्रवाई से रंज होकर दूसरी ओर चले गये। दूसरे दिन इस विषय पर विचार करने के लिए अधिवेशन उस खुले पंडाल में न करके विषय-निर्वाचिनी के खीमे में किया गया। वहाँ केवल प्रतिनिधि ही आने दिये गये जिससे मत लेने में सुविधा हो और किसी को शिकायत न रह जाय। वहाँ पूरी बहस के बाद मत लिया गया। बहुत बड़े बहुमत से हम लोगोंवाला प्रस्ताव स्वीकृत हुआ। खुले अधिवेशन में दूसरे प्रस्ताव, जिनके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं था, पास करके अधिवेशन समाप्त हुआ।

अधिवेशन तो समाप्त हुआ, पर कटुता और भी बढ़ गयी। किसी बात को हम तय नहीं कर सके। काँग्रेस के अधिवेशन ने ऐसा प्रस्ताव स्वीकार किया जिसको सभापति नहीं चाहते थे। इतना ही नहीं, उसने सभापति के प्रस्ताव को नामंजूर कर

दिया। अब प्रश्न यह था कि सभापति क्या करते हैं। यदि उस प्रस्ताव को वह मान लेते हैं तो उनको नयी कार्यकारिणी ऐसी बनानी होगी जिस पर गांधीजी का विश्वास हो और जिससे वह सहमत भी हों। त्रिपुरी में बीमार रहने के कारण सुभाष बाबू ने वहाँ नयी कार्यकारिणी नहीं बनायी, जैसा सभापति किया करते हैं। वह तथा हम सब लोग अपने-अपने स्थान को वापस गये।

त्रिपुरी में जो निश्चय हुआ उसके अनुसार सुभाष बाबू काम नहीं करना चाहते थे। उनका स्वास्थ्य भी ऐसा नहीं था कि इस विषय में कुछ दिनों तक उनके साथ विचार कर कोई फैसला किया जा सके। शायद महात्माजी के साथ उनका कुछ पत्र-व्यवहार होता रहा। पर कोई बात तय नहीं हो पायी। उन्होंने अखिल भारतीय कमिटी की बैठक करनी चाही जो कलकत्ते में होनेवाली थी। उसके पहले मैं उनसे एक बार उनकी बीमारी की हालत में, झरिया के जामादूवा-कोलियरी में जाकर, मिला भी जहाँ वह अपने भाई के साथ स्वास्थ्य सुधार रहे थे। पर मुझसे कोई खुलकर बातें नहीं हुईं। अखिल भारतीय कमिटी कलकत्ते में हुई। महात्माजी भी कलकत्ते गये, यद्यपि वह कमिटी की बैठक में शरीक नहीं हुए। महात्माजी सोदपुर के खादी-प्रतिष्ठान में ठहरे और हम लोग शहर में। सुभाष बाबू और महात्माजी में कई बार बातें हुईं जिनमें हम भी अक्सर शरीक रहे। पर कोई नतीजा नहीं निकला। अब साफ हो गया कि सुभाष बाबू सभापति नहीं रह सकेंगे; क्योंकि अखिल भारतीय कमिटी का बहुमत उनके साथ नहीं था। अब प्रश्न हुआ कि सभापति बने कौन। सरदार बल्लभभाई से सुभाष बाबू तथा दूसरे लोग भी असन्तुष्ट थे; क्योंकि वह सबसे बातें साफ-साफ करते हैं और किसी की खुशामद करके उसे सन्तुष्ट करने की कला कभी उन्होंने सीखी ही नहीं है। पं० जवाहरलालजी इन सारी बातों से कुछ ऊब-से गये थे, यद्यपि उनके सामने भी कोई दूसरा रास्ता नजर नहीं आता था तथापि वह सभापति का पद लेना पसन्द नहीं कर सकते थे। मौलाना अबुल कलाम आजाद हम लोगों के विचारों से पूरा सहमत थे; पर दुर्भाग्यवश प्रयाग-स्टेशन के प्लाटफार्म पर गिर जाने से पैर के जख्मी होने के कारण चारपाई पर पड़े थे। उन पर भार डालना मुनासिब नहीं मालूम होता था और इस अस्वस्थता में वह उसे स्वीकार भी नहीं करते।

लोगों का खयाल हुआ कि सुभाष बाबू के इस्तीफा देने पर मैं ही सभापति बनाया जाऊँ। मुझे यह बात बिलकुल पसन्द नहीं थी। एक तो मैं इस तरह के झगड़े से हमेशा बचना चाहता हूँ—मैं समझता था कि जब तक फिर काँग्रेस न हो और नया सभापति न चुन लिया जाय तब तक गड़बड़ी मचती ही रहेगी और मैं इस झंझट को नहीं सँभाल सकूँगा, क्योंकि मेरा मिजाज ही ऐसा नहीं है कि झगड़े कर सकूँ; दूसरे त्रिपुरी के बाद बिहार में ही काँग्रेस आमंत्रित थी और मुझे उसके लिए भी प्रबन्ध करना था, मुझे उसी में समय लगाना पड़ेगा, और यदि मैं अखिल भारतीय काम में ही फँसा रहा तो अपने सूबे का काम बिगड़ जायगा। इन सब विचारों से मैं नहीं चाहता था कि सभापति मैं बनाया जाऊँ। पर जब महात्माजी

ने दूसरा कोई उपाय न देखकर मुझे आज्ञा दी कि मुझे यह भार उठाना ही पड़ेगा तब मैं इनकार नहीं कर सका।

अखिल भारतीय कमिटी की पहले दिन की बैठक किसी तरह समाप्त हुई जिसमें कोई विशेष काम नहीं हुआ। हम सब जब पंडाल से अपने-अपने स्थान के लिए रवाना हो रहे थे तो हमने सुना कि पंडित गोविन्दवल्लभ पंत के साथ, जिन्होंने त्रिपुरी का प्रस्ताव कांग्रेस के सामने उपस्थित किया था, और श्री भूलाभाई देसाई के साथ कुछ लोगों ने बुरा बर्ताव किया तथा श्री कृपालानीजी को भी कुछ लोगों ने घेर लिया था और मालूम होता था कि उनके साथ भी कुछ बुरा बर्ताव करेंगे। इन बातों की खबर मुझे उस समय तो नहीं मिली, पर शहर में यह खबर फैल गयी। उत्तर-भारत के रहनेवाले बहुत रोष में आ गये। जवाहरलालजी को इसका पता लग गया और उन लोगों ने समझा-बुझाकर रोक लिया, नहीं तो दूसरे दिन सभा के पहले ही मारपीट हो जाती। दूसरे दिन सभा में सुभाष बाबू नहीं आये। उन्होंने केवल अपना इस्तीफा भेज दिया। कमिटी ने उसे मंजूर कर मुझे सभापति चुन लिया। मैं ज्योंही खड़ा हुआ और आगे की कार्रवाई शुरू ही करनेवाला था कि कुछ लोग जोरों से शोर मचाने लग गये। जो दृश्य त्रिपुरी में हुआ था वही फिर छोटे पैमाने पर होने लगा। मैं अपने स्थान पर खड़ा रहा। जब तक शोर-गुल खत्म नहीं हुआ, मैं खड़ा ही रह गया। जब शोर-गुल खत्म हो गया, तो कुछ थोड़ा काम करके मैंने सभा बर्खास्त कर दी। वहाँ से चलने के समय कुछ वालण्टियर मेरी रक्षा के लिए मेरे चारों ओर हो लिये। उनमें से एक-दो ने रक्षा के बहाने मेरी बंडी पकड़ ली और खींचाखींची करने लगे। तब तक दूसरे बचाने लगे। मुझे कुछ चोट नहीं लगी। परन्तु बंडी का बटन टूट गया। मैं गाड़ी पर सवार कर अपने स्थान पर पहुँचा दिया गया। मैंने इसका जिक्र किसी से नहीं किया; क्योंकि इससे वैमनस्य और बढ़ता। रात की गाड़ी से जब मैं रवाना हुआ तो मुझे स्टेशन पर मालूम हुआ कि डाक्टर विधानचन्द्र राय के घर पर कुछ लोगों ने जाकर शोर-गुल मचाया और कुछ चीजें तोड़-फोड़ भी दीं। जो नयी वर्किंग कमिटी बनी उसके सदस्यों में बंगाल के डाक्टर विधानचन्द्र राय और डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र घोष थे। पंडित जवाहरलाल नेहरू ने उस समय सदस्य होना स्वीकार नहीं किया, यद्यपि उन्होंने हर तरह से मदद देने का वचन दिया।

१३२—एक अत्यन्त अप्रिय कार्य

कलकत्ते की बैठक में कोई विशेष काम नहीं हो सका था। इसलिए अखिल भारतीय कमिटी की एक दूसरी बैठक करना आवश्यक था। एक बैठक बम्बई में थोड़े ही दिनों के बाद की गयी। त्रिपुरी में, जैसा ऊपर कहा गया है, मुख्य प्रस्ताव में पंडित गोविन्दवल्लभ पंत ने मुख्य भाग लिया था। पंतजी युक्तप्रान्त के प्रधान मंत्री थे। हम लोगों के विरोधियों ने इस बात का वहाँ और पीछे भी बहुत प्रचार किया था कि कांग्रेसी मंत्रिमण्डल सुभाष बाबू के विरोधी थे और उन लोगों ने ही त्रिपुरी में

अपने प्रभाव से तथा अपनी पद-मर्यादा से अनुचित लाभ उठाकर त्रिपुरी का प्रस्ताव पास कराया है। कुछ और कारणों से कुछ लोग मंत्रिमण्डलों से असन्तुष्ट थे। इस प्रकार से एक दल ऐसा पैदा हो गया था जो मंत्रिमण्डलों की शिकायत और उनके रास्ते में अड़चनें पैदा किया करता था। मंत्रिमण्डल सभी प्रान्तों में, जहाँ काँग्रेसी मेम्बरों का बहुमत था, काँग्रेस की आज्ञा के अनुसार काम कर रहे थे। पारलेमेण्टरी कमिटी कभी उनके कामों में हस्तक्षेप नहीं करती थी, पर इस बात पर निगहबानी रखती थी कि जो घोषणा और वादा हमने चुनाव के पहले काँग्रेस की ओर से किया था वह पूरा किया जाय। मंत्रिमण्डल भी यथासाध्य इस प्रयत्न में लगे हुए थे। मेरा विचार है कि अपने अधिकार के अन्दर और विद्यमान परिस्थिति में जो कुछ हो सकता था, वे कर रहे थे। पर काँग्रेस के अन्दर के लोगों में से ही कुछ उनका विरोध करने लगे थे। वह विरोध क्रियात्मक रूप धारण करता जाता था। हम लोग काँग्रेस-विरोधियों के विरोध को समझ सकते थे। काँग्रेसियों के विरोध-विचार भी समझ में आते थे। यथासाध्य उनको मिलाने का प्रयत्न मंत्रिमण्डल किया करते थे। पर अब परिस्थिति कुछ इस तरह की पैदा कर दी गयी कि सुभाष बाबू के सभी अनुयायी और मंत्रिमण्डलों के विरोधी एक साथ होकर काम करने लगे। लोगों की मनोवृत्ति ऐसी दीखने लगी कि काँग्रेस के अन्दर जो झगड़ा त्रिपुरी के पहले और बाद हुआ उसको मंत्रिमण्डलों के विरुद्ध काम में लाकर मंत्रिमण्डलों को तिरस्कृत किया जाय और इस तरह उनकी अप्रतिष्ठा की जाय। इसमें डाक्टर खरे और उनके कुछ साथी भी, जैसे मध्य-प्रदेश के मंत्रिमण्डल के विरोधी, शरीक हो गये। कुछ लोगों का विचार दीखने लगा कि मंत्रिमण्डलों को तोड़ना सुभाष बाबू के विरोधियों को नीचा दिखाना होगा। हम लोगों के खिलाफ कुछ कहना-करना मुश्किल था, पर मंत्रिमण्डलों के खिलाफ कुछ कह देना और कर देना आसान था; क्योंकि उनको दिन-रात कुछ न कुछ करना पड़ता था, और किसी चीज को लेकर उसमें छिद्र निकालना कुछ मुश्किल नहीं है! हम लोगों का कहना था कि यदि मंत्रिमण्डल के विरुद्ध किसी काँग्रेसी को कोई शिकायत हो तो काँग्रेस की कमिटियों के सामने पेश करें। पारलेमेण्टरी कमिटी, वर्किंग कमिटी और जरूरत पड़ने पर अखिल भारतीय कमिटी भी उन शिकायतों की जाँच करके उन्हें दूर करने के लिए तैयार थीं। पर उन शिकायतों को लेकर केवल मत ही प्रकट करना नहीं, बल्कि मंत्रिमण्डल को नीचा दिखाने की कार्रवाई करना किसी भी काँग्रेसी के लिए अनुचित था। इस तरह के प्रदर्शन देश में बढ़ते जा रहे थे जिससे मंत्रिमण्डलों को और उनके साथ-साथ काँग्रेस की प्रतिष्ठा को भी धक्का पहुँचता था।

बम्बई की बैठक में एक प्रस्ताव रखा गया जिसमें इस तरह के क्रियात्मक विरोध की निन्दा की गयी और उसे न करने का काँग्रेसियों को आदेश दिया गया। इस प्रस्ताव का जोरों से विरोध सुभाष बाबू और उनके अनुयायियों ने किया। पर प्रस्ताव बहुत बड़े बहुमत से स्वीकार हो गया। हम समझते थे कि काँग्रेसी लोग इस

प्रस्ताव को मान लेंगे और इस तरह की बात और कार्रवाई अब नहीं होगी। पर ऐसा हुआ नहीं। बहुत जल्द इस तरह की बातें हुईं जिनसे हमको अनुशासन-भंग के लिए सुभाष बाबू के विरुद्ध कार्रवाई करनी पड़ी।

इस दुःखद कहानी के पहले एक सुखद घटना का उल्लेख आवश्यक है। इधर कई वर्षों से गांधी-सेवा-संघ का एक सालाना उत्सव हुआ करता था जिसमें उसके सभी सदस्य सभी प्रान्तों से एक निश्चित स्थान पर इकट्ठा होकर कई दिनों तक महत्त्व के सिद्धान्तों और प्रश्नों पर चर्चा किया करते थे। इसमें गांधीजी भी शरीक होते थे। जहाँ बैठक होती थी उस स्थान में सदस्य लोग कुछ सार्वजनिक सेवा का काम भी किया करते थे। खादी, सूत-कताई आदि का प्रदर्शन भी हुआ करता था। इस बार गांधी-सेवा-संघ का अधिवेशन बेतिया (चम्पारन) के पास वृन्दावन में होनेवाला था। वहाँ कुछ दिनों से पंडित प्रजापति मिश्र ने एक आश्रम खोल रखा था। उसी इलाके में वर्धा-योजना के अनुसार, बिहार-गवर्नमेण्ट की ओर से, प्राथमिक पाठशालाएँ भी खोली गयी थीं। वहाँ के कार्यकर्त्ताओं ने बड़े उत्साह के साथ अधिवेशन के लिए बड़ी तैयारी की थी। महात्माजी को एक थैली भेंट करने की योजना बनायी गयी थी। इस अधिवेशन की तिथि इस तरह रखी गयी थी कि कलकत्ते से अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के बाद महात्माजी और हम सब सीधे वहाँ आ जावें। इसीलिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक समाप्त करके महात्माजी के साथ ही मैं भी कलकत्ते से बेतिया के लिए रवाना हुआ। बहुतेरे सदस्य, जो गांधी-सेवा-संघ के मेम्बर नहीं थे, अधिवेशन में शरीक होने के लिए आये। उस अवसर पर संघ के अधिवेशन के अलावा तालीमी संघ की भी, जो वर्धा-शिक्षा-योजना को कार्यान्वित करने में लगा था, बैठक वहाँ की गयी थी। उसके सभापति होनेवाले थे बम्बई प्रान्त के प्रधान और शिक्षा मंत्री श्रीयुत खेर। वह भी हमारे साथ कलकत्ते से वहाँ आये। अधिवेशन बड़े समारोह से हुआ। लोगों ने भी बड़ा उत्साह दिखाया। एक तो गांधीजी को चम्पारन की जनता खूब प्रेम और भक्तिभाव से देखती है, दूसरे इस प्रकार की इतनी बड़ी कोई दूसरी सभा वहाँ कभी हुई नहीं थी, इतने लोग बाहर से वहाँ कभी आये नहीं थे। दोनों पक्षों में, आनेवालों और स्वागत करनेवालों में, काफी उत्साह था। सभी बातें बहुत अच्छी तरह से समाप्त हुईं। गांधीजी को थैली भी दी गयी जिसको उन्होंने कुछ हरिजन-सेवा और कुछ दूसरे कामों के लिए बाँट दिया। हरिजन-सेवा के लिए रुपये तो हरिजन-सेवक-संघ को दे दिये गये। स्थानीय कामों के लिए जो था वह स्थानीय आदमियों के हाथों में दे दिया गया। एक अच्छी रकम बिहार में मजदूर-संगठन करने के लिए अलग करके रख दी गयी।

अखिल भारतीय कमिटी की उस बैठक के थोड़े ही दिनों के बाद, जिसमें निश्चय किया गया था कि कोई भी काँग्रेसी किसी ऐसे क्रियात्मक कार्य में भाग न ले जिससे काँग्रेस तथा मंत्रिमण्डलों की प्रतिष्ठा में ठेस लगे, श्री सुभाषचन्द्र बोस ने घोषणा की कि काँग्रेस-कमिटी के इस निश्चय के विरुद्ध सारे देश में जबरदस्त प्रदर्शन

किया जाय। ऊपर कहा जा चुका है कि यह निश्चय बहुत बड़े बहुमत से स्वीकृत हुआ था। अब उस निश्चय की सीधी अवहेलना पर प्रदर्शन करनेवाले तुल गये। घोषणा समाचार-पत्रों में पढ़कर मैंने सभापति की हैसियत से सुभाष बाबू को तार दिया कि इस प्रकार की अवहेलना उचित नहीं है और वह इससे बाज आवें। पर उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया और अपने निश्चय के अनुसार इस प्रकार के प्रदर्शन कराये जिनमें काँग्रेसी कार्यकर्त्ता भी बहुत जगहों में शरीक हुए। हमारे सामने अब यह विकट प्रश्न उपस्थित हो गया कि इस तरह की अवहेलना काँग्रेस कब तक बर्दाश्त कर सकती है। काँग्रेस के अन्दर मतभेद निपटाने का एकमात्र रास्ता यह है कि उस प्रश्न पर सम्मति ले ली जाय। पर जब तक उसका निश्चय बहुमत द्वारा बदलवा न दिया जाय तब तक किसी काँग्रेसी को, काँग्रेस के निश्चय के विरुद्ध विचार रखते हुए और मतभेद प्रदर्शित करते हुए भी, कोई विरोधी कार्रवाई नहीं करनी चाहिए—विशेषकर ऐसी कोई कार्रवाई जिसमें काँग्रेस की प्रतिष्ठा को ठेस लगती हो। इस प्रदर्शन में भाग लेनेवालों ने ठीक ऐसा ही किया था। हमारे लिए अनिवार्य हो गया कि हम अनुशासन की कार्रवाई करें।

वर्किंग कमिटी की बैठक की गयी। सुभाष बाबू से कैफियत माँगी गयी। उन्होंने कैफियत में अपनी कार्रवाई की पुष्टि की और उसका समर्थन किया। वर्किंग कमिटी ने बहुत विचार के बाद निश्चय किया कि सुभाष बाबू का काम ऐसा है जिस पर उसको मजबूरी अनुशासन की कार्रवाई करनी चाहिए। यह निश्चय कुछ आसान नहीं था; क्योंकि सुभाष बाबू काँग्रेस के एक प्रमुख व्यक्ति थे। वह काँग्रेस के सभापति दो बार चुने गये और हो चुके थे। मतभेद के कारण इस समय वह उस पद से हट गये थे। पर उनकी देश-सेवा, निर्भीकता और त्याग के सभी कायल थे। ऐसे आदमी पर अनुशासन की कार्रवाई कैसे की जाय? सबको खटकता था। न मालूम क्यों, मेरा कुछ भीतरी प्रेम भी उनके साथ था, यद्यपि मुझे उनके साथ मिलकर कोई काम करने का मौका नहीं मिला था और न हम दोनों में किसी समय उतनी घनिष्ठता ही हुई थी। हाँ, उनके भाई श्री शरत्चन्द्र बोस को मैं पढ़ने के समय से ही जानता था; क्योंकि हम दोनों एक ही समय प्रेसिडेन्सी-कालेज में पढ़ते थे और एक ही होस्टल में रहा करते थे—उनके साथ कुछ घनिष्ठता थी और उनके प्रति मेरा कुछ आदर और प्रेम भी था। पर प्रश्न यह था कि काँग्रेस के सारे संगठन में इस प्रकार से धक्का लगने देना क्या उचित होगा—क्या अपने व्यक्तिगत भावों के कारण इस सार्वजनिक और सार्वदेशिक संस्था की प्रतिष्ठा को धक्का पहुँचानेवाले के साथ अनुशासन की कार्रवाई न की जाय? जैसा ऐसे अवसरों पर हुआ करता है, संस्था के प्रति कर्तव्य-पालन की भावना व्यक्तिगत भावों को दबाने के लिए मजबूर करती है। हम सबने बहुत दुःख के साथ, पर कर्तव्य-भावना की प्रेरणा से विवश होकर, सुभाष बाबू को काँग्रेस-कमिटी से एक अवधि के लिए खारिज कर दिया। जिन दूसरे लोगों ने उनका उस प्रदर्शन में साथ दिया था, उनके साथ भी कुछ कार्रवाई करना आवश्यक था।

पर वर्किंग कमिटी ने इसको खुद न करके प्रान्तीय कमिटियों पर छोड़ दिया कि वे जाँच कर जहाँ जैसा मुनासिब समझें कार्रवाई करें।

सुभाष बाबू त्रिपुरी के समय से ही नये दल का संगठन कर रहे थे, जिसको उन्होंने 'फारवर्ड ब्लाक' नाम दिया था। अब वह अधिक जोरों से संगठित किया गया। इसके बाद उस दल और काँग्रेस के बीच खुल्लमखुल्ला विरोध चलने लगा। प्रान्तीय कमिटियों ने भी जहाँ-तहाँ कुछ लोगों पर अनुशासन की कार्रवाइयाँ कीं। आपस का झगड़ा और भी बढ़ गया। काँग्रेस का विरोध उस दल की ओर से सब जगहों में होने लगा।

१३३—उड़ीसा और मध्यप्रदेश के मंत्रिमण्डल की कुछ और बातें

मेरा इस बार का सभापति होना मेरे लिए दुःखद रहा; क्योंकि ऐसा वातावरण पैदा हो गया कि सभी जगहों में झगड़े ही चलते रहे और दूसरा काम कठिन हो गया। दो झगड़े और हुए जिनका जिक्र कर देना अच्छा होगा। एक उड़ीसा का और दूसरा मध्यप्रदेश का। इनके सम्बन्ध की कुछ बातों का उल्लेख पहले किया जा चुका है। यह बतलाया गया है कि कुछ लोग जहाँ-तहाँ मंत्रिमण्डलों के विरुद्ध बहुत बातें करने लग गये थे। इस तरह के कुछ लोग उड़ीसा में थे जिन्होंने वहाँ के मंत्रि-मण्डल की शिकायतें शुरू कर दी थीं। यह भी मैं ऊपर कह चुका हूँ कि जब 'डेलांग' में, १९३८ के मार्च या अप्रैल में, हरिपुरा-काँग्रेस के बाद ही, गांधी-सेवा-संघ की वार्षिक बैठक हुई थी, तो इस तरह की शिकायतें आयी थीं। वहाँ सरदार बल्लभ-भाई मौजूद थे। मैं भी था। हमने दोनों पक्षों को बुलाकर आपस में मेल-मिलाप करा देने का प्रयत्न किया। जो कुछ शिकायतें थीं उनकी थोड़ी-बहुत सरसरी जाँच भी कर ली। हम आशा करते थे कि मामला निबट जायगा; पर भीतर ही भीतर आग सुलगती रही। पारलेमेण्टरी कमिटी के सामने बात आयी। उसके सभापति सरदार पटेल ने अन्त में यह कहा कि शिकायत करनेवाले शिकायतें ठीक-ठीक लिखकर दें तब वह जाँच करायेंगे, पर दोनों पक्षों को समझ लेना चाहिए कि शिकायत यदि ठीक निकलेगी तो मंत्री पर और अगर झूठी साबित होगी तो शिकायत करनेवाले पर कार्रवाई की जायगी। त्रिपुरी-काँग्रेस के कुछ पहले काँग्रेस के प्रेसिडेण्ट के नाते, सुभाष बाबू के पास भी शिकायत पहुँची। इन सब कारणों से जाँच करना आवश्यक हो गया। सुभाष बाबू ने मुझे जाँच करने का काम सुपुर्द किया। मैंने जाँच शुरू की, पर वह पूरी नहीं हो सकी। मुझे एक बार से अधिक उड़ीसा जाना पड़ा। कई दिनों तक दोनों पक्षों की बातें सुननी पड़ीं। गवाहियाँ लेनी पड़ीं। बहुत कागजों को पढ़ना पड़ा। जब मेरी रिपोर्ट तैयार हुई, सुभाष बाबू सभापतित्व से इस्तीफा दे चुके थे—मैं प्रेसिडेण्ट हो चुका था। मेरी लम्बी रिपोर्ट एक अदालती फैसले का रूप रखती थी। उसे पारलेमेण्टरी कमिटी और वर्किंग कमिटी ने मंजूर किया। मुख्य शिकायतें गलत

साबित हुईं। शिकायत करनेवाले पर कार्रवाई की गयी। पर कुछ दिनों के बाद उनके माफी माँग लेने पर अनुशासन की सजा उठा दी गयी।

इस चीज को यहाँ इतने विस्तार के साथ लिख देना इसलिए आवश्यक था कि शिकायत करनेवालों के पीछे जो लोग मददगार थे उन्होंने पीछे चलकर काँग्रेस के विरुद्ध खुले आम काम किया। पंडित नीलकंठदास और पंडित गोदावरीश मिश्र उनमें मुख्य थे। वे श्री विश्वनाथदास प्रधान मंत्री का विरोध आरम्भ से ही करते थे। ये दोनों सज्जन १९२०-२१ से ही काँग्रेस की सेवा करते आ रहे थे। उड़ीसा-प्रान्त के लोगों में दोनों की प्रतिष्ठा थी। जब १९३७ में प्रान्तीय असम्बली के लिए चुनाव हुआ, पंडित नीलकंठदास केन्द्रीय असम्बली के मेम्बर थे। उन्होंने प्रान्तीय असम्बली के लिए उम्मीदवारी की दर्खास्त नहीं दी, पर चुनाव में उन्होंने पूरा भाग लिया। काँग्रेस की ओर से प्रचार में काम भी किया। पंडित गोदावरीश मिश्र प्रान्तीय असम्बली के लिए खड़े हुए और चुने भी गये। चुनाव हो जाने के बाद जब मंत्रिमण्डल बनने का अवसर आया तो वहाँ की असम्बली के सदस्यों ने पंडित नीलकण्ठदास को, जो उस असम्बली के सदस्य नहीं थे, नेता न चुनकर श्री विश्वनाथदास को नेता चुन लिया। जब मंत्रिमण्डल बना तब नेता चुने जाने के कारण स्वभावतः वही प्रधान मंत्री बने। पंडित नीलकंठदास इससे बहुत रुष्ट थे। जो शिकायतें आती थीं वे ऐसी होती थीं जिनसे श्री विश्वनाथदास के नैतिक चरित्र और ईमानदारी पर हमला होता था। इसीलिए जाँच के पहले इस बात की चेतावनी देनी पड़ी थी कि यदि शिकायत साबित न होगी तो मुद्दई पर कार्रवाई की जायगी। शिकायत करनेवाले मुद्दई पंडित नीलकंठदास के साथ काम करनेवाले सज्जन थे, पीछे शायद वह उनसे अलग हो गये। उस समय उन लोगों का कुछ बस न चला; क्योंकि शिकायत गलत और बेबुनियाद साबित हो गयी। काँग्रेस से सुभाष बाबू के अलग हो जाने पर पंडित नीलकंठदास ने उनका साथ दिया और केन्द्रीय असम्बली में भी उनकी कार्रवाई ऐसी हुई जैसी काँग्रेसी सदस्य द्वारा नहीं होनी चाहिए थी। वह काँग्रेस के प्रतिज्ञा-पत्र पर हस्ताक्षर करके केन्द्रीय असम्बली के सदस्य चुने गये थे। उसमें उन्होंने वादा किया था कि वह काँग्रेस के अनुशासन को मानेंगे। पर कुछ दिनों के बाद उन्होंने ऐसा करने से इनकार कर दिया। काँग्रेस पार्टी से वह अलग हो गये। जब योरपीय महायुद्ध आरम्भ होने के बाद काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफा दिया तो उड़ीसा का मंत्रिमण्डल भी, और जगहों की तरह, टूट गया। पंडित नीलकंठदास और पंडित गोदावरीश मिश्र इस बात की चिन्ता में लगे रहे कि किसी न किसी तरह वहाँ मंत्रिमण्डल बने। पर जब काँग्रेसी सदस्यों के बहुमत ने उनका साथ नहीं दिया तो वहाँ की जमीन्दार-पार्टी के साथ मिलकर, जिसके नेता पारलाकिमेडी के महाराज बहादुर थे, उन्होंने मंत्रिमण्डल कायम कराया जिसमें श्री गोदावरीश मिश्र मंत्री हुए और महाराजा प्रधान मंत्री! कुछ काँग्रेसी लोगों को उन्होंने फोड़ लिया, पर अधिकांश को जेलों में बन्द करके किसी प्रकार उन्होंने अपना बहुमत कर लिया है और अब भी मंत्रिमण्डल कायम है।

पर जिस समय ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं (१९ जून १९४४), समाचार-पत्रों से मालूम होता है कि महाराज और मिश्रजी में कुछ अनबन हो गयी है और मंत्रिमण्डल संकट में है। सुना है कि पंडित नीलकण्ठदास और पंडित गोदावरीश मिश्र में भी अब वह सद्भाव नहीं है जो काँग्रेस के प्रति विरोध करके मंत्रिमण्डल बनाने के समय दोनों में था।

मध्यप्रदेश की भी कुछ इसी प्रकार की शिकायतें थीं जिसका संकेत पहले दे चुका हूँ। कुछ तो ऐसी बातें थीं जो मंत्रिमण्डल बनने के पहले की थीं। मंत्रिमण्डल बनने के समय डाक्टर खरे और पंडित द्वारकाप्रसाद मिश्र एक साथ थे, दोनों में काफी घनिष्ठता थी; प्रतिद्वन्द्वी उस समय समझे जाते थे श्री रविशंकर शुक्ल। पर डाक्टर खरे की नीति और तौर-तरीके से मिश्रजी तथा दूसरे इतने ऊब गये थे और डाक्टर खरे उनसे इतने विरक्त हो गये थे कि अब मिश्रजी और शुक्लजी एक साथ होकर काम कर रहे थे और डाक्टर खरे उनके विरुद्ध! इसी कारण से वहाँ का मंत्रिमण्डल टूटा था। डाक्टर खरे को अलग होना पड़ा था और आपस के झगड़े अभी तक उसी गति से चल रहे थे। डाक्टर खरे हट तो गये थे, पर उनके कुछ साथी और सहयोगी अभी तक उस झगड़े को चलाये जा रहे थे। उसमें से कुछ लोगों ने पुरानी गंदी शिकायतों और कुछ नयी बातों को लेकर, पारलेमेण्टरी कमिटी तथा वर्किंग कमिटी के सामने, मंत्रिमण्डल और विशेषकर मिश्रजी के विरुद्ध, शिकायतें पेश कीं। पहले श्री भूलाभाई देसाई को इन शिकायतों की जाँच का भार सौंपा गया। पर उनसे मुद्दई लोगों का मतभेद हो गया। अन्त में मुझे प्रेसिडेण्ट की हैसियत से इस मामले को भी देखना पड़ा। मैंने इसमें भी दोनों पक्षों की बातें सुनकर, बहुत से कागजों को देखकर, फैसला दिया जो वर्किंग कमिटी के सामने पेश होकर मंजूर किया गया। कुछ लोग फैसले के बाद भी बहुत कुछ लिखते-बोलते रहे, पर एक बार फैसला हो जाने और पत्रों में छप जाने पर मामला ठंढा पड़ गया।

मेरा अधिक समय इस प्रकार के कामों में ही लगा जिससे जी घबराता था और ठीक तरह से रचनात्मक काम करने का मौका नहीं मिलता था। इस बार प्रेसिडेण्ट होने का एक और नतीजा यह निकला कि अपने सूबे के साथ जो घनिष्ठ सम्बन्ध रहा करता था वह कम हो गया। समयाभाव से मैं सूबे के कामों और बातों में उतनी दिलचस्पी न ले सका और न सूबे का दौरा ही कर सका। १९३४-३५-३६ में भी जब प्रेसिडेण्ट था और सूबों के दौरे में ही सारा समय लगा दिया था, बिहार में कुछ भी समय न दे सका। वही बात इस बार भी हुई, यद्यपि इस बार दौरा करने का मौका नहीं मिला। किन्तु इस बार बिहार में काँग्रेस का अधिवेशन होनेवाला था। इसलिए रुपये जमा करने के लिए कहीं-कहीं जरूर जाना पड़ा। जब अखिल भारतीय काम से छुट्टी मिलती, इधर दौड़ जाता, या यों कहिये कि दोनों के बीच में मैं इधर-उधर दौड़ता रहा।

१३४—रामगढ़-काँग्रेस के लिए स्थान का चुनाव

त्रिपुरी से लौटते ही हमको यह सोचना था कि बिहार में काँग्रेस का अधिवेशन कहाँ किया जाय। इधर कई बरसों से जलसा किसी गाँव में हुआ करता था। हम भी चाहते थे कि कहीं गाँव में ही करें। मेरा विचार पहले यह हुआ कि अधिवेशन सोनपुर में किया जाय। वह तीन जिलों के सीवाने पर है। वहाँ प्रतिवर्ष बहुत बड़ा, भारतप्रसिद्ध, मेला लगा करता है। उसमें देश-भर से लाखों आदमी आते हैं। लाखों की संख्या में मवेशी, घोड़े-हाथी और दूसरे जानवर, बिक्री के लिए लाये जाते हैं। इसलिए वहाँ बहुत बगीचे हैं। लाखों लोगों के लिए जल का प्रबन्ध आसान नहीं है, इसलिए बहुतेरे कुँएँ बनाये गये हैं। मेले के समय पानीकल भी जारी किया जाता है जिसको जिला बोर्ड ने बना रखा है। मेला कार्तिकी पूर्णिमा को हुआ करता है। काँग्रेस का अधिवेशन प्रायः तीन महीने बाद होता। इसलिए मेले में हम बाँस, खर, चटाई इत्यादि बहुत सामान सस्ता खरीद सकते थे। प्रतिनिधियों के निवास-स्थान का निर्माण मेले के बाद भी शुरू करके आसानी से पूरा कर सकते थे। इन सुविधाओं के सिवा गण्डक नदी के किनारे होने के कारण बाँस, लकड़ी, फूस वगैरह नदी द्वारा आसानी से लाये जा सकते थे। गंगा से उत्तर के जिले, बिहार में काँग्रेस के कार्य-कलाप के लिए, बहुत जानदार जिले समझे जाते हैं। पहले दो बार काँग्रेस के अधिवेशन बिहार में हो चुके थे; पर दोनों बार गंगा से दक्खिन ही—पटने और गया में। उत्तर के लोग बहुत चाहते थे कि उत्तर-बिहार में भी एक अधिवेशन हो। इन सब विचारों से मेरा खयाल था कि यहीं अधिवेशन किया जाय। पर सबकी राय लेनी थी। सबसे अधिक यह देखना था कि जो नगर हम बसावेंगे उसके बसाने में स्वास्थ्य की दृष्टि से कहाँ अधिक सुविधा होगी। इसलिए त्रिपुरी से लौटकर हम दो-चार आदमी उन सभी जगहों को देखने गये जो अधिवेशन के लिए उपयुक्त समझी जाती थीं। त्रिपुरी में ही मैंने श्री रामदास गुलारी को आमंत्रित कर दिया था कि बिहार के काँग्रेस-निर्माण में सहायता देने के लिए उनको आना चाहिए। उन्होंने इस निमंत्रण को सहर्ष स्वीकार कर लिया था। गुलारीजी एक अनुभवी इंजीनियर हैं। पर अब महात्मा गांधी के साथ सेवाग्राम में रहा करते हैं। फैजपुर में जब पहले-पहल देहात में काँग्रेस का अधिवेशन करने का महात्माजी का विचार हुआ तो वहाँ निर्माणकार्य में मदद देने के लिए गुलारीजी ही गये थे। त्रिपुरी में भी उन्होंने ही काँग्रेस-नगर-निर्माण का कार्य कराया था। उनके अनुभव से लाभ उठाने के लिए ही मैंने उनको निमंत्रण दे दिया था। वह ठीक समय पर आ गये। स्थान चुनने में भी शरीक रहे। वह भी उन सभी जगहों पर गये जिनको हम उपयुक्त समझते थे।

हम लोगों ने पटना-जिले में राजग्रह को भी इस काम के लिए देखा। वह बहुत ही प्राचीन और ऐतिहासिक स्थान है। उसको जरासंध की राजधानी और बुद्धदेव का निवास-स्थान होने का गौरव प्राप्त है। बौद्ध और जैन काल में भी

उसे बड़ी प्रसिद्धि मिल चुकी है। नालन्दा का वह महान् विद्यापीठ भी वहाँ से थोड़ी ही दूर पर है जहाँ किसी समय हजारों विद्यार्थी और भिक्षु विद्याभ्यास किया करते थे—जहाँ से विद्वान् भिक्षु और परिव्राजक प्रचारक बौद्ध धर्म के प्रचारार्थ तिब्बत, चीन प्रभृति देशों में गये थे—जहाँ के ध्वस्त विहारों और भग्नावशेषों की खुदाई से निकली हुई इमारतें और किस्म-किस्म के सरंजाम आज भी लोगों को चकित करते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से जगह बहुत ही उपयुक्त और प्राकृतिक दृष्टि से भी रमणीय तथा स्वास्थ्य-प्रद थी। पर आधुनिक सुविधाओं का अभाव! सबसे अधिक वहाँ पहुँचने की कठिनाई! पानी की भी कमी! इन कारणों से उसे छोड़ देना पड़ा। पीछे यह भी खयाल हुआ कि पटने के पास ही फुलवारी-शरीफ में अधिवेशन किया जाय। पर यह स्थान पटने के इतना निकट था कि वह शहर का ही अधिवेशन समझा जाता, पर शहर की सुविधाएँ वहाँ नहीं मिलतीं।

उधर छोटानागपुर के लोगों का, विशेषतः हजारीबाग के बहादुर काँग्रेसी बाबू रामनारायणसिंह का, बहुत जोर था कि कोई स्थान छोटानागपुर में ही चुना जाय। उनकी हमेशा शिकायत रहा करती थी कि हम लोग छोटानागपुर के साथ लापरवाही बरतते हैं। अस्तु, छोटानागपुर भी ध्यान में रखा गया। हम लोगों ने अन्त में हजारी-बाग जिले के रामगढ़ को ही पसन्द किया। इसका विशेष यश श्री रामदास गुलारी को ही है; क्योंकि उन्होंने इस स्थान को स्वास्थ्य की दृष्टि से अधिक उपयोगी समझा। मेरी भी धारणा थी कि उन सुन्दर सुहावने जंगलों के बीच दामोदर नदी के किनारे का अधिवेशन अपने ढंग का निराला होगा।

स्थान चुन तो लिया गया, पर अधिवेशन के लिए निश्चित स्थान पर जंगल था! उसको साफ कराना था और वहाँ प्रायः सब कुछ जुटाना था। आरंभ से ही मैंने श्री अम्बिकाकान्तसिंह को वहाँ भेज दिया और वह वहाँ रहकर बड़े परिश्रम और लगन के साथ काम करने लगे। मैं भी कुछ दिनों तक राँची में ठहरा रहा जहाँ से रामगढ़ प्रायः ३०-३२ मील की दूरी पर है। नक्शा वगैरह गुलारीजी बनाने लगे। जंगल कटने लगा। काम आगे बढ़ने लगा। मैं इधर-उधर रुपये जमा करने के लिए और-और भाइयों के साथ घूमने लगा। उनमें मुख्यतः, मेरे साथ प्रायः सभी जगहों में जानेवाले, बाबू मथुराप्रसाद थे। दौड़-धूप करता रहा। बरसात में काम बहुत आगे नहीं बढ़ सकता था। पर तो भी सबका खाका तो तैयार ही कर लिया गया। मैं रामगढ़ में ही था। उस समय भी दमा से रुग्ण था। उसी जगह यह खबर मिली कि जर्मनी ने पोलैंड पर चढ़ाई कर दी और इँगलैंड तथा फ्रान्स के साथ भी उसकी लड़ाई छिड़ गयी! उस समय जर्मनी ने, लड़ाई के कुछ दिन पूर्व, रूस के साथ सम-झौता कर लिया था।

१३५—काँग्रेस और योरप का दूसरा महायुद्ध

इस विषय पर बहुत विचार करने के बाद, १९३८ के सितम्बर में, विना किसी फैसले पर पहुँचे हुए ही, वर्किंग कमिटी ने बात वहीं छोड़ दी थी, क्योंकि लड़ाई

छिड़ी नहीं और चेम्बरलेन ने चेकोस्लोवाकिया को हिटलर का शिकार छोड़कर सुलह कर लिया। अब काँग्रेस को कुछ निश्चय करना होगा! उधर जवाहरलालजी इस समय चीन गये हुए थे। गांधीजी की वाइसराय से मुलाकात हुई। वर्किंग कमिटी की बैठक वर्धा में की गयी। मैं बीमार तो था, पर किसी तरह से वर्धा पहुँच गया। महात्माजी ने श्री महादेव देसाई को भेजा कि चाहे जिस तरह हो सके, मुझे वह जरूर वर्धा ले आवें। वर्किंग कमिटी की बैठक कई दिनों तक चली। इसी बीच में श्री जवाहरलाल नेहरू भी चीन से वापस आ गये। मामला बहुत गहन था। यह सोचा गया कि यद्यपि श्री सुभाषचन्द्र बोस काँग्रेस से अलग हैं तो भी इस मौके पर उन्हें भी बुलाना चाहिए और उनकी राय भी लेनी चाहिए। काँग्रेस के दूसरे प्रमुख व्यक्ति भी, जो वर्किंग कमिटी के साथ नहीं थे, बुला लिये गये।

गांधीजी ने वाइसराय से मुलाकात के बाद एक वक्तव्य प्रकाशित किया था जिसमें उन्होंने इँगलैंड के प्रति सहानुभूति दिखलाई थी और यह भी कहा था कि हमको इँगलैंड की मदद बिना शर्त करनी चाहिए। इससे कुछ लोगों को गलतफहमी हुई। पीछे जब काँग्रेस-कमिटी की ओर से इस बात की माँग पेश की गयी कि ब्रिटिश सरकार युद्ध-विषयक और युद्धोत्तर शान्ति-सम्बन्धी अपने विचार तथा उद्देश्य साफ बतला दे तभी हिन्दुस्थान दिल खोलकर मदद कर सकेगा, तो अँगरेजों को यह कहने का मौका मिला कि गांधीजी अपने प्रकाशित वक्तव्य से हट गये। काँग्रेसियों में बहुतों को यह बात पसन्द नहीं आयी कि इस तरह बिना शर्त मदद इस साम्राज्यवादी लड़ाई में देना उन्होंने स्वीकार कर लिया था। बात यह थी कि दोनों पक्षों का विचार आंशिक था। गांधीजी ने यह कभी नहीं सोचा था कि हिन्दुस्थान से रुपये और आदमी की मदद दी जायगी। वह समझते थे कि इस युद्ध में हिन्दुस्थान-ऐसे पराधीन देश की सहानुभूति अँगरेजों के लिए एक ऐसी कीमती चीज होगी जो सारे संसार की सहानुभूति उनके साथ ला सकेगी। उन्होंने इसी सहानुभूति की बात सोची थी, पर इसमें शक नहीं कि उस समय इस तरह के बयान से लोगों में कुछ खलबली पैदा हुई थी।

वर्किंग कमिटी के सामने प्रश्न था कि वह इस युद्ध के सम्बन्ध में क्या रुख रखेगी; काँग्रेस युद्ध में मदद करेगी कि नहीं, यदि करेगी तो बिना शर्त के अथवा किसी शर्त के पूरा होने पर? मदद का रूप क्या होगा? काँग्रेस ने अपने ध्येय में अहिंसा को ही साधन माना है। इस हिंसात्मक युद्ध में एक अहिंसात्मक संस्था कैसे और कौन-सी मदद कर सकती है? इत्यादि-इत्यादि। कमिटी कई दिनों के विचार के बाद एक निश्चय पर पहुँची और एक ठहराव स्वीकार किया। उसमें नात्सीवाद और फासिस्टवाद के प्रति अपना विरोध प्रकट करते हुए कमिटी ने साम्राज्यवाद के प्रति भी अपना विरोध जताया और ब्रिटिश-राज्य से आग्रह किया कि भारतवर्ष की जनता को इस युद्ध में दिल से मददगार बनाने के लिए वह युद्ध-सम्बन्धी अपने उद्देश्यों को साफ-साफ बतला दे।

इस ठहराव की भाषा बहुत ही सुन्दर और भाव भी अत्यन्त परिष्कृत तथा उपयुक्त थे। इसका श्रेय विशेषकर पं० जवाहरलाल को ही था जिन्होंने मसविदा तैयार किया था। उसी अधिवेशन में यह स्पष्ट हो गया कि काँग्रेस अपनी अहिंसा की नीति के कारण इस युद्ध में ब्रिटिश सरकार की मदद करने से इनकार नहीं कर सकती और यदि मौका मिला तो वह हथियार की मदद करने से भी नहीं हिचकेगी। यह कह देना इसलिए आवश्यक है कि इसके बाद जब-जब मौका आया, काँग्रेस के अँगरेज विरोधी—विशेषकर भारतमंत्री मि० एमरी और भारत-सरकार के उच्च कर्मचारी जिनमें लार्ड लिनलिथगो भी शामिल थे—यह कहने से न हिचके कि गांधीजी की अहिंसा के कारण ही काँग्रेस मदद नहीं देती। यह ठीक है कि उस बैठक में यह बात इतनी स्पष्ट नहीं हुई थी, पर उस ठहराव से यह स्पष्ट था कि ब्रिटिश-सरकार यदि सन्तोषजनक तरीके से अपने उद्देश्यों को प्रकट कर देगी तो काँग्रेस को मदद देनी ही पड़ेगी और उस मदद का रूप हिंसात्मक हुए बिना नहीं रहेगा। उस समय सारे देश में—विशेषकर काँग्रेसी लोगों में से बहुतेरों में—ब्रिटेन के प्रति सहानुभूति थी और यदि ब्रिटिश साम्राज्यवादी इसका थोड़ा भी परिचय दे देते कि वे सचमुच यह लड़ाई प्रजातंत्र के लिए कर रहे थे, जैसा कि उस समय इँगलैंड के कुछ प्रमुख राजनीतिज्ञ और समाचारपत्र गला फाड़-फाड़कर चिल्ला रहे थे, तो भारत के प्रायः सभी लोग उनके साथ दिल खोल करके हो जाते। परन्तु दुनिया की सहानुभूति पाने के लिए तो यह लड़ाई प्रजातंत्र स्थापित करने के लिए की जा रही थी, और वास्तविक रूप में वह ब्रिटिश साम्राज्य की रक्षा तथा पुष्टि के लिए ही की जा रही थी, जैसा पीछे स्पष्ट होता गया!

इस प्रस्ताव के बाद मुझे प्रेसिडेण्ट की हैसियत से दो बार लार्ड लिनलिथगो से मिलने का मौका मिला—एक बार पं० जवाहरलालजी के साथ और दूसरी बार महात्मा गांधी तथा मि० जिन्ना के साथ। उस समय लार्ड लिनलिथगो भारत के सभी दलों और सभी तरह के विचारवाले लोगों से मिलकर लड़ाई में हिन्दुस्थान की मदद की बात करते थे और चाहते थे कि हिन्दुस्थान के लोग राजीखुशी से मदद करें और किसी प्रकार की गड़बड़ी न होने दें। लड़ाई शुरू होते ही बिना किसी से पूछे और परामर्श किये ही उन्होंने ब्रिटिश-सरकार की ओर से घोषणा कर दी थी कि हिन्दुस्थान भी लड़ाई में शरीक है! हिन्दुस्थान की धारा-सभा (लेजिसलेटिव असम्बली) कायम थी। सभी सूबों में १९३५ के विधान के अनुसार मंत्रिमण्डल काम कर रहे थे, जिनमें ११ में से ८ सूबों में काँग्रेसी मंत्रिमण्डल स्थापित थे। किसी से न पूछा गया और न राय ली गयी, मानों हिन्दुस्थान की किसी संस्था अथवा किसी व्यक्ति को इस लड़ाई से कोई सम्बन्ध ही न था! बिना पूछताछ के ही हिन्दुस्थान को भी लड़ाकों में दाखिल कर दिया गया! काँग्रेस-कमिटी भी बहुत क्षुब्ध थी। हिन्दुस्थान के दूसरे लोग भी इसे पसन्द नहीं करते थे। ऐसी अवस्था में जब तक उनका मतलब स्पष्ट न हो जाय, कुछ भी किसी के लिए करना न संभव था और न उचित।

लार्ड लिनलिथगो पीछे इसीलिए लोगों से राय-बात करने लगे। उन्होंने देश की राजनीतिक संस्थाओं को संतुष्ट करने के लिए यह योजना भी रखी कि उनकी (वाइसराय की) कार्यकारिणी (एग्जिक्युटिव) कौन्सिल की सदस्य-संख्या बढ़ा दी जायगी और उसमें अधिक हिन्दुस्थानी ले लिये जायँगे, पर साथ ही वह इस बात पर दृढ़ रहे कि उनके नये या पुराने सदस्यों के अधिकार में कोई परिवर्तन नहीं होगा, उनके विचार से ये सदस्य अपने-अपने विभाग के सरदारमात्र हैं, इनको कोई स्वतंत्र अधिकार प्राप्त नहीं है और कौन्सिल की बैठक तो केवल सभी सदस्यों को एक-दूसरे विभाग की कार्रवाइयों से परिचित कराने के लिए ही होती है, वहाँ कुछ बातों पर वे सिर्फ विचार कर सकते हैं, पर सभी महत्त्वपूर्ण प्रश्नों के निपटारे का भार अन्त में वाइसराय पर ही है और उनको ही अधिकार भी प्राप्त है––लड़ाई के जमाने में वह कोई वैधानिक परिवर्तन करने की संभावना नहीं देखते थे और इसलिए जो कुछ हो सकता था वह १९३५ के विधान के अन्दर ही हो सकता था।

काँग्रेस की माँगें दो थीं। ब्रिटिश-सरकार के लड़ाई के उद्देश्यों के स्पष्टीकरण के साथ-साथ भारत की स्वतंत्रता के सम्बन्ध में काँग्रेस चाहती थी कि भविष्य की योजना के लक्ष्य को स्पष्ट तरीके से स्वतंत्रता का रूप दे दिया जाय और साथ ही साथ अभी तत्काल भारत के प्रतिनिधियों को ऐसे शासन-सम्बन्धी अधिकार मिल जायँ जिनके द्वारा वे सचमुच भारत की इच्छा के अनुसार यहाँ प्रबन्ध कर सकें और सच्ची मदद लड़ाई में भी कर सकें। भविष्य की घोषणा के महत्त्व को कुछ कम भी कर दिया जाय तो भी जब तक तत्काल अधिकार न मिल जायँगे, लड़ाई में जनता की दिलचस्पी न होगी और वह दिल से मदद नहीं कर सकेगी। उस समय से आज तक काँग्रेस की नीति लड़ाई में बाधा पहुँचाने की कभी नहीं रही है। काँग्रेस ब्रिटिश साम्राज्यवाद को भी संसार के लिए कोई श्रेयस्कर वस्तु नहीं मानती है––उसने कम से कम पिछले २०-२५ बरसों में कभी नहीं माना है––वह साम्राज्यवाद के बदले में सच्चे प्रजातंत्रवाद की हिमायती रही है और है––वह चाहती है कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद परिवर्तित होकर सच्चे प्रजातंत्रवाद का रूप उन देशों और उपनिवेशों के लिए धारण कर ले जो आज इस साम्राज्यवाद की एँड़ियों के नीचे कुचले जा रहे हैं, जिनमें भारत मुख्य है और स्वाभाविक रीति से यहाँ की राष्ट्रीय संस्थाएँ इसी उद्देश्य को प्राप्त करना अपना कर्त्तव्य मानती हैं। अँगरेज भी इस उद्देश्य की निन्दा नहीं करते, वे भी इनकी स्वतंत्रता अपना उद्देश्य मानते हैं। वे केवल यह कहते हैं कि अभी भारत तथा दूसरे देश जो उनके कब्जे में हैं इस योग्य नहीं हुए हैं कि उनको स्वतंत्रता दी जा सके और इसलिए अँगरेज अपना कर्त्तव्य समझते हैं कि उनको जब तक यह योग्यता प्राप्त न हो जाय तब तक उनके शासन का भार अपने ऊपर वे रखें। हम भारतवासी इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं हैं और यही हमारे मतभेद तथा संघर्ष का कारण है। लड़ाई के आरंभ में प्रजातंत्र की लम्बी-चौड़ी बातें की गयीं, काँग्रेस ने एक प्रश्न करके इस प्रचार का भंडाफोड़ कर दिया।

प्रश्न केवल इतना ही था कि क्या यह प्रजातंत्र भारत के लिए भी होगा—एशिया और अफ्रिका की पददलित जातियों के लिए भी होगा—अथवा केवल अँगरेजों और योरपनिवासियों के लिए ही होगा—यदि एशिया और अफ्रिका के लोगों के लिए भी होगा तो खुलकर स्पष्ट शब्दों में कह दिया जाय, और इसका आश्वासन अभी यथासाध्य अधिकार सौंपकर अमली तरीके से सभी लोगों को दे दिया जाय।

१९३९ के नवम्बर से १९४२ तक इसी प्रश्न का सन्तोषजनक उत्तर काँग्रेस और हिन्दुस्थान को नहीं मिला। शब्दों के आडम्बर में पहले असली मकसद को छुपा रखने का प्रयत्न किया गया। वह मकसद था ब्रिटिश साम्राज्य को अक्षुण्ण बनाये रखने का। जैसे-जैसे समय बीतता गया, यह बात साफ होती गयी। उस समय लार्ड लिनलिथगो ने हजार कोशिशें कीं; पर कोई भी राजनीतिक दल उनके प्रस्ताव से सन्तुष्ट नहीं हुआ। हाँ, मुस्लिम लीग को खुश करने के लिए उन्होंने कुछ दिन के बाद एक घोषणा कर दी कि १९३५ के विधान पर लड़ाई के बाद सरेनव से विचार किया जायगा। उस विधान का काँग्रेस ने भी जबरदस्त विरोध किया था और शायद कुछ नरमदलवालों के सिवा किसी राजनीतिक दल ने उसके अनुसार काम करने की रजामन्दी जाहिर नहीं की थी। इसलिए, लड़ाई के बाद उसको एक प्रकार से आमूल संशोधित और परिवर्तित करने का वादा करके उन्होंने केवल मुस्लिम लीग को ही नहीं, शायद दूसरों को भी सन्तुष्ट करने का प्रयत्न किया हो। पर ऐसा मालूम नहीं होता; क्योंकि उनकी उस समय की और पीछे की कार्रवाइयों से एक ही नतीजा निकलता है। वह चाहते थे कि काँग्रेस के मुकाबले में वह एक दूसरी संस्था खड़ी कर दें और इधर हिन्दुस्थान से कहें कि जब तक ये दोनों मिलकर एक माँग पेश नहीं करतीं, हम कुछ भी करने से मजबूर हैं तथा उधर दूसरी ओर दुनिया को भी बता सकें कि अँगरेज तो अधिकार देने के लिए तैयार हैं मगर हिन्दुस्थान के लोग इतने नालायक हैं कि वे आपस में मेल ही नहीं कर सकते, इसलिए वहाँ ब्रिटिश सरकार का अधिकार अक्षुण्ण रखना आवश्यक एवं अनिवार्य है। इसमें लार्ड लिनलिथगो अपने समय में बहुत हद तक सफल भी हुए हैं। उस समय इन मुलाकातों का नतीजा यही निकला कि कोई सन्तोषजनक उत्तर हमको ब्रिटिश सरकार की ओर से नहीं मिला। जो घोषणा उन्होंने गवर्नमेण्ट की तरफ से निकाली थी उसके सम्बन्ध में हमको साफ-साफ कह देना पड़ा कि उससे हम सन्तुष्ट नहीं हैं।

वाइसराय से मिलने के बाद हमको यह भी निश्चय करना पड़ा कि काँग्रेसी लोग मंत्रिमण्डल में नहीं रह सकते और शासन का भार सूबों में भी अपने ऊपर नहीं रख सकते। इस निश्चय पर बहुत सोच-विचार के बाद ही वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी पहुँची थीं। कुछ लोग काँग्रेस के अन्दर ऐसे थे जो इस नीति को पसन्द नहीं करते थे। उनका विचार था कि जो थोड़े-बहुत अधिकार हमारे हाथ में आये हैं उनको छोड़ना नहीं चाहिए। वे यह भी सोचते थे कि अपने हाथों में इन अधिकारों को रखकर हम देश की अधिक सेवा कर सकेंगे और लड़ाई से जो नुक-

सान हमें पहुँच सकता है उससे बचने में अथवा लड़ाई से जो लाभ हम उठा सकते हैं उसे प्राप्त करने में—दोनों ही में, अधिकार रखकर ही, हम अधिक कारगर हो सकते हैं। पर ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम थी। अधिक लोगों का विचार था कि जैसे-जैसे लड़ाई गरुआती जायगी, सूबों के अधिकार केन्द्रीय सरकार अपने हाथों में लेती जायगी; मंत्रिमण्डल अपने सूबों में कुछ काम बनाने का अधिकार तो रख नहीं सकेंगे, पर जो कुछ बिगड़ेगा उसकी जवाबदेही उनके सिर पर आती जायगी—केन्द्रीय सरकार में हिन्दुस्थानियों को कोई अधिकार मिलता नहीं दीखता, इसलिए वहाँ से जो कोई भी हिन्दुस्थानी सदस्य वाइसराय के साथ काम करेगा उसे युद्धमंत्री और वाइसराय के हाँ में हाँ मिलाने के सिवा और कुछ करने का मौका नहीं मिलेगा, वह चाहे भी तो प्रान्तीय मंत्रिमण्डलों की कोई विशेष मदद न कर सकेगा; लड़ाई के लिए जनता से पूरी मदद की आशा की जायगी, जनता खुशी से मदद देगी नहीं, क्योंकि उसके सामने न तो भविष्य की कोई उज्ज्वल आशा है और न वर्तमान में उसके प्रतिनिधियों को कोई अधिकार है, इसलिए जब वह ब्रिटिश सरकार के आज्ञानुकूल मदद नहीं दे सकेगी तो मंत्रिमण्डलों को जनता के साथ कुछ जोर-जबरदस्ती भी करनी पड़ेगी, यह कोई भी सच्ची लोकसेवा का व्रत लेनेवाली संस्था ऐसी अवस्था में नहीं करेगी; इसलिए काँग्रेसी मंत्रिमण्डल भी ऐसा करने में असमर्थ होंगे—ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को भी लड़ाई लड़ना ही है और उसे मदद—चाहे वह खुशी से दी जाय अथवा जबरदस्ती ली जाय—मिलनी ही चाहिए, वह मंत्रिमण्डलों से इस मदद की आशा रखेगी ही और यदि उसकी आशा पूरी न होगी तो स्वभावतः क्षोभ होगा—अतः अच्छा यही होगा कि हम इस सूखी जवाबदेही को अपने ऊपर न लें, नहीं तो हमको जनता और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट दोनों के लात-जूते सहने पड़ेंगे और अगर वह न सहना पड़ा तो कम से कम दोनों की फटकार अवश्य खानी पड़ेगी—विशेषकर ऐसी दशा में जब हम काँग्रेसी लोग उस परिस्थिति को, जो आज कायम है और जो लड़ाई के कारण और भी जटिल हो जानेवाली है, सँभालने की शक्ति से वंचित रखे जा रहे हैं; और यदि किसी का यह विचार हो कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट सचमुच भारतवर्ष के साथ न्याय करना तथा उसे स्वतंत्र बना देना चाहती है, तो इसका सबूत उसकी कार्रवाइयों से मिल जायगा और यदि वह नहीं चाहती है तो काँग्रेस का हट जाना ही ठीक होगा।

वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी ने निश्चय कर लिया कि काँग्रेस के प्रश्नों का यदि सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिला तो उसे काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों को इस्तीफा देकर हट जाने के लिए मशविरा देना पड़ेगा। वर्धा में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक हुई। उसने वर्किंग कमिटी को अधिकार दे दिया कि इस बात का वह निर्णय करे और आवश्यकता पड़ने पर मंत्रिमण्डलों को इस्तीफा देने का आदेश दे। जब वाइसराय से बातचीत और गवर्नमेण्ट की घोषणा के बाद से वर्किंग कमिटी को सन्तोष नहीं हुआ तो उसने काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों को सूचना दे दी कि अपने-अपने प्रान्त की

धारा-सभाओं में वे देश की माँग का समर्थन करावें और उसके बाद इस्तीफा दे दें। उन्होंने ऐसा ही किया। १९३९ के नवम्बर में सभी सूबों के काँग्रेसी मंत्रिमण्डल टूट गये। काँग्रेस का बहुमत इतना था कि कोई दूसरा मंत्रिमण्डल बन नहीं सकता था; क्योंकि बनते ही उस पर अविश्वास प्रकट किया जा सकता था। साथ ही, शायद गवर्नर लोग और वाइसराय यही पसन्द करते थे कि इस प्रकार के मंत्रिमण्डल के बनिस्बत, जो कभी चूँ-चें ही कर सकते थे, किसी भी मंत्रिमण्डल का न रहना ही उनके लिए अच्छा होगा—उनको अपनी मनमानी करने का पूरा मौका रहेगा। इसलिए उन्होंने उन सभी सूबों में विधान की ९३वीं धारा के अनुसार अनुशासन अपने हाथों में ले लिया। अब केवल काम-काज चलाने का ही नहीं, नये कानून बनाने और पुराने को बदलने या रद करने का भी पूरा अधिकार गवर्नरों के हाथ में आ गया। लड़ाई आरंभ होते ही ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने १९३५ के विधान में एक दिन में संशोधन कर लिया था जिसका नतीजा यह होता था कि जब कभी वाइसराय चाहें, प्रान्तीय सरकारों के अधिकार अपने हाथों में कर सकते हैं अथवा उनसे अपनी आज्ञाओं का पालन करा सकते हैं। यह युद्ध की नाजुक परिस्थिति के नाम पर किया गया था, पर मतलब साफ था और जब मंत्रिमण्डलों ने इस्तीफा दे दिया तो उनका रास्ता और भी साफ हो गया।

कुछ लोग आज भी जोर देकर कहते हैं कि यदि मंत्रिमण्डल इस्तीफा न दिये होते और अपने स्थानों पर डटे रहते तो जो धाँधली और ज्यादतियाँ लड़ाई के नाम पर सूबों में हुई हैं और की गयी हैं वे नहीं होने पातीं। जो लोग इस तरह की बातें करते हैं वे विधान के इस संशोधन को भूल जाते हैं और यह भी भूल जाते हैं कि जहाँ मंत्रिमण्डल कायम रहे हैं वहाँ भी केन्द्रीय सरकार की धाँधली चली है—बंगाल का मंत्रिमण्डल इसका जीता-जागता सबूत है। वहाँ मंत्रिमण्डल बनाने और तोड़ने में गवर्नर ने पूरा हाथ बँटाया है। वहाँ की जनता लाखों की संख्या में दाना-दाना बगैर मरी है—मंत्रिमण्डल न उन कारणों को ही दूर कर सका जिनसे वहाँ का भयंकर दुर्भिक्ष पैदा हुआ और न अकाल पड़ जाने पर तब तक जनता की कुछ सहायता ही कर सका जब तक केन्द्रीय सरकार ने इसमें हाथ नहीं लगाया—सब तथा-कथित अधिकारों के रहते हुए भी न श्री फजलुल हक का और न सर नाजिमुद्दीन का मंत्रिमण्डल बंगाल को इस विपत्ति से बचा सका। इसी सिलसिले में पंजाब और सिन्ध के मंत्रिमण्डलों की बेकसी भी साफ साबित हो गयी। उनको केन्द्रीय गवर्नमेण्ट ने दबाकर उनसे महँगी और गल्ले के निर्यात के सम्बन्ध में कार्रवाई करायी। जब हम सूबा-सरकार के अधिकार के विषय में विचार करते हैं तो हमें इससे मतलब नहीं है कि वह सरकार सही काम कर रही थी या गलत। अगर अधिकार है तो सही करने का है और गलत करने का भी। गलत करने पर ही, अधिकार है या नहीं, ठीक पता चलता है। हो सकता है, जिन मामलों में केन्द्रीय सरकार ने उनको दबाया, उसने ठीक ही दबाया और वह गलत काम कर रही थी। पर इससे यह बात साबित

हुए बिना नहीं रह सकती कि प्रान्तीय सरकारों के अधिकार सीमित हैं और लड़ाई के आर्डिनेन्सों के जमाने में केन्द्रीय सरकार उनसे जो चाहे वह करा सकती है। याद रहे, ये मंत्रिमण्डल ब्रिटिश सरकार की मदद करने का दावा बराबर करते रहे हैं और मदद करते भी रहे हैं। तो भी केन्द्रीय सरकार ने उनको दबाने में हिचक नहीं दिखलायी। काँग्रेसी मंत्रिमण्डल अगर अपनी जगह पर रह गये होते और काँग्रेस का ब्रिटिश सरकार के साथ समझौता सन्तोषप्रद नहीं हुआ होता—जैसा नहीं हो सका—तो इसमें जरा भी सन्देह की गुंजाइश नहीं है कि उनको बहुतेरे ऐसे कामों के करने पर मजबूर किया जाता, जिनको न तो काँग्रेस और न वे स्वयं पसन्द करते। उनको मजबूर होकर कुछ दिनों में ही इस्तीफा देना पड़ता और नहीं तो गवर्नर के हाँ में हाँ मिलाकर अपने विचार और सिद्धान्तों के विरुद्ध उनकी फरमाँ-बरदारी करनी ही पड़ती।

उस निश्चय के प्रायः पाँच बरसों के बाद, जब ये पंक्तियाँ लिखी जा रही हैं, उन घटनाओं का और ब्रिटिश नीति का सिंहावलोकन करके हम एक ही नतीजे पर पहुँच सकते हैं और वह यह है कि साम्राज्यवाद की लड़ाई इँगलैंड लड़ रहा है, चाहे दूसरे जो समझते हों। उसका उद्देश्य है—श्री चर्चिल के शब्दों में, 'जो उसका है उसे अपने कब्जे में रखना'। इतना ही नहीं, ब्रिटिश साम्राज्य यदि जर्मनी को हराकर निष्कंटक, एकछत्र और अधिक जबरदस्त न बनाया जा सके, तो कम से कम इसको अपना स्थान योरप, एशिया और अफ्रिका में ज्यों का त्यों कायम रखना चाहिए। ऐसी अवस्था में भारत के लिए कौन-सी आशा हो सकती है? काँग्रेस के दिल में जो सन्देह १९३९ में था उसका समर्थन उसके बाद की सभी घटनाओं ने और ब्रिटिश राजनीतिज्ञों के शब्दजालों ने—विशेषकर श्री चर्चिल और श्री एमरी के कलाबाजी-भरे उद्गारों ने—स्पष्ट रूप से गला फाड़-फाड़कर किया है। इसलिए, मैंने उस समय भी समझा था, और आज तो यह धारणा और भी दृढ़ हो गई है, कि हम मंत्रिमण्डल में रहकर देश का हित करने में बिलकुल असमर्थ थे—हम अपने को देश के लिए केवल अनर्थ का साधन ही बना सकते थे।

इन धारणाओं के बावजूद मैं यह नहीं कह सकता कि मैं उन दिनों इँगलैंड की हार को पसन्द करता। चाहे जिन कारणों से हो, जर्मनी की जीत मंजूर नहीं थी। उसने चेकोस्लोवाकिया के साथ ज्यादती की थी, और ज्यादती की थी इसलिए कि वह उसके मुकाबले कमजोर देश था। जब जर्मनी ने उस देश के साथ ज्यादती की तब दूसरे लोग भी कुछ न कुछ लाभ उठाने के लोभ का संवरण न कर सके। उनमें हंगरी और पोलैंड मुख्य थे। इसलिए, जब जर्मनी ने उलटे पोलैंड पर भी ज्यादती शुरू कर दी तब मन में कुछ ऐसा भी भाव उठता था कि ठीक ही किया—पोलैंड को, 'जैसे को तैसा' मिला! फिर जब उसने हालैंड, बेलजियम, डेनमार्क और नार्वे पर भी चढ़ाई कर दी तो मेरे दिल पर इसका बहुत असर पड़ा। मुझे मालूम होने लगा कि किसी भी कमजोर देश को जर्मनी स्वतंत्र नहीं रहने देगा। अँगरेजों

के प्रति जो थोड़ा-सा गुस्सा था वह कम हो गया और मुझे ऐसा भान होने लगा कि हमको ब्रिटिश की मदद करनी चाहिए जिससे वह जर्मनी को हरा सके और इस अन्यायी शक्ति का दमन कर सके। यह भाव इतना प्रबल हो गया कि मैंने एक छोटे बयान में अपने उद्गार को प्रकाशित भी कर दिया। मेरा खयाल है कि बहुतेरे दूसरे काँग्रेसी लोगों के विचार भी इसी प्रकार के थे। हम ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की त्रुटियों और हिन्दुस्थान के प्रति उसके अन्यायों को याद रखते हुए भी जर्मनी की धाँधली से इतने स्तंभित हो गये कि ब्रिटिश साम्राज्य की करतूतों को प्राय: भूल-सा गये। इसलिए यह कहना—जैसा आज बहुतेरे अँगरेज और उनके पिट्ठू कह दिया करते हैं—कि काँग्रेस के लोग इँगलैंड की कमजोरी को महसूस करके अपने पुराने वैर का बदला लेना और उसकी विपत्ति से लाभ उठाना चाहते थे, बिलकुल असत्य है। बावजूद हजार शिकायतों के, लड़ाई के आरंभ के समय से १९४० की जुलाई तक—जब बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक में काँग्रेस की ओर से यह कहा गया कि अगर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट हिन्दुस्थान की भावी स्वतंत्रता की घोषणा कर दे और उसे शासन में तत्काल अधिकार दे दे तो भारत एकमत होकर लड़ाई में मदद करेगा—प्राय: किसी काँग्रेसी के दिल में ब्रिटिश सरकार के प्रति कटुता नहीं थी और उस समय तक सभी काँग्रेसी लोग ब्रिटेन की मदद करना अपना कर्त्तव्य ही मानते थे। हाँ, उस कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए अधिकार चाहते थे जिसके बिना जनता को उत्साहित करना संभव नहीं था।

जब बम्बई की उस बैठक के बाद, जिसके कारण गांधीजी को काँग्रेस से अपने को अलग कर लेना पड़ा था और उनको अलग करके भी वर्किंग कमिटी तथा अखिल भारतीय कमिटी ने लड़ाई में सक्रिय मदद की प्रतिज्ञा की थी, ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने उस प्रस्ताव को इतनी जल्दी में ठुकरा दिया, तब बहुतेरों के दिल में क्षोभ पैदा हुआ, और वह क्षोभ श्री एमरी तथा चर्चिल की बातों से दिन-दिन बढ़ता ही गया है। इसमें भी सन्देह नहीं कि जितने कम दाम पर इँगलैंड उस वक्त सौदा कर सकता था उतने पर शायद फिर कभी न कर सकेगा। हाँ, यह दूसरी बात है कि अपने पशुबल से वह भारतवर्ष को कुछ दिनों तक दबाये रखे। यदि उस समय समझौता हो गया होता तो शायद जापान को भी इस लड़ाई में कूदने के पहले कुछ और विचार कर लेना पड़ता। यदि जापान को यह विश्वास हो जाता कि हिन्दुस्थान ब्रिटिश सरकार के साथ हर तरह से, तन-मन-धन से, है तो उसकी हिम्मत पूर्व एशिया पर एकबारगी धावा बोलने की उस तरह नहीं होती जिस तरह हुई। यदि वह ऐसी हिम्मत करता भी तो कौन कह सकता है कि उसे उतनी सफलता मिलती जितनी मिली। हिन्दुस्थान की आजादी के साथ-साथ बरमा की स्वतन्त्रता का मसला भी तय हो गया होता। यदि बरमा की बात हो गयी होती तो मलाया और सिंगापुर की वह दशा न होती जो हुई। इसलिए, मैं मानता हूँ कि जितनी अदूरदर्शिता ब्रिटेन ने उस समय की उतनी शायद उसने अपने इतिहास में एक अवसर को छोड़कर और कभी नहीं की। वह अवसर था

जब उसने अमेरिका के उपनिवेशों की माँग अठारहवीं शताब्दी में ठुकराई थी। उसका नतीजा उसके लिए अच्छा नहीं हुआ, यद्यपि वह संसार के लिए शायद अच्छा ही हुआ। और, इसका नतीजा, कौन कह सकता है, क्या होगा? हो सकता है, इँगलैंड के लिए यह उससे भी बुरा हो जो अमेरिका में हुआ और संसार के लिए भी उससे अधिक लाभकर। अस्तु, यह तो भविष्य की बात है, संस्मरण की नहीं, और इसके लिए यह स्थान भी नहीं है। यहाँ तो इतना ही कह देना काफी है कि प्रचार के लिए चाहे काँग्रेस पर जो भी दोष लगाया जाय, सत्य का तकाजा यही रहेगा कि काँग्रेस ने हर कदम पर इस बात की कोशिश की है कि भारत प्रतिष्ठापूर्वक और सफलतापूर्वक अधिकार के साथ ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और प्रजातंत्रवादी देशों को सहायता देने के योग्य बना दिया जाय, लेकिन हर कदम पर उसको केवल नकारात्मक उत्तर ही नहीं मिला, हमेशा उसका तिरस्कार भी किया गया। अन्त में, ऊबकर उसे १९४२ के अगस्त का निश्चय करना पड़ा जिसका जिक्र आगे आवेगा।

लड़ाई आरम्भ हो जाने के बाद कुछ समय तक यह अनिश्चित-सा हो गया कि काँग्रेस का अधिवेशन होगा कि नहीं और होगा तो कब होगा। काँग्रेस का नियम फिर बदल गया था और निश्चय हो गया था कि दिसम्बर में ही सालाना बैठक हो। यह साफ हो गया कि अब दिसम्बर में बैठक नहीं होगी। पर थोड़े ही दिनों में यह भी साफ हो गया कि बैठक अवश्य करनी ही चाहिए। इसलिए, अब निश्चय हुआ कि मार्च में सालाना इजलास किया जाय। रामगढ़ में अब फिर जोरों से तैयारी होने लगी। मैं वहाँ बहुत समय नहीं दे सकता था; क्योंकि मुझ पर अखिल भारतीय कमिटी के काम का बोझ भी था। पर अब वहाँ केवल श्री अम्बिकाकान्त ही नहीं रह गये, मंत्रिमण्डल के इस्तीफा के बाद दूसरे लोग भी वहाँ जाने के लिए फुर्सत पा गये—विशेषकर अनुग्रह बाबू, श्री कृष्णवल्लभसहाय और श्री रामनारायणसिंह की सेवा भी उपलब्ध हो गयी। इसलिए मैं बहुत हद तक निश्चिन्त भी हो गया।

१३६—रामगढ़-काँग्रेस का बरसाती अधिवेशन

रामगढ़ में लकड़ी-बाँस की कमी नहीं थी। मजदूर भी काफी मिलते थे। इसलिए जंगल साफ करके झोपड़ी बनवाने का काम जोरों से जारी हो गया। पर श्री रामदास गुलारी अस्वस्थ हो गये। अब उनका वहाँ रहना कठिन हो गया। सौभाग्य से ठीक उसी समय विलायत से इंजीनियरी की उच्च परीक्षा पास करके श्री रामजीप्रसाद वर्मा वापस आ गये। यह लड़कपन से ही काँग्रेस के साथ थे। १९३० में जेल गये थे। वहाँ बेंत भी खाया था। पढ़ने में तेज थे, इसलिए कालेज के प्रिंसिपल ने उनको फिर इंजीनियरिंग कालेज में, जहाँ वह पहले पढ़ रहे थे, भरती कर लिया। वहाँ से अच्छी तरह से अन्तिम परीक्षा में उत्तीर्ण होकर इंजीनियर हो गये। कुछ दिनों तक, इधर-उधर कुछ पैसे कमाकर, अधिक शिक्षा के लिए इँगलैंड जाने का इनका विचार हुआ। वहाँ जाकर खूब अच्छी तरह से बड़ी-बड़ी परीक्षाएँ पास कर लीं। ठीक वहाँ से इनके

चलने के समय ही लड़ाई शुरू हो गयी। पर किसी तरह हिन्दुस्थान पहुँच गये। पहुँचते ही रामगढ़ के मुख्य इंजीनियर का काम इन्होंने सँभाल लिया। इसलिए जो चिन्ता और दिक्कत श्री गुलारीजी के चले जाने पर होती वह बहुत अंशों तक न होने पायी। रहने के लिए झोपड़े, खुले अधिवेशन के लिए पंडाल और विषय-निर्वाचिनी के लिए भी पंडाल बनवाने के अलावा प्रदर्शनी के लिए भी झोंपड़े बनवाने थे। पानी का प्रबन्ध करना था। रोशनी के लिए इंतजाम करना था। प्रत्येक का भार किसी न किसी पर दिया गया। पर निर्माण का सारा काम इन्जीनियरिंग-विभाग पर ही रहा। वह ठीक तरह से समय के अन्दर पूरा भी हो गया।

हमने जिस जगह को काँग्रेस के लिए चुना था वहाँ एक-दो छोटे-मोटे कुँएँ तो थे, पर इस योग्य नहीं थे कि जितने आदमी आवेंगे उतने में से शतांश के लिए भी पूरा पानी दे सकेंगे। दामोदर नदी के किनारे पर स्थान था, पर दामोदर उन दिनों प्रायः सूखा-सा रहता है—वही दामोदर जो बाढ़ आने पर भयंकर रूप धारण कर लेता है और बिहार से निकलकर बंगाल में, विशेषकर बर्दवान-जिले में, भारी विपत्ति और संकट का कारण बन जाता है। रामगढ़ में, जाड़े और गर्मियों में, एक पतली धारा द्वारा ही—जिसे आदमी बिना धोती भिगाये आसानी से पार कर सकता है—वह अपना अस्तित्व जताता रहता है। पर यद्यपि ऊपर की धारा पतली और छिछली रहती है तथापि बालू के नीचे जल की मात्रा काफी रहती है। यदि पानी निकालने और रोकने का प्रबन्ध किया जा सके तो वह स्रोत अटूट होता है। इसलिए यह निश्चय किया गया कि नदी से ही पानी निकालने का प्रबन्ध किया जाय। कुँएँ द्वारा भी शायद हो सकता था, पर पथरीली पहाड़ी जमीन होने के कारण यह निश्चय करना कठिन था कि वह कुँआ कहाँ खोदा जाय और खोदने पर भी उसमें काफी पानी मिलेगा। नदी में कुँआ खोदना आसान था और बहुत नजदीक पानी मिल जाता था। इसलिए नदी में कुँआ खोदकर पम्प लगाया गया। पानी साफ करने के लिए बड़ी-बड़ी टंकियाँ पक्की बनायी गयीं जिनमें एक समय एक लाख आदमियों के लिए दो या तीन दिनों तक के खर्च-भर काफी पानी रह सके। सारे 'नगर' में पाइप लगाकर पानी पहुँचाने का प्रबन्ध किया गया। इस प्रबन्ध के लिए गया-म्युनिसिपैलिटी और भागलपुर-म्युनिसिपैलिटी के पानी-कल के विशेषज्ञ इंजीनियरों ने बहुत परिश्रम से काम किया। पानी का प्रबन्ध ठीक हुआ। उसमें केवल एक त्रुटि रह गयी। वह यह थी कि कुँएँ नदी में थे और नदी में अचानक पानी आ जाने पर कुँएँ और पम्प दोनों बेकार हो जा सकते थे। पर यह कौन जानता था कि मार्च में इतनी वर्षा होगी कि दामोदर में बाढ़ आ जायगी!

पानी के खयाल से, और शोभा बढ़ाने के लिए भी, हमने एक और प्रबन्ध किया। जहाँ काँग्रेस-नगर बसा था उसके पास होकर एक छोटी नदी 'हुरहुरी' वहीं दामोदर में मिलती थी। इस नदी को हम लोगों ने पक्के बाँध से बाँध दिया। नतीजा यह हुआ कि एक ओर खूब तैरने लायक गहरा पानी जमा हो गया और दूसरी ओर

बाँध की ऊँचाई पर से जो पानी बहता वह एक छोटे जलप्रपात की शोभा के साथ-साथ नहानेवालों के लिए एक कौतूहल की वस्तु भी हो गया।

इरादा तो था कि गाँव की काँग्रेस में, जहाँ तक हो सके, गाँव की चीजों का ही इस्तेमाल किया जाय; पर ऐसा हो न सका। इस नियम का उल्लंघन सबसे पहले जल-कल द्वारा किया गया। अब रह गयी रोशनी की बात। इसके लिए या तो बिजली का प्रबन्ध किया जाता या किटसन-बत्तियों का। दोनों में से एक भी देहात की चीज नहीं थी। तेल की मशालों, पनसाखों और गेंदों से काम चलना कठिन मालूम हुआ। पर हमने यथासाध्य कोशिश की कि कोई ऐसा ही प्रबन्ध किया जाय। किन्तु न हो सका। अन्त में बिजली की शरण लेनी पड़ी। इसमें एक सुविधा भी अनायास और अचानक मिल गयी। गया-कॉटन-मिल्स के मालिकों ने ठीक उसी समय नया इंजिन और डाइनमो वगैरह मँगाया था। उन्होंने उन सब चीजों का बँधा-बँधाया और लदा-लदाया पार्सल गया में न खोलकर अपने इंजीनियर के साथ सीधे रामगढ़ भेज दिया! काम आसान हो गया। बिजली लग गयी।

प्रदर्शनी का काम कठिन हुआ करता है; क्योंकि उसमें बहुत चीजें जुटानी पड़ती हैं। चर्खा-संघ के मंत्री श्री लक्ष्मीनारायण ने इसका भार उठाया। उन्होंने अखिल भारतीय चर्खा-संघ तथा ग्रामोद्योग-संघ की सहायता से खासा इन्तजाम कर लिया। हाँ, उन्होंने सिद्धान्ततः प्रदर्शनी के अहाते के अन्दर बिजली नहीं जाने दी; क्योंकि प्रदर्शनी एकमात्र ग्रामोद्योग पर ही निर्भर थी।

कुछ मित्रों का विचार था कि आनेवाले प्रतिनिधियों के लिए बिहार का एक इतिहास हिन्दी में तैयार करा दिया जाय। मुझे यह बात पसन्द आयी। त्रिपुरी में भी इस प्रकार का इतिहास तैयार हुआ था। बिहार का इतिहास तो गौरवपूर्ण है। यह काम श्री जयचन्द्र विद्यालंकार के जिम्मे किया गया। उसके छापने का भार लहेरिया-सराय के श्री रामलोचनशरण बिहारी ने लिया। इतिहास छपकर तैयार हो गया। परन्तु जहाँ तक मुझे पता लगा है, वह बहुत बिका नहीं। तो भी एक चीज तैयार तो हो गयी है।

बिहार में कुछ होनहार चित्रकार तैयार हो रहे हैं। सबकी इच्छा हुई और मेरी भी राय हुई कि बिहार के इतिहास की कुछ गौरवपूर्ण घटनाएँ चित्रों द्वारा चित्रित कर दिखलायी जायँ। इस काम को वयोवृद्ध सिद्धहस्त कलाकार बाबू ईश्वरीप्रसाद वर्मा के नेतृत्व का लाभ मिला। वह कलकत्ता-आर्ट-स्कूल के वाइस प्रिन्सिपल थे। अब वह वहाँ से पेन्शन पाकर अपने जन्मस्थान पटने में रह रहे हैं। कुछ सुन्दर मौलिक चित्र बनाये और प्रदर्शनी में रखे गये। उनकी प्रतिलिपियाँ पुस्तकाकार प्रकाशित की गयीं जिसमें चित्रित दृश्यों का ऐतिहासिक विवरण दे दिया गया। यह पुस्तक लोगों को बहुत पसन्द आयी। चित्रों को लोगों ने बहुत चाव से देखा।

काँग्रेस का आयोजन बहुत बड़े पैमाने पर, जैसा हुआ करता है, किया गया। मौलाना अबुल कलाम आजाद प्रायः एकमत से सभापति चुने गये—प्रायः एकमत से

इसलिए कहा कि श्री मानवेन्द्रनाथ राय (एम० एन० राय) भी उमीदवार थे! पर उनको थोड़े ही वोट मिले। बहुत बड़ा बहुमत मौलाना के पक्ष में था।

काँग्रेस के अधिवेशन के कुछ पहले ही पटने में वर्किंग कमिटी की बैठक हसब-मामूल की गयी। यह बैठक इसलिए की जाती है कि काँग्रेस में उपस्थित करने के लिए कुछ प्रस्तावों का मसविदा पहले से तैयार कर लिया जाय ताकि ठीक काँग्रेस के समय इस काम में जल्दी न करनी पड़े। इस बैठक के बाद ही मैं रामगढ़ के लिए रवाना हो गया। मुझे लोगों ने स्वागत-समिति का अध्यक्ष चुन लिया था। वह भी कुछ अजीब ढंग से हो गया था। स्वागत-समिति के लोगों को ऐसा मालूम हुआ कि स्वागताध्यक्ष के चुनाव के लिए कई नाम पेश किये जा सकते हैं। यह बात लोगों को पसन्द नहीं थी; क्योंकि वे इस मामले में मतभेद का प्रदर्शन करना नहीं चाहते थे। किसी व्यक्ति-विशेष के सम्बन्ध में कुछ कहना उचित नहीं है, इसलिए मैं नाम नहीं देता हूँ। इस प्रकार के मतभेदों में कोई डरने की बात नहीं होनी चाहिए—विशेषकर स्वागताध्यक्ष की जिम्मेदारी केवल स्वागत और प्रबन्ध की होती है। काँग्रेस की नीति से उसका कोई, स्वागताध्यक्ष की हैसियत से, सम्बन्ध नहीं होता। तो भी कुछ लोगों की राय हुई कि मैं यदि इस पद को स्वीकार कर लूँ तो मतभेद नहीं होगा। मजबूरी मुझे मान लेना पड़ा। अस्तु, मैं पटने से मोटर पर रवाना हुआ। रास्ते में नालन्दा में उतर गया। वहाँ की खुदाई से निकली हुई इमारतों और म्युजियम में संग्रह की हुई चीजों के देखने का सुअवसर प्राप्त हो गया। मुझे खेद और लज्जा से कहना पड़ता है कि नालन्दा यद्यपि पटना-जिले में ही है जहाँ मैं रहा करता हूँ, मैंने इसके पूर्व उन इमारतों और सामग्रियों को नहीं देखा था। मुझे देखकर आश्चर्य ही नहीं हुआ, बिहार के अतीत गौरव के प्रति श्रद्धा और भी बढ़ गयी। नालन्दा से कुछ आगे बढ़कर रजौली-डाक-बँगला पर मैं दो दिनों के लिए ठहर गया। वहाँ ठहरने के दो कारण थे—एक तो कुछ आराम कर लेना जरूरी था, दूसरा था स्वागत का भाषण तैयार कर लेना। जगह भी अपने ढंग की अच्छी मिल गयी। थोड़ी ही दूर पर जंगल और पहाड़ उस स्थान की शोभा बढ़ाते हैं। हम लोगों के मित्र और पुराने काँग्रेसी श्री गौरीशंकरशरणसिंह का घर उसी गाँव में है। इसलिए बिना तरद्दुद और चिन्ता के वहाँ एकान्त में रहकर भाषण लिखने में सुविधा हुई। भाषण में मैंने बिहार के इतिहास का ही थोड़ा-सा सिंहावलोकन किया था। चलते प्रश्नों और मसलों के सुलझाने अथवा उन पर मत प्रकट करने का प्रयत्न मैंने जान-बूझकर छोड़ दिया था।

रामगढ़ पहुँचकर, तैयारी में जो कमी थी उसको पूरा कराने में ही दिन-रात लगा रहा। महात्माजी समय से पहुँच गये। उनको प्रदर्शनी का उद्घाटन करना था। इसलिए वह कुछ पहले ही आये। उनके पहुँचने के एक दिन पहले बहुत पानी बरस गया। कुछ आँधी भी आ गयी। प्रदर्शनी के काम में कुछ बाधा पड़ी। पर बात सँभाल ली गयी। महात्माजी ने समय पर उद्घाटन किया। आशा की जाती थी कि अब इस वर्षा के बाद आसमान साफ रहेगा और जो कुछ होना था, हो चुका। पर होनेवाला कुछ दूसरा ही था।

हुरहुरी और दामोदर के किनारे नेताओं के लिए झोपड़े बने थे जिनमें से एक में महात्माजी, दूसरे में सभापतिजी और अन्यान्य झोपड़ों में और-और लोग ठहराये जानेवाले थे। झोपड़ों की बनावट अच्छी और सुन्दर थी। बाँस की चटाई की दीवार, होगला की छाजन और साखू के खंभे। इसी तरह सभी झोपड़ों का निर्माण किया गया था—चाहे वह ठहरने के लिए हो अथवा प्रदर्शनी के लिए या कमिटी की बैठक के लिए। बीच में अच्छी चौड़ी सड़क बनायी गयी थी। बीच-बीच में आवश्यकतानुसार गलियाँ बनी थीं।

यह स्थान पटना-राँची के शाह-राह पर ही था। उस शाह-राह पर दामोदर नदी पर एक बड़ा पुल बना हुआ है। पुल और सड़क से नगर की शोभा खूब देखने में आती थी। सड़क बराबर चलती रहती है। उस समय तो और भी अधिक चालू थी। वहाँ रेल के दो स्टेशन हैं—एक बी० एन० आर० का स्टेशन रामगढ़ है, नगर से आधा मील दक्खिन; और दूसरा स्टेशन ई० आइ० आर० का राँची-रोड, जो वहाँ से प्रायः चार मील उत्तर था। दोनों रेलवे के अधिकारियों ने, भीड़ की सुविधा के लिए, स्टेशनों पर काफी प्रबन्ध किया था। महात्माजी रामगढ़-स्टेशन पर उतरे और सभापतिजी राँची-रोड स्टेशन पर। बड़े जलूस के साथ सभापति कांग्रेस-नगर में पहुँचाये गये। नगर का नाम स्वर्गीय मजहरुलहक साहब के नाम पर रखा गया था। एक विशेष फाटक स्वर्गीय दीपनारायणसिंह के नाम पर था।

जैसा मामूल है, अखिल भारतीय कमिटी और विषयनिर्वाचिनी की बैठकें दो-तीन दिन पहले ही आरम्भ हुईं। उन्होंने अपना काम प्रायः कांग्रेस के खुले अधिवेशन के दिन तक पूरा कर लिया था। जन-समूह वहाँ एकत्र हो गया था। पंडाल बहुत सुन्दर बना था। उसको प्रकृति ने ही सुन्दर बनाया था। हमारा काम तो था स्थान चुनकर जमीन बराबर करा देना, नेताओं का मंच अर्थात् प्लाटफार्म बनवा देना, रोशनी लगा देना और चारों ओर घेरा बनवा देना। पंडाल के पास में ही घनघोर जंगल प्रायः दो तरफ था। जंगल था पहाड़ पर, इसलिए वहाँ से दो ओर सुन्दर उठते हुए पहाड़ और जंगल, जहाँ तक आँखें जा सकती थीं, नजर आते थे। दूसरी ओर कांग्रेस के प्रतिनिधियों के निवास-स्थान आदि दूर तक फैले हुए थे जो रात के समय रोशनी से जगमग-जगमग करने लगते। प्लाटफार्म सबमें नीचे था और प्रतिनिधियों तथा दर्शकों के बैठने की जगह प्राकृतिक गैलरी-जैसी बनी थी। चाहे कोई भी दर्शक कितनी ही दूरी पर क्यों न हो, वह मंच पर बैठे सभापति तथा दूसरे नेताओं को ठीक देख सकता था। लाउड स्पीकर के कारण उनकी बातें सुनने में कोई कठिनाई तो थी ही नहीं।

कांग्रेस के अधिवेशन का दिन आ गया। दर्शकों के टिकट धड़ाधड़ बिक रहे थे। शायद घंटे में ६-७ हजार या इससे भी अधिक आमदनी हो रही थी। अधिवेशन संध्या-समय ५ या ६ बजे से होनेवाला था। मैं सभापतिजी को लाने के लिए चला गया। पंडाल के अहाते में एक सायादार झोपड़ा कुछ दूर पर बना था जहाँ से मामूल के

अनुसार मुख्य नेताओं को सभापति के साथ जलूस बनाकर ले जाने का प्रबन्ध था। कुछ लोग वहाँ तक पहुँच गये, कुछ लोग आ ही रहे थे कि इतने में अचानक आकाश के एक कोने में बादल उमड़ आया और पानी बरसना आरम्भ हो गया! सभापतिजी उस झोपड़े तक पहुँच गये थे, पर अभी जलूस नहीं निकला था। पानी पड़ने लगा। चन्द मिनटों के अन्दर इतने जोर की मूसलधार वर्षा होने लगी कि वह नीची जमीन पानी से भर गयी। सभी दर्शक और प्रतिनिधि अपने-अपने स्थान पर बैठे रहे—भींगते रहे—इस आशा से कि अब पानी रुक जायगा और अधिवेशन हो सकेगा। पर ऐसा नहीं हुआ। वर्षा का जोर बढ़ता ही गया। अन्त में मंच के पास नीची जमीन में इतना पानी भर गया कि वहाँ लोगों का खड़ा रहना भी कठिन हो गया। लाउड स्पीकर का सारा प्रबन्ध उसी स्थान पर था। इसलिए वह बिल्कुल बेकार हो गया। अन्त में उसी वर्षा में सभापतिजी मंच पर गये। मैं भी साथ गया। मैंने दो-चार शब्दों में स्वागत कर दिया—भाषण पढ़ने का न कोई मौका ही था और न कोई उसे सुन ही सकता। सभापतिजी ने भी दो-चार शब्द कहकर उस दिन का अधिवेशन समाप्त कर दिया। जिन लोगों ने महीनों से दिन-रात परिश्रम करके इस शुभ दिन की तैयारी की थी वे लोग बहुत निराश हुए, पर करना क्या था, अब तो देखना यह था कि प्रतिनिधियों के रहने के स्थान का क्या हाल है। यह सन्तोष का विषय है कि झोपड़े इस मूसलधार पानी को भी बर्दाश्त कर गये। प्रतिनिधि उनमें रात को पानी बरसते रहने पर भी सो सके। उनको कष्ट तो अवश्य हुआ, पर मैं समझता हूँ कि हम लोगों के साथ सबकी सहानुभूति रही, किसी को हमसे या हमारे प्रबन्ध की त्रुटियों से रंज नहीं हुआ।

दूसरे दिन पानी नहीं बरसा, यद्यपि कुछ फूहाफूही होती रही। झंडा-अभिवादन के लिए खुले मैदान में एक स्तंभ बनाया गया था जो पक्का सिमेण्ट का था। उसके सिरे पर अशोक-स्तंभ की तरह सिंहों की मूर्ति थी। उसी स्तंभ के चारों तरफ लोग जमा हो गये। काँग्रेस का अधिवेशन वहीं किया गया। पंडाल में तो पानी जमा होने के कारण बैठना या खड़ा रहना भी असम्भव था। इस खुले मैदान में स्तंभ के चबूतरे पर सभापति, महात्माजी तथा कुछ दूसरे मुख्य लोग बैठे और सब लोग चारों ओर जमीन पर बैठ गये। जो प्रस्ताव विषय-निर्वाचिनी ने उपस्थित किये थे, बाजाब्ता उपस्थित किये गये। पूरी बहस के बाद वे स्वीकृत हुए। जो कुछ बाजाब्ता अधिवेशन में होता वह सब किया गया, पर कुछ कम पैमाने पर; क्योंकि हमेशा आसमान का डर बना रहता था कि कहीं फिर पानी न बरसने लगे। महात्माजी का भी भाषण हुआ। अन्त में मैंने सब लोगों से असुविधाओं के लिए माफी माँगते हुए निवेदन किया कि लोग अब अपने-अपने स्थान को चले जायँ; क्योंकि नदी में पानी आ जाने के कारण हमारा पानी-कल का प्रबन्ध बेकार हो गया था, लोगों को अब नदी के गँदले पानी पर भरोसा करना पड़ेगा, हमारे खजाने में २४ घंटे से अधिक के लिए अब पानी नहीं रह गया था! लोगों ने बात मान ली। अधिवेशन समाप्त होते ही लोग जहाँ-तहाँ

के लिए रवाना होने लगे। उसी दिन, रात की गाड़ी से, सभापतिजी तथा दूसरे मुख्य-मुख्य नेता भी जहाँ-तहाँ चले गये।

रामगढ़-काँग्रेस का निश्चय भी महत्त्व रखता है। लड़ाई के आरम्भ से जो नीति वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी ने काँग्रेस की ओर से बरती थी उसका समर्थन काँग्रेस ने कर दिया। साथ ही, यह भी साफ-साफ बता दिया कि भविष्य में स्वराज्य के लिए हमें कुछ करना पड़ेगा, उसके लिए अभी से रचनात्मक कार्यक्रम को जोरों से चलाकर लोगों को तैयार किया जाय।

रामगढ़-काँग्रेस के समय रामगढ़ में ही एक दूसरी बड़ी सभा भी हुई। उसका नाम था समझौता-विरोधी-सभा (anti-compromise conference) उसके मुखिया थे श्री सुभाषचन्द्र बोस। इस सूबे के प्रबन्धकों में मुख्य थे श्री स्वामी सहजानन्द सरस्वती और श्री धनराज शर्मा। जब से सुभाष बाबू से मतभेद हो गया था, उन्होंने एक दूसरा नया दल कायम किया था, जिसका उल्लेख पहले हो चुका है। वे लोग काँग्रेस-कार्यकारिणी-समिति के विरुद्ध यही प्रचार कर रहे थे कि वह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ समझौता करने पर तुली हुई है और देश का अहित करके भी समझौता कर लेगी। इस दल में बहुत प्रकार के लोग शरीक थे जिनमें कुछ ऐसे लोग भी थे जो सुभाष बाबू के मत और विचारों से कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे, पर जो कार्यकारिणी से रुष्ट थे और यह अच्छा मौका देखकर उसके विरोध में लग गये थे। काँग्रेस न समझौते से कुछ डरती थी और न उसके लिए देश का अहित करना चाहती थी। यदि उसमें किसी प्रकार की उत्सुकता थी तो सिर्फ इतनी ही कि देश का हित हो। पर उस समय इस 'स्लोगन' को खूब चलाया गया। वह कान्फ्रेन्स भी अच्छे समारोह से हुई। उसमें और काँग्रेस के अधिवेशन में यह अन्तर रहा कि उसका अधिवेशन, काँग्रेस के पहले होने के कारण, वर्षा शुरू होने के पहले ही समाप्त हो चुका था।

१३७—बिहार की तीन महत्त्वपूर्ण कमिटियाँ और सोनपुर-शिविर

रामगढ़ के निश्चय के अनुसार हम लोगों को रचनात्मक काम पर जोर देना जरूरी था। इसलिए वहाँ का काम समाप्त होते ही हमने सोच लिया कि अपने सूबे में इसका प्रबन्ध करना चाहिए—महात्माजी के आदेशानुसार हमारे सभी स्वयंसेवकों को चर्खा चलाने इत्यादि की शिक्षा ले लेनी चाहिए और संगठित जीवन बिताने का भी पाठ सीख लेना चाहिए। इसलिए हमने निश्चय कर लिया कि एक शिविर खोला जाय जिसमें प्रान्तभर से प्रमुख लोग आकर एक साथ कम से कम एक सप्ताह रहें। जो चर्खा चलाना इत्यादि पूरी तरह न जानते हों उनको इसकी शिक्षा मिल जाय और प्रतिदिन विचारविमर्श करके अपने विचार भी सुस्पष्ट तथा दृढ़ बना लिये जायँ, और साथ ही, शिविर-जीवन से जो ऐक्य और समता का सबक मिलता है वह भी ले लिया जाय। इसके लिए स्थान हमने सोनपुर चुन लिया। तिथि मुकर्रर कर दी गयी जिस दिन वहाँ शिविर खोला जायगा। वहाँ के लोगों को इससे सन्तोष भी हुआ; क्योंकि

वे काँग्रेस के पहले ही आशा करते थे कि अधिवेशन यहीं होगा। वह तो न हुआ; पर शिविर से ही उनको कुछ सन्तोष मिल गया।

मैं समझ गया था कि हो न हो कुछ न कुछ करना ही पड़ेगा। इसलिए अपने हाथ के कामों को जल्द से जल्द समाप्त करके छुट्टी पा लेना आवश्यक समझता था। काँग्रेस-मंत्रिमण्डल ने तीन भारी कामों में मुझे लगा दिया था। बिहार-मजदूर-जाँच-कमिटी मुकर्रर करके उसके जिम्मे बिहार के मजदूरों की हालत जाँचने और तत्सम्बन्धी सिफारिशें करने का भार सपुर्द कर दिया था। मैं ही उसका प्रमुख था। शिक्षामंत्री डाक्टर महमूद के बहुत जोर लगाने से पटना-युनिवर्सिटी में फिर सिनेट का सदस्य होना पड़ा जिससे मैं १९३० के नवम्बर से ही अलग हो गया था। इसका कुछ जिक्र पहले भी आ चुका है। सिनेट में शिक्षा-सुधार-सम्बन्धी प्रस्ताव उपस्थित करते समय वर्तमान शिक्षा-प्रणाली की तीव्र आलोचना करते हुए मैंने बताया था कि इस सूबे में विशेषकर शिक्षा में हम हर तरह से पीछे हैं---कुछ कानूनदाँ और क्लर्की-पेशावालों तथा डाक्टरों को छोड़कर हम और किसी तरह के लोगों को तैयार नहीं कर रहे हैं और न किसी विषय में कोई नयी खोज करके अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता का ही परिचय देते हैं---कृषिप्रधान प्रदेश होने पर भी यहाँ वनस्पति-शास्त्र की पढ़ाई और कृषि-सम्बन्धी शिक्षा की कोई प्रधानता अथवा व्यवस्था नहीं है---खनिज पदार्थों में भारतवर्ष में सबसे अधिक धनी होने पर भी इस सूबे के लोगों को न तो तत्सम्बन्धी शिक्षा की कोई विशेष सुविधा प्राप्त है और न उन पदार्थों से लाभ उठाने की कोई प्रेरणा ही दी जाती है। खैर, प्रस्ताव पास हुआ और सरकार ने एक कमिटी भी बना दी जिसका पूरा विवरण पहले दिया जा चुका है। एक तीसरी हिन्दुस्तानी-कमिटी भी मेरे सभापतित्व में थी, पर जिससे मैंने अपने हाथ में बहुत काम होने के कारण इस्तीफा दे दिया था और मौलाना अबुल कलाम आजाद उसके सभापति बनाये गये थे। इसकी भी चर्चा पहले हो चुकी है। इन तीनों कमिटियों के काम को पूरा कर देना जरूरी था। शिक्षा-समिति के प्रमुख बम्बई के अर्थशास्त्री और शिक्षाशास्त्री श्री के० टी० शाह महाशय बहुत ही परिश्रमी और विचारशील पुरुष हैं और उन्होंने ही उसके काम को सँभाला, यद्यपि मुझे भी काफी परिश्रम करना पड़ा; पर उनके तथा दूसरे सदस्यों के सहयोग से परिश्रम बँट जाने के कारण मैंने उतना अधिक महसूस नहीं किया। शिक्षा-कमिटी की रिपोर्ट तीन भागों में तैयार की गयी। पहले भाग में प्रारंभिक शिक्षा के सम्बन्ध में सिफारिशें की गयीं। हमारी मुख्य सिफारिश वर्धा की शिक्षा-योजना से मिलती-जुलती थी---या यों कहें कि वर्धा-योजना की नींव पर ही बनी थी तो अतिशयोक्ति न होगी। ऐसा होना स्वाभाविक भी था; क्योंकि चाहे वर्धायोजना गांधीजी के अपने मस्तिष्क की उपज ही क्यों न हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि आधुनिक प्रगतिशील शिक्षाशास्त्र उसी का समर्थन करता है। शिक्षा-शास्त्रियों में डाक्टर जाकिरहुसेन, प्रोफेसर सैयदैन और स्वयं श्री के० टी० शाह उसके मुख्य सिद्धान्त के हामी थे; और जब योरप तथा अमेरिका के शिक्षाशास्त्री भी उसी सिद्धान्त के समर्थक हैं तो कोई

कारण नहीं था कि कमिटी के दूसरे सदस्य उसे मंजूर न करें। मुझे यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई कि गांधीजी की यह योजना इस प्रकार सबके द्वारा समर्थित हो सकी। केवल एक विषय में मेरा मतभेद रहा। मैं गांधीजी के साथ इस बात को भी मानता था कि भारत-जैसे गरीब देश में विद्यार्थियों के हुनर और कला से जो कुछ स्कूलों में हम पैदा कर सकेंगे वह इतना काफी होगा कि उसकी आमदनी से ही पूरा नहीं तो अधिकांश खर्च निकल आवेगा। दूसरे सदस्य इतना मानने को तैयार नहीं थे। कुछ का तो यह भी विचार था कि यदि हम आमदनी पर नजर रखेंगे तो उन कलाओं की ओर से ध्यान खिंचकर आमदनी पर ही केन्द्रित हो जायगा और शिक्षा से बच्चों को यथोचित लाभ नहीं पहुँच सकेगा। जो हो, इस सम्बन्ध के मतभेद को भी हमने इस तरह मिटा दिया कि यद्यपि आमदनी की उपेक्षा नहीं की जा सकती तथापि वह हमारा उद्देश्य नहीं है---हुनरों का सीखना शिक्षा के लिए ही होगा न कि आमदनी के लिए। दूसरा भाग स्कूली शिक्षा से सम्बन्ध रखता था और तीसरा युनिवर्सिटी की ऊँची शिक्षा के साथ। तीनों भागों को तैयार करने के लिए अलग-अलग उपसमितियाँ बना दी गयी थीं, जिनमें से प्राथमिक शिक्षा और युनिवर्सिटी की शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली उपसमितियों का सदस्य मैं था। उपसमितियों की रिपोर्ट पूरी कमिटी के सामने पेश होकर मंजूर की जाने पर गवर्नमेण्ट के पास भेज दी गयी।

श्री शाह से मेरी पहले की अधिक मुलाकात नहीं थी। इसी सिलसिले में उनको अधिक जानने का सौभाग्य हुआ। उनकी विद्वत्ता, परिश्रमशीलता और सौहार्द से तबीयत खुश हो गयी। मैं समझता हूँ कि उनसे जो मानसिक मित्रता हो गयी वह जरूरत पड़ने पर काम देगी। इसी प्रकार डाक्टर जाकिर हुसैन और प्रोफेसर सैयदैन से, विशेषकर प्रोफेसर सैयदैन से, इसी विषय को लेकर अधिक मुलाकात हुई। डाक्टर जाकिर हुसैन से मिलने के और भी मौके मिलते रहे हैं। इन दोनों के प्रति भी प्रेम और प्रतिष्ठा के भाव उत्पन्न हो गये। डाक्टर सच्चिदानन्दसिंह के सम्बन्ध में कुछ कहना मुश्किल है। वह मेरे विद्यार्थी-जीवन के समय से ही मेरे अभिभावक की तरह रहे हैं। उन्होंने मुझे हमेशा छोटे भाई-सा प्यार किया और स्नेह दिया है। राजनीतिक विषयों में हजार मतभेद होने पर भी उनकी इस स्नेहमयी कृपा में कुछ भी अन्तर मैंने नहीं आने दिया है। इस कमिटी में एक साथ काम करने से भी हम दोनों में इससे और अधिक क्या हो सकता था। वही बात श्री बदरीनाथ वर्मा के साथ भी है। यदि डा० सिंह बड़े भाई की तरह रहे हैं तो श्री वर्मा छोटे भाई की तरह। उनसे राजनीतिक प्रश्न पर भी कोई मतभेद नहीं हुआ है। उनसे भी केवल इसी कार्य के कारण कोई विशेष परिचय की बात नहीं थी। डा० अमरनाथ झा से इस कमिटी में कम ही काम पड़ा। कमिटी के मंत्री श्री भवनाथ मुखर्जी मेरे पुराने परिचित सज्जन थे। जब मैं कुछ दिनों के लिए मुजफ्फरपुर के भूमिहार-ब्राह्मण-कालेज में अध्यापक था वह तब वहाँ विद्यार्थी थे। मैंने भी कुछ उनको पढ़ाया था। वह अब शिक्षाशास्त्री हो गये हैं और इस विभाग में ऊँचे पद पर हैं; पर अब भी

वह मेरे प्रति वही भाव रखते हैं, जिसका बहुत परिचय कमिटी के कामों में मिला। इस कमिटी का काम तो समाप्त हो गया।

मजदूर-जाँच-कमिटी का काम अभी पूरा नहीं हुआ था। इसके सम्बन्ध में कमिटी के सदस्यों को प्रायः उन सभी जगहों में जाना पड़ा था जहाँ बड़े-बड़े कारखाने हैं और जहाँ बहुत मजदूर काम करते हैं। यदि विचार करके देखा जाय तो मालूम होगा कि जितने प्रकार के और जिस पैमाने पर रंग-विरंग के काम इस सूबे में मजदूर करते हैं उतने शायद ही किसी दूसरे प्रान्त में करते हों। खेतिहर मजदूर की बात अलग है—वे इस कमिटी के बाहर रखे गये थे—इसको केवल कारखानों के मजदूरों की हालत जाँच करने का अधिकार दिया गया था। पर कारखाने भी अनेक प्रकार के हैं। उत्तर-बिहार में ऊख से चीनी बनाने के कारखाने अधिक हैं। दूसरे प्रकार के कारखाने विशेषकर शहर में या उसके आस-पास रहते हैं अथवा मजदूरों के जमाव के कारण स्वयं शहर बना लेते हैं जो कारखानों के साथ-साथ बढ़ते और उन्नति करते जाते हैं; क्योंकि देखादेखी और सुविधाओं की उपलब्धि के कारण एक बड़े कारखाने के खुलते ही अनेकानेक कारखाने उस स्थान पर खुल जाते हैं। किन्तु ऊख के कारखाने इसके ठीक विपरीत अलग-अलग गाँवों में होते हैं; क्योंकि उनको ऊख से काम चलाना पड़ता है और वह छोटे दायरे में पैदा नहीं की जा सकती है और न बहुत दूर से लायी जा सकती है। इसलिए कारखाने को कच्चे माल के पास जाना पड़ता है अर्थात् ऐसे स्थान में कारखाना कायम करना पड़ता है जहाँ कच्चा माल पैदा हो सकता है; क्योंकि वह बहुत दिन ठहर नहीं सकता और बहुत दूर से ढोकर लाया नहीं जा सकता। कारखाना भी साल-भर नहीं चलता, प्रायः ४-५ महीनों तक ही चलता है। गाँव में कारखाना होने के कारण अधिकतर मजदूर अपने गाँवों से आकर ही काम करते हैं और छुट्टी के समय अपने घर चले जाते हैं। यह हुई एक किस्म। दूसरी किस्म बिहार की कोयला-खानों में पायी जाती है। वहाँ का काम साल-भर चलता है। बहुतेरे मजदूर कुछ दूर से आकर खानों के नजदीक ही झोंपड़ों में रहते हैं, जो उनके निमित्त खानों के मालिक बनवाते हैं। यह काम भी कुछ फैला हुआ है, यद्यपि यह फैलाव ऊख की खेती के मुकाबिले नहीं के बराबर है। तीसरी किस्म जमशेदपुर के बड़े कारखाने में पायी जाती है। इसमें प्रायः सभी प्रान्तों के लोग काम करते हैं जो वहीं रहते हैं। वहाँ उनकी सुविधा के लिए कम्पनी की ओर से प्रबन्ध है। प्रान्त के दूसरे हिस्सों में कुछ और भी कारखाने हैं जो तरह-तरह की चीजें बनाते हैं। जैसे—लोहा और लाह के, कपड़ा और पाट बुनने के, चावल और तेल के इत्यादि। अबरख की खानें और कारखाने भी बहुत हैं। दूसरी धातुओं की खानें भी हैं। इन सब प्रकार के कारखानों के मजदूरों की हालत जानने और जाँचने के लिए सभी प्रकार के कारखानों और खानों को कमिटी के सदस्यों ने जाकर देखा। मजदूरों और पूँजीपतियों की बातें सुनीं तथा उनके बयान लिये। मैं ऊख के और कुछ दूसरे प्रकार के कारखानों को छोड़कर प्रायः सभी जगहों में कमिटी के साथ-

साथ गया। बयानों और इजहारों के लेने में शरीक रहा। यह काम खत्म करके रिपोर्ट-सम्बन्धी बहुत बातें भी हो चुकी थीं। रिपोर्ट लिखने का भार कमिटी के मंत्री प्रोफेसर राजेन्द्रकिशोरशरण को दिया गया था। उन्होंने उसे तैयार किया था; पर उस पर कमिटी ने बैठकर अभी तक विचार नहीं किया था। रामगढ़-कांग्रेस समाप्त होते ही इस काम को पूरा कर देने का निश्चय मैंने कर लिया था। इसलिए कमिटी की बैठक कांग्रेस के अधिवेशन के तीन-चार दिन बाद ही मुकर्रर कर दी गयी थी। रामगढ़ से मैं पटने आया और इस कमिटी के काम में लग गया।

कमिटी की बैठक प्रायः चौहद-पन्द्रह दिनों तक चलती रही। सवेरे ७॥ बजे से १ बजे तक और फिर २॥ बजे से संध्या ७–८ बजे तक प्रतिदिन हम बैठते। इसके अलावा रात को अथवा सवेरे और दोपहर को जो थोड़ा समय मिल जाता उसमें अकेले तत्सम्बन्धी अध्ययन करते। इस सिरतोड़ परिश्रम के बाद रिपोर्ट मंजूर हुई। मुझे इस बात से बहुत प्रसन्नता हुई कि रिपोर्ट की सभी बड़ी सिफारिशें सर्व-सम्मति से हुईं। कुछ छोटी-मोटी बातों में चाहे थोड़ा-बहुत मतभेद रहा हो, पर रिपोर्ट एक स्वर से पास हुई। इसका महत्त्व इस कारण से बढ़ जाता है कि उसमें पूँजीपतियों के प्रतिनिधि भी थे और मजदूर-संघों के भी। कुछ लोग तटस्थ समझे जानेवाले भी थे। तीनों का मतैक्य यह बतलाता है कि हम सब इस पर तुले हुए थे कि हम ऐसी ही सिफारिशें करें जिनको एक तरफ से मजदूर और दूसरी तरफ से कार-खानों के मालिक एकबारगी अयोग्य अथवा असंभव समझकर नामंजूर न कर दें। इसमें सब ने पूरी मदद की। सबकी सदिच्छा और सद्भावना का ही फल यह मतैक्य हुआ। हम जानते थे कि लड़ाई के कारण स्थिति में बहुत परिवर्तन हो सकता है और यद्यपि अभी उस समय तक (१९४० के अप्रैल तक) भारत में कोई उतना बड़ा आर्थिक परिवर्तन देखने में नहीं आता था, पर इसकी संभावना आँखों से ओझल नहीं थी। इसलिए हम जानते थे कि शायद ही हमारी सिफारिशें पूरी तरह काम में लायी जायँ, तो भी हमने अपना कर्त्तव्य पूरा किया। हमने सोचा कि जो मसाला हमने तैयार किया है, जो जानकारी हासिल की है, वह इस विषय पर विचार करनेवालों के लिए काम की अवश्य होगी और यदि कांग्रेस को फिर अधिकार मिल सकेगा तो वह जरूर कुछ न कुछ करेगी। हमारी उमीदें पूरी नहीं हुईं। जहाँ तक मैं जानता हूँ, कमिटी की सिफारिशें दफ्तर में ही रह गयी हैं; उन पर कोई काम नहीं किया गया। हमने मजदूर-विभाग की स्थापना की सिफारिश की थी। सुना कि इस विषय में कुछ किया जा रहा है, पर वह भी शायद अधूरा और नाम के वास्ते ही। मजदूरों की सुविधा-सम्बन्धी एक भी सिफारिश शायद काम में नहीं लायी गयी। गवर्नमेण्ट इस विषय को शायद कुछ महत्त्व नहीं देती। इस कमिटी के मेम्बरों में श्री हेमैन पहले से मुझसे बिलकुल अपरिचित थे। उन्होंने रेलवे-बोर्ड में काम करके, अवसर प्राप्त कर, ताता-कम्पनी के हिसाब-विभाग के प्रधान निरीक्षक का काम उठाया था। इस तरह वह उस बड़े कारखाने के मुख्य लोगों में एक थे। कमिटी में मैंने देखा कि उनकी

परिश्रम-शक्ति अद्‌भुत है और उनके विचार भी प्रगतिशील हैं। यदि वह और श्री एम० बी० गांधी, जो पूँजीपतियों के प्रतिनिधि-स्वरूप थे, साथ न देते तो मतैक्य नहीं होता। उसी तरह प्रो० अब्दुल बारी यदि मजदूरों की ओर से हमारी बात को नहीं मानते तो भी मतैक्य दुर्लभ हो जाता। इसलिए इन लोगों के प्रति विशेष कृतज्ञता का कारण है। अन्य लोगों में भी श्री राधाकमल मुखर्जी और श्री राजेन्द्रकिशोर ने अपनी विद्या और अपने अध्ययन से कमिटी की रिपोर्ट में बहुत मदद पहुँचायी। इनके अलावा श्री वाखले के बम्बई के मजदूर-संघ के अनुभवों का और श्री जगत-नारायणलाल तथा श्री हरेन्द्र बहादुरचन्द्र के बिहार-सम्बन्धी ज्ञान से लाभ उठाकर कमिटी ने रिपोर्ट तैयार की थी।

इस प्रसंग में एक दुःखद घटना हो गयी। कमिटी की रिपोर्ट तैयार होने के थोड़े ही दिनों बाद प्रोफेसर राजेन्द्रकिशोर का अचानक देहान्त हो गया। उनको पेट की बीमारी पहले ही से थी। हम जानते थे कि वह बहुत तकलीफ सहा करते हैं। कमिटी के काम में उनको काफी परिश्रम करना पड़ा था। उस काम को बहुत योग्यता और उत्साह से उन्होंने किया था। बीमारी बढ़ जाने के कारण वह चिकित्सा के लिए बम्बई गये। सुना कि वहीं पेट चीरा गया और उसके बाद वह जाते रहे। मुझे यह बात रह-रहकर पीड़ा पहुँचाती है कि शायद कमिटी के परिश्रम ने ही बिहार के एक होनहार, योग्य और उत्साही विद्वान् को हमसे इतना जल्द अकाल में ही अलग कर दिया!

तीसरी कमिटी थी हिन्दुस्तानी-कमिटी जिसका काम लम्बा था; क्योंकि वह एक पारिभाषिक शब्दों का कोष, और दूसरा ऐसे शब्दों का कोष जो हिन्दी और उर्दू दोनों में ग्राह्य हैं, तैयार करने में लगी थी। इसके अलावा ऊँचे दर्जों की पाठ्य-पुस्तकें तैयार कराने और हिन्दुस्थानी का व्याकरण बनाने का काम भी उसने अपने हाथों में लिया था। यह सब अलग-अलग उपसमितियों को सौंपा गया था और उस समय तक पूरा नहीं हो सका था। यह काम १९४३ में जाकर समाप्त हुआ। १९४२ के अगस्त से ही जेल में रहने के कारण मैं कमिटी के कामों में शरीक न हो सका। प्राय: उस प्राथमिक कार्य के सिवा, जिसको उपसमितियों की नियुक्ति के सम्बन्ध में करना पड़ा था, और किसी महत्त्व के काम में मैं भाग न ले सका। महत्त्व के काम थे दोनों कोषों और व्याकरण की तैयारी। मैं इनमें से किसी एक को भी न देख सका। इस हिन्दुस्तानी कमिटी के सम्बन्ध में हमारे प्रान्त में और उसके बाहर भी बहुत तरह की बातें हुई और की गयीं। हिन्दीवालों ने इसको हिन्दी का विरोधी समझा और पीछे उर्दूवालों ने भी उनका अनुसरण किया। मैं इस बात को नहीं मान सकता कि मैं हिन्दी का विरोधी हूँ और उसका अहित करना चाहता हूँ। इसी तरह उर्दूवाले भी डा० अब्दुल हक को उर्दू का विरोधी किसी तरह नहीं कह सकते; क्योंकि वह उर्दू के केवल बड़े हामी ही नहीं हैं, उन्होंने उसकी बहुत सेवा भी की है और आज भी कर रहे हैं—एक प्रकार से वह उर्दू-सम्बन्धी सभी आन्दोलनों के प्रमुख कहे जा सकते

हैं। तो भी दोनों पक्षों के लोगों ने कमिटी का विरोध किया। विरोध की कोई शिकायत नहीं, पर इस बात की शिकायत जरूर है कि बहुत बातें अनर्गल और बेबुनियाद कही गयीं और उन निर्मूल बातों से जनता में बुद्धि-भेद पैदा किया गया। जो हो, उसका काम भी समाप्त हो गया है। मालूम नहीं, जो कोष और व्याकरण बने उनके सम्बन्ध में लोकमत क्या कहेगा। मैं यह भी नहीं कह सकता कि मैं खुद ही क्या कहूँगा; क्योंकि उनको देखने का अभी तक मौका नहीं मिला है।

मजदूर-जाँच-कमिटी का काम समाप्त करके मैं सीधे वर्धा चला गया जहाँ वर्किंग कमिटी की बैठक होनेवाली थी। पहले कह चुका हूँ कि सोनपुर में शिविर खोलने का विचार हो गया था और तिथि भी निश्चित हो गयी थी। मैं वर्धा से ठीक उसी दिन वापस आया जिस दिन शिविर खोलना था और सीधे सोनपुर चला गया। वहाँ एक सप्ताह तक रहा। सूत कातने के अलावा वहाँ एकत्र हुए लोगों के साथ प्रतिदिन बहुत बातें करनी पड़तीं। इस तरह वह समय भी परिश्रम का ही समय रहा। प्रायः १५०—२०० प्रमुख कार्यकर्त्ता वहाँ ठहरे थे। जब-तब सन्ध्या को सार्वजनिक सभा भी हो जाती जिसमें आस-पास के गाँवों के लोग भी आ जाते। मुख्यतः रचनात्मक कार्यक्रम पर ही जोर दिया गया; क्योंकि उसी को तैयारी का साधन हम मानते हैं। हम साधन इसलिए नहीं मानते कि हम उसके द्वारा लोगों को विद्रोह सिखाते हैं, पर इसलिए कि उसके द्वारा कार्यकर्त्ताओं में वह संयम आता है जो सत्याग्रह के लिए अनिवार्य है और जनता के साथ वह सम्पर्क पैदा होता है जो किसी भी जनसमूह को साथ लेकर काम करने के लिए अत्यन्त आवश्यक है।

शिविर का काम समाप्त करके मैं पटने लौटा। वहाँ एक दूसरा काम पूरा करने में लग गया जिसको पूरा कर देना मैं अपना कर्त्तव्य समझता था। यह काम था एक पंचायत का जिसको मैंने कबूल कर लिया था। सार्वजनिक दृष्टि से इसका महत्त्व उतना ही है जितना किसी पंचायत का हो सकता है। पर इसमें जो परिश्रम पड़ा वह मेरे स्वास्थ्य के लिए असह्य हो उठा। रामगढ़ के परिश्रम के बाद से ही जो लगातार अथक परिश्रम करना पड़ा था—मजदूर-जाँच-कमिटी, वर्किंग कमिटी, सोनपुर-शिविर और पंचायत में—उसने मुझे क्लान्त कर दिया; काम करते-करते सिर में चक्कर के कारण मैं बेहोश-सा हो गया। डाक्टर शरण और डाक्टर बनर्जी आये। हालत देखकर कुछ चिन्तित हो गये। कई दिनों तक मैं सिर के चक्कर से परेशान रहा। कुछ स्वस्थ होने पर आराम करने के लिए जीरादेई चला गया। वहाँ प्रायः एक महीने तक पड़ा रहा। तब जाकर फिर कुछ काम के लायक हो सका।

१३८—मुस्लिम लीग की कुछ बातें

काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों के जमाने में ही मुस्लिम लीग ने उनका जोरों से विरोध करना आरम्भ कर दिया था। उसने यह बात उठायी कि मंत्रिमण्डल मुसलमानों के साथ न्याय नहीं करते, ज्यादतियाँ किया करते हैं। उसने एक कमिटी मुकर्रर की

जिसके सभापति पीरपुर के राजा थे। उस कमिटी ने एक रिपोर्ट तैयार की जिसमें काँग्रेस द्वारा किये गये यथा-कथित जुल्मों की तालिका दी गयी। बिहार में मि० शरीफ बैरिस्टर ने इस प्रकार की रिपोर्ट दो जिल्दों में दो बार करके प्रकाशित की। इन रिपोर्टों में बहुतेरी गलत, बेबुनियाद और अनर्गल बातें लिखीं थीं। मंत्रिमण्डलों ने इनका खण्डन छपवाया। जहाँ असम्बली में बातें पेश हुईं, इनका पूरा-पूरा उत्तर दिया। पर मंत्रिमण्डल जो कुछ करता या कहता उसका तो प्रचार मुसलमानों में हो नहीं पाता, और लीग जो चाहती और कहती उसका प्रचार जोरों से होने लगता! लीग ने हिटलर की उसी नीति का अवलम्बन किया जिसमें प्रतिद्वन्द्वी के विरुद्ध झूठी शिकायतों का—और अगर उनमें कुछ सत्य भी हो तो उसे बहुत बढ़ा-चढ़ाकर तथा बार-बार दुहराकर—प्रचार किया जाता है, और वह प्रचार इतना जबरदस्त होता है कि जनता उससे प्रभावित हुए बिना रह नहीं सकती। इस तरह काँग्रेस के प्रति और हिन्दुओं के प्रति मुसलमानों में विद्वेष का विष फैलाया गया—इनके बीच एक बड़ी खाई बनायी गयी। जिस समय चुनाव हुआ था और जिस चुनाव के फलस्वरूप काँग्रेसी मंत्रिमण्डल बने थे, लीग का जोर बहुत कम था। बिहार में तो लीग की ओर से कोई उमीदवार ही न हुआ। इसी तरह बहुत सूबों में लीग का अस्तित्व ही नहीं था। जहाँ था भी वहाँ एक कमजोर संस्था थी। इसलिए जब काँग्रेस को मंत्रिमण्डल बनाना पड़ा तो वह लीग के लोगों को मंत्रिमण्डल में न ले सकी; दूसरे मुसलमानों में से ही उन लोगों को, जो चुने गये थे, मंत्रिमण्डल में शरीक होने का आमंत्रण दिया।

युक्त-प्रदेश में इस बात की कोशिश हुई कि लीग के सदस्य मंत्रिमण्डल में लिये जायँ, और आज ऐसा अनुमान होता है कि ऐसा अगर कर लिया गया होता तो शायद लीग को इतनी शक्ति नहीं मिलती। पर काँग्रेस के अन्दर ही कुछ लोग इसको पसन्द नहीं करते थे, इसलिए लीग के साथ समझौता नहीं हो सका। लीग इससे बहुत क्षुब्ध हुई। काँग्रेस के विरुद्ध प्रचार करना उसने अपना मुख्य कर्त्तव्य बना लिया। जो शिकायतें पीरपुर-रिपोर्ट और शरीफ-रिपोर्ट में छपी थीं उनकी जाँच कभी किसी निष्पक्ष अदालत अथवा व्यक्ति द्वारा नहीं हुई थी। मैंने काँग्रेस के प्रधान की हैसियत से मि० जिन्ना को लिखा कि हम इस बात पर तैयार हैं कि इनकी जाँच फेडरल-कोर्ट के चीफ-जस्टिस सर मौरिस ग्वायर अथवा किसी ऐसे ही दूसरे निष्पक्ष व्यक्ति द्वारा करायी जाय और वह अपनी शिकायतें उनके पास पेश करें। उत्तर में उन्होंने इसे मंजूर नहीं किया और कहा कि मामला वाइसराय के सामने पेश है, वही जो मुनासिब समझेंगे करेंगे।

ऊपर कहा जा चुका है कि वाइसराय काँग्रेस से कुछ खुश नहीं थे। वह तो मुस्लिम लीग की सहायता करके उसे काँग्रेस के विरुद्ध खड़ा करने और इस तरह उसे शक्तिशाली बनाने के लिए तैयार बैठे थे। उन्होंने इस शिकायत के सम्बन्ध में जाँच कराने की बात पर कुछ कहा ही नहीं और न शायद मि० जिन्ना ने ही इस पर जोर दिया। बात जहाँ की तहाँ रह गयी। पर अखबारों, परचों और व्याख्यानों

में उन अप्रमाणित शिकायतों के प्रचार का सिलसिला जारी रहा। लार्ड लिनलिथगो ने लीग की यह बात मान ली थी कि १९३५ के विधान पर लड़ाई के बाद फिर नये सिरे से विचार किया जायगा और उसमें जो सारे भारत के लिए एक संघ बनाने की बात कही गयी है वह छोड़ दी जायगी। मुस्लिम लीग इसी संघ का विरोध कर रही थी और उसे मनचाहा आश्वासन ब्रिटिश गवर्नमेण्ट ने दे दिया। इन सब बातों से प्रोत्साहित होकर, जब काँग्रेसी मंत्रिमण्डल ने इस्तीफा दे दिया तो, मि० जिन्ना ने मुस्लिम लीग की ओर से खुशियाँ मनाने की आज्ञा दी और मंत्रिमण्डलों का इस्तीफा मुसलमानों का नजात (छुटकारा) समझा गया। इस प्रचार का इतना असर समझदार मुसलमानों पर भी पड़ा था कि बिहार के मंत्रिमण्डल के इस्तीफा दे देने के बाद मौलवी खुरशेद हसनैन (अब स्वर्गीय) ने मेरे पास मुबारकवाद का तार भेजा!

लीग ने अभी तक भारत के विभाजन की बात मंजूर नहीं की थी। पर बहुतेरे मुसलमान इस बात को कई रूपों में पेश कर रहे थे। जब मैं १९३९ के नवम्बर-दिसम्बर में वर्धा में ठहरा था तब मैंने इस विषय का विशेष अध्ययन किया। उस समय तक मैं पाकिस्तान के सम्बन्ध में कुछ विशेष रूप से नहीं जानता था। वहाँ पर इस विषय के साहित्य को मँगाया और पढ़ा। फिर एक लम्बा नोट तैयार किया जो रामगढ़-काँग्रेस के समय 'हिन्दुस्तान-टाइम्स' में एक विशेष लेख के रूप में छपा। पीछे वह एक पुस्तिका के रूप में भी प्रकाशित हुआ। बहुतेरों ने उसे पढ़कर पाकिस्तान की बात जानी। उधर मुस्लिम लीग भी चुप नहीं बैठी थी। रामगढ़-काँग्रेस के चन्द दिनों के बाद ही, १९४० के मार्च में ही, लीग का सालाना जल्सा लाहौर में हुआ। वहाँ पर लीग ने पाकिस्तान के पक्ष में प्रस्ताव स्वीकार किया। उसके बाद से पाकिस्तान ही मुस्लिम लीग का मुख्य उद्देश्य रह गया है। एक बरस बाद मद्रास के सालाना जलसे में उसने पाकिस्तान की स्थापना को मुस्लिम लीग का उद्देश्य मान लिया। इस उद्देश्य को नियमावली में भी ध्येय के रूप में शामिल कर लिया।

१३९—वैयक्तिक सत्याग्रह : कारण और परिणाम

योरपीय युद्ध का रूप इँगलैंड के लिए भयंकर होता जा रहा था। जर्मनी बड़े वेग से योरप के एक देश के बाद दूसरे पर कब्जा करता जा रहा था। पोलैण्ड, बेलजियम, हालैण्ड, डेनमार्क, नार्वे इत्यादि १९४० की गर्मी के पहले ही उसके कब्जे में आ गये। अब फ्रान्स की बारी थी। फ्रान्स भी बहुत दिनों तक टिक न सका। अन्त में उसे भी हथियार डाल देने पड़े। डंकर्क से अँगरेजों की सेना बहुत नुकसान उठाकर किसी प्रकार इँगलैंड भाग सकी। इँगलैंड में इससे लोगों में बहुत क्षोभ पैदा हुआ। चेम्बरलेन की मिनिस्ट्री गिर गयी। उसके स्थान पर सर्वदल मिनिस्ट्री कायम हुई जिसके प्रधान मंत्री विन्स्टन चर्चिल हुए और भारत-मंत्री मि० एमरी। इँगलैंड बहुत बहादुरी के साथ जर्मनी के हवाई हमलों का मुकाबला कर रहा था। इटली ने, यह समझकर कि अब इँगलैंड हार ही जायगा और फ्रान्स ने हथियार डाल ही दिया

है, युद्ध में शरीक हो जाना मुनासिब समझा। इँगलैंड के लिए यह बहुत ही कठिन घड़ी थी। अभी तक अमेरिका लड़ाई में नहीं आया था और न रूस से ही जर्मनी का युद्ध छिड़ा था।

हमारी वर्किंग कमिटी में इस गम्भीर स्थिति पर विचार होता रहा। वहाँ यह राय ठहरी कि एक बार और साफ-साफ इँगलैंड से कहा जाय कि वह हिन्दुस्तान का मामला निपटा ले तो यथासाध्य हर प्रकार से काँग्रेस उसकी मदद करेगी। वर्किंग कमिटी में इस विषय पर बहुत वाद-विवाद हुआ। महात्माजी युद्ध में क्रियात्मक रूप से मदद करने के पक्ष में नहीं थे। वह समझते थे कि ऐसा करना काँग्रेस के अहिंसा के ध्येय के विरुद्ध होगा। उन्होंने जो इँगलैंड की मदद की बात कही थी वह केवल नैतिक मदद की थी। उनका मानना था और इसमें कोई सन्देह नहीं था कि इँगलैंड यदि भारतवर्ष को स्वतंत्र बना देता तो उसका नैतिक स्थान इतना ऊँचा हो जाता और संसार के सामने उसका प्रभाव इतना बढ़ जाता कि कोई उसका मुकाबला न कर सकता—काँग्रेस का इतना कहना मात्र कि इँगलैंड का हिन्दुस्थान के साथ समझौता हो गया और भारतवर्ष सन्तुष्ट है, काफी होता—यों तो ब्रिटिश गवर्नमेण्ट बिना काँग्रेस की सक्रिय मदद के भी जो कुछ चाहेगी हिन्दुस्तान से ले सकेगी और लेगी, जैसा वह काँग्रेस के तटस्थ रहने पर भी कर रही थी; अतएव हमारे लिए अपने ध्येय को छोड़ना उचित नहीं, इसके अलावा यदि हिन्दुस्थान अपने ध्येय पर डटा रहेगा तो युद्धोत्तर-काल में सारे संसार पर इसका गहरा असर पड़ेगा। उधर दूसरों का विचार था कि हम यदि अपनी आजादी की माँग पेश करते हैं तो साथ ही हमको मदद भी करनी चाहिए; काँग्रेस का ध्येय केवल इतना ही था कि अँगरेजों से स्वराज्य लेने के प्रयत्न में वह अहिंसात्मक उपायों से ही काम लेगी। उसमें किसी विदेशी शक्ति के आक्रमण करने पर—अथवा भारत के स्वतंत्र हो जाने के बाद भी—अहिंसात्मक रहने की न तो कोई बात थी और न हमको अपनी कार्रवाई से देश के हाथ को किसी प्रकार बाँधना ही चाहिए; ऐसा करने का हमको हक भी नहीं है। किन्तु एक बात पर सभी सहमत थे कि स्वराज्य-प्राप्ति के काम में और आपस के झगड़ों में अहिंसा को नहीं छोड़ना चाहिए।

इस प्रकार, कुछ लोग अहिंसा के सिद्धान्त को सीमित और मर्य्यादित करके ब्रिटिश सरकार को मदद देने के लिए तैयार थे। पर गांधीजी और कुछ दूसरे लोग अहिंसा को अक्षुण्ण रखना भारत और संसार के लिए आवश्यक समझते थे। मेरा निजी विचार इसी पक्ष में था, यद्यपि मुझे भी युद्ध की स्थिति से कुछ घबराहट तो थी और कभी-कभी शंका भी उठती थी कि हम कुछ कर सकेंगे या नहीं। खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ बहुत ही दृढ़ता-पूर्वक अहिंसा के सिद्धान्त पर डटे रहे। जब वर्किंग कमिटी ने दिल्ली की बैठक में निश्चय कर लिया कि इस शर्त पर—कि भारत की आजादी की घोषणा की जाय और तत्काल गवर्नमेण्ट को ऐसा रूप दिया जाय कि भारतीय नेताओं के हाथ में अधिकार आ जाय—काँग्रेस सक्रिय मदद लड़ाई में देगी, तो खाँ

साहब ने और मैंने तथा कुछ और मित्रों ने वर्किंग कमिटी से इस्तीफा दे दिया। परन्तु प्रेसिडेण्ट मौलाना अबुल कलाम आजाद के इस आश्वासन पर—कि अभी जब तक ब्रिटिश गवर्नमेण्ट हमारी माँग मंजूर नहीं करती तब तक सक्रिय मदद की और अहिंसा छोड़ने की बात नहीं आती, इसलिए हमको इस्तीफा वापस ले लेना चाहिए और जब ब्रिटिश गवर्नमेण्ट हमारी यह माँग मान लेगी और हमको मदद करनी पड़ेगी तब हम इस्तीफा दे सकते हैं—मैंने और कुछ साथियों ने इस्तीफे वापस ले लिये; पर खाँ साहब इससे सन्तुष्ट नहीं हुए। महात्माजी ने निश्चय कर लिया कि उनका अब काँग्रेस के साथ सम्बन्ध नहीं रहेगा। इससे वर्किंग कमिटी में तथा बाहर भी लोगों के दिल में बड़ी खलबली मची।

वर्किंग कमिटी की एक दूसरी बैठक वर्धा में की गयी। उसी के बाद पूना में, इस विषय पर विचार करने के लिए, अखिल भारतीय कमिटी की बैठक बुलायी गयी। मतभेद रह ही गया और जब पूना में बैठक हुई तो वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव को उसने बहुमत से मंजूर कर लिया। उस बैठक में हम लोग भी शामिल थे। गांधीजी पूना नहीं गये थे। हमने मित्रों की ओर से अपनी राय बता दी और यह भी कह दिया कि हम वर्किंग कमिटी के प्रस्ताव का विरोध नहीं करेंगे, तटस्थ रह जायँगे। ऐसा होने पर भी बहुत लोगों ने विरोध किया ही। यदि हम तटस्थ न रह गये होते तो शायद वह प्रस्ताव गिर गया होता। इस तरह ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को काँग्रेस की ओर से बाजाब्ता मदद देने का प्रस्ताव भेजा गया। आशा की जाती थी कि वह उस पर विचार करेगी और कुछ बातचीत फिर हमारे साथ करेगी। पर ऐसा नहीं हुआ। प्रस्ताव पास होने के चन्द दिनों के बाद ही उसकी ओर से उसकी नामंजूरी की घोषणा कर दी गयी। लार्ड लिनलिथगो ने एक विज्ञप्ति में यह कहा कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट लड़ाई के जमाने में कानून नहीं बदल सकती; पर उसके अन्दर रहकर वह वाइसराय की कार्यकारिणी कमिटी में हिन्दुस्थानियों में से—विशेषकर प्रमुख राजनीतिक दलों के मुख्य लोगों में से—चुनकर नये मेम्बर नियुक्त करेंगे तथा कौन्सिल में अधिकांश मेम्बर हिन्दुस्तानी होंगे, पर उनके अधिकार वही होंगे जो अब तक कौन्सिलरों के रहे हैं; इसके अलावा युद्ध-सम्बन्धी बातों में राय-मशविरा देने के लिए एक दूसरी कमिटी वह बनायेंगे जिसमें भी ऐसे प्रमुख भारतीयों को स्थान देंगे। इस विज्ञप्ति से यह बात स्पष्ट हो गयी कि वह भारतीयों को कोई अधिकार नहीं देना चाहते हैं, सब अधिकारों को अपने ही हाथों में रखना चाहते हैं। काँग्रेस की माँग के मानने की तो कोई बात ही नहीं थी। इस तरह जो नक्शा वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी ने बनाया था वह बात की बात में टूट-फूट गया!

हिंसा-अहिंसा-सम्बन्धी वाद-विवाद बहुत हो चुका था। इसलिए पूना में अखिल भारतीय कमिटी ने इस सम्बन्ध में भी एक प्रस्ताव पास किया। उसमें यह बात साफ-साफ कह दी गयी कि जहाँ तक स्वराज्य-प्राप्ति के लिए ब्रिटिश सरकार के

साथ हमारा प्रयत्न चल रहा है उसमें तथा भारत के अन्दर आपस के झगड़ों के सम्बन्ध में काँग्रेस अपने अहिंसात्मक उपायों के अवलम्बन की नीति और ध्येय पर कायम है और उसमें किसी प्रकार का परिवर्तन अथवा हेर-फेर न समझा जाय। यद्यपि यह प्रस्ताव सर्व-सम्मति से स्वीकृत हुआ, मुझे सन्देह है कि काँग्रेस के अन्दर बहुत लोगों को इसका स्मरण होगा, और युद्ध-सम्बन्धी प्रस्ताव के कारण अहिंसा की नीति में जो ढील आ गयी उसका असर दिन-दिन बढ़ता ही गया है। ऐसा होना भी स्वाभाविक है। अहिंसा का सिद्धान्त अनोखा सिद्धान्त है। इतने बड़े पैमाने पर—विशेषकर एक बड़ी शक्ति के हाथों से स्वराज्य प्राप्त करने में—उसका उपयोग और भी अनोखा है। बहुतेरों ने इसे नीति-रूप से माना है और वे सचाई से इसे बर्तते हैं। थोड़े ही लोग इसे एक धार्मिक विश्वास रूप से मानते हैं। इसलिए इस पर लोगों को अटल रखना कुछ सहज काम नहीं है। चूँकि अब तक काँग्रेस के अन्दर सक्रिय रूप से इसके सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं हुआ था, इसलिए जन-साधारण में इसके प्रति किसी तरह का बुद्धि-भेद नहीं पैदा हुआ था। अब, जब वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी में ही मतभेद पैदा हो गया और वह स्पष्ट रीति से लोगों को दीखने भी लगा तब, जनसाधारण में और विशेष कर साधारण काँग्रेसी कार्यकर्त्ताओं में बुद्धि-भेद होना आश्चर्य की बात नहीं है। ऐसे मामलों में ठीक वही हाल होता है जो जल-राशि को बाँध द्वारा रोक रखने के बाद उस बाँध में एक छोटा छेद हो जाने पर होता है, अर्थात् जल उस छेद को खुद-ब-खुद बढ़ाता जाता है और थोड़े ही काल में जो रोक जल पर रहती है वह हट जाती है, फिर तो एक प्रकार से बाढ़-सी आ जाती है। ऐसा ही हुआ भी।

मैं पूना में ही बहुत बीमार पड़ गया। न्युमोनिया-जैसा कुछ हो गया। किसी तरह वर्धा पहुँचा। बरसात के दिन थे जो मेरे लिए बराबर खराब हुआ करते हैं। वहाँ कुछ दिनों में आराम हुआ तो सेठ जमनालालजी का विचार हुआ कि आराम करने के लिए मैं कुछ दिन राजपूताना की सूखी हवा में जाकर रहूँ। उन्होंने वहाँ खुद मुझे ले जाने का प्रबन्ध कर लिया। पूज्य बापू ने भी उसे अच्छा समझा। मैं सेठजी के साथ जयपुर गया। इत्तफाक से वहाँ भी उस समय पानी पड़ रहा था। रास्ते की गड़बड़ी और बरसात के कारण कुछ तबीयत खराब हो गयी। इसलिए जयपुर में मुझे कुछ दिनों तक ठहर जाना पड़ा। पहले तो डाक्टरों की और फिर वैद्य श्री नन्दकिशोर शर्मा की दवा होने लगी। सबकी राय हुई कि जयपुर से अधिक लाभ 'सीकर'-जैसे बालुकामय स्थान में ठहरने से होगा। इसलिए सेठजी के साथ मैं सीकर चला गया। वहाँ प्रायः एक महीना रहा। सीकर में ही इन आत्म-संस्मरणों का लिखना आरम्भ हुआ। उसी सहवास में मुझे सेठ जमनालाल बजाज के जन्मस्थान को, काशी-केवास नामक गाँव में जाकर, देखने का सुअवसर मिला। वहाँ से नजदीक ही एक स्थान है लोहागरजी, जिसे लोग तीर्थस्थान मानते हैं। वह पहाड़ियों के बीच बहुत सुन्दर बसा हुआ है। जमनालालजी एक दिन वहाँ हमको ले गये। तबीयत बहुत सुधर

गयी। हर तरह से चंगा हो गया, ऐसा मालूम पड़ने लगा। वहाँ हमारे रहते-रहते ही बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की फिर बैठक हुई जिसमें ब्रिटिश सरकार की घोषणा पर विचार किया गया और यह निश्चय हुआ कि इसे काँग्रेस मंजूर नहीं कर सकती; अब काँग्रेस को क्रियात्मक रूप से संसार के सामने अपनी नीति बता देनी चाहिए। और, वैयक्तिक सत्याग्रह का भी निश्चय हुआ।

सत्याग्रह के संचालन का भार गांधीजी पर दिया गया। उन्होंने निश्चय किया कि यद्यपि यह सत्याग्रह वैयक्तिक होगा, सामूहिक नहीं, तथापि कोई व्यक्ति उनसे मंजूरी पाये बिना सत्याग्रह नहीं कर सकेगा और वह अनुमति ऐसे ही लोगों को देंगे जिन्होंने रचनात्मक कार्यक्रम के किसी भी एक अंग को अपनाया हो तथा उसमें काम किया हो। साथ ही, यह भी निश्चय हुआ कि ऐसे ही लोगों को अनुमति दी जायगी जो प्रतिनिधित्व कर रहे हों—अर्थात् जिनकी हैसियत ऐसी हो कि वह केवल व्यक्ति न हों, अनेकों के प्रतिनिधि हों, जैसे असम्बली और कौन्सिल के मेम्बर, जिला और म्युनिसिपल बोर्डों के मेम्बर, काँग्रेस-कमिटियों के पदाधिकारी और चुने हुए मेम्बर इत्यादि। नतीजा यह हुआ कि केवल ऐसे ही लोगों को अनुमति मिली जो स्वयं सूत कातते हों, अछूतपन की भावना से अपने को मुक्त कर चुके हों और कहीं न कहीं के चुने हुए सदस्य हों। आरम्भ में असम्बली और कौन्सिलों के मेम्बरों तथा काँग्रेस-कमिटी के पदाधिकारियों को ही इजाजत मिली। प्रान्तीय कमिटियाँ ऐसे लोगों की सूची तैयार करतीं और गांधीजी के पास मंजूरी के लिए भेज देतीं। जब वह मंजूर कर लेते तभी सूची में दर्ज लोग सत्याग्रह करते।

सत्याग्रह का रूप यह होता कि सत्याग्रही घोषणा करते कि हम युद्ध में किसी प्रकार से मदद नहीं कर सकते। लोगों ने इसके लिए एक नारा बना लिया—'न एक भाई न एक पाई'; अर्थात् न हम अपने में से एक भाई को भी लड़ाई में भेजना चाहते हैं और न लड़ाई के लिए एक पाई की भी आर्थिक सहायता देना चाहते हैं। लोगों को इस बात की कड़ी ताकीद कर दी गयी थी कि सत्याग्रह में कोई प्रदर्शन न किया जाय; क्योंकि हम सत्याग्रह द्वारा अपने लिए यह स्वत्व प्राप्त करना चाहते हैं कि हम जो भी उचित समझें, देश के सामने प्रचार कर सकते हैं, और हमारे इस स्वत्व में किसी प्रकार की बाधा नहीं पड़नी चाहिए; यहाँ तक कि लड़ाई के नाजुक जमाने में भी हम चाहें तो हमको उसके विरुद्ध प्रचार का हक होना चाहिए।

इस सत्याग्रह का कुछ लोगों ने तो विरोध किया और कुछ लोगों ने मजाक उड़ाया। गर्म विचारवाले वामपंथी लोगों का कहना था कि इस प्रकार के ठण्ढे सत्याग्रह से कोई लाभ नहीं पहुँच सकता, इससे ब्रिटिश गवर्नमेण्ट किसी प्रकार प्रभावित नहीं हो सकती और न उसके काम में हम इसके द्वारा कोई अड़चन ही पेश कर सकते हैं। कुछ लोग कहते थे कि प्रचार-स्वातंत्र्य और विचार-स्वातंत्र्य की बात केवल धोखे की टट्टी है—हम लड़ाई का विरोध करना चाहते हैं, पर हमको खुलकर ऐसा करने की हिम्मत नहीं होती है, इसलिए यह ढकोसला फैला रखा गया है। बात यह थी कि हमें

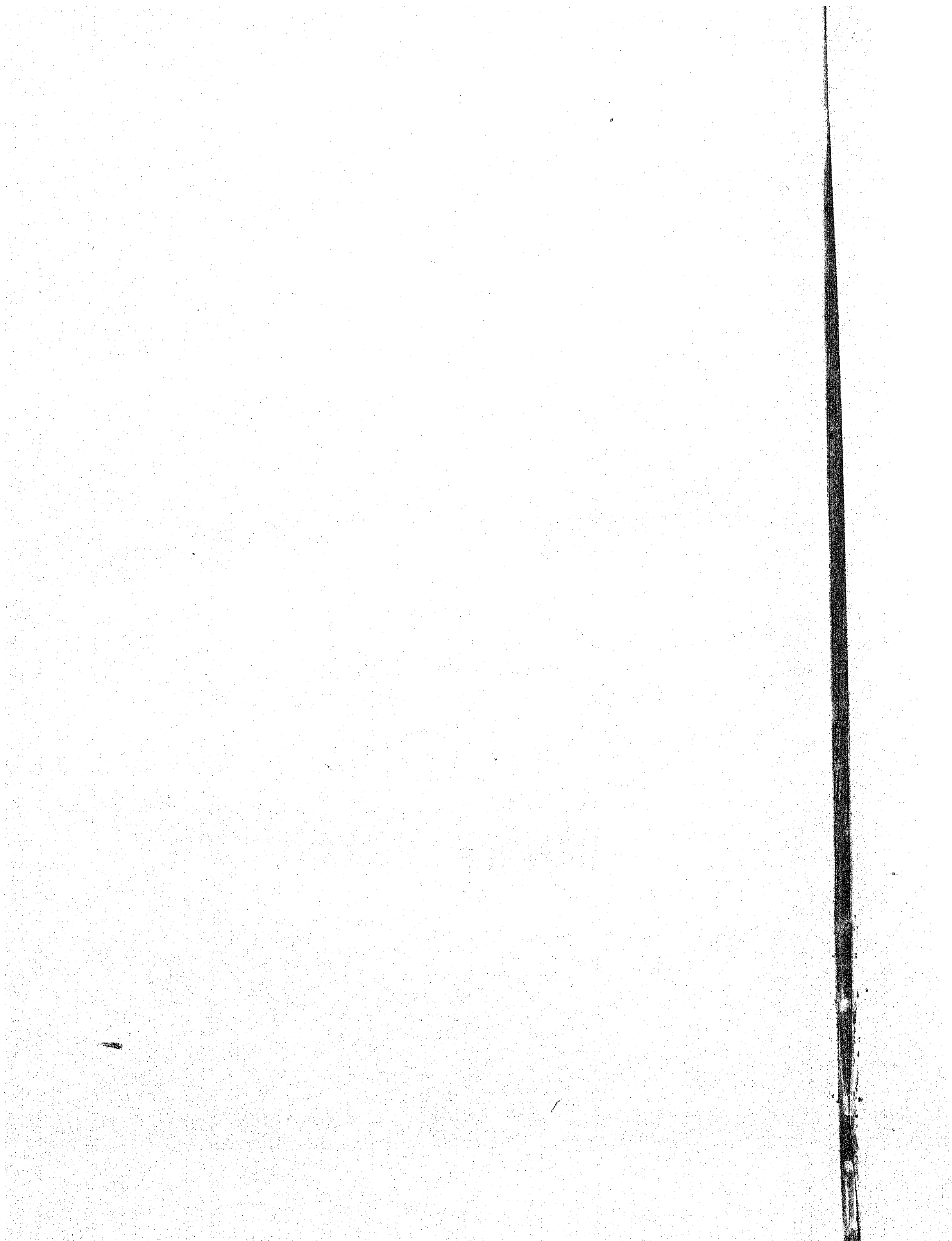
संसार को दिखलाना था कि हम ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की लड़ाई में उसका साथ नहीं दे रहे हैं और यह हम बिना किसी प्रकार के शोर-गुल और हंगामा के दिखला देना चाहते थे। यदि सामूहिक सत्याग्रह किया जाता तो बहुत शोर-गुल के बिना काम होना कठिन था, और प्रतिनिधित्व करनेवालों को ही सत्याग्रह की अनुमति देकर हम यह दिखला रहे थे कि वह केवल एक व्यक्ति नहीं है, उसके पीछे उसे चुननेवाले लोग अर्थात् असंख्य नर-नारी भी हैं और यह सत्याग्रह उन सबकी ओर से हो रहा है; वह व्यक्ति केवल निमित्तमात्र है, सत्याग्रह सब कर रहे हैं। इन्हीं कारणों से प्रदर्शन सख्ती से रोका गया था। साथ ही, प्रतिनिधियों के चुनने में भी पूरी कड़ाई बरती गयी थी। ऐसे लोग जिनका जाना अपेक्षित था, पर जो किसी कारण से सत्याग्रह में शरीक नहीं हो सकते थे, दरख्वास्त देकर छुट्टी ले लेते थे।

बिहार में, अपने स्वास्थ्य के कारण, मेरे लिए सत्याग्रह में शरीक होने का अर्थ अपनी बीमारी की देखभाल का भार गवर्नमेण्ट के ऊपर डालना था। इसलिए गांधीजी ने मुझे स्वयं रोक लिया। पहले दिन, जब श्री बाबू और अनुग्रह बाबू का, पटने में दो स्थानों पर, एक के कुछ देर बाद दूसरे का, सत्याग्रह करना निश्चित हुआ था और निश्चय के अनुसार श्री बाबू सत्याग्रह करने के लिए बाँकीपुर के मैदान में पहुँचे, तो वहाँ बहुत लोग जमा हो गये जिनमें विद्यार्थी अधिक थे। वहाँ पर कुछ शोर-गुल हुआ जो जेल के फाटक तक, जहाँ श्री बाबू को गिरफ्तार करके ले गये, जारी रहा। मैंने देखा कि यह आरम्भ गांधीजी की हिदायतों के खिलाफ हुआ और यदि इसे प्रोत्साहन मिला तो पीछे इसे सँभालना मुश्किल हो जायगा तथा अपने ही लोग अनुशासन की धज्जी उड़ा देंगे। यह सोचकर मैंने अनुग्रह बाबू के सत्याग्रह को और सारे सूबे के सत्याग्रह को उस समय तक के लिए बन्द कर दिया जब तक लोग सत्याग्रह के मर्म को पूरी तरह समझ न लें और गांधीजी के आज्ञानुसार अक्षरशः सब बातें ठीक-ठीक करने को तैयार न हो जायँ। यह बात सारे सूबे में फैल गयी। लोगों ने समझ लिया कि इस तरह की बातें नहीं चलने पावेंगी। मेरे पास दूसरे ही दिन लोगों ने आकर बतलाया कि अब वैसी गलती नहीं होने पावेगी और सारे सूबे में सत्याग्रह स्थगित हो जाने से सारे सूबे की बदनामी होगी। मैंने देख लिया कि वातावरण दुरुस्त हो गया, दो दिनों के बाद से ही फिर इजाजत दे दी। इसका फल यह हुआ कि सारे सूबे में पूरी शान्ति के साथ, जैसा गांधीजी चाहते थे, सत्याग्रह चलता रहा।

प्रधान मंत्री (श्री बाबू) से आरम्भ करके असम्बली और कौन्सिलों के अधिकांश मेम्बर, जिला-बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों के बहुतेरे सदस्य, काँग्रेस-कमिटियों के अनेक पदाधिकारी और कुछ सदस्य, कई हजार की संख्या में, सत्याग्रह करके जेल चले गये। गवर्नमेण्ट की कुछ ऐसी नीति थी कि प्रायः सभी लोगों को एक बरस की सजा दी जाती थी। इसमें से प्रायः सभी लोगों को तीन महीने की माफी, जिसको जेल की भाषा में 'मार्का' कहते हैं, मिलती गयी! सभी लोग सजा पाने के प्रायः नव महीनों के बाद छूटते गये। मैं तो बाहर रह गया था और अधिक समय गांधीजी के



महात्मा गांधी, राजेन्द्रप्रसाद और महादेव देसाई



साथ ही वर्धा में बिताना पड़ा। इसका एक कारण यह भी था कि काँग्रेस के प्रेसिडेण्ट के जेल चले जाने के बाद काँग्रेस के संगठन का सारा भार एक प्रकार से उन पर ही आ पड़ा—यद्यपि मंत्री आचार्य कृपालानीजी भी बाहर रख लिये गये थे। काम में सहायता पाने के लिए कृपालानीजी के और मेरे वहीं रहने का आग्रह महात्माजी करते थे। हमने ऐसा ही किया भी।

काँग्रेस के लोगों ने मंत्री का पद तो छोड़ ही दिया था। अब, जहाँ-जहाँ पहले काँग्रेसी मंत्रिमण्डल थे वहाँ दफा ९३ के अनुसार गवर्नर शासन कर रहे थे। कुछ दिनों तक उन्होंने रास्ता देखा कि शायद काँग्रेसवाले फिर वापस आ जायँ, पर जब इसकी कोई आशा नहीं दीख पड़ी तो असम्बली इत्यादि के मेम्बरों को जो वेतन मिलता था उसे उन्होंने बन्द कर दिया। यद्यपि असम्बली के स्पीकर लोगों के साथ के चपरासी इत्यादि नहीं हटाये गये और वे कुछ न कुछ काम भी करते रहे तथापि उनके भी मुशाहरे बन्द कर दिये गये। काँग्रेस ने जिला-बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों से काँग्रेसी लोगों को हट जाने का आदेश नहीं दिया था। बहुतेरी जगहों में काँग्रेसी लोग इनके चेयर-मैन और वाइस-चेयरमैन थे। इनका काम सभी काँग्रेसी सदस्य मिलकर करते रहे। ऐसा भी देखा गया कि कुछ लोग, सत्याग्रह के कारण अच्छे सदस्यों के हट जाने से नाजायज लाभ उठाकर उनके स्थानों पर जा बैठे! कुछ हम लोगों की ऐसी भूल भी हुई कि जहाँ हमारे चेयरमैन इत्यादि के सत्याग्रह में चले जाने के कारण जगह खाली हुई वहाँ हमने उन रिक्त स्थानों को ऐसे लोगों से भर देने की इजाजत भी दे दी, जिनसे आशा की जाती थी कि वे हमारे अनुशासन को मानेंगे। कहीं-कहीं नये चुनाव भी हुए और उन स्थानो पर, अगर साफ-साफ नहीं तो परोक्ष रीति से, काँग्रेसी लोग आ गये। नतीजा यह हुआ कि इन बोर्डों पर जैसा चाहिए वैसा काँग्रेस का अनुशासन नहीं रह सका। बहुत तरह की शिकायतें भी सुनने में आने लगीं। काँग्रेस के अन्दर जो दलबन्दियाँ थीं वे भी अब बाहर फूट पड़ीं। इस प्रकार, काँग्रेस की बदनामी होने लगी।

मेरे अपने सूबे में सब का भार मेरे ऊपर था। मैं अधिकतर वर्धा में रहने के कारण बहुत-कुछ कर नहीं सकता था। इसलिए मैंने रोक-थाम के खयाल से एक छोटी कमिटी बना दी। उसी को इन बोर्डों की निगरानी का काम सौंप दिया। मुझे खेद है कि बहुत प्रयत्न के बाद भी अवस्था नहीं सुधरी। मैंने निश्चय किया कि बिहार में इन सभी बोर्डों से काँग्रेसी लोगों को हटा लेने में ही कल्याण है। पर इस निश्चय पर पहुँचने के कुछ ही दिनों के बाद प्रान्त के प्रमुख लोगों के छूटने का समय था। इसलिए उनके छूटने तक इसको स्थगित रखा कि उनकी भी राय ले लेना उचित होगा। उनके छूटने पर उनसे राय लेकर मैंने यह आज्ञा दे दी कि सभी काँग्रेसी लोग जिला-बोर्डों और म्युनिसिपैलिटियों से हट जायँ। उसके बाद ही फिर अस्वस्थता के कारण मैं वर्धा चला गया। वहाँ रिपोर्ट पहुँची कि अधिकांश लोगों ने तो आज्ञा का पालन किया, पर कुछ लोगों ने उसे नहीं भी माना। ऐसे लोगों की संख्या बहुत ज्यादा नहीं थी। जिला-कमिटियों तथा प्रान्तीय कमिटी ने ऐसे लोगों के विरुद्ध अनुशासन की कार्रवाई की।

बहुतेरे लोग कांग्रेस से निकाल दिये गये। यह सब १९४१ के नवम्बर-दिसम्बर की बात है। १९४० के नवम्बर से १९४१ के बीच तक कुछ और बातें हुईं जिनका जिक्र कर देना उचित होगा।

१४०—मेरी मैसूर-यात्रा

मैंने ऊपर कहा है, बहुत समय मेरा उन दिनों वर्धा में ही बीता। जब मैं वहाँ था, मैसूर-कांग्रेस के श्री दासप्पा वर्धा आये। उन्होंने महात्माजी से यह कहा कि वह अपना सालाना जल्सा करना चाहते हैं जिसमें मुझे जाना चाहिए। मेरे जिम्मे उसके उद्घाटन का काम सौंपा गया। महात्माजी ने उनके अनुरोध को मान लिया। मुझे वहाँ जाने की आज्ञा मिली। यह सम्मेलन 'हरिहर' नामक स्थान पर तुंगभद्रा नदी के किनारे हुआ था। दृश्य सुन्दर था। लोगों में उत्साह भी काफी था। सम्मेलन, प्रदर्शनी इत्यादि के काम के अलावा श्री दासप्पा मुझे मैसूर के कुछ सुन्दर और पुरातत्त्व-सम्बन्धी महत्त्व रखनेवाले स्थानों को दिखला देना चाहते थे। मैं भी यह चाहता ही था। वहाँ जाने के पहले ही श्री दासप्पा से बातें हो चुकी थीं। उन्होंने कार्यक्रम भी बना लिया था। बँगलोर और मैसूर के अलावा मैं उन प्राचीन मन्दिरों को भी देखने गया, जो जैन-काल और हिन्दू-काल की स्थापत्य-कला के अच्छे से अच्छे नमूने हैं। श्रवण गोलवेला और हलेवीड के दृश्य अद्भुत हैं। वे संसार के उन चकित करनेवाले स्थानों में हैं जिनको न देखना मानो मनुष्य की कृतियों के उत्तमोत्तम नमूनों को न देखना है। तीर्थङ्कर महावीर की बहुत विशाल मूर्ति एक पहाड़ की चोटी पर पहाड़ काटकर बनायी गयी है जो बहुत दूर से, प्रायः १०-१५ मीलों से, नजर आने लगती है। तारीफ यह कि उतनी बड़ी मूर्ति कुछ अलग से तैयार करके वहाँ चोटी पर बैठायी नहीं गयी है, बल्कि वह पहाड़ की ऊँची चोटी को ही काटकर बना दी गयी है और चारों ओर की पहाड़ी काटकर समतल कर दी गयी है। मूर्ति ऐसी सुन्दर बनी है कि चाहे आप मीलों की दूरी से देखिए या नजदीक जाकर, उसके सभी अंग ऐसे अनुपात से बनाये गये मालूम होंगे कि कहीं कुछ भी त्रुटि नजर न आयेगी। प्रत्येक अंग, पैर की अँगुलियों से लेकर नाक-कान तक, अपने-अपने स्थान पर ठीक अनुपात में बना दीख पड़ता है। यह जैनों का एक बहुत बड़ा तीर्थ है जहाँ समस्त भारतवर्ष के जैन दर्शन करने जाते हैं। मुझे यह बात जानकर प्रसन्नता हुई कि आरा के श्री निर्मलकुमार जैन, परिवार के साथ, वहाँ अक्सर जाया करते हैं। वहाँ के लोग उनके सम्बन्ध में मुझसे पूछ-ताछ कर रहे थे। यह जानकर मुझे और भी अचम्भा हुआ कि उसी मूर्ति की नकल पर, कुछ छोटे पैमाने पर, उन्होंने आरा के नजदीक कहीं जैनी विधवाओं के लिए जो आश्रम खोल रखा है उसमें भी एक मूर्ति बनवायी है; फर्क इतना ही है कि जहाँ यह पहाड़ी मूर्ति प्रायः ६०-७० फुट की होगी वहाँ आरा की मूर्ति २०-२२ फुट की। यह दृश्य तो विशाल-मूर्ति-निर्माण-कला का नमूना है।

अब हलेवीड में कुछ ऐसे नमूने मिले जिनमें बारीकी की हद हो गयी है। वहाँ

के मन्दिरों म पुराणों कथाएँ की मूर्तियों द्वारा अंकित और प्रदर्शित की गयी हैं। ये मूर्तियाँ अत्यन्त सुन्दर और मधुर हैं। कुछ पन्द्रह-बीस फुट की ऊँचाई पर एक मूर्ति बनी थी जिसमें कोई फल या फूल दिखलाया गया था और उस पर एक मधुमक्खी बैठी थी। नीचे से देखने में ऐसा मालूम होता था कि वह सचमुच मधुमक्खी है जिसके पाँव और पंख भी हैं। पर वास्तव में उसी पत्थर पर, जिसको काटकर फूल या फल बनाया गया था, यह मधुमक्खी भी उसी प्रकार बनायी गयी थी—कोई अलग से बनाकर वहाँ बैठायी नहीं गयी थी। दक्खिन के मन्दिरों में पत्थर की बनी जंजीरें अक्सर देखने में आती हैं। किसी धातु की जंजीर बनाना मुश्किल नहीं है; क्योंकि उसकी एक-एक कड़ी अलग-अलग बनाकर एक दूसरे में गूँथ दी जाती है और तब जोड़ या मुँह दबाकर अथवा गर्म करके फाँक बन्द कर दिया जाता है। किन्तु पत्थर की जंजीर में ऐसा नहीं हो सकता। उसमें कड़ियाँ अलग-अलग नहीं बनायी जा सकतीं। एक ही पत्थर के लम्बे टुकड़े को काटकर एक दूसरे में गुँथी हुई कड़ियाँ बनानी पड़ती हैं। काम काफी मुश्किल है; क्योंकि यदि कहीं एक टाँकी या छेनी भी जोर की लग गयी और कड़ी टूट गयी तो सारी जंजीर बिखरकर खराब हो गयी। दूसरे मंदिरों में मैंने जंजीर देखी थी; पर उनका आकार बड़ा था। हलेबीड में मैंने एक मूर्ति कुछ ऊँचाई पर देखी। वह अनेक आभूषणों से सुसज्जित की गयी थी। सब आभूषण पत्थर के थे और उसी एक पत्थर के टुकड़े में से, जिसमें से मूर्ति निकाली गयी थी, काट करके बनाये गये थे। वह मूर्ति एक बहुत छोटी-सी भुलनी या नकबेसर पहने हुई थी, वह भी पत्थर की थी, बहुत ही छोटी और नाक में एक छोटे छेद से लटक रही थी। जो बाली नाक में थी वह भी बहुत बारीक थी और नाक के छेद में वह चारों तरफ घुमायी जा सकती थी। उस नथुनी का व्यास आध इंच से ज्यादा न होगा और इसी से नाक के छेद का भी अन्दाजा किया जा सकता है। विशालता और बारीकी, दोनों के सुन्दर से सुन्दर नमूनों का वर्णन पढ़कर पाठक समझ सकते हैं कि वहाँ थोड़े में ही कितनी कला और कलाकारों की कितनी कृतियों के नमूने हम देख सकते हैं। पत्थरों पर इस प्रकार के विशाल और सूक्ष्म काम हम अजन्ता और एलोरा में देख सकते हैं। अजन्ता में चित्रणकला का अद्‌भुत विकास देखने में आता है और एलोरा में पहाड़ काटकर बनाया गया महान् मन्दिर तथा सुन्दर एवं बारीक मूर्ति-निर्माण-कला का चमत्कारपूर्ण नमूना !

तीसरा अद्‌भुत दृश्य प्राकृतिक था। वह है गिरिसप्पा का जलप्रपात। यह ऐसे स्थान में है जहाँ ब्रिटिश और मैसूर राज्यों की सरहद मिलती है। प्रायः एक हजार फुट की ऊँचाई से जल गिरता है। इसको एक ओर ब्रिटिश राज्य के एक कोने से और दूसरी ओर मैसूर-राज्य के एक कोने से हम देख सकते हैं। पर मैसूर-राज्य में से देखने पर दृश्य अधिक सुन्दर और सुहावना मालूम होता है। वहाँ ठहरने और बैठकर दृश्य देखने का भी अच्छा और सुन्दर स्थान राज्य की ओर से बना दिया गया है। मैं कुछ देर तक बैठकर इस प्राकृतिक चमत्कार को देखता रहा। उन दिनों वहाँ से बिजली निकालने के लिए

कारखाना बनाने और दूर-दूर तक बिजली पहुँचाने का प्रबन्ध मैसूर-राज्य की ओर से किया जा रहा था। बहुत-से मजदूर वहाँ से कई मील की दूरी तक काम करते मिले। मालूम नहीं कि इस प्राकृतिक चमत्कार पर इस मानुषिक बलात्कार का क्या असर पड़ा है और वह शोभा अब भी है या नहीं।

१४१—बिहार-शरीफ का दंगा और हिन्दुस्तानी जहाजी कम्पनी की स्थापना

मैं चन्द दिनों के लिए पटने आया था और फिर वर्धा वापस गया। जिस दिन पटने से जानेवाला था उसी रात को यह सुना कि बिहार-शरीफ में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच कुछ अनबन है, पर ऐसा नहीं मालूम हुआ कि कोई बड़ी बात है जिसका नतीजा भयंकर खून-खराबा हो सकता है। वर्धा पहुँचने के एक दिन बाद ही अखबारों से मालूम हुआ और फिर तार पहुँचा कि बिहार में भयंकर दंगा-फसाद हो गया है। गांधीजी की राय हुई और मैंने भी सोचा कि ऐसी अवस्था में मुझे तुरंत बिहार जाना चाहिए। मैं वापसी गाड़ी से रवाना हो गया। पटने पहुँचने पर मालूम हुआ कि शाह महम्मद उजैर मुनीमी और मथुरा बाबू कई दिनों से बिहार-शरीफ में ही हैं और वहाँ की स्थिति बहुत खराब हो गयी है, कई हिन्दू और मुसलमानों का खून हो चुका है तथा बलवा केवल बिहार-शरीफ शहर में ही—जहाँ आरम्भ हुआ था—सीमित न रहकर गाँवों में भी फैलता जा रहा है। मुझे याद था कि १९१८ में इसी प्रकार शाहाबाद के एक गाँव (पीरो) में आरम्भ होकर उस जिले के सिवा आसपास के जिलों के कुछ भागों में भी फसाद फैल गया था। इसलिए मैं और भी चिहुँका। इत्तफाक से उसी दिन प्रोफेसर अबदुल बारी भी, जो बाहर थे, पटने पहुँच गये। हमने मोटर और लारी साथ लिया। उन पर बिहार-विद्यापीठ के अध्यापकों और विद्यार्थियों को तथा कुछ दूसरे कार्य्यकर्त्ताओं को सवार करा लिया। उसी दिन बिहार-शरीफ की ओर चल दिया। वहाँ पहुँचने पर जब शाह उजैर मुनीमी और मथुरा बाबू से भेंट हुई तो सब हाल मालूम हुआ। बहुतेरे खून हो चुके थे; पर अब स्थिति कुछ सुधरने लग गयी थी। गवर्नमेण्ट ने पुलिस का भी काफी प्रबन्ध कर लिया था। जिला-मजिस्ट्रेट और कमिश्नर तथा पुलिस के बड़े-बड़े अफसर भी पहुँच गये थे। शाह साहब और मथुरा बाबू अपनी जान पर जोखिम लेकर जहाँ-जहाँ हंगामा होता, पहुँच जाते और बलवा-फसाद रोकते। कहीं-कहीं बलवाइयों के उपद्रव के बाद पहुँचते और वहाँ लाशों को स्वयं उठा-उठाकर यथास्थान भिजवाने में सहायता करते।

हम लोग पहुँचते ही चारों ओर के गाँवों में, जहाँ-जहाँ से कुछ खराब खबर आती, फैल गये। लोगों में ढाढ़स पैदा करने और गलत अफवाहों को रोकने तथा शान्ति स्थापित करने में सबके सब लग गये। तीन-चार दिनों में स्थिति काफी सुधर गयी। वहीं पर प्रान्तीय मुस्लिम लीग के सभापति खाँ-बहादुर महम्मद सैयद इसमाइल से बातें हुईं। हम दोनों एक दिन के लिए पटने आये। वहाँ एक बड़ी सार्वजनिक सभा में हम दोनों

ने भाषण किये। मैं फिर बिहार-शरीफ वापस गया। कुछ दिनों तक वहाँ रह कर, जहाँ-जहाँ लूट-मार और खून-खराबा हुआ था वहाँ जाकर, लोगों से भेंट की और उन्हें शान्त किया। जो दृश्य देखने में आये, बहुत ही भयानक और दर्दनाक थे। हिन्दू या मुसलमान, जब इस प्रकार के झगड़े में पड़ जाते हैं तब, धर्म और मनुष्यता दोनों भूल जाते हैं। वे एक दूसरे के खून के प्यासे हो जाते हैं। इस झगड़े में हिन्दू और मुसलमान दोनों मारे गये थे, पर मुसलमानों की संख्या अधिक थी। यदि यह झगड़ा रुका न होता तो स्थिति और भी भयंकर हो गयी होती। शान्ति-स्थापना के बाद मैं फिर वर्धा वापस गया।

वहाँ एक और काम मैंने अपने ऊपर ले लिया था अथवा यह कहना बेहतर होगा कि मेरे ऊपर वह काम डाल दिया गया था। सिंधिया-स्टीम-नाविगेशन-कम्पनी हिन्दुस्तानियों की जहाजी कम्पनी है। उसके जहाज विशेषकर हिन्दुस्तान और बरमा के बीच तथा हिन्दुस्तान के समुद्रतट के बन्दरगाहों में ही अधिक आया-जाया और माल ढोया करते हैं। वह कम्पनी चाहती थी कि जहाज बनाने का एक कारखाना खोला जाय। उसने विशाखापट्टनम् (विजगापटम) को, जो आन्ध्र-प्रदेश में है, इसके लिए उपयुक्त स्थान चुन लिया था। उसके डाइरेक्टरों में प्रमुख हैं सेठ बालचन्द-हीराचन्द और सेठ शान्तिकुमार नरोत्तम मुरारजी। उनकी यह राय हुई कि मैं इसकी नींव डालूँ। मैं उस समय कोई भी काम गांधीजी की आज्ञा के बिना नहीं करता था। इसलिए उन्होंने गांधीजी से कहा। मुझे आज्ञा मिली कि मैं वहाँ जाऊँ। इस सिलसिले में मुझे भारतीय जहाजी वाणिज्य के इतिहास के अध्ययन का मौका मिला। यों तो थोड़ा-बहुत जानता था कि ब्रिटिशों ने किस तरह इस फैले हुए व्यापार को हिन्दुस्तानियों के हाथ से जबरदस्ती छीन लिया था, पर इस बार के अध्ययन से मेरा इस विषय का ज्ञान और भी अधिक बढ़ गया। इसके अध्ययन में कम्पनी के लोगों ने पुस्तकें आदि भी पहुँचा दी थीं, इसलिए स्वाध्याय में बहुत सुविधा भी हो गयी थी। मैंने उस अवसर पर वहाँ जो भाषण किया उसमें सारे इतिहास और वर्तमान स्थिति इत्यादि का सिंहावलोकन किया। कम्पनी की ओर से बड़ा समारोह किया गया था। उसके सभी डाइरेक्टर वहाँ आये थे। सारे हिन्दुस्तान से बहुतेरे प्रमुख लोग आमंत्रित किये गये थे। सरकारी नौ-सेना के अफसर भी उपस्थित थे। बहुत धूमधाम के साथ यह महोत्सव समाप्त हुआ। उन लोगों ने सार्वजनिक काम के लिए मुझे कुछ रुपये भी दिये जिनको मैंने उनकी इच्छा के अनुसार उन संस्थाओं को दे दिया जो उस काम में लगी थीं। कुछ सामान उन्होंने मेरे साथ कर दिया जिसको मैंने वापसी ट्रेन में कुछ दूर चले आने पर देखा।

१४२—ढाका-जिले में दंगे की जाँच और बंगाली-बिहारी-समस्या

वाल्टेयर से, जो विशाखापट्टनम् के पास में ही है, रवाना होकर श्री मथुरा बाबू के साथ मैं सीधे ढाका जाने के लिए कलकत्ते पहुँचा। रास्ते में कटक में भी

कुछ देर के लिए ठहरा था। ढाका जाने का कारण यह था कि वहाँ भी भयंकर हिन्दू-मुस्लिम दंगा हो चुका था। वहाँ दंगा ढाका शहर से आरम्भ होकर कई गाँवों तक में जा पहुँचा था। गाँव के गाँव लूट लिये गये और जला दिये गये थे। ढाका में तो खून भी काफ़ी हुए थे। जिस दिन मैं पहुँचा, वातावरण शान्त था। वहाँ जाने के पूर्व ही कलकत्ते में उस समय के प्रधान मंत्री श्री फजलुल हक और सर नाजिमुद्दीन से मेरी मुलाकात हो गयी थी। श्री फजलुल हक को मैं उसी समय से जानता था जब मैं कलकत्ता हाइकोर्ट में वकालत किया करता था। सर नाजिमुद्दीन से, बंगाल की जेलों में अनशन कर रहे राजनीतिक कैदियों के सम्बन्ध में बातें करने के लिए, भेंट हो चुकी थी।

मैं ढाका में वहाँ के प्रमुख लोगों से मिला। हिन्दुओं पर बहुत जुल्म हुए थे। अतः उनमें स्वाभाविक रोष था। मुसलमानों ने वहाँ के नवाब साहब के महल में मुझसे मुलाकात के लिए एक चाय-पार्टी दी। वहीं सबसे बातें हुईं। पुराने काँग्रेसी, जो उस समय वहाँ की जिला-कमिटी के सभापति थे, श्री श्रीशचन्द्र चटर्जी के घर पर मैं ठहरा था। ढाका से कुछ दूर उन गाँवों को जाकर देखा जो लूट लिये और जला दिये गये थे। दृश्य भयंकर था। बंगाल के मकान अक्सर पक्के नहीं होते, फूस या टिन से छाये जाते हैं। दीवार बाँस आदि की टट्टी की होती है, जो लकड़ी के खंभों के सहारे खड़ी रहती है। जमीन की नमी या सील से बचने के लिए मकान के भीतर का फर्श कहीं-कहीं सिमेण्ट का बना होता है। ऐसे गाँव भी देखने में आये जहाँ केवल लकड़ी के जले हुए खंभों के टुकड़ों अथवा निशान तथा सिमेण्ट के फर्श के सिवा और कुछ भी देखने को न मिला। हालत बिहार-शरीफ से भी खराब थी, पर ढाका-जिले का उससे किसी तरह मुकाबला नहीं हो सकता था। बिहार में हिन्दुओं की आबादी अधिक है, वहाँ मुसलमान ही अधिक मारे या लूटे गये थे। ढाका में मुसलमानों की आबादी अधिक है, वहाँ हिन्दू ही अधिक मारे या लूटे गये थे। पर जिस तरह लूटना और जलाना ढाका में हुआ था उसका कुछ भी मुकाबला बिहार नहीं कर सकता था।

दो-तीन दिनों तक उन दिहातों में घूम-घूमकर देखने के बाद मैं फिर ढाका लौटा। दिहातों में घूमते-घूमते दो गाँवों में मुझे अपने गाँव जीरादेई के दो आदमियों से मुलाकात हो गयी। ये यहाँ काम की तलाश में आये थे। बहुतेरे बिहारियों की तरह ये भी यहाँ से कुछ पैदा करके बिहार आया-जाया करते थे। मुझे देखकर आश्चर्य हुआ कि जिस तरह आसाम की यात्रा में सारन-जिले के आदमियों से मुलाकात हो गयी थी उसी तरह बंगाल के दिहातों में भी हमारे प्रदेश के लोग फैले हुए हैं। गरीब बिहारी मजदूरों में बहुत हिम्मत और अध्यवसाय है जो वहाँ के पढ़े-लिखे लोगों में नहीं देखा जाता। शिक्षितवर्ग के लोग प्रान्त के बाहर बहुत कम मिलते हैं, पर अशिक्षित मजदूर एक ओर बम्बई में मुझे इत्तफाक से मिल गये हैं तो दूसरी ओर बरमा और बंगाल तथा आसाम में फैले हुए हैं। अँगरेजी शिक्षा हमारे प्रान्त के लोगों को कायर और निकम्मा बना देती है क्या ?

इस सम्बन्ध में एक और बात याद आ जाती है। ये गरीब बेचारे सुदूर बरमा, बंगाल, आसाम इत्यादि में जाकर मजदूरी करते हैं, वहाँ के खेतों को आबाद करते हैं और फसल तैयार होने पर काटते हैं; पालकी ढोते हैं; बैलगाड़ी हाँकते हैं; मिट्टी काटने के काम पर तो मानों इन लोगों का एकछत्र राज्य है—गाँवों में तालाब खोदना, कुँआ बनाना, मकान बनाना इत्यादि जितने आवश्यक काम हैं सभी करते हैं—धनी लोगों के घरों में नौकरी करते हैं, खिदमतगारी और पहरेदारी दोनों काम बहुत करके इनके ही हाथों में हैं। इस तरह बंगाल, आसाम इत्यादि से बिहार के गाँवों में बहुत पैसे आया करते हैं—विशेषकर सारन-जिले में। जीरादेई गाँव के पोस्ट-आफिस में, जब कमासुत लोग बाहर गये रहते हैं तब, प्रायः प्रति सप्ताह ४-५ हजार रुपये मनीआर्डर के जरिये आया करते हैं। लोगों ने हिसाब लगाया है कि इस प्रकार से बिहार के गाँवों में बाहर से प्रायः ५ करोड़ सालाना आया करता था। कुछ बंगाली भाइयों का कहना था कि बिहार के लोग बंगालियों की शिकायत करते हैं कि वे बिहार में आकर बहुत धन पैदा किया करते हैं—जब बिहारी इतने अधिक पैसे बंगाल से लाते हैं। यह बात सच है कि बिहारी इस बात की शिकायत किया करते हैं—विशेषकर शिक्षित बिहारी, जिनको बंगालियों के साथ सरकारी दफ्तरों और वकालतखानों में मुकाबला करना पड़ता है। मालूम नहीं कि इस तरह सरकारी दफ्तरों के क्लर्क, राजे-रजवाड़ों की नौकरी करनेवाले बाबू, कालेजों और स्कूलों के शिक्षक, वकील, डाक्टर इत्यादि बिहार से कितना ले जाते हैं; क्योंकि इनके रुपये तो गरीबों की तरह छोटे-छोटे मनीआर्डरों द्वारा जाते नहीं हैं, और यह कहना कठिन है कि हिसाब लगाने पर बिहार मुनाफे में पाया जायगा या बंगाल। पर एक बात स्पष्ट है। बिहारी लोग बंगाल में जाकर ऐसे आवश्यक काम करते हैं जिनके बिना वहाँ के लोगों का जीवन-निर्वाह ही कठिन हो जाय और जिनकी जरूरत बंगाली भाई महसूस करते हैं। किन्तु बिहार में बंगाली ऐसे काम करते हैं जिनके सम्बन्ध में शिक्षित बिहारी चाहते हैं और कहते हैं कि बंगाली अगर उन कामों पर न आवें तो बिहारियों का कुछ नुकसान नहीं होगा और वे खुद ही सभी कामों को सँभाल लेंगे। इसके अलावा, जितना सैकड़ों बिहारी एँड़ी-चोटी का पसीना एक करके और मलेरिया इत्यादि के शिकार बनकर पैदा करते हैं उतना एक बंगाली हुकूमत की कुर्सी पर बैठकर आराम करते हुए पैदा कर लेता है। जो हो, इस प्रकार का मनमुटाव बहुत दिनों से चला आ रहा है। नौकरी-पेशा लोगों में बिहारी और बंगाली की काफी होड़ है। गरीबों की बात तो शायद ही किसी के ध्यान में आती है।

इसी झगड़े के कारण, कांग्रेस-मिनिस्ट्री के समय में, बिहार में बहुत आन्दोलन हुआ। एक ओर बिहारियों की शिकायत थी कि अनेक विभागों के दफ्तरों में और सरकारी ओहदों पर उसी समय से—जब बंगाल और बिहार एक साथ थे—बंगालियों ने कब्जा कर लिया है और अलग सूबा कायम होने के प्रायः तीस बरसों के बाद भी उनका वैसा ही आधिपत्य है। दूसरी ओर बंगालियों का कहना था कि बहुतेरे

बंगाली प्रायः भाषा तो बँगला बोलते हैं, पर वे बिहार के निवासी हैं अथवा बिहार में बस गये हैं, इसलिए उन्हें सरकारी नौकरियाँ देने में किसी प्रकार का बंगाली-बिहारी भेद-भाव करना अनुचित है—उनकी शिकायत थी कि इस प्रकार का भेद-भाव किया जाता है। यह शिकायत काँग्रेस तक पहुँची और जिस समय श्री सुभाषचन्द्र बोस काँग्रेस-प्रेसिडेण्ट थे उस समय वर्किंग कमिटी ने जाँच कर रिपोर्ट देने का भार मेरे ऊपर डाला। मैंने सब बातों की जाँच-पड़ताल करके एक लम्बी रिपोर्ट दी जिसमें इतिहास के अलावा आगे के लिए सुझाव भी पेश किये कि सबके साथ इन्साफ का बर्ताव किस तरह किया जा सकता है। वर्किंग कमिटी ने मेरी रिपोर्ट को न्याययुक्त समझकर मंजूर किया और काँग्रेसी मंत्रिमण्डल को उसी के अनुसार काम करने का आदेश दिया। मेरा अनुमान है कि मेरी सिफारिशों को दोनों पक्षों ने मंजूर किया। यद्यपि किसी एक पक्ष की सभी माँगें उसमें मंजूर नहीं की गयी थीं तथापि लोगों ने यह समझ लिया कि जो मैंने कहा है वह एक प्रकार से ठीक ही है।

अस्तु, जब मैं दिहातों से लौटकर ढाका-शहर में पहुँचा तो मालूम हुआ कि ढाका के दंगे के सम्बन्ध में गवर्नमेण्ट ने जाँच कराने का निश्चय किया है और सरकार की ओर से बंगाल के स्टैंण्डिंग कौन्सल मेरे पुराने दिली दोस्त श्री योगेन्द्रनारायण मजुमदार पैरवी के लिए भेजे गये हैं। बहुत दिनों से भेंट नहीं हुई थी और इस सुयोग को अच्छा समझकर मैं उनसे मिलने गया। वह नदी में एक छोटे स्टीमर पर ही ठहरे हुए थे। उनसे बातें कर ही रहा था कि खबर आयी, ढाका-शहर में फिर खून-खराबा शुरू हो गया और एक या दो आदमियों को छुरा घोंप दिया गया। मुझे दूसरे ही दिन चला आना था। रात को भी यह काम जारी रहा। सवेरे मालूम हुआ कि शहर में काफी हलचल है और कई आदमी छुरों के शिकार हो गये हैं। ऐसा मालूम होता था कि हिन्दुओं को यदि यह पता लग गया कि मुसलमानों ने किसी मुहल्ले में एक या दो हिन्दुओं को छुरा भोंक दिया तो दो-चार घंटों के भीतर ही कहीं न कहीं किसी मुहल्ले में उतने ही मुसलमानों को छुरे भोंक दिये जाते थे। इसी तरह की होड़ हिन्दू-मुसलमान कर रहे थे। इस प्रकार की होड़ के कारण ही छुरा मारनेवाले इस बात का विचार नहीं करते थे कि जो मारा गया उसने क्या कसूर किया था। मारनेवाले तो सुरक्षित बच जाते थे और चुपचाप अपनी राह जाने-वाले निरीह बेकसूर—हिन्दू हों या मुसलमान—बिना कारण मारे जाते। दोपहर को हमारे रवाना होने तक ८–१० खून हो चुके थे। जाँच का काम इस परिस्थिति में होना असम्भव था। इसलिए वह स्थगित कर दिया गया और जिस जहाज से मैं लौटा उसी जहाज से योगेन्द्र बाबू भी कलकत्ते आये।

कलकत्ते से मैं सीधे पटना वापस आया। मैं पटने में १९४१ के जून के अन्तिम दिनों में पहुँचा। रास्ते में ही जो खाँसी-दमा शुरू हुआ था वह बहुत बढ़ गया। ज्वर भी हो आया। मैं पटने में ही रुक गया। बरसात भी शुरू हो गयी जो मेरे स्वास्थ्य के लिए बहुत खराब होती है। प्रायः दो महीनों तक मैं वहीं पड़ा रहा।

अन्त में, जैसा ऊपर कह चुका हूँ, व्यक्तिगत सत्याग्रह में कैद हुए लोग छूटने लगे। विशेषकर श्री बाबू, अनुग्रह बाबू इत्यादि प्रमुख लोग छूट गये। उनसे भेंट करके और जिला-बोर्डों तथा म्युनिसिपैलिटियों से काँग्रेसी मेम्बरों को निकल आने का आदेश देकर मैं स्वास्थ्य-सुधार के लिए वर्धा चला गया।

१४३—युद्ध की विषम स्थिति से क्रिप्स-योजना का शुभागमन

जब मैं ढाका में था तभी जर्मनी ने रूस के साथ युद्ध की घोषणा कर दी। बहुत जोरों से रूस में जर्मन सेना प्रवेश करके आगे बढ़ने लगी। थोड़े ही दिनों में रूस के बहुत बड़े हिस्से पर जर्मनों ने कब्जा कर लिया। यह लड़ाई बहुत बड़े पैमाने पर हो रही थी। रूस के उत्तरी छोर से लेकर दक्खिनी छोर तक जर्मन और रूसी सेनाओं का भिड़न्त हो रहा था। जर्मनी ने पश्चिम में स्पेन और पुर्तगाल, उत्तर में स्वीडन और दक्खिन में इटली को छोड़कर योरप के प्रायः सभी देशों पर कब्जा कर लिया था। स्पेन में फ्रांको का आधिपत्य था, जिसको डिक्टेटर बनाने में जर्मनी ने बहुत मदद दी थी, इसलिए वह जर्मनी का बहुत कृतज्ञ था। स्वीडन बहुत कुछ दब गया था। इटली भी जर्मनी के साथ लड़ाई में शरीक हो गया था। उक्त विजित देशों में कुछ लोग लुक-छुपकर छापे मारने की गोरिल्ला-लड़ाई जहाँ-तहाँ जर्मनों के साथ कर रहे थे, पर अधिकतर स्थानों में जर्मन शासन चल रहा था अथवा जर्मनी ने ऐसे लोगों के हाथों में अधिकार दे रखा था जो उसकी ओर से शासन कर रहे थे।

अमेरिका की सहानुभूति इँगलैंड के साथ थी। जहाज, हथियार इत्यादि द्वारा वह अँगरेजों को मदद भी पहुँचा रहा था; पर खुले खजाने अभी लड़ाई में नहीं उतरा था। उधर जापान भी चीन के बहुत बड़े हिस्से को अपने पंजे में कस चुका था और दिन-दिन आगे बढ़ता जा रहा था। अमेरिका तो चीन की मदद करना चाहता था, पर उसको मदद पहुँचाने का एक ही रास्ता था जो खतरे से खाली न था। वह रास्ता था बरमा होकर। अँगरेज जापान को नाखुश नहीं करना चाहते थे, इसलिए उन्होंने बरमा का रास्ता बन्द कर दिया। चीन एक प्रकार से लाचार होता जा रहा था। जापान इस ताक में था कि मौका पाकर अमेरिका से बदला लें। यह मौका १९४१ के जाड़ों के आरम्भ में उसने ढूँढ़ निकाला और अमेरिका के पर्ल-हार्बर पर धावा बोलकर अमेरिका की जलसेना को भारी क्षति पहुँचायी। उसने इँगलैंड और हालैंड से भी लड़ाई ठान दी तथा जर्मनी और इटली के साथ दोस्ती गाँठ ली। १९४१ के नवम्बर से आरम्भ करके थोड़े ही दिनों में उसने दक्खिन-पूरब एशिया के बहुत बड़े हिस्से पर सिक्का जमा लिया। डच-उपनिवेश—जैसे जावा, सुमात्रा, बोर्नियो और दूसरे टापू—उसकी धाक में आ गये। अँगरेजों से सिंहपुर (सिंगापुर) उसने जल्द ही जीत लिया। मलाया पर दखल जमाते हुए वह बरमा की ओर आगे बढ़ा। शीघ्र ही मोलमीन, रंगून, मांडले प्रभृति बरमी शहरों को हथियाकर प्रायः सारे बरमा को हड़प लिया। लड़ाई छेड़ने के एक-दो दिनों के अन्दर ही उसने ब्रिटिश जल-सेना

को सिंगापुर के नजदीक कहीं एक लड़ाई में गहरी शिकस्त दी। 'प्रिन्स आफ वेल्स' नामक बहुत बड़े जहाज पर अँगरेजी एडमिरल फिलिप बहुत गर्व करके यह घोषणा कहते हुए निकला था कि वह जापानी जल-सेना की तलाश में जा रहा है। उसे जापान ने डुबा दिया।

उत्तर-अफ्रिका में इटालियन लोगों के कुछ उपनिवेश हैं ही। वहाँ भी अँगरेजों से लड़ाई ठन गयी और जर्मन पहुँच गये। उन्होंने चन्द महीनों के भीतर ही उत्तर-अफ्रिका को, प्रायः इजिप्ट (मिस्र) की सीमा तक, अपने चंगुल में कर लिया। ऐसा मालूम होता था कि कोई भी देश अब जर्मनी और जापान की सेनाओं की बाढ़ को रोक न सकेगा। जाड़ों के कारण रूस में जर्मन सेना को कुछ रुक जाना पड़ा, पर वह पीछे न हटी, जहाँ तक पहुँच गयी थी वहीं डटी रही। १९४२ के आरंभिक महीनों में ऐसी परिस्थिति मालूम होती थी कि लड़ाई में अमेरिका के आ जाने से ब्रिटेन की जान तो लौट आयी, पर अभी जापानी और जर्मन सेना का मुकाबला कोई नहीं कर सकता था। अमेरिका बहुत बड़े पैमाने पर युद्ध-सामग्री, जल-सेना और स्थलसेना तैयार करने लगा। वह उन सभी देशों को अस्त्र-शस्त्रों की मदद पहुँचाने लगा जो मित्रों की ओर से लड़ना चाहते थे। उसकी पूरी शक्ति के संगठित रूप से लड़ाई में पूरी मदद पहुँचाने में समय अपेक्षित था और १९४२ के आरंभिक महीनों तक वह समय नहीं पहुँचा था।

जर्मनी के खिलाफ यह शिकायत की जाती थी कि जो देश उसका साथ देने को तैयार नहीं होते उन पर धावा बोलकर वह कब्जा कर लेता। पर इस दोष से अँगरेज और मित्र-देश भी बरी नहीं थे। उनको डर था कि जर्मन और जापानी सेनाओं का संगम हिन्दुस्थान में किसी समय हो सकता है। उसी को रोकने के लिए अँगरेज एक ओर बरमा की सीमा पर लड़ना चाहते थे और दूसरी ओर इजिप्ट के पास दूसरा मोरचा बनाना चाहते थे। एक और भी मोरचा अरब और ईरान में बनाना चाहते थे। इसलिए उन्होंने अरब और ईरान पर कब्जा कर लिया। ईरान के बादशाह रजाशाह पहलवी को, जिसने १९१४–१८ के युद्धोत्तर-काल में ईरान को शक्तिशाली बनाने का पूरा प्रयत्न किया था और जो वहाँ के लोगों की उन्नति करने में बहुत-कुछ सफल भी हुआ था, तख्त से उतारकर निर्वासित कर दिया। फिर क्या, रूसी और अँगरेजी तथा अमेरिकन सेनाओं का एक बहुत बड़ा अड्डा उस देश में बन गया। विपत्ति-काल में दुश्मन भी दोस्त बन जाते हैं! मि० चर्चिल ने रूस के साथ, जिसका विरोध उन्होंने अपने सारे जीवन में किया था और जिसको न मालूम कितनी गालियाँ दी थीं, दोस्ती कर ली। ऐसा मालूम हुआ कि सारी पिछली बातें दोनों भूल गये!

ऐसी स्थिति में इँगलैंड ने यह सोचा कि हिन्दुस्तान के साथ कुछ तय कर लेना चाहिए। सर स्टैफोर्ड क्रिप्स, जो इँगलैंड के राजदूत बनाकर उस समय रूस में भेजे गये थे जब रूस और जर्मनी के बीच मित्रता थी तथा जिन्होंने रूस को बहुत-

कुछ जर्मनी के विरुद्ध उभाड़ने में मदद की थी, लड़ाई ठन जाने पर इँगलैंड वापस आ गये। तब वहाँ की युद्ध-परिषद् के वह प्रमुख सदस्य बन गये। अपने प्रगतिशील विचारों के कारण वह लेबर-पार्टी (मजदूर-दल) से भी अलग कर दिये गये थे। पर इस कठिन समय में, अपनी योग्यता के कारण, और विशेषकर रूस में जो कीर्ति कमा चुके थे उसके कारण, वह बहुत ही लोकप्रिय हो गये। उन्होंने ब्रिटिश कैबिनेट को इस बात के लिए तैयार किया कि भारत के साथ कुछ समझौता कर लेना चाहिए। कैबिनेट ने, जिसमें लेबर-दल और लिबरल-दल के लोग भी शरीक थे, एक योजना तैयार की। उसे लेकर सर क्रिप्स हिन्दुस्तान आये! यह योजना पहले प्रकट नहीं की गयी। बहुत ही धूमधाम के साथ यह कहते हुए कि भारतवर्ष के लिए यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योजना है—इसे भारतवर्ष द्वारा मंजूर करा लेने का बीड़ा उठाकर वह १९४२ के मार्च में हिन्दुस्तान पहुँचे! पहुँचते ही काँग्रेस-प्रेसिडेण्ट मौलाना आजाद और गांधीजी तथा दूसरे नेताओं से मुलाकात शुरू कर दी। कुछ दिनों के बाद योजना प्रकाशित भी कर दी गयी। वर्किंग कमिटी की बैठक दिल्ली में हुई। हम सभी वहाँ प्रायः दो-तीन सप्ताह इस पर विचार करते रहे। आरम्भ में कुछ समय तक गांधीजी भी दिल्ली में रहे। पर कस्तूरबा गांधी की अस्वस्थता के कारण वह सेवाग्राम चले गये। काँग्रेस की ओर से बातचीत मौलाना आजाद और पंडित जवाहरलाल नेहरू करते रहे। वर्किंग कमिटी के सभी सदस्य देहली में ठहरे थे। जो बातें होतीं उन पर विचार करने के लिए बराबर वर्किंग कमिटी की बैठकें होती रहीं।

क्रिप्स-योजना दो मुख्य भागों में विभक्त की जा सकती है। उसके पहले भाग में हिन्दुस्तान का भावी विधान बनाने का तरीका बतलाया गया है। दूसरे में यह बतलाया गया है कि तत्काल भारत-सरकार का काम चलाने के लिए वाइसराय की वर्तमान कौन्सिल में क्या परिवर्तन होगा। इसमें भविष्य के सम्बन्ध में यह साफ-साफ कह दिया गया था कि लड़ाई के बाद हिन्दुस्तान को वही स्थान मिलेगा जो दूसरे उपनिवेशों को है और यदि वह चाहे तो साम्राज्य से अलग हो जाने का भी उसे अधिकार होगा—विधान बनाने के लिए परिषद् बनेगी जिसे प्रान्तीय धारा-सभाएँ चुनेंगी—प्रत्येक प्रान्त को अधिकार होगा कि वह यदि चाहे तो भारतीय संघ (युनियन) से अपने को अलग कर ले, और यदि किसी प्रान्त ने ऐसा किया तो ब्रिटिश सरकार का उसके साथ वही सम्बन्ध रहेगा जो बाकी भारत अथवा भारतीय युनियन के साथ होगा। इस प्रकार इस योजना ने मुस्लिम लीग की माँग मान ली और पाकिस्तान की स्थापना को सूबों पर छोड़ रखा। तत्काल के सम्बन्ध में इस योजना में यह नहीं कहा गया था कि वाइसराय की कौन्सिल को क्या अधिकार दिया जायगा। उसमें केवल इतना ही था कि उसे सेना-सम्बन्धी और युद्ध-सम्बन्धी कोई अधिकार नहीं होगा जिसका अर्थ लोगों ने आम तौर से यही लगाया कि अन्य विभागों और महकमों में कौन्सिल को अधिकार मिलेगा। पूछने पर क्रिप्स महोदय ने कुछ ऐसा ही कह भी दिया।

गांधीजी को इस योजना से सन्तोष नहीं हुआ। उन्होंने मुलाकात में सर क्रिप्स से ऐसा ही कह भी दिया। वर्किंग कमिटी के विचार में भी यह योजना मान्य नहीं जँची; पर उसने उस पर बहुत समय देकर विचार किया। भविष्य के सम्बन्ध में यद्यपि एक प्रकार से पाकिस्तान की बात को योजना मान लेती थी और उसे वर्किंग कमिटी मानना नहीं चाहती थी तथापि वर्किंग कमिटी यह समझती थी और उसने अपने निश्चय में कहा भी कि यह बात यदि साबित हो जाय कि किसी सूबे के लोग अलग होना चाहते हैं तो उसे वह जबरदस्ती अपने साथ रखना भी आत्मनिर्णय के सिद्धान्त के विरुद्ध समझती है। उसका विशेष ध्यान तो तात्कालिक काम के लिए प्रस्तावित कौन्सिल पर था; क्योंकि वह मानती थी कि लड़ाई के जमाने में सारा बोझ उस पर पड़ेगा और उसमें यदि कुछ अधिकार भारतीयों को नहीं मिलता है तो इस बोझ को भारत के हित की दृष्टि से भारतीय लोगों के लिए उठाना केवल अनुचित ही नहीं, बल्कि असम्भव अथवा कम से कम कठिन तो अवश्य होगा। इसलिए उसने उस बात को पूरी तरह साफ कर लेना चाहा कि सेना और युद्ध से सम्बन्ध रखनेवाला कोई भी अधिकार कौन्सिल को होगा या नहीं अथवा सब कुछ वाइसराय और जंगी लाट के हाथों में ही रहेगा। बातचीत के बाद उन्होंने कुछ थोड़ा-सा नाम-निहादी अधिकार कौन्सिल के हिन्दुस्तानी मेम्बर के हाथ में देना भी स्वीकार किया; पर जब पूछा गया कि वह अधिकार कौन-सा और कितना होगा, तो मालूम हुआ कि वह बिलकुल नाम-मात्र होगा जिसमें कुछ भी अधिकार वस्तुतः हस्तान्तरित नहीं होगा।

कमिटी को जब यह बात साफ-साफ मालूम हो गयी तो उसने यह निश्चय किया कि वह योजना को मंजूर नहीं करेगी। पर अभी तक उसकी यही धारणा थी कि फौज और लड़ाई छोड़कर दूसरे विषयों में कौन्सिल को पूरा अधिकार होगा तथा वाइसराय उसकी राय के मुताबिक ही काम किया करेगा। साथ ही, यह भी जाहिर था कि लड़ाई के दिनों में दूसरे विभागों में कुछ विशेष काम तो होगा नहीं, और लड़ाई ऐसी चीज है जिसके चलाने में गवर्नमेण्ट की सारी शक्ति लगानी पड़ेगी, दूसरे विभागों को भी उसी काम में लग जाना पड़ेगा; इस तरह वह भी एक प्रकार से सेना और लड़ाई के विभाग के ही अधीन हो जायँगे, इसलिए उनमें अधिकार मिलने का भी कोई महत्त्व नहीं रह जायगा। कमिटी के यह निश्चय कर लेने के पहले ही जब यह सब बातें कही गयी थीं तो सर क्रिप्स ने कहा था कि कमिटी अपने निश्चय को स्थगित रखे और वह कैबिनेट के पास इस सम्बन्ध में लिखा-पढ़ी करेंगे। इसी लिखा-पढ़ी का यह नतीजा था कि सेना-सम्बन्धी नाम-निहादी अधिकार देने की बात हुई थी। जब इस पर भी विचार करने के बाद कमिटी इसी नतीजे पर पहुँची कि कुछ भी वास्तविक अधिकार नहीं मिलता तो उसके सामने योजना को नामंजूर करने के सिवा दूसरा रास्ता नहीं रह गया। उसने यह निश्चय कर भी लिया। ठीक इसी अवसर पर प्रेसिडेण्ट रूसवेल्ट के विशेष दूत कर्नल जौन्सन दिल्ली पहुँचे। पंडित

जवाहरलाल नेहरू से उनकी मुलाकात हुई। उन्होंने कहा कि कुछ समय दीजिए, मैं भी कोशिश करके देखूँ कि कुछ हो सकता है या नहीं। उनकी कोशिश का नतीजा यह हुआ कि जो बात सर क्रिप्स ने सेना के सम्बन्ध में लिखा-पढ़ी के बाद कही थी, उसके रूप में परिवर्तन हुआ। कैबिनेट का प्रस्ताव था कि सेना-सम्बन्धी कुछ बातों को छोड़कर और सभी बातें जंगी लाट के अधीन होंगी। अब यह प्रस्ताव आया कि निम्नलिखित बातें जंगी लाट के अधीन होंगी और बाकी सब बातें मेम्बर के अधीन।

देखने में बात अच्छी लगी; पर प्रश्न यह था कि निम्नलिखित बातों में कौन कौन-सी बातें होंगी। पूछने पर कुछ विभागों के नाम बता दिये गये। कर्नल जौन्सन भी इस बात को नहीं जानते थे कि विभागों के नाम जो दिये गये थे उनके बाहर कौन बातें रह गयी थीं जो मेम्बर के अधिकार में आवेंगी। अन्त में, बहुत पूछ-ताछ के बाद, मालूम हुआ कि केवल वही बातें होंगी जो कैबिनेट के प्रस्ताव में पहले कही गयी थीं, उनसे कुछ भी ज्यादा नहीं! इससे स्पष्ट हो गया कि यह शब्दाडम्बर मात्र था, कोई वास्तविक अन्तर नहीं था। यह हम लोगों को बुरा मालूम हुआ। इस पर भी हम सोचने लगे कि सेना-विषयक और युद्ध-सम्बन्धी अधिकार यदि नहीं मिलते हैं तो न सही, पर यदि दूसरे विभागों पर अधिकार मिलते हैं तो उस पर ही सन्तोष किया जा सकता है। परन्तु यह जान लेना चाहिए कि वह भी कहाँ तक वास्तविक रूप में मिलता है। पूछने पर सर क्रिप्स ने कहा कि इस सम्बन्ध में वाइसराय से ही बात करनी होगी; क्योंकि यह बात उनकी कौन्सिल से सम्बन्ध रखती है और जब कानून नहीं बदलता है तो प्रचलित विधान के अनुसार उनके जो अधिकार हैं उनके सम्बन्ध में वही कुछ कह सकते हैं। जब यह कहा गया कि कैबिनेट उनको आदेश दे कि वह अपने अधिकारों को काम में न लावें और उन विषयों में कौन्सिल की राय के अनुसार ही काम किया करें, तो उत्तर मिला कि कैबिनेट इस प्रकार का आदेश नहीं दे सकता है। हम लोगों को यह पूरा-पूरा मालूम था कि कौन्सिल के मेम्बरों की कोई हैसियत वाइसराय नहीं मानते थे। वह मानते और कहा भी करते थे कि मेम्बरों को कोई अधिकार नहीं है, अन्त में सारा अधिकार वाइसराय को ही है और उसे वह छोड़ना नहीं चाहते हैं!

जब यह जाहिर हो गया कि उन विभागों में भी अधिकार नहीं मिलता और जो बातें सर क्रिप्स ने पहले कही थीं कि कैबिनेट की तरह कौन्सिल भी अधिकार रखेगी और काम करेगी, वह केवल वागाडम्बर था, उसमें कुछ भी तथ्य नहीं था, तो वर्किंग कमिटी उसे नामंजूर करने के सिवा दूसरा कुछ कर नहीं सकी; वैसा ही प्रस्ताव पास करके भेज दिया गया। सर क्रिप्स ने भी उसी दिन घोषणा कर दी कि वह वापस जा रहे हैं और जो बात कैबिनेट की ओर से हिन्दुस्तान के सामने पेश की गयी थी वह वापस ली जाती है। मुस्लिम लीग काँग्रेस के फैसले का इन्तजार कर रही थी और जैसे ही हमारा फ़ैसला हो गया उसने भी योजना को नामंजूर किया;

पर कारण यह बतलाया कि उसमें पाकिस्तान नहीं दिया गया है, केवल उसकी सम्भावना है और वह इतने ही मात्र से सन्तुष्ट नहीं है।

इस तरह, काँग्रेस और लीग, दोनों ही ने योजना को नामंजूर किया। काँग्रेस वर्किंग कमिटी मानती थी कि पाकिस्तान की सम्भावना बताना भी ठीक नहीं था—यदि कोई प्रान्त सचमुच अलग होने की इच्छा रखता है और इसका पूरा सबूत मिल जाय तो उसे जबरदस्ती साथ रखना आत्म-निर्णय के सिद्धान्त के विरुद्ध होगा, तो भी उसने योजना को इस कारण से नामंजूर नहीं किया था। उसकी नामंजूरी का कारण यह था कि तत्काल कुछ अधिकार नहीं मिल रहे थे, यद्यपि कौन्सिल पर लड़ाई में मदद करने का भार पूरा-पूरा आ जाता था, जिसका अर्थ इतना मात्र था कि चन्दा और 'कर' उगाहने तथा रँगरूट भर्ती करने और कराने के अलावा उसको कोई दूसरा अधिकार नहीं मिलता! लीग की नामंजूरी का कारण तत्काल मिलनेवाले अधिकार से सम्बन्ध नहीं रखता था। वह कारण तो केवल लीगी मुसलमानों की राय के अनुसार तुरन्त पाकिस्तान कायम न करना मात्र था।

वर्किंग कमिटी के अन्दर श्री राजगोपालाचारी का विचार था कि क्रिप्स-योजना को मान लेना चाहिए। उन्होंने ही इस बात पर जोर दिया था कि उसके द्वारा वाइसराय की कौन्सिल के सदस्यों को फौज और लड़ाई छोड़कर अन्य सब विभागों पर पूरा अधिकार मिल जाता है। पर जब अन्त में यह साफ हो गया कि उस विषय में भी कुछ अन्तर होनेवाला नहीं है और वाइसराय अपनी मनमानी करने के अधिकार में किसी प्रकार की कमी आने देना नहीं चाहते हैं, तो उनका मुँह भी बन्द हो गया। वर्किंग कमिटी के इस निश्चय के सम्बन्ध में काँग्रेस के अन्दर भी कुछ लोगों को बहुत गलतफहमी रही, जैसा पीछे जाकर मालूम हुआ। पर हमारे दिल में कभी कोई सन्देह नहीं रहा। सर क्रिप्स ने भी कुछ ऐसी बातें कहीं जो निराधार थीं। उन्होंने अपने एक बयान में यह कह दिया कि इसकी नामंजूरी हिन्दू-मुस्लिम झगड़ों के कारण हुई, काँग्रेस और मुस्लिम लीग एक राय न हो सकीं तो दोनों ने इसे नामंजूर कर दिया! उनके बयान का आशय था कि इस नामंजूरी का दोष काँग्रेस पर ही है। बात यह थी कि वर्किंग कमिटी के सामने इस विषय में हिन्दू-मुस्लिम झगड़े या मतभेद की बात उस रूप में आयी ही नहीं जिस रूप में लोगों ने बताया। पाकिस्तान-सम्बन्धी घोषणा के सम्बन्ध में वर्किंग कमिटी का योजना से मतभेद जरूर था; पर उसने उस कारण से उसे नामंजूर नहीं किया था। उसकी नामंजूरी का कारण, जैसा पहले भी संक्षेप में कहा गया है, बस एक ही था और वह यह कि इसके द्वारा हिन्दुस्तानी कौन्सिलरों के हाथों में कोई अधिकार नहीं मिलता था, इसलिए इस युद्ध-काल में यह जवाबदेही लेकर वे देश का हित नहीं कर सकेंगे और लड़ाई की मदद करने की जिम्मेदारी उनके सिर पर आ जायगी। यह भी गलत है कि उसमें हिन्दू और मुसलमानों की संख्या कितनी होगी—इस बात पर मतभेद हुआ, जैसा कुछ विरोधियों के बयान से मालूम होता था। पर कौन्सिल में कितने मेम्बर होंगे, उनमें कितने हिन्दू और कितने मुसलमान

होंगे, कितने काँग्रेसी और कितने लीगी रहेंगे—यह सवाल एक बार भी हमारे सामने नहीं आया। इसका मौका भी नहीं था; क्योंकि यह सवाल तो तब उठता जब हम निश्चय कर लेते कि कौन्सिल में हमें जाना चाहिए। हमने जब वहाँ जाने से ही इनकार कर दिया तब हमारी संख्या उसमें कितनी होगी, यह प्रश्न कैसे उठ सकता था और कभी उठा भी नहीं था। पर हमारे विरुद्ध इस प्रकार का प्रचार बहुत किया गया।

१४४—क्रिप्स-योजना की नामंजूरी के बाद

क्रिप्स-योजना की नामंजूरी वर्किंग कमिटी ने की थी। अब उस पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी का जलसा होना आवश्यक हो गया। वह इलाहाबाद में थोड़े ही दिनों के बाद हुआ। यह बात अब स्पष्ट दीखने लगी कि मामला नामंजूरी तक ही नहीं रहेगा, काँग्रेस को अपनी नीति बताने के लिए कुछ और भी करना पड़ेगा। जापान तेजी से आगे बढ़ता आ रहा था। अँगरेजी फौज उसका मुकाबला नहीं कर सकती थी। हिन्दुस्तान में उस मुकाबले के लिए पूरी तैयारी भी नहीं थी। खूब तेजी के साथ अँगरेजी और अमेरिकन फौजें यहाँ लायी जा रही थीं। अस्त्र-शस्त्र भी लाये जा रहे थे। पर अभी ऐसा नहीं मालूम होता था कि मुकाबला कामयाब हो सकेगा। देश के सामने प्रश्न यह था कि जापान यदि आ गया तो क्या हिन्दुस्तान उसके सामने सिर नवाकर उसका स्वागत करेगा अथवा उसका मुकाबला करेगा। अँगरेजी गवर्नमेण्ट, जिसने हिन्दुस्तान की रक्षा का भार अपने ऊपर ले रखा था, असमर्थ मालूम पड़ती थी। पर इस असमर्थता के बावजूद वह हमारे साथ कुछ समझौता करके हमको इसका मौका नहीं देना चाहती थी कि हम भी अपने देश की रक्षा में हाथ बँटा सकें। गांधीजी की, अहिंसात्मक रूप से मुकाबला करने की, नीति को वर्किंग कमिटी ने एक तरह से छोड़ दिया था। वह शस्त्र के साथ, अँगरेजी फौज के कंधे से कंधा मिलाकर जापान का मुकाबला करने की अपनी तैयारी घोषित कर चुकी थी और करना भी चाहती थी। पर वह ऐसा तभी कर सकती थी जब वह भी ब्रिटिशों की बराबरी में अधिकार-पूर्वक काम करे। ब्रिटिश यह पसन्द नहीं करते थे! वे चाहते थे कि हिन्दुस्तान जो कुछ मदद दे सकता है दे, पर उसे वे अपनी गुलामी से बरी करना नहीं चाहते थे। मिस्टर चर्चिल ने ऐसा बार-बार कहा भी था कि ब्रिटेन किसी नये देश को अपने कब्जे में करने की लालच नहीं करता, पर साथ ही साथ जो उसका है उसे छोड़ना भी नहीं चाहता। यह स्पष्ट था कि भारत तो उसका था ही और उसे इस विपत्ति-काल में भी वह छोड़ना नहीं चाहता था। कठिन घड़ी में उन्होंने फ्रान्स से कहा था कि ब्रिटिश साम्राज्य और फ्रेञ्च साम्राज्य दोनों मिला दिये जायँ—वही ब्रिटिश साम्राज्य जिसको कितनी लड़ाइयों और कितनी खूँरेजियों के बाद ब्रिटेन ने फ्रान्स से जीता था! पर भारतीयों का अपने मुकाबले में बैठना ब्रिटेन नहीं सह सकता था—उनको अपने देश में अधिकार-पूर्वक जापानियों के साथ मुकाबला करने का मौका देने के लिए वह तैयार नहीं था!

ऐसी अवस्था में हमारे सामने प्रश्न यह था कि हम अपनी रक्षा किस प्रकार करें। लोगों में उत्साह यदि न रहा तो जापानी आसानी से कब्जा कर लेंगे। हो सकता है कि कुछ लोग ऐसे हों जो यह समझते हों कि इँगलैंड अगर किसी तरह हटा और जापानी आकर बैठ भी जायँ, तो विशेष चिन्ता की बात न होगी, उनके साथ हम पीछे निपट लेंगे। हो सकता है कि कुछ लोग जापान से मदद लेकर अँगरेजों को हटाने में कोई हानि न देखते हों। पर वर्किंग कमिटी के अन्दर अथवा प्रमुख काँग्रेसी लोगों में कोई भी ऐसा न था जो जापान को मदद देकर अथवा तटस्थ रहकर ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को इस देश से बाहर करना चाहता हो। इसका कारण यह नहीं था कि वे ब्रिटिश को जापान से बेहतर समझते थे। हम जापान को ब्रिटेन से कदापि बेहतर नहीं समझते थे। उसका जो बर्त्ताव चीन के साथ हुआ था, वह जिस तरह चीन को दबाकर उसके बहुत बड़े भूभाग को अपनी मुट्ठी में किये हुए था, उसका एक ही अर्थ हो सकता था और वह यह था कि वह भी ब्रिटेन की तरह अपना साम्राज्य विस्तृत और स्थिर करना चाहता था। एक साम्राज्य से निकलकर दूसरे साम्राज्य के कब्जे में जाने में कोई बुद्धिमानी नहीं थी। वह तो चढ़ी कड़ाही से उछलकर आग में कूद पड़ने के समान ही था। इसलिए हमारा निश्चय था कि हमको जापान का मुकाबला करना ही होगा। अपने सिद्धान्त छोड़ने पर भी ब्रिटिश गवर्नमेण्ट काँग्रेस को सशस्त्र और साधिकार मुकाबले का मौका देना नहीं चाहती थी। हमारे लिए अपने तरीके से मुकाबला करने के सिवा दूसरा कोई रास्ता नहीं था। उस मुकाबले की तैयारी का, जनता में शत्रु के मुकाबले के लिए उत्साह बढ़ाने के सिवा, दूसरा कोई तरीका न था। क्या वह देश नवागन्तुक जापानियों के मुकाबले के लिए तैयार किया जा सकता था जो स्थापित ब्रिटिश साम्राज्य का मुकाबला करने में असमर्थ था अथवा मुकाबला नहीं करना चाहता था? हम समझते थे कि ऐसी स्थिति में, मुकाबले के लिए भारतीयों के हृदय में स्वतन्त्रता की आग धधकाने के अतिरिक्त, दूसरा कोई उपाय नहीं हो सकता।

किन्तु इसका नतीजा ब्रिटिश और जापान दोनों के विरुद्ध पड़ता था। फिर भी इसका दोष हमारे सिर पर नहीं था, वह था ब्रिटिश के सिर पर। उन्होंने हमें स्वतंत्रता देने से—वह सीमित स्वतंत्रता भी जिस पर हम तत्काल के लिए राजी थे—इनकार कर दिया। ब्रिटिश में और जापानी में हमारी नजरों के अन्दर क्या अन्तर रह जाता था? एक ने हमारी स्वतंत्रता छीन रखी थी, और इस विपत्ति-काल में जापान से मुकाबला करने के लिए भी उसे हमें देने पर राजी नहीं था; दूसरा हमारी स्वतंत्रता छीनकर अपना साम्राज्य कायम करना चाहता था! हमारी आँखों में दोनों एक-से ही थे। कहने के लिए तो अँगरेज कहते थे, लड़ाई में हमारी मदद करो, लड़ाई के बाद औपनिवेशिक स्वतंत्रता तुमको मिलेगी; और जापानी भी कहते थे, हमारी मदद करो, हम तुमको स्वतंत्र बना देंगे! किसकी बात हम मानते? इसलिए हमने निश्चय किया कि दोनों में किसी की बात पर हम विश्वास नहीं कर सकते, हमको अपनी

स्वतंत्रता लेने के लिए खुद तैयार हो जाना चाहिए—चाहे अँगरेज इसे बुरा क्यों न मानें।

गांधीजी ने इन विचारों से प्रभावित होकर जोरदार लेख लिखना आरम्भ कर दिया। इलाहाबाद में होनेवाली आल-इण्डिया-काँग्रेस-कमिटी के लिए एक प्रस्ताव का मसविदा तैयार करके उन्होंने श्री मीरा बहन के हाथ वहाँ भेजा। वर्किंग कमिटी में इस पर बहुत वाद-विवाद हुआ। ऐसा मालूम हुआ कि वहाँ दो मत हैं—एक तो गांधीजी के मसविदा के पक्ष में और दूसरा वह जो उतनी दूर नहीं जाना चाहता था, उसे मंजूर नहीं करता था। उसमें संशोधन करने का बहुत प्रयास किया गया, पर वह सफल न हुआ। अन्त में, ऐक्य कायम रखने के लिए, हमने अपना विरोध हटा लिया और जो कुछ भी औरों ने मुनासिब समझा उसे ही मंजूर कर लिया। यह बात वर्किंग कमिटी में हुई। देश का रुख अधिक गांधीजी के साथ था। यदि वही मसविदा आल-इण्डिया-कमिटी में पेश कर दिया गया होता तो शायद वह मंजूर तो हो जाता, पर आपस का मतभेद भी खूब प्रदर्शित कर देता। अगर अपनी ओर से कुछ करना ही था तो वह इस तरह आपस की फूट को घोषित करके नहीं किया जा सकता था। इसलिए इस मतभेद को दबा देना ही उचित जान पड़ा और गांधीजी का प्रस्ताव किसी रूप में पेश न हुआ। हाँ, जो प्रस्ताव हुआ उसमें भी गांधीजी के भावों का काफी समावेश था। जब गांधीजी ने उसे देखा तो उन्होंने कहा कि यद्यपि वह उसे पूरा पसन्द नहीं करते थे तो भी उसमें उनके लिए काम करने का काफी मौका था, इसलिए वह उसे एक प्रकार से मंजूर करते हैं।

१४५—युद्धयुग में देश की स्थिति और बिहार का दौरा

मैं प्रयाग से सीधे वर्धा चला गया। मुझे ऐसा मालूम होता था कि अब ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ मुठभेड़ हुए बिना न रहेगा। गांधीजी जबरदस्त लेख लिख ही रहे थे। देश में बड़ी अशान्ति थी। हम लोगों के दिल में भी जलन थी। मैंने सोच लिया था कि एक बार सारे सूबे का दौरा करना उचित है। एक तो लोगों को गांधीजी की बातें बता देना आवश्यक था और आनेवाले विकट समय के लिए लोगों को तैयार करना था। दूसरे, जापान के आगे बढ़ते जाने के कारण लोगों में जो आतंक फैलता जाता था उसका प्रतिरोध करना था और जनता को यह भी बताना था कि यदि वह कहीं हिन्दुस्तान की भूमि पर पहुँच गया तो हमारा क्या कर्तव्य होगा।

इन दिनों गवर्नमेण्ट की ओर से भी काफी धाँधली मच रही थी। समुद्र के किनारे के गाँवों में, जहाँ यह भय था कि जापानी सेना उतर सकती है, जो थोड़ी-बहुत फौजी तैयारी हो रही थी उसके अलावा यह नीति भी बरती जा रही थी कि जापानी सेना अगर पहुँच ही गयी तो ऐसा कर दिया जाय कि उसे कोई चीज हाथ न लगने पावे। इसलिए नावों की जब्ती हो रही थी। कहीं-कहीं उन्हें बर्बाद कर देने

का काम भी जारी था। विशेषकर बंगाल में, जहाँ नावों द्वारा ही सब काम हुआ करते ह, इसका असर बहुत बुरा पड़ रहा था। लोगों का आना-जाना, या सामान को ढोकर एक जगह से दूसरी जगह ले जाना, यहाँ तक कि छोटे-छोटे बाजारों में मामूली खरीद-फरोख्त का काम भी, एक प्रकार से सब रुक गया था। जो धान या चावल गाँवों में था उसे भी सरकार अपने कब्जे में कर रही थी ताकि वह दुश्मन के हाथ न लगने पावे। जिसे अँगरेजी में Scarched earth policy—अर्थात् दुश्मन के हाथ में कोई चीज न पड़ने देने के लिए सभी चीजों को भस्मीभूत कर देने की नीति—कहते हैं उसकी पूरी तैयारी की जा रही थी। बिहार में छोटानागपुर से लेकर सोन नदी तक एक बड़े मोरचे की तैयारी हो रही थी। इसके लिए बहुत जगहों पर हवाई अड्डे और हवाई जहाज के उतरने के लिए रास्ते बनाये जा रहे थे। हजारों बीघे जमीन जहाँ-तहाँ सरकार ले रही थी। उस पर बसी हुई प्रजा और उसे जोतनेवाले किसान परीशान थे। कहा जाता था कि जमीन और मकान वगैरह जो उनको खाली करने पड़ते थे उसके लिए उन्हें मुआवजा मिलेगा; पर अभी तक कहीं किसी को कुछ मिल नहीं रहा था। सब काम बहुत तेजी से चलाया जा रहा था। उत्तरी बिहार और छोटा-नागपुर में बहुत बड़ी अँगरेजी और अमेरिकन सेना जुट रही थी। मालूम नहीं, कितने लाख लोग आ चुके थे—कितने और आनेवाले थे। आसाम की सीमा पर लड़ाई पहुँच जाने के कारण उधर सेना के काम में ही रेलगाड़ियों के अधिक लग जाने से जन-साधारण का कहीं रेल पर आना-जाना कठिन हो गया था। विशेषकर बी० एन० डब्लू० रेलवे (अब ओ० टी० रेलवे) में, जो उत्तर-बिहार (तिरहुत) होकर अवध में जाती है, बड़ी तकलीफ थी। उसमें फौजी गाड़ियाँ बहुत चलती थीं। उनमें कई तो घायलों को आसाम के मोर्चे से लाद-लादकर उत्तर-भारत के किसी स्थान पर ले जाया करतीं। बहुतेरे लोग पूरब की तरफ से बिहार, संयुक्तप्रान्त तथा इनसे भी और पच्छिम की ओर भागे जा रहे थे। इन सब चीजों को देखकर लोगों में और भी घबराहट फैल रही थी। स्थान-स्थान पर भागते हुए लोगों के ठहरने के लिए अड्डे बनाये जा रहे थे, नयी सड़कें निकाली जा रही थीं और स्थान-स्थान पर उनके लिए अन्न-पानी वगैरह जमा रखने का प्रयत्न हो रहा था। इसमें दूरदर्शिता तो अवश्य थी, पर साथ ही जनता कुछ ऐसा समझने लगी कि लड़ाई न करके यह सब तैयारियाँ भागने के लिए ही हो रही हैं! जन साधारण क्या जाने कि आज का मोर्चा कितना फैला हुआ होता है और उसमें कितने प्रकार की लड़ाइयाँ हुआ करती हैं।

सबका नतीजा यह था कि सारे देश में भारी खलबली थी। मैंने पहले ही निश्चय कर लिया था और वह निश्चय वर्धा में और भी दृढ़ हो गया कि मुझे सारे प्रान्त का दौरा करना चाहिए। अब मेरा स्वास्थ्य ऐसा नहीं था कि मैं जैसे पहले सूबे के छोटे-छोटे स्थानों में भी जाया करता था वैसे अब भी जा सकूँ और तूफानी दौरे में एक दिन में सात-सात आठ-आठ सभाओं में भाषण करूँ। इसलिए मैंने निश्चय किया कि हर जिले के एक या दो मुख्य स्थानों में ही जाऊँगा, वहाँ सार्वजनिक सभा के अलावा

कांग्रेस-कार्यकर्ताओं की विशेष सभा की जायगी। अन्न और वस्त्र का संकट भी बढ़ रहा था। इस सम्बन्ध में भी व्यापारियों तथा जन-साधारण से राय-बात करके जानकारी हासिल करना आवश्यक था। इसलिए यह भी सोचा गया कि ऐसे लोगों के साथ अलग मुलाकात की जाय। ऐसा ही कार्यक्रम बनाकर मैंने सारे सूबे का दौरा अप्रैल के अन्तिम सप्ताह में आरम्भ कर दिया और जून के अन्तिम सप्ताह तक समाप्त किया।

यह बात प्रकट हो गयी थी कि गांधीजी ने वर्किंग कमिटी के लिए कोई प्रस्ताव प्रयाग में भेजा था। पुलिस इसकी ताक में थी कि उसकी नकल किसी तरह उसे मिल जाय, पर उस समय शायद उसे नहीं मिली। कुछ दिनों के बाद एक दिन अचानक 'स्वराज्य-भवन' की तलाशी हुई। वहाँ से पुलिस न केवल मसविदा की नकल ले गयी, बल्कि उसके साथ वर्किंग कमिटी में हुई बहस का वह संक्षिप्त नोट भी ले गयी जो आफिस के काम के लिए रखा गया था। इस मसविदा और नोट का, गवर्नमेण्ट ने अपनी उस पुस्तिका में, जिसे अगस्त के क्रान्तिकारी आन्दोलन पर मंत्री रिचर्ड टोटनहम ने लिखा था, खूब इस्तेमाल किया। मुझे कुछ सन्देह होता है कि पुलिस को मसविदा का पता लगने देने का कारण कुछ हद तक मैं हूँ। मैंने ऊपर बताया है कि गांधीजी के मसिवदा में कुछ संशोधन करने का प्रयत्न मैंने किया था। मेरी प्रति, जिस पर यह संशोधन मैंने किया था, आफिस में रह गयी। मैं प्रयाग से सीधे वर्धा गया। रवाना होने के समय इस प्रति को साथ लेना भूल गया। स्टेशन पर अथवा रास्ते में यह बात याद आयी। मैंने आफिस के लोगों से कह दिया या लिख दिया कि उसे वे तुरन्त वर्धा भेज दें; क्योंकि मैं समझता था कि गांधीजी शायद उसे देखना चाहें। आफिस से वह प्रति उसी दिन डाक से भेज दी गयी। अगर रास्ते में पुलिस उसे रोक न लेती तो मेरे वर्धा पहुँचने के बाद दूसरे ही दिन वह पहुँच जाती। पर वह मुझे मिली नहीं। मैंने मान लिया कि आफिसवालों ने उसे भेजा ही न होगा। पीछे जब आफिस की तलाशी हुई तब मैंने दरियाफ्त किया। मालूम हुआ कि उन्होंने उसे उसी दिन डाक से मेरे पास वर्धा भेज दिया था। शायद, इसी प्रति को देखकर पुलिस ने निश्चय किया होगा कि तलाशी लेने से कुछ मसाला मिल जायगा।

जो हो, वर्धा से बिहार लौटकर मैंने दौरा शुरू किया। इस बात में किसी तरह का सन्देह मेरे दिल में नहीं रह गया था कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के साथ हमारा टंटा होगा ही। मैंने खुलकर साफ-साफ अपने सभी भाषणों में यह बात कही। अभी तक हमारे पास कोई कार्यक्रम नहीं था। इसलिए मैं कार्यक्रम नहीं बता सकता था और नहीं बतलाया। पर इतना अवश्य कहा कि यह भद्र अवज्ञा का ही रूप धारण करेगा। साथ ही, बिलकुल अहिंसात्मक होगा। और यह भी कहा कि पहले के आन्दोलनों से यह कहीं अधिक उग्र होगा। उन दिनों जापान की ओर से रेडियो द्वारा इस बात का जोरों से प्रचार किया जा रहा था कि जापान भारत को आजाद करने का प्रयत्न कर रहा है और वह हर तरह से भारत की मदद करेगा। इस बात पर भी मैंने अपने सभी भाषणों में कहा

कि जापान की बात का विश्वास नहीं करना चाहिए—विशेषकर जब हम देखते हैं कि उसने अपने पड़ोसी चीन का गला दबा रखा है और अधिकाधिक प्रचण्ड होता जा रहा है—हमको ब्रिटिश और जापान दोनों के चंगुलों से भारत को आजाद करना है, उसे एक से बचाकर दूसरे के कब्जे में जाने देना हम हरगिज पसन्द नहीं कर सकते; इसलिए हमारा संग्राम दोनों के साथ होगा और वह अहिंसात्मक ही होगा। मेरे भाषण जोरदार और उग्र हुआ करते थे। मैं भी समझता था और लोग भी मुझसे कहा करते थे कि पहले मेरे भाषण बहुत ठंढे हुआ करते थे, पर इस बार तो मैं आग उगला करता हूँ।

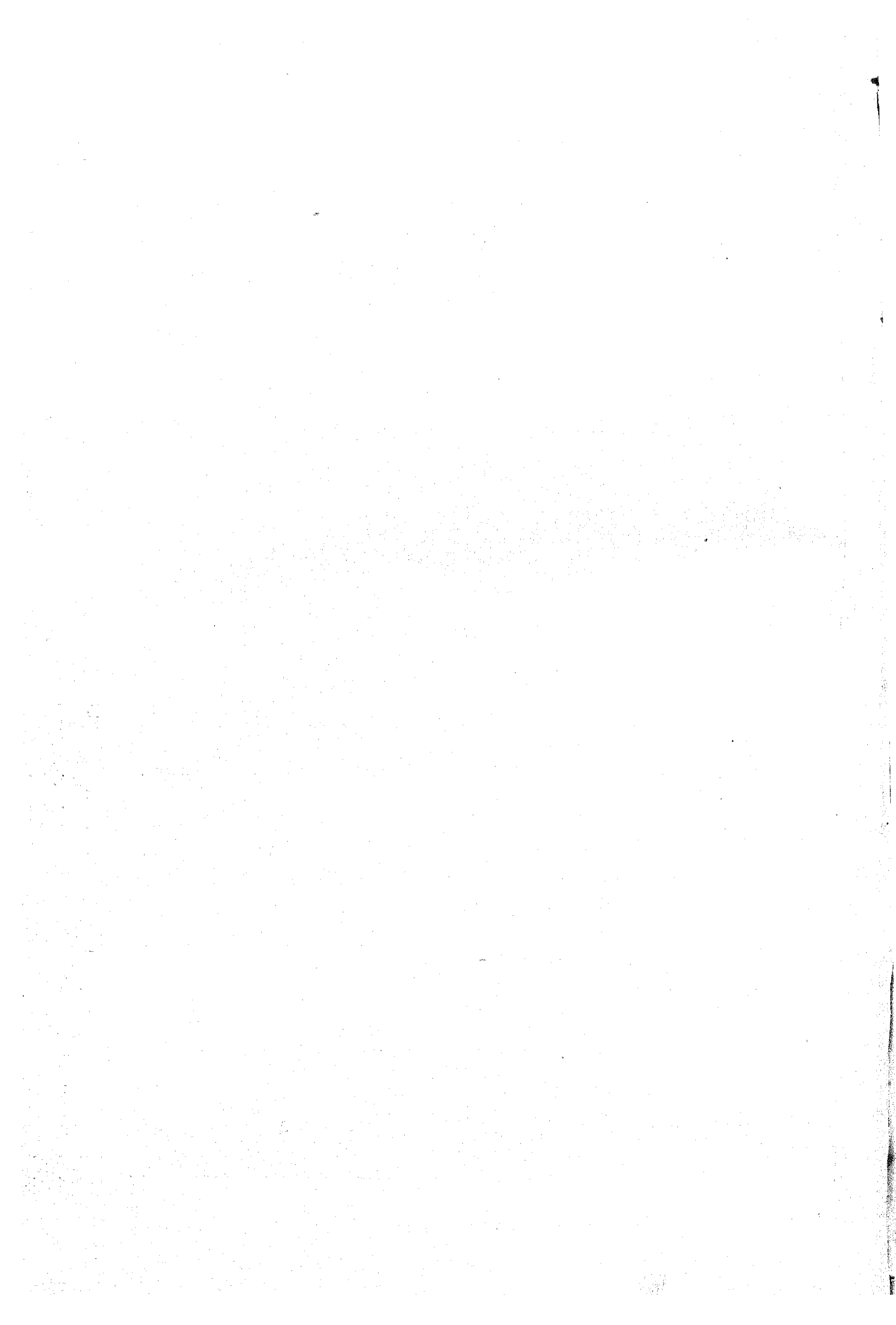
१९३० के सत्याग्रह के आरम्भ के पहले एक बार पटने के युवकों में कुछ गर्मी आयी। वे कोई छोटी-सी बात लेकर, जिसका मुझे आज स्मरण नहीं है, सत्याग्रह की बात करने लगे। सार्वजनिक सभा में गर्मागर्म भाषण हो रहे थे। कई वक्ताओं के बाद मुझे कुछ कहने का मौका मिला। जब मैं उठा तो एक युवक साथी ने आहिस्ता कहा कि अब लोगों के उत्साह पर मैं भींगा हुआ कम्बल डाल दूँगा। मैंने यह सुन लिया और इसी को लेकर लोगों को बतलाया कि मेरे भींगा कम्बल डालने के बाद भी अगर गर्मी ज्यों की त्यों बनी रही, तो मैं समझूँगा कि वह स्वस्थ एवं शक्तिशाली आदमी की गर्मी है और जो उत्साह प्रदर्शित किया जा रहा है वह सच्चा उत्साह है, नहीं तो मैं उस गर्मी को त्रिदोष से पीड़ित मनुष्य का ज्वर समझूँगा और उस प्रदर्शन को उसका प्रलापमात्र।

इस बार मेरे भाषणों में वह भींगा कम्बल कहीं किसी तरह देखने में नहीं आया। उसके विपरीत उनमें काफी उत्साहवर्धक और उन्मादोत्पादक मसाला रहा करता था। साथ ही, मैं रचनात्मक काम भी करता जाता था। व्यापारियों और जनता से अन्न-वस्त्र के संकट से बचने और बचाने की बात भी करता जाता था। मेरा विश्वास है कि यदि गवर्नमेण्ट जनता का सहयोग लेती तो इस संकट का वह भयंकर रूप नहीं होता जो हुआ और आज तक भी है। हमारा उद्देश्य ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के विरुद्ध लोगों को उभाड़ने का नहीं था और न यह था कि उसके रास्ते में हम रोड़े अटकायें अथवा जैसे-तैसे उसको परेशान करें। हमारा उद्देश्य था कि लोगों को हम इस बात के लिए तैयार करें कि वे जापान का मुकाबला कर सकें; और चूँकि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट इसका मौका हमको नहीं देती, हम उससे भी समय पाकर लड़कर यह मौका लेना चाहते थे। इसलिए हम अव्यवस्थित तरीके से उसे हैरान करना नहीं चाहते थे। अपनी इस नीति को इसलिए क्रियात्मक रूप से दिखला देने और प्रमाणित कर देने का एक मौका मुझे मिल गया।

ऊपर कह चुका हूँ कि उन दिनों स्थान-स्थान पर हवाई जहाज के अड्डे तथा फौज के लिए छावनियाँ बनाने को जनता की जमीन ली जा रही थी। मैं गया में पहुँचा तो सुना कि शहर से थोड़ी ही दूर पर, जहाँ पहले से ही अड्डा था, और भी बहुत-सी जमीन ली जा रही है और हजारों आदमी बेघरबार और बेखेत के हो गये



कुर्सी पर बायें से दायें—(१) विद्यावती (मृत्युञ्जयप्रसाद की पत्नी) (२) चन्द्रमुखी (जनार्दनप्रसाद की पत्नी) (३) भगवतीदेवी (बहन), (४) राजेन्द्रप्रसाद, (५) राजवंशीदेवी (राजेन्द्र बाबू की पत्नी), (६) देवी (महेन्द्र बाबू की स्त्री), (७) कमलावती (धनञ्जयप्रसाद की पत्नी), खड़े हुए दायें से बायें—(८) मृत्यञ्जयप्रसाद, (९) जनार्दनप्रसाद वर्मा (१०) धनञ्जयप्रसाद वर्मा तथा देशरत्न के पोते, पोतियाँ और घर के नौकर ।



हैं, उनको कुछ मुआवजा भी नहीं मिला है, इन कारणों से उनमें रोष है। मैं वहाँ गया। सुनते ही हजारों की तायदाद में लोग जमा हो गये। उनकी दशा सचमुच दयनीय थी। कई गाँव पस्त कर दिये गये थे। कई और पस्त किये जाने को थे। खेतों की आबादी रोक दी गयी थी। अड्डे बनाने के लिए जमीन तैयार की जा रही थी। वहाँ हजारों मजदूर काम कर रहे थे। बहुत-सी लारियाँ सामान ढोकर पहुँचा रही थीं। जिनके घर और जमीन ले ली गयी थी वे इधर-उधर मारे-मारे फिर रहे थे। उनका पुरसाँ-हाल कोई न था। मेरे पहुँचते ही लोगों ने अपना सब दुखड़ा कह सुनाया। अगर सरकारी अथवा लड़ाई के काम में रोड़े अटकाना हमारा उद्देश्य होता तो इससे बढ़कर दूसरा अच्छा अवसर नहीं मिलता। पर मैंने लोगों को समझाया कि लड़ाई के काम के लिए गवर्नमेण्ट ऐसा किये बिना बचाव का इन्तजाम नहीं कर सकती, इसलिए उनको मुआवजा लेकर अपना कुछ दूसरा प्रबन्ध सोचना चाहिए और मैं मुआवज़ा दिलाने का प्रयत्न करूँगा। मैंने कह तो दिया; पर मैं नहीं जानता था कि गवर्नमेण्ट मेरी बात सुनेगी।

मैंने पटना लौटते ही गवर्नमेण्ट-ऐडवाइजर को पत्र लिखा जिसमें सब बातें साफ-साफ बता दीं, और मुआवजा किस तरह का होना चाहिए, यह भी बतलाया—यह भी लिखा कि मुआवजा बाँटने में भी गड़बड़ी हुआ करती है, इसलिए बाँटने के समय काँग्रेस के आदमी बुला लिये जायँ और उनके सामने रुपये बाँटे जायँ। कुछ जमीन तो ऐसी थी जिस पर मकान बननेवाले थे अथवा जहाज उतरने के लिए मजबूत सड़कें बनानी थीं, वह तो वापस होने पर भी किसान के काम की नहीं रह जायगी; पर अधिकांश जमीन केवल समतल करके रखी जायगी और उसमें घास उग जायगी, दूसरा कोई परिवर्तन नहीं होगा। गवर्नमेण्ट को मैंने यह लिखा कि लड़ाई का काम जब खत्म हो जाय तब जमीन जिसकी थी उसी को वापस कर दी जाय और वह यथासाध्य किसान के काम लायक बना कर वापस की जाय, इस बीच में उस जमीन से, किसान जो पैदा करता वह भी उसे दिया जाय—जो जमीन वापस नहीं होने को है और जो मकान वगैरह गिरा दिये जा रहे थे उनकी कीमत नगद दे दी जाय तथा नगद बाँटने और फसल का मुआवजा निर्धारित करने और चुकाने के समय काँग्रेस के कार्यकर्ताओं से मदद ली जाय।

मेरा पत्र पाते ही कमिश्नर ने इस पर कार्रवाई की। मेरी सिफारिशों को उन्होंने मान लिया और मेरे पास धन्यवाद का पत्र भेजा, जिसमें यह लिखा था कि वहाँ की जटिल परिस्थिति को मैंने बहुत ठीक तरह से सँभाल लिया।

मैं जब मानभूम-जिले में गया, तो वहाँ भी ऐसी ही स्थिति थी। वहाँ के कलक्टर ने भी वैसा ही किया जैसा पटना-डिवीजन के कमिश्नर ने किया था। इन बातों को इतने विस्तार से इसलिए लिखना पड़ा कि जब आन्दोलन आरम्भ हुआ तो गवर्नमेण्ट ने हम लोगों पर झूठा इलजाम लगाया कि हम लोग जापान की मदद करना और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को हर तरह से परेशान करना चाहते थे। पीछे गवर्नमेण्ट ने जापान की

मदद करने के अभियोग को निराधार होने के कारण वापस ले लिया। पर हमारे मुस्लिम लीग के भाई अब भी उसे ढोये जा रहे हैं और वैसा कहने से बाज नहीं आते !

अस्तु, मैं दौरे पर था तभी वर्धा में वर्किंग कमिटी की बैठक की नोटिस मिल गयी। मैंने दौरे का कार्यक्रम भी ऐसा बना लिया था कि उसे समाप्त करके सीधे वर्धा चला जाऊँ। जून के अन्तिम दिनों में वहाँ चला भी गया। वहाँ पहले तो चर्खा-संघ की बैठक थी और उसके बाद वर्किंग कमिटी की। कई दिन वहीं रह जाना पड़ा। खादी की उत्पत्ति का बहुत विस्तार करने का आयोजन सोचा गया; क्योंकि ऐसा दीखने लगा था कि मिलों से जो कपड़ा जन-साधारण को मिला करता था वह लड़ाई के कारण बहुत अंशों में अब उपलब्ध नहीं था, कारण यह कि अधिकतर फौजी काम के लिए ही उनको कपड़ा बनाना पड़ रहा था और जो वस्त्र-संकट था वह चर्खा-कर्घा द्वारा दूर किया जा सकता था। इसलिए कई दिनों के विचार के बाद चर्खा-संघ ने बहुत बड़े पैमाने पर काम बढ़ाने का निश्चय किया। वर्किंग कमिटी की बैठक कई दिनों तक होती रही। अन्त में हम इस निश्चय पर पहुँचे कि अहिंसात्मक भद्र अवज्ञा हमको करनी ही होगी, और इस बात की आज्ञा देने के लिए अगस्त के आरम्भ में बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक की जाय।

१४६—१९४२ की क्रान्ति के पूर्व की बातें

वर्किंग कमिटी में बहुत बहस हुई। वहाँ मतभेद कुछ स्पष्ट हो गया। यहाँ पर यह कह देना अनुचित न होगा कि डाक्टर सैयद महमूद सत्याग्रह के विरुद्ध थे। पीछे जाकर उन्होंने एक गलती की जिसका जिक्र जरूरी नहीं है; पर उनका यह कहना सत्य था कि वह सत्याग्रह के विरुद्ध थे। उन्होंने अपना विरोध कमिटी में साफ-साफ बतला दिया था। अब जुलाई का महीना करीब-करीब आधा बीत चुका था। पानी बरसना जोरों से आरम्भ हो चुका था। हसब-मामूल दमा का दौरा भी उसके साथ ही साथ शुरू हो गया था। पर मैं सभी बैठकों में शामिल होता रहा। इतनी बातें हुईं, पर वर्किंग कमिटी ने सत्याग्रह का कोई कार्यक्रम निर्धारित नहीं किया। मुझे यही बात खटकती थी। गांधीजी से मैंने कहा भी कि कार्यक्रम का कुछ निर्देश भी वह करें; पर उन्होंने साफ-साफ उत्तर दिया कि उनका दिमाग इस तरह काम नहीं करता—जब यह एकबारगी निश्चय हो जायगा कि सत्याग्रह करना ही होगा तभी वह कार्यक्रम के सम्बन्ध में सोच सकेंगे और उसे निर्धारित कर सकेंगे, अभी तो अखिल भारतीय कमिटी को फैसला करना है—वर्किंग कमिटी बिलकुल एकमत नहीं है और उसके बाद गवर्नमेण्ट क्या करेगी, यह भी मालूम नहीं—ऐसी अनिश्चित अवस्था में वह कार्यक्रम के सम्बन्ध में अभी कुछ भी निर्धारित नहीं कर सकेंगे; पर इतना अवश्य था कि इस बार का सत्याग्रह बहुत उग्र होगा, केवल जेल जाना ही काफी न होगा, उससे कहीं अधिक त्याग की ज़रूरत पड़ेगी, आवश्यकता होने पर धन-धान्य घर-द्वार सब कुछ स्वाहा करना होगा—चर्खा-संघ में जो पचीस-तीस लाख या इससे भी अधिक रुपये लगे

हैं उन पर भी हमला हो सकता है और यद्यपि हमने काम बढ़ाने का निश्चय किया है तथापि सारा चर्खा-संघ और उसके धन-जन दोनों ही आहुति में पड़ जा सकते हैं; पर अभी सत्याग्रह के रूप का चित्र उनके सामने नहीं आया है और उस पर वह अभी अपना दिमाग भी लगाना नहीं चाहते हैं, क्योंकि जब तक निश्चय न हो जाय कि सत्याग्रह अनिवार्य है और करना ही पड़ेगा तब तक कार्यक्रम बनाने में उनका दिमाग काम ही नहीं करेगा। हम लोगों को यह एक भारी त्रुटि मालूम होती थी, पर कार्यक्रम तो गांधीजी को ही बनाना था और हमको मजबूरन उनकी बात मान लेनी पड़ी।

वर्धा से रवाना होने के पहले मैं गांधीजी से बिदा लेने सेवाग्राम गया। वहाँ और कई आदमी थे। उनमें से किसी ने कार्यक्रम की बात छेड़ दी, यह प्रश्न किया कि तार और टेलीफोन का तार काटना अथवा रेल की पटरी उखाड़ देना अहिंसा के अन्दर आ सकता है या नहीं। प्रश्न सामयिक था, क्योंकि मैं जानता हूँ कि जब-जब सत्याग्रह की बात चली है, कुछ लोगों का ध्यान इस ओर गया है और उन्होंने इस प्रश्न को छेड़ा है। प्रश्न पूछते ही मैंने गांधीजी से कहा कि यह प्रश्न बारबार उठा करता है—१९३० के आन्दोलन में भी, जब महात्माजी और दूसरे बहुत-से लोग जेल में चले गये थे तथा पंडित मोतीलालजी स्थानापन्न प्रेसिडेण्ट थे और मैं वर्किंग कमिटी के मेम्बर की हैसियत से प्रयाग गया था, तो लोगों ने इस प्रश्न को उठाया था और जहाँ-तहाँ तार और टेलीफोन के तार लोगों ने काट भी दिये थे; पर यह सब बहुत कम जगहों में ही हो पाया था और उस समय यह रोक दिया गया था, इसलिए इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं कि आज भी जब हम सत्याग्रह की बात सोच रहे हैं तो इस तरह का विचार कुछ लोगों के दिल में उठ रहा हो—महात्माजी को चाहिए कि कार्यक्रम बनाते समय इस सम्बन्ध में कुछ साफ-साफ आदेश दें। गांधीजी ने कहा कि लोहा-लकड़ी काटने-तोड़ने में हिंसा-अहिंसा की बात नहीं उठती है, हम तो रोज साधारण रीति से लोहा-लकड़ी काटते-तोड़ते रहते हैं; पर रेल की पटरी उखाड़ लेना अथवा तार काट देना दूसरी बात है—किस उद्देश्य से यह काम किया जाता है, किस तरह से किया जाता है और इसका फल क्या होता है, इन बातों पर इसका हिंसात्मक और अहिंसात्मक होना निर्भर है; यदि इससे हत्या हो अथवा बेकसूर लोगों पर विपत्ति आवे तो यह हिंसात्मक होगा, पर हम ऐसी परिस्थिति का अनुमान कर सकते हैं जब यह अहिंसात्मक भी हो सकता है।

हमने उनके कहने का आशय यह समझा कि इसे अहिंसात्मक होना बहुत करके इस पर निर्भर होगा कि इसके कारण किसी की जान पर खतरा न हो और जो कोई भी ऐसा काम करे वह उसकी जवाबदेही अपने ऊपर साफ-साफ और सीधे ले ले ताकि दूसरों को, जिनका इससे कोई सरोकार न रहा हो, इसका फल भुगतना न पड़े। ये बातें यों ही हो गयीं, कोई कार्यक्रम उस समय निर्धारित न हुआ, न होने की बात ही थी। जब गवर्नमेण्ट ने यह अभियोग लगाया कि हम लोगों ने रेल-तार तोड़ने का कार्यक्रम बनाया था तो गांधीजी ने उत्तर में कहा था कि गवर्नमेण्ट

ने एक बातचीत अथवा बहस (theoretical discussion) को कार्यक्रम मान लेने की भूल की है। गांधीजी की यह बात बिलकुल सत्य थी और हमने उस समय इस कार्यक्रम को अथवा किसी भी कार्यक्रम को निर्धारित नहीं किया था।

वर्धा से मैं पटने के लिए रवाना हुआ। पहले से ही दो-तीन जगहों में जाने का वादा कर रखा था। उनमें गोंदिया एक स्थान था, इसलिए गोंदिया में उतर गया और वहाँ से सभा इत्यादि करके रात की गाड़ी से रवाना हो गया। दूसरे दिन रात को बनारस पहुँचा। वहाँ पर भारतीय इतिहास-परिषद् की कार्यकारिणी की बैठक कर लेनी थी। अब यह एक प्रकार से निश्चित-सा था कि थोड़े ही दिनों में आन्दोलन उग्र रूप धारण कर लेगा। इसलिए परिषद्-सम्बन्धी कुछ काम कर लेना जरूरी था। उसमें एक आवश्यक काम कुछ रुपये जमा कर लेना था और जो जिल्दें प्रायः तैयार कही जाती थीं उनके छपवाने इत्यादि के सम्बन्ध में श्री जयचन्द्र विद्यालंकार से बातें कर लेनी थीं। कुछ रकम गोंदिया में मिली थी, उसे जमा कर दिया और दूसरे कामों का प्रबन्ध करके काशी से मैं पटने में न ठहरकर सीधे मुँगेर-जिले में तारापुर चला गया। वहाँ किसान-कान्फ्रेन्स होनेवाली थी, जिसको लोगों ने मेरे लिए ही कई बार स्थगित कर रखा था। श्री कृपालानीजी भी वहाँ उसका उद्घाटन करने के लिए आये थे और श्री कृष्णवल्लभसहाय सभापति होनेवाले थे। दूसरे प्रमुख व्यक्ति श्री बाबू, अनुग्रह बाबू प्रभृति भी आये थे। रास्ते भर सभी जगहों में खूब पानी बरसता आया और बरसात का जो असर मेरे स्वास्थ्य पर पड़ता है वह अपना काम कर ही रहा था। मैं तारापुर पहुँच तो गया, पर दमा का दौरा हो रहा था। कान्फ्रेन्स का काम शुरू हुआ। मेरे कुछ कहने की बारी आयी। मैंने कुछ कहना आरम्भ किया कि इतने में अचानक घटा उमड़ आयी और जोरों से वर्षा होने लगी। रामगढ़-काँग्रेस की तरह कान्फ्रेन्स का काम रुक गया। हम लोग किसी तरह भींगते-भींगते डाक-बँगले में पहुँचे जहाँ ठहरे हुए थे। रात वहाँ बिताकर दूसरे दिन सवेरे ही मैं पटने के लिए रवाना हो गया। पटना पहुँचते-पहुँचते दमा खूब जोर पकड़ गया और ज्वर भी हो आया। उस दिन से १२ या १५ दिनों के बाद ही बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होनेवाली थी। मुझे यह चिन्ता लगी कि उस समय तक अच्छा हो जाना चाहिए।

बम्बई जाने के पहले प्रान्तीय काँग्रेस-कमिटी की एक बैठक कर लेना उचित मालूम हुआ जिसमें वर्धा के प्रस्ताव के सम्बन्ध में, जिस पर बम्बई में विचार होने-वाला था, प्रान्त के लोगों की राय मालूम हो जाय। प्रान्तीय कमिटी का जलसा सदाकत आश्रम में ३१ जुलाई को हुआ। मेरी तबीयत बहुत खराब थी, बहुत कमजोर था। मैंने कमिटी के सामने एक जोरदार भाषण किया जो उन्हीं भाषणों का सारांश-मात्र था जो सारे सूबे के दौरे में हुए थे। एक बात और थी, वह यह कि वर्धा में जो बातें हुई थीं उन्हें भी मैंने लोगों को सुना दिया। सभी लोग समझ गये थे कि बम्बई में जो निश्चय होगा वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होगा। इस जलसे के बाद एक-दो

दिनों के अन्दर ही, अखिल भारतीय कमिटी के सदस्य तथा अनेक काँग्रेसी, दर्शक होकर बम्बई के जल्से में शरीक होने को, रवाना हो गये। मैं इतना बीमार था कि वहाँ जा न सका और पटने में ही पड़ा रहा।

अखबारों में जोरों से खबर छपा करती थी कि गवर्नमेण्ट की ओर से तैयारियाँ हो रही हैं और बम्बई में ही सब लोग गिरफ्तार कर लिये जायँगे। इधर-उधर से यह भी खबर पहुँच रही थी कि बिहार में भी तैयारी है और जो कैम्पजेल बन्द थी वह साफ करके तैयार कर ली गयी है। बम्बई में ५ अगस्त (१९४२ ई०) से वर्किंग कमिटी की बैठक शुरू हुई और ७ अगस्त से अखिल भारतीय कमिटी की बैठक होनेवाली थी। मैं रेडियो और अखबारों में खबरें सुना और पढ़ा करता था। जो प्रस्ताव ८ अगस्त की रात को अखिल भारतीय कमिटी में पास किया गया वह भी वर्किंग कमिटी द्वारा स्वीकृत होने के बाद अखबारों में आ गया। खबर बहुत गर्म थी कि बम्बई में ही सबको गिरफ्तार कर आन्दोलन आरम्भ होने के पहले ही दबा दिया जायगा। मैंने सोचा कि यदि ऐसा हुआ तो जनता के सामने कोई कार्य-क्रम नहीं रह जायगा। इसलिए, कम से कम अपने सूबे के लिए, मैं कुछ कार्यक्रम बना दूँ। इतनी शक्ति नहीं थी कि बैठकर बहुत लिख सकूँ। इसलिए जो मित्र वहाँ मौजूद थे उनसे बातें करके मसविदा तैयार करने को कहा। इनमें मुख्य थे प्रान्तीय कमिटी के मंत्री श्री दीपनारायणसिंह और श्री मथुराप्रसाद। अनुग्रह बाबू भी बम्बई नहीं गये थे, पटने में ही थे। जब मसविदा तैयार किया गया तो उसे अनुग्रह बाबू के साथ मैंने देखकर कुछ अदल-बदल कर ठीक कर दिया। उसे छपवाने का प्रबन्ध भी कर दिया गया। यह निश्चय हुआ कि अगर सचमुच सब लोग गिरफ्तार हो गये तो जो लोग रह जायँगे वे उसी के अनुसार काम करेंगे। यों तो गांधीजी ने बारबार कह रखा था कि नेता लोग अगर गिरफ्तार हो गये और कोई कार्यक्रम न दे सके तो उस हालत में हर एक काँग्रेसी अपने को नेता समझे और अहिंसा के सिद्धान्त के अन्दर रहकर जो कुछ भी सत्याग्रह के रूप में कर सकता हो करे—इस संग्राम को अन्तिम संग्राम समझकर कोई कुछ उठा न रखे, पर अहिंसा को किसी तरह न छोड़े। हमने जो कार्यक्रम बनाया उसमें भी इस बात पर जोर दिया कि अहिंसा को नहीं छोड़ना चाहिए। उसमें सत्याग्रह के लिए कार्यक्रम भी बताया जो पूर्व के सत्याग्रहों के कार्यक्रम से सिद्धान्ततः भिन्न नहीं था, पर अधिक उग्र जरूर था।

इसी बीच में एक दिन दिल्ली से एक समाचार छपा कि ८ अगस्त के बाद काँग्रेस के लोगों की गिरफ्तारी नहीं होगी और गवर्नमेण्ट इस बात का इन्तजार करेगी कि काँग्रेस क्या करती है—काँग्रेस की ओर से भी यह बात कही जा रही थी कि कोई कदम उठाने के पहले गांधीजी वाइसराय से एक बार और बातचीत करेंगे; जब वहाँ कुछ नहीं होगा तभी कोई कदम उठाने की राय देंगे। इस समाचार को हमने सच मान लिया और समझ लिया कि अब तुरन्त कुछ होनेवाला नहीं है, बम्बई गये हुए लोगों के लौटने तक हमको इन्तजार करना चाहिए—हो सकता है कि वे

लोग वहाँ से निर्धारित कार्यक्रम भी साथ लावें; यदि ऐसा हुआ तो हमारे द्वारा प्रस्तुत कार्यक्रम को काम में लाना अनुचित नहीं तो अनावश्यक होगा। इस तरह हमने निश्चय कर लिया कि अब ११ अगस्त के पहले, जब बम्बई से लोगों के लौटने की आशा थी, हमको कुछ नहीं करना है। इसी निश्चय के अनुसार अनुग्रह बाबू रायबरेली चले गये जहाँ उनके भाई बीमार थे और दीप बाबू मुजफ्फरपुर-जिले में पहले से मुकर्रर किये गये कुछ काम को पूरा करने। मैं, मथुरा बाबू और श्री चक्रधरशरण के साथ आश्रम में ठहरा रहा।

१४७—१९४२ के तूफानी दिन

८ अगस्त (१९४२ ई०) की रात को प्रायः १० बजे के बाद भारतीय कमिटी ने प्रस्ताव मंजूर किया। सुना कि गांधीजी का लम्बा भाषण हुआ जिसमें उन्होंने 'करो या मरो' का मंत्र लोगों को दिया। साथ ही, उन्होंने वाइसराय से मिलने तथा एक बार और समझौते के लिए प्रयत्न करने की बात भी कही। अन्य नेताओं के भी भाषण हुए जिनमें सरदार बल्लभभाई के भाषण की लोगों ने बहुत प्रशंसा की। ९ अगस्त (१९४२ ई०) को सवेरे मैं 'सर्चलाइट' में बम्बई की कार्रवाई पढ़ रहा था, मथुरा बाबू शहर चले गये थे कि इतने में डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मिस्टर आर्चर पहुँचे। मैं चारपाई पर था। उन्होंने मुझे देखकर मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में पूछताछ की और यह पूछा कि मेरा कार्यक्रम क्या है। मैं तो समझ गया था कि इनके आने का कारण क्या था; क्योंकि रेडियो में गांधीजी तथा वर्किंग कमिटी के सदस्यों की गिरफ्तारी की खबर संक्षेप में आ चुकी थी। मेरी बीमारी देखकर उन्होंने गवर्नमेण्ट से पूछा कि ऐसी अवस्था में क्या किया जाय। वहाँ से हुक्म आया कि सिविल सर्जन से दिखलाओ और पूछो कि वहाँ से वह दूर ले जाने योग्य हैं या नहीं। सिविल सर्जन को मि० आर्चर जाकर ले आये।

इसी बीच में मेरे घर के डेरे पर खबर पहुँच गयी। वहाँ से बहन और मृत्युंजय की माँ वगैरह पहुँच गयीं। सिविल सर्जन की राय हुई कि मैं सफर के लायक नहीं हूँ। इसलिए मुझे ११-१२ बजे दिन के करीब बाँकीपुर-जेल में ही ले गये। पानी खूब बरस रहा था। खबर शहर में फैल गयी। सदाकत-आश्रम से मेरे रवाना होने के पहले ही कुछ लोग, जिनमें विद्यार्थी मुख्य थे, आश्रम पहुँच गये। केवल मुझे ही गिरफ्तार करने का हुक्म था। मि० आर्चर का तौर-तरीका अच्छा था। उन्होंने किसी तरह की न तो जल्दी की और न कोई बेअदबी या बदतमीजी। जेल में मेरे लिए सब प्रबन्ध ठीक करके मथुरा बाबू और चक्रधर वापस गये कि इतने ही में श्री फूलनप्रसाद वर्मा भी गिरफ्तार होकर वहाँ पहुँच गये। इस तरह प्रायः १—१॥ बजे के पहले ही निश्चित हो गया कि मैं अकेला नहीं रहूँगा और कम से कम एक साथी रात को मेरी देखभाल करने के लिए जरूर रहेंगे। मथुरा बाबू ने भी मि० आर्चर से बातचीत की और वह भी सन्ध्या के पहले ही आ पहुँचे।

दूसरे दिन तो और लोग भी आने लगे। बम्बई से लौटने पर श्री बाबू, सत्यनारायण बाबू, महामाया बाबू आदि भी आ गये। अनुग्रह बाबू भी आये। पटने में जोरों से प्रदर्शन होने लगा। बड़े-बड़े जलूस निकलने लगे। कचहरियाँ बन्द हो गयीं और एक बहुत बड़ा जलूस गवर्नमेण्ट-हाउस के दरवाजे तक नारा लगाता हुआ जा पहुँचा। रात हो गई थी, इसलिए और कुछ उस दिन नहीं हुआ; पर खबर मशहूर थी कि दूसरे दिन सेक्रेटेरियट पर झंडा चढ़ाने के लिए जलूस जायगा।

जेल में खबर मिलने का साधन एक ही था और वह था गिरफ्तार होकर नये लोगों का आना। अखबार अभी तक बन्द नहीं थे, पर उनसे थोड़ी खबर मिलती। सेक्रेटेरियट पर जलूस गया। गोली चली। ८–९ युवक शहीद हो गये। बहुतेरे घायल हुए जिनको लोगों ने अस्पताल पहुँचाया। उस जलूस में से ४०–५० लड़के गिरफ्तार करके बाँकीपुर-जेल में उसी रात को लाये गये। उनसे गोलीकांड की बातें मालूम हुईं। रात-भर सारे शहर में जलूस निकलते रहे। जेल के अन्दर भी जलूसों की आवाज पहुँचती रही। उसी दिन तार और टेलीफोन तोड़ने का काम आरम्भ हो गया। हमने सुना कि पटने में टेलीफोन बन्द हो गया। जेल-आफिस में भी टेलीफोन का आना-जाना रुक गया। जो लड़के सेक्रेटेरियट के जलूस से गिरफ्तार करके लाये गये थे वे किसी तरह बाँकीपुर-जेल में रात-भर रखे गये, दूसरे दिन उन्हें कैम्पजेल में भेजने की तैयारी होने लगी। जेल की कैफियत यह थी कि पहले से ही वह ठसाठस भरी थी। मामूली कैदियों की संख्या सारे सूबे में बहुत बढ़ी हुई थी, क्योंकि डकैतियाँ कई बरस पहले से ही लड़ाई के जमाने में बहुत बढ़ गयी थीं और चोरी इत्यादि भी ज्यादा हो रही थी। कैदियों में बहुतेरे अभी हाजती (undertrial) थे जिनके मुकदमे की जाँच अभी तक नहीं हुई थी। इसलिए जब राजनीतिक कैदियों की संख्या बढ़ने लगी तो उनके लिए स्थान कम पड़ गया। जो ऊँचे दर्जे में रखे जानेवाले थे वे तो बाँकीपुर-जेल में रखे गये और दूसरों को कैम्प-जेल भेजने का प्रबन्ध था। जब तक लड़के कैम्प-जेल में नहीं भेजे गये, शहर की बड़ी जमात जेल के फाटक पर और सड़कों पर खड़ी थी। बाँकीपुर-जेल में दोमहला मकान सड़क के किनारे की ओर ही है। उस पर से लड़कों ने सड़क पर जमी हुई भीड़ से कुछ बातें भी कीं। जब तीन बजे के करीब उनको ले जाने के लिए लारियाँ लायी गयीं, उनमें वे सवार कराये गये। पहली लारी आगे बढ़ी तो जनता लारी पर टूट पड़ी; लड़कों को छुड़ा लिया और लारी में आग लगा दी। दूसरी लारियों को फिर आगे नहीं बढ़ाया, उनमें सवार लड़कों को उतारकर फिर जेल में ले आये। कुछ देर में फौज बुलायी गयी। उसने रास्ता साफ किया। आगे-पीछे फौजी गाड़ियों के बीच में कैदियों की लारियाँ कैम्प-जेल पहुँचायी गयीं।

जो लोग 'ए' वर्ग में रखे जाते थे उनकी संख्या भी बढ़ती ही जाती थी और उनके लिए जेल के अस्पताल के सिवा दूसरा स्थान नहीं था। उनको भी हजारीबाग ले जाने की बात थी; पर तब तक रेलगाड़ियों का आना-जाना बन्द हो गया, इसलिए

उनका वहाँ जाना अनिश्चित काल तक के लिए रुक गया। प्रायः एक महीना बाद तक वे लोग उस छोटे-से अस्पताल में ही रहे और कुछ लोग इधर-उधर भी रखे गये। बाँकीपुर की जेल पटना-जंकशन-स्टेशन के नजदीक ही है। वहाँ से गाड़ियों के आने-जाने और विशेषकर रेल की सीटी की आवाज खूब सुनने में आ जाती है। यह सब महीनों तक बन्द रहा। केवल एक इंजिन की सीटी सुनने में आया करती जो डब्बों को इधर-उधर स्टेशन पर हटाया करता होगा। उसकी आवाज भी हम लोगों ने पहचान ली थी। हम उससे इस भ्रम में नहीं पड़ते थे कि गाड़ियाँ चलने लगीं। प्रायः एक महीने के बाद सभी लोग हजारीबाग ले जाये गये। मैं वहाँ जाने के लायक नहीं था। वहाँ का जलवायु भी मेरे अनुकूल नहीं पड़ता। इसलिए मैं पटने में ही रखा गया।

जेल में पहुँचने के दो-चार दिनों के बाद यह खबर उड़ी कि मुझे कहीं बाहर ले जायँगे जहाँ वर्किंग कमिटी के दूसरे सदस्य रखे गये थे। रेलों का चलना बन्द हो चुका था, इसलिए ले जाने का एक ही उपाय था—हवाई-जहाज। डाक्टरों से राय ली गयी तो उन्होंने राय दी कि मेरी अवस्था ऐसी नहीं कि हवाई जहाज का सफ़र बर्दाश्त कर सकूँ। इसलिए यह विचार भी स्थगित हो गया। प्रायः दस महीनों के बाद, जून १९४३ में, एक दिन अचानक मेजर मर्डक—जिन्होंने मुझे गिरफ्तारी के समय देखा था और हजारीबाग न ले जाने की राय दी थी—जेल में आ गये। उन्होंने मुझसे कहा कि हमें गवर्नमेण्ट का हुक्म मिला है कि मुझे देखकर मेरे स्वास्थ्य के सम्बन्ध में तुरन्त रिपोर्ट दें। गर्मियों में, विशेषकर जून के शुरू में, मैं बहुत स्वस्थ रहा करता हूँ। उस समय बहुत अच्छा था। इसलिए, ऐसे समय में, जब स्वास्थ्य के बारे में कोई खराब रिपोर्ट नहीं गयी होगी; डाक्टर का आना आश्चर्यजनक अवश्य था। मैंने ताड़ लिया कि मुझे कहीं दूसरी जगह भेजना चाहते हैं। मैंने डाक्टर से पूछा तो उसने कहा कि बाजाब्ता खबर तो उसको नहीं थी और न वह दे सकता था, पर बेजाब्ता तौर से वह कह सकता था कि कुछ ऐसी ही बात थी। कुछ और अधिक पूछने पर उसने यह भी कहा कि मैं हजारीबाग नहीं भेजा जाऊँगा, दक्खिन पूना की ओर जाना होगा। पीछे जेल से निकलने पर यह खबर मिली कि अहमद-नगर के किले में भी मेरे भेजे जाने की बात थी और मेरे लिए वहाँ कमरा ठीक किया गया था; पर न मालूम क्यों, फिर कुछ हुआ नहीं। कुछ दिनों के बाद, जब डिस्ट्रिक्ट मैजिस्ट्रेट मिलने आया, पूछने पर उसने कहा कि न मालूम क्यों बात आगे न बढ़ी।

जेल जाने के समय मेरी चिकित्सा वैद्यराज ब्रजविहारी चौबेजी कर रहे थे। जेल में उनकी चिकित्सा होना सम्भव नहीं था। न मालूम गवर्नमेण्ट कहने पर भी इसकी इजाजत देगी या नहीं, और मैं कोई खास सहूलियत माँगना पसन्द भी नहीं करता था। इसलिए वहाँ पहुँचते ही डाक्टरी दवा शुरू हो गयी। बाहर रहने पर पटने के नामी डाक्टर श्री त्रिदिवनाथ बनर्जी (टी० एन० बनर्जी), जो उन दिनों

मेडिकल-कालेज के प्रिन्सिपल थे, और डाक्टर रघुनाथशरण तथा डाक्टर दामोदर-प्रसाद मुझे देखा करते हैं। गवर्नमेण्ट ने आज्ञा दे दी कि जब कभी जेल के सुपरिण्टेण्डेण्ट, जो वहाँ के सिविल सर्जन उन दिनों हुआ करते थे, जब जरूरत समझें तब डाक्टर बनर्जी को बुला लिया करें। इसलिए जब-तब डाक्टर बनर्जी आया करते थे। तबीयत कुछ ज्यादा खराब हुई तो डाक्टर शरण और डाक्टर दस्तीदार भी खास करके बुला लिये जाते थे। इस तरह, मैं जब-जब बीमार पड़ा, वे डाक्टर आते रहे जो पटने में सबसे अच्छे समझे जाते हैं और जिन्होंने बहुत बरसों से मेरी चिकित्सा की है। इस बात की शिकायत कभी न हुई कि मेरी बीमारी पर पूरा ध्यान नहीं दिया गया। इसी तरह मेरे खान-पान, रहन-सहन इत्यादि के सम्बन्ध में भी कभी किसी किस्म की शिकायत नहीं हुई। गवर्नमेण्ट के हुक्म से, मेरे साथ रहने के लिए, शुरू से ही मथुरा बाबू और चक्रधर बाबू बाँकीपुर-जेल में ही रहने दिये गये। पीछे वाल्मीकि को भी मेरे साथ रहने दिया। दूसरे लोग आते-जाते रहे, पर मेरी खातिर नहीं। कुछ तो गिरफ्तार करके वहाँ सीधे लाये जाते। पर कुछ दिनों के बाद यह बन्द हो गया और गिरफ्तार करके लोग सीधे कैम्प-जेल भेज दिये जाते थे। कुछ लोग कभी-कभी बीमार पड़ जाने पर हजारीबाग-जेल से, अथवा किसी दूसरी जेल से भी, पटने के बड़े अस्पताल में भेजे जाते। वे पहले बाँकीपुर-जेल में आते, वहाँ से फिर अस्पताल भेजे जाते। इसी तरह अस्पताल से लौटने के समय भी बाँकीपुर-जेल होकर ही वापस जाते। हजारीबाग से आनेवाले इन बीमार कैदियों के सिवा दूसरा कोई जरिया हालचाल मिलने का नहीं था। कुछ दिनों के बाद यह भी बन्द हो गया। जिनको अस्पताल जाना होता, वे सीधे अस्पताल में ही भेज दिये जाते। तो भी जेल में न मालूम किस तरह, बिना पूछे, जानने की कोशिश किये बिना ही, खबर पहुँच ही जाती है। गवर्नमेण्ट समझती थी कि संसार को यह बात मालूम नहीं है कि वर्किंग कमिटी के मेम्बर कहाँ रखे गये हैं। पता नहीं कि बाहरवालों को कब मालूम हुआ कि वे लोग अहमदनगर-किले में हैं, पर हम लोगों को तो बाँकीपुर-जेल में गिरफ्तारी के चन्द दिनों के अन्दर ही यह मालूम हो गया था। स्थानीय अखबार हमारी गिरफ्तारी के चन्द दिनों बाद तक तो निकलते रहे, पर बहुत जल्द सब के सब बन्द हो गये। बिहार-गवर्नमेण्ट 'पटना-डेलीन्युज' के नाम से एक दैनिक (अँगरेजी) पर्चा निकालने लगी जिससे कुछ खबरें मिल जातीं। एक विशेष बात उससे यह मालूम हुई कि गवर्नमेण्ट ने किस जिले पर कितना सामूहिक जुर्माना किया या प्युनिटिव-टैक्स लगाया। हमने देखा कि चन्द महीनों के अन्दर प्रायः २६ लाख जुर्माना किया गया!

१४८—१९४२ के जेलजीवन की कुछ बातें

बाँकीपुर का जेल-जीवन मेरे लिए किसी तरह कष्टप्रद न हुआ। यों तो किसी एक जगह बन्द रहना ही कष्टप्रद होता है, पर मैंने अपने को कुछ ऐसा बना लिया

हूँ या ऐसा पाया है कि जेल में पहुँचने के बाद मैं बाहर की चिन्ता भूल जाता हूँ— जो कुछ बाहर होता है अथवा हो सकता है उससे कोई सम्पर्क नहीं रखता। बाहर से कोई कैदी आता और उससे भेंट होती तो वह बाहर का हाल कहता। दूसरी जेलों से आये हुए लोग उन जेलों का हाल कहते। जब अखबार फिर निकलने और हम लोगों को मिलने लगे तो उनसे भी देश की बातें मालूम हो जातीं। पर मैं एक प्रकार से इन बातों को केवल सुन लेता, दूसरा कोई सम्बन्ध नहीं रखता। एक-दो मित्रों ने बाहर से खबर भेजने और वहाँ से मेरी राय जानने का भी प्रयत्न किया, पर मैंने इसे प्रोत्साहन नहीं दिया, तबसे फिर किसी ने ऐसा प्रयत्न नहीं किया। शुरू में कई महीनों तक बीमार रहा। बरसात और जाड़ों में अक्सर अस्वस्थ रहा। केवल मार्च के बाद से जून तक अच्छा रहा करता। पर हमेशा अस्वस्थता ऐसी नहीं होती कि बिलकुल चारपाई पर पड़ जाऊँ। ऐसा भी हुआ, पर हमेशा नहीं। इसलिए सूत कातने और लिखने-पढ़ने का समय मिला। आगे चलकर यह सहूलियत और भी अधिक हो गयी—जब बाहर से कैदियों का आना-जाना बन्द हो गया और मेरे साथ भी दो-तीन आदमियों से अधिक न रह गये।

घर के लोगों से बराबर मुलाकात होती रही। छोटे-छोटे बच्चे भी उनके साथ आ जाया करते; उनको इसका ज्ञान तो शायद नहीं था कि मैं कहाँ हूँ और क्यों एक जगह में बन्द हूँ; पर सुना कि मुलाकात के दिन मेरे पास आने के लिए वे उत्सुक रहा करते थे। चिरंजीव अरुण मेरा पोता ढाई साल का था, पर वह जब जेल के फाटक के अन्दर घुसता तो वहाँ से सीधे दौड़ता हुआ अस्पताल-वार्ड के मेरे कमरे में आ जाता। दो-चार बार आने के बाद ही उसने रास्ता भी पहचान लिया और मेरा कमरा भी। उससे बड़ी जो लड़कियाँ थीं वे तो रास्ता और कमरा जानती ही थीं। मेरे पास पहुँचकर उन बच्चों की फरमाइश होती—बाबा, कुछ खिलाओ! मैं उनके लिए कुछ तैयार रखता। आध घंटे तक रहकर और इधर-उधर दौड़-धूप करके कुछ खाकर वे चले जाते। जाने के समय जेल के अहाते में खिले हुए सुन्दर फूल अगर पसन्द आ जाते तो तोड़ लेते। जेल के अधिकारी न हरकतों से रुष्ट नहीं होते थे, बल्कि बच्चों की चंचलता देखकर खुश होते और हँसते। जब-तब अरुण मेरा हाथ पकड़कर चलते समय कहता—'तुहूँ चलऽ बाबा'। छोटी अवस्था का बचपन भी कैसा सुन्दर, निरीह और निश्चिन्त हुआ करता है!

जेल में एक समय बहुत चिन्ता का बीता। वह था जब महात्माजी ने उपवास किया। इसकी खबर तो अखबारों से मिल गयी। हमने गवर्नमेण्ट को लिखा कि वहाँ की खबर मुझे तार द्वारा दी जाती रहे। कुछ मित्रों को तार भिजवाने के लिए भी कहला भेजा। तार आने लगे। पर जब तक वह सी० आई० डी० (खुफिया पुलिस) द्वारा पास न हो जाय, मुझे मिलता नहीं। इसमें देर लगती और जेल-आफिस में पहुँचने के प्रायः २४ घंटों बाद तार मिलता। उधर भी उतनी ही खबर लोग भेजने को पाते जितनी गवर्नमेण्ट की बुलेटिन में छपती, वह तो 'पटना-डेली

न्यूज' में सवेरे ही हमको मिल जाती; इसलिए तार और भी बेकार हो गया। चन्द दिनों के बाद तार मँगाना बन्द कर दिया। एक दिन यह खबर पहुँच गयी कि महात्माजी की हालत बहुत खराब है। शहर में तो खबर उड़ गयी कि वह अब रहे ही नहीं ! हम लोगों को यह खबर जेल में नहीं मिली। जब 'पटना-डेली न्यूज' आया तो मालूम हुआ कि अभी वह बचे हैं और हालत कुछ सुधरने लगी है। हम लोग चिन्ता करते और प्रार्थना करते। ईश्वर की दया से खतरे के घंटे निकल गये। मालूम होने लगा कि वह अब संकट की अवधि को पार कर जायँगे। अन्त में यह शुभ समाचार सुनने को मिला कि यह यज्ञ भी सम्पूर्ण हुआ। ब्रिटिश गवर्नमेण्ट और लार्ड लिनलिथगो की नीति और कड़ाई का पूरा प्रदर्शन हो गया।

जेल का जीवन एक प्रकार से बिना किसी महत्त्वपूर्ण घटना के बीतता रहा। बाहर जो कुछ जनता, सरकारी कर्मचारियों, पुलिस, फौज और मजिस्ट्रेटों द्वारा हुआ उसकी खबर कुछ-कुछ मिलती रही। वह भयंकर और रोमांचकारी थी। पर हम लाचार थे और सुन लेने के सिवा दूसरा कुछ हो नहीं सकता था। जो नये आर्डिनेन्स बन गये थे उनके द्वारा धाँधली खूब चल रही थी। वह धाँधली केवल राजनीतिक मामलों में ही नहीं, मामूली मुकदमों में भी। यहाँ दो उदाहरण देता हूँ।

हमारे जेल चले आने के चन्द दिनों के अन्दर ही पटना-जिले के किसी गाँव में दो दलों में, किसी जमीन या किसी और चीज के लिए, मार-पीट हुई। एक आदमी मारा गया। पुलिस के लिए, उन दिनों किसी भी मुकदमे में सजा दिलवा देने का, सबसे सीधा रास्ता यह था कि उसे वह राजनीतिक करार दे दे। उसने इसे भी राजनीतिक जामा पहना दिया। खून का कारण यह बताया गया कि जिस आदमी का खून किया गया था वह फौज में भरती हुआ था, चूँकि दूसरे पक्ष के लोग काँग्रेसी थे इसलिए उन्होंने उसे फौज में भरती होने से मना किया, जब उसने उनकी एक न सुनी तो उसका खून कर दिया ! मामला सीधे स्पेशल जज के सामने पेश हुआ। उसका फैसला हुआ कि जिस आदमी का खून हुआ था वह कभी फौज में भरती हुआ ही न था, इसलिए उसके खून का कारण वह नहीं हो सकता—पर कारण जो हो, खून तो हुआ ही है, इसलिए आठ आदमियों को फाँसी की सजा दी जाय। आर्डिनेन्स के अनुसार भी फाँसी की मंजूरी हाइकोर्ट के एक जज द्वारा होनी चाहिए थी। इसके लिए एक जज खास करके नियुक्त किये गये थे। उन्होंने ७ आदमियों को छोड़ दिया, पर एक की फाँसी की सजा बहाल रखी। उसकी ओर से प्रीवी कौन्सिल में भी अपील की गयी, पर वह नामंजूर हो गयी। जेल में जब तक हम लोग रहे, एक काम हममें से किसी को करना पड़ता था। उसे हम खुशी से कर भी देते थे। जब किसी मामूली कैदी को जेल से अपील करने का इरादा होता तो वह किसी न किसी तरह हम लोगों के पास पहुँच जाता और अपील की दर्खास्त लिखवा ले जाता। फाँसीवाले आदमी की ओर से दया की दर्खास्त मुझे लिखनी पड़ती। जेल के अधिकारी, फाँसीवालों की ओर से दया की दर्खास्त भिजवाने में, मैंने देखा, अक्सर कुछ दिलचस्पी लेते हैं। मुझे

याद है कि उन्होंने दो मामलों में मुझसे दर्खास्त का मसविदा लिख देने को कहा था। यह पहला फाँसी का मामला था। इसको पुलिस ने पोलिटिकल करार दिया था। पोलिटिकल होने के कारण ही फाँसी की सजा हुई थी। मैंने दर्खास्त लिख दी। गवर्नर ने फाँसी की जगह डामल-हौस की सजा कर दी। उसकी जान बच गयी। पुलिस ने जो पोलिटिकल शक्ल देकर सजा दिलवा दी उसका एक अच्छा फल यह हुआ कि जब फिर १९४६ में काँग्रेस-मिनिस्ट्री हुई तो दूसरे राजनीतिक कैदियों के साथ वह आदमी भी छूट गया! छूटते ही मेरे पास आकर सदाकत-आश्रम में मुझसे भेंट कर गया। एक औरत को भी फाँसी की सजा हुई थी। उसकी दर्खास्त जेलर ने खुद आकर मुझसे लिखवायी थी। उसकी सजा भी फाँसी की न रहकर कालापानी की हो गयी थी।

एक दूसरा मुकदमा डकैती का था। मुजरिम पोलिटिकल करार नहीं दिया गया था। पर उन दिनों मामूली मुकदमों की जाँच भी आर्डिनेन्स के अनुसार ही हुआ करती थी। मैजिस्ट्रेट के अधिकार बढ़ा दिये गये थे। वे लम्बी-लम्बी सजाएँ दे सकते थे। एक आदमी था जिसकी उम्र साठ से कम न होगी। उसके हाथ में कुछ ऐब था जिससे उसकी अँगुलियाँ पूरी खुलती न थीं। पैर का लँगड़ा होने के कारण मुश्किल से चल सकता था, दौड़ने की तो बात ही नहीं हो सकती थी। जेल में भी बीमार था। अस्पताल में ही था जहाँ मैं था। मुकदमा यह था कि पटना-राँची-रोड पर, जो बहुत चालू सड़क है, एक आदमी बैलगाड़ी पर बोरों में भरकर चावल ले जा रहा था। कुछ डाकुओं ने गाड़ी रोककर चावल लूट लिया। वे बोरों को पीठ पर लेकर खेतों से होकर भाग निकले। गाड़ीवाले ने शोर मचाया तो कुछ आसपास के लोग आ गये। सबने डाकुओं का पीछा किया। प्रायः १-१॥ मील दूर जाने पर खेतों में बोरे फेंककर डाकू चम्पत हो जाना चाहते थे, पर लोगों ने उन्हें पकड़ लिया। उन्हीं डाकुओं में से उपरोक्त अष्टावक्रजी भी थे! चूँकि वह बहुत बीमार था, इसलिए मैजिस्ट्रेट ने जेल के अस्पताल में आकर ही उससे बयान लिया और उसे सात साल की सजा दे दी। मैं जब अस्पताल के अपने वार्ड से बाहर निकला तो वह पैर पकड़कर रोने लगा। मैंने उसे अपील करने को कहा। उसने जेलर से कहकर फैसले की नकल मँगायी। मैंने अपील की दर्खास्त लिख दी। वह हाइकोर्ट से छूट गया। जजों ने सारी घटना को असम्भव समझा और इन गरीबों की गिरफ्तारी का कारण भी डकैती के बदले कुछ और ही समझा। मुझे यह देखकर पूरा विश्वास हो गया कि इन्साफ सचमुच अन्धा होता है—कम से कम आर्डिनेन्सों के मातहत काम करनेवाले मजिस्ट्रेटों ने तो उसे अन्धा बना दिया था। अगर ऐसा न होता तो अष्टावक्र को देखने के बाद कोई भी आँखवाला आदमी इस बात का विश्वास नहीं कर सकता कि वह गाड़ी पर से लूटकर चावल का बोरा पीठ पर लादे १-१॥ मील तक धान के खेतों से होते हुए भागने के बाद पीछा करनेवालों द्वारा पकड़ा जाय। जिस आदमी के हाथ की अँगुलियाँ नहीं खुलतीं, जिसका हाथ सीधा नहीं हो सकता, जिसके पैर ऐसे लँगड़े थे कि वह मुश्किल से चल सकता और जिसकी अवस्था ६० बरस की हो, वह दो मन चावल

का बोरा पीठ पर लेकर एक-डेढ़ मील भाग सका होगा; इसका विश्वास अन्धा ही कर सकता था। पर मजिस्ट्रेट ने विश्वास करके सात साल की सजा उसे दे दी थी!

राजनीतिक मुकदमों का तो कहना ही क्या! पटना-जिले का कुछ हिस्सा बरसात में पानी से भर जाता है। उसे 'टाल' कहते हैं। बरसात में रेल पर से ही, जहाँ तक आँखें देख सकती हैं, जल ही जल नजर आता है। इस टाल में जो गाँव हैं वे बरसात में दुनिया से एक प्रकार से अलग हो जाते हैं। वहाँ से बाहर निकलने के लिए नाव के सिवा दूसरा कोई जरिया नहीं। यों ही दूसरे मौसम में भी इन गाँवों में हफ्ते में एक बार डाकिया डाक ले जाया करता है। बरसात में तो शायद महीने में एक-आध बार डाकिया पहुँच जाता हो तो बहुत है। ऐसे ही एक छोटे गाँव के लोगों का, वहाँ के एक जुजवी जमीन्दार के साथ, कई बरसों से झगड़ा चला आता था। इस आन्दोलन को गनीमत समझ कर उन्होंने वहाँ के प्रमुख किसानों पर पुलिस से राजनीतिक मुकदमा चलवा दिया। वे गिरफ्तार कर जेल में लाये गये। जब उनका मुकदमा दौरा-सपुर्द हो गया तो वे बाँकीपुर-जेल में ही रखे गये। सेसन में इतने मुकदमे थे कि इस मुकदमे की सुनवाई १९४४ के जून-जुलाई के पहले न हो सकी। वे लोग प्रायः दो बरसों तक तो हाजत में ही पड़े रहे। उन पर जुर्म बड़े संगीन लगाये गये थे—उस गाँव के लोगों ने, बम्बई के ८ अगस्त के प्रस्ताव के बाद, काँग्रेस के हुक्म से, अपने और आसपास के गाँवों में ब्रिटिश राज्य उठाकर अपना राज्य कायम कर लिया है—एक आदमी राजा हो गया था, दूसरा मंत्री, तीसरा सेनापति, इस तरह और लोग भी इस राज्य-स्थापना में मदद करते थे और इस राज्य को चलाने के लिए लोगों पर 'कर' लगाया था। जो कड़े से कड़े दफा हो सकते हैं, सभी उन पर लगाये गये थे और उनकी सजा फाँसी तथा माल-जायदाद की जब्ती हो सकती थी। राजा, मंत्री और सेनापति अपने अन्य साथियों के साथ बाँकीपुर-जेल में लाये गये। सेनापति इतना बीमार थे कि इन दो बरसों में उनका अधिक समय अस्पताल में ही बीता। मुकदमा सेसन-जज के सामने पेश हुआ। पुलिस का बयान यह हुआ कि बम्बई की खबर पाकर इन लोगों ने अपना राज्य कायम कर लिया, उस गाँव में तथा आस-पास के गाँवों में लोगों से 'कर' वसूलने लगे और जो 'कर' नहीं देता उसका घर-माल लूट लेते। उन लोगों का जवाब था कि सारा मुकदमा झूठा है, वे लोग काँग्रेस के साथ कोई सम्बन्ध नहीं रखते थे, बम्बई के फैसले का उनको कुछ पता ही न था, गाँव के उस छोटे जुजवी जमीन्दार ने अपना वैर साधने के लिए उन्हें झूठे मुकदमे में फँसा दिया है। सेसन-जज का फैसला हुआ कि मुकदमा बिलकुल झूठा और बे-बुनियाद है, उस जमीन्दार ने ही इसे खड़ा कराया है; क्योंकि ऐसे गाँव में—जिसका सम्बन्ध बरसात में बाकी दुनिया से एक प्रकार से टूट जाता है—बम्बई के फैसले और आन्दोलन की खबर भी न पहुँची होगी; क्योंकि जिस दिन वहाँ स्वतंत्र राज्य-स्थापना की बात कही जाती थी उस दिन तक पटना-शहर में भी आन्दोलन ने अभी जोर नहीं

पकड़ा था। अन्त में, सबके सब छूट गये; पर दो बरसों तक हाजत में रहने और मुकदमे में बहुत खर्च करने के बाद !

एक दूसरा मिसाल और लीजिए। १८–२० बरस का एक लड़का था। राजनीति से उसका कोई सम्बन्ध न था । देखने में जरा अच्छा था। पुलिस को उससे कुछ रंज था। वह छोटी-मोटी मामूली चोरियाँ करनेवाला अथवा पाकिटमार-सा कुछ होगा। ९ अगस्त का आन्दोलन आरम्भ होने के कुछ पहले ही, वह बिना टिकट रेल पर जाने के लिए गिरफ्तार हुआ। इसी बीच में आन्दोलन शुरू हुआ। पुलिस ने उसे कुछ दिनों के लिए जेल में रख देने का सीधा उपाय यह समझा कि थाना लूटने, रेल तोड़ने, तार काटने इत्यादि के मुकदमों में वह मुजरिम बना दिया जाय। पुलिस ने शायद सोचा कि इस तरह एक पाकिटमार की निगरानी का भार कुछ बरसों के लिए उसके सिर से उतर जायगा। टिकटवाले मुकदमे में उसकी एक हफ्ता कैद की सजा हुई जो बहुत जल्द समाप्त हो गयी। किन्तु उस पर और कई मुकदमे थे। वह राजनीतिक हाजतियों के साथ जेल में रखा गया। एक मुकदमा हुआ जिसमें उसने बयान किया कि वकूआ के बहुत पहले से वह जेल में बन्द रहा है। मजिस्ट्रेट ने उसकी बात मान ली और रिहाई कर दी। परन्तु उस पर और भी इस प्रकार के आन्दोलन-सम्बन्धी मुकदमे थे, इसलिए वह छूटा नहीं। दो-तीन मुकदमे हुए और सबमें वह बरी होता गया, पर छूटा नहीं। इस तरह कई महीने बीत गये। एक और मुकदमा चला। उसका सम्बन्ध भी आन्दोलन से था। पर उसके यह बयान करने पर भी कि वह वकूआ के बहुत पहले से ही जेल में रहा है और जेल का रजिस्टर माँगकर देख लेने से ही यह बात साबित हो जायगी, मजिस्ट्रेट ने कई बरसों की कैद की सजा उसे दे दी ! अपील भी नामंजूर हो गयी ! पर उसकी ओर से एक दर्खास्त तैयार की गयी जिसमें सब बातें लिखी गयीं—उसकी गिरफ्तारी की तारीख, वकूआ की तारीख, दूसरे मुकदमों का हाल जिनमें वह छोड़ दिया गया था, सब बातें खोलकर लिखी गयीं और कहा गया कि जेल का रजिस्टर मँगाकर देखा जाय कि वकूआ के दिन वह जेल में था या नहीं। जिला-मजिस्ट्रेट जेल देखने आया तो उसने दर्खास्त उसको दी। जिला-मजिस्ट्रेट को आश्चर्य हुआ; पर वह दर्खास्त साथ लेता गया। मालूम हुआ कि उसने कागजों को मँगाकर देखा और उसे मालूम हो गया कि वह आदमी गलत सजा पाकर जेल में सड़ रहा है। उसने गवर्नमेण्ट को लिखा और उसकी रिहाई का हुक्म मँगवाया।

इस तरह की धाँधलियाँ न मालूम कितनी ही हुईं जिनके शिकार राजनीतिक लोग तो हुए ही, दूसरे लोगों की संख्या भी कम न रही। राजनीतिक लोगों की सजा की बात क्या कहूँ ! कहाँ तक कहूँ ? ऐसे लोगों को भी देखा जिनको २५-२५ साल की सजा मिली थी। ऐसे भी थे जिनको ५० बरस से भी अधिक लम्बी सजा मिली थी। ऐसे लोगों की संख्या भी कम न थी जिनको १० बरस अथवा दामुल (डामल हौस) की सजा दी गयी थी। साल दो साल और चार साल की तो बात ही क्या !

जब कलकत्ता हाइकोर्ट ने उस आर्डिनेन्स को, जिसके अनुसार ये मुकदमे चलाये गये थे, गैर-कानूनी बता दिया और लार्ड लिनलिथगो को नया आर्डिनेन्स बनाना पड़ा तथा इन मुकदमों के अभियुक्तों को अपील का मौका मिला, तो हाइकोर्ट ने बहुतेरों को छोड़ दिया। बहुतेरों की सजाएँ कम कर दी गयीं। बहुतेरे तो यह कहकर छोड़ दिये गये कि जितनी सजा वे भुगत चुके हैं, काफी है। शुरू में ही, जब आन्दोलन जोरों पर था और मुकदमों का अभी आरम्भ ही हो रहा था, इस धाँधली के कुछ नमूने सामने आ गये, जिनमें से एक का जिक्र ऊपर किया गया है, जिसमें आठ आदमियों को फाँसी की सजा जिला-जज ने दे दी थी।

इसके पहले के आन्दोलनों में काँग्रेसी लोग अदालतों में अपना बचाव नहीं किया करते थे। उस समय भी धाँधलियाँ तो हुआ करती थीं, पर सजाओं में कुछ मर्यादा रहती और इतनी लम्बी-लम्बी सजाएँ नहीं होतीं। जुर्माने में बड़ी-बड़ी रकमें कहीं-कहीं ली जातीं, पर आम तौर से लोग इन बातों की परवा नहीं करते और गांधीजी ने बचाव करने की जो मनाही कर दी थी उसे लोग मानते। इस बार के मुकदमों का रुख कुछ दूसरा था। इनमें बहुत लम्बी-लम्बी सजाएँ—फाँसी तक की—होतीं या होनेवाली थीं। इसलिए यह प्रश्न उठा कि बचाव किया जाय या नहीं। बाँकीपुर-जेल में ही ऐसे लोग थे जिनको फाँसी की सजा मिली। १९३०–३१ और १९३२–३४ के सत्याग्रह-आन्दोलन में भी जुर्मानों की वसूली में बहुत धाँधली होने लगी थी। थोड़ी रकम के लिए घर का सब धन-माल कानूनी तरीके पर केवल जब्त ही नहीं किया जाने लगा, बल्कि गैर-कानूनी तौर पर लूटा भी जाने लगा। किसी ने बिना किसी से राय लिये ही हाइकोर्ट तक मामले को पहुँचा दिया। वहाँ से हुक्म हो गया कि इजमाल हिन्दू-खानदान का माल किसी एक आदमी के जुर्माने में जब्त नहीं किया जा सकता। नतीजा इसका यह हुआ कि जुर्माने की वसूली की धाँधली बहुत कम हो गयी; क्योंकि सभी जगहों में लोगों को मालूम हो गया कि ऐसी नजीर कायम हो गयी है। इस बार जब मुझसे लोगों ने पूछा कि ऐसे संगीन मुकदमों में बचाव किया जाय या नहीं, तो मैंने राय दी कि बचाव जरूर किया जाय। कुछ लोगों को यह बात पसन्द नहीं आयी और कुछ लोगों को इसका पता ही न था कि मैंने ऐसी राय दी है। इसलिए कुछ लोगों ने कोई बचाव नहीं किया और जो सजा हुई उसे हँसते-हँसते झेल ली। इनमें श्री जगलाल चौधरीजी थे जिनको दस साल की सजा मिली—और यह भी तब, जब उनका एक जवान लड़का गोलियों का शिकार बन चुका था और उनकी गिरफ्तारी थाने पर हुई थी जहाँ उसके शव की तलाश में वह गये थे!

जब नये आर्डिनेन्स के अनुसार अपील का मौक़ा मिला तो उसमें भी मैंने राय दी कि अपीलें की जायँ। मैंने यह राय दो कारणों से दी—एक कारण तो यह था कि मैं समझता था कि बचाव करने से मजिस्ट्रेटों की धाँधली शायद कुछ कम हो और दूसरा कारण यह था कि मैंने देखा कि इस आन्दोलन में बहुतेरे ऐसे लोग

भी गिरफ्तार हुए थे जिनका काँग्रेस से कभी कोई सरोकार नहीं था और जो हर हालत में अपना बचाव करते ही। काँग्रेसी लोगों में भी ऐसे लोग थे जो अपना बचाव करना चाहते थे। सजाएँ भी कड़ी होनेवाली थीं। इसलिए मैंने सोचा कि इनको यदि रोका जाय तो असन्तोष फैलेगा और हो सकता है कि रोकने पर भी बहुतेरे लोग बचाव करें। ऐसी अवस्था में बचाव करने देना ही ठीक मालूम हुआ। मैं जानता था और अपने विश्वास को, जिनसे भेंट होती थी उनसे, कह भी देता था कि यद्यपि उनकी सजाएँ लम्बी हैं तथापि वे और मेरे ऐसे लोग भी जो बिना मीयाद के जेल में रखे गये हैं, छूटेंगे सब एक ही समय। हो सकता है कि हम कुछ पहले छूट जायँ, पर हम जब तक उनको भी छुड़ा न लेंगे, बाहर नहीं रह सकेंगे। बात भी ऐसी ही थी। हम इतने लोगों को लम्बी सजा भुगतने के लिए छोड़कर खुद कैसे बाहर रह सकते थे? मुझे इस बात से सन्तोष हुआ कि जब महात्मा गांधीजी बाहर निकले तो उन्होंने भी मुकदमों में बचाव करने का ही आदेश दिया। चिन्ता उन लोगों के बारे में होती जिनको फाँसी की सजा होती। जो कैद हैं वे तो कुछ आगे-पीछे जेल से निकाले जा सकते हैं, पर जिनको फाँसी की सजा दी गयी है वे तो सदा के लिए चले जायँगे। पटने में कई आदमियों को फाँसी की सजा हुई, पर किसी न किसी तरह सबके सब बच गये। कुछ समय तो अपील वगैरह में लगा। पीछे जब हम लोग छूट गये और महात्मा गांधी फाँसीवाले मुकदमों के बारे में लार्ड वेवल से बातें करने लगे, तो औरों के साथ पटनावालों की फाँसी की सजा भी डामलहौस (दामुल) में बदल दी गयीं, और काँग्रेस-मिनिस्ट्री आने पर वे छूट गये। पर मुजफ्फरपुर, भागलपुर, मुँगेर इत्यादि में कई आदमी फाँसी पड़ ही गये। अगर वे भी सहसा लटका न दिये जाते तो अन्त में छूटते ही; पर यद्यपि उनके साथ एक ही मुकदमे में सजा पाये हुए लोग पीछे छूट गये तथापि वे लोग चले ही गये। उन लोगों को, जो फाँसी की सजा पा चुके थे, आज बाहर देखकर एक प्रकार की प्रसन्नता होती है और इस बात पर अफसोस भी होता है कि दूसरों को इसी तरह हम लोग नहीं बचा सके।

१४९—१९४२ की उत्तेजनाओं के परिणाम

इस बार जेल में ९ अगस्त (१९४२) को मैं लाया गया। वहाँ से १९४५ में १५ जून को निकला। जैसा ऊपर कह आया हूँ, शुरू में मथुरा बाबू और श्री चक्रधरशरण मेरे साथ रहे; दूसरे लोग आते-जाते रहे, पर मेरे लिए नहीं। १९४३ के अक्टूबर में श्री चक्रधरशरण हजारीबाग भेज दिये गये। मार्च १९४४ में मथुरा बाबू की रिहाई हो गयी। उसके बाद ३ दिसम्बर १९४४ तक मेरे साथ केवल वाल्मीकि ही रहे। नये आर्डिनेन्स के अनुसार, गवर्नमेण्ट की ओर से, एक कमिटी हर छठे महीने आती और नजरबन्द लोगों से मिलती। जिनके लिए वह सिफारिश करती वे छोड़ दिये जाते। यह कमिटी पहली बार १९४४ के मार्च में आयी। मथुरा बाबू उसी की सिफारिश पर अचानक छोड़ दिये गये। मुझसे कमिटी के मेम्बरों ने पूछा था कि

क्या मैं छूटना चाहता हूँ, तो मैंने उत्तर दिया था कि अकेला नहीं, सब लोगों के साथ ही। इस पर उन्होंने पूछा कि यदि छोड़ दिया जाऊँ तो मुझे आश्चर्य होगा क्या? मैंने उत्तर दिया था कि जरूर—बहुत आश्चर्य होगा। उन्होंने पूछा कि तोड़-फोड़ का कार्यक्रम अगर काँग्रेस ने नहीं दिया तो लोगों को कैसे मालूम हुआ और यह बात सारे देश में एक छोर से दूसरे छोर तक इतना जल्द कैसे फैल गयी। मैंने उत्तर दिया कि ८ अगस्त के प्रस्ताव के साथ-साथ गवर्नमेण्ट की एक विज्ञप्ति ९ अगस्त (१९४२) के सवेरे के समाचार-पत्रों में निकली थी, जिसमें गवर्नमेण्ट ने गांधीजी और वर्किंग कमिटी के लोगों की गिरफ्तारी के कारण बताकर लोगों को यह समझाने की कोशिश की थी कि गवर्नमेण्ट की यह कार्रवाई उचित है—उसी में यह बात साफ-साफ लिखी थी कि काँग्रेस की ओर से इस बार रेल-तार आदि तोड़ने-काटने का भी कार्यक्रम दिया गया है—उसी दिन या उसके दूसरे दिन मि० एमरी ने रेडियो पर भाषण किया था जिसमें भी यह बात कही गयी थी और यह भाषण भी अखबारों में छपा था—काँग्रेस की ओर से कोई कार्यक्रम नहीं निकला था—लोगों ने समझ लिया कि यही कार्यक्रम होगा और गवर्नमेण्ट की ही बात पर विश्वास करके लोगों ने काम शुरू कर दिया।

मेरा आज भी विश्वास है कि इस कार्यक्रम का इतना अधिक और इतनी तेजी से प्रचार इसी कारण से हुआ। लोगों के दिल में पहले से ही, जैसा मैंने ऊपर कहा है, १९३० से ही, इस तरह की बातें उठा करती थीं; इस बार उसको पुष्टि मिल गयी और जन-साधारण ने उसे ठीक मान लिया। इसके दो जबरदस्त प्रमाण मुझे जेल में उसी उमय मिल गये। मैं समझ गया कि यह बात जोरों से चलेगी। मेरी गिरफ्तारी के थोड़े ही दिन बाद फूलन बाबू जेल में पहुँचे थे। उन्होंने कहा कि जब मेरी गिरफ्तारी की बात शहर में पहुँची तो कुछ लोग उनके (फूलन बाबू के) पास पहुँचे और उनसे पूछा कि कार्यक्रम क्या है। लोग समझते थे कि मेरे साथ उनकी मुलाकात हुई होगी और मैंने कुछ बताया होगा। पर उनकी मेरी बहुत दिनों से मुलाकात हुई ही न थी, इसलिए वह कुछ नहीं बता सके। पर उसी दिन कुछ घंटे पहले पत्रों में गवर्नमेण्ट की विज्ञप्ति छप चुकी थी और लोगों का ध्यान उस ओर आ गया था। दो दिनों के बाद जब कुछ लड़के सेक्रेटेरियट के गोली-काण्ड के बाद गिरफ्तार होकर बाँकीपुर-जेल में लाये गये तो मैंने देखा कि वे सबके सब तार-टेलीफोन और रेल तथा सड़कों को तोड़ना-काटना और किसी तरह यातायात बन्द कर देना कार्यक्रम में दाखिल समझते थे। जैसा ऊपर कह आया हूँ, जब जेल के फाटक के नजदीक एक लारी में गिरफ्तार कुछ विद्यार्थी कहीं भेजे जा रहे थे तो जनता द्वारा वे बचा लिये गये और लारी जला दी गयी, फिर बाकी लारियों से उतारकर दूसरे छात्र कुछ देर के लिए जेल के अन्दर पुनः लाये गये। मैं बीमार तो था, पर तोभी मैंने उनको यह समझाने की कोशिश की कि यह अच्छा नहीं हुआ। इस पर उनका उत्तर यही मिला कि जब टेलीफोन-तार आदि तोड़ना और रेल

रोकना ठीक है तब तो लारी को भी बेकार कर देना उसी कार्यक्रम के अन्दर है, इसलिए यह भी ठीक होना ही चाहिए। मेरे बहुत कहने पर भी मेरी बात उनको जँची नहीं, यद्यपि मेरे लिहाज से वे कुछ अधिक बोले नहीं। वे तो जेल में कुछ दिनों तक बन्द रहे, इसलिए उन्होंने तो इस कार्यक्रम को नहीं चलाया होगा। पर यह स्पष्ट था कि लोगों को यह विश्वास हो गया था कि यह तोड़-फोड़ भी कार्यक्रम में है।

इसी कारण, इतना अल्द, प्रायः मुगलसराय से आसनसोल तक, ई० आई० आर० की मुख्य लाइन में, गाड़ियों का आना-जाना बहुत दिनों तक बन्द रहा। इसी तरह पटना-गया-ब्रैन्च-लाइन भी बेकार कर दी गयी थी। केवल ग्रैण्डकौर्ड-लाइन में बहुत नुकसान नहीं हुआ था, इसलिए उसकी गाड़ियों का आना-जाना बन्द नहीं हुआ। गंगा के उत्तर तरफ बी० एन० डब्ल्यू० रेलवे (अब ओ० टी० रेलवे) में, इधर बनारस से लेकर कटिहार तक और उधर गोरखपुर-बस्ती से लेकर वहाँ तक की लाइन जहाँ छपरे में वह बनारस-लाइन से मिल जाती है, बहुत तोड़-फोड़ हुआ था—प्रायः सभी जगहों पर इतने स्टेशन तोड़-फोड़ दिये गये थे और लाइन भी इस कदर बर्बाद कर दी गयी थी कि कई महीनों तक गाड़ियाँ न चल सकीं। इन्हीं कारणों से, बिहार के बाहर के लोगों का विचार है कि समस्त बिहार और संयुक्तप्रान्त के पूरबी जिलों में ही आन्दोलन का रूप सबसे ज्यादा उग्र और जबरदस्त रहा; अतः यहीं सबसे अधिक गवर्नमेण्ट की सख्ती भी हुई। न मालूम कितने ही आदमी पुलिस और फौज की गोलियों के शिकार हुए। कितनों के घर जलाये और लूटे गये। कितनों को अन्य प्रकार की अकथनीय यातनाएँ सहनी पड़ीं। जेल जानेवालों की संख्या का तो हमें कुछ ठीक पता भी न चला। हम इतना ही जानते हैं कि बिहार में बहुतेरे मामूली कैदियों को राजनीतिक कैदियों के लिए जगह खाली करनी पड़ी और इस तरह मीयाद से पहले ही बहुतेरे छोड़े गये। बहुतेरे तो, जिन पर संगीन जुर्म लगे हुए थे, हाजत से ही छोड़ दिये गये। लोगों का कहना है कि भागलपुर-जिले में बाँका-सबडिवीजन के ३०–४० डकैत इसलिए छोड़ दिये गये कि वे बाहर जाकर डकैतियाँ करें ताकि जनता काँग्रेस से ऊब जाय! सुना कि उनमें से कुछ ने बाहर निकलकर आन्दोलन में भाग लिया—एक को तो फाँसी की सजा हुई और दूसरे कइयों को दूसरी कड़ी सजाएँ मिलीं। मैंने जेल से छूटने के बाद गवर्नर से मुलाकात होने पर यह बात कही थी। उन्होंने जाँच भी करायी थी। मालूम हुआ कि बहुतेरे डकैत इस तरह बाँका में छोड़ दिये गये थे! मैंने सुना कि आरम्भ में, जब तक आन्दोलन जोरों पर था, चोरी-डकैती एकबारगी बन्द हो गयी थी!

आन्दोलनकारी लोगों ने कुछ डाकखाने या रजिस्टरी-आफिस वगैरह दखल कर लिये। कहीं-कहीं कुछ में उन्होंने आग भी लगा दी। पर शुरू में जब आन्दोलन जोरों पर था तो यह भी सुनने में आया कि जहाँ-कहीं रुपये मिले उन लोगों ने उनमें से एक नहीं लिया। चाँदी के रुपये तो उन दिनों देखने को भी कम ही मिला करते थे; इसलिए प्रायः नोट ही मिलते। लोग उन नोटों को जला देते, उनसे व्यक्तिगत

लाभ उठाने का अथवा उन्हें आन्दोलन के लिए खर्च करने का खयाल भी किसी को न होता। पर कुछ दिनों के बाद यह बात न रही। कुछ लोग इस तरह से आये हुए धन का संग्रह आन्दोलन के लिए करने लग गये। यहाँ तक कि आन्दोलन के नाम पर डकैतियाँ भी की गयीं। मालूम नहीं, इन डकैतियों में मिला हुआ धन किसके पास गया और किसने उसे किस तरह खर्च किया। पर यह सब बहुत बाद में हुआ जब आन्दोलन एक प्रकार से बन्द हो गया था। आन्दोलन के जोर के दिनों में तो गवर्नमेण्ट के कर्मचारी ही लोगों को लूटखसोट के लिए आमंत्रित करते! डाकखाना-वाले तो डाकखाने का लुट जाना ही अच्छा समझते––उनको यह कहने का बहाना मिल जाता कि जो रुपये जमा थे, लोग लूट ले गये; चाहे वे रुपये सचमुच लुटे हों या नहीं, पर गवर्नमेण्ट को नहीं मिले। बहुत जगहों में, शुरू में, थानावाले भी जनता के साथ मिल गये। लोगों के पहुँचते ही वे थाने पर झंडा फहराने देते और उनके साथ मिलकर नारे लगाते। ऐसे थानेदारों के साथ जनता का भी अच्छा व्यवहार होता। सुना है कि कहीं-कहीं थानेदार को नाव या किसी दूसरी सवारी पर सवार कराकर जिले के सदर शहर में लोगों ने पहुँचवा दिया और थाने पर कब्जा कर लिया। जहाँ थानेदार की ओर से ज्यादती हुई वहीं पर थानेदार के साथ जनता ने सख्ती की। कुछ जगहों में वे मार डाले गये, पर ऐसी कम जगहें थीं। कोई-कोई थानेदार बहुत जालिम साबित हुए, और जब फौज आ गयी तब तो पुलिस का रुख ही बदल गया––उन्होंने बहुत जुल्म किया जिसका वर्णन करना भी कठिन है। इस जुल्म में अधिकतर दारोगा वगैरह ऊपर के अफसर अधिक भाग लेते थे––सिपाही कान्सटेबुल ने कम भाग लिया।

यह सब कुछ जानने के बाद यह मानना पड़ेगा कि जनता ने रेल-तार तो खूब तोड़ा और सरकारी मकानों को भी क्षति पहुँचायी; पर जितना विस्तार आन्दोलन का था उतने अनुपात में जनता ने सरकारी कर्मचारियों के साथ ज्यादा सख्ती नहीं की। जान ले लेना या मारपीट करना भी बहुत कम ही हुआ। ऐसा मालूम होता है कि जनता की धारणा हो गयी थी कि किसी आदमी को मारना-पीटना अथवा जान से मार डालना अहिंसा के सिद्धान्त के विरुद्ध है, पर रेल-तार-मकान इत्यादि बेजान चीजों को तोड़ना-फोड़ना अथवा जला देना भी अहिंसा के अन्दर ही है! यद्यपि गवर्नमेण्ट के कुछ आदमी मारे गये तथापि उनकी संख्या बहुत कम थी। जब हम यह देखते हैं कि बहुत दूर-दूर तक और बहुत समय तक आन्दोलन फैला और चलता रहा तब ध्यान में आता है कि जनता अगर चाहती तो बहुत-से लोगों को आसानी से मार सकती थी। इससे तो यही मालूम होता है कि जनता ने जान-बूझकर कितनों ही को छोड़ दिया। अगर वह ऐसा न करती तो न मालूम कितने और थानेदार कत्ल हो गये होते। फिर भी इन थोड़े-से लोगों के बदले में गवर्नमेण्ट ने न मालूम कितनों को गोलियों का शिकार बना डाला। यदि दोनों ओर के मरे हुओं की संख्या का ठीक पता लगता तो अनुपात एक के बदले ७५ नहीं तो ५०–६०

जरूर पड़ता। पर यह तो अनुमान मात्र है। ठीक संख्या न तो मालूम हुई है और न शायद मालूम होगी ही। तोभी यह तो मानना ही पड़ेगा कि आन्दोलन बिलकुल अहिंसात्मक न रह सका और जनता भी इस बन्धन से बाहर निकल गयी।

आन्दोलन का जोर तो प्रायः एक से दो महीने तक ही रहा। उसके बाद उसका असर जो कुछ रह गया हो, पर लोग आक्रमण न करके अपने बचाव में ही लग गये और गवर्नमेण्ट के दमनचक्र का शिकार बनते रहे। कुछ लोगों ने पट पड़े हुए आँन्दोलन को फिर से उभाड़ने का बहुत प्रयत्न किया, पर उस प्रयत्न का कोई विशेष फल देखने में नहीं आया—वह फिर उठा या चला नहीं। इक्के-दुक्के वाकया कहीं-कहीं हुए, पर उनका असर न तो गवर्नमेण्ट पर कुछ पड़ा और न जनता की ही उनमें कोई विशेष दिलचस्पी रही—हाँ, उनके कारण दमन का जोर जारी रहा और जनता को बहुत-कुछ सहते रहना पड़ा। कुछ लोग जेल में नहीं आये, बाहर ही काम करते रहे। कुछ लोग जेल से निकलने पर इस प्रकार के प्रयत्न में लगे रहे। पर थोड़े ही समय के बाद यह स्पष्ट हो गया कि प्रयत्न करनेवाले लोग अब इस समय जनता में फिर जोश नहीं पैदा कर सकेंगे और आन्दोलन फिर जारी नहीं किया जा सकेगा। जो लोग इस तरह के प्रयत्न में लगे हुए थे वे लुक-छिपकर ही काम कर सकते थे। इस आन्दोलन में इस प्रकार के बहुतेरे लोग थे। कुछ दिनों के बाद तो उन लोगों को अपनी रक्षा के सिवा दूसरा काम करने का न तो समय मिलता और न साधन। फरार रहना ही एक ऐसा काम हो गया जो उनकी सारी शक्ति और सारा समय ले लेता। तब भी बहुतेरों ने बहुत बहादुरी से काम लिया। कहीं-कहीं जबरदस्त संगठन भी कर दिया जिसको हजार कोशिश के बाद भी गवर्नमेण्ट तोड़ न सकी और उनका पता भी न पा सकी। जब काँग्रेस-मंत्रिमण्डल बन गये, उन सब लोगों पर से मुकदमे और गिरफ्तारी के वारंट उठा लिये गये, तभी वे बाहर निकले या तभी गवर्नमेण्ट के कर्मचारी उनका पता पा सके। इस कार्यपटुता और बहादुरी के लिए वे प्रशंसा के पात्र हैं। पर मेरा अपना विश्वास है कि यदि लुक-छुपकर काम न किया गया होता तो उनमें से कुछ लोग जरूर मारे जाते, फाँसी पड़ते अथवा दूसरे प्रकार के कठोर दमन के शिकार बनते; परन्तु निरीह जनता पर जितना जुल्म हुआ उतना न होता और आन्दोलन भी कहीं अधिक आगे बढ़ गया होता तथा जल्द दबाया भी न जा सकता। जनता के सामने भी ऐसे लोग हमेशा मौजूद पाये जाते जिनको वह अपना नेता मानती—जिनकी बातों पर वह खुशी-खुशी जान देती और धन लुटाती। लुक-छुपकर काम करने का यह असर हुआ कि काम बहुत व्यापक रूप में न हो सका—थोड़े लोगों की कार्रवाइयों का प्रतिफल बहुतेरे दूसरे बेकसूर लोगों को भोगना पड़ा। इसलिए मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यदि रेल-तार तोड़नेवाले लोग सामने आकर काम करते और अपने कामों को कबूल कर लेते तो दूसरे लोगों की हिम्मत कहीं अधिक बढ़ जाती—मुमकिन है कि एक के बदले सैकड़ों दूसरे लोग उसी काम के लिए तैयार हो जाते और सजा भी उन्हीं

लोगों को मिलती जो कबूल करते, बेकसूर बहुत-कुछ बच जाते। जो हो, यह तो अहिंसा के सिद्धान्त की बात है। जो लोग उसमें विश्वास नहीं रखते उनको भला उसकी पाबन्दी कैसे पसन्द हो सकती है। जहाँ तक जनता की हिम्मत बढ़ी थी वह खुले-आम विद्रोह के कारण ही बढ़ी थी—वह नीति जारी रहती तो और भी बहुत कुछ बढ़ती।

१५०—बंगाल का अकाल और भारत की अखंडता

जेल में रहते-रहते बंगाल के भयंकर अकाल का हाल हमारे सुनने में आया। १९४३ की गर्मियों में चावल और खूराक की चीजों का दाम इतना बढ़ गया कि लोगों के लिए अन्न खरीदना कठिन होने लगा। जब मैं बचपन में छपरे और पटने में पढ़ता था तो एक बार अकाल पड़ा था। मुझे याद है कि गवर्नमेण्ट की ओर से जहाँ-तहाँ लोगों को काम कराकर मदद देने के लिए बड़े-बड़े तालाब खुदवाये गये थे। मेरे गाँव से कुछ दूर पर एक बड़ा तालाब खोदा गया था। जहाँ-तहाँ गरीबों के लिए पका हुआ अन्न भी बाँटा जाता था। उस समय तक अच्छा चावल रुपये में १५ सेर बिका करता था। उसके बाद से घटकर ९-१० सेर का हो गया। उसके बाद एक बार और कुछ महँगी हुई तो वह और भी घटकर रुपये में ५–६ सेर बिकने लगा। १९४३ में रुपये में सवा सेर या डेढ़ सेर मामूली तौर से चावल का दाम हो गया। जेल में हम लोगों को अखबारों से कुछ खबर मिलने लगी। आहिस्ता-आहिस्ता बंगाल की हालत और भी बिगड़ी। कुछ लोगों के वहाँ भूखों मरने की खबर होने लगी। थोड़े ही दिनों में यह बात मालूम होने लगी कि कलकत्ते की सड़कों पर लोगों की लाशें मिलती हैं। कुछ दिन बाद अखबारों में मृतकों की तसवीरें भी छपने लगीं। इस दिशा में सबसे पहले 'स्टेट्समैन' ने काम शुरू किया। दूसरे हिन्दुस्तानी पत्रों में भी बहुत तसवीरें छपीं। जनता की ओर से लोगों को मदद पहुँचाने का प्रयत्न होने लगा। मैं शुरू में अखबारों में इन खबरों को पढ़ता और तसवीरें भी देखता। पर कुछ दिन बाद स्थिति की भयंकरता इतनी बढ़ गयी कि मेरे लिए तसवीरों को देखना और खबर पढ़ना भी असह्य हो गया। मैंने अखबार पढ़ना बन्द कर दिया। जेल में बैठे-बैठे कोई कर ही क्या सकता था! पटने में श्री प्रफुल्लरंजन (पी० आर०) दास ने पीड़ितों की सहायता के लिए कुछ रुपये जमा करने का प्रयत्न किया। उन्होंने एक अपील निकाली। मैंने सोचा, यह काम ऐसा है जिसमें और कुछ नहीं तो अपने पत्र द्वारा लोगों की कुछ सेवा कर सकूँ तो थोड़ा सन्तोष होगा। मैंने एक पत्र श्री दास महाशय के नाम लिखा जिसमें उनकी अपील का समर्थन किया। फसल तैयार होने के समय जनता से अन्न-दान के लिए अपील करके कुछ अन्न जमा करने का रास्ता भी सुझाया। कुछ दिनों के बाद गवर्नमेण्ट का हुक्म आया कि मेरा पत्र श्री दास के पास नहीं भेजा गया, रोक लिया गया। इसकी खबर बाहर किसी को शायद आज तक न होगी।

बंगाल की स्थिति इतनी बिगड़ी कि न मालूम कितने लाख लोग मरे। जननायकों का मत है कि ५० लाख के लगभग लोगों को अकाल ही काल का कवल बनना पड़ा। सरकारी अनुमान भी शायद १५-२० लाख का है। जो दर्दनाक घटनाएँ हुईं वे अवर्णनीय हैं। कारण जो हो, शुरू में गवर्नमेण्ट कुछ नहीं कर सकी। सर नाजिमुद्दीन प्रधान मंत्री थे और खूराक के मंत्री श्री सोहराबर्दी। गवर्नर थे सर हर्बर्ट, बड़े लाट थे लार्ड लिनलिथगो। मुझे आश्चर्य होता कि इतनी दुरवस्था में भी वहाँ की जनता चुपचाप कैसे सब कुछ सह रही है। कम से कम मंत्रिमण्डल कैसे खुद काम कर सकता है और असम्बली के मेम्बर ही उसे कैसे चलने देते हैं। पर लड़ाई का जमाना था। आर्डिनेन्सों की हुकूमत थी। मुस्लिम लीग के हाथों में अधिकार था। कोई कुछ कर न सका। लार्ड लिनलिथगो ने काँग्रेसी लोगों को दबाने में तो काफी तेजी और तनदेही से काम किया था; पर जब बंगाल में इतने लोग मरे जितने इस महायुद्ध-भर में दुनिया के सभी देशों को मिला कर भी न मारे गये होंगे, तो उनसे इतना भी न हो सका कि एक दिन के लिए भी वह बंगाल जाते! उनके चले जाने पर जब लार्ड वावेल गवर्नर-जेनरल (वाइसराय) होकर आये तो आते ही बंगाल गये। वहाँ फौज को उन्होंने हुक्म दिया कि लोगों को मदद पहुँचाने का काम वह करे। सर हर्बर्ट बीमार पड़ गये। उनकी जगह पर बिहार के गवर्नर वहाँ भेजे गये। इन्होंने भी स्थिति सँभालने में मदद की। किसी तरह से, कई महीनों के बाद, हालत कुछ बदली। लोगों का सड़कों पर बे-मौत मरना बन्द हुआ।

जन-श्रुति कहती है कि इस विपत्ति से बहुतेरों ने, जिनका काम जनता की रक्षा करना था और जिनके जिम्मे यह काम दिया गया था, बहुत रुपये कमाये और कितने तो मालामाल हो गये। इसके कारणों में एक प्रधान कारण यह भी कहा जाता है कि गवर्नमेण्ट ने लड़ाई के कारण लोगों से धान-चावल ले लिया था और उनकी छोटी-छोटी नौकाएँ भी ले ली थीं। शत्रु को कुछ न मिलने देने के लिए समुद्र-तट के स्थानों को साधन-हीन अथवा मरुभूमि बना देने की जो नीति (Scorched earth policy), जापानी आक्रमण के कारण, बरती गयी थी वह इस अकाल के लिए कम जवाबदेह नहीं थी। उस समय लार्ड वावेल ही फौजी लाट थे। उस नीति की जवाबदेही उन पर ही थी। इसीलिए बड़े लाट होकर पहुँचते ही उन्होंने, उस नीति के कारण उपस्थित स्थिति के सँभालने में, फौज द्वारा मदद करना आवश्यक माना। इसी से स्थिति कुछ सँभली भी।

बिहार में भी अन्न का दाम वैसे ही बहुत बढ़ गया था। तीस रुपये मन चावल बिकने लगा था। पर बिहार में बंगाल-जैसी हालत नहीं हुई। यहाँ भूखों मरनेवालों की खबर अखबारों में कम से कम देखने में नहीं आयी। एक बात इस अकाल से स्पष्ट हो गयी और वह यह कि इस विपत्ति में सारे भारत के लोग बंगाल की मदद के लिए ठीक उसी तरह दौड़ पड़े जैसे बिहार में भयंकर भूकम्प के बाद। फर्क इतना ही था कि इस समय लड़ाई के कारण लोगों के पास साधन नहीं थे। रुपये होने

पर भी लोगों को सरकारी मदद बिना अन्न नहीं मिल सकता था। अगर कहीं दूर अन्न मिलता भी तो सरकारी आज्ञा और मदद बिना वह बंगाल पहुँचाया नहीं जा सकता; क्योंकि रेल-स्टीमर इत्यादि यातायात के सभी साधनों पर नियंत्रण था। इसलिए इच्छा रहते भी जितनी मदद की जरूरत थी उतनी लोग न पहुँचा सके। इसके अलावा यह विपत्ति बहुत दूर में फैली हुई थी और बहुत दिनों तक टिकी रही। भूकम्प तो चन्द मिनटों का मामला था। उसके बाद केवल उसके असर को ही दूर करना था। यहाँ तो विपत्ति ही महीनों तक अपना काम करती रही। उसके ऊपर युद्ध-कालीन नियंत्रण अपनी करामात कर ही रहा था। भारतवर्ष एक है। उसकी जनता एक है। इसका एक अकाट्य प्रमाण इस विपत्ति ने दिया। पर क्या इसका असर उन पर भी पड़ा जो इसे विभाजित करना चाहते हैं?

१५१—जेल में ग्रन्थ-लेखन का काम

इस बार जेल में मैंने कुछ लिखा भी। यों तो १९३० में भी मैंने कुछ लिखने का प्रयत्न किया था, पर वह पूरा न हो सका था—पीछे जो कुछ लिखा भी था वह खो गया। मैंने पहले से पाकिस्तान-सम्बन्धी कुछ अध्ययन किया था। वहाँ जाकर विचार हुआ कि इस विषय का विशेष रूप से अध्ययन करूँ। कुछ ऐसी पुस्तकें, जो पाकिस्तान के समर्थन में लिखी गयी थीं, मँगायी गयीं। उनके पढ़ने के बाद विचार हुआ कि इस बात को देखना चाहिए कि जिस आधार पर यह माँग पेश की जाती है वह कहाँ तक ठीक है। इसके बाद यह विचार हुआ कि यह भी देखना जरूरी है कि 'मुस्लिम लीग' पाकिस्तान किसे कहती है—उसकी माँग यदि कोई मान लेना चाहे तो उसे क्या देना होगा और मुस्लिम लीग को क्या मिलेगा—क्या पाकिस्तान अपने पाँवों पर खड़ा हो सकेगा? अन्त में मैंने सोचा कि इस विषय पर कुछ लिखने की गुंजाइश है—यद्यपि इसका पता नहीं था कि हम लोग कब जेल के बाहर जा सकेंगे और जो कुछ मैं लिखूँगा वह कभी छपेगा या नहीं, तो भी अपने विचारों को साफ-साफ ऐसे रूप में लिपिबद्ध कर देना, जो दूसरों की समझ में आ जाय, ठीक जँचा। मैंने निश्चय किया कि कुछ लिखूँ। मुझे ऐसा मालूम हुआ कि यदि इस सम्बन्ध की सभी बातें देश के सामने—विशेषकर मुसलमानों के सामने—आ जायँ तो जिस तरह विशेष अध्ययन के बाद उसके चलने में मुझे शक हो गया है उसी तरह दूसरे भी इसे अव्यवहार्य समझ लेंगे। इसलिए मैंने निश्चय किया कि उन्हीं बातों को कलमबन्द करूँ जिनसे यह अव्यवहार्यता मालूम हो जाय। पाकिस्तान को अव्यावहारिक सिद्ध करनेवाला वह भाग लिख जाने के बाद इसके आधार के सम्बन्ध में भी लिखना उचित जान पड़ा, अर्थात् भारत में हिन्दू-मुसलमान दो-दो राष्ट्र हैं, इसलिए उसका विभाजन करके दो स्वतंत्र देश और राष्ट्र स्थापित कर देना चाहिए। इस तरह, जैसे-जैसे लिखता गया, पुस्तक का आकार बढ़ता गया। काम बहुत तेजी से नहीं हो रहा था। एक तो स्वास्थ्य ऐसा नहीं था कि बहुत परिश्रम कर सकूँ। जब बीमार पड़

जाता तो महीनों न कुछ पढ़ पाता और न लिख पाता। जब अच्छा रहता तो पढ़ता और लिखता। कुछ जल्दी करने की जरूरत भी नहीं जान पड़ती थी, क्योंकि इसकी आशा तो थी नहीं कि जेल में रहते-रहते कोई पुस्तक प्रकाशित करने की इजाजत मिलेगी, और अभी छूटने का कोई करीना भी नहीं नजर आता था। इसलिए आहिस्ता-आहिस्ता थोड़ा-थोड़ा करके लिखा।

इसी बीच में कोई साथी जेल से रिहा होकर बाहर निकले। उन्होंने किसी समाचारपत्रवाले से कह दिया कि मैं पाकिस्तान के सम्बन्ध में एक पुस्तक लिख रहा हूँ। यह बात प्रकाशित हो गयी। सरकारी कर्मचारी कभी-कभी जेल में आया करते हैं। कमिश्नर आये। उन्होंने पूछा कि मेरी पुस्तक कहाँ तक लिखी जा चुकी है। मैंने कहा कि करीब-करीब पूरी हो चुकी है। उन्होंने उसे देखना चाहा। मैंने हस्तलिखित बहियाँ उनके हाथ में दे दीं। एक तो मैं कुछ महीन छोटे अक्षरों में लिखने का आदी हूँ, दूसरे—कागज की कमी के कारण, पन्ने के दोनों ओर लिखा था। चूँकि पुस्तक थोड़ा-थोड़ा करके लिखी गयी थी—जहाँ कोई नयी बात सामने आ गयी अथवा किसी नयी पुस्तक से मालूम हो गयी उसे यथास्थान चस्पाँ कर देता; इस तरह जहाँ थोड़ी भी जगह छोड़ी गयी थी वह भी बिलकुल भर गयी थी और कहीं-कहीं तो पढ़े जाने की सुविधा के लिए दूसरे रंग की रोशनाई से भी काम लेना पड़ा था—इसलिए किसी भी दूसरे के लिए हस्तलिखित पुस्तक पढ़ना काफी मुश्किल था। कमिश्नर ने पूछा कि क्या पुस्तक छपवाने का इरादा है। मैंने उत्तर दिया कि अगर गवर्नमेण्ट इजाजत देगी तो छपाई जायगी! इस पर उन्होंने कहा कि पुस्तक बगैर देखे गवर्नमेण्ट इजाजत नहीं देगी—जैसी हस्तलिखित पुस्तक की हालत है वैसी हालत में उसे गवर्नमेण्ट का देख सकना भी कठिन है—गवर्नमेण्ट तो टाइप की हुई प्रति ही देख सकेगी। इस पर मैंने कहा कि टाइप कराने का साधन तो मेरे पास नहीं है; पर यदि गवर्नमेण्ट इसकी सुविधा देगी तो टाइप करा लूँगा।

इस बातचीत के बाद मैंने गवर्नमेण्ट को लिखा कि टाइप कराने के लिए मुझे सुविधा दी जाय और इसके लिए तीन तरीकों में गवर्नमेण्ट जो चाहे अख्तियार करे। पहला तरीका यह होगा कि मेरे सहायक श्री चक्रधरशरण को टाइप करने का मौका दे जो मेरे अक्षरों से खूब परिचित हैं। वह उस समय तक रिहा हो चुके थे। इसलिए वह जेल के अन्दर तो आ नहीं सकते थे, न उनसे मेरी मुलाकात हो सकती थी, न जब तक गवर्नमेण्ट मंजूरी देगी तब तक पुस्तक जेल के बाहर भेजी जा सकेगी। इसलिए उनको जेलर के दफ्तर में बैठकर टाइप करना होगा और हस्तलिखित तथा टाइप की हुई प्रति को जेलर के पास ही रख छोड़ना होगा। दूसरा तरीका यह हो सकता है कि गवर्नमेण्ट अपने किसी कर्मचारी को इस काम के लिए नियुक्त कर दे और इसका जो खर्च होगा वह मैं दूँगा। तीसरा तरीका यह हो सकता है कि अगर कोई टाइप करना जाननेवाला कैदी हो तो उसे बाँकीपुर-जेल में बुला दिया जाय और वह टाइप कर दे। सोचने के बाद मुझे स्मरण हो आया कि काँग्रेसी

कार्यकर्त्ता जमशेदपुर-लेबर-युनियन के मंत्री श्री माइकेल जौन टाइप करना जानते हैं—वह आन्दोलन के कारण इस समय दूसरी बार गिरफ्तार होकर और सजा पाकर हजारीबाग-जेल में हैं। मैंने लिखा कि यदि वह बाँकीपुर बुला दिये जायँ तो वह इस काम को कर सकेंगे। मैंने इसे ही सबसे अधिक सुविधाजनक बताया; क्योंकि जैसा घना और बारीक लिखा गया था वैसा पढ़ने में टाइप करनेवाले को काफी दिक्कत होगी, उसको बार बार मुझसे पूछना पड़ेगा। इसलिए यदि वह मेरे नजदीक रहे तो सुविधा होगी। इसके अलावा एक सुविधा यह भी होगी कि गवर्नमेण्ट की मंजूरी के पहले बाहर के किसी आदमी को पुस्तक देखने का मौका नहीं मिलेगा।

गवर्नमेण्ट ने मेरी बात मान ली और श्री जौन को बाँकीपुर-जेल में भेज दिया। उन्होंने बहुत परिश्रम करके, जहाँ तक मैं लिख चुका था, टाइप कर दिया। इत्तफाक से यह काम सन् १९४५ ई० में तारीख १४ जून की सन्ध्या को समाप्त हुआ। उसी दिन, रात को, हम लोगों को मालूम हो गया कि मैं कल १५ जून को ही सवेरे छोड़ दिया जाऊँगा। अब यह प्रश्न हुआ कि हस्तलिखित और टाइप की हुई प्रतियों का क्या होगा? क्या दोनों मेरे साथ बाहर आने पावेंगी या गवर्नमेण्ट उनको देख लेने के बाद ही बाहर जाने की इजाजत देगी? सुपरिण्टेण्डेण्ट, बिना सरकारी आज्ञा के, बाहर ले जाने की इजाजत, अपनी जवाबदेही पर नहीं देना चाहते थे। पर गवर्नमेण्ट से पूछने पर उन्होंने जाने देने की आज्ञा दे दी। इस तरह, जब मैं बाहर निकला, तैयार पुस्तक के साथ निकला।

ऊपर मैं कह चुका हूँ कि १९४४ के मार्च से नवम्बर तक मैं प्रायः अकेला ही बाँकीपुर-जेल में था, केवल एक वाल्मीकि ही मेरे साथ था। जब जाँच-कमिटी के लोग अक्टूबर में आये तो उनको यह बात मालूम हुई कि मैं अकेला ही हूँ। उन्होंने गवर्नमेण्ट के पास लिखा कि एक साथी मेरे पास रखना उचित होगा। नाम पूछने पर मैंने कई मित्रों के नाम बताये। गवर्नमेण्ट ने श्री फूलनप्रसाद वर्मा को भेज दिया। वह भी १९४५ के आरम्भ में रिहा हो गये। उसके बाद श्री मणीन्द्रकुमार घोष को हजारीबाग से बाँकीपुर मेरे साथ रहने के लिए भेजा। वह एक बड़े परिश्रमी और विचारशील सज्जन हैं। आँकड़ों से डरते नहीं हैं। मेरी पुस्तक देखकर उनकी इच्छा हुई कि वह हस्तलिखित प्रति पढ़ें। मैंने उसे पढ़ने को दिया। साथ ही, यह बेगार उन पर लाद दिया कि वह आँकड़ों को जाँच जायँ ताकि अगर कहीं कोई भूल रह गयी हो तो वह दुरुस्त हो जाय। बहुत परिश्रम करके उन्होंने इस काम को पूरा किया। पुस्तक पढ़ते-पढ़ते उनको ऐसा जँचा कि एक कमी रह गयी है—मैंने पुस्तक में यह नहीं दिखलाया है कि हिन्दू-मुस्लिम-समस्या किस तरह जटिल होती गयी है और किस तरह वह यहाँ तक पहुँच गयी है कि मुस्लिम लीग को उसे सुलझाने का एकमात्र उपाय देश का विभाजन ही सूझ रहा है।

मैं पहले कह चुका हूँ कि जेल से मेरे छूटने के दिन ही टाइप करने का काम समाप्त हुआ था। जब टाइप हो रहा था तो मुझे कुछ नया लिखने का समय नहीं

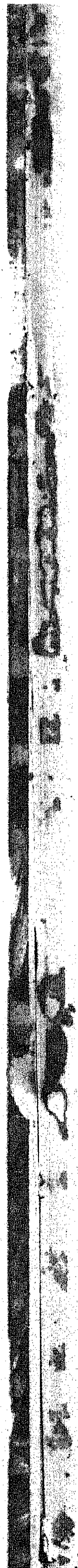
मिलता था; क्योंकि जो टाइप होता जाता था उसे एक बार देख लेना जरूरी मालूम होता था। टाइप करने के समय में भी कुछ नया जोड़ता ही जाता था। श्री जौन को भी अक्सर मुझसे कुछ न कुछ पूछते ही रहना पड़ता था। इसलिए मैं वहाँ पुस्तक का एक भाग और लिखकर मनी बाबू की बात को पूरा न कर सका, पर उसे भूला नहीं। जेल से बाहर निकलने के बाद जब १९४५ के अगस्त में स्वास्थ्य सुधारने के लिए पिलानी (राजपूताना) गया तब उस भाग को लिखकर पूरा किया। श्री चक्रधर-शरण ने टाइप किया। पिलानी से बम्बई जाते हुए, रेल में, उसका अधिकांश देखकर, मथुरा बाबू की मदद से, प्रेस के लिए तैयार कर सका। बम्बई पहुँचने तक प्रायः पुस्तक प्रेस के लिए तैयार हो गयी। वहीं उसका नामकरण हुआ—'इण्डिया डिवाइ-डेड' (India Divided)। छपने के लिए पुस्तक प्रेस में दे दी गयी। १९४६ की जनवरी के आरम्भ में ही पुस्तक छपकर प्रकाशित हुई। एक महीने के अन्दर ही पहले संस्करण की सभी प्रतियाँ बिक गयीं। तीन-चार महीनों में दूसरी बार वह फिर छपी और बिकी।

जेल में मैंने एक चीज और लिखी। जब मैं १९४० में स्वास्थ्यसुधार के लिए सीकर (जयपुर-राज्य) गया था तो मैंने एक दिन अपने संस्मरण लिखने का विचार किया और लिखना भी आरम्भ कर दिया। किसी से यह बात कही नहीं। मथुरा बाबू को भी, जो दिन-रात साथ रहते थे, इसका पता कुछ दिनों तक नहीं लगा कि मैं कुछ लिख रहा हूँ। मेरी आदत है कि सवेरे ४–४॥ बजे जाग जाया करता हूँ। उसी समय उठकर प्रतिदिन कुछ न कुछ लिख देता और दूसरों के जागने के पहले ही लिखना खत्म कर देता। वहाँ थोड़ा ही लिखा जा सका। वहाँ से लौटने पर फिर समय ही न मिला। दो बरसों के बाद जब जेल में कुछ तबीयत सुधरी तो साथ के लोगों ने आग्रह किया कि मैं उसे पूरा कर दूँ। मैंने कहाँ तक लिखा था, यह भी ठीक याद न था। हस्तलिखित प्रति को घर से जेल में मँगाना अच्छा नहीं मालूम हुआ; क्योंकि बिना सी० आई० डी० के पढ़े कोई चीज मुझे मिल नहीं सकती थी और मालूम नहीं कि पढ़ने के बाद भी गवर्नमेण्ट उसे अन्दर लाने की इजाजत देती या नहीं। इसलिए मैंने अन्दाज से ही वहाँ से आगे की बातें लिखना आरम्भ कर दिया, जहाँ तक मैं समझता था कि सीकर में लिख चुका हूँ। आहिस्ता-आहिस्ता वह भी बहुत-कुछ लिखा जा चुका। समाप्त भी शायद हो जाता, पर पीछे 'इण्डिया डिवाइडेड' में ही सारा समय लगने लगा। अतः संस्मरण को रख छोड़ा।

कभी-कभी दिल में यह विचार भी उठता कि इस संस्मरण की जरूरत या उपयोगिता ही क्या है। मैंने जो कुछ किया है या पाया है वह दूसरों के साये में रहकर ही—पहले अपने भाई के और पीछे महात्मा गांधीजी के। मेरी कोई ऐसी हस्ती नहीं कि मेरा हाल दूसरों के लिए जानना जरूरी हो अथवा उससे दूसरे कुछ सीख सकें। हाँ, मैं सार्वजनिक कामों में, विशेषकर काँग्रेस-सम्बन्धी कामों में, लगा रहा हूँ। यदि उनके सम्बन्ध में अपने संस्मरण लिख दूँ तो शायद लोगों को

(१) सरदार वल्लभभाई पटेल, (२) राजेन्द्रप्रसाद, (३) शकररावदेव, (४) आचार्य कृपालानी, (५) खान अब्दुल गफ्फार खाँ, (६) प्रफुल्ल घोष (७) जवाहरलाल नेहरू, (८) सरोजिनी नायडू, (९) मौलाना अबुल कलाम आजाद, (१०) डा० पट्टाभि सीतारामैया, (११) भूलाभाई देसाई, (१२) किरणशंकर राय, (१३) गोपीनाथ बारदोलाई, (१४) गोविन्दवल्लभ पन्त, (१५) हरेकृष्ण मेहताब।

—पूना, सितम्बर १९४५



कुछ बात मालूम हो जायँ। पर इतिहास की दृष्टि से इस संस्मरण का कुछ मूल्य नहीं; क्योंकि मैंने इतने लम्बे सार्वजनिक जीवन में बहुत-कुछ लिखा नहीं है। अगर कुछ लिखा भी है तो उसकी प्रतिलिपि अपने पास सुरक्षित नहीं रखी। और लोगों ने सार्वजनिक घटनाओं के सम्बन्ध की सामयिक सामग्री जमा करायी है, मैंने वह भी नहीं किया है। कुछ लोगों के महत्त्वपूर्ण पत्रव्यवहार दूसरों के साथ हुए हैं। मैंने स्वभाव से ही ऐसा कुछ नहीं किया है। और, यदि कुछ किया भी हो तो उसकी भी प्रतियाँ मेरे पास नहीं हैं। कुछ लोग रोजनामचा लिखा करते हैं, जिसमें सभी घटनाओं का प्रतिदिन उल्लेख हुआ करता है। मैंने यह अभ्यास ही नहीं किया कि रोजनामचा लिखा करूँ। इसलिए अपनी स्मरणशक्ति के सिवा संस्मरण लिखने का कोई दूसरा साधन भी मेरे पास नहीं था। इतिहास की दृष्टि से, केवल स्मरण-शक्ति पर निर्भर संस्मरण की भी, कोई विशेष प्रामाणिकता नहीं हो सकती है। इन्हीं कारणों से कभी-कभी यह विचार उठता कि मेरा संस्मरण लिखना केवल अहम्मन्यता है, इससे दूसरों को कोई लाभ नहीं पहुँच सकता। तो भी, जब एक बार काम शुरू कर दिया तो उसे पूरा कर देना ही ठीक जँचा; प्रकाशित करने और न करने की बात पीछे देखी जायगी।

इस प्रकार, रामगढ़-काँग्रेस के समय तक के संस्मरण मैं जेल में लिख सका। एक प्रकार से यह संस्मरण सच्चा संस्मरण है; क्योंकि इसमें केवल उन्हीं बातो का उल्लेख है जो लिखते समय स्मृति में आ गयीं। इसलिए बहुत सम्भव है कि बहुतेरी महत्त्वपूर्ण बातों और घटनाओं का जिक्र ही न हो—कहीं-कहीं देश-काल के निर्देश में भी भूल हो—कुछ बातों का जो गलत असर दिल पर रह गया है वही इसमें आ गया हो। पर एक बात मैं कह सकता हूँ—जान बूझकर कोई गलत बात नहीं लिखी गयी है। मित्रों का अनुरोध है कि यह संस्मरण प्रकाशित किया ही जाय। उन्होंने दूसरों को इसे दिखलाया। जो ऐसी चीजों के परखने के अधिकारी हैं उनकी भी राय हुई कि इसे प्रकाशित करना ही चाहिए—विशेषकर इसलिए कि मैंने इसे हिन्दी में लिखा है। इसीलिए बाकी हिस्सा, जेल से बाहर निकलने के बाद, १९४६ के जुलाई-अगस्त में, पिलानी में बैठ कर लिख रहा हूँ।

१५२—मेरी रिहाई और कुछ दुःखद मौतें

जेल में रहते हुए ही एक और भयंकर एवं दुःखद विपत्ति आयी। यह बिहार पर ही आयी। मलेरिया का प्रकोप १९४४ में बहुत जोरों से हुआ। बहुतेरे लोग मरने लगे। अखबारों में इसकी खबर छपने लगी। इत्तफाक से श्री बाबू, अनुग्रह बाबू और दूसरे प्रमुख काँग्रेसी लोग इस समय तक रिहा हो चुके थे। उन्होंने जनता की मदद का काम शुरू किया। डाक्टरों ने डाक्टर टी० एन० बनर्जी की अध्यक्षता में अपनी कमिटी बनाकर सेवा-कार्य आरम्भ किया। भूकम्प के समय कुछ रुपये बच गये थे। पहले ही कह चुका हूँ कि इस प्रकार की विपत्तियों के समय जनता की

सेवा के लिए एक ट्रस्ट बनाकर वे रुपये रख छोड़े गये थे। जब कहीं बाढ़ वगैरह आती तो थोड़ा-बहुत सहायतार्थ उसमें से खर्च होता था। यह खर्च कुछ ज्यादा नहीं होता था। जो रुपये थे उनके ब्याज से ही यह काम हो जाया करता था। रुपयों का बहुत अंश चर्खा-संघ को कर्ज दे दिया गया था। उसी से समय पर ब्याज के रुपये आ जाते जो बंक में पड़े रहते और समय-समय पर खर्च किये जाते। १९४२ के अगस्त में चर्खा-संघ का काम बिहार में गवर्नमेण्ट ने एक प्रकार से बन्द कर दिया था। बंक में मेरे नाम के सभी खाते जब्त थे जिनमें एक खाता सहायता-कोष का भी था। मलेरिया का हाल पढ़कर मैंने गवर्नमेण्ट को लिखा कि जब्त रुपयों को सहायतार्थ खर्च करने की इजाजत दी जाय, और पहली रकम मैंने डाक्टरों की कमिटी को देने के लिए माँगी। गवर्नमेण्ट ने इसे मंजूर कर लिया। रुपये उनको दे दिये गये। पीछे अनुग्रह बाबू ने जब सहायक-समिति का निर्माण किया तो उनको भी रुपये देने की इजाजत गवर्नमेण्ट ने दी। अन्त में तो जो भी ट्रस्ट का पावना चर्खा-संघ के जिम्मे था, गवर्नमेण्ट ने सहायता-कार्य के लिए चर्खा-संघ के जब्त रुपयों में से सब रकम दे दी। पर उतना सब खर्च नहीं हुआ। रुपयों का अधिकांश अब भी जमा है। मुझे इससे सन्तोष हुआ कि इस बार बंगाल के अकाल के समय की तरह गवर्नमेण्ट ने जेल के अन्दर से कुछ सहायता पहुँचाने की इच्छा को विफल नहीं होने दिया।

इसी सिलसिले में 'इण्डियन नेशन' ने यह लिखना शुरू किया कि सहायता-कार्य को संगठित रूप से चलाने के लिए यह आवश्यक है कि मैं रिहा कर दिया जाऊँ। उसने मेरी रिहाई पर बहुत जोर दिया। जहाँ-तहाँ से जनता की ओर से भी ऐसी आवाज उठने लगी। मुझे यह बात अच्छी न लगी। मैं राजनीतिक कारण से जेल में लाया गया था। जब तक उसका कुछ निपटारा न हो जाय और हमारे सभी साथियों के छोड़े जाने का रास्ता साफ न हो जाय, मैं इस तरह मलेरिया-पीड़ित लोगों की सहायता के बहाने छूटना नहीं चाहता था। मैं यह भी समझता था कि जो लोग बाहर हैं—जिनमें श्री बाबू, अनुग्रह बाबू, मथुरा बाबू प्रभृति हैं—सब काम सँभाल सकते हैं, मेरी कोई खास जरूरत भी नहीं है। मुझे ऐसा भी लगा कि कहीं गवर्नमेण्ट यह न समझ ले कि यह आन्दोलन मेरे छूटने के लिए ही एक बहाना ढूँढ़कर किया जा रहा है और यह मेरी अनुमति से अथवा कम से कम मेरे मित्रों की अनुमति से किया जा रहा है। मैंने गवर्नमेण्ट को एक पत्र लिख दिया कि यह आन्दोलन मेरी दृष्टि में अनावश्यक है और मैं इस तरह छूटना नहीं चाहता हूँ। पर जब मैं बाहर निकला तो मालूम हुआ कि उस समय गवर्नर मुझे छोड़ देने का विचार कर रहे थे। किन्तु, गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया, जिसके हुक्म से ही वर्किंग कमिटी के लोग नजरबन्द रखे गये थे, शायद वर्किंग कमिटी के सदस्यों को अभी छोड़ना नहीं चाहती थी। यह भी मालूम हुआ कि गवर्नर ने कुछ लोगों से कहा भी कि मैं खुद नहीं चाहता कि छोड़ दिया जाऊँ तो छूटने का प्रश्न ही कैसे उठ सकता है।

जो हो, उस समय, अर्थात् १९४४ की बरसात में, छूटने की जो बात थी वह पूरी नहीं हुई। मैं निश्चिन्त अपना काम करता रहा। इस तरह, समय कटते कुछ देर न लगी। १९४५ में १५ जून को मैं छोड़ दिया गया।

इस बार गिरफ्तारी के समय ही हम समझ चुके थे कि जेल-यात्रा लम्बी होगी। उसके लिए अपने चित्त को तैयार कर लिया था। जैसे-जैसे आन्दोलन बढ़ा और लम्बी-लम्बी सजाएँ लोगों को दी जाने लगीं तो यह धारणा और भी पुष्ट हो गयी। हर बार जेल-यात्रा में कुछ लोग जेलों में मर भी जाते हैं। इस बार भी ऐसे लोगों की संख्या काफी रही। यह जानकर हमको विशेष दुख हुआ कि राँची-जिले के टाना भगत लोगों में से बहुतेरे जेलो में मरे। इनके अलावा और लोग भी काफी मरे। पर जेल के अन्दर मरनेवालों की अपेक्षा बाहर गोलियों द्वारा मारे जानेवाले लोगों की संख्या कहीं ज्यादा थी। जिन लोगों ने इस प्रकार देश-हित के लिए अपने प्राणों को निछावर किया उनमें बहुत कम ऐसे थे जिनको मैं जानता था। इसका विशेष कारण यह था कि मुख्य काँग्रेसी कार्यकर्त्ता गिरफ्तार करके जेलों में रख दिये गये। जो बाहर रह गये वे बहुत ख्याति पाये हुए लोग नहीं थे। इसके अलावा इस लहर में बहुतेरे नये लोग आये थे जो पहले कभी काँग्रेस में काम तो नहीं करते थे, पर इसे स्वराज्य के लिए गांधीजी की अन्तिम लड़ाई समझकर आ जुटे थे। यह तो मैंने अपने सूबे के बारे में कहा। सूबे के बाहर कुछ ऐसे प्रमुख व्यक्तियों की मृत्यु हुई जिनका स्थान कभी भरा नहीं जा सकता। इनमें सबसे पहले, गिरफ्तारी के चन्द दिनों के अन्दर ही मरनेवाले, श्री महादेव भाई देसाई थे। वह गांधीजी के साथ ही गिरफ्तार होकर आगाखाँ के महल (पूना) में उनके साथ ही रखे गये थे। वहाँ अचानक एक दिन हृदयगति रुक जाने से चल बसे। इसका असर पूज्य महात्माजी के दिल पर बहुत ही भारी पड़ा, क्योंकि वह उनके दाहिने हाथ थे। जब से वह महात्माजी की सेवा में आये थे तब से उन्होंने अपने जीवन को गांधीजी की शिक्षा और सिद्धान्तों के अनुसार ढालने का सतत प्रयत्न किया था। इसमें बहुत सफलता भी प्राप्त की थी। साथ ही उनकी लिखने की शैली भी अद्भुत थी। उसे भी उन्होंने गांधीजी की शैली से मिला लिया था। परिश्रम इतना ज्यादा कर सकते थे कि शायद दो-तीन आदमी मिलकर भी उनके बराबर काम नहीं कर सकते थे। काम भी सब प्रकार के। कपड़े और कमोड साफ करना, नाजुक से नाजुक बातों को लेकर दूत का काम करना और सुन्दर से सुन्दर लेखों के लिखने का काम भी, उनके लिए सब बराबर था। सब कुछ समान सहूलियत और तेजी के साथ खुशी-खुशी कर लिया करते थे। स्वभाव के इतने सरल और सहृदय थे कि शायद ही कभी किसी से उनका कोई झगड़ा हुआ हो। हमारा उनसे परिचय पहले-पहल चम्पारन में हुआ था जब महात्माजी ने उनको, उनकी पत्नी श्रीमती दुर्गा बहन के साथ ही, वहाँ अपनी खोली हुई एक पाठशाला में काम करने के लिए भेजा था। जो प्रेम और सद्भाव उस समय पैदा हुआ वह बराबर बना रहा। उनकी इस प्रकार अचानक मृत्यु से मुझे भी काफी चोट लगी।

दूसरी मृत्यु श्री कस्तूरबा गांधी की थी जो १९४४ की फरवरी में हुई। वह भी आगा-खाँ-महल में महात्माजी के साथ ही थीं। बहुत दिनों तक बीमार थीं। अन्त में चल बसीं। गांधीजी की सहधर्मिणी होने का उनका सौभाग्य उनके जीवन के अन्तिम दिन तक बना रहा। गांधीजी की गोद में ही उनका महाप्रस्थान हुआ। वैसी सौभाग्यवती दूसरी कौन हो सकती है ? उनको सभी लोग 'बा' कहा करते थे। वह सचमुच सबकी 'बा' (माता) थीं। वह पहले-पहल १९१७ में चम्पारन पहुँचीं। उसी समय हम लोगों का उनके साथ पहला परिचय हुआ। वहाँ उनके पहुँचने के पहले हम लोगों के लिए भोजन बनाने के वास्ते एक ब्राह्मण रखा गया था। उनके पहुँचते ही गांधीजी की आज्ञा हुई कि अब ब्राह्मण की जरूरत नहीं रही, वहीं सबके लिए रसोई बना लेंगी। हम लोगों की संख्या भी काफी थी। शायद १४–१५ आदमी थे। हम लोगों को यह अनुचित मालूम हुआ कि हम सबकी रसोई बनाने का भार उन पर डाला जाय। हमको ऐसा भी मालूम हुआ कि जैसी दुबली-पतली और कमजोर वह दीखती थीं, उनसे यह काम हो भी न सकेगा। पर गांधीजी हमारे उज्र को सुननेवाले कब थे। उन्होंने कहा कि चिन्ता न करो, वह सब कर सकती हैं, उनको ऐसे काम का अभ्यास है। दूसरे लोग उनकी कुछ मदद कर दिया करते थे—खासकर भारी कड़ाही और बटलोई के उतारने इत्यादि में। पर बहुत प्रेम से वह सबके लिए रसोई बनातीं। उस समय जिस प्रेम से उन्होने हमको पहले-पहल खिलाया था उसी प्रेम के साथ जब तक वह जीती रहीं और जब-जब हमसे भेंट हुई, उन्होंने खिलाया। साबरमती के सत्याग्रह-आश्रम में हो चाहे मगनवाडी या सेवाग्राम के आश्रम में हो, अथवा कहीं सफर में ही क्यों न हो, बापू के पास पहुँचने पर, विशेषकर अगर साथ रहने का सुअवसर मिला तो, माता का स्नेह उनसे हमेशा मिलता रहा। उनके अन्तिम दिनों की दुःखद कहानी गांधीजी के उन पत्रों में पढ़ी जा सकती है जो उन्होंने गवर्नमेण्ट को लिखे थे। वे पत्र श्री बनमाला पारिख तथा डाक्टर सुशीला नैयर द्वारा लिखित 'हमारी बा' नामक पुस्तिका में छपे हैं। वह हिन्दू महिला की आदर्श मूर्ति, भारतीय संस्कृति की प्रतीक और प्रेम की पुतली थीं। वह सचमुच 'बा' थीं और 'बा' बनी रहीं। एक बार गांधीजी ने मुझसे कहा था—"बा को बा कहने में मुझे भी बड़ा आनन्द आता है।" पति-पत्नी का जो प्रचलित सम्बन्ध हुआ करता है वह तो दोनों ने स्वेच्छापूर्वक छोड़ दिया था। वह सचमुच उनकी भी 'बा' बन गयी थीं।

हम लोगों को जेल में ही मौलाना अबुल कलाम आजाद के पत्नी-वियोग का समाचार मिला था। यह जानकर और भी दुःख हुआ था कि अन्त काल में मौलाना से उनकी मुलाकात नहीं होने दी गयी। वह पर्दे में रहा करती थीं, इसलिए उनसे हमारी मुलाकात नहीं थी; पर मौलाना के दुःख का मैं अनुमान कर सकता था। श्री रंजीत पंडित (आर० एस० पंडित) से तो काफी घनिष्ठता थी और उनकी मृत्यु भी एक बहुत दुःखद घटना हुई। जेलों में गवर्नमेण्ट की नीति कुछ ऐसी हुआ करती है कि उसका समझना कठिन हो जाता है। नियम था कि केवल निकट के सम्बन्धियों के

साथ ही पत्र-व्यवहार हो सकता है। मेरे पास कभी-कभी ऐसे लोगों के पत्र आ जाया करते जिनसे किसी प्रकार का मेरा तअल्लुक नहीं था। पर मौलाना के पास और बहन विजयलक्ष्मी के पास मेरे समवेदना के तार नहीं जा सके !

अपने सूबे के मित्रों में सबसे दुःखद वियोग श्री रामदयालुसिंह का हुआ। पढ़ने के समय ही उनसे परिचय हुआ था जो पीछे घनिष्ठ प्रेम के रूप में परिणत हो गया। उनका स्वास्थ्य कई बरसों से खराब रहा करता था। इसी कारण से वह आन्दोलन में भाग लेने योग्य न थे। गवर्नमेण्ट ने भी यही समझकर उनको गिरफ्तार नहीं किया था। हमारी रिहाई के कुछ महीने पहले ही उनकी भी मृत्यु हो गयी। जो मित्रता प्रायः ३५-३६ बरसों से चली आ रही थी उसका ऐहिक धागा टूट गया ! हमारे प्रान्त की वह एक विभूति थे। उनका स्थान भी खाली रहेगा। काँग्रेस के बाहर, पर जिनसे हमारा बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध था, ऐसे दो सज्जन थे जिनसे भी फिर मुलाकात नहीं हुई। एक तो वैद्यराज व्रजविहारी चौबे थे जो आयुर्वेद के अगाध विद्वान् थे और जिनकी कृपा हम पर बराबर बनी रही थी। मैं कह चुका हूँ कि मेरी गिरफ्तारी के समय वही मेरी चिकित्सा कर रहे थे और जिस समय गिरफ्तारी हुई उस समय वह सदाकत-आश्रम पहुँच गये थे। मुझे यह कभी नहीं भूल सकता कि मेरी गिरफ्तारी से वह कितने दुखी और चिन्तित हुए। उन्होंने औषधि आदि साथ कर दी और अपनी सरलता में यह भी कहा कि अगर आप बुरा न मानें तो मैं गवर्नर से जाकर मिलूँ और आपके बारे में कहूँ। वह यह नहीं जानते थे कि गिरफ्तारी का हुक्म गवर्नर ने ही दिया था और गवर्नर को भी उसे स्थगित रखने का अधिकार नहीं था। दूसरे सर गणेशदत्तसिंह थे। उनसे कलकत्ते में, जब मैं पढ़ता था, पहले-पहल परिचय हुआ था। वहाँ वह वकालत करते थे। उसी समय से उन्होंने मेरे ऊपर जो प्रेम दरसाना आरम्भ किया वह अन्त तक ज्यों का त्यों बना रहा। पीछे राजनीतिक बातों को लेकर उनसे काफी मतभेद हुआ और मैंने उनकी कई कार्रवाइयों की काफी बड़ी टीका की, पर उस प्रेम में कोई अन्तर नहीं आया। अन्त में वह बहुत बीमार रहा करते थे। मैं जब तक बाहर था तब तक जब कभी पटने में रहने का मौका होता, जाकर उनसे बराबर भेंट किया करता था। उन्होंने बहुत दिनों तक मिनिस्ट्री की। उसमें उनकी कार्रवाइयों की ठीक टिप्पणी करनेवाले बहुत हुए जिनमें एक मैं भी था। पर मैंने यह देखा कि चाहे वह मिनिस्टर रहे तब, चाहे अपने अन्तिम दिनों में जब वह सारे काम-धाम से अलग हो गये थे, वह इसकी चिन्ता हमेशा किया करते थे कि हमारे ऐसे सार्वजनिक कामों में लगे लोगों का स्वास्थ्य ठीक रहे। इसलिए हम लोगों का जेल जाना वह पसन्द नहीं करते थे। जब कभी उन्हें जेल से किसी की बीमारी की खबर मिलती तो वह और भी चिन्तित हो जाया करते। अपनी मिनिस्ट्री के समय में अपने मुशाहरे का बहुत बड़ा अंश सार्वजनिक काम में लगा देने का निश्चय उन्होंने शुरू में ही कर लिया। इस तरह से कई लाख की रकम ट्रस्ट में दे डाली। यह हमारे लिए एक नमूना था जिसका अनुसरण और किसी ने नहीं किया। काँग्रेसी मिनिस्टरों का तो मुशाहरा ही ५००) कर

दिया गया जिसमें से बचाने की गुंजाइश कम थी, पर तो भी मैं जानता हूँ कि कुछ ऐसे हैं जिन्होंने पैसे-पैसे का हिसाब रखा और उसमें से बचाकर सार्वजनिक कामों में लगाया। तीसरे साथी, जिनसे फिर भेंट होनेवाली नहीं थी, श्री निरसूनारायणसिंह थे। इनसे भी पढ़ने के समय से ही परिचय था। सार्वजनिक प्रश्नों पर बहुत मतभेद रहते हुए भी प्रेम बराबर बना रहा। अपने घर में सबसे बड़ी भतीजी गिरिजा भी मेरे जेल में रहते-रहते ही चली गयी। उसका भी स्वास्थ्य बहुत दिनों से खराब ही रहा करता था। मेरे होश होने के बाद मेरे घर में वही सबसे पहले पैदा हुई थी। मैंने उसी को सबसे पहले बचपन में खेलाया था। वह प्रेम बहुत रखती थी। जेल में आकर मिली थी। पर कौन जानता था कि वह आखिरी मुलाकात थी। वह बड़ी भाग्यशालिनी थी। पति और पुत्रों को अपने सामने देखते-देखते चली गयी। अपने घर में गृहिणी रहकर उसने जिस प्रकार सब लोगों को सुख पहुँचाया था उसे सभी याद रखेंगे।

१५३—अस्थायी केन्द्रीय सरकार कायम होने से पहले की कुछ बातें

जेल में समय काटना बहुतों के लिए बड़ा कठिन काम हो जाया करता है। इसलिए अगर कुछ अनमना—दिलबहलाव का सामान—मिल जाय तो उसे बहुत लोग पसन्द करते हैं। हजारीबाग-जेल में हमारे साथियों ने एक बिल्ली के बच्चे को पाल रखा था। वह लोगों से इतना हिलमिल गया था कि निःसंकोच चारपाई पर जाकर सो रहा करता था। खाने के समय कहीं से घूमता-फिरता आकर गोद में बैठ जाता और जो कुछ दिया जाता उसे खाता। लिखने-पढ़ने के समय हाथ में से कलम-पेन्सिल छीन लेने में भी न हिचकता। अपने जन्म से ही वह कभी जेल के बाहर नहीं गया था। हमेशा बड़े और जवान लोगों की संगति में ही रहा। उसने आदमी के बच्चे को कभी देखा ही न था। हजारीबाग-जेल में हमारे साथियों में से एक आदमी बीमार पड़े। उनके बाल-बच्चे उनसे मिलने आये। उन छोटे बच्चों को देखते ही वह इतना डर गया कि किसी की गोद में से, जहाँ वह उस समय बैठा था, कूदकर भागा और कहीं दूर जाकर छिप रहा। उन बच्चों के चले जाने के बाद भी कुछ देर तक वापस नहीं आया!

इस बार बाँकीपुर-जेल में कुछ मामूली कैदियों ने मैना चिड़िया के बच्चे को पाल रखा। वह आदमियों के हाथ पर, कंधे पर, सिर पर निडरता से बैठ जाता। कैदी काम करते रहते, वह वहाँ डटा रहता। उसका हम लोगों से भी परिचय हो गया। वह हमारे कमरे में भी आने लगा। कुछ दिनों के बाद वह अधिकतर वहीं रहने लगा। चर्खा चलाने के समय सामने बैठ जाता और निकलते हुए धागे को चोंच से मारकर तोड़ देता। रात को मसहरी पर बैठ जाता और वहीं रात-भर रहता। सवेरे उड़कर बाहर जाता और फिर घूमघाम कर वापस आ जाता। एक दिन उड़कर कहीं गया और

फिर नहीं लौटा। न मालूम कहीं उड़कर चला गया अथवा किसी चिड़िया या दूसरे जानवर ने उसे मार डाला। दूसरे मैना भी लोगों ने पालने का प्रयत्न किया, पर हमने प्रोत्साहन नहीं दिया। इस तरह लिखते-पढ़ते, चर्खा कातते, बीमार पड़ते, लोगों के और आन्दोलन के समाचार सुनते-सुनाते और पुराणों की कथा सुनते—जिनमें वाल्मीकीय रामायण, अध्यात्म रामायण, महाभारत, श्रीमद्भागवत, चैतन्यचरित इत्यादि ग्रन्थ मुख्य थे—समय बीतते कुछ मालूम न हुआ। प्रायः तीन बरसों के बाद १५ जून को हम छूटे।

हम लोगों के रिहा होने के कुछ दिनों पहले से ही इस बात की बहुत चर्चा चल रही थी कि अब वर्किंग कमिटी के सदस्य छोड़ दिये जायँगे। अहमदनगर-किले में जो लोग थे उनमें से कुछ लोग दूसरे स्थानों में भेजे जा चुके थे। ऐसा मालूम होता था कि यह सब छोड़ने की तैयारी है। इस बात की घोषणा हुई कि १४-६-४५ की संध्या को लार्ड वावेल अपनी कोई नयी योजना देश के सामने रखेंगे—यह योजना रेडियो द्वारा सारे देश को उसी रात में बतलायी जायगी। ऐसा ही हुआ। योजना के साथ-साथ यह भी उन्होंने रेडियो पर कहा कि वर्किंग कमिटी के सदस्यों को छोड़ने की आज्ञा दे दी गयी है, तारीख १५ जून के सवेरे सब छोड़े जायँगे। रेडियो की बात सुनकर कुछ लोग तो उसी रात को हमारे छोड़े जाने की आशा से जेल के दरवाजे पर आये। अधिकारियों के यह कहने पर भी कि उस रात को छोड़ने का हुक्म नहीं है, वे कुछ देर तक वहाँ ठहरे रहे। १५ जून को एक भारी भीड़ जमा हो गयी। जेल में इतने दिनों तक रहने के बाद वहाँ से निकलने के समय मन में कितनी भावनाएँ उठने लगीं। हम लोग जिस दिन जेल में गये थे उसी दिन से मामूली कैदियों को हम लोगों के साथ, न मालूम किस कारण से, प्रेम-सा हो गया—हमारे ऊपर उनका बहुत विश्वास हो गया। वे हम लोगों को जेल के अधिकारियों से भी बड़ा समझते थे। जब कोई कष्ट होता तो हजार पहरा रहने पर भी किसी न किसी तरह हमारे पास पहुँच जाते। हमारे हजार समझाने पर कि हमारा कोई अधिकार नहीं है, वे यह बात मानने को तैयार नहीं होते। मैं इतना और भी कहूँगा कि जब तक हम उस जेल में रहे, उनके साथ अधिकारियों का बर्ताव भी अच्छा ही रहा। यों तो जेलों में कैदियों के साथ बर्ताव सख्ती का—प्रेम का नहीं, सजा देने का—सुधारने का नहीं, हुआ ही करता है। पर उनमें जो पुराने थे वे कहा भी करते थे कि बहुत-से अधिकारियों का रुख बहुत कुछ बदल गया था। इत्तफाक से उस जेल के अधिकारी भी अधिकांश अच्छे ही रहे। वे उन लोगों में से नहीं थ जो सारे सूबे में अपनी करतूतों के कारण बदनाम हो चुके थे। इस तरह, यद्यपि मामूली कैदियों के साथ हमारा कोई सम्बन्ध होना आवश्यक नहीं था तो एक अजीब सम्बन्ध हो गया था। हमारे छूटने की खबर से न मालूम उनके दिल में खुशी हुई या तकलीफ। मैं इतना कह सकता हूँ कि बहुतेरों को आशा जरूर हुई कि वे भी कुछ दिनों में छूट जायँगे। हमने इस तरह की आशा उन्हें किसी तरह से दिलायी नहीं थी। पर मैं कह सकता हूँ कि उनमें से बहुतेरों को हमारे छूटने के बाद निराशा हुई होगी।

जेल से बाहर निकलते ही हमको बम्बई जाना पड़ा; क्योंकि वहाँ वर्किंग कमिटी की बैठक हुई जिसमें वावेल-योजना पर विचार करना था। बम्बई में बातें थोड़ी ही हुईं और सिमले से महात्माजी तथा सभापति मौलाना आजाद की बुलाहट आ गयी। उनको वहाँ जाना पड़ा। मैं पटने लौट आया। पर यहाँ दो-चार दिन भी ठहर न सका; क्योंकि सिमले से मेरी बुलाहट आ गयी—वहीं वर्किंग कमिटी की बैठक होगी। सिमले में प्रायः दो सप्ताह तक रहना पड़ा। हमारी ओर से लार्ड वावेल के साथ कभी मौलाना, कभी पंडित जवाहरलाल और कभी महात्मा गांधी की बातें होतीं। मुस्लिम लीग की ओर से मिस्टर जिन्ना, और उनके साथी, वाइसराय से बातें करते। पर मुख्य काम तो वहाँ एक कान्फ्रेन्स का था जिसमें काँग्रेस और मुस्लिम लीग के सभापतियों के अलावा सूबों के प्रधान मंत्री बुलाये गये थे। जहाँ मंत्रिमण्डल टूट गया था—जैसा उन सभी सूबों में हुआ था जहाँ काँग्रेसी मंत्रिमण्डल था—वहाँ के टूटने के समय के प्रधान मंत्री बुलाये गये थे।

योजना पर और दूसरी बातों पर विचार किया गया। ऐसा मालूम हुआ कि वाइसराय की कार्यकारिणी समिति को एक प्रकार से राष्ट्रीय सरकार का रूप दिया जायगा। काँग्रेस की ओर से हमने योजना को एक प्रकार से मंजूर कर लिया। नौबत काँग्रेस की ओर से नाम देने की आयी। कान्फ्रेन्स में ११ सूबों में से ७ के प्रधान मंत्री काँग्रेसी थे। बाकी चार में से तीन की ओर से लीगी प्रधान मंत्री थे जिनमें एक आसाम था। आसाम में काँग्रेसी के हट जाने के बाद मंत्रिमण्डल में हेरफेर हुआ था। वहाँ उस समय यद्यपि लीगी मंत्रिमण्डल नहीं था तथापि प्रधान मंत्री सर सदाउल्ला लीगी थे। चौथे सूबा—पंजाब के प्रधान मंत्री सर खिजिर हयात खाँ लीग से झगड़ कर अलग हो गये थे। योजना की एक शर्त यह थी कि वाइसराय की कौन्सिल में हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होगी—इनके अलावा दूसरे लोग भी कुछ होंगे जिनमें हरिजनों के प्रतिनिधि भी रहेंगे। योजना ने एक तरह से हरिजनों के प्रतिनिधियों को हिन्दू-प्रतिनिधियों से अलग मान लिया था और जो समानता हिन्दू-मुस्लिम प्रतिनिधित्व में दी गयी थी वह अहरिजन अथवा सवर्ण हिन्दुओं के साथ ही थी।

अभी तक लड़ाई चल रही थी। देश की स्थिति कुछ अच्छी नहीं थी। हमने सोचा कि इस योजना को मानकर शायद हम उस स्थिति के सुधारने में कुछ सफल हो सकेंगे। हमने यह कहा कि कौन्सिल, वाइसराय और कमाण्डर-इन-चीफ के अलावा, १५ आदमियों की हो जिनमें ५ सवर्ण हिन्दू, ५ मुसलमान, २ हरिजन और ३ सिख, क्रिस्तान, पारसी इत्यादि दूसरी जातियों के प्रतिनिधि हों। हमने १५ नाम भी दिये जिनमें और नामों के अलावा ५ मुसलमानों के भी नाम दिये। इनमें तीन मुस्लिम लीगी लोगों के अलावा एक काँग्रेसी मुसलमान और एक लीग के बाहर के दूसरे मुसलमान के नाम थे। यह भी कह दिया गया कि लीग यदि अपनी ओर से दूसरे नाम देना चाहे तो वह दे सकती है, उसमें हमको उज्र नहीं होगा। मिस्टर जिन्ना ने यह दावा पेश किया कि मुसलमानों के सभी प्रतिनिधियों को नामजद करने का लीग

को ही अधिकार होना चाहिए, वह दूसरे किसी मुसलमान का होना पसन्द नहीं करेंगे! लार्ड वावेल को इस कठिनाई का सामना करना पड़ा। वह कांग्रेसी मुसलमान को तो छोड़ सकते थे, पर सर खिजिर हयात की पार्टी को नहीं। वह समझते थे कि सर खिजिर हयात ने और उनके पहले उस दल के नेता सर सिकन्दर हयात ने लड़ाई में बहुत मदद की थी, इसलिए उनको छोड़ना पंजाब के मुसलमानों को गवर्नमेण्ट के विरुद्ध कर देना होगा। हम लोगों को यह तो मालूम नहीं हुआ कि वाइसराय किन लोगों को रखना चाहते थे, पर हम समझते थे कि कांग्रेस और लीग की ओर से वही लिय जायँगे जिनके नाम ये संस्थाएँ देंगी, चाहे दूसरों में कुछ हेरफेर भी हो। ऐसा अनुमान किया जाता था कि उन्होंने मुसलमानों में चार नाम लीग के और एक मुसलमान पंजाब की युनियनिस्ट पार्टी का लेना चाहा था। पर मिस्टर जिन्ना इस पर राजी नहीं हुए। कान्फ्रेन्स टूट गयी!

कान्फ्रेन्स के टूटने पर मिस्टर जिन्ना ने एक बयान दिया जिसमें उन्होंने लीग के दावे बताये। उन कारणों को भी बताया जिनसे लीग को योजना नामंजूर करनी पड़ी थी। मुख्य कारण यह था कि एकमात्र लीग ही मुसलमानों की प्रतिनिधि संस्था है और उसी को मुसलमान मेम्बरों के नामजद करने का पूरा अधिकार होना चाहिए—चूँकि लार्ड वावेल इस बात को नहीं मानते, इसलिए योजना मंजूर नहीं की जा सकती। दूसरी महत्त्वपूर्ण बात उन्होंने यह कही कि उस प्रस्ताव के अनुसार १५ गैर-सरकारी आदमियों की कौन्सिल में केवल पाँच ही मुसलमान होनेवाले थे—उनके विरुद्ध कांग्रेसी हिन्दू लोग होते, और दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के जो प्रतिनिधि होते वे हमेशा हिन्दुओं के साथ ही जाते, क्योंकि दूसरी जातियों के विचार और मनोभाव कांग्रेस के ही साथ थे—इस तरह कौन्सिल में मुसलमान केवल एक-तिहाई की अल्प-संख्या में रह जाते जो लीग मंजूर नहीं कर सकती। मार्के की बातें इसमें दो थीं। एक तो यह कि आज तक सभी अल्पसंख्यक जातियों के संरक्षण का भार मिस्टर जिन्ना हमेशा अपने ऊपर लिया करते थे—कहा करते थे कि कांग्रेस केवल सवर्ण हिन्दुओं का प्रतिनिधित्व करती है, बाकी सबकी रक्षा लीग ही कर सकती है और करती है। ऐसा कहने का कोई कारण नहीं था; क्योंकि बार-बार अन्य अल्पसंख्यक जातियों ने अपनी संस्थाओं में लीग और भारत-विभाजन तथा पाकिस्तान की बात का स्पष्ट रीति से विरोध किया था और कांग्रेस के साथ अपनी सहानुभूति बतलायी थी। पर वह इस तरह की बातें कहते आ रहे थे। इन अल्पसंख्यकों में वह हरिजनों को भी गिनाया करते थे और अपने को उनका हिमायती बतलाया करते थे। अब, जब कौन्सिल में सवर्ण हिन्दुओं की संख्या केवल एक-तिहाई, मुसलमानों की भी एक-तिहाई, और बाकी तिहाई में दो हरिजन तथा दूसरे अल्पसंख्यकों के रखने की बात हुई तो भण्डा-फोड़ हो गया! उन्होंने साफ-साफ कह दिया कि दूसरे सबके सब कांग्रेस और हिन्दुओं के साथ हैं और रहेंगे, वह केवल मुसलमानों पर ही भरोसा रख सकते थे, और मुसलमानों में भी केवल उन्हीं मुसलमानों पर जिनको लीग ने अर्थात् उन्होंने स्वयं नामजद किया

।। दूसरी बात यह साफ हो गयी कि वह इस पर राजी नहीं थे कि कौन्सिल में हिन्दुओं ौर मुसलमानों में समानता हो। वह यह चाहते थे कि एक ओर केवल मुसलमान और सरी ओर बहुसंख्यक सवर्ण हिन्दू—हरिजन तथा दूसरी सभी अल्पसंख्यक जातियाँ— ं और मुसलमानों की समानता उन सभी जातियों के साथ हो! इसके साथ यह भी ष्ट था कि मुसलमानों का अर्थ सभी मुसलमान नहीं, केवल वही मुसलमान जो ीग में शरीक थे!

लीगी मुसलमानों की उस समय यह हालत थी कि उन दो बड़े-बड़े सूबों में, हाँ उनकी आबादी ज्यादा है—पंजाब और बंगाल में, लीगी मिनिस्ट्री टूट गयी थी। जाब में लीग से अलग होकर, मिस्टर जिन्ना से झगड़कर, सर खिजिर हयात ने अलग मनिस्ट्री बना ली थी—वह भी तब, जब भूतपूर्व प्रधान मंत्री सर सिकन्दर हयात खाँ ़ लड़के सरदार शौकत हयात खाँ लीग के साथ हो गये थे और सर खिजिर का जोरों । विरोध कर रहे थे। बंगाल की मिनिस्ट्री हारकर टूट गयी थी। यदि उस समय वेपक्षी दल को मौका दिया जाता, जैसा देना न्याय और वैधानिक नियम के अनुसार ावश्यक था, तो वहाँ गैरलीगी मिनिस्ट्री बन गयी होती। पर गवर्नर ने उस समय ी नीति के अनुसार लीग को नाखुश करना नहीं चाहा—जब लीगी मिनिस्ट्री न चल की, तो बार बार कहने पर भी, कोई दूसरी मिनिस्ट्री बनाने का किसी को मौका ा देकर, दफा ९३ के अनुसार, अधिकार अपने हाथों में कर लिया था। सीमाप्रान्त में काँग्रेसी मंत्रिमण्डल के हट जाने के कुछ दिनों बाद लीगी मंत्रिमण्डल बन गया था, र वह अपनी कार्रवाइयों से इतना बदनाम हो गया कि हम लोगों के छूटने क कुछ दिन पहले ही काँग्रेसी मेम्बरों ने असम्बली में भाग लेकर उसे तोड़ डाला था, जिससे वहाँ काँग्रेसी मंत्रिमण्डल कायम हो चुका था। एक सिन्ध ही ऐसा सूबा था जहाँ लीगी मंत्रिमण्डल काम कर रहा था, यद्यपि वहाँ भी राष्ट्रीय मुसलमानों के नेता अल्लाह-बख्श को प्रधान मंत्री के पद से हटाने में गवर्नर का सिर्फ हाथ ही नहीं था, बल्कि उसके लिए गवर्नर को बहुत-से अवैधानिक काम भी करने पड़े थे और पीछे अल्लाहबख्श कत्ल भी कर डाले गये थे!

यह तो उन सूबों का हाल हुआ जहाँ मुसलमानों की आबादी ज्यादा है। वह तो पाकिस्तान में आसाम को भी मिलाते हैं, पर वहाँ मुसलमानों की आबादी एक-तिहाई से ज्यादा नहीं है। काँग्रेसी मंत्रिमण्डल के हट जाने के कुछ दिनों बाद वहाँ भी लीग के सरदार सर सादुल्लाह ने मिनिस्ट्री बनायी थी; पर वह भी इतना बदनाम हो चुकी थी कि वह अपनी अन्तिम साँस गिन रही थी। ऐसी अवस्था में यह दावा करना कि लीग ही एकमात्र मुसलमानों की प्रतिनिधि जमायत है और उसके ही नामजद किये लोग कौन्सिल में लिये जा सकते हैं तथा उनकी संख्या भी इतनी होनी चाहिए कि वे अकेले ही सवर्ण हिन्दू एवं हरिजन और तमाम दूसरी अल्पसंख्यक जातियों के प्रति-निधियों का अपनी संख्या के कारण विरोध कर सकें, केवल मुस्लिम लीग और मि० जिन्ना के लिए ही सम्भव था! इस दावे पर सिमला-कान्फ्रेन्स को असफल बताल कर

तोड़ देना ब्रिटिश गवर्नमेण्ट के लिए ही सम्भव था! याद रखना चाहिए कि अभी लड़ाई चल रही थी और इँगलैंड में प्रधान मंत्री के पद पर मिस्टर चर्चिल और भारत-मंत्री के पद पर मिस्टर एमरी विराजमान थे!

सिमला-कान्फ्रेन्स के सम्बन्ध में एक-दो बातें और कह देना आवश्यक जान पड़ता है। ऊपर कहा जा चुका है कि काँग्रेस की वर्किंग कमिटी ने अपनी ओर से कौन्सिल के लिए नाम भी दे दिये थे। इनमें श्री भूलाभाई देसाई का नाम नहीं था। वह उस समय तक केन्द्रीय असम्बली में काँग्रेस-दल के नेता थे। उन्होंने उस हैसियत से काम भी बहुत अच्छा किया था। जब से, बारदोली-सत्याग्रह के समय (१९२८) में, वह काँग्रेस में खुलकर आये थे तब से जब-जब मौका हुआ, वह जेल जाने से हिचके नहीं थे। रुपये-पैसे से भी बराबर मदद करते आये थे। अपनी योग्यता और अपने त्याग के कारण वह बराबर वर्किंग कमिटी के भी मेम्बर रहे थे। काँग्रेस की ओर से उनका न लिया जाना उनके लिए बहुत ही दुःखदायी हुआ। यद्यपि नाम प्रकाशित नहीं किये गये थे तथापि बहुतों को यह बात मालूम हो गयी थी कि उनका नाम नहीं दिया गया था। दूसरे लोगों को भी, विशेषकर केन्द्रीय असम्बली के मेम्बरों को, यह बात बहुत खटकी थी। उनका नाम न दिये जाने का कारण यहाँ लिखना जरूरी नहीं है और न उचित ही है। मैं इस फैसले से सन्तुष्ट नहीं था, दुखी था। पर कोई दूसरा रास्ता नहीं दीखा। श्री भूलाभाई का मेरे साथ बहुत प्रेम था। मुझ पर वह विश्वास भी रखते थे, जिसको उन्होंने कई मित्रों से कहा था। कुछ दिनों के बाद, जब वह उस रोग से ग्रस्त थे जिसके कारण उनकी मृत्यु हुई, मैं उनसे बम्बई में मिला। उन्होंने अपना दुख बहुत दर्द-भरे शब्दों में कहा भी। यहाँ इतना कह देना ठीक होगा कि इसके थोड़े ही दिनों के बाद, जब आजाद-हिन्द-फौज के मेजर-जनरल शाहनवाज और उनके साथियों पर दिल्ली के लाल किले में राजद्रोह का मुकदमा चलाया गया और श्री भूलाभाई को उनकी ओर से पैरवी करने को कहा गया तो, उन्होंने खुशी से इस मुश्किल काम को अपने हाथों में ले लिया—यद्यपि उनका स्वास्थ्य उन दिनों कुछ अच्छा नहीं था। इसी मुकदमे का घोर परिश्रम एक तरह से उनकी मृत्यु का कारण हुआ; क्योंकि वह मुकदमे का काम किसी तरह खत्म करके बीमार पड़ गये और फिर चारपाई से उठ नहीं पाये। मुकदमे में उनकी प्रखर योग्यता और अद्भुत शक्ति का पता लगा। उनकी बहस संसार के बड़े से बड़े मुकदमों के बड़े से बड़े वकीलों की बहस का मुकाबला करती रहेगी। चारपाई पर पड़े श्री भूलाभाई को एक सन्तोष रहा—उनके सभी मवक्किल छूट गये। उनके मरने से भारत की एक विभूति चली गयी। उनका स्थान लेनेवाला दूसरा कोई अभी नहीं दीखता। मुझे उनके अन्तिम दिन हमेशा स्मरण रहेंगे—विशेषकर वह करुणापूर्ण भावना कि इतनी सेवा के बाद भी वर्किंग कमिटी ने उनको कौन्सिल के योग्य नहीं समझा! उनके मन में पद की लालच नहीं थी। यदि काँग्रेस में वह न आये होते तो

अनायास ही बहुत पहले पा सकते थे। उनको दुःख इस बात का था कि
को अयोग्य समझा !

दूसरी बात जिसका जिक्र करना चाहता हूँ, निजी है। वर्किंग कमिटी के सामने
चुनने का जब प्रश्न आया तो उन नामों में मेरा नाम भी आया। मैं इसके
कुल तैयार नहीं था। एक तो मेरा स्वास्थ्य ऐसा नहीं कि बहुत परिश्रम कर
सके, इस प्रकार के काम का मुझे बिलकुल तजरबा नहीं था। ऐसे कठिन
इस भार को लेना ठीक नहीं जँचता था। तीसरे, मैं समझता था कि बाहर
जैसे मैं उस समय तक काम करता आ रहा था वैसे ही काम करते रहना मेरे
के मुवाफिक था। चौथे, दिल में कुछ नैतिक दुविधा भी मालूम होती थी।
नी कठिनाइयों को पूज्य महात्माजी के पास अकेले में जाकर कहा। उन्होंने राय
मुझे मंजूर कर लेना चाहिए। इसके बाद मेरे लिए कुछ कहने को नहीं रह गया।
त में शान्ति पूरी नहीं आयी थी। इसलिए जब सिमले में बातचीत खत्म हो
मुझे ऐसा मालूम हुआ कि मेरे सिर से भी एक बोझ टल गया—देशहित की
यद्यपि उसका टूटना अच्छा नहीं लगा तथापि व्यक्तिगत विचार से अच्छा
जान पड़ा।

१५४—पीड़ित राजबन्दियों के लिए अर्थसंग्रह का उद्योग

सिमले से मैं दिल्ली आया। वहाँ बीमार पड़ गया। तबीयत बम्बई जाने पर
खराब हो गयी थी। इसीलिए बम्बई से जल्द पटने चला आया था। पर पटने
ठहर न सका। वहाँ से सिमला जाना पड़ा। सिमले में किसी तरह काम खत्म
। डाक्टर विधानचन्द्र राय ने, जो सिमला गये हुए थे, सलाह दी कि किसी सूखे
में कुछ दिनों के लिए चला जाना अच्छा होगा। मैं इस विचार से दिल्ली में
या कि वहाँ से पिलानी जाकर कुछ दिन आराम कर लूँ। पर दिल्ली में अधिक
हो जाने के कारण प्रायः दो सप्ताहों तक ठहर जाना पड़ा। वहाँ से अगस्त
हली या दूसरी तारीख को पिलानी गया जहाँ एक महीने से कुछ अधिक ठहरा।
ी में, बिड़ला-बन्धुओं की ओर से, हमारे ठहरने का अच्छा प्रबन्ध था। वहाँ
और मृत्युञ्जय की माँ के साथ बहुत आराम से रहा। मुझे आराम पहुँचाने का
बिड़ला-बन्धुओं के मैनेजर श्री हरिश्चन्द्र ने बड़ी खूबी से किया था। बिड़ला-
ज के प्रिन्सिपल श्री शुकदेव पाण्डेयजी तथा दूसरे अध्यापकों और आचार्यों की
भी बहुत अच्छी रही।

जो पुस्तक (डिवाइडेड इण्डिया) जेल में लिखी गयी थी उसका एक भाग
ना बाकी रह गया था, यह कहा जा चुका है। पिलानी में यह काम कर लिया
। वहाँ बिड़ला-कालेज के पुस्तकालय में पुस्तकों का अच्छा संग्रह है। मेरे काम
ायः सभी पुस्तकें वहाँ मिल गयीं। इसलिए इसे पूरा करने में सुविधा हुई। परिश्रम
रना पड़ा, पर काम हो गया। वहीं से वर्किंग कमिटी और अखिल भारतीय कमिटी

की बैठक के लिए बम्बई जाना पड़ा। बम्बई की हवा मेरे लिए इतनी हानिकर होती है कि वहाँ पहुँचते ही फिर खाँसी-दमा हो गया। आखिर वर्किंग कमिटी बम्बई में न होकर पूना में हुई। हम लोग पूना चले गये। वहाँ भी बराबर पानी बरसता रहा। इसलिए स्वास्थ्य अच्छा नहीं रहा। बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक के बाद मैं पटने वापस गया। बम्बई में किताब (डिवाइडेड इण्डिया) के छपने और प्रकाशित करने का प्रबन्ध कर लिया। ऐसा मालूम हुआ कि दो-तीन महीनों के अन्दर पुस्तक प्रकाशित हो जायगी। सिमले में ही हम लोग समझ गये थे कि प्रान्तीय और केन्द्रीय असम्बलियों का नया चुनाव शीघ्र ही होगा। मैं समझता था कि उन चुनावों के पहले ही पुस्तक प्रकाशित हो जाय तो अच्छा होगा। केन्द्रीय असम्बली के चुनाव के पहले तो नहीं, पर प्रान्तीय चुनावों के पहले वह प्रकाशित भी हो गयी।

जब मैं जेल में था, मुझे उन लोगों की चिन्ता हुई जिनको १९४२ के आन्दोलन के कारण बहुत प्रकार के कष्ट उठाने पड़े थे—विशेषकर उनके सम्बन्ध में भी चिन्ता होती जिन पर संगीन मुकदमे चल रहे थे जिसके फलस्वरूप फाँसी अथवा लम्बी कैद की सजा मिलती थी। मुकदमों की पैरवी में खर्च पड़ता था और जो लोग बाहर थे उन्होंने यथासाध्य इसका प्रबन्ध किया था। दूसरे लोगों में बहुतेरे ऐसे थे जिनके कैद हो जाने पर उनके परिवार को बहुत कष्ट सहना पड़ रहा था। बहुतेरे तो ऐसा स्वास्थ्य लेकर छूटते कि उनकी चिकित्सा कराना आवश्यक होता। बाहर निकलने पर जब कुछ और बातें मालूम हुईं तो मैंने तय कर लिया कि इनके सहायतार्थ कुछ रुपया जमा करना चाहिए। पर बम्बई और सिमले की बातों तथा उसके बाद बीमार पड़ जाने के कारण बम्बई से लौटने तक मैं कुछ विशेष नहीं कर पाया था। बम्बई में मैंने इस सम्बन्ध में कुछ मित्रों से बातें की थीं, पर वहाँ कुछ उत्साहवर्धक स्थिति नहीं थी। वहाँ के लोगों ने इसके पहले बहुत पैसों से देश की मदद की थी। अब एक खास सूबे के लिए अलग चन्दा उठाना कठिन था। हाँ, यदि सारे देश के लिए कुछ किया जाता तो हो सकता पर केवल एक सूबे की बात लेकर मैं उनसे कैसे कुछ कह सकता था। दूसरे लोगों का ध्यान इस ओर अभी नहीं गया था। इसलिए मैंने सोच लिया कि पहले अपने सूबे में कुछ कर लिया जाय तो फिर बम्बई और कलकत्ते-जैसे बड़े स्थानों में प्रयत्न करूँगा।

मैंने पिलानी में ही पैसे जमा करने का काम शुरू कर दिया था। अगर यों कहा जाय कि काम अनायास ही शुरू हो गया तो ज्यादा ठीक होगा। वहाँ के कालेज के प्रिन्सिपल श्री शुकदेव पाण्डेयजी तथा दूसरों से बातों ही बातों में जिक्र आ गया था; मैंने कुछ माँगा नहीं था। पर ९ अगस्त (१९४५ ई०) को कालेज में एक सभा हुई जिसमें ९ अगस्त के सम्बन्ध में कुछ कहने के लिए मैं बुलाया गया। वहीं पर कालेज के आचार्यों और विद्यार्थियों की ओर से एक हजार रुपये की थैली राजनीतिक पीड़ितों के सहायतार्थ मुझे भेंट की गयी। पिलानी से रवाना होने के पहले मैं शेखावाटी के कुछ स्थानों में गया जहाँ के लोगों का बड़ा आग्रह था। चिड़ावा, सूर्यगढ़, फतहगढ़

दि कई स्थानों में गया। सभी स्थानों में थैलियाँ भेंट की गयीं। इस तरह, वहाँ लने के पहले, १५-१६ हजार रुपये कोष में आ गये। पटना लौटकर मैंने सारे में दौरा करने का कार्यक्रम बनाया। पर अभी बरसात समाप्त नहीं हुई थी। मेरा स्थ्य भी ठीक नहीं था। इसलिए निश्चय किया कि १० दिनों के लिए जीरादेई र आराम करूँ और फिर दसहरे के दिन से दौरे पर निकलूँ। जीरादेई जाते । कुछ ऐसा अनुभव हुआ कि जिससे मेरे दिल में रुपये जमा होने के सम्बन्ध में थोड़ा सन्देह था वह दूर हो गया।

गंगातट के पहलेजाघाट-स्टेशन पर स्टीमर से उतरकर मैं रेल पर जा रहा । वहाँ लोगों की भीड़ लग गयी थी। इस बात की सूचना लोगों को मिल गयी मैं उसी गाड़ी से जीरादेई जा रहा हूँ। इसलिए वहाँ के काँग्रेसी लोग जमा हो थे। मैंने बिना सोचे-विचारे भीड़ देखकर लोगों से कह दिया कि मैं राजनीतिक ड़ित कोष के लिए पैसा चाहता हूँ, जिससे जो कुछ हो सके वह दे दे। पटने से ही ो जिलों को खबर दे दी गयी थी कि मैं दौरे पर इस काम के लिए निकलूँगा। एक जिले से एक निश्चित रकम माँगी गयी थी जिससे कम उनको कोष के लिए ीं देना था। पहलेजाघाट के कार्यकर्त्ताओं ने सोचा था कि इस अवसर पर ही कुछ ा कर लेना चाहिए। इसलिए वे जिले के 'कोटा' में से अपना हिस्सा पूरा करने प्रबन्ध कर रहे थे और कुछ जमा करके लाये भी थे। वह उन्होंने भेंट की। पर के अतिरिक्त उपस्थित जनता ने छोटी-छोटी रकमों से एक अच्छी रकम खड़ी दी। मैंने देखा कि लोगों में उत्साह अद्भुत है, इससे लाभ उठाना चाहिए। इसलिए स्टेशन पर मैंने रुपये जमा करना शुरू कर दिया। जीरादेई में लोगों ने स्वागत लिए तैयारी की थी, क्योंकि तीन-चार बरसों के बाद मैं अपने गाँव जा रहा था। ाँ लोगों को यह भी मालूम था कि मैं पीड़ित-कोष के लिए रुपये भी जमा कर रहा । अतः वे कुछ जमा करके थैली भी रखे हुए थे। इस प्रकार जीरादेई पहुँचते-चते लोगों ने एक अच्छी रकम भेंट कर दी। इससे मेरा उत्साह बहुत बढ़ गया। समझ गया कि रुपये काफी मिल जायँगे।

जीरादेई में गया तो था आराम करने के लिए, पर बहुत आराम न कर का। बहुत लोग भेंट करने आते और उन पर जो कुछ बीता था उसे कह सुनाते। हाँ रहते-रहते मैंने कुछ आसपास के लोगों के ऐसे घरों को देखा जो १९४२ में रकारी कर्मचारियों द्वारा जला दिये गये थे और ऐसे लोगों के परिवार से भेंट भी ो जो गोलियों के शिकार हुए थे। इनमें हमारे खानदान के पुराने सम्बन्धी नरेन्द्र-र के बाबू कृष्णकुमारसिंहजी थे जिनके भतीजे की मृत्यु पटना-सेक्रेटेरियट के गोली-ांड में हुई थी। जिस बेरहमी से घर जलाये गये थे, देखकर बहुत दुख होता और सका अन्दाजा मिलता कि तीन बरस पहले जब ये घटनाएँ हुई थीं तब लोगों की या हालत हुई होगी। जीरादेई का भी एक आदमी गोली से मारा गया था। उसके रिवार के लोगों को सहायतार्थ कुछ दिया भी। जीरादेई रहते-रहते रुपये जमा करने

का काम भी जारी रहा। जो लोग भेंट करने आते उनमें बहुतेरे कोष के लिए कुछ दे जाते और विस्तार-पूर्वक लोगों के कष्टों का हाल सुना जाते।

एक और काम जीरादेई में हुआ। जबलपुर के श्री द्वारकाप्रसाद मिश्रजी ने १९४०-४१ में व्यक्तिगत सत्याग्रह के समय जेल में 'कृष्णायण' लिखना आरम्भ किया था। एक बार मुझे वर्धा से पटना लौटते समय कुछ घंटों के लिए उनके साथ ठहरने का अवसर मिला था तो उन्होंने मेरे आग्रह से उसका कुछ अंश मुझे सुनाया था। मुझे वह बहुत पसन्द आया था। उसे उन्होंने १९४२-४५ की जेल-यात्रा में पूरा किया था और जेल से मेरे निकलने पर बम्बई में अखिल भारतीय कमिटी के समय कहा था कि चन्द रोज मेरे साथ रहकर उसे पढ़ सुनाना चाहते हैं। मैंने उनको जीरादेई में बुला लिया। उनके भाई और वह स्वयं वहाँ आ गये थे। पुस्तक का कुछ अंश उन्होंने सुनाया था। मुझसे एक छोटी भूमिका लिखने का आग्रह किया जो मैंने वहीं लिख दी। पुस्तक श्री तुलसीकृत रामायण की शैली पर दोहा और चौपाइयों में लिखी गयी है। जिस तरह रामायण में श्री रामचन्द्र का चरित्र-चित्रण है उसी तरह इसमें श्रीकृष्ण की जीवनी और चरित्र का चित्रण है। पुस्तक बहुत ही हृदयग्राही और सुन्दर ढंग से लिखी गयी है। सुनकर बहुत आनन्द आया। मिश्रजी का सत्सङ्ग बहुत ही अच्छा रहा।

जीरादेई से मैं सीधे दौरे पर निकल गया। प्रायः ६-७ हफ्तों तक दौरा करता रहा। लोगों में उत्साह बहुत था। १९४२ के दमन का कुछ भी असर देखने में नहीं आता था। मालूम होता था कि जैसे रबर की गेंद जितने जोर से पटकी जाती है वह उतने ही जोर से ऊपर उठती है वैसे ही दमन के कारण लोगों का जोश और भी ज्यादा हो गया है। सभाओं में रुपयों की वर्षा होती। जो कुछ थैली के लिए लोग जमा करके पहले से रखते उसके अलावा सभाओं में भी अच्छी रकम जमा हो जाती। दौरा बहुत सख्त था, क्योंकि बहुत स्थानों में जाना था और सभी जगहों में भाषण करना पड़ता था। यद्यपि तबीयत ठीक हो गयी थी तथापि कमजोरी अभी काफी थी। भाषणों में, लोगों का उत्साह बढ़ाने के अलावा, आनेवाले चुनावों के सम्बन्ध में भी मैं कुछ कह देता और फिर रुपयों के लिए अपील करता। जितना 'कोटा' निश्चित था उससे कम किसी जिले ने नहीं दिया। अधिकांश ने 'कोटा' से कहीं अधिक रकम दी। हम लोगों ने सोचा था कि तीन लाख रुपये सूबे से जमा किये जायँ और दो लाख रुपये बम्बई-कलकत्ता-जैसे बाहर के बड़े-बड़े स्थानों से। पर सूबे के अन्दर ही पाँच लाख से अधिक रुपये आ गये। बाहर माँगने की जरूरत न रही। अभी दौरा पूरा नहीं हुआ था और मैं थक-सा गया। दो-तीन जिले अभी बाकी थे जब कटिहार में पहुँचकर मैं बहुत बीमार पड़ गया। न्युमोनिया-जैसा कुछ हो गया। कई दिनों तक वहाँ ठहर जाना पड़ा। पटने से डाक्टर बनर्जी बुलाये गये। कुछ अच्छा होने पर वहाँ से स्पेशल ट्रेन द्वारा मैं पटना पहुँचाया गया; क्योंकि वहाँ से गाड़ियों का सिलसिला ऐसा था कि कहीं न कहीं रात गाड़ी में बितानी पड़ती

र डाक्टर लोग इससे बचाना चाहते थे। पटने पहुँचकर भी मैं बहुत दिनों तक
ार रहा। आहिस्ता-आहिस्ता अच्छा हुआ। इसी बीच कलकत्ते में वर्किंग कमिटी
बैठक होनेवाली थी। मैंने यात्राक्रम ऐसा बनाया था कि स्वास्थ्य यदि मेरा साथ
ो होता तो दौरा समाप्त करके मैं कलकत्ते पहुँच जाता, पर बीमार पड़ जाने के
रण न दौरा ही समाप्त कर सका और न कलकत्ते ही जा सका। जो जिले दौरे
वंचित रह गये थे उनका दौरा कई महीनों के बाद किसी तरह कर सका; पर
बात न रही जो उस समय थी। उस समय का उत्साह और जोश अद्भुत था।

१५५—असम्बली का चुनाव और कुछ पार्टियों के कारनामे

ऊपर कहा जा चुका है कि केन्द्रीय असम्बली के लिए पहले चुनाव हुआ।
 जनवरी तक समाप्त हो गया। इसके बाद प्रान्तीय असम्बली का चुनाव आया।
न्द्रीय असम्बली के लिए बिहार में जितने गैर-मुस्लिम खड़े किये गये थे, आसानी से
त गये, अधिकांश तो निर्विरोध चुने गये। एक जगह विरोध हुआ, पर वहाँ भी
रोधी की जमानत जब्त हुई। पर मुस्लिम जगहों के लिए काँग्रेस की ओर से खड़े
मीदवार हार गये, सब जगहें मुस्लिम लीग को मिल गयीं। यह कैफियत केवल
हार में ही नहीं रही; प्रायः देश-भर में ऐसा ही हुआ! गैर-मुस्लिम जगहों में
ाँग्रेसी और मुस्लिम जगहों में लीगी चुने गये।

अब प्रान्तीय चुनाव के लिए तैयारियाँ हुईं। इसमें भी मुस्लिम लीग के साथ
ुकाबला हुआ। काँग्रेस तीन मुस्लिम जमायतों के साथ मिलकर लीग का मुकाबला
बिहार में कर रही थी। ये तीन जमायतें थीं—जमीअत उलेमा, जमीअत मोमिन और
इण्डिपेण्डेण्ट पार्टी। इनमें इण्डिपेण्डेण्ट पार्टी की कोई खास हैसियत नहीं थी और
मोमिन लोगों का संगठन बहुत फैला हुआ था। उमीदवार चुनने में बहुत देर हो
गयी; क्योंकि कई जमायतों को साथ चलना था। तय हुआ कि कुछ जगहों के लिए
काँग्रेसी, कुछ के लिए जमीअत उलेमा के और कुछ के लिए मोमिन उमीदवार खड़े
किये जायँ। सबसे ज्यादा जगहें मोमिनों को दी गयीं। बहुत धूमधाम से मुकाबला
हुआ। लीग की ओर से हर तरह की जोर-जबरदस्ती भी की गयी। खर्च भी काफी
किया गया। अन्त में नतीजा यह हुआ कि ४० जगहों में से ३४ लीग ने ले
लीं, ५ मोमिनों को मिलीं और १ काँग्रेस को! जमीअत उलेमा का एक उमीदवार
भी कामयाब नहीं हुआ। जिस जगह के बारे में यह कहा जाता था कि उस इलाके
के सभी वोटर जमीअत उलेमा के उमीदवार के मुरीद थे वहाँ भी जमीअत उलेमा
के उमीदवार हार गये। काँग्रेस को सबसे भारी धक्का यह लगा कि प्रोफेसर अब्दुल-
बारी हार गये। काँग्रेसी उमीदवारों में डाक्टर सैयद महमूद जीते।

गैर-मुस्लिम जगहों में और कहीं कोई विशेष विरोध नहीं हुआ। केवल छोटा-
नागपुर में—राँची और सिंहभूम जिलों में—जोरदार विरोध हुआ। जमीन्दारी
जगहों पर हमने किसी को खड़ा ही नहीं किया था। छोटानागपुर में, वहाँ के आदिम

निवासियों के बीच, कुछ दिनों से, एक संस्था काम कर रही है जिसका नाम है 'आदिवासी-महासभा'। इसके कार्यक्रम का एक मुख्य स्तम्भ यह है कि छोटानागपुर बिहार से अलहृदा सूबा बना दिया जाय। इसके नेता हैं श्री जयपालसिंह। यह स्वयं राँची-जिले के खूँटी-इलाके से खड़े हुए। और-और जगहों में—सिंहभूम, राँची, संताल-परगना इत्यादि में—इस सभा की ओर से उमीदवार खड़े किये गये। कुछ जगहें आदिवासियों के लिए, विधान के अनुसार, सुरक्षित हैं। जो दूसरी गैर-मुस्लिम जगहें हैं उनमें भी उनको खड़ा होने का अधिकार है। उन्होंने सुरक्षित जगहों के लिए, और कुछ आम जगहों के लिए भी, उमीदवार खड़े किये। काँग्रेस की ओर से तो सभी आम जगहों के लिए, और आदिवासियों के निमित्त सुरक्षित जगहों के लिए भी, उमीदवार खड़े किये गये। इन्हीं जगहों में कड़ा विरोध हुआ। मैं चुनाव के समय तक अच्छा हो गया था। जहाँ-जहाँ अधिक विरोध की सम्भावना थी वहाँ दौरा करने का विचार हुआ। कहीं-कहीं आदिवासियों के अतिरिक्त, मुँगेर और शाहाबाद की कुछ जगहों से, और मजदूरों के लिए सुरक्षित स्थानों से भी, रेडिकल डेमोक्राटिक-पार्टी (श्री एम० एन० राय की पार्टी) और कम्युनिस्ट पार्टी की ओर से उमीदवार खड़े किये गये थे।

१९४२ के क्रान्तिकारी आन्दोलन के समय में श्री एम० एन० राय और उनकी पार्टी ने काँग्रेस की बड़ी निन्दा की थी। केवल इसी देश में उन्होंने उस आन्दोलन का विरोध नहीं किया था—विदेशों में भी, विशेषकर अमेरिका में। उनके आदमियों ने जाकर काँग्रेस की बहुत झूठी और गलत शिकायतें की थीं—गवर्नमेण्ट को भी काँग्रेस को दबा देने और उसके संगठन को चूर चूर कर देने की सलाह दी थी। गवर्नमेण्ट को उनकी सलाह की जरूरत नहीं थी, वह खुद सब कुछ कर रही थी। पर उनके प्रचार से उसको अपना दमनचक्र चलाने में सहारा जरूर मिला। जेल में हम लोगों के रहते-रहते ही केन्द्रीय असम्बली में एक प्रश्न के उत्तर में सरकार की ओर से कहा गया कि उस पार्टी को गवर्नमेण्ट की ओर से तेरह हजार रुपये की मासिक मदद दी जा रही है। उस दल के लोगों में आपस में भी इस विषय में झगड़ा हो गया और एक दल ने इस खबर से लाभ उठाकर दूसरे को जनता की नजरों में गिराना चाहा। हम लोग जब बाहर थे तब ऐसी बातें सुना करते थे। उस दल के लोग बहुत खर्च करते भी देखे गये थे, पर निश्चय-पूर्वक कोई कुछ कह नहीं सकता था। १९४२ के आन्दोलन के समय उन लोगों में कुछ मतभेद हो गया था। कुछ लोग आन्दोलन में शरीक होना पसन्द करते थे, पर श्री एम० एन० राय और दूसरे लोग उनका जोरों से विरोध करना चाहते थे। जेल में ही हम लोगों को इसका पता लग गया था। यह भी मालूम हो गया था कि वह पार्टी गवर्नमेण्ट के रुपये से काम कर रही है। असम्बली में तो गवर्नमेण्ट ने ही भण्डाफोड़ कर दिया। वही पार्टी अपने को भारत का सच्चा प्रतिनिधि बताती थी और काँग्रेस को देश-विदेश में गालियाँ दिया करती थी।

कम्युनिस्ट लोगों का भी हाल कुछ विचित्र रहा। लड़ाई आरम्भ होने के

दिन पहले रूस और जर्मनी में सुलह हो गयी। जब लड़ाई शुरू हुई तो एक से जर्मनी ने पोलैण्ड पर चढ़ाई कर दी और दूसरी ओर से उसके कुछ हिस्से रूस ने कब्जा कर लिया। इस प्रकार दोनों में बड़ी आवभगत हो गयी। हिन्दु-न के कम्युनिस्ट लोग, जो अधिकतर रूस के इशारे पर ही काम किया करते हैं, म्भ में ब्रिटिश के खिलाफ ही बोलते-लिखते रहे, जिसके कारण उनकी संस्था कानूनी करार दे दी गयी थी और उनके प्रमुख व्यक्ति लुक-छुपकर काम कर थे। जब तक रूस और जर्मनी के बीच लड़ाई नहीं छिड़ी, हिन्दुस्तान के कम्युनिस्ट ा जर्मनी के हिमायती और ब्रिटिश के विरोधी बने रहे। जब रूस और जर्मनी में ाई छिड़ गयी तब से उन्होंने अपना रुख बिलकुल बदल दिया। जैसे ही ब्रिटेन र रूस एक ओर होकर जर्मनी से लड़ने लगे, उन्होंने यह कहना शुरू कर दिया यह लड़ाई जनयुद्ध है और ब्रिटेन की मदद करना सबका फर्ज है!! इस तरह ग्रेस के आन्दोलन के प्रति उनका विरोध अनिवार्य हो गया। उन्होंने विरोध किया ा। इस कारण काँग्रेसी लोगों में—विशेषकर काँग्रेस के अन्दर सोशलिस्ट पार्टी —इन दोनों उक्त पार्टियों के विरुद्ध बहुत जबरदस्त भावना पैदा हो गयी ो। जेल के अन्दर तो इसका कुछ पता चलता ही था, पर बाहर निकलने पर जब ब बातों का पूरा पता चलने लगा तो यह भावना और भी जबरदस्त हो गयी।

इन्हीं पार्टियों की ओर से काँग्रेस के विरुद्ध उमीदवार खड़े किये गये थे। उनके जीतने का तो कोई करीना था ही नहीं, पर एक मुठभेड़ का मौका जरूर ैदा हो गया। कम्युनिस्टों के साथ मुठभेड़ हुआ भी। मुझे इस बात का अफसोस रहा कि काँग्रेसी लोग उनके प्रहारों को अहिंसात्मक रीति से बरदाश्त नहीं कर सके, कम्युनिस्टों के एक नेता को बहुत पीट भी दिया। वातावरण बहुत दूषित हो गया। हमारे सिद्धान्त को भी बहुत धक्का पहुँचा। अन्त में दोनों दलों के लोग खूब हारे। बिहार में एक स्थान से भी उनका उमीदवार नहीं चुना गया। कई जगहों में तो उनकी जमानत भी जब्त हुई।

आदिवासियों का विरोध भी हिंसा से खाली न रहा। जब मैं दौरे पर निकला तो राँची-जिले में कई आदमी मेरे सामने पेश किये गये जिनको आदिवासी-सभा के लोगों ने खूब पीटा था। वे सभाओं में बड़ी तायदाद में जमा होते और काँग्रेसी लोगों को मारते-पीटते। उनका विशेष ध्यान उन आदिवासियों पर होता जो काँग्रेस की ओर से खड़े थे अथवा जो काँग्रेस की मदद कर रहे थे। ऐसे लोगों को उन्होंने बहुत पीटा। कुछ घायलों को तो बहुत समय तक अस्पताल में रहना पड़ा था। खूँटी-इलाके में उनकी धाँधली बहुत ज्यादा थी। मैंने इन बातों की सूचना गवर्नमेण्ट को दी, पर वहाँ के स्थानीय अफसरों का रुख कुछ ऐसा था कि गवर्नमेण्ट ने इन बातों पर कुछ ध्यान नहीं दिया। एक स्थान पर पाँच आदिवासी मार डाले गये। इस चुनाव के आन्दोलन में मुस्लिम लीग और आदिवासी-सभा का गठबन्धन हो गया था। दोनों मिलकर काम कर रहे थे। आदिवासी-सभावाले भी 'पाकिस्तान-जिन्दाबाद'

के नारे लगाया करते थे! मुस्लिम लीग के कुछ नेताओं ने पीछे इन पाँच मृत्युओं की संख्या बढ़ाकर १००-१५० बना दी और सबके लिए काँग्रेस को दोषी ठहराया। यहाँ पर अधिक लिखना मुनासिब नहीं है; क्योंकि अभी मुकदमे चल रहे हैं। पर इतना कह देना उचित होगा कि काँग्रेसी लोगों ने इससे बराबर इनकार किया है।

चुनाव का नतीजा यह हुआ कि श्री जयपालसिंह स्वयं तो हार गये, पर उनके दल के तीन आदमी चुने गये—दो सिंहभूम-जिले से और एक राँची-जिले से। सात सुरक्षित जगहों में से उनके दल को दो जगहें मिलीं—एक राँची में और एक सिंहभूम में तथा आम जगहों में से एक जगह सिंहभूम में। पाँच सुरक्षित जगहें और दूसरी सभी जगहें, जहाँ पर उन्होंने मुकाबला किया, काँग्रेस के हाथ आयीं। ईसाइयों के लिए जो सुरक्षित जगह है उसमें भी एक क्रिस्तान आये जो शायद उनके दल के हैं अथवा उनके मददगार हैं।

चुनाव-सम्बन्धी दौरे पर मैं निकला और अधिकांश जगहों में, जहाँ जाने का विचार था, गया। पर अन्तिम तीन-चार दिन दौरा न कर सका। फिर तबीयत कुछ ढीली पड़ गयी। उसी समय जोरों से पानी भी बरसने लगा। इत्तफाक से इन्हीं दिनों मुँगेर-जिले में जाना था। वहाँ नहीं जा सका। पीड़ित-कोष के लिए दौरा करते समय भी मुँगेर पहुँचने के पहले ही बीमार पड़ जाने के कारण वहाँ नहीं पहुँच सका था। बहुत दिनों के बाद मुँगेर-जिले के अन्य स्थानों में तो जा सका, पर खास मुँगेर में अभी तक नहीं जा सका हूँ। मेरे दौरे की विशेष जरूरत नहीं थी; क्योंकि जनता में बड़ा उत्साह था और काँग्रेस की जीत निश्चित थी। तो भी एक बार फिर से बहुत स्थानों में जाना अच्छा ही रहा।

चुनाव समाप्त हो जाने पर मंत्रिमण्डल बनना था। यद्यपि काँग्रेस की ओर से कोई बाज़ाब्ता निश्चय नहीं हुआ था कि काँग्रेस मंत्रिमण्डल बनाने में शरीक होगी, पर अब तो लड़ाई समाप्त हो चुकी थी। काँग्रेस ने लड़ाई के कारण ही मंत्रि-पद छोड़ा था। अब वह कारण नहीं रहा। देश की परिस्थिति भी ऐसी थी कि सभी लोग चाहते थे कि काँग्रेस फिर मंत्रि-पद ग्रहण करे। इस तरह काँग्रेसी लोग तथा काँग्रेस के बाहर के लोग, सभी समझे बैठे थे कि काँग्रेसी मंत्रि-मण्डल बनेगा ही। ऐसा ही हुआ भी। सीमा-प्रान्त, युक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त, आसाम, उडीसा, मद्रास और बम्बई में तो काँग्रेस का बहुतमत था। इनमें मंत्रिमण्डल बनने में कोई सन्देह नहीं था। पंजाब में किसी एक दल का बहुमत नहीं था, पर लीग के अधिक मेम्बर चुने गये थे। वहाँ काँग्रेस, सिख और युनियनिस्ट-पार्टी—तीनों मिलकर लीग से ज्यादा थे। इसलिए वहाँ इन तीनों की सम्मिलित पार्टी बन गयी और मंत्रिमण्डल इनका ही बना, लीग का नहीं। सिन्ध में लीग और दूसरे दलों का प्रायः बराबरी का मुकाबला था। कहा जाता था कि लीग के साथ तीन अँगरेज मेम्बरों के मिल जाने पर भी दूसरों का एक या दो अधिक बहुमत था। पर सिन्ध के गवर्नर ने लीग को ही मिनिस्ट्री बनाने का निमंत्रण दिया। वहाँ लीगी मिनिस्ट्री बनी जिसके सम्बन्ध में अब भी कहा जाता

उसके साथ बहुमत नहीं है। केवल एक बंगाल में ही युरोपियनों के साथ मिलकर
ा बहुमत था। वहाँ भी लीगी मिनिस्ट्री बनी। बाकी सभी सूबों में काँग्रेसी
डल बने। बिहार में पुराने चारों मिनिस्टर आरम्भ में नियुक्त हुए। श्री
ल चौधरी १० बरस की सजा पाकर जेल में थे, इसलिए चुनाव में खड़े नहीं हुए
ो बाबू, अनुग्रह बाबू और डाक्टर महमूद अपनी नियुक्ति होते ही उनको जेल
काल लाये और चौथी जगह पर उनको नियुक्त करा दिया। कुछ दिनों के बाद
मेनिस्टर और भी नियुक्त किये गये। इस बार बिहार में नव मिनिस्टर काम
हे हैं।

१५६—गो-सेवा-सम्बन्धी कार्य

महात्मा गांधी बहुत दिनों से गो-सेवा-सम्बन्धी अपने विचार प्रकाशित करते
हे हैं। साबरमती-आश्रम में और सेवाग्राम में भी गोशालाएँ चलती आयी हैं।
जमनालाल बजाज की देख-रेख में, वर्धा के पास ही नालवाड़ी में, श्री राधाकृष्ण
ज कई बरसों से गोशाला चला रहे हैं। पारनेरकरजी ने गांधीजी के विचारों के
ार गो-सेवा का विशेष अध्ययन और सक्रिय अनुभव प्राप्त किया है। अपने मरने
ुछ दिन पूर्व सेठ जमनालालजी ने गो-सेवा को अपना एक मुख्य कार्यक्षेत्र बना
ा था। उन्होंने वर्धा में इसके लिए नालवाड़ी की गो-शाला को केन्द्र बनाकर एक
ा कायम कर ली थी। इसकी स्थापना के समय वहाँ एक सम्मेलन हुआ था
में विशेषज्ञ लोग दूर-दूर से आमंत्रित होकर आये थे। मैं भी हाजिर था।
ब प्रवृत्तियों का कुछ-कुछ अध्ययन करता आया था। पर गो-सेवा पर मैंने विशेष
न नहीं दिया था। मैं इसके महत्त्व और उपयोगिता को भली भाँति समझ गया
पर कोई सक्रिय अनुभव मैंने नहीं पाया था। श्री वालुंजकर द्वारा संचालित नाल-
ी के चर्मालय को भी जानता था। जब-तब वहाँ जाकर उसे देख आया करता था।
ाला के साथ चर्मालय के सम्बन्ध को समझता भी था। इस विषय पर जब-तब
लेख भी लिखे थे। गोशालाओं को, विशेषकर दरभंगे की गोशाला को, इस
र प्रवृत्त करने का प्रयत्न भी किया था। इतना होते हुए भी मैं गो-सेवा-संघ का
स्य नहीं बना था और न ऐसी किसी संस्था के साथ कोई विशेष सम्बन्ध ही
ड़ा था।

१९४६ के आरम्भ में वर्धा से श्री जानकीदेवी बजाज और श्री राधाकृष्ण
ाज का पत्र आया कि इस बार के गो-सेवा-सम्मेलन का मैं सभापति बनूँ। उसमें
भी लिखा था कि पूज्य बापूजी की भी इच्छा है कि मैं यह पद स्वीकार करूँ।
तो श्री जानकीदेवी जी का कहना ही काफी था, तिस पर पूज्य बापू की आज्ञा!
ं स्वीकार कर लिया। ठीक समय पर वर्धा पहुँच भी गया। वहाँ पद के भार को
ालने के लिए इस विषय पर कुछ विशेष ध्यान देना पड़ा। सम्मेलन में अच्छे-
च्छे विशेषज्ञ आये थे, जिनमें सर दातार सिंह, लाला हरदेवदास (हिसार, पंजाब)

और मध्यप्रान्त के सरकारी विशेषज्ञ श्री शाहीजी मुख्य थे। वहीं पर सब बातों को देख-सुनकर और बिहार से गये हुए दरभंगा-गोशाला के प्रतिनिधि से बातें करके यह निश्चय कर लिया गया कि इस तरह का काम बिहार में भी किया जाय तथा इसके लिए एक प्रान्तीय गो-सम्मेलन किया जाय। इसी निश्चय के अनुसार पटने में एक गो-सम्मेलन हुआ जिसमें बिहार की सभी गोशालाओं की ओर से प्रतिनिधि आये। इनके अतिरिक्त दूसरे लोग भी आये। सर दातारसिंह, लाला हरदेवसहाय, दिल्ली के सैयद रहीमतुल्लाह काजी (हिन्दू-मुस्लिम गो-रक्षा-सभा के सभापति), रावलपिंडी के नजीर अहमद शरवानी और बिहार-गवर्नमेण्ट के विशेषज्ञ लोग, जो गो-सेवा में दिलचस्पी रखते हैं, आये। मैं ही सभापति बनाया गया। भागलपुर के रायबहादुर वंशीधर ढानढनिया स्वागताध्यक्ष थे। पटना सिटी की गोशाला में सम्मेलन हुआ। श्री जानकीदेवीजी भी पधारीं।

मैंने विषय का विशेष अध्ययन करके एक लम्बा भाषण लिखा। विशेषज्ञों ने तथा दूसरों ने उसे बहुत पसन्द किया। सम्मेलन ने निश्चय किया कि सूबे भर की गोशालाओं और पिंजरापोलों का एक संघ कायम किया जाय, उसके साथ सभी गोशालाओं को सम्बद्ध हो जाना चाहिए, संघ का एक स्थायी दफ्तर भी रहना चाहिए जिसकी रजिस्ट्री करा ली जाय और संघ के दफ्तर की देखरेख में नमूने के लिए एक आदर्श गोशाला खोली जाय। इन्हीं निश्चयों के अनुसार दफ्तर खुल गया। सदाकत-आश्रम में एक छोटी गोशाला भी हो गयी। उसको बढ़ाकर आदर्श गोशाला का रूप देने का प्रयत्न किया जा रहा है। आशा है कि दरभंगा-गोशाला के प्रबन्धक श्री धर्मपालसिंह के परिश्रम और लगन से यह काम आगे बढ़ निकलेगा। यह एक नया काम है। इसका भार मैंने उन मित्रों के भरोसे पर लिया जिन्होंने इसमें काफी दिलचस्पी दिखलायी है।

मैं गो-सेवा को धार्मिक दृष्टि से नहीं फैलाना चाहता। भारत की आर्थिक स्थिति को ध्यान में रखकर ही इसकी आवश्यकता और उपयोगिता को समझता हूँ। इसी तरह से हम इसमें उनकी भी मदद पा सकते हैं जिनमें इसके लिए वैसी धार्मिक भावना नहीं है जैसी हिन्दुओं, जैनों और सिखों में पायी जाती है। मैं मानता हूँ कि यही आर्थिक लाभ और उपयोगिता की भावना कुछ काम कर सकती है और सफल भी हो सकती है। निरी धार्मिक भावना मुसलमानों में द्वेष और हिन्दुओं में आडम्बर तथा दम्भ पैदा करती है जिससे सच्ची गो-रक्षा और गो-सेवा पीछे रह जाती है और दिखावे की मात्रा बढ़ जाती है। इसलिए, मैंने अपने भाषण में भी आर्थिक दृष्टिकोण से ही इस पर विचार किया। मैंने बतलाया कि कृषि-प्रधान देश में गो-जाति और गोवंश का कितना महत्त्व है—किस तरह हम अपने अन्धविश्वास और अज्ञान के कारण उसकी सेवा के बदले उसका अहित कर रहे हैं—दूसरों की सहानुभूति प्राप्त करने के बदले उनका द्वेष एवं विरोध मोल ले रहे हैं। हमारा विश्वास है कि ठीक तरह से, वैज्ञानिक रीति से, यदि इस विषय का अध्ययन और प्रचार किया जाय तो हम निस्संदेह सबकी सहानुभूति और मदद पा सकते हैं।

उदाहरण के लिए एक मोटी बात ही ले लीजिए। साल भर में बकरीद एक या दो दिन हुआ करती है। उसी दिन जहाँ-तहाँ मुसलमान कुछ गौओं की कुर्बानी किया करते हैं। इसके लिए बहुत जगहों पर काफी खून-खराबा हो जाया करता है। पर हिन्दुओं की दृष्टि इस ओर नहीं जाती कि कसाईखानों में रोज-रोज हजारों गायें कत्ल की जाती हैं---विशेषकर लश्करी छावनियों के लिए तो अच्छी-अच्छी गायें ही कत्ल की जाती हैं। इस महायुद्ध में विदेशी फौजों के लिए तो न मालूम हिन्दुस्तान के कितने जानवर कत्ल कर दिये गये। धार्मिक प्रवृत्ति से प्रभावित होकर कुर्बानी करनेवालों के साथ तो इतनी सख्ती और पेट या जीभ के लिए अथवा कुछ पैसे कमाने के लिए कत्ल करने या करानेवालों को कोई पूछता भी नहीं! बूढ़ी, लँगड़ी और बेकार गायों की रक्षा के लिए गोशालाओं में करोड़ों रुपये खर्च किये जा रहे हैं; पर इस ओर किसी का ध्यान ही नहीं जाता कि गायें किस तरह एक मुनाफा देनेवाला जानवर बना दी जायँ कि उन्हें किसी हिन्दू या गैर-हिन्दू को न तो बेचने की जरूरत रहे और न कत्ल करने की। आज तो गाय के दूध और बछड़े से जो कुछ मिल सकता है उससे अधिक उसे वध के लिए बेच देने से मिल सकता है। जो वध करने के लिए उसे खरीदता है वह उसके मांस, चमड़े, हड्डी, चर्बी और सींग से उससे अधिक पैदा कर सकता है जो वह उसे पालकर उसके दूध-बछड़े इत्यादि से पैदा कर सकेगा। इन्हीं कारणों से गो-सेवा में आस्था रखनेवाले हिन्दू भी वध के लिए गाय बेच डालते हैं और वध करनेवाले उसे खरीद लेते हैं। मेरा विश्वास है कि गाय यदि शास्त्रीय ढंग से पाली-पोसी जाय; उसके दूध की वृद्धि की जाय; उसके गोबर-मूत्र इत्यादि का ठीक इस्तेमाल किया जाय; उसके मर जाने पर उसके चमड़े, मांस, चर्बी, पुट्ठे, हड्डी, सींग इत्यादि का ठीक उपयोग किया जाय; तो गोपालन नुकसान के बदले मुनाफा देनेवाला पेशा हो जाय।

इसी विचार और ध्येय को सामने रखकर काम करना है। केवल बहुत दूध देनेवाली गाय, जिसके बछड़े हल जोतने और गाड़ी खींचने के काम के योग्य न हों, ऐसे ही देशों में काम दे सकती है जहाँ बैलों से मांस-लाभ के सिवा दूसरा काम नहीं लिया जाता---जहाँ बछड़े भी केवल मांस के लिए ही पाले जाते हैं, जैसे हिन्दुस्तान में खस्सी। पर हिन्दुस्तान में---जहाँ लोग गो-मांस नहीं खाते, जहाँ बैलों से दूसरे बहुत-से आवश्यक काम लिये जाते हैं, जहाँ बैलों के बिना किसान का कोई काम चल ही नहीं सकता---हमें ऐसी गायें चाहिए जो काफी दूध भी दें और अच्छे बछड़े भी। यह तो नस्ल पर ध्यान देने से ही हो सकता है। हमारे देश के लोग इस विषय पर काफी ध्यान देते थे। वे जरूरत के मुताबिक मवेशी भी पैदा कर लेते थे। आज भी हम देख सकते हैं कि एक नस्ल के जानवर बहुत बोझ ढो सकते हैं और बहुत परिश्रम के काम भी कर सकते हैं; पर वे बहुत तेज भाग नहीं सकते। दूसरे प्रकार के जानवर बहुत तेज भाग सकते हैं; पर उतना बोझ नहीं ढो सकते और न उतना अधिक परिश्रम ही कर सकते हैं जितना पहले प्रकार के। कुछ गायें ऐसी हैं जो बहुत दूध देती हैं;

पर उनके बछड़े उतने अच्छे नहीं होते। कुछ ऐसी हैं जिनके बछड़े तो अच्छे होते हैं, पर वे अधिक दूध नहीं देतीं। भारत का किसान एक गाय दूध के लिए और दूसरी बछड़े के लिए नहीं रख सकता। उसको तो एक ही गाय से दोनों काम लेना है। इसलिए हमको ऐसी नस्लों को ही प्रोत्साहन देना होगा जो इन दोनों उद्देश्यों की पूर्ति में सहायक हो सकें। इस प्रकार की गोशालाएँ हो जायँ जो अधिक दूध देनेवाली गायें रखें—जिनसे अच्छे काम लायक बछड़े भी पैदा हो। यदि गो-सेवा का ठीक प्रबन्ध किया जाय तो गाय मुनाफा देनेवाली हो जायगी—उसका वध खुदबखुद बन्द हो जायगा। साथ ही, जो गायें बूढ़ी और कमजोर पड़ जायँगी उनकी रक्षा भी, अच्छी गायों के दिये हुए मुनाफे से तथा उनके अपने मांस-चाम इत्यादि के दाम से, हो सकेगी। ऐसी अवस्था में ही गो-रक्षा और गो-सेवा में मुनाफा और गोवध में नुकसान होगा। तभी सब लोग—चाहे वे हिन्दू हों या मुसलमान, धार्मिकभावना से उत्तेजित हों अथवा स्वार्थभावना से प्रेरित—गोरक्षा के काम को अपना हितकर काम मानने लगेंगे। तभी सच्ची गो-सेवा और यथार्थ गो-रक्षा हो सकेगी।

१५७—भारतीय इतिहास-परिषद्

मैंने ऊपर कहा है कि जेल जाने के पहले, १९४२ में, वर्धा से लौटते समय, इतिहास-परिषद् की बैठक के लिए मैं काशी में उतर गया था। उस समय इतिहास लिखने का काम कई सज्जनों के सपुर्द किया जा चुका था। कहा जाता था कि अकबर-सम्बन्धी एक जिल्द करीब-करीब तैयार है। १९४२ में अकबर के जन्म के ४०० बरस पूरे होते थे। ऐसा विचार था कि अकबर के जन्म-दिन पर यह खण्ड प्रकाशित हो जाय। जेल जाने के समय तक ऐसा होने में काफी अड़चनें आ गयी थीं। छपाई और कागज की दिक्कत तो थी ही, बमबाजियों के कारण कलकत्ता-मद्रास आदि शहरों से पुस्तकालयों और संग्रहालयों के सामान भी जहाँ-तहाँ सुरक्षित स्थानों में हटा दिये गये थे। इस कारण, सहायक-ग्रंथों के अभाव से, पुस्तक लिखने में भी कठिनाई उपस्थित हो गयी थी। तो भी मैं आशा करता था कि पुस्तक प्रकाशित हो सकेगी, पर ऐसा हो नहीं सका। मेरी गिरफ्तारी के कुछ दिनों बाद श्री जयचन्द्र विद्यालंकार भी गिरफ्तार करके नजरबन्द कर दिये गये। इससे सब काम रुक गया। मेरे बाहर निकलने के कुछ पहले ही सर यदुनाथ सरकार और श्री मथुराप्रसाद ने चाहा कि इतिहास-प्रकाशन का काम फिर चलाया जाय। विद्वानों ने कुछ लिख डाला ही था, सिर्फ प्रकाशन की बात थी। दो जिल्दें तैयार थीं। बम्बई के भारतीय विद्या-मन्दिर के संचालक श्री कन्हैयालालजी मुन्शी से कुछ बात चली कि प्रकाशन का भार विद्या-मन्दिर ले लें; पर अन्त में कुछ तय न हो सका। इसलिए यह प्रबन्ध किया गया कि दो जिल्दें जो तैयार हो गयी थीं वे प्रकाशित कर दी जायँ—डाक्टर रमेशचन्द्र मजुमदार और डाक्टर अलटेकर-लिखित 'वाकाटक'-युग-सम्बन्धी छठी जिल्द तथा श्री नीलकंठ

शास्त्री-लिखित गुप्त-कालीन चौथी जिल्द। छठी जिल्द छापाखाने में भेज दी गयी थी। जेल से निकलते ही मैंने सोचा कि इस काम में विलम्ब नहीं होने देना चाहिए। सिमले से लौटते ही मैं कलकत्ते गया। वहाँ सर यदुनाथ सरकार तथा डाक्टर मजुमदार से भेंट की। सब बातें तय हुईं। एक बार और इसी सम्बन्ध में चन्द घंटों के लिए कलकत्ते में ठहरा। छठी जिल्द तो प्रकाशित हो गयी और चौथी अभी छापाखाने में है।

कुछ दिनों बाद श्री जयचन्द्र विद्यालंकार जेल से रिहा हुए। मैंने समझा कि अब काम तेजी से आगे बढ़ेगा। पर कुछ कारणों से सर यदुनाथ सरकार रुष्ट हो गये। उन्होंने इस्तीफा दे दिया। बहुत कहने पर भी उन्होंने उसे वापस नहीं लिया। श्री जयचन्द्र विद्यालंकार भी अभी तक इस काम को पूरी तरह अपने हाथों में नहीं ले पाये हैं। इसलिए काम रुका पड़ा है। मैं इस काम में श्री जयचन्द्रजी की प्रेरणा से, अपने स्वर्गीय मित्र श्री काशीप्रसाद जायसवाल की स्मृति के प्रति श्रद्धा के कारण, पड़ा था। इतिहास में दिलचस्पी रखते हुए भी अन्य कामों का इतना बोझ था कि यदि ये बातें न होतीं तो मैं शायद अपनी प्रेरणा से यह बोझ न उठाता। तिस पर सर यदुनाथ सरकार का प्रोत्साहन मिला। आज कुछ ऐसी स्थिति हो गयी है कि यह मालूम ही नहीं होता कि यह काम कब पूरा हो सकेगा। पर इसे तो पूरा करना ही है। सभी विघ्न-बाधाओं के रहते हुए भी इसे पूरा कराना होगा। आगे ईश्वर जाने।

१५८—१९४६ की घोषणा और सरकारी योजना

१९४६ के मार्च में ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की ओर से घोषणा हुई कि भारत के मसले को सुलझाने के लिए भारत-मंत्री लार्ड पेथिक लारेन्स, सर स्टैफर्ड क्रिप्स और मिस्टर ए० बी० अलेक्जेण्डर भारत आवेंगे और यहाँ के नेताओं तथा वाइसराय से बातें करेंगे। इस बात की घोषणा करते हुए प्रधान मंत्री मिस्टर क्लिमेण्ट एटली ने यह भी कहा कि यद्यपि अल्पसंख्यक लोगों के स्वत्वों की रक्षा का प्रबन्ध किया जायगा, तथापि किसी अल्पसंख्यक दल को भारतीय राजनीतिक प्रगति में बाधा नहीं डालने दिया जायगा और इँगलैंड इस बात के लिए तैयार है कि हिन्दुस्तान आजाद हो जाय—इँगलैंड यह जरूर चाहता है कि हिन्दुस्तान उसके साथ रहे, पर यह निश्चय करने का अधिकार कि वह साथ रहेगा या एकदम अलग हो जायगा हिन्दुस्तान को ही होगा। इस प्रकार घोषणा बहुत अंशों में सन्तोषजनक मालूम हुई। थोड़े ही दिनों के बाद मंत्रिमण्डल के तीनों सदस्य पहुँच गये। वाइसराय से तथा गवर्नमेण्ट के दूसरे उच्च कर्मचारियों से बातें करने के बाद उन्होंने भिन्न दलों के प्रमुख लोगों से बातें शुरू कीं। काँग्रेस के अध्यक्ष मौलाना आजाद तथा महात्मा गांधी से भी उनकी बातें हुईं। इस तरह सब दलों के लोगों से बातें करते बहुत दिन लग गये। तब उन्होंने काँग्रेस के प्रेसिडेण्ट और लीग के प्रेसिडेण्ट को लिखा कि वे अपने-अपने चार-चार प्रतिनिधि

दें जिनके साथ बैठकर वे सिमले में बातें करना चाहते हैं। दोनों पक्षों के आठ आदमी और वाइसराय को मिलाकर वे चार आदमी सिमले में एकत्र हुए। कई दिनों तक बातें होती रहीं, पर कुछ फल नहीं निकला। इस पर उन्होंने कान्फ्रेन्स खत्म करके घोषणा की कि दिल्ली में वे देश के सामने अपनी योजना रखेंगे। सब लोग दिल्ली वापस आ गये। दिल्ली लौटकर उन लोगों ने गवर्नमेण्ट की ओर से १६ मईवाला वक्तव्य निकाला जिसमें अपनी योजना देश के सामने रखी।

योजना के मुख्य तीन भाग थे। पहले में युक्तियुक्त कारणों के साथ उन्होंने मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को अव्यवहार्य्य बतलाया और कहा कि यह नहीं हो सकता है—इसलिए भारत का विधान ऐसा होगा कि उसमें भारत के सूबों का एक संघ बनेगा जिसमें देशी रियासतें भी शरीक हो सकेंगी; इस केन्द्रीय संघ के अधिकार में तीन विभाग होंगे—फौज और बचाव, विदेशों के साथ सम्बन्ध रखनेवाले मामले, रेल-तार इत्यादि; इन तीनों विभागों के लिए जो रुपयों की जरूरत हो उसको वसूल कर लेने का अधिकार भी होगा—अन्य विषयों में सूबों को स्वतन्त्रता रहेगी। जो ऐसे विषय हैं जिनका कहीं जिक्र न हो और जो बच गये हों वे सब सूबों के अधिकार में होंगे। दूसरे भाग में उस विधान-निर्माण-समिति की योजना बतलायी गयी, जिसके जिम्मे विधान बनाने का काम सपुर्द किया जायगा। तीसरे में तत्काल गवर्नमेण्ट कायम करने की बात कही।

वक्तव्य में यह स्पष्ट कह दिया गया था कि भारतवर्ष को अधिकार होगा कि वह यदि चाहे तो ब्रिटिश साम्राज्य से अपने को अलग कर सकता है। विधान-निर्माण-समिति के संगठन का रूप निम्नलिखित प्रकार का होगा। सभी प्रान्तों की असम्बलियाँ अपने-अपने प्रान्त की आबादी के प्रत्येक १० लाख पर एक आदमी को चुन लेंगी और ये लोग ही विधान-निर्माण-समिति के सदस्य होंगे। उस चुनाव में मुसलमान सदस्य तथा पंजाब में सिख सदस्य अपनी जाति के प्रतिनिधि अलग-अलग वोट देकर चुनेंगे। बाकी सब लोग इकट्ठे ही वोट देकर प्रतिनिधि चुनेंगे। दिल्ली-अजमेर-मेरवार के प्रतिनिधि वे ही लोग समझे जायँगे जो वहाँ से चुनकर इस समय केन्द्रीय असम्बली में भेजे गये हैं और कुर्ग तथा बलूचिस्तान के प्रतिनिधि अलग से चुन लिये जायँगे। ये लोग मिलकर देशी रजवाड़ों के प्रतिनिधियों से बात करके तय कर लेंगे कि उनके कैसे और कौन प्रतिनिधि होंगे। उनकी संख्या भी १० लाख आबादी पर एक प्रतिनिधि के अनुपात में ही होगी। इस प्रकार ब्रिटिश भारत के कुल २९२ प्रतिनिधि होंगे जिनमें २१० गैर-मुस्लिम, ७८ मुस्लिम और ४ सिख होंगे। सूबे तीन भागों में विभक्त होंगे। पहले विभाग में मद्रास, बम्बई, युक्तप्रान्त, बिहार, मध्यप्रान्त और उड़ीसा होंगे। दूसरे विभाग में पंजाब, पश्चिमोत्तर सीमाप्रान्त, सिन्ध और बलूचिस्तान तथा तीसरे विभाग में बंगाल और आसाम होंगे। ब्रिटिश भारत की विधान-निर्माण-समिति की प्रारम्भिक बैठक में सभी सदस्य शरीक होंगे। उस बैठक में सभापति इत्यादि पदाधिकारी चुन लिये जायँगे और कार्यपद्धति निश्चित कर ली

जायगी। इसके बाद तीनों विभागों के सदस्य अलग-अलग बैठेंगे। उनमें से प्रत्येक अपने विभाग में सम्मिलित सूबों के लिए विधान तैयार करेगा। तब वह इस बात का निश्चय करेगा कि उस विभाग के लिए किसी सम्मिलित विधान की भी आवश्यकता है या नहीं, और यदि है तो उसके क्या विषय होंगे और उसका क्या रूप होगा। अन्त में विधान-निर्माण-समिति की फिर बैठक होगी जिसमें देशी रजवाड़ों के प्रतिनिधि भी शरीक होंगे और अखिल भारतीय संघ का विधान तैयार किया जायगा। विधान तैयार हो जाने के बाद जब उसके अनुसार प्रान्तों की असम्बलियों का चुनाव हो जायगा तब प्रत्येक सूबे को अधिकार होगा कि वह यदि चाहे तो अपनी असम्बली के वोट से जिस विभाग में वह सम्मिलित किया गया है उसमें शरीक न रहकर अलग हो जाय। अल्पसंख्यक जातियों के स्वत्व-संरक्षण के लिए एक अलग समिति बनायी जायगी जिसमें उनके प्रतिनिधि रहेंगे और जो संरक्षण के उपाय और तरीके बतावेगी; उसके निश्चयों पर विधान-निर्माण-समिति विचार करके विधान में उचित प्रबन्ध रखेगी। तत्काल के लिए वाइसराय फिर नये सिरे से अपनी कौन्सिल की नियुक्ति करेंगे और उसमें यथासाध्य भारत के विभिन्न दलों के प्रतिनिधियों को रखेंगे। यद्यपि १९३५ का विधान आज बदला नहीं जायगा और उसके अनुसार वाइसराय के हाथों में ही अन्तिम अधिकार रहेंगे तथापि जहाँ तक हो सकेगा, कौन्सिल की राय से ही काम चलाया जायगा और उसमें यथासाध्य हस्तक्षेप नहीं होगा।

इस योजना में किसी भी दल की सभी माँगें मंजूर नहीं की गयी थीं और न सब एकबारगी नामंजूर ही की गयी थीं। सब दलों को कुछ न कुछ देकर खुश करने का प्रयत्न किया गया था! लीग की पाकिस्तान की माँग नामंजूर तो की गयी थी, पर उसके साथ ही सूबों को इस तरह तीन विभागों में बाँट दिया था कि जिन सूबों को मुस्लिम लीग पाकिस्तान में मिलाना चाहती थी उनको दो विभागों में रख दिया था और बाकी सूबों को अलग एक विभाग में। पाकिस्तान की नामंजूरी से लीग नाखुश और दूसरे लोग सन्तुष्ट थे; पर इस प्रकार सूबों का विभाजित होना लीग को पसन्द था और वह इस विभाजन में पाकिस्तान के बीज देखने लगी। दूसरे लोग इस विभाजन को नापसन्द करते थे और इसमें पचरी की उस बारीक नोक को देखते थे जो आगे चलकर आहिस्ता-आहिस्ता घर करती हुई शायद फिर पाकिस्तान का रूप धारण कर लेगी। इस बात से यह विरोध और भी तेज हो जाता था कि इन दोनों मुस्लिम विभागों में पंजाब और बंगाल के वे अंश भी शरीक रखे गये थे जिनमें हिन्दुओं की बहुत अधिक आबादी थी तथा आसाम का सूबा भी उसमें शरीक किया गया था, यद्यपि आसाम में मुसलमानों की आबादी एक-तिहाई से अधिक नहीं है।

इस योजना पर विचार करने के लिए वर्किंग कमिटी की बैठक कई दिनों तक होती रही। बीच-बीच में कैबिनेट-मिशन और वाइसराय से काँग्रेस-प्रेसिडेण्ट तथा कभी-कभी कुछ दूसरे मेम्बरों की मुलाकात भी होती रही। वर्किंग कमिटी ने योजना की उन त्रुटियों की ओर ध्यान आकर्षित किया जिनको वह महत्त्वपूर्ण समझती

थी। उसने यह राय जाहिर की कि उसके मत के अनुसार सूबे बाध्य नहीं हैं कि उन विभागों में वे सम्मिलित हों जिनमें वे जोड़ दिये गये थे। यह तो जाहिर था कि विधान बन जाने के बाद प्रत्येक सूबे को अधिकार होगा कि अपनी असम्बली की राय से वह उस विभाग से अलग हो जाय; पर वर्किंग कमिटी का कहना था कि उसके अलावा विधान बनाने के लिए विभागों की अलग बैठक में शरीक न होने का भी प्रत्येक सूबे को अधिकार है। सूबा सरहदी और आसाम, दोनों ही, जबरदस्ती विभाग में मिलाये जाने के विरुद्ध थे—इसलिए उनको यह अधिकार मिलना चाहिए कि वे आरम्भ से ही विभागों से अलग रह सकें। वर्किंग कमिटी का कहना था कि सारी योजना के पढ़ने से यही अर्थ निकलता था।

मिशन ने अपनी सम्मति दी कि उसका इरादा ऐसा नहीं था कि आरम्भ से ही सूबे शरीक न हों, पर विधान बनने के बाद सूबों को अलग हो जाने का अवश्य अधिकार था।

वर्किंग कमिटी अपनी राय पर डटी रही। उसने निश्चय किया कि अपनी राय के अनुसार वह योजना काम में लायेगी। उधर मुस्लिम लीग ने योजना की कड़ी समालोचना की। कहा कि पाकिस्तान नामंजूर करना न्याययुक्त नहीं, पर तो भी सूबों के विभाजन में वह पाकिस्तान का अंकुर देखती है और अपने ध्येय-साधन के लिए वह योजना को मंजूर करती है।

इसके बाद कुछ दिनों तक तात्कालिक गवर्नमेण्ट के सम्बन्ध में बातचीत चलती रही। शुरू में वाइसराय की राय थी कि १२ आदमियों की गवर्नमेण्ट बने जिनमें ५ मुसलमान, ५ हिन्दू और दो दूसरे हों। कांँग्रेस को यह बात किसी तरह मंजूर नहीं थी। एक तो, हिन्दुओं और मुसलमानों की संख्या बराबर होती थी, यद्यपि हिन्दुओं की संख्या आबादी में मुसलमानों की संख्या से तिगुनी है। दूसरे, सिमला-कान्फ्रेन्स के समय, १९४५ की जुलाई में, लार्ड वेवल की योजना में, ५ मुसलमान और हरिजन-प्रतिनिधि के अलावा, ५ हिन्दुओं को स्थान दिया गया था और दूसरे अल्पसंख्यकों की संख्या भी दो से अधिक थी। इस तरह, केवल हिन्दू-मुस्लिम समानता का ही सवाल न था, बल्कि लार्ड वेवल के प्रस्ताव से भी यह कहीं अधिक बुरा था। वेवल-प्रस्ताव को भी कांँग्रेस ने, लड़ाई का जमाना होने के कारण, किसी तरह, मंजूर कर लिया था। अब वह लड़ाई का जमाना भी नहीं था। उस दबाव से कांँग्रेस इस समय मुक्त थी, तो वह इसे कैसे मंजूर कर सकती थी? कांँग्रेस का विचार था कि १५ सदस्यों की गवर्नमेण्ट जब बनेगी तभी अल्पसंख्यकों के यथेष्ट प्रतिनिधि लिये जा सकेंगे और सबको सन्तुष्ट किया जा सकेगा।

वाइसराय ने १२ के बदले १३ की गवर्नमेण्ट बनाने की बात कही जिनमें ५ मुसलमान, एक हरिजन, ५ दूसरे हिन्दू और दो अन्य अल्पसंख्यकों के प्रतिनिधि होते। कांँग्रेस ने इसे भी नामंजूर कर दिया। तब मिशन और वाइसराय ने विज्ञप्ति निकाली

कि कॉंग्रेस और लीग दोनों की राय से गवर्नमेण्ट बनाने का प्रयत्न विफल हो गया—अब वे अपनी ओर से प्रस्ताव रखेंगे। तारीख १५-६-४६ को उनका प्रस्ताव प्रकट किया गया, जिसमें उन्होंने चौदह आदमियों के नाम दिये, जिनको वाइसराय ने गवर्नमेण्ट में शरीक होने का निमंत्रण दिया। इनमें पाँच लीगी मुसलमान, पाँच कॉंग्रेसी गैर-हरिजन हिन्दू, एक कॉंग्रेसी हरिजन, सिख, एक ईसाई और एक पारसी के नाम थे। बातचीत के दरम्यान वाइसराय ने पंडित जवाहरलालजी से, जो कभी-कभी वहाँ आया-जाया करते थे, नाम पूछे थे। उन्होंने कुछ नाम बताये भी थे। हरिजन और दूसरे कॉंग्रेसी लोगों के, एक के सिवा, वही नाम थे जो पंडितजी ने बताये थे—ईसाई और सिख के भी नाँम उनके बताये हुए ही थे—मुसलमानों में भी चार नाम वही थे जो पंडितजी ने बताये थे। पर एक गैरलीगी मुसलमान के नाम के बदले में लीगी मुसलमान का नाम और एक कॉंग्रेसी हिन्दू के बदले में दूसरे कॉंग्रेसी हिन्दू का नाम तथा एक पारसी का नया नाम वाइसराय ने दिया था।

हम इस बात पर विचार कर ही रहे थे कि यह प्रस्ताव स्वीकार किया जाय या नहीं कि इसी बीच में मिस्टर जिन्ना से वाइसराय की बातें हुईं और उनके कहने पर वाइसराय ने उनकी कई बातें मान लीं जो पत्रों में किसी न किसी तरह प्रकाशित हो गयीं। इस पर हम लोग चिहुँक गये! माँगने पर वाइसराय ने अपने पत्र के उस अंश की नकल भेज दी जिसमें मिस्टर जिन्ना की माँगों को उन्होंने मंजूर किया था। इसमें महत्त्व की बातें यह थीं कि १४ से अधिक गवर्नमेण्ट की संख्या नहीं होगी—अल्पसंख्यकों की जो जगहें खाली होंगी उनकी नियुक्ति में लीग की राय ली जायगी—गवर्नमेण्ट कोई ऐसा काम नहीं करेगी जिसमें लीग का बहुमत भी शरीक न हो। इस तरह, गवर्नमेण्ट के संगठन में ही नहीं, उसकी प्रतिदिन की कारंवाइयों में भी लीग की अनुमति के बिना कुछ न हो सकेगा। जब हमारे दिये हुए गैर-लीगी मुसलमान के नाम को वाइसराय ने छाँट दिया और यह साफ हो गया कि पाँच लीगी मुसलमानों की संख्या में कमी न हो सकेगी, तो वर्किंग कमिटी यह विचार करने लगी कि कांग्रेस अपनी पाँच जगहों में से एक में किसी राष्ट्रीय विचारवाले मुसलमान का नाम दे। हम ऐसा सोच ही रहे थे कि वाइसराय का पत्र मिल गया कि मुसलमान का नाम कांग्रेस न दे, क्योंकि उसकी मंजूरी नहीं हो सकेगी। वर्किंग कमिटी इस स्थिति को कभी मंजूर नहीं कर सकती थी; क्योंकि इसके मंजूर करने का अर्थ हो जाता था कि कॉंग्रेस केवल हिन्दुओं की जमायत है और केवल मुस्लिम लीग को ही मुसलमानों का प्रतिनिधित्व प्राप्त है।

सब बातों पर विचार करके वर्किंग कमिटी ने तात्कालिक गवर्नमेण्ट बनाने की १६-६-४६ वाली योजना को नामंजूर कर दिया। अब उसके सामने प्रश्न यह था कि विधान-निर्माण-समिति-सम्बन्धी योजना के बारे में क्या किया जाय। उसके दोषों और त्रुटियों को हम बता चुके थे। उस योजना का जो अर्थ हम निकालते थे वह भी बता चुके थे। यह भी हम कह चुके थे कि अपने अर्थ के अनुसार ही हम उससे

काम लेंगे। इस प्रकार, यद्यपि अपनी सम्मति के अनुसार उससे काम निकालने की बात कहकर हम एक प्रकार से उसे मंजूर तो कर चुके थे; पर स्पष्ट शब्दों में दो-टूक फैसला करके साफ-साफ कुछ नहीं कहा था। इसलिए उस पर एक बार फिर विचार करने की जरूरत पड़ी। कमिटी में दो-एक आदमी छोड़कर, जो उसको मंजूर नहीं करना चाहते थे, बाकी सभी सदस्य उसे मंजूर करने के पक्ष में थे—विशेषकर महात्मा गांधी तो मंजूरी का जोरों से समर्थन कर रहे थे। इसी समय एक तार आसाम से आया जिसमें यह कहा गया था कि बंगाल में विधान-निर्माण-समिति के चुनाव के लिए जो नियम बनाया गया है उसके अनुसार प्रत्येक उमीदवार को प्रतिज्ञा करनी पड़ेगी कि वह समिति का सदस्य होना योजना की उस धारा के अनुसार मंजूर करता है जिसमें बहुतेरी दूसरी बातों के साथ-साथ सूबों के तीन विभागों का भी जिक्र है। इस तार के प्रेषक ने यह अर्थ निकाला था कि उमीदवारों को पहले से ही विभागों को मान लेने की प्रतिज्ञा कर लेनी पड़ेगी। आसाम, और हम सभी, विभागों में जाने के विरोधी थे ही। इसलिए कुछ शंका पैदा होने लगी, पर अभी कोई राय स्थिर नहीं हुई थी; क्योंकि नियम अभी तक पूरे देखे नहीं गये थे—यद्यपि, नमूने के तौर पर, भारत-सरकार की ओर से प्रान्तों में जो नियम भेजे गये थे उनकी नकल, हमारे पास भी, गवर्नमेण्ट ने भेज दी थी।

उस दिन का काम खत्म करने का समय हो गया था, इसलिए दूसरे दिन के विचार के लिए बात स्थगित कर दी गयी। सोचा गया कि इस बीच में हम लोग नियमों को भी भली भाँति देख लेंगे। महात्माजी के दिल में उक्त तार के कारण शंका हो गयी। प्रार्थना के समय भाषण में उन्होंने यह बात कह दी। इसका नतीजा यह निकलता था कि काँग्रेस उस योजना को भी मंजूर नहीं करेगी। दूसरे दिन हम लोग मिले। हम लोगों की राय में नियम का वह अर्थ नहीं निकलता था जो तार भेजनेवाले ने निकाला था। इस बीच में महात्माजी की, कैबिनेट-मिशन के लोगों से, भेंट हुई। उन्होंने भी यही कहा कि उस प्रतिज्ञा का अर्थ वह नहीं है; पर यदि किसी प्रकार से वह अर्थ निकलता हो और महात्माजी को नियम के शब्दों के कारण कोई नैतिक अड़चन मालूम होती हो, तो उसके शब्दों को भी वे बदलवा देंगे और साफ कर देंगे; क्योंकि उनका यह कभी आशय था ही नहीं।

नियम बदल भी दिया गया। हमने इसलिए उस योजना को मंजूर कर लिया। इस तरह अब स्थिति यह हो गयी कि काँग्रेस-वर्किंग कमिटी ने तारीख १६ मई (१९४६) वाली दीर्घकालीन योजना को मंजूर कर लिया। यद्यपि मंजूर करने में उसकी त्रुटियों को नजरअन्दाज नहीं किया और न जो अर्थ वह योजना का लगाती थी उसे ही छोड़ा तथापि उसने तारीख १६ जून (१९४६) वाली अन्तरकालीन गवर्नमेण्ट-सम्बन्धी योजना को नामंजूर कर दिया। यह निश्चय एक पत्र द्वारा, प्रस्ताव की नकल साथ भेजकर, मिशन और वाइसराय को बता दिया गया। उस तरफ लीग ने दीर्घकालीन योजना को पहले ही मंजूर कर लिया था और अन्तरकालीन योजना के सम्बन्ध

में काँग्रेस के फैसले का इन्तजार कर रही थी। उसी दिन वाइसराय से मि० जिन्ना की मुलाकात हुई जिस दिन काँग्रेस का फैसला वहाँ भेजा गया था। वाइसराय ने उनको हमारा पत्र दिखला दिया। तारीख १६ जून की योजना में एक बात यह लिखी थी कि अगर कोई दल उस योजना को नामंजूर कर दे तो भी वाइसराय अन्तरकालीन गवर्नमेण्ट बनाने के प्रयत्न को जारी रखेंगे और ऐसे दलों के प्रतिनिधियों की अन्तर-कालीन गवर्नमेण्ट बनावेंगे जिन्होंने १६ मई की योजना को मंजूर कर लिया हो। अब स्थिति यह थी कि काँग्रेस और लीग दोनों ही ने १६ मई की योजना मंजूर कर ली थी, इसलिए तारीख १६ जून की योजना की आठवीं दफा के अनुसार इन दोनों दलों के प्रतिनिधि लेकर ही वाइसराय अन्तरकालीन गवर्नमेण्ट बना सकते थे, और वह वैसा ही करना चाहते हैं—यह बात उन्होंने उसी मुलाकात में मि० जिन्ना से कह भी दी।

लीगवाले तो इसी उमीद में बैठे थे कि काँग्रेस ने अगर १६ जून की योजना नामंजूर कर दी तो अब अन्तरकालीन गवर्नमेण्ट में लीग की ही प्रधानता रहेगी और काँग्रेसी लोगों के उससे बाहर रह जाने से लीग के हाथों में ही अधिकार आ जायगा। मुलाकात के समय तक १६ जूनवाली योजना को लीग ने भी मंजूर नहीं किया था; क्योंकि वह काँग्रेस के फैसले का इन्तजार कर रही थी। वाइसराय की यह बात उनको खटकी, तो भी उन्होंने उसी रात को निश्चय किया कि लीग १६ जून की योजना भी मंजूर करती है। दूसरे दिन मिशन और वाइसराय ने घोषणा कर दी कि १६ जून की योजना काँग्रेस ने नामंजूर कर दी, इसलिए उसकी आठवीं दफा के अनुसार अब, काँग्रेस और लीग दोनों के प्रतिनिधियों को लेकर, वाइसराय अन्तरकालीन गवर्नमेण्ट बनायेंगे—पर चूँकि मिशन को तुरन्त इँगलैंड वापस जाना है और इसके बनने में कुछ विलम्ब हो सकता है, इसलिए तब तक केवल सरकारी अफसरों को लेकर ही काम-चलाऊ गवर्नमेण्ट बना ली जायगी। इस निश्चय के अनुसार मिशनवाले वापस चले गये। कामचलाऊ गवर्नमेण्ट बना ली गयी।

वाइसराय और मिशन के इस फैसले से लीग बहुत रुष्ट हुई। उसके प्रमुख लोगों ने कड़े-कड़े वक्तव्य दिये। लीग-कौन्सिल की एक बैठक बुलायी गयी। उन लोगों का कहना था कि काँग्रेस ने १६ मई की योजना को मंजूर नहीं किया है—उसकी इतनी कड़ी समालोचना की है और उसके अर्थ का ऐसा अनर्थ किया है कि वह नामंजूरी के बराबर है—उसने यह भी अपना इरादा बतला दिया है कि वह सूबों के विभाजन को नहीं मानती, जो उस योजना की मौलिक बात है और उसे तोड़ने के इरादे से ही वह विधान-निर्माण-समिति में जाना चाहती है। इस बीच में अखिल भारतीय कमिटी की बैठक बम्बई में हुई जिसमें नये चुनाव में निर्वाचित सभापति पंडित जवाहरलाल नेहरू ने अध्यक्ष-पद ग्रहण किया। वहाँ पर काँग्रेस-सोशलिस्ट-दल के विरोध के बाद भी कमिटी ने वर्किंग कमिटी के निश्चय का समर्थन कर दिया। इसके बाद सभी सूबों में असम्बलियों ने विधान-निर्माण-समिति के सदस्यों को चुन

लिया। इस चुनाव में काँग्रेस ने यह नीति बरती कि काँग्रेस के बाहर के भी प्रमुख लोगों को उसने चुनवाया। उनके अलावा कुछ और लोग भी चुने गये। मुसलमानों म प्राय: सभी प्रान्तों में लीगी सदस्य ही असम्बली में थे, इसलिए प्राय: लीगी सदस्य ही चुने गये, क्योंकि मुसलमान ही मुसलमान को चुन सकते थे। सीमाप्रान्त से तीन ही मुसलमान चुने जा सकते थे—मौलाना अबुल कलाम आजाद और खाँ अब्दुल गफ्फार खाँ चुने गये। युक्तप्रदेश में श्री रफी अहमद किदवई, दिल्ली से श्री आसफ-अली और बंगाल में श्री फजलुल हक, लीग के बाहर के लोगों में, चुने जा सके। बिहार में कोई मुसलमान नहीं चुना जा सका। डाक्टर अम्बेदकर बंगाल से चुने गये। मुख्य काँग्रेसी लोग और दूसरे नामी विधानवेत्ता तथा पुराने देशभक्त लोग चुने गये। इस प्रकार से विधान-निर्माण-समिति के सदस्य चुन लिये गये। इस चुनाव में लीग शरीक रही। उसके मेम्बरों ने अपने प्रतिनिधियों को चुना। मि० जिन्ना पंजाब से चुने गये।

चुनाव हो जाने के बाद लीग-कौन्सिल की बैठक हुई। उसने निश्चय किया कि लीग १६ मई और १६ जून की दोनों योजनाओं को नामंजूर करती है—अपने उन निश्चयों को, जिनमें ये मंजूर की गयी थीं, वापस लेती है। उसने यह भी निश्चय किया कि पाकिस्तान स्थापित करने के लिए वह सीधी कार्रवाई (Direct action) काम में लायेगी। उसने तब तक के लिए अपने मेम्बरों को आदेश दिया कि ब्रिटिश गवर्नमेण्ट की दी हुई उपाधियों को वे वापस कर दें। बैठक में गरमागरम भाषण हुए जो काँग्रेस और ब्रिटिश गवर्नमेण्ट दोनों के विरुद्ध थे। ऐसा मालूम हुआ कि वे दोनों से भिड़ेंगे। इसके बाद ही काँग्रेस वर्किंग कमिटी की बैठक वर्धा में हुई। उसने फिर साफ शब्दों में १६ जून की योजना मंजूर कर ली।

अब वाइसराय के सामने यह स्थिति आयी कि एक ओर काँग्रेस ने १६ मई-वाली योजना मंजूर की थी और १६ जूनवाली योजना नामंजूर। लीग ने अपनी कौन्सिल की बैठक में दोनों योजनाओं को नये सिरे से नामंजूर कर दिया था। इस-लिए १६ जून की ८वीं दफा के अनुसार लीग को छोड़कर अब अन्तरकालिक गवर्नमेण्ट बनाना लाजिमी हो गया। वाइसराय ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को अन्तरकालिक गवर्नमेण्ट के निमित्त अपने प्रस्ताव उपस्थित करने के लिए लिखा। पंडितजी ने मि० जिन्ना को दरमियानी गवर्नमेण्ट में शरीक होने के लिए निमंत्रण दिया, पर उन्होंने इससे इनकार कर दिया। तब पंडितजी के सामने इसके सिवा दूसरा कोई चारा न रह गया कि लीग को छोड़कर ही दरमियानी गवर्नमेण्ट के लिए नाम सोचें। वाइसराय से मुलाकात के बाद उन्होंने नामों को सोचना शुरू किया। इस काम में सहायता पाने के लिए उन्होंने वर्किंग कमिटी की पारलेमेण्टरी सब-कमिटी की बैठक दिल्ली में की। इसके तीन मेम्बर थे—सरदार बल्लभभाई पटेल, मौलाना अबुल कलाम आजाद और मैं।

१५९—कलकत्ते का हत्याकाण्ड

हम लोग इस काम में लगे हुए थे कि कलकत्ते से खबर आयी कि वहाँ भयंकर साम्प्रदायिक दंगा शुरू हो गया है। लीग की ओर से, अपनी नयी नीति के प्रचार के लिए, १६ अगस्त मुकर्रर किया गया था। उस दिन सभी जगहों में हड़ताल और सभाएँ करने की आज्ञा थी। इसी निश्चय के अनुसार कलकत्ते में भी हड़ताल वगैरह होने की बात थी। बंगाल और सिन्ध में लीगी मन्त्रिमण्डल काम कर रहे हैं। इन दोनों सूबों में मंत्रिमण्डल ने उस दिन आम सरकारी छुट्टी दे दी। इस तरह सभी दफ्तरों, बंकों इत्यादि को जबरन बन्द कर दिया। काँग्रेस प्रायः २७–२८ बरसों से हड़ताल मनाने के लिए दिन मुकर्रर करती आयी है—बहुत हड़तालें पूरी तरह कामयाब भी रही हैं। पर वह चाहे गवर्नमेण्ट के विरुद्ध रही हो, चाहे गवर्नमेण्ट की बागडोर उसके हाथ में रही हो, उसने गवर्नमेण्ट के अधिकार से इस काम में कभी लाभ नहीं उठाया। लीग ने इस पहले अवसर पर उस अधिकार का दुरुपयोग किया। इसका विरोध सभी लोगों ने किया। यह खास करके कहा गया कि छुट्टी हो जाने से बहुतेरे लोग बेकार रहेंगे और जलूस, सभा तथा हड़ताल में इतने बेकार लोग हमेशा खतरा पैदा कर सकते हैं। बंगाल की धारा-सभाओं में ये बातें हुईं। पर मि० सुहरावर्दी प्रधान मंत्री ने एक की भी न सुनी—उलटे यह कहा कि शान्ति बनाये रखने के लिए ही छुट्टी दी गयी है। उस दिन सवेरे से ही दूकानें बन्द करवाने में जबरदस्ती शुरू हो गयी। उसके साथ-साथ लूट-पाट और खून-खराबा भी जारी हो गया।

गवर्नमेण्ट ने १६ और १७ अगस्त के दोपहर तक बलवा रोकने की कोई विशेष कार्रवाई नहीं की। इस बीच में हजारों आदमी कत्ल हो चुके और हजारों मकान लूटे और जलाये गये। उसकी रोक-थाम की कोशिश की गयी, पर उपद्रव बहुत आगे बढ़ चुकने के बाद! चार दिनों तक खूब हत्याएँ और ज्यादतियाँ होती रहीं।

सुना जाता है कि ६–७ हजार आदमियों का खून हुआ है। सड़कों पर दो-तीन दिनों तक लाशें पड़ी रहीं। ३००० से ऊपर लाशें जहाँ-तहाँ से हटायी गयी हैं। यह भी खबर है कि बहुत लाशें जमीन के अन्दर के नाले में डाल दी गयी हैं जिनकी दुर्गन्ध से रास्ता चलना कठिन हो गया है। इसी तरह जलाये हुए मकानों के अन्दर और हुगली नदी में कितनी लाशें डाल दी गयी हैं, इसका पता नहीं। सुना जाता है कि हावड़ा-पुल पर से बहुतेरे लोग फेंक और ढकेल कर गंगा में डुबा दिये गये। बच्चे, बूढ़े, बेकस स्त्रियाँ, किसी पर आततायियों ने दया नहीं की—सब उनके क्रूर कर्मों के शिकार बने हैं। आज नवाँ दिन है। अब हालत सुधर रही है। पर अब भी फौज और पुलिस का कड़ा पहरा है। तो भी इक्के-दुक्के कुछ न कुछ हो ही जाता है। इस तरह का कत्ल आम कलकत्ते में कभी न हुआ था। शायद नादिरशाह के दिल्लीवाले कत्ल-आम के अलावा और कहीं भारतवर्ष के इतिहास में ऐसा नहीं

हुआ। इसका भी ठीक पता नहीं है कि उस कत्ल-आम में कितने लोग मारे गये थे। लीग के एक प्रमुख नेता सर फीरोज खाँ नून ने एक बार हाल ही में कहा था कि वह ऐसी हालत पैदा कर देंगे जैसी चंगेज और हलाकू खाँ ने भी नहीं की थी। लीग की सीधी कार्रवाई का कुछ नमूना लोगों के सामने आ गया। उस दिन और जगहों में भी जहाँ-तहाँ कुछ होता नजर आया, पर कहीं कोई विशेष बात नहीं हुई। छोटी-मोटी घटनाएँ कलकत्ते के सामने नगण्य हैं। पर अब सुनने में आया है कि ढाका, बनारस, इलाहाबाद, रानीगंज, दिल्ली तथा दूसरे कई स्थानों में इस समय कुछ न कुछ हो रहा है। कुछ खून-खराबा इन सभी जगहों में हो रहा है; पर वहाँ के सरकारी कर्मचारी स्थिति सँभालने में लगे हैं। अब तो मि० सुहरावर्दी भी इस काम में लगे हैं और सबसे शान्ति-स्थापना की अपीलें कर रहे हैं। हिन्दी कहावत है—"सत्तर चूहे खाकर बिल्ली चली हज को।" कलकत्ते के बलवे के सम्बन्ध में 'स्टेट्स्मैन' जैसे अँगरेजी पत्र ने, जो हमेशा लीग की हिमायत करता आया है, जोरों से बारबार लिखा है कि लीगी मंत्रिमण्डल शान्ति कायम रखने में अपने को अयोग्य साबित कर चुका, उसे हटना चाहिए। इसी प्रकार की बातें इँगलैंड के बहुतेरे पत्रों ने लिखी हैं जिनमें 'टाइम्स' भी शरीक है। देशी पत्रों की तो बात ही क्या। किन्तु इतने पर भी लीगवालों के कान में जूँ तक नहीं रेंगी। १९३७-३९ के काँग्रेसी मंत्रिमण्डलों के विरुद्ध जिन्होंने बिना कारण इतना वावैला मचाया था वे ही लोग आज इस अभूतपूर्व हत्याकाण्ड और भीषण अत्याचार पर, जिसके कराने में अगर उनका हाथ साफ-साफ नहीं रहा है तो कम से कम जिस पर से चश्मपोशी उन्होंने जरूर की है, बिलकुल चुप हैं। मि० जिन्ना ने केवल इतना ही कहा है कि जिस किसी ने बलवा किया हो उसको सजा मिलनी चाहिए और चूँकि उनको पूरी रिपोर्ट नहीं मिली है इसलिए वह यह नहीं कह सकते कि इसमें किसका कसूर है तथा उनको विश्वास है कि लीगी लोग लीग के हुक्म के विरुद्ध नहीं गये होंगे और याद कोई गया होगा तो प्रान्तीय लीग उस पर अनुशासन की कार्रवाई करेगी। उनके मुख्य पत्र 'डौन' ने तो जो कुछ हुआ उसे बहुत थोड़ा बतलाया और देर करके खबरें छापने के अलावा कई दिनों तक इस विषय पर कुछ लिखा ही नहीं। इस दुर्घटना से सारे देश में खलबली है और घबराहट है। यह भी सुनने में आया है कि शुरू में तो हिन्दू ही मारे गये पर पीछे जब किसी तरह की मदद उनको गवर्नमेण्ट की ओर से नहीं मिली तो उन्होंने भी अपना बचाव किया और अब तो शायद जितने मरे हैं उनमें अधिक संख्या मुसलमानों की ही होगी। जो हो, चाहे हिन्दू अधिक मरे हों या मुसलमान; इसमें शक नहीं हो सकता कि मरनेवालों में सबसे अधिक बेकसूर लोग हैं, जो दंगे में शरीक नहीं हुए, पर उसके शिकार बन गये! धन तो करोड़ों का बर्बाद हुआ है—बहुत अंशों में हिन्दुओं का ही धन बर्बाद हुआ और लूटा गया है। अभी तक वहाँ तनातनी है। देखें, आगे कलकत्ते में और दूसरे स्थानों में क्या होता है।

१६०—अस्थायी सरकार के पहले

इधर दरमियानी राष्ट्रीय गवर्नमेण्ट की बातचीत चल रही थी, उधर इस तरह का खून-खराबा हो रहा था। वाइसराय और पंडित जवाहरलाल ने निश्चय कर लिया कि इस कारण उस काम में रुकावट नहीं पड़नी चाहिए। हम लोगों से राय करके पंडितजी ने वाइसराय को दरमियानी राष्ट्रीय गवर्नमेण्ट के लिए नाम दे दिये जो आज ही प्रकाशित हो जायँगे। इन नामों में मेरा नाम भी है। आज से एक सप्ताह बाद, सितम्बर के आरम्भ से, ये नामजद लोग गवर्नमेण्ट का काम सँभालने लग जायँगे। आज ही तक यह वृत्तान्त लिखकर समाप्त करना चाहता हूँ।

यों तो सिमले में भी मेरा नाम दिया गया था। जैसा ऊपर कह आया हूँ, मैं बहुत पसोपेश में था। अन्त में पूज्य बापू (महात्माजी) के कहने पर मैंने उसे मंजूर किया था। मुझे एक नैतिक अड़चन बहुत सता रही थी। वह यह थी कि उस समय लड़ाई चल रही थी। गवर्नमेण्ट का भार लेने का अर्थ उस लड़ाई में सहायता देना भी होता था। सिमला-कान्फ्रेन्स के भंग होने के थोड़े ही दिन बाद वह लड़ाई समाप्त हो गयी। इसलिए, जब कैबिनेट-मिशन और वाइसराय से इस बार बातें शुरू हुई तो वह नैतिक अड़चन उस रूप में अब नहीं रही, और पहले भी पंडित जवाहरलालजी ने मेरा नाम कह दिया था। इस तरह १६ जून की योजना में मेरा नाम भी था, पर उसकी नामंजूरी के बाद वह बात टल गयी थी। इस बीच में जब फिर यह बात चली तो पहले यह भी सोचा गया कि दरमियानी गवर्नमेण्ट में पंडितजी के शरीक हो जाने के बाद मैं ही मेरठ-काँग्रेस के प्रेसिडेण्ट के लिए खाली रखा जाऊँ। कुछ ने यह भी सोचा कि विधान-निर्माण-समिति का सभापति मैं ही बनाया जाऊँ, मुझे दरमियानी गवर्नमेण्ट में जगह न दी जाय। मुझे इस विषय में किसी से कुछ कहना नहीं था। जो कुछ भी निश्चय होता, मुझे मंजूर था। पर यदि मेरी अपनी रुचि की बात पूछी जाय तो मैं उन दोनों को अस्थायी गवर्नमेण्ट की मेम्बरी से ज्यादा पसन्द करता। पर यह बात मेरे पसन्द पर निर्भर नहीं थी। लोगों ने सब बातों पर विचार-कर मुझे यही पद देना उचित समझा। मेरा नाम दे दिया गया है। यह सब निश्चय दिल्ली में मेरे सामने ही किया गया। मैं आराम करने के लिए पिलानी चला आया था। वहाँ से एक दिन के लिए जयपुर गया था। जयपुर में ही बुलाहट का तार मिला। वहीं से दिल्ली चला गया। हमारे बीच जब नामों का निश्चय हो गया तो मैं पिलानी चला आया। जब तक फिर बुलाहट न हो, यहीं रहने का विचार था। मैं समझता था कि शायद अगस्त के अन्त तक यहाँ रह सकूँगा, क्योंकि इसके पहले दरमियानी गवर्नमेण्ट में काम उठाने का समय नहीं होगा। पर यहाँ पहुँचने पर मालूम हुआ कि तारीख २७ अगस्त (१९४६) को ही वर्किंग कमिटी की बैठक दिल्ली में होनेवाली है जिसमें पूज्य महात्माजी भी आ रहे हैं, इसलिए अब वहाँ २७ अगस्त तक ही पहुँच जाना जरूरी है।

पिछले २६ बरसों में दिन-रात काँग्रेस के काम में लगा रहा हूँ। घर पर बीमार होकर ही गया हूँ। वहाँ के काम में, भाई के मरने के बाद ही, कुछ थोड़ा समय कुछ दिनों तक देना पड़ा था, नहीं तो घर के काम से भी एकबारगी अलहदगी रही है। अपने रहने के लिए कहीं कोई अलग इन्तजाम नहीं किया। आश्रम में रहा या जब कहीं गया तो मित्रों के साथ। पटने में मृत्युञ्जय के डेरे पर दो-चार ही रोज रहा हूँ। इस तरह एक ही प्रकार का जीवन कटा है। कभी किसी दफ्तर में बैठकर काम नहीं किया। कुछ दिनों तक पटना-म्युनिसिपैलिटी के चेयरमैन की हैसियत से दफ्तर का काम किया था, पर वह अनुभव इतना कम और थोड़े दिनों का था कि उसकी कोई गिनती नहीं है। काँग्रेस के दफ्तर का काम सँभालना पड़ा है, पर वहाँ भी दफ्तर से अधिक जन-सम्पर्क का ही काम किया है और जाहिर है कि वह काम बिलकुल दूसरे प्रकार का है। अब एक नये प्रकार के जीवन में प्रवेश करना है। पहले तो अपने लिए अलग खास घर लेना है। उसमें रहने और खाने-पीने आदि का इन्तजाम करना होगा। अब रुपये भी वहाँ मुशाहरे के मिलेंगे। मालूम नहीं, इस सम्बन्ध में काँग्रेस की ओर से क्या आदेश मिलेगा—हम कितना लेंगे और उसे किस तरह खर्च करेंगे।

इसके बाद, जो जटिल समस्याएँ सामने पेश हैं उनका हल किस तरह किया जायगा। मालूम नहीं, मुझे कौन विभाग मिलेगा। पहले सुनता था कि कृषि-विभाग और अन्न-विभाग मुझे दिये जायँगे। पता नहीं कि पंडितजी से वाइसराय की जो बातचीत मेरे चले आने के बाद हुई उसमें मेरे लिए कौन विभाग सोचा गया। यदि वे ही विभाग रहें तो मेरे मन के मुताबिक होंगे। यद्यपि अन्न-संकट बहुत कठिन है और इसका इस समय सँभालना आसान नहीं है।

मैं चाहता था कि काम शुरू करने के पहले एक बार पटने और राँची से हो आता, पर शायद इसका समय नहीं मिलेगा। राँची जाने की बहुत जरूरत है। जनार्दन का बच्चा चिरंजीवी सूर्य्यप्रकाश बहुत दिनों से बीमार है। उसे बीमारी के कारण बम्बई से पटने बुला लिया था। बम्बई और पटने के डाक्टर उसे आराम न कर सके। तब वह राँची भेजा गया है। आज से प्रायः दस महीने हो गये। २॥ बरस का बच्चा बहुत कष्ट पाता आ रहा है। प्रतिदिन ज्वर हो आता है। खाँसी भी बहुत हुआ करती थी। फेफड़े की कुछ शिकायत थी। पर अब सुनते हैं कि वह कम है। अब काँख में घाव-सा हो आया है। उसको देख लेने की बहुत इच्छा है। जनार्दन भी अब बम्बई अपनी नौकरी पर चले गये हैं। देखें, क्या होता है। ऐसी स्थिति में नया काम शुरू करना पड़ रहा है।

नये लोगों का साथ होगा, जिनमें बहुतेरे ऐसे होंगे जिन्होंने या जिनके साथियों ने हमको और हमारे साथियों को जेलों में बन्द रखा—हमारे लोगों के साथ तरह-तरह की सख्तियाँ कीं। पर मेरे मन में किसी के प्रति कोई दूसरा भाव नहीं है और मैं मानता हूँ कि मैं सबको मिलाकर अपना काम कर सकूँगा। पर गवर्नमेण्ट के बाहर

भी भारी कठिनाइयों का सामना करना है। न मालूम लीग क्या-क्या करेगी और जनता का रुख क्या रहेगा। यदि हमने सचाई के साथ और निष्पक्ष होकर सबकी सेवा की तो फल अच्छा ही होगा। अपना इरादा ऐसा ही है। आगे ईश्वर के हाथ में है।

(समाप्त)

पिलानी
२४ अगस्त १९४६

परिशिष्ट

मैंने संस्मरण लिखना कब आरम्भ किया और यह कैसे लिखा गया, इसका जिक्र पुस्तक के १५१वें अध्याय में किया है। पुस्तक के अन्त में यह भी लिखा है कि दरमियानी गवर्नमेण्ट के बनने तक का ही हाल इसमें लिखा गया है। आज से प्रायः ४ महीने पहले मैंने पुस्तक को पूरा किया था। इस बीच में बहुत बातें हो गयी हैं जिनका महत्त्व है और जिनको इस परिशिष्ट के रूप में दे देना अच्छा प्रतीत होता है।

तारीख २ सितम्बर १९४६ को दरमियानी गवर्नमेण्ट बनी। इसमें १२ मंत्री बनाये गये जिनके नाम थे सर्वश्री जवाहरलाल नेहरू, सरदार बल्लभभाई पटेल, शरतचन्द्र बोस, राजगोपालाचारी, आसफअली, डाक्टर मठाई, जगजीवनराम, सर शफात अहमद खाँ, सरदार बलदेवसिंह, भाभा, अलीजहीर और मैं। सरदार बल्लभभाई पटेल, श्री जगजीवनराम और मैं उस समय बिड़ला-भवन में ठहरे हुए थे। वहाँ के लोगों ने मांगलिक क्रिया के साथ हमको गवर्नमेण्ट हाउस के लिए रवाना किया। वहाँ से हम लोग पूज्य गांधीजी के पास गये और वहाँ से और साथियों के साथ गांधीजी का आशीर्वाद लेकर वाइसराय के पास अपना काम सँभालने के लिए गये। वहाँ नियमानुकूल हमको सौगंध लेनी पड़ी। इसमें एक मुख्य बात यह थी कि हम बादशाह जार्ज और उनके वारिसों के प्रति सच्ची वफादारी बरतेंगे।

हमारी सारी जिन्दगी ब्रिटिश साम्राज्य से हिन्दुस्तान को मुक्त कराने में लगी रही है। अन्त में ब्रिटिश बादशाह की वफादारी की सौगंध कहाँ तक ठीक है, यह प्रश्न बहुतों के दिलों में उठा करता है। बात यह है कि ब्रिटिश-विधान में इस प्रकार की सौगंध एक आवश्यक वस्तु है और प्रजातंत्र का काम प्रजा की मरजी के मुताबिक चलना और चलाना भी वैसा ही आवश्यक अंग है। राजा प्रजातंत्र की सम्मति के विरुद्ध कुछ भी नहीं कर सकता और प्रजातंत्र की सम्मति पारलेमेण्ट द्वारा ही जानी जाती है। प्रधान मंत्री उस सम्मति के अनुसार ही काम करता है। राजा उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता और मंत्रिमण्डल के बनाये हुए भाषण देता है तथा बताये हुए काम को ही करता है। एक विधान-शास्त्री ने लिखा है कि जो भी कागज प्रधान मंत्री पेश करे उस पर राजा को दस्तखत करना ही पड़ता है, यहाँ तक कि यदि उसके सामने राजा को फाँसी देने का हुक्मनामा भी पेश किया जाय तो राजा उस पर दस्तखत करने से इनकार नहीं कर सकता। इस प्रकार की एक घटना कुछ वर्ष पूर्व हुई भी जब राजा अष्टम एडवर्ड को, प्रधान मंत्री बाल्डविन की सम्मति मान कर, गद्दी छोड़नी पड़ी। जब वहाँ का विधान ऐसा है तो भारतवर्ष को स्वतंत्र बनाने का प्रयत्न इस सौगंध के विरोध में नहीं माना जा सकता है और सब लोगों ने ऐसा ही समझा भी है। यदि बाल्डविन राजा को गद्दी छोड़ने की सम्मति दे सकते हैं तो भारतीय मंत्री भी

उसे हिन्दुस्तान पर से ब्रिटिश सत्ता हटा देने की सलाह, सौगंध के बावजूद, दे ही सकते हैं। इसलिए दोनों में कोई विरोध नहीं दीखा और हम सब न सौगंध ले ली।

मेरे जिम्मे अन्न और खेती विभाग दिये गये। अन्न-संकट सारे देश में जबर्दस्त था। विशेष करके दक्षिण के उन हिस्सों में जहाँ के लोग चावल ही खाया करते हैं। १९४५ में वर्षा बहुत कम हुई और धान की फसल बहुत जगहों में, विशेष करके दक्षिण में, मारी गयी। जाड़ों में भी पानी नहीं बरसा। इसलिए रबी की फसल भी कम हुई। पहले से लड़ाई के जमाने में ही अन्न की बहुत कमी हो गयी थी, क्योंकि बर्मा से चावल आना बन्द हो गया था। हिन्दुस्तान के कुछ हिस्सों में वहाँ के लोगों के खाने के लिए काफी अन्न नहीं होता है। यह कमी बर्मा के चावल से पूरी होती थी। जब उसकी आमदनी बन्द हो गयी तो बड़ी कठिनाई हो गयी। बंगाल के भयंकर अकाल के कारणों में यह भी एक था। १९४६ के आरम्भ से ही इसका डर हुआ कि इस साल अन्न की बहुत कमी रहेगी और फिर भी कहीं अकाल न पड़ जाय। इसलिए भारत-सरकार ने विदेशों से अन्न मँगाने का इन्तजाम सोचा। आजकल दुनिया में अन्न संकट है इसलिए एक अन्तरराष्ट्रीय संस्था बनायी गयी है जो सभी देशों में, जहाँ कुछ अधिक अन्न मिल सकता है, पता लगाकर उन देशों में उसे पहुँचवाने का प्रबन्ध करती है जहाँ अन्न की कमी है। इस संस्था में भारतवर्ष भी शरीक है और उससे भारत की ओर से अन्न की माँग की गयी।

विदेशों में और विशेष करके अमेरिका में यहाँ का समाचार पहुँचा। वहाँ के भूतपूर्व राष्ट्रपति हूवर सभी देशों में अन्न-संकट की स्थिति देखते-देखते हिन्दुस्तान भी पहुँचे। वे यहाँ की बुरी हालत से बहुत प्रभावित हुए और मदद देने की सलाह दी। इसके बाद ही कुछ लोग अमेरिका से गैरसरकारी तौर पर यहाँ की हालत देखने आये। इनके प्रधान थे डाक्टर शुल्ट्ज जो कृषि और अन्न-सम्बन्धी समस्याओं के विशेषज्ञ समझे जाते हैं। वह भी यहाँ की दुर्दशा से बहुत प्रभावित हुए। नतीजा यह हुआ कि अन्तरराष्ट्रीय संस्था ने भारतवर्ष के लिए अन्न दिया पर हम जितना चाहते थे उतना नहीं, उससे बहुत कम। इसका कारण यह था कि उनके पास इससे अधिक देने की शायद गुंजाइश थी ही नहीं, क्योंकि उनको दूसरे देशों को भी देखना था। जिस दिन मैंने इस काम को सँभाला, हालत बहुत नाजुक थी और डर मालूम होता था कि किसी न किसी दिन अन्न बिना लोग मरने लग जायँगे। देश और विदेश से जो कुछ मिल सकता था उसे देश के भिन्न-भिन्न भागों में जरूरत के मुताबिक बाँटा जा रहा था। आते ही मैंने देखा कि पूज्य गांधीजी ने जो कुछ पहले कहा था वही ठीक है। उन्होंने कहा था कि विदेशों पर हम बहुत भरोसा नहीं कर सकते, क्योंकि वहाँ से अन्न लाने में हजारों अड़चनें पड़ सकती हैं। हमारे लिए अपने देश और अपने लोगों पर ही भरोसा करना ठीक है। मैंने तुरन्त स्थिति को समझ कर इस बात की अपील की कि जिससे जो बन पड़, अधिक अन्न पैदा करने के लिए करे—जितना कम अन्न खर्च कर सके, करे और जितना बचा करके दूसरों के लिए दे सके, दे।

विदेशों से जो कुछ आ सकता था उस पर जोर लगाया गया और देश में जो कुछ मिल सकता था और अन्न के खर्च में जितनी किफायत हो सकती थी, की गयी। चिन्ता दिन-रात बनी रहती। यह बात केवल मेरे ही साथ नहीं थी—हमारे विभाग के सभी कर्मचारी हमसे भी अधिक चिन्तित रहते थे, क्योंकि अभी तक अकाल-मृत्यु से बचाने का भार तो उन पर ही था। मैं तो अभी आया था। मुझे इस बात से बड़ी प्रसन्नता हुई कि मेरे विभागों में मेरे और कर्मचारियों के बीच किसी प्रकार का मतभेद नहीं हुआ और सभी मिल-जुलकर अपनी शक्ति भर संकट से देश को बचाने के काम में लगे रहे। सबसे कठिन समय हम, सितम्बर से दिसम्बर तक के, चार महीने मानते थे। दिसम्बर समाप्त हो गया। ईश्वर की कृपा है कि अब तक कोई अन्न बिना मरा नहीं है। लोगों की खुराक बहुत कम कर दी गयी है। जो चावल के सिवा गेहूँ-मकई कभी खाते नहीं थे, ऐसे अन्न को किस तरह खाने के लिए तैयार किया जाता है—यह भी नहीं जानते थे, उनको भी हम गेहूँ-मकई दे सके हैं और चावल बहुत कम मात्रा में। इस तरह उनको बहुत कम खुराक मिली है और ऐसी खुराक मिली है जिसको वह पहले जानते ही नहीं थे। तो भी बावजूद इन कष्टों के लोगों ने बहुत ही साहस और धीरज से संकट का समय काट लिया है। बरसात मामूली तौर पर अच्छी हुई है और धान की फसल औसत है। अब तो धान लोगों की आँखों के सामने है, कहीं-कहीं खलिहान में आ गया है और कहीं-कहीं तो चावल भी तैयार हो गया है। अब उन हिस्सों के लोगों के लिए जहाँ चावल खाया जाता है भय कम हो गया है। पर गेहूँवाले प्रदेशों की हालत अब चिन्तित करने लगी है। चावल की कमी के कारण जहाँ तक हो सका, वहाँ से गेहूँ लेकर चावलवाले प्रदेशों में दिया गया था। उसे अब वापस करना है। गेहूँ की फसल तैयार होने में अभी कम से कम तीन-चार महीनों की देर है। इस बीच में पत्थर-पानी न मालूम कितनी आसमानी आफतें आ सकती हैं। विदेशों से, विशेष करके अमेरिका से जो गेहूँ आने की आशा थी वह पूरी नहीं हो रही है, क्योंकि वहाँ जहाजों पर काम करनेवालों की और कोयले की खानों में हड़ताल चली है। इसलिए गेहूँ की कमी हो रही है। जिस तरह ईश्वर ने चावल-संकट को हटाया, आशा है, इस संकट से भी वही त्राण देगा।

थोड़े दिनों के अनुभव ने मेरा यह विश्वास और भी दृढ़ कर दिया है कि भारतवर्ष जैसे कृषिप्रधान देश को अपनी खुराक खुद पैदा करनी चाहिए। इसके लिए विदेशों पर भरोसा करना ठीक नहीं। यह कोई आसान समस्या नहीं है। हमारी आबादी बढ़ती जा रही है। आबाद होने लायक जमीन अब बहुत नहीं बची है। बहुत कुछ आबाद हो चुकी है। पहले भी ५-६ करोड़ मन चावल हर साल बाहर से मँगाना पड़ता था। अब आबादी बढ़ जाने से अधिक अन्न की जरूरत हो गयी है और बढ़ती जायगी। इस कमी को पूरा करने का प्रयत्न करना कृषिविभाग का काम है। फिर यह भी जाहिर है कि हमारे लोगों को जो भोजन मिलता है वह ऐसा नहीं होता कि

उससे उनका स्वास्थ्य उन्नत हो। उसमें बहुत प्रकार की कमी है जिसे पूरा करना चाहिए। इसलिए अन्न के अलावा दूध, मछली, मांस, तेल, घी, फल, मूल सब्जी इत्यादि सभी चीजों को अधिक मात्रा में पैदा करना आवश्यक है। मेरी दिलचस्पी इन विषयों में काफी है और ऐसे प्रयत्न में दिन-रात लगा हूँ कि यह कैसे किया जाय। गवर्नमेण्ट तो केवल कुछ मार्ग-दर्शन करा सकती है, सलाह दे सकती है—थोड़ी बहुत सहायता कर सकती है। पर काम तो जनता का है। हमारी जनता विशेष करके खेती का काम करती है। उसे ही इस भार को सँभालना है। जनता को किस तरह सहायता दी जाय कि वह इसे सँभाल सके। कृषिविभाग का प्रधान होने की हैसियत से मुझ इस जवाबदेही को सँभालने का प्रयत्न तो करता हूँ। सभी कर्मचारी मदद कर रहे हैं, पर काम इतना बड़ा और विस्तृत है कि प्रायः चार महीनों के बाद भी अभी यह नहीं कह सकता कि मैं यह कहाँ तक कर पाया हूँ और कहाँ तक पूरा कर सकूँगा। संकट-निवारण में जनता ने काफी मदद की। मेरी अपील पर हजारों लोगों ने खाना कम कर दिया। उन्होंने निश्चय किया कि समय-समय पर नियमित रूप से उपवास करके अन्न बचायेंगे और दूसरे प्रकार से सबने मदद की थी। आशा है, अन्न की पैदावार बढ़ाने में भी उनकी ओर से वैसे ही मदद मिलेगी।

लार्ड वेवल इस बात के लिए बराबर कोशिश में थे कि मुस्लिम लीग किसी तरह दरमियानी गवर्नमेण्ट में और विधान परिषद् में शरीक हो जाय। हमारी नियुक्ति के थोड़े ही दिनों बाद उन्होंने मि० जिन्ना से पत्रव्यवहार शुरू किया और एक समय आया जब पं० जवाहरलाल नेहरू को उनसे बातचीत करनी पड़ी। भोपाल के नवाब साहब भी बीच में पड़े और इस बात की कोशिश की गयी कि काँग्रेस और मि० जिन्ना के बीच कुछ समझौता हो जाय। पर यह प्रयत्न सफल नहीं हुआ। अन्त में मि० जिन्ना ने निश्चय किया कि वाइसराय की अनुमति से, काँग्रेस की सम्मति के बिना ही, वह अपने लोगों को दरमियानी गवर्नमेण्ट में भेजेंगे। हमने तीन जगहें खाली कर दीं और मुस्लिम लीग के पाँच सदस्यों की नियुक्ति हो गयी। इस नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ बातें लिख छोड़ना बुरा न होगा। १६ जून १९४६ के वक्तव्य में कैबिनेट-मिशन और वाइसराय ने कहा था कि वही लोग दरमियानी गवर्नमेण्ट में शरीक हो सकेंगे जिन्होंने १६ मईवाले वक्तव्य को मंजूर कर लिया हो और चूँकि उस समय लीग और काँग्रेस दोनों ने ही उसे मान लिया था, दोनों के सदस्यों को लेकर ही वह दरमियानी सरकार बनायी जा सकती थी। उस समय काँग्रेस उसमें शरीक होने के लिए तैयार नहीं थी इसलिए उस समय दरमियानी सरकार नहीं बनी। इससे रुष्ट होकर लीग की कौन्सिल ने निश्चय किया कि वह अब १६ मई और १६ जून के दोनों वक्तव्यों की स्वीकृति के अपने प्रस्तावों को वापस ले लेती है।

अक्टूबर में जब लार्ड वेवल ने लीग के मेम्बरों को नियुक्त करना चाहा तो प्रश्न यह हुआ कि क्या लीग ने १६ मईवाले वक्तव्य को मंजूर कर लिया है या नहीं। उसके मंजूर कर लेने का अर्थ यह है कि वह विधान परिषद् में शरीक होगी और

उसकी कार्रवाई को पूरा करेगी। हम लोगों के पूछने पर लार्ड वेवल ने हम लोगों को आश्वासन दिया कि उन्होंने लीग को बता दिया है कि दरमियानी गवर्नमेण्ट में शरीक होने का अर्थ ही है कि १६ मईवाले वक्तव्य को लीग मंजूर करती है।

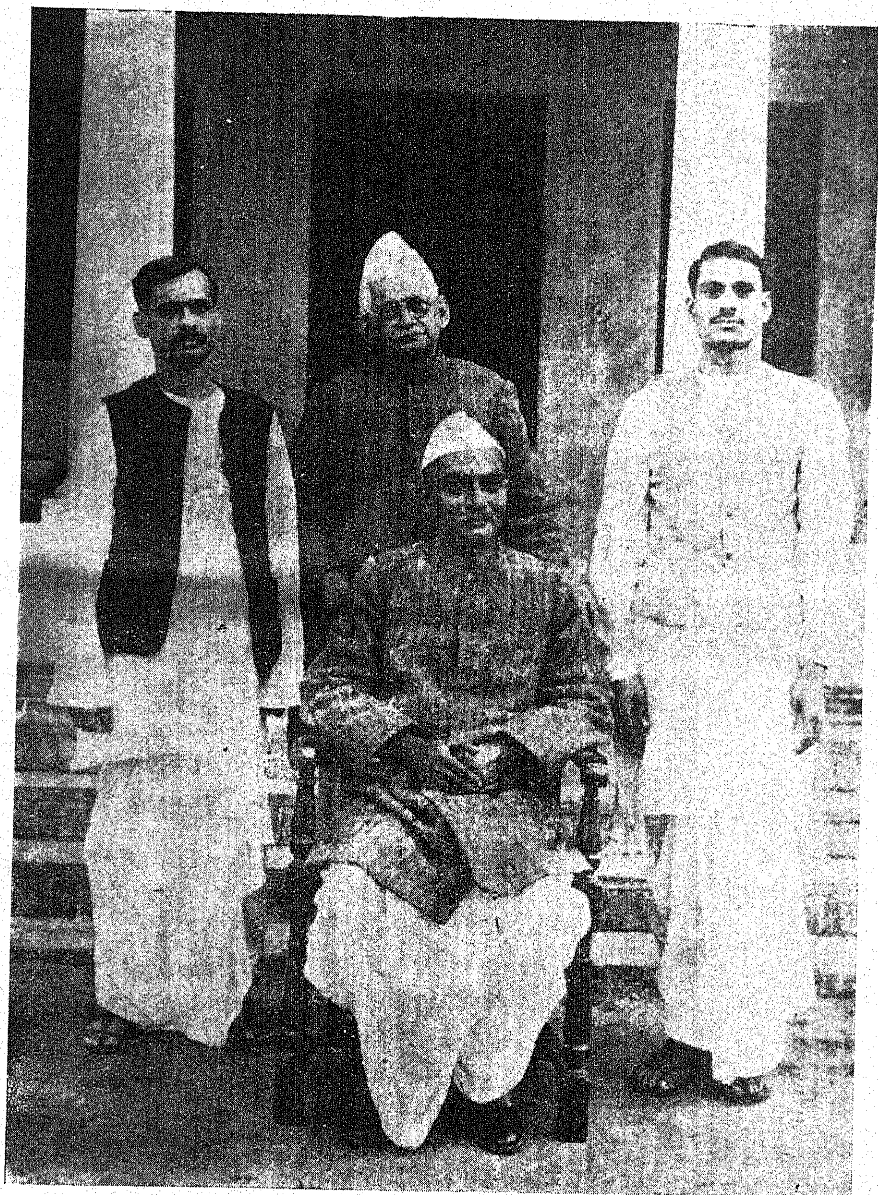
दूसरी बात यह थी कि दरमियानी सरकार में शरीक होने के पहले हमने यह तय कर लिया था कि हम सब कैबिनेट की तरह एक साथ मिल-जुल कर काम करेंगे। इसका अर्थ यह होता है कि हम सब की सम्मिलित जवाबदेही है अर्थात् हर एक मंत्री की कार्रवाई के लिए सारी कैबिनेट जवाबदेह होगी और यदि एक को हटना पड़े या हटाया जाय तो सारी कैबिनेट हटेगी। इस तरह हर एक मंत्री अपनी मर्जी और इच्छा के अनुसार काम न करके सब साथ मिल करके काम करेंगे और उनको एक दूसरे के विरुद्ध फोड़ा न जा सकेगा। हमने इसी रीति के अनुसार काम भी शुरू किया। हमने समझा, यह एक बहुत बड़ा फर्क गवर्नमेण्ट की रीति में होगा, क्योंकि इस तरह वाइसराय को हस्तक्षेप करने का मौका बहुत कम रह जायगा। बात यह है कि किसी एक के साथ हस्तक्षेप का अर्थ सबके साथ हस्तक्षेप हो जाता है और सारा मंत्रिमण्डल टूट जा सकता है।

पहले के एक्जिक्युटिव कौन्सिल के लोग अलग-अलग नियुक्त किये जाते थे और एक दूसरे के साथ उनका सम्पर्क वाइसराय के मार्फत ही होता था और एक के हटने से दूसरों पर असर नहीं पड़ता था। हमारी नियुक्ति के बाद दफ्तर के कामों और कागजों में मंत्रिमण्डल और उसके सदस्यों को एक्जिक्युटिव कौन्सिलर और कौन्सिल का सदस्य न कहकर कैबिनेट और कैबिनेट-मेम्बर के नाम का ही व्यवहार किया जाने लगा। सभी कागजों में, जहाँ कौन्सिल का नाम था, काट करके कैबिनेट बना दिया गया। हमारी निजी कार्रवाई भी इसी के अनुकूल होने लगी। हम मंत्रिगण प्रतिदिन संध्या के ५ बजे निजी तौर पर मिलते थे और सभी महत्त्वपूर्ण विषयों पर, चाहे वह किसी भी विभाग के क्यों न हों, बातें कर लेते थे और सबकी राय से निश्चय भी कर लिया करते थे। जब लीग के लोगों के आने की बात चली तो हमने आशा की कि वही तरीका रहेगा। पर ऐसा हुआ नहीं।

लीग ने आते ही इन दोनों बातों को नाहीं कर दी। कहा गया कि उसकी ओर से ऐसा कोई वचन नहीं दिया गया है कि १६ मई के वक्तव्य की नामंजूरी के निश्चय को वह रद्द करेगी और उसने यह मंजूर नहीं किया है कि दरमियानी सरकार के सदस्य कैबिनेट की तरह काम करेंगे। वे इस बात को मानते हैं कि जैसे पहले की एक्जिक्युटिव कौन्सिल काम किया करती थी उसी तरह वे अब भी काम करेंगे। पं० जवाहरलालजी के निमंत्रण देने पर कि वे हमारी संध्यावाली कैबिनेट की निजी बैठक में शरीक हों, उन्होंने इनकार कर दिया। अब अवस्था ऐसी है कि वे लोग और हम लोग वाइसराय की उपस्थिति में जब कभी कैबिनेट की बाजाब्ता बैठक होती है तभी मिल सकते हैं और जो विषय वहाँ उपस्थित होते हैं उनके सम्बन्ध में जो कुछ कहना-सुनना होता है, वहीं हो सकता है।

इधर दरमियानी सरकार का काम इस तरह चल रहा था, उधर कलकत्ते के हत्याकाण्ड के बाद सारे देश में बड़ी खलबली मच रही थी। बम्बई, प्रयाग, ढाका इत्यादि अनेक स्थानों में लोगों को छुरे भोंके जा रहे थे और बहुतेरे बेकसूर निरीह लोग हिन्दू या मुसलमान होने के कारण राह चलते मारे जा रहे थे। बिहार के बहुत लोग कलकत्ते में रहा करते हैं। उनमें से बहुतेरे कलकत्ते के हत्याकाण्ड में मारे गये थे और दूसरी तरह से सताये गये थे। जो भाग करके वापस आये उन्होंने अपने और दूसरों के दुखड़े सुनाये। इसका असर बिहार के लोगों पर बहुत पड़ता गया। मुजफ्फरपुर जिला के बेनीवाद गाँव से खबर उड़ी कि वहाँ कोई मुसलमान एक हिन्दू स्त्री को कलकत्ते से जबर्दस्ती ले आया है। हिन्दुओं की एक भीड़ उस गाँव में गयी और कई मुसलमानों को उसने मार डाला और कितनों के घर जला दिये। खबर मिलने पर वहाँ के लोगों के साथ गवर्नमेण्ट ने सख्ती की और बहुतेरे गिरफ्तार किये गये और सामूहिक जुर्माना लगाया गया। इस घटना की खबर फैलने पर मुसलमानों में अशान्ति फैली। कुछ दिनों के बाद जोरों से खबर आयी कि नोआखाली और त्रिपुरा जिलों में, जहाँ मुसलमानों की बहुत आबादी है, मुसलमानों ने हिन्दुओं पर हमला शुरू कर दिया ह। बहुतेरे मारे गये हैं और गाँव के गाँव, जहाँ हिन्दू रहते थे, जला दिये गये हैं और हजारों की तादाद में हिन्दू जबर्दस्ती मुसलमान बना लिये गये हैं। बहुतेरी स्त्रियों के साथ जबर्दस्ती शादी कर ली गयी है और बहुतेरी भगा या चुरा कर अन्यत्र हटा दी गयी हैं। ये वाकया दो जिलों के कई थानों में फैले हुए थे। पहले तो ठीक पता नहीं चला कि इसका फैलाव कितना है। हजारों की तादाद में हिन्दू अपने घर-द्वार को छोड़कर अथवा सब कुछ बर्बाद होने और लुट जाने या जला दिये जाने के बाद भाग करके शहरों में और दूसरे स्थानों में आश्रय लेने आये। उन इलाकों में किसी भी हिन्दू के लिए जाना कठिन था, क्योंकि इलाके भर का महासरा कर लिया गया था। वहाँ की गवर्नमेण्ट की शिकायत होने लगी कि उसने बलवाइयों को रोकने का कोई समुचित प्रबन्ध नहीं किया और जैसे कलकत्ते में बलवाइयों को छोड़ दिया गया था वैसे ही वहाँ भी छोड़ दिया गया कि वे मनमानी करें। यह काण्ड कई दिनों तक चलता रहा। वहाँ के और कलकत्ते के काण्ड में एक बहुत बड़ा अन्तर यह था कि कलकत्ते में हिन्दुओं की आबादी बहुत ज्यादा है, लेकिन नोआखाली और त्रिपुरा में मुसलमानों की। इसलिए कलकत्ते में शुरू में तो हिन्दू खूब पिटे, पर पीछे उन्होंने अपना बचाव जोरों से किया। नोआखाली और त्रिपुरा में ऐसा नहीं हो सका, क्योंकि वहाँ हिन्दू बहुत कम और कमजोर हैं। इन घटनाओं की खबर देश भर में फैल गयी और चारों ओर हिन्दुओं में बड़ा रोष पैदा हुआ।

इन घटनाओं का नतीजा यह हुआ कि हिन्दुओं में प्रतिशोध की भावना भर गयी। उधर मुस्लिम लीग के नेता लोग और समाचार पत्र दिन प्रतिदिन जहर उगला करते थे और हिन्दुओं को युद्ध के लिए ललकार रहे थे। पं० जवाहरलालजी पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त में गवर्नमेण्ट के मंत्री की हैसियत से सफर करने गये। वहाँ



देशरत्न
श्री चक्रधरशरण, बाबू मथुराप्रसाद, श्री बाल्मीकि चौधरी



के सरकारी राजनीतिक विभाग के कर्मचारी सीधे वाइसराय की मातहती में काम करते हैं। खबर है कि कुछ हिस्सों में गलत प्रचार से लोगों को उभाड़ा गया और कुछ आदमियों ने पंडितजी तथा बादशाह खाँ के साथ केवल बदतमीजी ही नहीं की बल्कि और तरह की ज्यादतियाँ कीं। एक जगह तो इतना जबर्दस्त हमला हुआ कि उन लोगों की जान किसी तरह से बची और बादशाह खाँ के हाथ में इतनी चोट आयी कि हड्डी टूट जाने के कारण महीनों तक पट्टी बाँध रखने की जरूरत हो गयी। पर बावजूद इस तरह की दुर्घटनाओं के पंडितजी की यात्रा बहुत सफल रही और वहाँ के लोगों ने उनका बहुत स्वागत किया—प्रेम और उत्साह दिखलाया। इस बात का भी असर देश के हिन्दुओं पर काफी पड़ा। उनको ऐसा जान पड़ा कि मुस्लिम लीग हिन्दुओं को ब्रिटिश के साथ मिल करके दबाना चाहती है और दबाती जा रही है।

बिहार में भारी बलवा शुरू हो गया। कई जगहों में छोटी-मोटी घटना को लेकर हिन्दू बड़ी तादाद में मुसलमानों के गाँवों पर हमला करने लगे। पटना-जिला के कई थानों के कितने ही मुसलमान मारे गये, कितनों के घर जलाये गये और कितनों के साथ क्रूरता का व्यवहार किया गया। यह आग मुंगेर और गया जिलों के कई थानों तक पहुँच गयी। छपरा में तो इसका आरम्भ ही हुआ था, जहाँ पहले शहर में और पीछे कुछ गाँवों में बहुतेरे मुसलमान मारे गये। दिल्ली में इन दुर्घटनाओं की खबर मिली। पंडित जवाहरलाल और सरदार बल्लभभाई—जो बंगाल की हालत देखने कलकत्ता गये थे—पटने में वापसी के समय रुक गये। उनके साथ मि० लियाकत-अली और सरदार निश्तर भी गये थे। वे लोग भी रुक गये। सरदार बल्लभभाई और मि० लियाकतअली तो दिल्ली के काम से वापस आ गये, पर पंडित जवाहर-लाल और सरदार निश्तर बिहार में ठहर गये। मैं भी हवाई जहाज से वहाँ पहुँचा। हमारे मंत्रिमण्डल के लोग बहुत जोरों से दौड़-धूप कर रहे थे और पुलिस से जहाँ तक हो सकता था, बलवा रोकने का प्रयत्न कर रहे थे। फौज की मदद भी माँगी थी जो कुछ देर के बाद पहुँची। पंडित जवाहरलाल और मैं दोनों दौड़-धूप करने लगे। उधर जब गांधीजी को खबर मिली तो उन्होंने घोषणा की कि यदि बिहार में बलवा न रुका तो वह आमरण अनशन करेंगे। इस समय गांधीजी नोआखाली में हिन्दुओं और मुसलमानों के बीच सद्भाव पुनः स्थापित करने के लिए गये हुए थे। वहीं से उन्होंने यह घोषणा की। नतीजा यह हुआ कि बिहार में बलवा एकबारगी जल्द बन्द हो गया। पर जितना हो चुका था वह बहुत और भयंकर था। कितने मारे गये, इसका ठीक पता अभी तक नहीं लगा है, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि उनकी संख्या हजारों की है। मुस्लिम लीग के लोगों ने तो बहुत बढ़ा करके संख्या बतायी है और मि० जिन्ना ने ३०,००० के आँकड़े को घोषित किया है। यह तो बिलकुल गलत है और मेरे अनुमान में इसके दशमांश को मान लेना गलत न होगा। संख्या जो भी हो, इसमें शक नहीं कि बहुत जुल्म और क्रूरता की गयी है जिसके

लिए सबको लज्जित होना चाहिए। आपस के मेल-जोल के प्रयत्न में बहुत बड़ा धक्का लगा है। इन बलवों के कारण हजारों की तादाद में मुसलमान भाग करके शहरों और ऐसे स्थानों में, जहाँ वे अपने को सुरक्षित समझते हैं, आ गये ह। वहाँ उन लोगों के रहने, खाने इत्यादि का प्रबन्ध गवर्नमेण्ट कर रही है और मुस्लिम लीग के बहुतेरे काम करनेवाले पहुँच गये हैं। बलवा तो चन्द दिनों के बाद ही रुक गया, पर उसका नतीजा तो अभी तक आँखों के सामने है और बहुत दिनों तक रहेगा।

इसी तरह की भयंकर घटना मेरठ-जिला के गढ़मुक्तेश्वर के मेले के समय हो गयी। वहाँ भी बहुतेरे मुसलमान मारे गये और पीछे मुसलमानों ने हिन्दुओं से उसका कुछ बदला चुकाया। इस समय खबर है कि सीमाप्रान्त में भी, हजारा जिले में, कुछ कबीलों का लश्कर हिन्दुओं पर हमले कर रहा है। बहुतेरे शहरों में छुराबाजी तो कम-वेश जारी है ही। एक भयंकर स्थिति है।

इस बार मेरठ में ही काँग्रेस होने की बात थी। जब गढ़मुक्तेश्वर की दुर्घटना हुई तो ऐसा शक होने लगा कि वहाँ काँग्रेस नहीं हो सकेगी। पर स्थिति सँभल गयी और काँग्रेस का जलसा हुआ। हाँ, जो समारोह होने को था वह नहीं हुआ। काँग्रेस के साथ होनेवाली प्रदर्शनी और अनेकानेक दूसरी संस्थाओं की सभाएँ नहीं हुई। काँग्रेस में भी दर्शकों को आने से रोक दिया गया और केवल प्रतिनिधियों को ही आने दिया गया। तो भी समारोह तो हो ही गया और कुछ न कुछ दर्शक आ ही गये। आचार्य कृपलानी के सभापतित्व में सफलतापूर्वक काँग्रेस समाप्त हुई। महत्त्व के दो प्रस्ताव हुए। एक में भारतवर्ष में प्रजातंत्र (Republic) कायम करने की बात कही गयी और दूसरे में विधान परिषद् को विधान-सम्बन्धी आदेश दिय गये।

हम दिल्ली से ही मेरठ गये थे। वहाँ से लौटते ही मालूम हुआ कि इँगलैंड के मंत्रिमण्डल ने काँग्रेसी नेता पं० जवाहरलाल और सरदार बल्लभभाई को, सिखों के नेता सरदार बलदेवसिंह को और लीग के नेता मि० जिन्ना तथा मि० लियाकत-अली को बुलाया है। हम लोगों की समझ में यह नहीं आया कि हमको क्यों बुलाया जा रहा है, क्योंकि हमने तो १६ मईवाले वक्तव्य को मान करके काम शुरू कर ही दिया है। केवल लीग ने अभी तक अपनी अस्वीकृति के निश्चय को नहीं बदला है। अब विधान परिषद् की बैठक का समय नजदीक आ गया था, क्योंकि वह ९ दिसम्बर से होनेवाली थी और यह बात २७ नवम्बर को पेश हुई थी। हम लोगों ने तो पहले यह कहा कि हमारे जानते वहाँ जाने की कोई जरूरत नहीं है, क्योंकि हमारा जो मतभेद विलायती मंत्रिमण्डल के साथ १६ मई के वक्तव्य के अर्थ के सम्बन्ध में था वह उनको मालूम ही है और वहाँ जाने से उसमें कोई फर्क नहीं पड़नेवाला है, पर तो भी यदि वे बुलावेंगे ही तो हम चले जायँगे। प्रधान मंत्री मि० अटली का तार आया कि जरूर आ जाइए और ९ दिसम्बर तक विधान परिषद् की कार्रवाई शुरू होने के पहले ही वापस चले जाइए। लीग ने पहले तो जाने का निश्चय कर लिया, पर जब मि० जिन्ना को मालूम हुआ कि काँग्रेस को कुछ आश्वासन दिया

गया है तो उन्होंने जाने से इनकार कर दिया। वह उस समय करांची में ही थ। वाइसराय वहाँ पहुँचे और दोनों में कुछ बातें हुई और वह भी जाने के लिए तैयार हो गये। इस प्रकार पं० जवाहरलाल, सरदार बलदेवसिंह, मि० जिन्ना और मि० लियाकतअली वाइसराय के साथ हवाई जहाज से इँगलैंड गये।

कैबिनेट मिशन और वाइसराय ने बारबार आश्वासन दिया था कि १६ मई के वक्तव्य में कोई परिवर्तन या परिवर्धन नहीं किया जायगा। पर इस बार उन्होंने उसमें परिवर्धन और परिवर्तन दोनों ही किये और यद्यपि यह कहा जाता है कि केवल उस वक्तव्य का अर्थ साफ कर दिया गया है और उससे कुछ भी ज्यादा नहीं किया है फिर भी इसमें शक नहीं कि कुछ नयी बातें कही गयी हैं और कुछ पहले कही गयी बातों में जोड़ा गया है। इस बार लंदन में जो बातचीत हुई उसका नतीजा तारीख ६ दिसम्बर १९४६ का वक्तव्य है जिसके सम्बन्ध में उपरोक्त परिवर्तन और परिवर्धन की बातें कही गयी हैं। इस सम्बन्ध में विचार करके अपनी राय प्रकट करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की एक विशेष बैठक बुलायी गयी।

ऊपर कहा जा चुका है कि ९ दिसम्बर को विधान परिषद् की बैठक का निश्चय कर दिया गया था और उसके सदस्यों के पास निमंत्रण भेज दिये गये थे। इसलिए वह बैठक की गयी। उसकी बैठक के लिए केन्द्रीय धारा सभा के चौगोल में एक भाग, जिसमें पुस्तकालय था, खास तौर पर बहुत अच्छी तरह सजवा करके तैयार किया गया था। विशेष करके उसमें ऐसा प्रबन्ध किया गया था कि सदस्यों की बोली की प्रतिध्वनि, जो ऐसी इमारतों में स्वाभाविक है, न होने पावे। इसके लिए अनेक प्रकार के वैज्ञानिक प्रबन्ध किये गये हैं और सदस्यों को दिल्ली की सरदी से बचाने के लिए स्थान को गर्म रखने का प्रबन्ध है। वहाँ ९ दिसम्बर से विधान परिषद् का काम शुरू हुआ।

इसके सम्बन्ध में पहला प्रश्न यह उठा था कि जब तक स्थायी सभापति का चुनाव न हो जाय तब तक परिषद् की कार्रवाई का संचालन कौन करे। निश्चय हुआ कि सदस्यों में जो सबसे अधिक वयोवृद्ध हों वही अस्थायी सभापति हों। हमारे बिहार के डाक्टर सच्चिदानन्दसिंह ही सबसे अधिक वयोवृद्ध निकले। इनकी उम्र और सर हरिसिंह गौड़ तथा श्री प्रकाशम् की अवस्था में थोड़ा ही अन्तर था, पर वह सबसे बड़े निकले। इसलिए उन्होंने ही सभापति का आसन ग्रहण किया और दो-तीन दिनों तक---जब तक स्थायी सभापति का चुनाव नहीं हुआ, बड़ी खूबी के साथ काम चलाया।

अब यह प्रश्न उठा कि स्थायी सभापति किसको नियुक्त किया जाय। ऊपर कह चुका हूँ कि दरमियानी गवर्नमेण्ट में हम लोगों की नियुक्ति के पहले विचार हुआ था कि मुझे इस काम के लिए रख छोड़ा जाय और दरमियानी गवर्नमेण्ट में मुझे न भेजा जाय। पर अन्त में यह विचार बदल दिया गया और मुझे वहाँ नियुक्त कराया गया। इँगलैंड जाने के पहले हम लोगों ने पंडित जवाहरलालजी से बातें की

थीं और सोचा गया था कि कांग्रेस के बाहर के किसी योग्य व्यक्ति को ही चुनना ठीक होगा। सर गोपालस्वामी आयंगर का नाम भी सामने आया था। वह योग्य और अनुभवी व्यक्ति हैं और इस विषय में उन्होंने काफी दिलचस्पी ली ह। वह काँग्रेस के नहीं हैं यद्यपि चुने जाने में काँग्रेसी सदस्यों ने उनकी मदद की है। जब परिषद् के इजलास के लिए लोग आने लगे तो सदस्यों का विचार हुआ कि मुझे यह पद दिया जाय। उन्होंने आपस में बातें कीं और मालूम हुआ कि बहुत लोगों की यही इच्छा थी। मुझे पहले इसका पता नहीं था, पर लोग एक एक करके मेरे पास पहुँचने लगे और जोर देने लगे कि मैं इस पद को स्वीकार करूँ। मेरे सामने बड़ी कठिनाई यह थी कि दो विभागों का काम मेरे जिम्मे था और वह मेरे लिए काफी था। उस पर यह काम भी उठाना बहुत भारी हो जायगा। मैंने इस विचार से इसे पहले इनकार कर दिया। वर्किंग कमिटी में यह बात पेश हुई और मैंने यह प्रश्न उपस्थित किया कि यदि मुझे यह पद लेना पड़े तो दरमियानी गवर्नमेण्ट में से मुझे मुक्त कर दिया जाय। इस पर कोई राजी नहीं था। परिषद् के सदस्य इस बात पर तुल गये थे कि मुझे ही यह भार दिया जाय। अन्त में मजबूर होकर और डरते-डरते मैंने इस भार को भी लेना मंजूर किया। मेरा नाम पेश हुआ और मैं सर्वसम्मति से चुना गया। लोगों ने बधाई देते समय मेरे सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा। पर मैं तो भार से दबा जा रहा था और अब भी वही हालत है। इधर तो चन्द दिनों की ही बैठक रही है। काम चला लिया है और विशेष करके कोई विरोध या जटिल प्रश्न अभी तक सामने नहीं आया है। देखें आगे कैसे निभता है। ईश्वर ही चलायेगा।

ऊपर कहा गया है कि ६ दिसम्बर के वक्तव्य पर विचार करने के लिए अखिल भारतीय कमिटी की बैठक बुलायी गयी। वह ५-६ जनवरी १९४७ को हुई और उसने निश्चय किया कि १६ मई वाले वक्तव्य का जो अर्थ ६ दिसम्बर के वक्तव्य में लगाया गया है उसी के अनुसार काम किया जाय। हाँ, किसी सूबे या भाग के साथ जोर-जबर्दस्ती हम बर्दाश्त नहीं करेंगे और जब कभी ऐसा होता दीखेगा तो हम उसके विरोध में जो उचित समझेंगे, करेंगे। देखें अब भी मुस्लिम लीग विधान परिषद् में शरीक होती है या नहीं। उसे या ब्रिटिश गवर्नमेण्ट को अब काँग्रेस के साथ कोई शिकायत १६ मई के वक्तव्य के सम्बन्ध में नहीं रहनी चाहिए। पर देखना है वह करते क्या हैं।

इधर तो विधान परिषद् की बैठक होने लगी, उधर मैंने काशी-हिन्दू-विश्व-विद्यालय में दीक्षान्त भाषण देने का पहले से ही वचन दे रखा था। उसके लिए १५ दिसम्बर को वहाँ जाना पड़ा। हवाई जहाज से पंडित जवाहरलालजी के साथ वहाँ गया। उनको डाक्टर की उपाधि दी गयी और मैंने दीक्षान्त भाषण दिया। हिन्दू-विश्व-विद्यालय ३० बरसों से चल रहा है। आरम्भ में पूज्य मालवीयजी का विचार था कि वहाँ हिन्दी द्वारा ही शिक्षा दी जाय। पर विश्व-विद्यालय की स्थापना के समय उनको परिस्थिति से मजबूर होकर यह विचार बदल देना पड़ा था और अँगरेजी

को माध्यम बनाना पड़ा था। नागपुर की नयी युनिवर्सिटी ने निश्चय कर लिया है कि वहाँ शिक्षा का माध्यम हिन्दी और मराठी हो। बहुत लोगों को हिन्दू-विश्वविद्यालय की यह त्रुटि बहुत खटकती है। उसकी रजत-जयन्ती के समय महात्मा गांधीजी ने हिन्दी के अभाव और अँगरेजी के प्राचुर्य्य की टीका की थी। मैंने अपने भाषण में इस बात पर जोर दिया कि अब कोई कारण नहीं है कि हिन्दी को माध्यम क्यों नहीं बनाया जाय, क्योंकि अब पाठ्य-पुस्तकों की कमी नहीं है और जो कमी हो भी वह शीघ्र पूरी की जा सकती है। मैं जहाँ तक समझ सका, उपस्थित जनता ने इसे पसन्द किया। मालूम नहीं, अधिकारी लोगों का क्या विचार होगा।

इस बार विश्वविद्यालय का समावर्तन संस्कार एक बड़ी विशेषता और महत्त्व रखता है। इसके निर्माता, कर्ता-धर्ता महामना पूज्य पंडित मदनमोहन मालवीयजी का देहावसान हाल ही में हो गया है। एक महान् कर्मठ योगी संसार से चला गया है। विश्वविद्यालय तो चिरकाल तक उनका स्मारक बना रहेगा ही। पर स्वराज्य प्राप्ति के प्रयत्न में भी उनका हिस्सा उतना ही बड़ा रहा है। वे तीन बार काँग्रेस के सभापति हुए थे और मतभेद रहते हुए भी उन्होंने काँग्रेस को कभी नहीं छोड़ा। जब-जब काँग्रेस कठिनाई में पड़ी, उन्होंने अदम्य उत्साह के साथ उसकी सहायता की।

हिन्दू महासभा के तो मालवीयजी एक प्रकार से जन्मदाता और प्राण ही थे। धार्मिक उत्थान के लिए हिन्दुओं की उन्होंने जो सेवा की वह अवर्णनीय है। सभी देश-सेवकों के साथ प्रेम और दया का भाव उनके लिए स्वाभाविक था। उनके उठ जाने से एक प्रकार से देश सूना हो गया है। उनके अन्तिम दिन कुछ विपत्तियों के कारण दुःखपूर्ण हो गये थे। ज्येष्ठ पुत्र पं० रमाकान्त मालवीय की मृत्यु से बहुत धक्का लगना स्वाभाविक है, पर अन्तिम दिनों तक वह देश को नहीं भूले और आज की परिस्थिति से चिन्तित और प्रसन्न दोनों ही थे। उनके जीवन से हमको बहुत कुछ सीखना है और वह हमारे सामने मार्गप्रदर्शक का काम करता रहेगा।

इसी प्रकार की एक भारी क्षति बिहार में पूज्य बाबू व्रजकिशोरप्रसाद की मृत्यु से हुई है। इधर अस्वस्थता के कारण कई बरसों से वह सार्वजनिक कामों में भाग लेने से बिलकुल असमर्थ हो गये थे और देश तथा सूबे को उनकी सेवा से वंचित हो जाना पड़ा था। पर जो सेवाएँ वे पहले कर चुके थे उनको स्मरण करके कोई भी देशवासी और विशेष करके बिहारी इस क्षति से दुःखित हुए बिना नहीं रह सकता। मेरे लिए तो बड़ी चोट है। वह तीक्ष्ण बुद्धि, अटल दृढ़ता और पैनी दूरदर्शिता, वह महान् त्यागशक्ति और निःस्पृहता, वह अनुपम प्रसिद्धि से बचने का निश्चय, वह निर्भयता कहाँ देखने को मिलेगी ? जब हम बिहार के लोग सार्वजनिक जीवन को केवल मनोरंजन का साधन मान करके उसमें कुछ थोड़ा समय लगा देना ही काफी समझते थे, उन्होंने हमारे सामने अखंड सेवा की बात रखी और हममें से बहुतेरों को उस व्रत में व्रती बनाया। हम में जब कभी कमजोरी आयी तो उन्होंने अपने अटल निश्चय से हमको अनुप्राणित किया और व्रत में ढीलापन लाने से बचाया।

किसानों की सेवा का आरम्भ उन्होंने उस समय किया जब नीलवरों का बोलबाला था और उनके विरुद्ध आवाज उठाना खतरे से खाली नहीं था। जब मैंने एण्ट्रेन्स की परीक्षा पास की थी तभी से उनका प्रेम मेरे साथ हो गया था और मेरे जीवन की प्रत्येक कठिन घड़ी में वह बराबर सहायता करते रहे। उस सम्बन्ध ने इधर उनकी पुत्री के साथ मृत्युञ्जय के विवाह के कारण कुछ और रूप भी धारण कर लिया था। पर सार्वजनिक जीवन में इसका कोई असर नहीं था। भाई की मृत्यु के बाद वह एक प्रकार से मेरे घर के कारबार में भी मदद देने लगे थे और देते रहते यदि स्वयं अस्वस्थ होकर अक्षम न हो जाते। इसलिए उनके देहावसान का समाचार सुनकर मैं दिल्ली में बहुत दुःखी हुआ। पर महात्माजी ने जो सांत्वना का तार उनके पुत्रों को भेजा था वह मेरे लिए भी सहायक हुआ। उन्होंने लिखा था कि उनके शरीर की जो दुरवस्था हो गयी थी उसमें उनका देहावसान सुखद होना चाहिए, न कि दुःखद और आत्मा तो अमर है ही। उसके लिए चिन्ता करना व्यर्थ है। बात ठीक है और जैसा कष्ट उनको देखकर हुआ करता था वह अब नहीं होगा। ईश्वर उनके लड़कों की मदद करे।

उनके श्राद्ध के अवसर पर मृत्युञ्जय की स्त्री विद्यावती दरभंगे, जहाँ उसके भाई और माता हैं और जहाँ उनकी मृत्यु हुई थी, गयी। मृत्युञ्जय भी गये थे पर श्राद्ध के बाद उसे वहाँ छोड़कर पटने चले आये। चन्द दिनों के बाद ही न मालूम उसको क्या हो गया और वह एकाएक एक-दो दिनों की बीमारी में ही चल बसी। मृत्युञ्जय बीमारी की खबर पाते ही पटने से दरभंगा के लिए रवाना हुए, पर उनको रास्ते में ही उसके देहान्त की खबर मिल गयी। मैं बिहार में हिन्दू-मुस्लिम दंगों की खबर पाकर पटने जा रहा था और रवाना होने के समय समाचार मिला। मैं वहाँ चला गया। बच्चों का कोलाहल और स्त्रियों का रोना-पीटना सुना। मृत्युञ्जय उसी दिन दरभंगा गये हुए थे। दो दिनों के बाद वहाँ से दाह-क्रिया करके लौटे। मैं पटना-जिला के गाँवों में हिन्दू-मुस्लिम-दंगा रोकने के काम में लगा रहा। जहाँ इतने लोग मारे गये थे और इतने घरों में शोक और कोलाहल था वहाँ अपना शोक एक प्रकार से शर्मा कर दबा-सा गया। मैं पटने में बहुत दौड़-धूप के कारण बीमार पड़ गया। इससे चन्द दिनों तक ठहर जाना पड़ा। इसी बीच में श्राद्ध का काम भी समाप्त हुआ।

एक दो महीनों के अन्दर यह दूसरा शोक था। राँची में बहुत दिनों तक कष्ट सहकर बच्चा प्रकाश चला गया। जब बीमारी बहुत बढ़ी तो मुझे टेलीफोन से दिल्ली में खबर दी गई। मैं जाने की तैयारी कर ही रहा था कि खबर आयी कि वह चला गया। यह बहुत बड़ी चोट है। उसका बड़ा भाई मोहन १२ बरस पहले चला गया था। वह घाव अभी तक मौजूद है और जब याद आती है तो आँसू आ ही जाते हैं। अब यह दूसरी चोट निर्दय काल ने लगायी है। पर किया क्या जाय? जनार्दन और चन्द्रमुखी तथा भाई-बहू की दशा क्या कहूँ। इन बच्चों को चला जाना ही

होता है तो आते ही क्यों हैं? भगवान् की लीला समझ में नहीं आती। एक तरफ विपत्ति पर विपत्ति और दूसरी तरफ एक पर एक काम के बोझ का बढ़ता जाना। इतना भी समय नहीं मिलता कि दुःखी परिवार के लोगों के साथ कुछ समय बिताऊँ। पर मैं जानता हूँ कि इसमें भी ईश्वर का ही हाथ है। वह जो चाहे करे और करावे।

दिल्ली का जीवन कई बातों में नया जीवन है। दफ्तर का काम करने का पहले-पहल मौका हुआ है। सुना है कि लोग मेरे काम से सन्तुष्ट हैं। अभी तक देश जो अन्न-संकट में पड़ा रहा है उससे रिहाई तो नहीं हुई है, पर कुछ हालत सुधरी जरूर है। दक्षिण में चावल की कमी के कारण जो भय था वह अब कम हो गया है, पर उत्तर में गेहूँ की कमी के कारण बढ़ता जा रहा है। मैं नहीं जानता कि मैंने खास क्या किया, जिसके लिए मुझे बधाई या ख्याति मिलनी चाहिए। पर लोग सन्तुष्ट हैं और अनेकों मानते हैं कि मैंने परिस्थिति को सँभाला है। यदि कर्मचारी और जनता साथ न देती तो कोई भी कुछ नहीं कर सकता था। मैं तो कर ही क्या सकता था? यहाँ का जीवन मेरे लिए बिलकुल एक नया अनुभव है। मकान बहुत बड़ा है, पर उसमें जगह बहुत कम है, क्योंकि कमरे बड़े-बड़े पर संख्या में कम हैं। अहाता बहुत बड़ा और फूल-गुल से सुसज्जित है। तरकारी की खेती की गयी है और अपनी उपजायी तरकारी हम लोग इस्तेमाल कर रहे हैं। पर खर्च काफी पड़ता है। जब से आया हूँ, इतना बझा रहता हूँ कि मित्रों से मिलने-जुलने का भी समय नहीं मिलता। कहीं आना-जाना तो बहुत मुश्किल से हो सकता है। अब तो और भी कठिनाई बढ़ गयी। पर ईश्वर की दया है कि स्वास्थ्य काम दे रहा है और अभी तक कोई ऐसी हालत नहीं हुई है कि काम रोकना पड़े। यदि स्वास्थ्य ने साथ दिया, जैसा अभी तक रहा है, तो ईश्वर चाहेगा तो विधान परिषद् के अध्यक्ष का काम भी किसी तरह से चला ले जाऊँगा।

दिल्ली,
८ जनवरी १९४७